ॐ

वेदविज्ञान-आलोकः

(महर्षि ऐतरेय महीदास प्रणीत - ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या)

Cosmology Plasma Physics Astrophysics String Theory

Vaidic Rashmi Theory

Quantum Field Theory Particle Physics Nuclear Physics

A VAIDIC THEORY OF UNIVERSE

(A Big Challenge to Modern Theoretical Physics)

आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

महर्षि आद्य ब्रह्मा से लेकर..
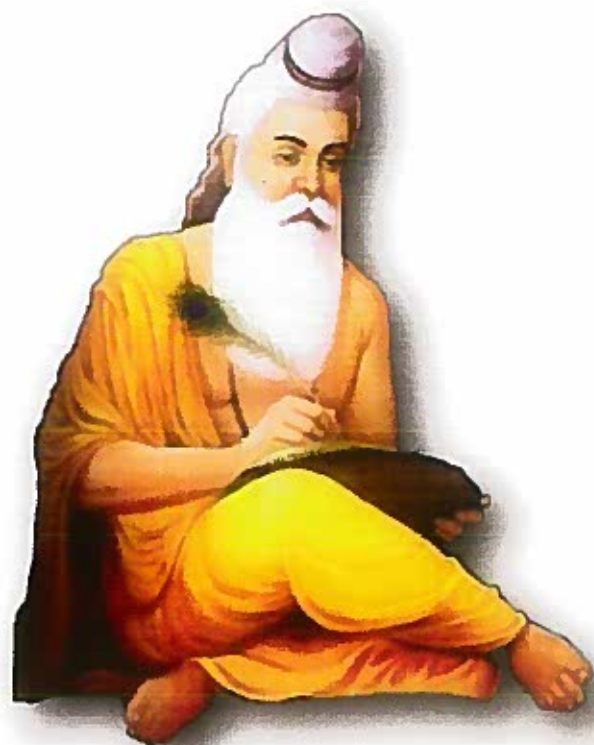
..दयानन्द पर्यन्त आर्ष परम्परा

ओ३म्

तिथि ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी विक्रम सम्वत् २०७५, दिनांकः २०, जून २०१८
उपराष्ट्रपति आवास पर 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का विमोचन करते हुए
महामहिम उपराष्ट्रपति श्रीमान् एम. वेंकैया नायडू जी

चित्र में (वांए से दांए) - श्री जयसिंह गहलोत (जोधपुर), श्री अशोक सिसोदिया (भरतपुर), माता श्रीमती प्रकाश देवी (फरीदाबाद), श्री सतीश कौशिक (फरीदाबाद), श्री सुरेशचन्द्र आर्य (अहमदाबाद), श्री बलवीरसिंह मलिक (फरीदाबाद), महामहिम उपराष्ट्रपति जी, आचार्य श्री अग्निव्रत नैष्ठिक (भीनमाल), श्री विशाल आर्य (भीनमाल), श्री किशनलाल गहलोत (जोधपुर), श्री अभिषेक आर्य (डूंगराराम दर्जी) (भीनमाल)

।। ओ३म् ।।

भाग – २

(महर्षि ऐतरेय महीदास प्रणीत – ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या)

A VAIDIC THEORY OF UNIVERSE

(A Big Challenge to Modern Theoretical Physics)

व्याख्याता एवं पुरस्कर्त्ता

आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

(वैदिक वैज्ञानिक)

संपादक एवं डिज़ाइनर

विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी)

(M.Sc., Theoretical Physics, University of Delhi)

प्रकाशक

श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास
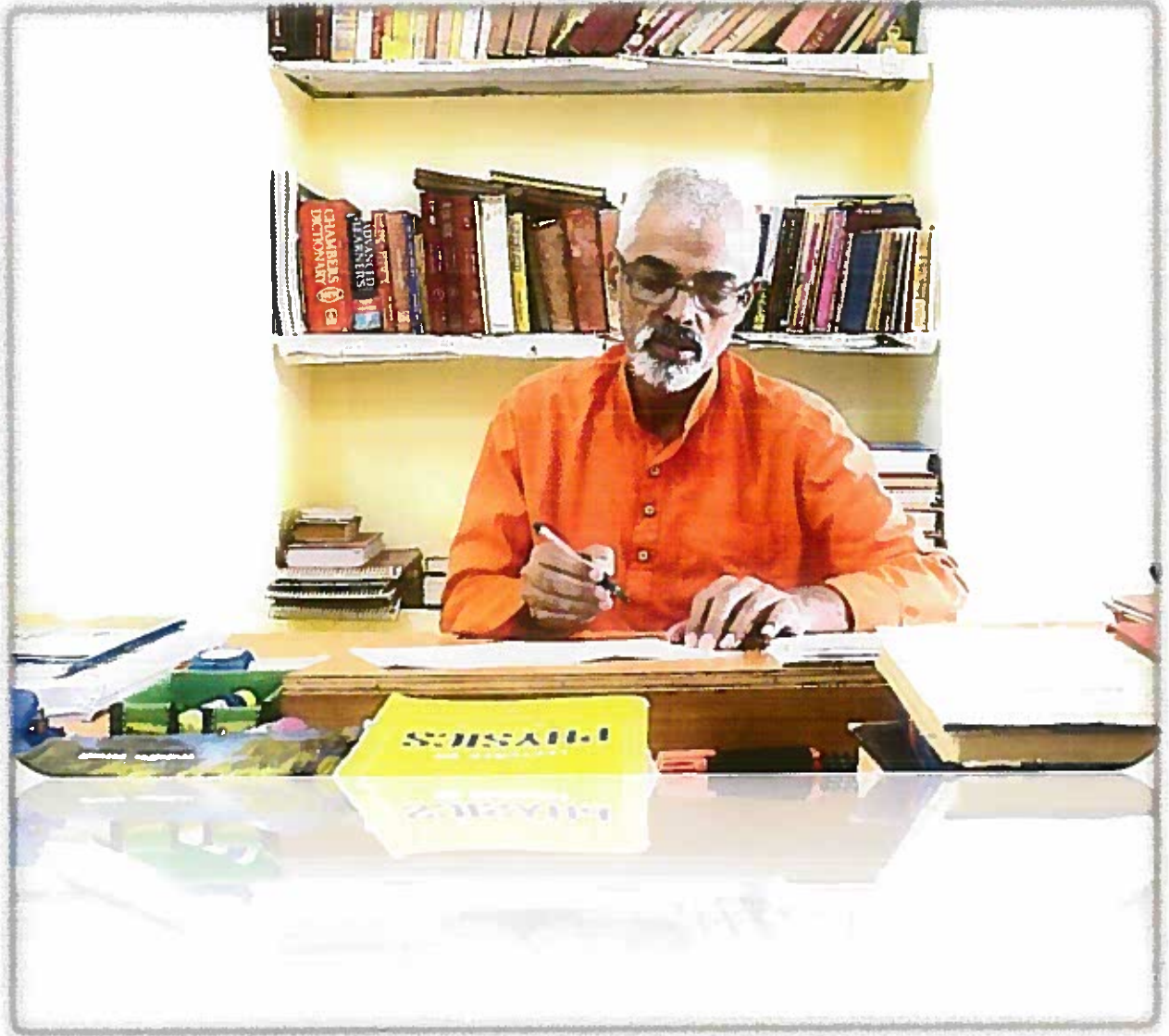
आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

(वैदिक वैज्ञानिक)

प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

आचार्य, वैदिक एवं आधुनिक भौतिक शोध संस्थान

समर्पणम्

मैं इस ग्रन्थ को विश्वभर के भौतिक वैज्ञानिकों, वेदानुसन्धानकर्त्ताओं, प्रबु
व विचारशील धर्माचार्यों, मानव-एकता के स्वप्नद्रष्टाओं, सुविचारशी
समाजशास्त्रियों, तर्कसम्मत पंथ निरपेक्षता के समर्थकों, वैज्ञानिक बुद्धि के ध
उद्योगपतियों, शिक्षा- शास्त्रियों, भारत के प्रतिभासम्पन्न राष्ट्रवादियों एवं सभी प्रबु
युवा एवं युवतियों की सेवा में भारतवर्ष के प्राचीन वैज्ञानिक गौरव को पुनः प्रा
कराने एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना से सप्रेम समर्पित करता हूँ।

सावधानी

मैं इस ग्रन्थ के पाठकों को यह सावधानी वर्तने का भी परामर्श देता हूँ f
इसे किसी अन्य भाषा में अनूदित करके पढ़ने का प्रयास नहीं करें, अन्यथा म
भावों को यथार्थरूप में समझे बिना ग्रन्थ का अनुवाद त्रुटिपूर्ण होने की पूर्ण आशंव
है।

–लेखक (व्याख्याता एवं पुरस्कत

सन्दर्भ ग्रन्थ संकेत सूची

क्र.सं.	ग्रन्थ नाम	संकेत
1.	अथर्ववेद संहिता	अथर्व.
2.	अनुभ्रमोच्छेदन	–
3.	अमरकोष	अ.को.
4.	अष्टाध्यायी भाष्य (आचार्य सुदर्शनदेव)	अष्टा.भा.
5.	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र	आप.श्रौ.
6.	आप्टेकोश	आप्टेकोश
7.	आर्याभिविनय	–
8.	आर्योद्देश्यरत्नमाला	–
9.	आश्वलायन गृहसूत्रम्	आश्व.गृह्य.
10.	आश्वलायन श्रौतसूत्र	आश्व.श्रौ.
11.	उणादि कोश	उ.को.
12.	ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका	ऋ.भा.भू.
13.	ऋग्वेद महाभाष्य	–
14.	ऋग्वेद संहिता	ऋ.
15.	ऐतरेय आरण्यक	ऐ.आ.
16.	ऐतरेय ब्राह्मण	ऐ.
17.	कठोपनिषद्	कठ.उ.
18.	कपिष्ठल संहिता	क.
19.	काठक संकलन	काठ.संक.
20.	काठक संहिता	काठ.
21.	काण्व संहिता	का.सं.
22.	काण्वीय शतपथ	काश.
23.	कात्यायन श्रौतसूत्र	का.श्रौ.
24.	कौषीतकि ब्राह्मण	कौ.ब्रा.
25.	गीता	–
26.	गोकरुणानिधि	–
27.	गोपथ ब्राह्मण (पूर्वभाग/उत्तरभाग)	गो.पू./उ.
28.	छान्दोग्योपनिषद्	छां.उ.
29.	जैमिनीय ब्राह्मण	जै.ब्रा.
30.	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	जै.उ.
31.	ताण्ड्य महाब्राह्मण	तां.
32.	तैत्तिरीय आरण्यक	तै.आ.
33.	तैत्तिरीय उपनिषद्	तै.उ.
34.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	तै.ब्रा.
35.	तैत्तिरीय संहिता	तै.सं.
36.	दैवत ब्राह्मण	दै.
37.	ध्यान-योग-प्रकाश	–
38.	नारदीय शिक्षा	ना.शि.
39.	निघण्टु	निघं.

40.	निघण्टु निर्वचनम्	निघं.नि.
41.	निरुक्तम्	नि.
42.	न्याय दर्शन	न्या.द.
43.	पाणिनीय अष्टाध्यायी	पा.अ.
44.	पिंगल छन्द शास्त्र	पिं.छ.शा.
45.	ब्रह्मसूत्र	ब्र.सू.
46.	ब्राह्मणोद्धार कोश	ब्रा.उ.को.
47.	मनुस्मृति	मनु.
48.	महर्षि दयानन्द ऋग्वेद भाष्य	म.द.ऋ.भा.
49.	महर्षि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य	म.द.य.भा.
50.	महाभारत	महा.
51.	माण्डूक्य उपनिषद्	माण्डू.उ.
52.	मीमांसा दर्शन	मीमांसा
53.	मुण्डकोपनिषद्	मुण्ड.उ.
54.	मैत्रायणी संहिता	मै.
55.	यजुर्वेद संहिता	यजु.
56.	योगदर्शनम्	यो.द.
57.	वर्णोच्चारण शिक्षा	–
58.	वाक्यपदीयम्	–
59.	वाचस्पत्यम् कोश	–
60.	वाजसनेय संहिता	वा.सं.
61.	वैदिक इतिहासार्थ निर्णय	–
62.	वैदिक कोश (आचार्य राजवीर शास्त्री)	वै.को. – आ. राजवीर शास्त्री
63.	वैदिक वाङ्मय का इतिहास	–
64.	वैदिक सम्पत्ति	–
65.	वैशेषिक दर्शन	वै.द.
66.	व्यवहारभानु	
67.	व्याकरण महाभाष्य	महाभाष्य
68.	शतपथ ब्राह्मण	श.
69.	श्रौत-यज्ञ-मीमांसा	–
70.	शांखायन आरण्यक	शां.आ.
71.	श्वेताश्वर उपनिषद्	श्वेता.उ.
72.	सत्यार्थ प्रकाश	स.प्र.
73.	सन्मार्ग दर्शन	–
74.	संस्कार विधि	सं.वि.
75.	संस्कृत धातु कोश	सं.धा.को.
76.	सामविधान ब्राह्मण	सा.वि.ब्रा.
77.	सामवेद संहिता	साम.
78.	साम्वपञ्चाशिका	–
79.	सांख्य दर्शन	सां.द.
80.	सुश्रुत संहिता	सु.सं.
81.	स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश	–
82.	षड्विंश ब्राह्मण	ष.

भाग (VOLUME)

2 द्वितीयपञ्चिका 277

3 तृतीयपञ्चिका 593

।। ओ३म् ।।

अथ द्वितीयपञ्चिका

ओ३म्। भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

६. षष्ठोऽध्यायः

279

पशु याग, यूप, पशु आलम्भन, पशु का यथार्थ स्वरूप, दीक्षित तनूनपात, यजमान व मनोता के रूप में नेब्यूला वा तारों के केन्द्रों के निर्माण, डार्क एनर्जी की बाधा व निवारण, कण व प्रतिकणों के संयोग से ऊर्जा की उत्पत्ति, यूप का यथार्थ एवं वैज्ञानिक स्वरूप, तारों का निर्माण, सृष्टि में विभिन्न प्रेरक व प्रेरित पदार्थ, लोकों व कणों के संयोग व घूर्णन आदि का विज्ञान, क्वाण्टा, एटम व मॉलिक्यूल्स की उत्पत्ति एवं इसमें छन्द रश्मियों की भूमिका वर्णित है।

७. सप्तमोऽध्यायः

371

पशु का पर्यग्निकरण, स्वाहाकृति, वपा, देव, मनुष्य, ऋषि, स्वर्ग एवं प्रातरनुवाक के रूप में दृश्य व डार्क पदार्थ संघर्ष, कणों का संयोग, एटम्स एवं मॉलिक्यूल्स की उत्पत्ति, लोकों व कणों के विखण्डन, विद्युत् के रूप, तारों के नाभिकीय संलयन, विभिन्न रश्मियों के संयोग, मूल बल, क्वार्क, लेप्टॉन आदि की उत्पत्ति व संरचना, प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति, दैवी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति, दृश्य व डार्क दोनों पदार्थों की उत्पत्ति, इन्द्र तत्त्व, ईश्वर की भूमिका, क्वाण्टाज् की उत्पत्ति, सूर्य के केन्द्रीय भाग का आकार आदि का विज्ञान वा विवेचना।

८. अष्टमोऽध्यायः

439

अपोनप्त्रीय आदि इष्टियां, कवष ऋषि पदार्थ विवेचन, वसतीवरी-एकधना, उपांशु, वहिष्पवमान, हविष्पंक्ति आदि के रूप में विशेष प्रकार की अप्रकाशित ऊर्जा, MECO निर्माण, विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति, इन्द्र तत्त्व एवं कणों की उत्पत्ति, डार्क पदार्थ एवं डार्क एनर्जी की उत्पत्ति, ध्वनि उत्पत्ति, विभिन्न बलों की उत्पत्ति आदि का विज्ञान वर्णित है।

९. नवमोऽध्यायः 483

इसमें ऐन्द्रवायवग्रह, मैत्रावरुण-आश्विन ग्रह, ऋतुग्रह, होतृचमस, तूष्णींशंस, सोमपान, स्वर्गलोक आदि के रूप में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति, क्वाण्टा का स्वरूप, विद्युत् चुम्बकीय वलों का विज्ञान, गुरुत्व वल, वेक्यूम एनर्जी, फील्ड पार्टीकल्स की संरचना व स्वरूप, अन्य सूक्ष्म वलों का स्वरूप, ग्रेवीटॉन का स्वरूप, नाभिकीय वलों का स्वरूप, डार्क एनर्जी, 'ओम्' रश्मि, आदि का गम्भीर विज्ञान वर्णित है।

१०. दशमोऽध्यायः 529

इसमें आज्यशस्त्र, ब्रह्म, आहाव, निविद, क्षत्र पुरोरुक्, वैश्य, अच्छावाक्, स्तोत्र व शस्त्र, तूष्णींशंस आदि के रूप में वलों का सूक्ष्म व गम्भीर विज्ञान, आकाश, ध्वनि, मूलकण, तरंगों की उत्पत्ति, दृश्य-डार्क पदार्थ-संघर्ष, मन, प्राण व छन्द रश्मियों का स्वरूप, एटम्स एवं मॉलिक्यूल्स की उत्पत्ति आदि का विशेष विज्ञान वर्णित है।

षष्ठोऽध्यायः

फोटोन, कण के द्वारा अवशोषण व उत्सर्जन के समय Quanta का रूप धारण करते हुए।
फोटोन अवशोषण से पहले तरंग के रूप मे गमन करते हुए।

।। ओ३म् ।।
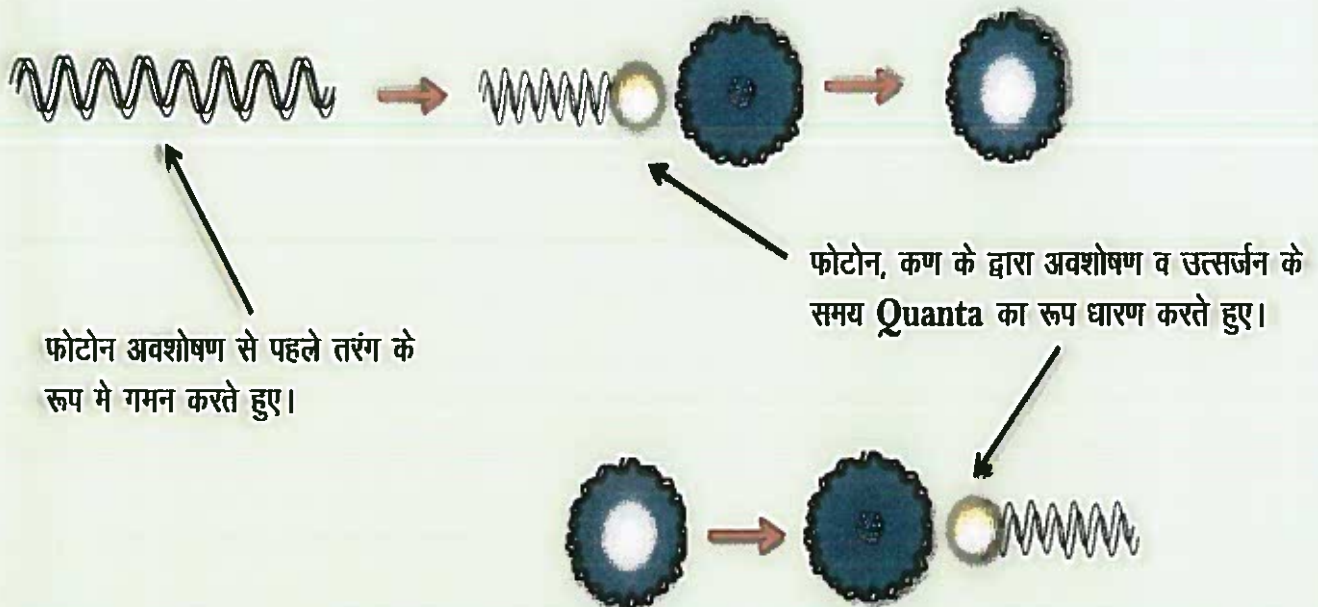
ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व।।

अनुक्रमणिका

६.१ यज्ञ-स्वर्ग-देव-मनुष्य-ऋषि-वज्र-यूप, नेव्यूला वा तारों के केन्द्र के जन्म का विज्ञान, असुर पदार्थ की बाधा व निवारण, खदिर यूप-वैल्व, इनकी नेव्यूला वा तारों के केन्द्र निर्माण में भूमिका, कण व प्रतिकणों के मिलन से ऊर्जोत्पत्ति का गूढ़ विज्ञान व इसमें खदिर यूप की भूमिका। पलाशयूप, वनस्पति, इनका नेव्यूलाओं के केन्द्रों एवं मूल कणों एवं अन्य कणों के निर्माण में योगदान। 284

६.२ मधु, द्रविण, माता, यूपों को सतेज वनाने में त्रिष्टुप् की भूमिका, अनुष्टुप् की इसी कर्म में भूमिका, (नेव्यूला केन्द्र निर्माण) नेव्यूला वा तारों का आकार व ताप बढ़ाने में त्रिष्टुप् की भूमिका, नेव्यूला व तारे आदि का स्पष्ट आकार वनाने में बृहती की भूमिका, केतु, राक्षस, पाप्मा, अत्रि (तीनों बाधक व अप्रकाशित पदार्थ) नेव्यूला वा तारा निर्माण में पंक्ति की भूमिका, असुर पदार्थ की भूमिका व इसके कारण सृष्टि प्रक्रिया से वहिष्कृत कुछ पदार्थ।
धीरा, आपः, मनीषा, विप्र, त्रिष्टुप् से तारे निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रिया की तीव्रता व नवीन कणों की उत्पत्ति, अनूचान, कवि, उपर्युक्त सभी छन्दों की आवरक त्रिष्टुप् व तारों के निर्माण में भूमिका। 295

६.३ पशुकाम, यूप रश्मियों की तारे वा नेव्यूला निर्माण व पदार्थ संघनन में सतत व अनिवार्य भूमिका, हिरण्यशरीर, यूपशक्ल, तारों में नाभिकीय संलयन में यूप रश्मियों की भूमिका व असुर तत्त्व निवारण, दीक्षा, अग्नि-सोम, सृष्टि में विभिन्न प्रेरक व प्रेरित पदार्थ व उनके द्वारा विभिन्न तारे आदि लोकों का निर्माण, तारों में वाहरी पदार्थ का अति अल्पांश में संचरण। अग्नि- सोम, पीवा-कृश, सुत्या, सूक्ष्म से स्थूल पदार्थों के निर्माण प्रक्रिया, नाभिकीय संलयन विज्ञान। 305

६.४ आप्रीसंज्ञक गायत्री रश्मियों की पूर्वोक्त यूप तरंगों को अति तेजस्वी व सक्रिय करने में भूमिका, तारों के निर्माण में भूमिका, तनूनपात संज्ञक जगती छन्द द्वारा पूर्वोक्त यूप तरंगों की परस्पर संगति-समन्वय, नराशंस-वाक्शंस-प्रजा, अग्नि की सात जिह्वाएं उत्पन्न करने में गायत्री छन्द की भूमिका, तारों में संलयन का विज्ञान (गायत्री व त्रिष्टुप् की भूमिका), दुरः नामक त्रिष्टुप् रश्मि की इसी कर्म में भूमिका। त्रिष्टुप् उषासानक्ता- अहोरात्र की तारों के अन्दर भूमिका एवं प्राणापानव्यान 313

की भूमिका, इसमें भी त्रिष्टुप् की भूमिका। तारों में विभिन्न तरंग व कणों की भेदन क्षमता बढ़ाने हेतु वाक् तत्त्व को तीव्र सक्रिय करने में त्रिष्टुप् की भूमिका, गामा किरणों में वाक् तत्त्व सबसे प्रबल, वनस्पति रूप त्रिष्टुप् से मनस्तत्त्व की अति सक्रियता, स्वाहाकृति, त्रिष्टुप् की मनस् तत्त्व को सक्रिय करने में भूमिका, सभी छन्द रश्मियों में उनके उत्पादक ऋषि प्राणों का भी प्रभाव।

६.५ उल्मुक, प्रयः, विभिन्न कण व लोकों के अक्ष पर घूर्णन व आकर्षण बल, गायत्री रश्मियों की भूमिका। वाजी, रथी, उपर्युक्त घूर्णन का गम्भीर विज्ञान, इससे ही लोकों वा कणों के परितः विद्यमान आकाश तत्त्व का घूर्णन। उपर्युक्त प्रक्रिया का और भी गम्भीर विज्ञान, प्राणोदान, मन व वाक् तत्त्वों की भी इसमें भूमिका। असुर पदार्थ (डार्क पदार्थ) की उत्पत्ति का विज्ञान। 328

६.६ शमिता, मनुष्य, मेधपति, विभिन्न कणों के संयोग में मन व वाक् तत्त्व की भूमिका, कणों के संयोग की प्रक्रिया का विज्ञान, बर्हिः मृत्यु, माता-पिता-भ्राता, चक्षु-श्रोत्र-शरीर सूर्य्य, पशु, विभिन्न कणों व लोकों के संयोग का गम्भीर विज्ञान, प्राणापान, नागकूर्म, सूत्रात्मा वायु आदि की भूमिका। पशु-त्वचा- वक्ष-श्रोणि-बाहू-श्येनादि दो कणों वा लोकों के संयोग की प्रक्रिया का विज्ञान। असुर तत्त्व का पलायन व विलीयन। 333

६.७ अस्ना, रक्षः, तुष, आर्षी गायत्री द्वारा असुर तत्त्व नियन्त्रण व बर्हि-आकाश में मिलाना-छुपाना। पुत्र-पौत्र, असुर तत्त्व का स्वरूप। असुर पदार्थ विज्ञान, असुर पदार्थ में ध्वनि तरंगें, वनिष्ठु, अध्रिगु, लोकों और कणों के धारण में बृहती की भूमिका, असुर पदार्थ का क्रिया-कलाप। मन-वाक्-विद्युत् और वायु को सक्रिय करने में गायत्री की भूमिका। विद्युत् के प्रेरक मन और वाक्। विभिन्न लोक वा कणों को चक्राकार घुमाने और उनकी विविध बाधाओं को दूर करने में गायत्री की भूमिका। 342

६.८ पुरुष-पशु-मेध-अश्व-किंपुरुष-गौ-गौरमृग-गवय-अज-उष्ट्र-शरभ, मन और वाक् तत्त्व से लेकर तीव्र ऊर्जा युक्त न्यूक्लिऑन्स तक विविध कणों के निर्माण की प्रक्रिया। व्रीहि, पूर्वोक्त प्रक्रिया के पश्चात् अणु और परमाणुओं के निर्माण की प्रक्रिया। 349

६.९	किंशारु-रोम-तुष-फलीकरण-किक्नसा-मांस-सार-अस्थि, विभिन्न अणु व परमाणुओं का तीव्रता से निर्माण, प्रेरक पदार्थ की सूक्ष्मता, क्रिया का प्रभाव सूक्ष्मतम स्तर तक। वपा-सिन्धु, उपर्युक्त क्रिया को तीव्र बनाने में त्रिष्टुप् की भूमिका, प्रत्येक कण से सूक्ष्म प्राणों का संचरण, सबको वांधने वाला प्राण तत्त्व, मातरिश्वा-अद्रि, त्रिष्टुप् के कारण विद्युत् की सक्रियता एवं व्यापकता। इडा, अपान के संयोग से सूक्ष्म और स्थूल अणुओं के निर्माण की प्रक्रिया का विज्ञान एवं संयोग की दिशा।	355
६.१०	मनोता, किसी इलेक्ट्रॉन के साथ संयुक्त ऊर्जा एवं क्वान्टाज् के रूप में मुक्त ऊर्जा आदि स्वरूपों का विज्ञान और इस क्रिया में विभिन्न छन्दों की भूमिका। तीन प्रकार के मनोता, वाक्-गौ-अग्नि= तीन प्रकार के अति तीव्रगामी पदार्थ, छन्द, मरुद् रश्मि, विद्युत् चुम्बकीय तरंग एवं अन्य विकिरण। तीव्रतम गतिमान् धनञ्जय, व्यापकतम पदार्थ मन, उपर्युक्त क्वान्टा के स्वरूप का विज्ञान, वनस्पति, परमात्मा के द्वारा प्रकृत्ति-महत् आदि पदार्थों का क्रमिक विकास, उनका विभाजन और विभाज्य आधार और आधेय रूप।	362

꧁ अथ ६.१ प्रारभ्यते ꧂

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायंस्तेऽबिभयुरिमं नो दृष्ट्वा मनुष्याश्च ऋषयश्चानु प्रज्ञास्यन्तीति; तं वै यूपेनैवायोपयंस्तं यद्यूपेनैवायोपयंस्तद्यूपस्य यूपत्वं; तमवाचीनाग्रं निमित्योर्ध्वा उदायंस्ततो वै मनुष्याश्च ऋषयश्च देवानां यज्ञवास्त्वभ्यायन् यज्ञस्य किंचिदेषिष्यामः प्रज्ञात्या इति; ते वै यूपमेवाविन्दन्नवाचीनाग्रं निमितं; ते विदुरनेन वै देवा यज्ञमयूयुपन्निति, तमुत्खायोर्ध्वं न्यमिन्वंस्ततो वै ते प्र यज्ञमजानन् प्र स्वर्गं लोकम्।।

{यूपः = मिश्रितो व्यवहारयत्नोदयः (म.द.य.भा.१६.१७), वज्रो यूपः (श.३.६.४.१६), यजमानो वै यूपः (ऐ.२.३), मिश्रितामिश्रितो बन्धनः (तु.म.द.य.भा.५.२७), शिखा यूपः (मै.४.५.६), सर्वदेवत्यो यूपः (काठ.२६.६), गायत्रो हि यूपः (मै.३.६.३)। यज्ञः = वाग्वै यज्ञः (ऐ.५.२४, श.१.१.२.२), अग्निर्वै यज्ञः (श.३.४.३.१६), पशवो यज्ञः (श.३.२.३.११), यज्ञस्सोमो राजा (जै.ब्रा.१.२५६), यज्ञो विष्णुः (मै.४.१.१२)}

व्याख्यानम्- विभिन्न प्रकाशित कण यज्ञ के द्वारा अर्थात् अग्नि, सोम, वाक् तत्त्व आदि के संगतीकरण व सम्मिश्रण के द्वारा ऊर्ध्व स्वर्गलोक अर्थात् विशाल नेब्यूलादि के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ वा सम्पन्न करते हैं। इस प्रक्रिया में पूर्वोक्त वाक् तत्त्व, विद्युत्, मरुत् आदि के तीक्ष्ण विकिरण रूप हो जाने पर ब्रह्माण्ड में पूर्ववर्णित फैला हुआ देदीप्यमान पदार्थ, जो प्राणापानादि तत्त्वों तथा सोम पदार्थ आदि से मिलकर बनता है, संघनित होने लगता है। यह संघनित रूप ही नेब्यूला आदि के रूप में प्रकट होता है। इस समय उस पदार्थ में विभिन्न प्रकार के पदार्थ मिश्रित होते हैं। यह पदार्थ संघनित क्यों होता है? किस प्रकार होता है, इसका उत्तर यह है कि यह पदार्थ यूप अर्थात् रोकने की क्षमता से सम्पन्न वज्ररूप विकिरणों के प्रभाव से ऐसा होता है।

{देवाः = अपहतपाप्मानो देवाः (श.२.१.३.४)} यहाँ 'देव' शब्द का तात्पर्य है कि जो प्रकाशित कण अप्रकाशित हिंसक वायु के प्रभाव को निष्क्रिय कर देते हैं किंवा उसे छिन्न-भिन्न वा नियन्त्रित करके उसकी बाधा से मुक्त हो चुके होते हैं, वे देवसंज्ञक पदार्थ कहलाते हैं। ऐसे पदार्थ उक्त वज्ररूप तरंगों की सहायता से किसी भी भावी नेब्यूला के केन्द्रीय भाग में एकत्र होना प्रारम्भ कर देते हैं। ये वज्ररूप तरंगें एक विशेष प्रकार की तरंगें होती हैं, जो प्रकाशित कणों वा अग्नि के परमाणुओं को तेजी से उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त अग्नि और सोम की सम्मिलित एवं एकरस जैसी अवस्था के किसी विशेष भाग में अथवा केन्द्रीय भाग में वज्ररूप किरणों, जिन्हें यहाँ यूप संज्ञा दी गई है, की अकस्मात् उत्पत्ति होती है।
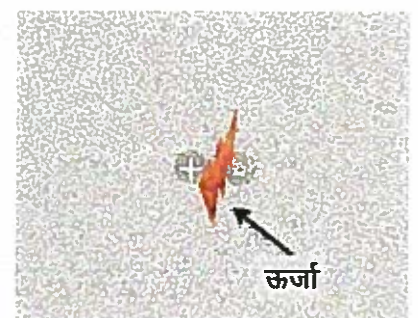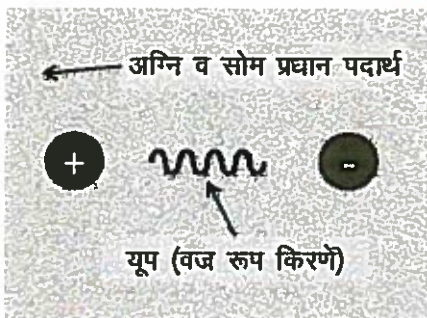
चित्र ६.१

ये किरणें विपरीत प्रकृति वाले कणों को परस्पर मिलाकर अपार ऊर्जा को उत्पन्न करती हैं। उस ऊर्जा के उत्पन्न होने पर केन्द्रीय भाग में कुछ रिक्तता उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण और भी विजातीय गुण वाले परमाणु तेजी से मिलकर ऊर्जा को उत्पन्न करते हैं।

ये विजातीय कण अग्नि और सोम प्रधान होते हैं। उस समय इन दोनों ही प्रकार के कणों की यह स्वाभाविक प्रकृति हो जाती है कि वे अल्प प्रकाशित, अल्पायु वाले मनुष्य नामक कणों एवं विशुद्ध प्राणापानादि सूक्ष्म प्राणों एवं अन्य ऋषि प्राणों के प्रति वहुत कम आकर्षणशील होते हैं। यहाँ देवों का भयभीत होना समझाने की एक शैली मात्र है। इसका आशय यह है कि जव अग्नि और सोम प्रधान पदार्थ नेव्यूला के केन्द्रीय भाग का निर्माण करना प्रारम्भ कर देते हैं और जव उनके संयोग से अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न होकर तेजी से वहिर्गमन करती है, तव वज्ररूप रश्मियाँ भी विपरीत स्वरूप को प्राप्त कर वहिर्मुखी हो उठती हैं और इस वहिर्मुखी होने को ही यूप का उल्टा गाढ़ना कहा गया है। उसके पश्चात् मनुष्य नामक कण और प्राणापानादि एवं अन्य ऋषि प्राण केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होते हैं, तव उनकी संगति अग्नि और सोम प्रधान कणों से न होकर विपरीत गति वाले यूप अर्थात् वज्र रूप किरणों से होती है। इनके संसर्ग से वे दोनों पदार्थ प्रकाशित हो उठते हैं और उसके पश्चात् उन वज्ररूप किरणों की दिशा भी वापिस उलटकर केन्द्रीय भाग की तरफ हो जाती है। इसके उपरान्त केन्द्रीय भाग की ओर जाती हुई वज्ररूप किरणों के संसर्ग से अथवा उनके आकर्षण से मनुष्य नामक कण एवं ऋषि नामक प्राण भी केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगते हैं तथा अग्नि और सोम प्रधान पदार्थ में मिश्रित हो जाते हैं। इस विषय में महर्षि तित्तिर ने भी उपर्युक्तवत् विज्ञान को दर्शाते हुए लिखा है- "यज्ञेन वै देवाः सुवर्गं लोकमायंस्तेऽमन्यन्त मनुष्या नोऽन्वाभविष्यन्तीति ते यूपेन योपयित्वा सुवर्गं लोकमायंस्तमृषयो यूपेनैवानु प्राजानंस्तद्यूपस्य यूपत्वम्" (तै.सं.६.३.४.७)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब ब्रह्माण्ड में अग्नि और सोम पदार्थ किंवा धनावेशित वा ऋणावेशित कण सर्वत्र उत्पन्न हो जाते हैं, उस समय **किसी विशेष भाग अथवा केन्द्रीय भाग में अकस्मात् कुछ ऐसी वज्र रूप रश्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो धनावेशित और ऋणावेशित कणों की ऊर्जा को उस स्तर तक ले जाती हैं, जहाँ वे परस्पर मिलकर ऊर्जा में परिवर्तित होने लग जाएं। अन्य कण और प्रतिकण भी मिलकर इसी प्रक्रिया को दोहराते हैं। जब ये ऊर्जा उस नवनिर्मित केन्द्रीय भाग से बाहर की ओर प्रवाहित होने लगती है, उस समय वे वज्र रूप किरणें भी उसके साथ बहिर्गमन करने लग जाती हैं।** उसके पश्चात् मनुष्य नामक कण जिनकी गति अनियमित होती है तथा जो अल्प प्रकाशवान् एवं अल्पायु होते हैं, वे एवं विभिन्न ऋषि प्राण वज्र रूप किरणों के प्रभाव से देदीप्यमान होकर उन किरणों को वापिस केन्द्रीय भाग की ओर परावर्तित कर देते हैं और फिर वे उनके साथ ही केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लग जाते हैं। **ब्रह्माण्ड में नेब्यूलाओं का जन्म कैसे होता है? कैसे व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ पदार्थ संघनित होने लगता है? कैसे गुरुत्वाकर्षण बल अकस्मात् एक स्थान पर केन्द्रीभूत होने लगता है? इन अति गम्भीर प्रश्नों का अति गम्भीर समाधान यहाँ दिया गया है। कण और प्रतिकणों से मिलकर ऊर्जा में बदलने और फिर उस ऊर्जा के उत्सर्जित होने के कारण हुआ रिक्त स्थान सम्पूर्ण पदार्थ को अपनी ओर आकर्षित करने का कारण बन जाता है** और इन सबका कारण वज्र रूप किरणों का स्वरूप आगे इसी खण्ड में दर्शाया जायेगा।।
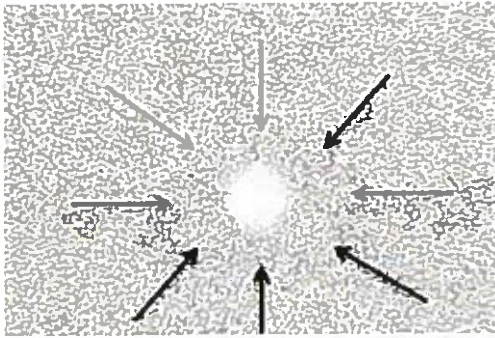
चित्र ६.२ तारों के केन्द्र के निर्माण का प्रारम्भ

२. तद्यद्यूप ऊर्ध्वो निमीयते यज्ञस्य प्रज्ञात्यै, स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै।।
वज्रो वा एष यद्यूपः सोऽष्टाश्रिः कर्तव्योऽष्टाश्रिर्वै वज्रस्तं तं प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै।।
वज्रो वै यूपः स एष द्विषतो वध उद्यतस्तिष्ठति तस्माद्धाप्येतर्हि यो द्वेष्टि तस्याप्रियं भवत्यमुष्यायं युपोऽमुष्यायं यूप इति दृष्ट्वा।।

{अश्रिः = किनारा, तेज धार, कोण इति आप्टे। आश्रयति तत्रेति अश्रिः (उ.को.४.१३६)। वज्रः = वज्रो वै पशवः (श.६.४.४.६), वज्रो वै चक्रम् (तै.ब्रा.१.४.४.१०), वज्रस् त्रिष्टुप् (श.३.६.४.२२; काठ.२१.२)}

व्याख्यानम्- यूप अर्थात् वज्र नामक किरणें केन्द्रीय भाग की ओर इस कारण प्रवाहित होती हैं कि उस भाग में विभिन्न पदार्थ संगत होकर सृष्टि प्रक्रिया को आगे बढ़ा सकें। यहाँ 'ऊर्ध्व' का अर्थ केन्द्रीय भाग करने का कारण १.७.६ में जानें। इन्हीं वज्र रश्मियों के कारण नेब्यूला के केन्द्र के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है और केन्द्र बनने के पश्चात् शेष भाग का निर्माण होता है।।

वज्र रूप रश्मियों को यूप इस कारण कहते हैं, क्योंकि समान प्रकार के परन्तु विपरीत विद्युत् शक्ति वा स्वभाव वाले कणों का संयोगीकरण इन्हीं के कारण होता है एवं इन्हीं के कारण अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु को वियुक्त वा छिन्न-भिन्न किया जाता है। वे यूप अर्थात् वज्र रूप किरणें इस प्रकार गमन करती हैं कि उनके मार्ग अष्टभुजाकार हो जाते हैं और उनके अष्ट कोण इतने तीक्ष्ण होते हैं कि वे अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु की तरंगों को नष्ट वा छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जब हिंसक अप्रकाशित विद्युत् तरंगें कणों की संयोग प्रक्रिया में बाधक बनती हैं, तब वज्र रूप किरणों का उन पर प्रहार होता है। सप्त छन्दों में त्रिष्टुप् छन्द विशेष रूप से वज्र का काम करता है और इसका क्या स्वरूप होता है? इसके लिये पूर्वपीठिका भी पढ़ें।।

वे वज्र रूप किरणें न केवल तीव्र भेदन शक्तियुक्त होती हैं अपितु विभिन्न कणों को संयुक्त करने में भी सहायक होती हैं। ध्यातव्य है कि जब कोई पदार्थ परस्पर संयुक्त होने लगते हैं, उस समय अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु अपने तीव्र प्रक्षेपक और प्रतिकर्षक बल के द्वारा उस संयोग प्रक्रिया को अवरुद्ध करके प्रक्षेपण कर्म उत्पन्न करता है। उस स्थिति में ये वज्र रूप किरणें उस अप्रकाशित विद्युत् को छिन्न-भिन्न करके संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न कराती हैं। जिस प्रकार नेब्यूला के निर्माण के समय इस प्रकार की प्रक्रिया होती है, उसी प्रकार वर्त्तमान ब्रह्माण्ड में भी हर संयोग प्रक्रिया के साथ यही क्रिया होती है। जब भी अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु संयोगोन्मुख कणों के बीच अपना तीव्र प्रतिकर्षण बल प्रक्षिप्त करता है, उसी समय उन-उन कणों के निकट विद्यमान वे वज्र रूप किरणें उन-उन कणों के द्वारा आकर्षित होती हुई बाधक पदार्थ को तीव्रता से प्रतिकर्षित करती हैं, जिससे वह दूर हटकर निष्प्रभावी हो जाता है। जब पूर्वोक्त मनुष्य नामक कण एवं ऋषि नामक प्राण निर्मित होते हुए नेब्यूला के केन्द्र की ओर प्रवाहित होते हैं। उस समय भी अप्रकाशित बाधक पदार्थ उनको घेरकर बाधा खड़ी करता है। उस समय भी ये वज्ररूप किरणें उस बाधक पदार्थ को छिन्न-भिन्न करके उन पदार्थों को केन्द्रीय भाग की ओर जाने के लिये सुरक्षित मार्ग प्रदान करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- वज्र रूप किरणें नेब्यूला के केन्द्रीय भाग के निर्माण में विशेष सहायक होती हैं। वे किरणें ही कण और प्रतिकणों को परस्पर संयुक्त करके ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करती हैं और ये किरणें ही कण-प्रतिकणों के संयोग में बाधा उत्पन्न करने वाले किंवा पदार्थ के संघनित होने में बाधक बनने वाले अप्रकाशित पदार्थ को दूर करने में सहायक होती हैं। जिस प्रकार नेब्यूला, विभिन्न तारों आदि के निर्माण के समय अप्रकाशित तत्त्व की बाधा इन्हीं वज्र रश्मियों के द्वारा दूर करके विभिन्न नेब्यूला एवं विभिन्न लोकों के निर्माण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, उसी प्रकार इस समय भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अप्रकाशित पदार्थ का प्रतिकर्षण बल हर संयोग को बाधित करने का प्रयत्न करता है और उस बाधा को ये ही वज्र रूप किरणें दूर करके संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न करने में सहायक होती हैं। वज्र रूप किरणों में अष्टभुजाकार तीक्ष्ण सिरे होते हैं, जो डार्क एनर्जी के दुष्प्रभाव को छिन्न-भिन्न करते हैं।।
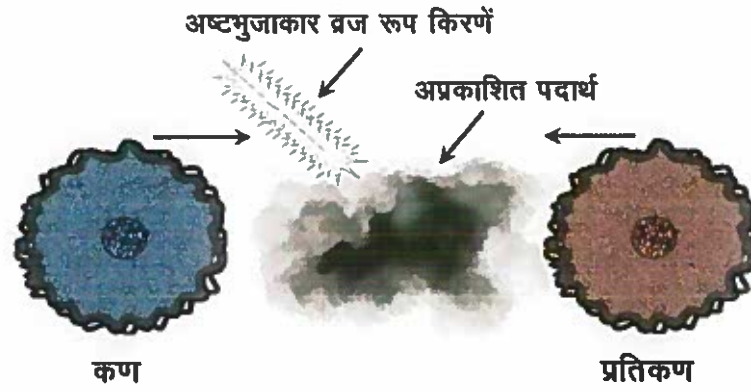
चित्र ६.३ वज्र किरणों द्वारा डार्क एनर्जी का विनाश

३. खादिरं यूपं कुर्वीत स्वर्गकामः खादिरेण वै यूपेन देवाः स्वर्गं लोकमजयंस्तथैवैतद्यजमानः खादिरेण यूपेन स्वर्गं लोकं जयति।।
बैल्वं यूपं कुर्वीतान्नाद्यकामः पुष्टिकामः समां समां वै बिल्वो गृभीतस्तदन्नाद्यस्य रूपमामूलाच्छाखाभिरनुचितस्तत्पुष्टेः।।
पुष्यति प्रजां च पशूंश्च य एवं विद्वान् बैल्वं यूपं कुरुते।।
यदेव बैल्वां३ बिल्वं ज्योतिरिति वा आचक्षते।।
ज्योतिः स्वेषु भवति श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद।।

{खदिरः = खदति हिनस्तीति खदिरः (उ.को.१.५३), खदिरो यदेनेनाखिदत् (श.३.६.२.१२), अस्थिभ्य एवास्य (प्रजापतेः) खदिरः समभवत्। तस्मात् स दारुणः बहुसारः (श.१३.४.४.६), (अस्थि = अस्थिरं चञ्चलं किरणचलनम् - तु.म.द.ऋ.भा.१.८४.१३), अस्थि वा एतत् यत् समिधः (तै.ब्रा.१.१.६.४), अस्यति प्रक्षिपति येन तत् अस्थि (उ.को.३.१५४), अस्थीनि स्पर्शरूपम् (ऐ.आ.३.२.१)। (वषट्कारः = वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः - ऐ.३.८), (शिरो वै प्राणानां योनिः - श.७.५.१.२२), वषट्कारो वै गायत्रियै शिरोऽच्छिनत्, तस्यै रसः पराऽपतत्, स पृथिवीं प्राविशत् स खदिरोऽभवत् (तै.सं.३.५.७.१), (खद्+किरच्-खद भक्षणे स्थैर्ये हिंसायाञ्च, खद आच्छादने)। बिल्वः = असौ वा आदित्यो यतोऽजायत ततो बिल्व उदतिष्ठत्, सयोन्येव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे (तै.सं.२.१.८.१-२), प्रजापतिर्मज्जा (तु.श.१३.४.४.८), बिल्+वन् - आप्टे (बिल संवरणे, बिल भेदने)। गृभीतः = गृहीतः (म.द.ऋ.भा.१.२४.१२)। समाः = संवत्सराः (म.द.य.भा.१६.४६), प्रजाः (तु.म.द.य.भा.४०.८), समानां संवत्सराणाम् (नि.११.५), शुद्धाः (तु.म.द.ऋ.भा.४.५७.७)। शाखाः = अंगुलिनाम (निघं.२.५), शाखा खशयाः शक्नोतेर्वा (नि.१.४)}

व्याख्यानम्- पूर्व में जिस वज्ररूप यूप की चर्चा की गयी है, यहाँ उस वज्ररूप यूप के प्रकार बतालाये हैं। इनमें से प्रथम खादिर यूप की चर्चा की गयी है। पूर्व कण्डिकाओं में, विशेषकर इस खण्ड की प्रथम कण्डिका में अनेक गुणों में समान परन्तु किसी एक विशेष गुण की दृष्टि से विपरीत दो प्रकार के कणों के मिलने पर वज्र रूप विशेष किरणों के सहयोग से नेब्यूलाओं के केन्द्र बनने की प्रारम्भिक अवस्था में ऊर्जा के उत्पन्न होने और उसके बहिर्गमन करने से रिक्त स्थान बनने की बात कही गयी है, उस प्रकरण में कौनसी वज्र रूप किरणें इस कार्य को करने में समर्थ होती हैं? इसका यहाँ वर्णन किया गया है। वह वज्र खादिर यूप कहलाता है। खादिर यूप वे तरंगें हैं, जो मनस् तत्त्व के योग से किंवा उसके विकार से उत्पन्न अति चंचल एवं प्रक्षेपक धर्म वाली सूक्ष्म तरंगों से उत्पन्न होती हैं। {प्राणो वै वषट्कारः

– श.४.२.१.२६} प्राणापान एवं वाक् तत्त्व के द्वारा गायत्री छन्द रश्मियों पर किये गये प्रहार से भी ये किरणें उत्पन्न होती हैं। जब विजातीय किंवा कण और प्रतिकण १.२.३ में दर्शाये अनुसार धनावेशित और ऋणावेशित कणों की भाँति जब परस्पर निकट आते हैं और उन कणों में आवेश के अतिरिक्त अन्य सभी गुण-धर्म समान होते हैं, तब उनमें एक अद्भुत प्रक्रिया होती है। इनमें एक कण अग्नि प्रधान होता है और दूसरा कण सोम प्रधान होता है। अग्नि प्रधान कण में प्राण तत्त्व सघन रूप में विद्यमान होता है और सोम प्रधान कण में प्राण तत्त्व विरल रूप में विद्यमान होता है। जब दोनों कणों में प्राण एवं मरुतों के मिश्रण की मात्रा असमान होती है, तब उन दोनों के मध्य प्रबल आकर्षण होकर एक-दूसरे के प्रति दृढ़ बन्धन हो जाता है, जिसके फल-स्वरूप एक नया और अपेक्षाकृत स्थूल कण उत्पन्न हो जाता है, जैसा कि १.२.३ में दर्शाया गया है। यदि दोनों कणों में यह मात्रा पूर्णतः समान होती है और प्राण व मरुतों के अनुपात के आधार पर केवल उनके वैद्युत आवेश में ही गुणात्मक विपरीतता होती है, उस समय एक अद्भुत घटना घटती है। वे दोनों कण पूर्व कणों की भाँति आकर्षित तो होते हैं, परन्तु उनमें आकर्षण बल इतना प्रबल होता है कि उन दोनों के मध्य आकाश तत्त्व का भी आवरण समाप्त होकर उन दोनों कणों का प्राण तत्त्व पूर्ण रूप से मिश्रित हो जाता है। उसी समय उपर्युक्त खादिर यूप रूपी तरंगें चेतन सर्वोच्च परमात्मा सत्ता की प्रेरणा से अकस्मात् प्रकट होकर उन दोनों कणों के संयुक्त रूप को आच्छादित करके अवशोषित कर लेती हैं। इसके साथ ही वे किरणें उस प्राण तत्त्व को एक सीमित व लगभग स्थिर आकार प्रदान करके अत्यन्त गति और भेदन क्षमतासम्पन्न स्वरूप प्रदान करती हैं और यही स्वरूप ही ऊर्जा का एक कण (क्वाण्टा) कहलाता है। कुछ कण विद्युत् आवेशयुक्त न होकर घूर्णन दिशा आदि की दृष्टि से सर्वथा विपरीत परन्तु अन्य दृष्टि से सर्वथा समान रूप वाले होकर कण और प्रतिकण कहलाते हैं। उनका परस्पर संयोग भी इसी प्रकार होता है। विपरीत घूर्णन के होने पर घूर्णन करता हुआ दोनों का प्राण तत्त्व एक दूसरे में फँसकर मिश्रित हो जाता है। खादिर यूप रूपी किरणों की यहाँ भी वही भूमिका रहती है। इसी प्रक्रिया के चलते कण्डिका एक में दर्शाये अनुसार ब्रह्माण्ड में फैले पदार्थ में रिक्त स्थान उत्पन्न होकर नेब्यूलाओं के केन्द्र बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी और उस केन्द्र की ओर बहुत बड़ी मात्रा में दिव्य पदार्थ प्रवाहित होने लगा था। उसी प्रकार आज भी ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी दो विपरीत कणों के मिलने से ऊर्जा उत्पन्न होती है, वहाँ यही खादिर यूप रूपी तरंगें उस क्रिया को इसी प्रकार सम्पन्न करती हैं। विशेष समझने के लिए वैज्ञानिक भाष्यसार में दिये हुए चित्रों का अवलोकन करें।।

उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्माण्ड के अन्दर ऊर्जा उत्पन्न होकर कुछ स्थानों पर रिक्तता उत्पन्न हो जाती है, उस समय बैल्व यूप नामक अन्य तरंगें उत्पन्न होती हैं। ये तरंगें {मज्जा = मज्जा यजुः (श. ८.१.४.५), मज्जानो ज्योतिस्तद्धि यजुष्मतीनां रूपम् (श.१०.२.६.१८), मज्जति शुन्धतीति मज्जा (उ. को.१.१५६)} मनस् तत्त्व किंवा प्राण एवं वाक् तत्त्व से उत्पन्न होने वाली पूर्वोक्त खादिर यूप रूपी तरंगों के अन्दर उसी प्रकार स्थित होती है, जैसे प्राणियों की अस्थियों के मध्य में मज्जा स्थित होती है। ये तरंगें आच्छादक, भेदन, शोधन क्षमता से युक्त ज्योतिरूप होती हैं। इसके साथ ही ये किरणें विभिन्न कणों के संयोग कराने में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये किरणें विभिन्न कणों को तीव्र गतिशील भी बनाती हैं। ये किरणें ब्रह्माण्ड में स्थित संवत्सर अर्थात् सन्धानक मास रश्मियों को खोज-खोज कर धारण कर लेती हैं। इन मास रश्मियों के साथ-साथ नेब्यूलाओं के निर्माणाधीन केन्द्रों के चारों ओर विद्यमान पदार्थ आकर्षित होकर तेजी से केन्द्रीय भाग की ओर आने लगता है और इस प्रकार वह नेब्यूला सतत पुष्ट एवं वर्धमान होता रहता है। इसी कारण इन तरंगों को अन्नकाम और पुष्टिकाम कहते हैं अर्थात् ये संयोज्य पदार्थ को आकर्षित करती हैं, जिससे सर्ग प्रक्रिया पुष्ट होती जाती है। उस पुष्टि का प्रकार दर्शाते हुए महर्षि कहते हैं कि ये किरणें उस केन्द्रीय भाग, जो किसी भी नेब्यूला या तारे का आधार होता है, में उत्पन्न होकर सुदूर आकाश तत्त्व में फैलती जाती हैं। मानो वे क्षेत्र में व्याप्त हो जाती हैं। यह प्रक्रिया अकस्मात् न होकर क्रमशः होती है। इसी कारण नेब्यूलाओं का निर्माण भी धीरे-२ ही होता है।।

ब्रह्माण्ड का जो क्षेत्र उपर्युक्त बिल्व रूप किरणों के वज्र अर्थात् तीक्ष्ण प्रवाह को धारण कर लेता है, उसमें विभिन्न प्रकार के उत्पन्न कण, छन्द वा मरुद् रश्मियाँ एकत्र होने लगती हैं, जिसके कारण वह क्षेत्र नेब्यूला के निर्माण के लिये निरन्तर पुष्ट और समृद्ध होता जाता है।।

ये विल्व रूप तरंगें एवं उनकी तीव्र धारायें ज्योतिरूप कही जाती हैं। इसके कारण जिस क्षेत्र में ये तरंगें उत्पन्न होकर नेव्यूलाओं के केन्द्र का निर्माण प्रारम्भ करती हैं, वह क्षेत्र अपेक्षाकृत ज्योतिर्मय होता चला जाता है। जो भी बाहरी पदार्थ केन्द्र की ओर आता है, वह भी अधिक प्रकाशमान होता चला जाता है। विभिन्न निर्माणाधीन केन्द्रों में इन तरंगों की मात्रा जितनी अधिक होती है, वह अन्य केन्द्रों की अपेक्षा उतना ही श्रेष्ठ, बलशील और प्रकाशशील होता है। इसी कारण ब्रह्माण्ड में उत्पन्न नेव्यूलाओं, गैलेक्सियों एवं तारों के आकार, तेजस्विता, आकर्षण बल एवं गतियाँ भिन्न-२ होती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- नेव्यूलाओं के निर्माणाधीन केन्द्रों में कण और प्रतिकणों से मिलकर ऊर्जा की उत्पत्ति एवं बाहरी पदार्थ के केन्द्रों की ओर प्रवाहित होने के गम्भीर विज्ञान का संकेत इन कण्डिकाओं में किया गया है। उपर्युक्त वज्र रूप तरंगों के दो रूपों की चर्चा यहाँ की गई है। **इलेक्ट्रॉन एवं पोजिट्रॉन, क्वार्क एवं प्रतिक्वार्क आदि के संयोग से ऊर्जा क्यों एवं कैसे उत्पन्न होती है? कदाचित् इस विषय में वर्त्तमान विज्ञान मौन है। यहाँ उसी गूढ़ विज्ञान को प्रकट किया गया है।** जब कोई कण और प्रतिकण, उदाहरण के लिए इलेक्ट्रॉन एवं पोजिट्रॉन परस्पर निकट आते हैं, तब निम्न घटना घटित होती है-

पोजिट्रॉन आग्नेय तत्त्व प्रधान होने के कारण प्राणों का अपेक्षाकृत सघन तथा मरुद् रश्मियों का विरल रूप होता है एवं इलेक्ट्रान सोम तत्त्व प्रधान होने के कारण प्राणों का विरल एवं मरुद् रूप रश्मियों का सघन रूप होता है। जब ये दोनों कण निकट आते हैं, तब १.२.३ में दर्शाये अनुसार प्रबल आकर्षण क्रिया होती है। जब दोनों प्रकार के कण समान मात्रा परन्तु विपरीत गुण वाले आवेश के अतिरिक्त द्रव्यमान आदि गुणों में भी असमान होते हैं, तो वे कण परस्पर एक-दूसरे से बंधकर अपेक्षाकृत एक स्थूल एवं संयुक्त कण का निर्माण करते हैं। इस प्रकार के कणों को परस्पर कण एवं प्रतिकण नहीं कहा जाता है। जब इलेक्ट्रान व पोजिट्रॉन की भाँति समान मात्रा परन्तु विपरीत विद्युदावेश के अतिरिक्त अन्य सभी गुण समान होते हैं, तब वे कण परस्पर कण-प्रतिकण के रूप में जाने जाते हैं। इनके अर्थात् इलेक्ट्रान, पोजिट्रॉन आदि के संयोग की प्रक्रिया इलेक्ट्रान एवं प्रोट्रॉन के संयोग प्रक्रिया से भिन्न होती है। इलेक्ट्रॉन जब किसी पोजिट्रॉन के निकट जाता है, तब उनके आकर्षण की प्रक्रिया इतनी तीव्र होती है कि वे दोनों कण परस्पर पूर्ण रूप से मिश्रित हो जाते हैं। उन दोनों के बीच में कोई भी अवकाश वा आकाश तत्त्व विद्यमान नहीं रहता, उस समय इलेक्ट्रॉन की मरुद् रश्मियाँ एवं पोजिट्रॉन की धनंजय आदि प्राण रश्मियाँ तेजी से एक-दूसरे की तरफ प्रवाहित होती हुई सम्पूर्ण पदार्थ को मिश्रित कर देती हैं। उसी समय सर्वोच्च चेतन सत्ता की प्रेरणा से मनस् तत्त्व अथवा प्राणापान एवं वाक् तत्त्व के द्वारा गायत्री छन्द रश्मियों से ऐसी तीव्र भेदक खदिर रूप तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो इलेक्ट्रॉन और पोजिट्रॉन अथवा किसी भी कण व प्रतिकण के पूर्ण मिश्रित पदार्थ को एक साथ आच्छादित करके फोटोन का रूप प्रदान करती हैं। यह फोटोन अत्यधिक शक्ति एवं गति से युक्त होता है। **इन तरंगों की अनुपस्थिति में कोई भी कण और प्रतिकण कभी भी फोटोन का रूप धारण नहीं कर सकता। जब निरावेशित न्यूट्रॉन आदि कणों का उनके प्रतिकणों से संयोग होता है, तब उनके विपरीत घूर्णन के कारण उत्पन्न बल दोनों को परस्पर जोड़ देता है।** तदुपरान्त उनसे फोटोन बनने की भी प्रक्रिया उपर्युक्तानुसार ही होती है। इस प्रक्रिया को निम्न चित्रानुसार भी समझें-

चित्र ६.४ इलेक्ट्रॉन व पोजिट्रॉन आदि आवेशित कणों का संयोग
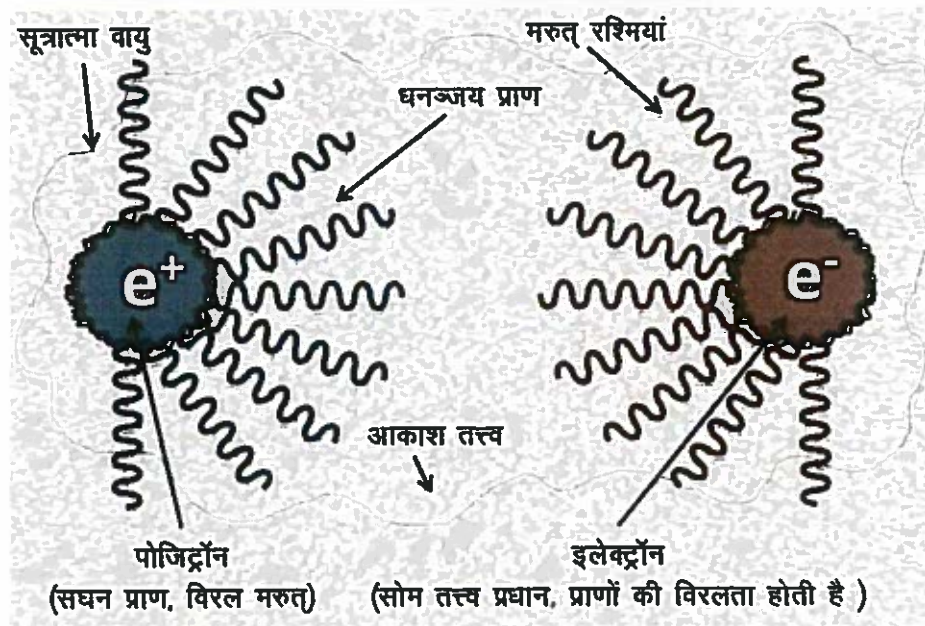
सूत्रात्मा वायु
धनञ्जय + मरुत् मिश्रण
n
n̄
आकाश तत्त्व आदि तत्त्व
प्रति न्यूट्रॉन
(प्राण + मरुत् मिश्रण)
न्यूट्रॉन
(प्राण + मरुत् मिश्रण)

प्राण + मरुत् आदि मिश्रण
आकाश तत्त्व आदि तत्त्व
सूत्रात्मा वायु
n
n̄
न्यूट्रॉन
प्रति न्यूट्रॉन
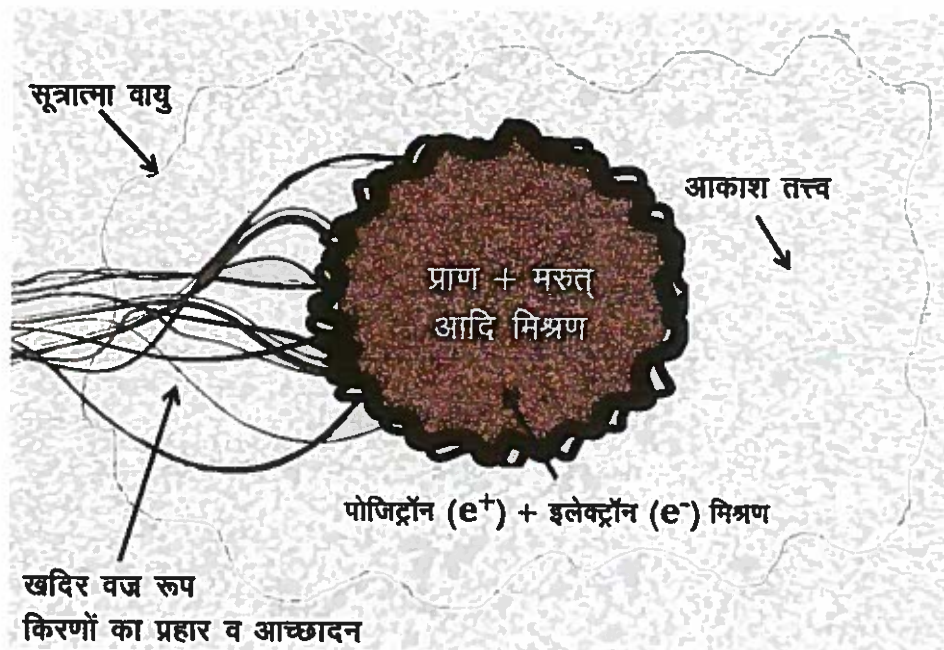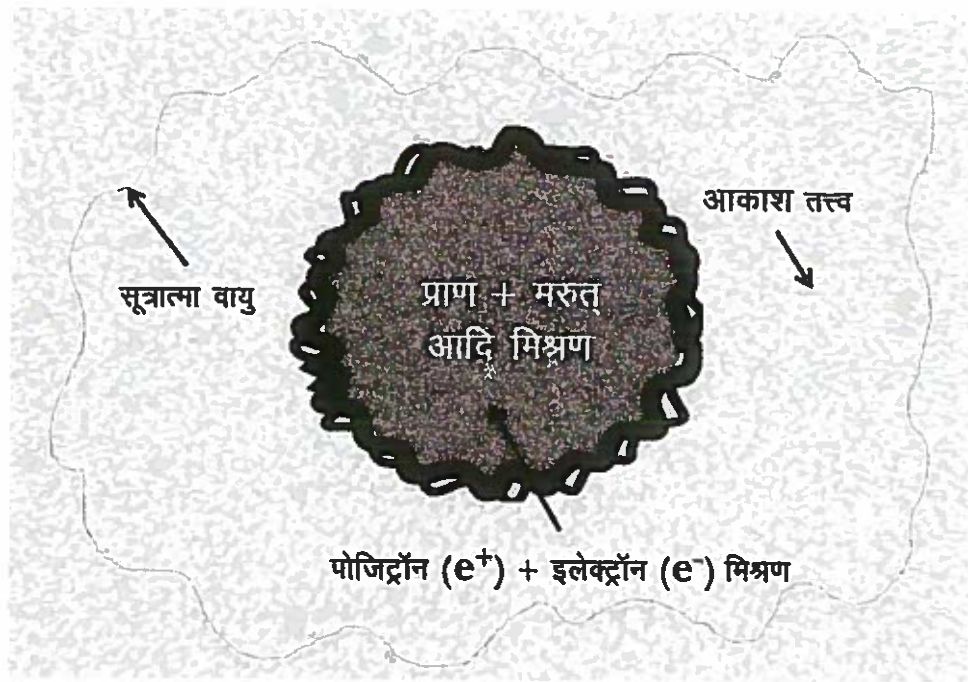
मरुत् सूत्रात्मा वायु व धनञ्जय आदि से निर्मित

सबका मिश्रण
रूप क्वाण्टा

गामा (γ) किरणों की उत्पत्ति
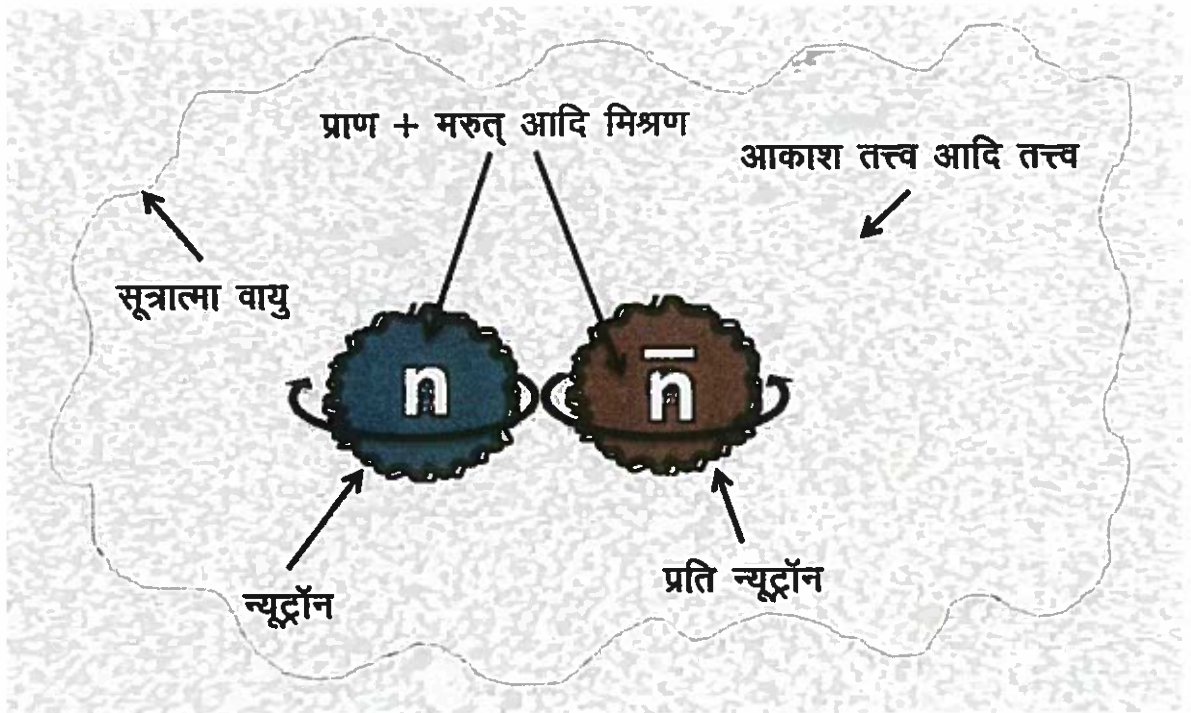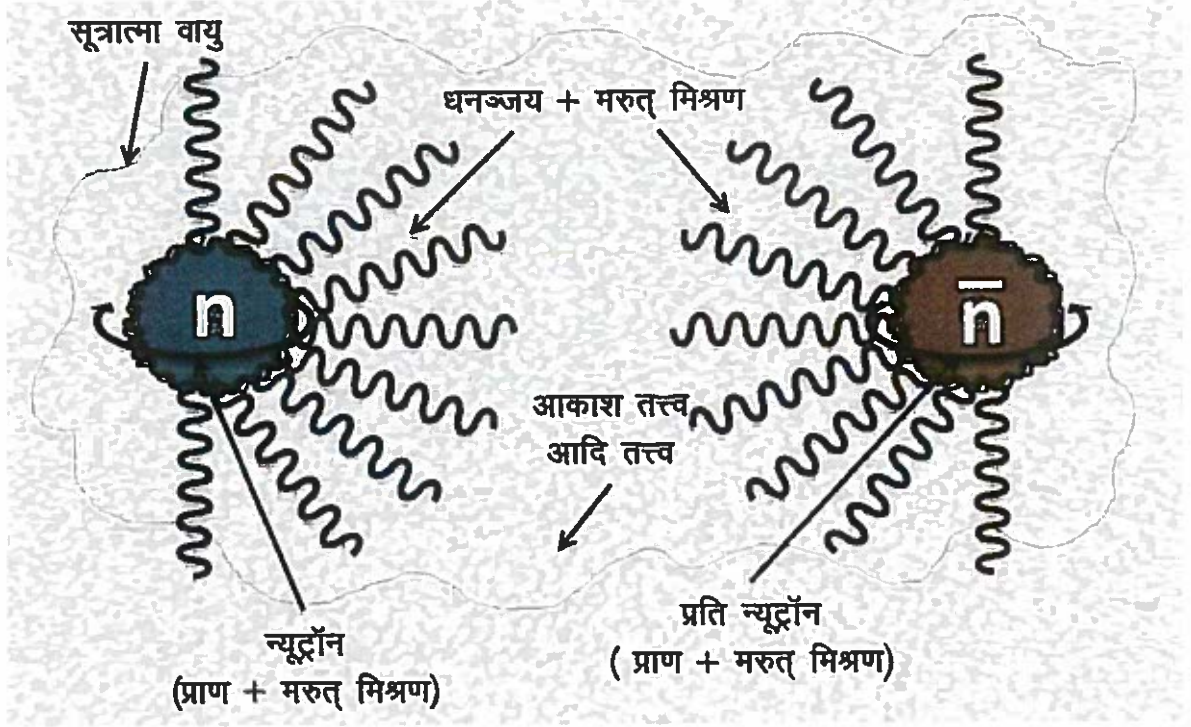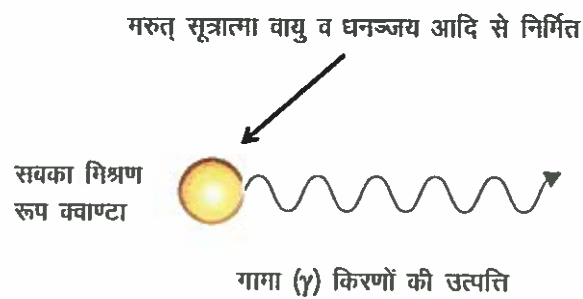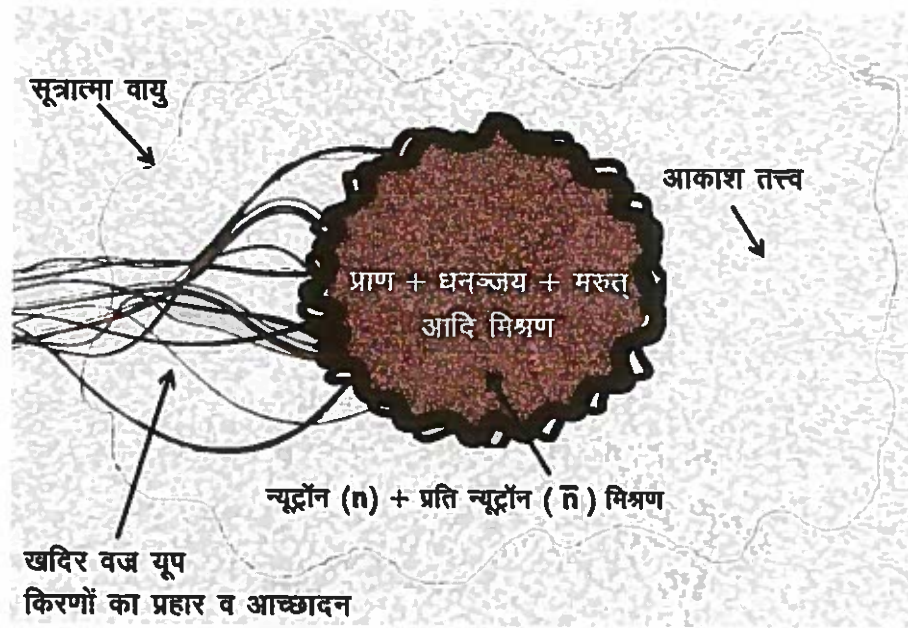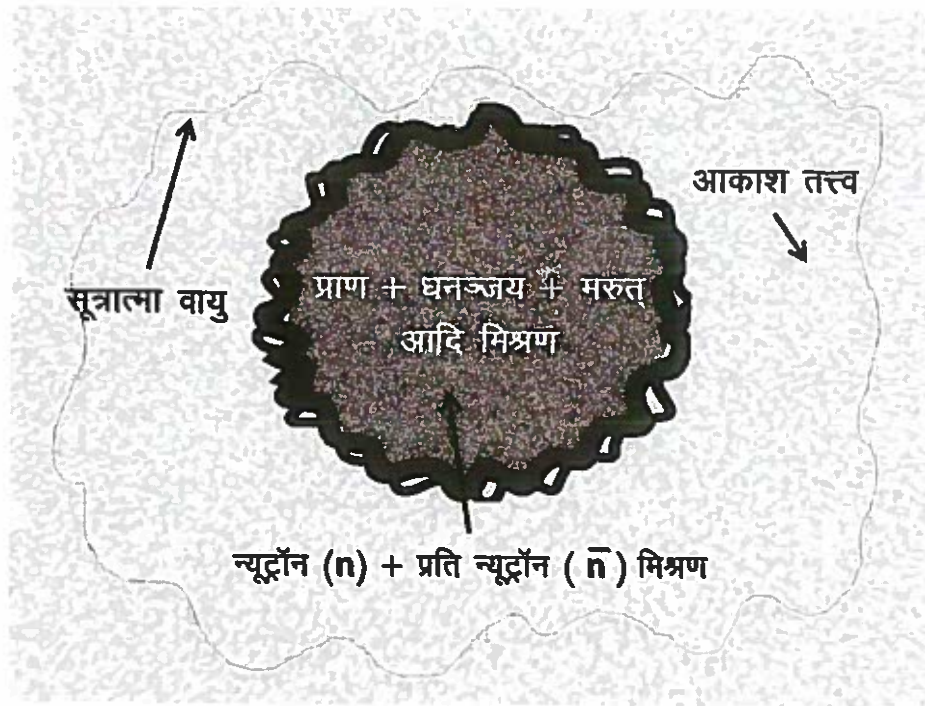
चित्र ६.५ निरावेशित कण-प्रतिकण का संयोग

इस प्रकार गामा किरणें उत्पन्न होकर अति भेदन क्षमता के साथ वहिर्गमन कर जाती हैं तथा उपर्युक्त खदिर रूप किरणों के मध्य स्थित अन्य विल्व रूप किरणें, जो अति प्रकाशित होते हुए आच्छादक, भेदक एवं शोधक गुणों से युक्त होती हैं, उस केन्द्रीय भाग में व्याप्त हो जाती हैं। ये किरणें आकर्षण वल से विशेष युक्त होने के कारण वाहरी दूर-२ विखरे पदार्थ को आकर्षित करने के लिए चारों ओर प्रवाहित होने लगती हैं, इस कारण चारों ओर विखरा पदार्थ धीरे-२ घनीभूत होता चला जाता है। **इन बिल्व रूप किरणों की तीव्रता पर ही किसी नेब्यूला, गैलेक्सियाँ वा तारे का आकार एवं गुरुत्वाकर्षण बल निर्भर करता है, कुछ सीमा तक इनकी तेजस्विता भी इन्हीं किरणों पर निर्भर होती है।।**

४. पालाशं यूपं कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं वनस्पतीनां पलाशः।।
तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं विद्वान् पालाशं यूपं कुरुते।।
यदेव पालाशां३ सर्वेषां वा एष वनस्पतीनां योनिर्यत्पलाशस्तस्मात् पलाशस्यैव पलाशेनाऽऽचक्षतेऽमुष्य पलाशममुष्य पलाशमिति।।
सर्वेषां हास्य वनस्पतीनां काम उपाप्तो भवति य एवं वेद।।१।।

{पलाशः = ब्रह्म वै पलाशः (श.१.३.३.१६), मांसेभ्य एवास्य (प्रजापतेः) पलाशः समभवत् तस्मात्स बहुरसो लोहितरसः (श.१३.४.४.१०), सोमो वै पलाशः (कौ.ब्रा.२.२; श.६.६.३.७), पत्रं पलाशम् इति सायणाचार्यः)। वनस्पतिः = वनानां किरणानां पालकः स्वामी सूर्यः (तु.म.द.य.भा.२८.१०), (वनम् = रश्मिनाम - निघं.१.५; उदकनाम - निघं.१.१२), अग्निर्वै वनस्पतिः (कौ.ब्रा.१०.६), प्राणो वै वनस्पतिः (ऐ.२.४)। (मांसम् = मांसं सादनम् - श.८.१.४.५; मांसं वै पुरीषम् - श.८.६.२.१४), (पुरीषम् = उदकनाम - निघं.१.१२; ऐन्द्रं हि पुरीषम् - श.८.७.३.७; पूर्णं बलम् - म.द.य.भा.१२.४६; व्यापनं पालनं वा - म.द.य.भा.३८.२१; पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा - नि.२.२२)}

व्याख्यानम्- जव नेव्यूलाओं के केन्द्रीय भाग में विल्व रूप किरणों के द्वारा वाहरी पदार्थ को आकर्षित किया जाता है, उस समय उस पदार्थ में विभिन्न प्रकार के प्राण और मरुतों के अतिरिक्त विभिन्न कण और उनके प्रतिकणों की ही प्रचुरता होती है। उनमें से कण और प्रतिकण के संयोग से पूर्वोक्तानुसार ऊर्जा उत्पन्न हो जाती है। उसके पश्चात् पालाश यूप रूपी तीव्र विकिरणों के समूह उत्पन्न होते हैं। ये किरणें मन, वाक् वा प्राणों के सर्वत्र व्याप्त वल से उत्पन्न होती हैं। इसका आशय यह है कि ये किरणें निर्माणाधीन नेव्यूलाओं के केन्द्रों के चतुर्दिक् विखरे हुए पदार्थसमूह में **सर्वोच्च चेतन सत्ता परमात्मा की प्रेरणा से अकस्मात् उत्पन्न हो जाती हैं।** इन किरणों के उत्पन्न होने से उस समय विद्यमान पदार्थ से विभिन्न प्रकार के विद्युदावेशित कण प्रकट होने लगते हैं। ये पलाश रूपी किरणें विभिन्न प्रकार के मरुतों से युक्त विद्युद् रूप होती हैं, जो अन्य पदार्थ से संयुक्त होकर विद्युदावेशित कणों को उत्पन्न करती हैं। इसके कारण उन निर्माणाधीन नेव्यूलाओं में अनेक प्रकार के एवं असंख्य मात्रा में विद्युदावेशित कण उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके कारण सम्पूर्ण पदार्थ वैद्युत तेज से भर जाता है। ये सूक्ष्मतम विद्युदावेशित कण पूर्व विल्व रूप तरंगों के योग से परस्पर संयुक्त होकर अन्य आवेशित कणों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये पलाश रूप किरणें नेव्यूलाओं के विद्युत् तेज एवं तीक्ष्ण ज्योति का कारण होती हैं। यद्यपि पूर्व विल्व तरंगों से ही सम्पूर्ण पदार्थ ज्योतिर्मय उठता है, परन्तु इन तरंगों से वह ज्योति और भी प्रखर होने के साथ विद्युन्मय भी हो जाती है। जव इस प्रकार की किरणें वा तरंगें सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त हो जाती हैं, तव सम्पूर्ण क्षेत्र अग्नि तत्त्व की भारी वृद्धि होकर तीक्ष्ण रूप से देदीप्यमान एवं तीव्र विद्युत् का भण्डार वन जाता है। {पत्रम् = वाहनम् = पतन्ति गच्छन्ति येन तत् (अष्टा.भा.४.३.१२२) (आचार्य-सुदर्शनदेव-भाष्य)} जिस प्रकार किसी वृक्ष पर उसके पत्ते ही उस वृक्ष की पहचान कराते हैं

तथा वे ही दूर से दिखाई भी देते हैं, उसी प्रकार किसी भी नेव्यूला वा तारे आदि में यह वैद्युत तेज ही दिखाई देता है और वही उनकी मुख्य पहचान भी होता है। यही वैद्युत तेज उनमें व्याप्त होकर उनकी सभी आन्तरिक गतिविधियों को संचालित भी करता है।।+।।

ये किरणें किन्हीं भी नेव्यूलाओं वा तारों में अग्नि तत्त्व की समृद्धि एवं निरन्तरता का एक प्रवल कारण होती हैं। इसके साथ ही ये किरणें उस अग्नि तत्त्व को धारण करने वाली एवं उसको वहिर्गमन के लिए मार्ग प्रदान करने वाली भी होती हैं। विभिन्न तारों वा नेव्यूलाओं के वैद्युत तेज को एवं उसमें विद्यमान तत्त्वों को उनके तेज द्वारा ही जाना जाता है, जिससे विभिन्न तारों वा नेव्यूलाओं के आकार एवं प्रकृति की जानकारी होती है। इन्हीं तरंगों के विद्यमान व व्याप्त होने पर विभिन्न नेव्यूलाओं वा तारों में आकर्षण आदि वल प्रवल होता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त नेव्यूलाओं के सम्पूर्ण भाग में मन, वाक् वा प्राणों से एक प्रकार की पलाश नामक तरंगें उत्पन्न होती हैं। इनके उत्पन्न होने पर विभिन्न प्रकार के **विद्युदावेशित कण प्रकट होने लगते हैं।** पूर्व बिल्व तरंगों के इनके साथ योग से **सूक्ष्मतम वैद्युत आवेशित कणों का संयोग होकर अन्य स्थूल आवेशित कणों का निर्माण होने लगता है। उदाहरणतया क्वाक्र्स के योग से हेड्रॉन्स, मीजोन्स आदि का निर्माण होने लगता है। इसी समय सूक्ष्म नाभिकों की उत्पत्ति होने लगती है।** इस कारण नेव्यूलाओं वा तारों में विद्युदावेशित कणों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। **कण प्रतिकणों से मिलकर ऊर्जा उत्पन्न करने का सिलसिला बंद हो जाता है तथा बड़े-२ वैद्युत-क्षेत्र उत्पन्न होने लगते हैं। इन सबके कारण सम्पूर्ण पदार्थ अति तेजस्वी हो उठता है। किसी भी नेब्यूला वा तारों की पृथक्-२ पहिचान उनके द्वारा उत्सर्जित किरणों के द्वारा ही होती है।** ये पलाश किरणें ऊर्जा के उत्पन्न होने, उनको वहन करने वा उचित मार्ग प्रदान करने में बड़ी भूमिका निभाती हैं। अभी तक नाभिकीय संलयन जैसी क्रियाएं प्रारम्भ नहीं हो पाती हैं। इन तरंगों का प्रभाव नेब्यूलाओं वा तारों के आकर्षण बल पर भी होता है।।

चित्र ६.६ सूक्ष्म नाभिकों के निर्माण की प्रक्रिया

꧁ इति ६.१ समाप्तः ꧂

ॐ अथ ६.२ प्रारभ्यते ॐ

**** तमसो मा ज्योतिर्गमय ****

१. अञ्जमो यूपमनुब्रूहीत्याहाध्वर्युः।।
'अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः' इत्यन्वाह।।
अध्वरे ह्येनं देवयन्तोऽञ्जन्ति।।
'वनस्पते मधुना दैव्येन' इत्येतद् वै मधु दैव्यं यदाज्यम्।।
'यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे' इति यदि च तिष्ठासि यदि च शयासै द्रविणमेवास्मासु धत्तादित्येव तदाह।।

{द्रविणम् = बलनाम (निघं.२.६), धननाम् (निघं.२.१०), द्रवति गच्छति द्रुयते प्राप्यते वा तद् द्रविणम् (उ.को.२.५१)। माता = मातृवत् परिपालिका वाक् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२१.२), मातृवत् सर्वेषां मान्यकारिण्यः (किरणाः) (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.१), वायुः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२६.१४), माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (नि.२.८)। वागिति मनः (जै.उ.४.११.१.११)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त यूप नामक तीनों प्रकार की तरंगों को अधिक तेजस्वी एवं बलशाली बनाने के लिये मन वा वाक् रूपी अध्वर्यु के द्वारा अग्रलिखित छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, जो पूर्वोक्त खदिर आदि तीनों तरंगों को तीक्ष्ण बनाने में सहयोग करती है। इसका संकेत अन्य ऋषि ने भी इस प्रकार किया है-

यूपायाज्यमानायानुब्रूहीति संप्रेष्यत्यज्यमानायानुब्रूह्यञ्जमो यूपमनुब्रूहीति वा। (आप.श्रौ.७.१०.१)।।

इसी क्रम में विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से विश्वेदेवादेवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे।। (ऋ.३.८.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके देवत और छान्दस प्रभाव से सभी दिव्य पदार्थ तीक्ष्ण बल और तेज से युक्त होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से निम्नलिखित क्रियाएं होती हैं।।

प्रथम पाद के प्रभाव से नेब्यूला के अन्दर होने वाली विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं में प्राण नामक प्राथमिक प्राण वा आकाश तत्त्व के द्वारा पूर्वोक्त यूपरूप देदीप्यमान एवं विभिन्न प्रकार की क्रीड़ायें करती हुई तरंगों को विशेषगति और तीक्ष्णता से युक्त किया जाता है और वे तरंगें शुद्ध रूप में भासने लगती हैं।।+ ।।

द्वितीय पाद के प्रभाव से उन तरंगों को प्राणापानादि के प्रकाशमान मार्गों से युक्त किया जाता है। ये मार्ग सम्पूर्ण नेब्यूलादि पदार्थों में भाँति-२ की क्रीड़ा करते हुए एवं विभिन्न प्रकार के कणों को नियन्त्रित करते हुए प्रतीत होते हैं। ये प्राणादि पदार्थ अपने मार्गों पर विचरण करते हुए विभिन्न पदार्थों के ऊपर एक सर्वशक्तिमती चेतन सत्ता की प्रेरणा से प्रक्षिप्त होते हुए सबको प्रकाशमान् करते रहते हैं। इस कारण ये पदार्थ पूर्वोक्त तीनों प्रकार की यूपरूप तरंगों को प्रकाशित करते रहते हैं।।

उपर्युक्त छन्द रश्मि के उत्तरार्द्ध के प्रभाव से पूर्वोक्त तीनों यूपरूप तरंगें, चाहे नेब्यूलाओं के केन्द्र में विद्यमान होकर अपने निर्धारित कर्मों को करने में संलग्न हों अथवा विशाल अन्तरिक्ष में विचरण करने वाली वायु वा अग्नि की रश्मियों के साथ संगत हो रही हों, सभी प्रकार के कण वा तरंगों में बल को धारण कराती हैं। ये किरणें चाहे एक स्थान पर क्रियाशील हों अथवा विस्तृत भाग में व्याप्त हो रही हों, सभी पदार्थों को अपने साथ धारण कर उन्हें बलवान् बनाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त खदिरादि तीनों प्रकार की तरंगों को अधिक तेजस्वी एवं बलशाली बनाने के लिए एक निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिसके कारण वे तीनों प्रकार की तरंगें विशेष रूप से शुद्ध होकर भासने लगती हैं। वे विशेष गति और तीक्ष्णता से युक्त होकर विभिन्न किरणों और कणों को तीक्ष्ण बल और गति प्रदान करती हैं। वे तीनों प्रकार की तरंगें, चाहे नेब्यूला के केन्द्रीय भाग में विद्यमान हों अथवा सुदूर अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त हों, वे सभी कणों और किरणों को बल, तेज और गति से समृद्ध करती हैं।।

२. 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' इत्युच्छ्रीयमाणायाभिरूपा यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।
'वर्ष्मन् पृथिव्या अधि' इत्येतद्वै वर्ष्म पृथिव्यै यत्र यूपमुन्मिन्वन्ति।।
'सुमिती मीयमानो वर्चोधा यज्ञवाहसे' इत्याशिषमाशास्ते।।

{मीयमानः = (माङ् माने शब्दे च = सीमांकन करना, अन्दर स्थान ढूँढना, किसी से युक्त होना- इति आप्टे)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर पूर्वोक्त विश्वामित्र ऋषि और विश्वेदेवादेवताक एवं स्वराडनुष्टुप् छन्दस्क

उच्छ्रॅयस्व वनस्पते वर्ष्मन्पृथिव्या अधिं। सुमिंती मीयमांनो वर्चो धा यज्ञवांहसे।। (ऋ.३.८.३)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी दिव्य पदार्थ बलवान् व प्रकाशमान होते हैं। इसके प्रथम पाद के प्रभाव से पूर्वोक्त तीनों प्रकार की यूपरूप तरंगें केन्द्रीय भाग से ऊपर अर्थात् बाहर की ओर उठती हुई अग्नि और प्राण तत्त्व को समृद्ध करती हैं और इसकी समृद्धि से नेब्यूलाओं के निर्माण रूपी यज्ञ भी समृद्ध होते जाते हैं। शेष पूर्ववत्। इस विषय में एक अन्य तत्त्ववेत्ता का कथन है-
यूपायोच्छ्रीयमाणायानुब्रूहीति संप्रेष्यत्युच्छ्रीयमाणायानुब्रूहीति वा वोद्दिवःस्तभानान्तरिक्षं पृणेत्युच्छ्रीयति (आप.श्रौ.७.१०.६,७) {स्तभान = स्तम्भु स्तम्भार्थे (सौत्रो धातुः) धातोर्लोटि 'हलः श्नः शानज्झौ इति श्नः शानच् (वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री)} इससे संकेत मिलता है कि इस छन्द रश्मि के प्रभाव से यूप रूप तरंगें केन्द्रीय भाग से ऊपर की ओर उठती हुई विभिन्न देव पदार्थों को रोककर उनसे सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को पूर्ण करती हैं, जिससे सर्गयज्ञ की प्रक्रिया समृद्ध होती है।।

इस छन्द रश्मि के द्वितीय पाद के प्रभाव से पूर्वोक्त यूप रश्मियाँ अन्तरिक्ष में स्थित विभिन्न अप्रकाशित कणों पर अपने तेज और बल की वृष्टि करके उन्हें भी देदीप्यमान बनाती हैं। इनके प्रभाव से ही वे सभी कण विशेष बलयुक्त होकर तीव्र गति को प्राप्त करते हैं, जिसके कारण नेब्यूलाओं में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं तीव्र हो उठती हैं।।

इस ऋचा के शेष भाग के प्रभाव से वे यूप रूपी तरंगें अपने अन्दर विद्यमान मनस् तत्त्व के प्रभाव से विभिन्न कणों के अन्दर प्रविष्ट होकर सर्ग प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिये उन कणों में तेज और बल को भी धारण कराती हैं। इसके साथ ही वे यूप रूपी किरणें उन कणों को शुद्ध आकार प्रदान करने में भी सहयोग करती हैं। इस छन्द रश्मि के कारण वे यूप रूपी किरणें अपने आकर्षणादि बलों को समृद्ध करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनन्तर एक स्वराडनुष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिसके प्रभाव से पूर्वोक्त खदिरादि वज्र रूप तरंगें नेब्यूलाओं के केन्द्रीय भाग से ऊपर उठकर चारों ओर फैलती हुई ऊष्मा, प्रकाश आदि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में वृद्धि करती हैं, जिनके कारण विभिन्न अप्रकाशित कण भी प्रकाशमान होकर तीव्र रूप से गतिशील हो उठते हैं। ये किरणें विभिन्न कणों के अन्दर प्रविष्ट होकर जहाँ उन्हें विशेष बलवान् और तेजस्वी बनाती हैं, वहीं उनको शुद्ध आकार प्रदान करने में भी सहयोग करती हैं।।

३. 'समिद्धस्य श्रयमाणः पुरस्तादिति।।
समिद्धस्य ह्येष एतत्पुरस्ताच्छ्रयते।।
'ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम्' इत्याशिषमेवाऽऽशास्ते।।
'आरे अस्मदमतिं बाधमानः' इत्यशनाया वै पाप्माऽमतिस्तामेव तदारान्नुदते यज्ञाच्च यजमानाच्च।।
'उच्छ्रयस्व महते सौभगायेत्याशिषमेवाऽऽशास्ते।।

{भगः = ऐश्वर्यप्रदः सूर्यः (म.द.ऋ.भा.३.५५.१७), ऐश्वर्यकर्त्ता वायुः (म.द.ऋ.भा.५.५१.११), भजनीयः प्राणः (म.द.ऋ.भा.६.५०.१३), धननाम (निघं.२.१०), यज्ञो भगः (श.६.३.१.१६)। अशनाया = अशनाया हि मृत्युः (श.१०.६.५.१)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर पूर्वोक्त विश्वामित्र ऋषि से विश्वेदेवादेवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

समिद्धस्य श्रयमाणः पुरस्ताद् ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम्।
आरे अस्मदमतिं बाधमान उच्छ्रयस्व महते सौभगाय।। (ऋ.३.८.२)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी प्रकार के कण वा तरंगें तीव्र रूप से तेजस्वी व बलयुक्त हो जाती हैं। इसके प्रथम पाद के प्रभाव से पूर्वोक्त तीनों यूप रूप तरंगें नेब्यूलाओं के अन्दर अग्नि के अति तीव्र होने से पूर्व ही उत्पन्न और समृद्ध होती हैं। ये ही तरंगें उस समय विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थ को अपना आश्रय देती हुई सब ओर से उठ खड़ी होती हैं किंवा सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त हो जाती हैं। इसके उपरान्त ही सम्पूर्ण पदार्थ तीव्रता से प्रकाशित होने लगता है।।+।।

द्वितीय पाद के प्रभाव से सभी कण वा तरंगें जीर्ण न होने वाले प्राण, विद्युद् एवं वाक् तत्त्व का सम्यक् सेवन करने लगती हैं अर्थात् सबको कँपाने वाले अतीव बलवान् इन पदार्थों से सभी कण आदि पदार्थयुक्त हो जाते हैं। इसके कारण सभी कण अतीव आकर्षण-बल से युक्त होकर परस्पर निकट आकर संघनित और संयुक्त होने लगते हैं, जिससे नेब्यूलाओं के निर्माण को गति मिलती है।।

तृतीय पाद के प्रभाव से अमति अर्थात् अप्रकाशित हिंसक विद्युद्युक्त वायु, जो प्रत्येक संयोग क्रिया में बाधा उत्पन्न करता है और अतीव बलशाली भी होता है, दूर किया जाता है। यह अप्रकाशित पदार्थ अन्धकारपूर्ण मृत्युरूप होता है। इसका तात्पर्य यह है कि संयुक्त होने वाले कणों के मध्य स्थूल से लेकर अति सूक्ष्म प्राणापान के स्तर तक आक्रमण करके संयोग प्रक्रियाओं को मानो प्राणविहीन कर देता है। उस ऐसे हिंसक पदार्थ को प्रभावहीन करने के लिये पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें इस पाद की सहायता से समर्थ होती हैं।।

अन्तिम चतुर्थ पाद के प्रभाव से पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें विभिन्न नेब्यूलाओं के अन्दर विभिन्न प्रकार के संयोज्य कणों एवं प्राणों को व्यापक स्तर पर संयुक्त होने में सहायता देकर विभिन्न तारों के

निर्माण की प्रक्रिया में भी सहयोग करती हैं। इसके प्रभाव से ही नेव्यूलाओं के अन्दर आकर्षणादि वल और तीव्र होते हैं, जिससे वे नेव्यूलादि पदार्थ और भी अधिक वलयुक्त होते जाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रक्रिया के उपरान्त एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जो विभिन्न प्रकार के कणों व तरंगों, विशेषकर पूर्वोक्त वज्र रूप तरंगों को तीक्ष्णता प्रदान करती है। इन तरंगों से पूर्व नेव्यूलाओं का ताप अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। इस छन्द रश्मि के कारण प्राण और वाक् तत्त्व के विशेष सक्रिय होने के कारण विद्युत् की सक्रियता भी बढ़ती है। इसका आशय यह है कि जिस समय नेव्यूलाओं में व्यापक रूप से अनेकों विद्युत् क्षेत्र उत्पन्न हो जाते हैं, उस समय वज्र रूप तरंगें अप्रकाशित ऊर्जा कदाचित् डार्क एनर्जी पर व्यापक रूप से प्रहार करती हैं, जिसके कारण वह बाधक ऊर्जा नष्ट वा नियन्त्रित होकर विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया तीव्र होने लगती है, जिससे नेव्यूलाओं का आकार बढ़ने के कारण उनका गुरुत्वाकर्षण भी बढ़ता जाता है, साथ ही उनकी तेजस्विता भी बढ़ती जाती है।।

४. 'ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सवितेति'।।
यद्वै देवानां नेति तदेशा(षा)मोमिति तिष्ठ देव इव सवितेत्येव तदाह।।
'ऊर्ध्वो वाजस्य सनितेति' वाजसनिमेवैनं तद्धनसां सनोति।।
'यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे' इति च्छन्दांसि वा अञ्जयो वाघतस्तैरेतद्देवान् यजमाना विह्वयन्ते मम यज्ञमागच्छत मम यज्ञमिति।।
यदि ह वा अपि बहव इव यजन्तेऽथ हास्य देवा यज्ञमेव गच्छन्ति यत्रैवं विद्वानेतामन्वाह।।

{अञ्जि = व्यक्तं रूपम् (म.द.ऋ.भा.१.१२४.८), कमनीयं रूपम् (म.द.य.भा.१७.६७), गमनम् (म.द.ऋ.भा.७.५७.३)। वाघतः = मेधाविनाम (निघं.३.१५), धनसाः = ये धनानि सनन्ति विभजन्ति ते (म.द.ऋ.भा.२.१०.६)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त क्रम में घोर काण्व ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न अति तीव्र सूक्ष्म प्राण विशेष से अग्निदेवताक एवं उपरिष्टाद् बृहती छन्दस्क

ऊर्ध्व ऊ षु णं ऊतये तिष्ठां देवो न संविता।
ऊर्ध्वो वाजंस्य सनिंता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयांमहे।। (ऋ.१.३६.१३)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्निमय नेव्यूलाओं के केन्द्रीय भाग कुछ-कुछ निश्चित आकार लेने लगते हैं। इसके पूर्वार्द्ध के प्रभाव से सबको प्रकाशित करने वाले एवं सबको अपने आकर्षण में बाँधने तथा अनेक पदार्थों के उत्पादक तथा अनेक प्रकार के प्राणों से उत्पन्न नेव्यूलाओं के समान उनके अन्दर निर्मित हो रहे विभिन्न तारों के केन्द्रीय भाग सुरक्षित और निश्चित मर्यादाओं से पूर्ण होकर भिन्न-२ क्षेत्रों में स्थित हुए भासने लगते हैं। यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि इस ऋचा में जो "न" पद है, वह "ओम्" अर्थात् अंगीकार करने वाला होने से "इव" अर्थात् समान अर्थ वाला वन जाता है। इसी कारण यहाँ नेव्यूलाओं से उनके केन्द्रों की समानता की चर्चा की गई है अर्थात् जैसे-२ नेव्यूलाओं का आकार स्पष्ट होता जाता है, वैसे-२ उसके स्वयं के केन्द्र एवं उनके अन्दर वन रहे विभिन्न तारों के केन्द्रों का भी आकार निश्चित होता जाता है।।+।।

इसके तृतीय पाद के प्रभाव से वे केन्द्रीय भाग अर्थात् नेव्यूला स्वयं का केन्द्र एवं उसके पश्चात् वनने वाले विभिन्न तारों के केन्द्र विभिन्न प्रकार के वलों, छन्द रूप रश्मियों एवं संयोज्य कणों का

सम्यक् विभाजन करने वाले बन जाते हैं, जिसके कारण नेब्यूला के अन्दर विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थ विभिन्न केन्द्रों की ओर प्रवाहित होकर विभिन्न लोकों का निर्माण करता चला जाता है। इस समय विभिन्न पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें इस पाद के सहयोग से सम्पूर्ण नेब्यूला के पदार्थ के इस विभाजन का मुख्य कारण बनती हैं।।

इसके चतुर्थ पाद के प्रभाव से मनस् तत्त्व को विशेषतया धारण करने वाले सूत्रात्मा वायु आदि प्राणों के कुछ-२ व्यक्त एवं आकर्षण रूप में गमन करने वाली विभिन्न छन्द रश्मियाँ, जो उस समय ब्रह्माण्ड में विद्यमान होती हैं, के साथ मिलकर यह पाद रश्मि विभिन्न प्रकार के संयोज्य कणों वा तरंगों को विविध प्रकार से आकर्षित करके भाँति-भाँति से संगत करती है।।

यद्यपि नेब्यूलाओं के अन्दर असंख्य कण वा तरंगें परस्पर संगत होने के लिये यत्र-तत्र गति करती रहती हैं और संगत भी होती रहती हैं, पुनरपि जिन क्षेत्रों में पूर्वोक्त ऋचाएं विशेष सक्रिय होती हैं, वहीं विभिन्न पदार्थों का संगतीकरण अधिक होता है, जिसके कारण नेब्यूलादि लोकों का निर्माण उन्हीं क्षेत्रों में होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त प्रसंग में एक बृहती छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिसके कारण पूर्वोक्त यूप रूप तरंगें, विभिन्न नेब्यूलाओं के आकार तथा उनके अन्दर विभिन्न केन्द्रीय भागों के आकार स्पष्ट भासने लगते हैं। इनमें से **एक मुख्य केन्द्र नेब्यूला का होता है और अन्य केन्द्र नेब्यूलाओं के अन्दर बनने वाले विभिन्न तारों के होते हैं। जैसे-२ नेब्यूलाओं के आकार स्पष्ट होते हैं, वैसे-२ केन्द्र भी धीरे-२ स्पष्ट होते चले जाते हैं।** उसके पश्चात् ये सभी केन्द्र विभिन्न रश्मियों और कणों को उचित विभाग के साथ आकर्षित करते चले जाते हैं, जिसके कारण विभिन्न लोकों का निर्माण होता हुआ स्पष्ट भासने लगता है। यद्यपि ब्रह्माण्ड अथवा नेब्यूलाओं में विभिन्न प्रकार के पदार्थ व्याप्त रहते और परस्पर संगत भी होते रहते हैं, परन्तु जहाँ इन तरंगों के द्वारा विशेष संगति होती है, वहीं विशेष सघनता उत्पन्न होकर विभिन्न लोकों का निर्माण हुआ करता है।।

५. 'ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दहेति।।
रक्षांसि वै पाप्माऽत्रिणो रक्षांसि पाप्मानं दहेत्येव तदाह।।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे' इति यदाह कृधी न ऊर्ध्वां चरणाय जीवस इत्येव तदाह।।
यदि ह वा अपि नीत इव यजमानो भवति परि हैवैनं तत्संवत्सराय ददाति।।
'विदा देवेषु नो दुव' इत्याशिषमेवाऽऽशास्ते'।।

{विष्टारपंक्तिः = सर्वा दिशः (म.द.य.भा.१५.४), दिशो वै विष्टारपंक्तिश्छन्दः (श.८.५.२.४), (विष्टारः = प्रसारः - म.द.ऋ.भा.५.५२.१०)। केतवः = किरणाः (म.द.य.भा.३०.३१), ज्ञापकाः (म.द.य.भा.८.४०), केतवः रश्मयः (नि.१२.१५), (प्रज्ञानाम - निघं.३.६)। अत्रिणः = परपदार्थाऽपहर्तारः (तु.म.द.ऋ.भा.१.३६.२०), अत्रिणो वै रक्षांसि (ष.३.४)। चरथाय = चरणाय (नि.४.१९), अव्याहतगमनाय (तु. - आर्याभिविनय १६)। दुवः = परिचरणं सेवनम् (म.द.ऋ.भा.३.१६.४), दुवस्यति परिचरणकर्मा (निघं.३.५), दुवस्यतिराप्नोतिकर्मा (नि.१०.२०)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त क्रम में घोर काण्व ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक तीव्र प्राण द्वारा अग्निदेवताक एवं निचृद्विष्टारपंक्तिः छन्दस्क

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह।

कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः।। (ऋ.१.३६.१४)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व सभी दिशाओं में विस्तृत और तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न होता हुआ संयोग-वियोग की प्रक्रिया को समृद्ध करता है। इसके पूर्वार्द्ध के प्रभाव से पूर्वोक्त यूप रूप तरंगें सभी दिशाओं में फैलकर अपनी प्रकाशमयी प्रखर किरणों के द्वारा दृश्य पदार्थ को अवशोषित वा भक्षण करने किंवा उनके संयोग आदि में बाधा डालने वाले अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु को भस्म वा नष्ट करने में सहायक होती हैं। इसके प्रभाव से वे यूपरूप तरंगें उन्नत होकर चारों ओर उठती जाती हैं और इसके साथ ही वे किरणें सघनता से केन्द्रीय भाग में आच्छादित होती जाती हैं। यहाँ अप्रकाशित हिंसक पदार्थ को तीन नामों से दर्शाया गया है, वे हैं-
(१) अत्रिणः अर्थात् वह पदार्थ संयोज्यमान कणों का भक्षण कर लेता है।
(२) रक्षांसि अर्थात् वह पदार्थ ऐसा आक्रमक होता है, जिससे संयोज्य कणों की रक्षा करना आवश्यक होता है, अन्यथा सर्ग प्रक्रिया बंद हो जायेगी।
(३) पाप्मा अर्थात् ऐसा पदार्थ जब किसी संगमनीय पदार्थ पर प्रहार करता है, तब संगमनीय पदार्थ के कण संयोग प्रक्रिया से विरत होकर बार-२ विपरीत दिशा में पतित होते रहते हैं।।+।।

इसके तृतीय पाद के प्रभाव से 'ऊर्ध्व' अर्थात् नेब्यूला वा तारे के निर्माणाधीन केन्द्र की ओर विभिन्न पदार्थ निर्बाध रूप से गति करने में समर्थ होते हैं और ऐसा करते हुए वे पदार्थ विभिन्न प्रकार के प्राणों को अपने साथ धारण करते चले जाते हैं और इसके साथ ही केन्द्रीय भाग में गये हुए पदार्थ उसी केन्द्रीय भाग में रहते हैं। स्मरण रहे कि इनमें से किसी भी ऋचा का सीधा प्रभाव नेब्यूला के पदार्थ पर नहीं पड़कर यूपरूप तरंगों पर ही पड़ता है, जिससे वे तरंगें उत्तेजित और विस्तृत होकर सम्पूर्ण पदार्थ को सक्रिय करती हैं और उसी प्रभाव की यहाँ कण्डिकाओं में चर्चा की जा रही है।।

उपर्युक्त कण्डिका में जो 'जीवसे' पद आया है, उससे और इस कण्डिका से यह संकेत मिलता है कि अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु बहुत से संगमनीय पदार्थ कणों को अवशोषित करके अपने साथ उड़ाकर ले भी जाता है, जिससे वे पदार्थ नेब्यूला वा तारों के निर्माण से पृथक् होकर उसी अप्रकाशित पदार्थ के नियन्त्रण में रहकर दूर-दूर व्याप्त हो जाते हैं। कदाचित् वे पदार्थ भी कालान्तर में हिंसक बाधक पदार्थ का रूप धारण कर लेते हैं। जिन पदार्थ कणों को यूप रूप तरंगें अप्रकाशित हिंसक पदार्थ से मुक्त कर लेती हैं, वे ही नेब्यूला वा तारों का अंग बन जाते हैं। ऐसे वे पदार्थ उन लोकों के सम्पूर्ण जीवनभर के लिये नेब्यूला वा तारों का अंग बने रहते हैं किंवा वे ही लोकों को जीवन प्रदान करते हैं।।

चतुर्थ पाद के प्रभाव से वे उपर्युक्त पदार्थ उन लोकों में जीवनभर प्रकाशमान् होकर सब ओर गमन करते रहते हैं, साथ ही वे केन्द्रीय भाग में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाते हैं। इसके साथ ही वे पदार्थ अति सघन रूप धारण करके, प्रबल आकर्षण बल उत्पन्न करके अपने बल रूप हाथों के द्वारा सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त हो जाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इसी क्रम में एक पंक्ति छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिसकी तीव्रता और प्रभाव क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। इससे ऊष्मा, प्रकाशित ऊर्जा तरंगें अत्यधिक शक्तिशाली होकर विभिन्न कणों की संयोग-प्रक्रिया को तीव्र करती है। इससे संयुक्त होकर पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें, उस अप्रकाशित ऊर्जा, जो हर संयोग प्रक्रिया में बाधक बनती है, को नष्ट वा नियन्त्रित करके आकाश में बिखरे हुए विस्तृत पदार्थ को निर्माणाधीन तारों के केन्द्रों की ओर निर्बाध गति से प्रवाहित होने में सहयोग करती हैं। उन केन्द्रीय भागों में अप्रकाशित ऊर्जा का प्रभाव लगभग नगण्य ही हो जाता है पुनरपि अप्रकाशित ऊर्जा बहुत से पदार्थ कणों को अवशोषित करके अपने साथ उड़ाकर अन्तरिक्ष में दूर-दूर तक बिखेर देती है। फिर वह बिखरा हुआ पदार्थ लोक निर्माण प्रक्रिया में काम नहीं आ पाता। कदाचित् कालान्तर में ऐसा पदार्थ अप्रकाशित रूप धारण करके स्वयं बाधक रूप धारण कर लेता है। जो पदार्थ अप्रकाशित ऊर्जा से मुक्त होकर नेब्यूला वा तारों, विशेषकर उनके केन्द्रीय भाग का अंग बन जाता है, उन लोकों

के सम्पूर्ण जीवन भर साथ रहकर उनको जीवन प्रदान करता है। जितना अधिक पदार्थ तारों का अंग बन जाता है, उतना ही तारों का आकार बढ़ाकर उनके गुरुत्वाकर्षण बल को बढ़ाता रहता है।।

६. जातो जायते सुदिनत्वे अह्नामिति।।
जातो ह्येष एतज्जायते।।
'समर्य आ विदथे वर्धमान' इति वर्धयन्त्येवैनं तत्।।
'पुनन्ति धीरा अपसो मनीषेति' पुनन्त्येवैनं तत्।।
'देवया विप्र उदियर्ति वाचमिति' देवेभ्य एवैनं तन्निवेदयति।।

{समर्यम् = संग्रामम् (म.द.ऋ.भा.४.२४.८), युद्धकुशलम् (तु.म.द.ऋ.भा.७.८.१), समर्ये संग्रामनाम (निघं.२.१७)। अहन् = अहर्मित्रः (तां.२५.१०.१०), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.५.२४), अग्निर्वाऽहः (श.३.४.४.१५), अहर्वै वियच्छन्दः (श.८.५.२.५)। विदथः = यज्ञनाम (निघं.३.१७), विज्ञापनीयो व्यवहारः (तु.म.द.य.भा.३३.३४)। देवयाः = ये देवान् दिव्यान् गुणान् यान्ति ते (प्राणाः) (म.द.ऋ.भा.१.१६८.१)। दिनम् = अन्धकारं द्यत्यवखण्डयतीति दिनम् (उ.को.२.५०)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त क्रम में पूर्वोक्त विश्वामित्र ऋषि प्राण से विश्वेदेवादेवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्।। (ऋ.३.८.५)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी पदार्थों की तीव्रता व तेजस्विता समृद्ध होती है। इसके प्रथम पाद के प्रभाव से पूर्वोक्त यूप रूप तरंगें, जो पूर्व में ही उत्पन्न हो गयी होती हैं, नेब्यूलाओं के अन्धकारयुक्त पदार्थों किंवा अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु को भली भाँति नष्ट करने के लिए पुनः पुनः उत्पन्न व सक्रिय होती रहती हैं। केन्द्रीय भागों में तो यह प्रक्रिया और भी तीव्र होने लगती है। इसके कारण नेब्यूला तथा उनके गर्भ में निर्मित हो रहे तारे जहाँ अपने निर्माण की प्रक्रिया बढ़ाते जाते हैं, वहीं वे अधिक प्रकाशमान भी होते जाते हैं, 'जातो जायते' का भाव यही है कि ये यूप रूपी तरंगें यद्यपि पूर्वोक्तानुसार मनस् तत्त्व व वाक् आदि से पूर्व में ही उत्पन्न हो जाती हैं, पुनरपि इन ऋग्रूप तरंगों के कारण वे तीव्रता से सक्रिय होती हैं। ये यूप रूपी तरंगें नेब्यूलाओं में बिखरे हुए असंख्य छन्द प्राणों के मध्य बड़ी तीव्रता से प्रकट होती रहती हैं। इस पाद के प्रभाव से तो वे विशेषतया पुनः-२ यत्र-तत्र तीव्रतया उत्पन्न होकर सक्रिय होती रहती हैं।।+।।

द्वितीय पाद के प्रभाव से नेब्यूलाओं के अन्दर विभिन्न पदार्थों के संगमन की क्रियाएं व्यक्त से व्यक्ततर होती चली जाती हैं। इसका कारण यह है कि इस पाद के प्रभाव से यूप रूप तरंगें सतत वर्धमान होती चली जाती हैं। इसके फलस्वरूप विभिन्न बाधक तरंगें नष्ट होकर विभिन्न कण परस्पर तीव्रता से संयुक्त होने लगते हैं।।

तृतीय पाद के प्रभाव से {अपः = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रजननकर्म (नि.११.३१), प्राणाः (म.द.ऋ.भा.१.६४.१)} यूप रूपी तरंगें सबके आधारभूत मनस् तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु के योग से विभिन्न प्राणादि पदार्थों के मध्य प्रजननकर्म को समृद्ध करके विभिन्न प्रकार के कणों के निर्माण की प्रक्रिया को समृद्ध एवं शुद्ध करती हैं। इसका आशय यह है कि नेब्यूलादि के केन्द्रों और बहिर्-भागों में विद्यमान विभिन्न प्रकार के प्राणादि पदार्थ अधिक व्यक्त रूप धारण करके सब ओर से परस्पर संगत होकर तत्त्वान्तरों का निर्माण तेजी से करने लगते हैं।।

चतुर्थ पाद के प्रभाव से विभिन्न प्रकार के प्रकाशक प्राण तत्त्व, जो सभी पदार्थों में व्याप्त होते हैं, वे सूत्रात्मा वायु के योग से वाक् तत्त्व को उत्कृष्ट रूप से प्राप्त करते हैं। इसके कारण वे सभी प्राण तत्त्व अतीव सक्रिय होकर विभिन्न प्रकार के प्रकाशित कणों एवं तरंगों में नितराम् व्याप्त हो जाते हैं, जिससे वे सभी कण और तरंगें और भी अधिक शक्तिशाली और सक्रिय हो उठती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– इसी क्रम में एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिससे नेब्यूलाओं के अन्दर विद्यमान पदार्थ और भी तीव्रता से प्रकाशित और गतिशील होने लगता है। पूर्वोक्त यूप रूप तरंगें बार-बार सर्वत्र उत्पन्न और सक्रिय होकर नेब्यूलाओं और तारों के निर्माण की प्रक्रिया को बढ़ाती रहती हैं। विभिन्न निर्माण और उत्पादन की प्रक्रियायें स्पष्ट से स्पष्टतर होती चली जाती हैं। अप्रकाशित पदार्थ दूर होता चला जाता है एवं नये-नये कणों की उत्पत्ति होने लगती हैं।।

७. 'युवा सुवासाः परिवीत आगात्' इत्युत्तमया परिदधाति।।
प्राणो वै युवा सुवासाः सोऽयं शरीरैः परिवृतः।।
'स उ श्रेयान् भवति जायमानः' इति श्रेयाञ्छ्रेयान् ह्येष एतद्भवति जायमानः।।
'तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः' इति ये वा अनूचानास्ते कवयस्त एवैनं तदुन्नयन्ति।।

{स्वाध्यः = ये सुष्ठु समन्ताद् ध्यायन्ति ते (म.द.ऋ.भा.६.१६.७)। अनूचानः = ऋषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः (श.१.७.२.३)।}

व्याख्यानम्– पूर्वोक्त क्रम में पूर्वोक्त विश्वामित्र ऋषि प्राण से विश्वेदेवादेवताक तथा स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क रश्मि

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः।। (ऋ.३.८.४)

की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् है। यह छन्द रश्मि पूर्वोक्त छः रश्मियों को अपने चारों ओर धारण कर लेती है और यह उन सबके मध्य भाग में सक्रिय होती है। इसके प्रथम पाद के प्रभाव से {शरीरम् = शरीरे आदित्ये (नि.१२.३६), अथ यत्सर्वमस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम् (श.६.१.१.४)।} विभिन्न प्रकार के प्राण, जो विभिन्न कर्मों में समर्थ होकर विभिन्न कणों वा तरंगों का सुन्दर आवरण रूप भी होते हैं, इसके साथ ही वे सबको सुन्दर रीति से बसाते वा उत्पन्न एवं धारण करते हैं, सम्पूर्ण नेब्यूलादि लोकों में सब ओर से व्याप्त होते जाते हैं। वे सम्पूर्ण क्षेत्रों में तीव्रता से गमन करते, सबको बलादि गुणों से समृद्ध करते एवं विविध कणों वा तरंगों को उत्पन्न करते हैं। वे प्राण ही विभिन्न पदार्थों का भक्षण करके नवीन पदार्थों को जन्म देते हैं। वे हर पदार्थ को अपने बल व गति से ढक देते हैं। महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि ये सुन्दर आच्छादक प्राण सभी तारों एवं नेब्यूलादि लोकों को सब ओर से ढक लेते हैं। ये प्राण न केवल लोकों को ढांपते हैं अपितु लोकों के अन्दर विद्यमान समस्त पदार्थसमूह इन्हीं प्राणों के द्वारा ही निर्मित होता है। मानो सभी लोक प्राणों द्वारा प्राणों में ही आश्रित व उन्हीं के विकार रूप हैं।।+।।

द्वितीय पाद के प्रभाव से पूर्वोक्त यूप रूप तरंगें उत्पन्न होती हुई ही अत्यन्त प्रशस्त तेज, बल व गति को प्राप्त कर लेती हैं। इसका आशय है कि ज्यों ही मन, वाक्, प्राणादि तत्त्वों से पूर्वोक्त प्रकार से यूप रूपी तरंगें उत्पन्न होती हैं, तत्क्षण ही इस पाद के संसर्ग से वे तरंगें तीक्ष्ण व तेजस्वी हो उठती हैं। इसे ही उत्पन्न होते हुए यूप का प्रशस्त होना कहा गया है। यदि ऐसा न होता तो नेब्यूलादि लोकों

के केन्द्रों में पदार्थ के संघनित व तेजस्वी होने की प्रक्रिया मंद पड़ने से अप्रकाशित हिंसक तत्त्व विभिन्न कणों को इस प्रक्रिया से दूर कर सकता था।।

इसके उत्तरार्ध के प्रभाव से उन यूप रूपी तरंगों को विभिन्न ऋषि प्राण, विशेषकर प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों के वल व गति को नितराम् धारण करके उनकी सतत रक्षा करने वाला मनस्तत्त्व रूपी अनूचान तत्त्व विभिन्न प्रकार से उन्नत करता रहता है। यह महत्तत्व ही सभी उत्पन्न पदार्थों को धारण करता तथा अतीव क्रान्तदर्शी होता है अर्थात् इसे किसी भी भौतिक वैज्ञानिक तकनीक से देखना वा अनुभव करना सम्भव नहीं हैं। यही तत्त्व सृष्टि की प्रत्येक प्रक्रिया में चेतन परमात्म-तत्त्व की प्रेरणा से उत्पन्न पदार्थ मात्र को वल, गति व तेज आदि प्रदान करके उस प्रक्रिया को समृद्ध वनाता है। इसके प्रेरण विना कोई भी जड़ तत्त्व कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता। यह महत्तत्व किंवा मनस्तत्त्व अपनी ज्योतिर्मयी व सवको धारण करने वाली शक्ति के द्वारा उपर्युक्त उन्नयन व प्रेरण कर्म करता है। ध्यातव्य है कि इस तत्त्व की ज्योति किसी भी रीति से दृश्य नहीं है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इसी क्रम में एक अन्य त्रिष्टुप् रश्मि उत्पन्न होती है, जिससे नेव्यूलाओं में विद्यमान पदार्थ और भी तेजस्वी एवं तीक्ष्ण वल युक्त होने लगता है। यह रश्मि पूर्वोक्त छः रश्मियों को अपने चारों ओर धारण कर लेती है। इससे सभी प्रकार की प्राण रश्मियां सर्वत्र व्याप्त होकर सबको और भी सक्रिय करती हैं। ये प्राण रश्मियां ही सभी लोकों एवं कणों को चारों ओर से धारण करती हैं और ये ही उनके मध्य संघनित रूप में विद्यमान होती हैं। पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें जैसे ही उत्पन्न होती हैं, वैसे ही इस रश्मि के संयोग से अत्यन्त तेज, बल व गति को प्राप्त कर लेती हैं। इसमें काल का व्यवधान नहीं होता। **इन सभी पदार्थों के बल व क्रिया आदि में जो जड़ मूल बल कार्य करता है, वह मनस् तत्त्व का होता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि में उत्पन्न सभी पदार्थों में सबसे सूक्ष्म है। यह पदार्थ परमसत्ता परमात्मा की प्रेरणा से ही सभी को बल, गति व द्रव्यमान प्रदान करता वा सबको धारण भी करता है।** इस विषय में विशेष पूर्वपीठिका में देखें। इस तत्त्व को कभी भी किसी भौतिक तकनीक से अनुभव नहीं किया जा सकता।।

८. ता एताः सप्तान्वाह रूपसमृद्धा, एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं, यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति, तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमां, ता एकादश संपद्यन्त, एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रिष्टुबिन्द्रस्य वज्र इन्द्रायतनाभिरेवाऽऽभी राध्नोति य एवं वेद, त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह; यज्ञस्यैव तद्बर्सौ नह्यति स्थेम्ने बलायाविस्रंसाय।।२।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त सातों छन्द रश्मियाँ रूपसमृद्ध होती हैं। इसका विज्ञान पूर्ववत् समझें। इन सात रश्मियों में से प्रथम और अन्तिम छन्द रश्मियों की एक साथ तीन-२ वार आवृत्ति होती है, कुल ११ छन्द रश्मियाँ एक वार में उत्पन्न होती हैं। एक त्रिष्टुप् आर्षी छन्द के एक पाद में तथा याजुषी त्रिष्टुप् छन्द में ११ अक्षर होते हैं और जैसा कि हम पूर्व में आश्वलायन श्रौतसूत्र के प्रमाण से यह वतला चुके हैं कि एक पाद के अक्षरों का प्रभाव भी सम्पूर्ण छन्द के वरावर होता है। यहाँ ११ रश्मियाँ त्रिष्टुप् छन्द की भाँति व्यवहार करती हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि इन ११ छन्द रश्मियों में से ८ छन्द रश्मियाँ त्रिष्टुप् ही हैं, इस कारण भी प्रधानता के आधार पर इनका त्रैष्टुभ प्रभाव ही होता है और हम यह भी जानते हैं कि त्रिष्टुप् छन्द से इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युद्युक्त वायु की तीक्ष्ण रश्मियाँ समृद्ध होती हैं। इस प्रकार इन ११ छन्द रश्मियों के द्वारा नेव्यूलाओं वा तारों, विशेषकर उनके केन्द्रों में तीव्र विद्युत् युक्त वायु सव ओर से व्याप्त हो जाता है। प्रथम और अन्तिम छन्द रश्मियों की एक साथ तीन-२ वार आवृत्ति का रहस्य पूर्ववत् समझें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विशेष नहीं।।

ॐ इति ६.२ समाप्तः ॐ

अथ ६.३ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. तिष्ठेद् यूपाः३ अनुप्रहरे३त्, इत्याहुः।।
तिष्ठेत् पशुकामस्य।।
देवेभ्यो वै पशवोऽन्नाद्यायाऽऽलम्भाय नातिष्ठन्त तेऽपक्रम्य प्रतिवावदतोऽतिष्ठन्नास्मानालप्स्यध्वे नास्मानिति ततो वै देवा एतं यूपं वज्रमपश्यंस्तमेभ्य उदश्रयंस्तस्माद् बिभ्यत उपावर्तन्त तमेवाद्याप्युपावृत्तास्ततो वै देवेभ्यः पशवोऽन्नाद्यायाऽऽलम्भायातिष्ठन्त।।
तिष्ठन्तेऽस्मै पशवोऽन्नाद्यायाऽऽलम्भाय य एवं वेद यस्य चैवं विदुषो यूपस्तिष्ठति।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास प्रश्न उठाते हैं कि नेब्यूला के अन्दर निर्माणाधीन विभिन्न तारों के केन्द्रों के निर्माण के पश्चात् किंवा उनमें नाभिकीय संलयन क्रिया प्रारम्भ होने के पश्चात् भी पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें विद्यमान रहती हैं अथवा उन केन्द्रों में ही विलीन हो जाती हैं? यहाँ दोनों स्थानों पर प्लुत का प्रयोग 'विचार्यमाणानाम्' (पा.अ.८.२.९७) से प्रश्न करके विचार करने अर्थ में हुआ है। इस प्रश्न का समाधान महर्षि स्वयं निम्न प्रकार से करते हैं।।

जब नेब्यूला अथवा उसमें निर्मित हो रहे विभिन्न तारों के केन्द्रों का निर्माण हो गया हो एवं उनके अन्दर विभिन्न तत्त्वों का निर्माण प्रारम्भ हो चुका हो किंवा नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी हो अथवा प्रारम्भ होने वाली हो, {पशवो वै सविता (श.३.२.३.११)} उस समय तारों के सम्पूर्ण निर्माण तक यूप रूपी तरंगों का विद्यमान रहना आवश्यक है। इन्हीं यूप रूप तरंगों के कारण विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों, मरुद् रश्मियों, विभिन्न प्रकार के दृश्य एवं संयोज्य कणों आदि का आकर्षण हो पाता है। जैसा कि हम पूर्व खण्ड में देख चुके हैं कि **विभिन्न पदार्थों को आकर्षित करके संघनित करना एवं उन्हें बल और तेज आदि से युक्त करना, अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु से उत्पन्न बाधाओं का निराकरण करना, विभिन्न प्रकार के कणों और तरंगों का संयोग करना आदि कर्म उन यूप रूप तरंगों के ही हैं।** हम यह भी जानते हैं कि इन कर्मों की अपेक्षा नेब्यूलाओं किंवा तारों के सम्पूर्ण जीवन काल तक रहती है, इस कारण इन यूप रूप तरंगों की आवश्यकता भी इन लोकों के सम्पूर्ण जीवन काल तक रहती है। यहाँ 'पशु' शब्द का अर्थ उस पदार्थ से भी है, जो इन केन्द्रों में निर्मित होता रहता है एवं केन्द्रों की ओर प्रवाहित होता रहता है। इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों की उपयोगिता किंवा अनिवार्यता सभी नेब्यूलाओं वा तारों के लिये स्वतः सिद्ध है, इस कारण भी इन पदार्थों की उत्पत्ति, संगति एवं संग्रहण आदि के लिये यूप रूप तरंगों का होना अनिवार्य है।।

यहाँ नेब्यूलाओं के निर्माण से पूर्व की कुछ घटनाओं का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि नेब्यूलाओं के निर्माण के समय पशु अर्थात् विभिन्न प्रकार के छन्द, मरुद् रश्मियाँ एवं विभिन्न कण वा तरंगें अस्थिर होकर भटक रहे थे। इसके कारण अन्य पशु अर्थात् विभिन्न प्रकार के अवशोषणीय वा संगमनीय कण वा तरंगें भी दूर-दूर भाग रहे थे। उनका परस्पर सम्मेलन नहीं हो पा रहा था, जिसके कारण अग्नि, सोमादि पदार्थ किंवा प्राणापानादि प्राथमिक प्राण नेब्यूलादि लोकों के निर्माण में सफल नहीं हो पा रहे थे। जब-२ ये पदार्थ विभिन्न छन्दों, मरुतों वा विभिन्न कणों को आकर्षित करने का प्रयास करते थे, तब-२ वे छन्द, रश्मि आदि पदार्थ अपनी अव्यवस्थित व अनियन्त्रित गति के कारण विपरीत दिशा में भागने लगते थे और किसी भी प्रकार वे प्राण, अग्नि, सोमादि पदार्थों के नियन्त्रण में नहीं आ पाते थे और इस कारण उनका सम्मेलन भी नहीं हो पा रहा था। ऐसी स्थिति में पूर्ववर्णित प्रक्रिया के द्वारा

यूप रूप तरंगों की उत्पत्ति हुई और उन तरंगों को प्राण, अग्नि, सोमादि पदार्थ ने आकर्षित करके सब ओर प्रसारित करना प्रारम्भ किया, जिसके कारण विभिन्न छन्द, मरुदादि पदार्थों में भारी विक्षोभ और कम्पन होने लगता है और दूर भागते हुए वे पदार्थ यूप रूप तरंगों के द्वारा प्रबल रूप से आकर्षित होकर वापिस लौटने लगते हैं। इसके पश्चात् अग्नि, सोम, प्राणादि पदार्थों के साथ उनका मिश्रण होने लगता है और तत्पश्चात् सम्पूर्ण क्षेत्र का संयोज्य पदार्थ संगृहीत होने लगता है। यह घटना (प्रक्रिया) प्रारम्भिक नेव्यूलाओं के निर्माण के समय की है। महर्षि कहते हैं कि इसी प्रकार की प्रक्रिया वर्त्तमान में भी तारों वा नेव्यूलाओं के निर्माण के समय भी हुआ करती है।।

जब इस प्रकार की स्थिति ब्रह्माण्ड में कहीं भी बना करती है अर्थात् यूप रूप तरंगें कहीं भी उत्पन्न हुआ करती हैं, वहीं छन्द, मरुद्, रश्मि आदि पदार्थ विभिन्न संयोज्य कणों वा तरंगों को दृढ़ता से आकर्षित करते और मिलाते रहते हैं, जिसके कारण ब्रह्माण्ड में नये-२ लोकों को निर्माण होता रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब नेव्यूलाओं अथवा उनके अन्दर निर्मित हो रहे विभिन्न तारों के केन्द्रों का निर्माण हो गया हो, होने वाला हो, उनमें नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने वाली हो अथवा हो चुकी हो, पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगों का विद्यमान रहना अनिवार्य है। इन्हीं तरंगों के कारण ब्रह्माण्ड में बिखरा हुआ पदार्थ संलयन के लिए केन्द्रीय भागों की ओर प्रवाहित होने लगता है और इन्हीं तरंगों के कारण अप्रकाशित ऊर्जा आदि के द्वारा उत्पन्न की गई बाधा दूर होकर पदार्थ संघनित होता है, जिसके फलस्वरूप लोकों का निर्माण होता है। जिन बड़े तारों के केन्द्रों में हाइड्रोजन के संलयन के पश्चात् हीलियम आदि बड़े नाभिकों का भी संलयन प्रारम्भ हो जाता है, उस समय **तारों के बाहरी भाग से हाइड्रोजन के अतिरिक्त अन्य स्थूल नाभिकों को आकर्षित करके केन्द्रीय भाग में पहुँचाना भी इन्हीं यूप तरंगों के कारण सम्भव हो पाता है। यह भी सम्भव है कि ब्रह्माण्ड में कुछ ऐसे भी तारे विद्यमान हों अथवा उत्पन्न हो रहे हों, जिनमें हाइड्रोजन की मात्रा नगण्य हो, तब हीलियम वा उससे स्थूल नाभिकों को आकर्षित करके केन्द्रीय भाग की ओर पहुँचाना उन्हीं यूप रूप तरंगों के कारण सम्भव हो पाता है।** वर्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित **'ब्लैक होल'** अथवा **प्रो. ए.के. मित्रा द्वारा परिकल्पित "MECO"** के **द्वारा बाहरी पदार्थ को आकर्षित करने में इन्हीं यूप रूप तरंगों की विशेष भूमिका रहती है।** यद्यपि इस कार्य में लोकों के प्रबल गुरुत्वाकर्षण बल की भी प्रबल भूमिका रहती है। पुनरपि पदार्थों के संयोग और वियोग कराने तथा प्रबल विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र स्थापित करने, नये आवेशित कणों को उत्पन्न करने में इन यूप रूप तरंगों की भूमिका रहती है। इन सभी कर्मों के अभाव में केवल गुरुत्वाकर्षण के बल पर लोकों का निर्माण संभव नहीं है। **वर्तमान वैज्ञानिक विभिन्न लोकों अथवा अत्यधिक गुरुत्वाकर्षण वाले लोकों के निर्माण की प्रक्रिया में गुरुत्वाकर्षण बल के अपार शक्तिशाली होने की बात करते हैं, वह अपार शक्ति व्याख्यान भाग में यूप रूप तरंगों के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती अर्थात् ये तरंगें ही गुरुत्वाकर्षण बल को इतना तीव्र बनाती हैं।।**

२. अनुप्रहरेत् स्वर्गकामस्य।।
तमु ह स्मैतं पूर्वेऽन्वेव प्रहरन्ति।।
यजमानो वै यूपो यजमानः प्रस्तरोऽग्निर्वै देवयोनिः सोऽग्नेर्देवयोन्या आहुतिभ्यः संभूय हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेष्यतीति।।
अथ ये तेभ्योऽवर आसंस्त एतं स्वरुमपश्यन् यूपशकलं तं तस्मिन् कालेऽनुप्रहरेत् तत्र स काम उपाप्तो योऽनुप्रहरणे तत्र स काम उपाप्तो यः स्थाने।।

{प्रस्तरः = यज्ञो वै प्रस्तरः (श.३.४.३.१६), यजमाना वै प्रस्तरः (श.१.८.१.४४), अयं वै स्तुपः प्रस्तरः (श.१.३.३.७), (स्तुपः = हिंसनम् - तु.म.द.य.भा.२५.२), क्षत्रं वै प्रस्तरः (श.१.३.४.१०), आसनम् (तु.म.द.य.भा.१८.६३)। स्वरुः = स्वरुर्वज्रः (मै.३.६.६)}

व्याख्यानम्- जो यूप रूपी तरंगें नेब्यूला वा तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान होती हैं किंवा केन्द्रीय भागों के निर्माण के पूर्व उस क्षेत्र में उत्पन्न हुई होती हैं, वे उन केन्द्रों के पूर्ण सक्रिय होने पर अर्थात् उनमें नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया चरम सीमा पर पहुँचने पर, उसी केन्द्रीय भाग में विलीन हो जाती हैं। उनका बाहरी क्षेत्रों से सम्पर्क लगभग समाप्त हो जाता है। ध्यान रहे कि उस केन्द्रीय भाग के ठीक बाहर एवं अन्य सम्पूर्ण क्षेत्र में वे तरंगें सक्रिय ही रहती हैं, जैसा कि पूर्व कण्डिकाओं में बतलाया गया है। विभिन्न तारों का निर्माण इसी प्रकार होता आया है और भविष्य में भी ब्रह्माण्ड में तारों का निर्माण इसी प्रकार होता रहेगा।।+।।

पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें ही वास्तव में यजमान का रूप होती हैं क्योंकि वे ही विभिन्न पदार्थों की आहुतियाँ दिया करती हैं और वे ही विभिन्न कणों वा तरंगों को संगत करने में प्रमुख भूमिका निभाती हैं। वे ही तरंगें प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों का पूजन करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये तरंगें सूक्ष्म प्राणों का उचित उपयोग करके अन्य पदार्थों पर उनका प्रक्षेपण करके उनका आकर्षण, संयोजन, संघनन आदि करती हैं। इस कारण यहाँ उन्हीं को यजमान कहा गया है। अब इन यूप रूपी यजमानों की अन्य विशेषता बतलाते हुए महर्षि लिखते हैं कि ये तरंगें प्रस्तर रूप होती हैं। इसका आशय यह है कि तरंगें सर्वप्रथम विभिन्न कणों और तरंगों में छुपे हुए अथवा उनको आच्छादित किये हुए अप्रकाशित बाधक हिंसक विद्युद्वायु को अपनी हिंसन शक्ति से नष्ट करके उनकी और उनकी संयोग प्रक्रियाओं की रक्षा करती हैं। इसके पश्चात् उन सभी कणों को अपना बल और तेजयुक्त आधार प्रदान करती हैं और उस आधार पर सवार होकर विभिन्न कण और तरंगें निर्बाध रूप से केन्द्रीय भाग ओर प्रवाहित होने लगती हैं। यहाँ अग्नि को देवयोनि कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि प्रधान पदार्थ के संयोग से ही नानाविध नवीन तत्त्वों का निर्माण होता है और अग्नि तत्त्व ही विभिन्न पदार्थों को अपने में बसाये रखता है। इसके साथ-२ यह अग्नि तत्त्व ही विभिन्न प्राणवायु तत्त्वों को जल वा पृथिवी तत्त्वों में परिवर्तित होने में एक माध्यम वा मार्ग का रूप बनता है। इसी में सोम पदार्थ की अपेक्षा प्राण तत्त्वों की सघनता भी होती है। ऐसे उस अग्नि तत्त्व में वे यूप रूप तरंगें विभिन्न पदार्थों की आहुतियाँ देकर उन्हें तेजस्वी रूप धारण कराके तारों के केन्द्रीय भाग में ले जाती हैं और उनके ऐसा करने से विविध तत्त्वों को आश्रय देने वाले विभिन्न तारे तेजस्वी रूप धारण करते चले जाते हैं।।

{शकलः = भाग, छिलका (आप्टे कोश)} {धूमः = धूनोति कम्पयतीति सः (उ.को.१.१४५)} यहाँ उस समय की चर्चा करते हुए महर्षि लिखते हैं कि जब नेब्यूलाओं के अन्दर तारों के केन्द्र के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, परन्तु वे नाभिकीय संलयन को प्रारम्भ नहीं कर पाये थे। उस समय संघनित पदार्थ में नाभिकीय संलयन प्रक्रिया का बीजारोपण होने की चर्चा करते हुए कहते हैं कि उस समय निर्माणाधीन केन्द्रीय भाग में, कदाचित् कुछ बाहरी भाग में भी अवर ऋषि अर्थात् वे ऋषि प्राण, जो विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करते हैं, विभिन्न यूप रूप तरंगों के बाहरी आवरण रूप तीव्र तापयुक्त किरणों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। छन्द रश्मियों के उत्पादक ऋषि प्राणों को अवर ऋषि इस कारण कहा जाता हैं, क्योंकि इनसे भी पूर्व उत्पन्न प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों को उत्कृष्ट ऋषि प्राण कहते हैं, ऐसा हमारा मत है। ये अवर ऋषि प्राण यूप रूप तरंगों की बाहरी आवरक तीक्ष्ण तरंगों को आकर्षित करके निर्माणाधीन केन्द्रीय भागों में प्रक्षिप्त कर देते हैं। इसका परिणाम बतलाते हुए कहा है- "जुहां स्वरुमवदायानूयाजान्ते जुहोति द्यां ते धूमो गच्छतु" (आप.श्रौ.७.२७.४) (आचार्य सायण द्वारा उद्धृत)। इसका आशय यह है {जुह = जुहोति गृह्णाति ददाति वा यया (पावकया = पवित्रकारिकया ज्वालया) (म.द.ऋ.भा.६.११.२)} कि विभिन्न छन्दों, मरुद् रश्मियों आदि अनुयाज रूप (यहाँ अनूयाजः छान्दस प्रयोग है) तरंगों के यूप रूपी तरंगों से प्राक् वर्णितानुसार संगत होने के उपरान्त ज्वाला रूप स्वरु अर्थात् यूप तरंगों के आवरण रूप तरंगों को निर्माणाधीन एवं अपेक्षाकृत प्रकाशमान केन्द्रीय भाग में प्रक्षिप्त किया जाता है। उस प्रक्षेप के फलस्वरूप केन्द्रीय भाग सम्पूर्ण रूप से विक्षुब्ध होकर कम्पन करने लगता है। अब महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं कि इस प्रकार उन तरंगों के प्रक्षेपण से मानो सम्पूर्ण यूप रूपी तरंगों के प्रक्षेपण का परिणाम प्राप्त हो जाता है अर्थात् नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उधर आवरणविहीन यूप रूपी तरंगें केन्द्रीय भाग से बाहर ही रह जाने से बाहरी पदार्थ आकर्षित होकर केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित भी होता रहता है। इस प्रकार तारों की सम्पूर्ण क्रियाएं सम्यग्रूपेण चलती रहती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगों के निर्माणाधीन तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान भाग का अन्य तरंगों के साथ पूर्ण विलय हो जाता है। इसके कारण केन्द्रीय भाग का ताप अतितीव्र हो जाता है। इसके साथ ही केन्द्रीय भाग का पदार्थ और भी अधिक संघनित नहीं होता है बल्कि बाहरी भाग की अपेक्षाकृत कुछ स्थाई रहता है। यूप रूपी तरंगें प्राणापानादि सूक्ष्म रश्मियों के प्रक्षेपण के द्वारा विभिन्न पदार्थों को आकर्षित करके उन्हें संयुक्त और संघनित करने में सक्षम हो पाती हैं। ये तरंगें सर्वप्रथम विभिन्न कणों वा तरंगों में छिपे हुए अथवा उनको आच्छादित करते हुए अप्रकाशित ऊर्जा आदि पदार्थ को नष्ट वा दूर करती हैं। फिर उन सभी कणों वा तरंगों को अपने तेज और बल के द्वारा केन्द्रीय भाग की ओर ले जाती हैं। इधर धनावेशित कण ही परस्पर संयुक्त होकर विभिन्न प्रकार के तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं और इन्हीं धनावेशित कणों में यूप रूप तरंगें विभिन्न पदार्थों को प्रक्षिप्त करके उन्हें अधिक ऊर्जावान् बनाती हैं। जब केन्द्रों का निर्माण प्रारम्भ होने वाला होता है, उस समय विभिन्न ऋषि रूप तरंगें यूप रूपी तरंगों के बाहरी आवरण रूप तेजस्वी तरंगों को केन्द्रीय भाग में प्रक्षिप्त कर देती हैं, जिसके कारण केन्द्रीय भाग में तीव्र विक्षोभ और कम्पन होने लगता है और उसके फलस्वरूप उस भाग का ताप अत्यधिक बढ़ जाने से नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। केन्द्रीय भाग के बाहर यूप रूप तरंगों के रहे हुए शेष भाग बाहरी पदार्थ को आकर्षित करके केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित करते रहते हैं।।

३. सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते यो दीक्षतेऽग्निः सर्वा देवताः सोमः सर्वा देवताः स यदग्नीषोमीयं पशुमालभते सर्वाभ्य एव तद्देवताभ्यो यजमान आत्मानं निष्क्रीणीते।।

{दीक्षा = प्राणा दीक्षा प्राणैरेव प्राणां दीक्षामवरुन्धे (तै.ब्रा.३.८.१०.४), वाग् दीक्षा तया प्राणो दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.७), आपो दीक्षा तया वरुणो राजा दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा. ३.७.७.६), दीक्षा पत्नी (तै.आ.३.६.१), द्यौर्दीक्षा तयाऽऽदित्यो दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३. ७.७.५), पृथिवी दीक्षा तयाग्निर्दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.४-५), अन्तरिक्षं दीक्षा तया वायुर्दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.५), पृथिव्या रूपं स्पर्शाः (ऐ.आ.३.२.५; शां.आ.८.८), पृथिव्येव भर्गः (गो.पू.५.१५)}

व्याख्यानम्- विभिन्न प्रकार के पदार्थ दीक्षित होकर सभी देवों के साथ संगत होते हैं किंवा सभी ओर से सभी देवों का रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ हम दीक्षित पद के विज्ञान को जानने के लिए उपर्युक्त प्रमाणों की विवेचना आवश्यक समझते हैं। {ओषधयो दीक्षा, तया सोमो राजा दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३. ७.७.६-७), वज्रो वाऽआपः (श.१.१.१.१७), वीर्यं वाऽआपः (श.५.३.४.१), वागिति पृथिवीः (जै.उ.४. ११.१.११)}

किसी भी नेब्यूला वा तारों में अनेक पदार्थ क्रमशः उत्पन्न और संघनित होते हैं। सर्वप्रथम प्राणापानादि प्राथमिक प्राण किंवा **मुख्य प्राण मनस् तत्त्व स्वयं ही के द्वारा संगत और संघनित होता है। इसको रोकने, संगत और संघनित करने के लिये कोई भी जड़ पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में इसकी उत्पत्ति के समय अथवा उसके पश्चात् कभी सक्षम नहीं हो सकता। इसकी उत्पत्ति के समय इसके मूल कारण निष्क्रिय तत्त्व प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी जड़ तत्त्व विद्यमान नहीं होता।** इस प्रकार वह स्वयं से ही संगत होकर अग्रिम सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया को प्रारम्भ करता है। इस प्रश्न के उत्तर में **क्या यह जड़ तत्त्व स्वयं के साथ संगत हो सकता है? कदापि नहीं। ऐसा ही कहना योग्य है। किसी भी जड़ तत्त्व में कोई भी मूल प्रवृत्ति स्वयं सम्भव नहीं हो सकती।** इसके विषय में विशेष जानकारी के लिए पूर्वपीठिका में "ईश्वर अस्तित्त्व की वैज्ञानिकता" नामक अध्याय पढ़ें। इस क्रम में मनस् तत्त्व से एक ओर प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति होती है, तो दूसरी ओर दैवी गायत्री छन्द रूप मूल वाक् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यहाँ मूल वाक् तत्त्व का तात्पर्य 'ओम्' छन्द रश्मि एवं अन्य व्याहृति छन्द रश्मियां समझना चाहिये। इनमें से 'ओम्' **छन्द रश्मि की उत्पत्ति के अभाव में मनस्तत्त्व भी सक्रिय नहीं हो**

पाता। यह वाक् तत्त्व प्राथमिक प्राणों को उत्तेजित व सक्रिय करता है। इस कारण प्राण तत्त्व को वाक् तत्त्व के द्वारा दीक्षित कहा गया है। विभिन्न प्रकार के प्राण तत्त्व वायु को उत्पन्न करते हैं और वह वायु तत्त्व अन्तरिक्ष के द्वारा प्रेरित होकर सर्वत्र गमन करता है। इस अवकाश व आकाश तत्त्व के अभाव में विभिन्न वायु रश्मियाँ गति नहीं कर सकती। अग्नि तत्त्व पृथिवी अर्थात् विभिन्न छन्दों का वह तेजस्वी रूप, जो रूप और स्पर्श गुणयुक्त होता है, से प्रेरित होता है। यहाँ पृथिवी तत्त्व पंचमहाभूतों वाला पृथिवी तत्त्व नहीं है, क्योंकि ऐतरेय आरण्यक की दृष्टि में इसमें केवल रूप और स्पर्श गुण ही विद्यमान हैं। पृथिवी पद 'पृथ प्रक्षेपे' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका आप्टे कोष में अर्थ विस्तार करना, फेंकना, निर्देश देना, भेजना आदि हैं। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने संस्कृत धातु कोष में 'प्रेरणा करना' भी अर्थ दिया है। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होकर व्याप्त होने वाले विभिन्न छन्द प्राणों, जो तेजस्वी भी होते हैं, को यहाँ पृथिवी कहा गया है और ऐसा ही पृथिवी अर्थात् व्यापक और प्रेरक छान्दस पदार्थ अग्नि तत्त्व को प्रेरित वा दीक्षित करता है। विभिन्न कणों वा तरंगों को वांधने वाली वरुण रश्मियाँ व्यापक आपः (आपो व्यानः - जै.उ.४.११.१.६; आपो वै मरुतः - ऐ.६.३०) अर्थात् व्यान रश्मियों के तीक्ष्ण और तेजस्वी रूप के द्वारा प्रेरित वा दीक्षित होती हैं। देदीप्यमान तत्त्व ऊष्णतावर्धक विभिन्न रश्मियों के द्वारा प्रेरित वा संस्कारित होकर अपना देदीप्यमान रूप प्राप्त करता है। विभिन्न प्रकार की प्रकाश आदि रश्मियाँ विद्युत् वा प्राण तत्त्वों के द्वारा प्रेरित और सक्रिय होती हैं। {प्राणो वै दिवः - श.६.७.४.३} यहाँ 'प्रेरक तत्त्व' को 'दीक्षा' और 'प्रेरित तत्त्व' को 'दीक्षित' कहा गया है। इसलिये दीक्षा को पत्नी अर्थात् पालिका व रक्षिका शक्ति भी कहा गया है। ध्यातव्य है कि सभी सूक्ष्म पदार्थों की मूल पालिका व रक्षिका जड़ शक्तियाँ 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' आदि दैवी गायत्री छन्द रश्मियाँ ही हैं। अव हम कण्डिका के आशय पर विचार करते हैं- उपर्युक्त प्रकार से विभिन्न प्रकार के दीक्षित पदार्थ सभी प्रकार से दिव्यता धारण करके परस्पर एक-दूसरे को सव ओर से प्राप्त करते हैं और फिर वे परस्पर विविध क्रीड़ा करते हुए एक-दूसरे के साथ संगत होने लगते हैं और ऐसा करते हुए वे आत्मा रूप को सव ओर से प्राप्त होने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे नेव्यूला किंवा तारों के आकार का निर्माण करने लगते हैं। इसके पश्चात् उसी आकार अर्थात् क्षेत्र में परस्पर संगत होते और विस्तार पाते रहते हैं। इसी कारण कहा- "आत्मा वै तनूः (श.६.७.२.६), आत्मा यजमानः (कौ.ब्रा.१७.७)"। आगे महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि अग्नि और सोम में सभी देव विद्यमान होते हैं अर्थात् नेव्यूला वा तारों के अन्दर विद्यमान अग्नि और सोम तत्त्व विभिन्न प्राणादि देवों से उत्पन्न एवं युक्त होता है। जैसा कि हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं कि तारों में मुख्यतः अग्नि और सोम दो प्रकार के पदार्थ ही विद्यमान होते हैं, जिनके विविध क्रियाकलापों के द्वारा विविध लोकों की सृष्टि होती है। जव यह अग्नि और सोम पदार्थ पशु रूप अर्थात् दृश्य रूप को सव ओर से प्राप्त कर लेते हैं, उस समय सभी प्रकार के प्राणादि दिव्य पदार्थों में ये अग्नि और सोम तत्त्व पूर्णरूपेण समर्पित व संसिक्त हो जाते हैं। विभिन्न पदार्थों के संगत होते हुए यजमान रूप विभिन्न तारे वा नेव्यूला आदि लोक वा लोकसमूह किसी वाहरी पदार्थ से विशेष संगत नहीं होते वल्कि वे अपने अन्दर विद्यमान पदार्थ से ही अपना संचालन करने में सक्षम हो जाते हैं, क्योंकि इनके अन्दर ही विविध सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होते हैं। ध्यातव्य है कि वाहरी पदार्थ से संगति का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। यहाँ केवल आभ्यान्तर पदार्थ की अपेक्षा वाहरी पदार्थ के संगम का अभाव वतलाया गया है। इस विषय में महर्षि तित्तिर ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए लिखा है-

पुरा खलु वावैष मेधायाऽऽत्मानमारभ्य चरति यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभत आत्मनिष्क्रयण एवास्य (तै.सं.६.१.११.६)

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में प्रेरक और प्रेरित दो प्रकार के पदार्थ होते हैं। ये शब्द परस्पर सापेक्ष होते हैं। एक प्रेरित किसी का प्रेरक हो सकता है और एक प्रेरक भी किसी से प्रेरित हो सकता है। **केवल सर्वोच्च चेतन परमात्म-सत्ता ही ऐसा पदार्थ है, जो किसी से प्रेरित नहीं होता बल्कि स्वयं की स्वाभाविक ज्ञान और शक्ति की प्रेरणा से सभी प्रेरकों को मूल प्रेरक शक्ति प्रदान करता है।** उसके पश्चात् मूल जड़ तत्त्व प्रकृति, महत्-अहंकार-मनस् तत्त्व,, वाक् तत्त्व, प्राथमिक प्राण, मरुत् और छन्द रश्मियाँ, आकाश, वायु आदि सभी तत्त्व परस्पर प्रेरक और प्रेरित का सम्बन्ध बनाते हुए मूल परमात्मा की प्रेरणा से प्रेरित होकर अग्नि और सोम एवं इनकी प्रधानता वाले पदार्थ अर्थात् धनावेशित, ऋणावेशित और उदासीन विभिन्न प्रकार के कण, अनेक प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ नेव्यूलाओं,

गैलेक्सियों, तारे आदि प्रकाशमान लोकों में विद्यमान होते हैं। ये पदार्थ अपने से सूक्ष्म पदार्थों द्वारा प्रेरित और सक्रिय होकर उपर्युक्त लोकों का रूप धारण करते हुए उनकी आयु तक उनका सम्यक् संचालन करते रहते हैं। इन पदार्थों से सूक्ष्म पदार्थ भी इन लोकों में विद्यमान होते हैं, परन्तु उनका अनुभव किसी भी वैज्ञानिक तकनीक से मानव के द्वारा होना संभव नहीं है। **परन्तु ये सूक्ष्म पदार्थ ही अदृश्य और अज्ञेय रहकर विभिन्न कणों और तरंगों को निर्मित और प्रेरित करते रहते हैं। तारों और नेब्यूलाओं को संचालित करने वाले सभी पदार्थ इनके अन्दर ही विद्यमान और संगत होते हैं, बाहरी किसी पदार्थ की विशेष आवश्यकता प्रायः इन लोकों को नहीं रहती।** पुनरपि यह कथन सापेक्ष दृष्टि से ही किया गया है। **वस्तुतः प्रत्येक लोक में बाहरी पदार्थ भी अल्पांश में ही सही, प्रवाहित व संगत अवश्य होता रहता है।** हाँ, यह अवश्य है कि आभ्यान्तर पदार्थ की अपेक्षा उसकी मात्रा एवं सक्रियता अति न्यून होती है।।

४. तदाहुर्द्विरूपोऽग्नीषोमीयः कर्तव्यो द्विदेवत्यो हीति, तत्तन्नाऽऽदृत्यं, पीव इव कर्तव्यः, पीवोरूपा वै पशवः कृशित इव खलु वै यजमानो भवति तद्यत् पीवा पशुर्भवति यजमानमेव तत्स्वेन मेधेन समर्धयति।।
तदाहुर्नाग्नीषोमीयस्य पशोरश्नीयात् पुरुषस्य वा एषोऽश्नाति योऽग्नीषोमीयस्य पशोरश्नाति, यजमानो ह्येतेनाऽऽत्मानं निष्क्रीणीत इति।।
तत्तन्नाऽऽदृत्यं, वार्त्रघ्नं वा एतद्धविर्यदग्नीषोमीयोऽग्नीषोमाभ्यां वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तावेनमब्रूतामावाभ्यां वै वृत्रमवधीर्वरं ते वृणावहा इति वृणाथामिति तावेतमेव वरमवृणातां श्वः सुत्यायां पशुं स एनयोरेषोऽच्युतो वरवृतो ह्येनयोस्तस्मात्तस्याशितव्यं चैव लीप्सितव्यं च।।३।।

{पीवः = वृद्धिकरः = ओप्यायी वृद्धौ (भ्वा.) धातोर्बाहु. औणादिको वन् प्रत्ययः, धातोः स्थाने पी-आदेशश्छान्दसः (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री)। सुत्या = सुन्वन्ति यया क्रियया सा (तु.म.द.य.भा.५.७)। श्वः = श्वो बृहत् (तै.सं.३.१.७.२)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मुख्यतया अग्नि और सोम इन दो पदार्थों से निर्मित नेब्यूला और तारे दो प्रकार के रूपों से युक्त होते हैं। इस मत का खण्डन करते हुए महर्षि लिखते हैं कि ऐसा नहीं है कि इन लोकों में दो ही प्रकार के रूप प्रकाशमान होते हों। ये लोक सूक्ष्म आकार से निरन्तर वृद्धि करते हुए अत्यन्त स्थूल आकार को प्राप्त होते हैं। इस कारण इनके विविध रूप और रंग भी वनते और मिटते रहते हैं। इन लोकों के अन्दर विभिन्न प्रकार के दृश्य कण, इन सवको संगत करने एवं तीक्ष्ण वनाने वाली यूप रूप तरंगों की अपेक्षा हर दृष्टि से स्थूल और विस्तृत होते हैं। ये यूप रूप तरंगें अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु अति तीक्ष्ण होती हैं, जवकि दृश्य कण इनकी अपेक्षा आकार आदि की दृष्टि से स्थूल, परन्तु दुर्वल होते हैं। यूप रूपी तरंगें अति लघु स्थान पर उत्पन्न होती हैं, जवकि अग्नि व सोम का मिश्रित पदार्थ अति व्यापक क्षेत्र में फैला रहता है। वह व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ दृश्य पदार्थ लघु क्षेत्र में उत्पन्न यूप रूप तरंगों के साथ संगत होकर उन तरंगों और सम्पूर्ण लोक को समृद्ध करता है। इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि और सोम के मिश्रण से वना अपेक्षाकृत स्थूल पदार्थ ही यूप रूप सूक्ष्म तरंगों को विस्तृत क्षेत्र में फैलाने में आवश्यक माध्यम का कार्य करता है, इसके अभाव में यूप रूप तरंगों का विस्तार नहीं हो सकता। यहाँ एक तथ्य यह भी है कि नेब्यूला वा तारों के निर्माण के पूर्व विद्यमान अग्नि और सोम पदार्थ तारों के अन्दर विद्यमान अग्नि और सोम पदार्थ से अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है। जव यह पदार्थ स्थूल और संघनित होकर किसी नेब्यूला वा तारे का निर्माण करने लगता है, तव स्थूल हुआ पदार्थ दृश्य होने से पशु रूप कहा जाता है और यह दृश्य और संघनित पदार्थ जितना अधिक स्थूलाकार वाले लोक का निर्माण करता

है, उतना ही अधिक वह बाहरी सूक्ष्म परन्तु संगमनीय यजमान रूप पदार्थ को संगत करके समृद्ध करने में समर्थ होता है।।

यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों के अन्य मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अग्नि और सोम के मिश्रण रूप दृश्य पदार्थ का भक्षण नहीं होता है अर्थात् इनका तारों के केन्द्रों के अन्दर संलयन नहीं होता है, क्योंकि यदि इस पदार्थ का संलयन होता रहेगा, तो सम्पूर्ण तारा रूप पुरुष ही संलयित होकर नष्ट हो जायेगा और नेब्यूला भी अति सघन होते-होते अति सूक्ष्म परन्तु अति सघन रूप में परिवर्तित होकर नष्ट हो जायेगा। यह अग्नि-सोम मिश्रित पदार्थ ही तो इन लोकों के स्वरूप का कारण बनता है और इन्हीं के सब प्राणादि पदार्थ से युक्त होने के कारण बाहरी पदार्थों पर विशेष निर्भरता से मुक्ति मिलती है। इस कारण इस पदार्थ का संलयन नहीं होना चाहिए।।

इस मत का खण्डन करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं कि यह मत स्वीकरणीय नहीं है। अग्नि और सोम मिश्रित पदार्थ की संगति व संलयन क्रिया से उत्पन्न तीव्र किरणें ही तारों के अन्दर, विशेषकर उनके केन्द्रीय भाग के अन्दर सबको आच्छादित करने वाले वृत्र रूप अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु-रश्मियों को नष्ट करती हैं। उधर अग्नि और सोम अर्थात् विद्युत् मिश्रित वायु रूपी इन्द्र तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में हिंसक अप्रकाशित वृत्र रूप उपर्युक्त रश्मियों को सदैव नष्ट करता है। इसी कारण तारों के अन्दर भी इन दोनों के संयुक्त रूप द्वारा इस बाधक तत्त्व को नष्ट किया जाता है और इसके नष्ट होने के कारण ही अग्नि और सोम पदार्थ {वरः = वर इव वै स्वर्गो लोकः (जै.ब्रा.२.६६), सर्वं वै वरः (श.२.२.१.४)} वर प्राप्त करते हैं। इसका आशय यह है कि वे तारों के केन्द्रीय भाग रूप अत्यन्त देदीप्यमान, श्रेष्ठ और सम्पूर्णतायुक्त रूप प्राप्त करते हैं और वह विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ **दृश्य अग्नि सोम मिश्रित पदार्थ एवं विभिन्न छन्द और मरुद् रूपी पशु एक दूसरे को दबाते, हिलाते हुए एक निष्कम्प, अत्यधिक सघन और दृढ़ केन्द्रीय भाग का रूप प्राप्त करते हैं। वह केन्द्रीय भाग अपने अन्दर विद्यमान पदार्थों के भीषण संघर्षण से अत्यन्त तेजस्वी स्वरूप को प्राप्त करता है।** इस कारण तारों के केन्द्रीय भाग में अग्नि और सोम मिश्रित पदार्थ अवश्य ही संलयित होता है और न केवल केन्द्रीय भाग में विद्यमान पदार्थ ही संलयित होता है अपितु केन्द्रीय भाग से बहिःस्थ पदार्थ भी संलयन हेतु तीव्रता से निरन्तर आकर्षित किया जाता रहता है। यदि ऐसा नहीं होता हो तो तारों का जीवन ही समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए महर्षि तित्तिर का कथन है- "तस्मात्तस्य नाऽऽश्यं पुरुषनिष्क्रयण इव ह्यथो खल्वाहुरग्नीषोमाभ्यां वा इन्द्रो वृत्रमहन्निति यदग्नीषोमीयं पशुमालभते वार्त्रघ्न एवास्य स तस्माद्वाऽऽश्यम्" (तै.सं.६.१.११.६)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्रकार के नेब्यूला और तारे सूक्ष्म रूप से प्रारम्भ होकर बृहदाकार धारण करते जाते हैं। **जिस प्रकार किसी सूक्ष्म बीज से शनैः-शनैः वृद्धि होकर विशाल वृक्ष वा प्राणी का निर्माण होता है, उसी प्रकार नेब्यूला, तारे आदि आकाशीय पिण्डों का निर्माण होता है। इन पिण्डों के आकार बदलने के साथ-साथ इसमें उत्पन्न होने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की विविधता भी परिवर्तित होती रहती है। नेब्यूला और तारों के अन्दर एक लघु क्षेत्र में उत्पन्न यूप रूपी तरंगें इन लोकों के बीज का कार्य करती हैं,** उधर अन्य प्रकार के कण तथा तरंगें उन लोकों को आकार प्रदान करने के साथ-२ उन यूप रूप सूक्ष्म परन्तु अति तीक्ष्ण तरंगों को विस्तृत करने में एक माध्यम का भी काम करती हैं। उधर विविध प्रकार के आवेशित व निरावेशित कण पहले सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होते हैं, उसके पश्चात् संयुक्त होकर अपेक्षाकृत स्थूल कणों का निर्माण होता है। इसी प्रकार **विद्युत् चुम्बकीय तरंगें भी पहले सूक्ष्म आवृत्ति की उत्पन्न होती हैं, उसके बाद अधिक आवृत्ति की।** नेब्यूला वा तारों के आकार के बढ़ने के साथ-२ बाहरी पदार्थ का आकर्षण भी बढ़ता जाता है। तारों के केन्द्रीय भाग के अन्दर नाभिकीय संलयन से उत्पन्न तीव्र ऊर्जा तरंगें अप्रकाशित ऊर्जा, जो संलयन क्रिया में बाधा पहुँचा सकती है, को दूर वा नष्ट करती हैं। उधर विद्युत् युक्त वायु रूपी इन्द्र तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान बाधक अप्रकाशित ऊर्जा को नष्ट वा नियन्त्रित किया करता है। इसके नष्ट और नियन्त्रित होने से ही संसार में विविध सृजन प्रक्रियाएं सम्भव हो पाती हैं। तारों वा नेब्यूलाओं के केन्द्रीय भागों, जो अत्यन्त देदीप्यमान होते हैं, में विभिन्न प्रकार के कण, अधिकांशः धनावेशित कण परस्पर एक-दूसरे के साथ संघर्ष करके, संलयित होकर भारी ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। नाभिकीय संलयन के अभाव में ऊर्जा की

यह उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। **तारों का केन्द्रीय भाग शेष भाग की अपेक्षा अत्यन्त सघन एवं अचल होता है।।**

ॐ इति ६.३ समाप्तः ॐ

ॐ अथ ६.४ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. आप्रीभिराप्रीणाति।।
तेजो वै ब्रह्मवर्चसमाप्रियस्तेजसैवेनं तद् ब्रह्मवर्चसेन समर्धयति।।
समिधो यजति।।
प्राणा वै समिधः, प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते यदिदं किंच, प्राणानेव तत्प्रीणाति, प्राणान् यजमाने दधाति।।

{आप्रियः = प्राणा वा आप्रियः (कौ. ब्रा.१८.१२), यदेता आप्रियो भवन्ति यज्ञमेवैताभिर्यजमान आप्रीणीते (मै.३.६.६), (आप्रियः) (ऋचः) तद्यद् आप्रीणाति तस्मादाप्रियो नाम (कौ.ब्रा. १०.३), आप्रीभिराप्नुवन् तदाप्रीणामाप्रीत्वम् (तै.ब्रा.२.२.८.६)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण में अग्नि व सोम मिश्रित पदार्थ एवं यूप रूप तरंगें जव परस्पर मिश्रित हो रही होती हैं, तव आप्री संज्ञक ११ ऋचाओं की उत्पत्ति होती है और वे ऋग्रूप तरंगें सम्पूर्ण नेव्यूला वा तारों में विद्यमान पदार्थ को व्याप्त और तृप्त करती हैं। यह आप्री संज्ञक सूक्त ऋ.१.१८८, माना जाता है, क्योंकि इसका देवता 'आप्रियः' है। इस कारण यह अपने दैवत प्रभाव से सम्पूर्ण नेव्यूला वा तारे में सव ओर से व्याप्त हो जाती हैं।।

आप्री संज्ञक रश्मियों के विषय में महर्षि यास्क का भी कथन है-
"आप्रियः कस्मात्। आप्नोतेः। प्रीणातेर्वा" (नि.८.४)
इसी विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य भी कहते हैं-
"अथाप्रीभिश्चरन्ति। तद्यदाप्रीभिश्चरन्ति सर्वेणेव वाऽएष मनसा सर्वेणेवात्मना यज्ञं॰ सम्भरति सञ्च जिहीर्षति यो दीक्षते तस्य रिरिचान इवात्मा भवति तमेताभिराप्रीभिराप्याययन्ति तद्यदाप्याययन्ति तस्मादाप्रियो नाम तस्मादाप्रीभिश्चरन्ति" (श.३.८.१.२)

सर्वप्रथम अगस्त्य ऋषि {अगस्त्यः = अस्तदोषः (म.द.ऋ.भा.७.३३.१०), अगमपराधमस्यन्ति प्रक्षिपन्ति तेषु साधुः (म.द.ऋ.भा.१.१८०.८), अपराधरहितो मार्गः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१८४.५)} अर्थात् विभिन्न प्रकार के प्राणों वा सूक्ष्म कणों के दोषों को दूर करके उनके मार्गों को शुद्ध करने वाले एक सूक्ष्म प्राण विशेष से 'आप्रियो देवताक' एवं 'निचृद् गायत्री' एवं गायत्री छन्दस्क

समिद्धो अद्य राजसि देवो देवैः सहस्रजित्। दूतो हव्या कविर्वह।।१।।
तनूनपादृतं यते मध्वा यज्ञः समज्यते। दधत्सहस्रिणीरिषः।।२।।
आजुह्वानो न ईड्यो देवाँ आ वक्षि यज्ञियान्। अग्ने सहस्रसा असि।।३।।
प्राचीनं बर्हिरोजसा सहस्रवीरमस्तृणन्। यत्रादित्या विराजथ।।४।।
विराट् सम्राड्विभ्वीः प्रभ्वीर्बह्वीश्च भूयसीश्च याः। दुरो घृतान्यक्षरन्।।५।।
सुरुक्मे हि सुपेशसाऽधि श्रिया विराजतः। उषासावेह सीदताम्।।६।।
प्रथमा हि सुवाचसा होतारा दैव्या कवी। यज्ञं नो यक्षतामिमम्।।७।।
भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे। ता नश्चोदयत श्रिये।।८।।
त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून्विश्वान्त्समानजे। तेषां नः स्फातिमा यज।।९।।
उप त्मन्या वनस्पते पाथो देवेभ्यः सृज। अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्।।१०।।

पुरोगा अग्निर्देवानां गायत्रेण समज्यते। स्वाहाकृतीषु रोचते।।११।। (ऋ.१.१८८.१-११)

ऋचाओं की उत्पत्ति होती है।

(१) प्रथम ऋचा के प्रभाव से तीक्ष्ण तेज और वल से युक्त पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें प्रथम ऋचा के असंख्य कणों वा तरंगों को नियन्त्रण में रखने में समर्थ एवं सम्यग्रूपेण देदीप्यमान विभिन्न तेजस्वी तरंगों के साथ संयुक्त होकर {दूतः = यो दुनोति दुष्टान् परितापयति सः (म.द.ऋ.भा.४.१.८)} हिंसक अप्रकाशित वाधक विद्युद्वायु को नष्ट करने में समर्थ होकर विविध क्रीड़ाओं से युक्त होकर दिव्यतायुक्त होती हैं। वे किरणें क्रान्तदर्शी होकर उस समय विभिन्न संगमनीय कणों में व्याप्त होकर उनको विविध प्रकार से प्रकाशित करती हैं।

(२) इसके पश्चात् द्वितीय ऋचा के प्रभाव से {तनूनपात् = यस्तनूनि शरीराणि न पातयति सः (म.द. ऋ.भा.१.१८८.२), यस्य तनूर्व्याप्तिर्न पतति (अग्निः) (म.द.ऋ.भा.३.२६.११)। यज्ञः = यज्ञ एव सविता (गो.पू.१.३३), स यः स यज्ञो ऽसौ सऽआदित्यः (श.१४.१.१.६)} अनेक संयोज्य कणों को धारण करती हुई, सवको संगत करने वाली विभिन्न प्राणों के भण्डार तारों वा नेव्यूलाओं के निर्माण की प्रक्रियाओं को पतित न होने देने वाली यूप रूपी तरंगें विभिन्न प्रकार के प्रकाशमान मार्गों के साथ विभिन्न प्राणों व गतियों को प्राप्त होकर अच्छे प्रकार प्रकट वा सक्रिय होती हैं।

(३) इसके प्रभाव से {सहस्रसाः = यः सहस्राणि पदार्थान् सनोति विभजति सः (अग्निः) (म.द.ऋ.भा. १.१८८.३)} अनेक पदार्थों का विभाग करने वाली, सव ओर से विभिन्न कणों का संयोग-वियोग कराने वाली, खोजने योग्य तेजस्वी अग्निस्वरूप यूप तरंगें दिव्य गुणों को प्राप्त करके तीव्र तेजस्वी और सक्रिय होकर विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में सक्षम होती हैं।

(४) इसके प्रभाव से अन्तरिक्ष लोक में किंवा कारण पदार्थ में विभिन्न नेव्यूला वा तारे आदि लोक तेजस्वी यूप रूप तरंगों के द्वारा विभिन्न पदार्थों को कम्पायमान करने वाले वर्हि अर्थात् विभिन्न पशु अर्थात् मरुद् रश्मियों, जो इन तरंगों से पूर्व ही उत्पन्न हुए होते हैं, को आच्छादित करते हुए विशेष प्रकाशित करते हैं। इस कारण वे लोक अति तेजस्वी हो जाते हैं।

(५) इसके प्रभाव से {दुरः = वृष्टिर्वै दुरः (ऐ.२.४), द्वाराणि (म.द.य.भा.२०.३६), दुष्टान् (म.द.ऋ. भा.१.६६.५)} यूप रूप तरंगें विविध प्रकार से सम्यग्रूपेण प्रकाशित होकर अपनी व्याप्ति के साथ समर्थ होती हैं। ये तरंगें एक से अनेक में परिवर्तित होती हुई, विभिन्न मार्गों में गमन करती हुई हिंसक वाधक रश्मियों को अपने संदीप्त तेज से व्याप्त करके नष्ट करती हैं।

(६) इसके प्रभाव से {पेशः = रूपनाम (निघं.३.७), हिरण्यनाम (निघं.१.२)} वे यूप रूप तरंगें नेव्यूला व तारे आदि लोकों में सुन्दर तेजस्वी रूपों से युक्त होकर देदीप्यमान होती हैं। उन ऐसी तेजस्वी तरंगों में जलते हुए सोम और अग्नि पदार्थ अच्छे प्रकार से वर्त्तमान होते हैं।

(७) इसके प्रभाव से वे यूप रूपी तरंगें, जो विभिन्न दिव्य पदार्थों को आकर्षित व प्रतिकर्षित करने वाली होती हैं, सर्वप्रथम विभिन्न छन्द रश्मियों से युक्त अति क्रान्तदर्शी रूप धारण करती हैं। उसके पश्चात् वे विभिन्न प्रकार के संगमनीय पदार्थों को संगत करके उन्हें दृश्य पदार्थ में परिवर्तित करती हैं।

(८) इसके प्रभाव से तेज को धारण करने वाली वायु युक्त अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियों से युक्त यूप रूप तरंगें सभी के निकट प्रकाशित होकर विभिन्न कणों वा तरंगों को आश्रय के लिये प्रेरित करती हैं अर्थात् वे तरंगें उन कणों के अन्दर व्याप्त हो जाती हैं।

(९) इसके प्रभाव से छेदन सामर्थ्ययुक्त वे यूप रूप तरंगें विविध रूपों वाले सभी दृश्य कणों को अच्छी प्रकार उत्पन्न करती हैं। इसके कारण विभिन्न कणों की संख्या में भारी वृद्धि होकर वे परस्पर एक-दूसरे से संगत होते हुए नेव्यूला वा तारों में विभिन्न सृजन क्रियाओं को सम्पादित करती हैं।

(१०) इसके प्रभाव से {स्वादुः = प्रजा वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४), मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४)। पाथः = अन्तरिक्षमार्गम् (म.द.ऋ.भा.१.११३.८), पालकमन्नम् (म.द.य.भा.२१.४०), रक्षणीयमाचरणम् (म.द.य.भा.८.५०)} विभिन्न किरणों की रक्षक यूप तरंगें अपनी सक्रियता से विभिन्न संगमनीय कणों वा तरंगों को तेज, बल और क्रिया से विशेष युक्त करने के लिये अग्नि के विभिन्न परमाणुओं से मिथुन करती हैं। इसके कारण वे तरंगें विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ मानो एक रस हो जाती हैं अथवा अति निकटता से संगत हो जाती हैं। इसके कारण विभिन्न प्रकार के संयोज्य कण, जो विभिन्न नेब्यूलाओं वा तारों के पालक होते हैं, सुरक्षित मार्गों पर गमन करके परस्पर संसिक्त होते रहते हैं।

(११) इसके प्रभाव से {स्वाहाकारः = अनिरुक्तो वै स्वाहाकारः (श.२.२.१.३)} {स्वाहाकृतयः = प्रतिष्ठा वै स्वाहाकृतयः (ऐ.२.४), अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः (श.१.५.३.१३)} नेब्यूला वा तारों के अन्दर विभिन्न देदीप्यमान तरंगों के बीच विशेष रूप से अग्रगामी एवं सबको आगे ले जाने वाली, इस सूक्त में वर्तमान गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा यूप रूपी तरंगें अपूर्ण एवं कुछ-२ अव्यक्त रूप में वर्त्तमान विभिन्न क्रियाओं को प्रकट करके प्रदीप्त करती हैं अर्थात् इन क्रियाओं से नेब्यूला वा तारों के अन्दर दीप्ति में सतत अभिवृद्धि होती रहती है। यद्यपि यूप रूप तरंगें पूर्ववर्णित त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा अति तीव्र तेजस्वी हो जाती हैं पुनरपि वे विभिन्न कणों वा तरंगों को अन्तिम अर्थात् पूर्ण आधार प्रदान करने में सक्षम नहीं हो पाती हैं। उस पूर्णता को ये गायत्री छन्द रश्मियाँ सम्पन्न करती हैं।

उपर्युक्त विभिन्न प्रभावों वाली छन्द रश्मियां यूप रूप तरंगों के साथ संगत होकर नेब्यूला वा तारों को प्रदीप्ततर करने में महती भूमिका निभाती हैं {प्रयाजः = रेतः सिच्यं वै प्रयाजाः (कौ.ब्रा.१०.३)} यहाँ आचार्य सायण ने इन ऋचाओं को प्रयाज संज्ञक कहा है। इससे सिद्ध होता है कि ये ऋचाएं यूप रूप तरंगों को वीर्यवान् अर्थात् तेजस्वी बनाकर विभिन्न कण और तरंगों में तेज और बल की वृष्टि कराने में उनकी सहायक होती हैं। इनका मिथुन याज्या संज्ञक ऋचाओं से होता है। जैसा कि कहा है- **"प्रतिर्वै याज्या"** (ऐ.२.४०) और **'प्रति'** शब्द का अर्थ **"प्र+दा+क्तिन्"** से प्रदान करने वा विवाह करने की प्रक्रिया होगा। इस कारण ये प्रयाज संज्ञकों की अपेक्षा स्त्री रूप कहलाएंगी।।+।।

सम्यग्रूप से प्रज्ज्वलित उपर्युक्त छन्द रश्मियां प्राण रूप होती हैं। प्राण तत्त्व ही इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान प्रत्येक वस्तु को प्रदीप्त करता है। ये छन्द रश्मियां यूप रूप तरंगों एवं अग्नि और सोम मिश्रित पदार्थों को तृप्त करती हैं। मानो ये छन्द किरणें यूप रूपी तरंगों को और भी प्राणवान् बनाकर विभिन्न तत्त्वों को संगत करने वाले नेब्यूला वा तारे आदि रूप यजमान को प्राणवान् अर्थात् सक्रिय और तेजस्वी बनाती हैं।।

इस सूक्त की छन्द रश्मियाँ विद्युत् और तेज को समृद्ध करने वाली होती हैं। इनके छन्द गायत्री और निचृद् गायत्री होने से तेज और वैद्युत बल में वृद्धि होती है। यहाँ आचार्य सायण ने निम्नलिखित ऋचा के पाठ का विधान किया है, जिसका तात्पर्य है कि-
"होता यक्षदग्निः समिधा सुषमिधा समिद्धं नाभा पृथिव्याः संगथे वामस्य। वर्ष्मन्दिव इडस्पदे वेत्वाज्यस्य होतर्यज" (तै.ब्रा.३.६.२.१) इस निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह ऋचा किसी भी वेद संहिता में उपलब्ध नहीं है। इसके प्रभाव से विभिन्न होता संज्ञक रश्मियां परस्पर संगत होकर तीव्रता से देदीप्यमान होती हुई अन्तरिक्ष में नाना प्रकार के परमाणुओं को बल और तेज से युक्त करते हुए संगत करने हेतु प्रेरित करती हैं। इस ऋचा को याज्या कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि यह छन्द रश्मि प्रयाज संज्ञक छन्द रश्मि के साथ योषा रूप में संगत होती है। इसके साथ संगत होने योग्य प्रयाज संज्ञक वृषा रूप छन्द रश्मि इसी की प्रेरणा से उपर्युक्त आप्रिय संज्ञक सूक्त की प्रथम ऋचा **"समिद्धो अद्य राजसि........."** (ऋ.१.१८८.१) को उत्पन्न करती है। इस ऋचा के विषय में प्रथम कण्डिका का व्याख्यान द्रष्टव्य है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त क्रम में ११ छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। ये रश्मियाँ तारों वा नेब्यूलाओं में सब ओर व्याप्त होकर विद्युत् बल और तेज को समृद्ध करती हैं। उपर्युक्त निचृद् गायत्री छन्द रूप रश्मि के कारण पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें पदार्थों के संयोग में बाधक बनी अप्रकाशित ऊर्जा को नष्ट करके विभिन्न पदार्थों के संयोग की प्रक्रिया को सम्पादित करने में अधिक समर्थ होती हैं। इसके

कारण नेब्यूला अथवा तारे अधिक प्रकाशयुक्त प्रतीत होते हैं। इनके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं- विभिन्न यूप रूपी तरंगें इनके साथ संगत होकर अच्छी प्रकार प्रकट एवं सक्रिय होती हैं। उनकी कार्य क्षमता में वृद्धि होती है। वे तरंगें अपने से पूर्व उत्पन्न विभिन्न मरुद् रश्मियों को आच्छादित करके उन्हें और भी तेजस्वी बनाने में सहायक होती हैं। यूप रूपी तरंगें शृंखलाबद्ध रीति से उत्पन्न होती हुई सतत वृद्धि को पाकर सबमें व्याप्त हो जाती हैं और ऐसा करके वे अप्रकाशित ऊर्जा को नियन्त्रित करने में अधिक समर्थ होती हैं। इनके प्रभाव से नेब्यूला वा तारों से उत्पन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की आवृत्ति में परिवर्तन भी होता रहता है। वे यूप रूपी तरंगें अपनी उत्पत्ति के समय उतनी तीव्र तेजस्वी नहीं होती, जितनी कि वे विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ संगत होने के पश्चात् होती हैं। वे यूप रूपी तरंगें विभिन्न कणों और तरंगों के साथ मिथुन करके एक-दूसरे के साथ अति निकटता से संगत हो जाती हैं। उसके पश्चात् वे सभी कण वा तरंगें अप्रकाशित ऊर्जा की बाधा से मुक्त होकर सुरक्षित मार्गों पर गमन करते हुए परस्पर संगत होते रहते हैं। यद्यपि यूप रूप तरंगें पूर्व में वर्णित त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा अति तीव्र और तेजस्वी हो जाती हैं, पुनरपि वे विविध कणों और तरंगों को पूर्ण आधार प्राप्त नहीं करा पाती हैं। इस कारण उनकी क्रियाएं कुछ-२ अव्यक्त और अपूर्ण ही रहती हैं। इस पूर्णता के लिए ही उपर्युक्त ११ गायत्री छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी समय एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की भी उत्पत्ति होती है।।

२. तनूनपातं यजति प्राणो वै तनूनपात्स हि तन्वः पाति प्राणमेव तत्प्रीणाति, प्राणं यजमाने दधाति।।

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने "होता यक्षत्तनूनपातम्....." ऋचा से यजन का विधान किया है। इन पदों से यजु.२८.२५, २१.३० एवं काण्व संहिता २३.३१,३०.२ एवं ३०.२५ का ग्रहण हो सकता है। आचार्य सायण ने जिस ऋचा को पढ़कर यजन का विधान माना है, उसका देवता 'मित्रावरुण' बतलाया है। काण्व संहिता में ऋचाओं के देवता नहीं दर्शाये हैं, जबकि यजुर्वेद २८.२ और २८.२५ का देवता 'इन्द्र' है एवं २१.३० का देवता 'अश्व्यादयो लिङ्गोक्ता' है। हमारी दृष्टि में विभिन्न ऋचाओं पर गम्भीर विचार करने से इन्द्रदेवताक यजु.२८.२ छन्द रश्मि ही यहाँ विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। क्योंकि यहाँ सायण ने ऋचा को पूर्ण रूप से उद्धृत नहीं किया है और कण्डिका में केवल "तनूनपातं यजति" पद हैं। इससे यह पूर्ण स्पष्ट नहीं होता कि यहाँ किस ऋचा का विधान है? मंत्र की रचना पर विचार करने से हम यहाँ यजु.२८.२ का ही विधान मानते है। जहाँ तक देवता विषय में आचार्य सायण के मैत्रावरुण एवं इस ऋचा के देवता इन्द्र में भेद का प्रश्न है, उस विषय में हमारा मत निम्न अनुसार है- गो.उ.४.११ के अनुसार "यन्मनः स इन्द्रः", उधर श.१२.८.२.२३ के अनुसार "मनो मैत्रावरुणः"। इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध है कि इन्द्र भी मैत्रावरुण है। उधर ऐतरेय ६.११ के अनुसार "ऐन्द्रो वै यज्ञः", उधर कौ.ब्रा.१३.२ के अनुसार "यज्ञो वै मैत्रावरुणः"। इससे भी सिद्ध हुआ कि इन्द्र ही मैत्रावरुण है। महर्षि दयानन्द ने ऋ.भा.३.४.११ में 'इन्द्रेण' पद का अर्थ "वायुना विद्युत् वा" किया है। उधर उन्होंने ऋ.भा.१.१३६.२ में मित्रावरुणौ का अर्थ "प्राणोदानवद्वर्त्तमानौ (विद्युत्पवनौ)" किया है। इससे भी सिद्ध है कि इन्द्र और मैत्रावरुण कहीं-२ समानार्थक भी होते हैं। उसी स्थिति को हम यहाँ स्वीकार करते हुए मानते हैं कि पूर्वोक्त प्रसंग में 'बृहदुक्थो वामदेव ऋषि' अर्थात् विशेष रूप से प्रकाशमान सर्वश्रेष्ठ एवं प्रमुख प्राण मन, जो सबसे अधिक व्यापक होता है, से इन निचृदतिजगती छन्दस्क एवं इन्द्रदेवताक याज्या संज्ञक ऋग्रूप तरंग

होता यक्षत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम्।
इन्द्रं देवꣳस्वर्विदं पथिभिर्मधुमत्तमैर्नराशꣳसेन तेजसा वेत्वाज्यस्य होतर्यज।। (यजु.२८.२)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से तीव्र विद्युद्युक्त वायु सम्पूर्ण नेब्यूला वा तारों के अन्दर अति तीव्रतापूर्वक व्याप्त होने लगता है। इसके अन्य प्रभाव से प्राणापान आदि होता नेब्यूला वा तारों में होने वाली विभिन्न क्रियाओं को पतित न होने देने वाले अथवा ऐसा करके उन लोकों की रक्षा

करने वाली यूप रूप तरंगों के साथ संगत होते हैं किंवा उन्हें परस्पर संगति में रखते हैं। इसके कारण नेब्यूला वा तारों के अन्दर तीव्र विद्युद्युक्त वायु स्वयं अजेय रहते हुए तथा दूसरी बाधक रश्मियों को नियन्त्रण में रखकर विभिन्न कण वा तरंगों को परस्पर संगत होने के लिये सुरक्षित गति व मार्ग प्रदान करता है, जिसके कारण वे कण वा तरंगें विभिन्न नयनकर्ता मरुद् रश्मियों के साथ संगत होकर तीक्ष्ण तेज को प्राप्त करते हैं, जिससे उनकी यजन क्रियाएं और भी तीव्रतर हो जाती हैं। यहाँ याज्या संज्ञक छन्द रश्मि के रूप में इस यजुर्मन्त्र के स्थान पर "होता यक्षत्तनूनपातमदितेर्गर्भं भुवनस्य गोपाम्। मध्वाद्य देवो देवेभ्यो देवयानान्पथो अनक्तु वेत्वाज्यस्य होतर्यज" (तै.ब्रा.३.६.२.२) की उत्पत्ति भी मानी जा सकती है। इसके प्रभाव से अन्तरिक्ष के गर्भ में विद्यमान विभिन्न परमाणु नाना प्रकार की छन्द एवं प्राण रश्मियों से रक्षित और संगत होकर नाना प्रकार के अव्यक्त मार्गों पर गमन करते हुए परस्पर संगत होने में सक्षम होते हैं। इस छन्द रश्मि किंवा उपर्युक्त याज्या रूप छन्द रश्मि के साथ पूर्वोक्त आप्री संज्ञक सूक्त की द्वितीय ऋचा "तनूनपादृतं यते मध्वा........." (ऋ.१.१८८.२) की प्रयाज रूप में उत्पत्ति होती है। इस ऋचा का प्रभाव प्रथम कण्डिका में दर्शाया गया है। प्रयाज और याज्या के विषय में पूर्ववत् समझें। इस ऋचा को आचार्य सायण ने याज्या कहा है। इस कारण यह रश्मि पूर्वोक्त ११ छन्द रश्मियों के साथ स्त्री रूप होकर संगत होती है। वे ११ रश्मियाँ अपने तेज से इस रश्मि को विशेष तेजयुक्त बनाती हैं। ये रश्मियां इस रश्मि के साथ अति निकटता से संगत होकर इन्हें अपना तेज और बल कुछ अंशों में प्रदान करती हैं।

यहाँ महर्षि ऐतरेय कहते हैं कि प्राण ही तनूनपात् है। इसका एक आशय यह है कि वे यूप रूपी तरंगें मूलतः प्राण रूप ही होती हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति मन, वाक् और प्राण तत्त्व से ही होती है और इसका दूसरा आशय यह है कि वे यूप रूपी तरंगें ही नेब्यूला वा तारे आदि लोकों के अन्दर विद्यमान पदार्थ की रक्षा करती हैं और वे ही विभिन्न कणों वा तरंगों पर प्राण तत्त्व की वृष्टि करके उन लोकों रूपी यजमानों के अन्दर प्राण अर्थात् बल और गति को धारण कराती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– इस जगती छन्द के प्रभाव से तीव्र विद्युत् युक्त वायु रूपी इन्द्र तत्त्व नेब्यूला वा तारों के अन्दर अति तीव्रता से व्याप्त होने लगता है। यह रश्मि पूर्वोक्त तीनों प्रकार की यूप रूप तरंगों को परस्पर संगत रखते हुए उनको विभिन्न कणों वा तरंगों के साथ संगत रखने में सहायक होती है। तीव्र विद्युद्युक्त वायु अप्रकाशित ऊर्जा को नियन्त्रित करके विभिन्न कण और तरंगों को सुरक्षा प्रदान करता है, जिससे वे अति तीक्ष्ण, तेजस्वी होकर विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को संवर्धित करते हैं। यह जगती रश्मि एक गायत्री रश्मि के द्वारा अधिक तेजस्विनी होती है।।

३. नराशंसं यजति; प्रजा वै नरो, वाक्शंसः, प्रजां चैव तद्वाचं च प्रीणाति, प्रजां च वाचं च यजमाने दधाति।।

व्याख्यानम्– इसके पश्चात् मेधातिथिः कण्व ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से नराशंस देवताक एवं गायत्री छन्दस्क याज्या रूप

"नराशंसमिह प्रियमस्मिन् यज्ञ उप ह्वये। मधुजिह्वं हविष्कृतम्।।३।।" (ऋ.१.१३.३)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से {नराशंसः = अन्तरिक्षं वै नराशंसः (श.१.८.२.१२), नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः, नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति, अग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति (नि.८.६)} नेब्यूला आदि तारों के अन्दर विद्यमान आकाश तत्त्व एवं तेजस्वी व बलवान् अग्नि संयोगादि प्रक्रियाओं को समृद्ध करते हैं। इसके अन्य प्रभाव से उन तारों वा नेब्यूलाओं, जो विभिन्न हवनीय पदार्थों एवं मास रश्मियों को धारण करने वाले होते हैं, में विविध प्रकार के अग्नि प्रदीप्त होने लगते हैं। उस अग्नि के विषय में तत्त्ववेत्ता महर्षियों ने कहा है– "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरूपी (यहाँ महर्षि ने 'विश्वरूपी' पाठ माना है। अन्यत्र आजकल प्रायः 'विश्वरुची' पाठ मिलता है।) च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः।।" (मुण्ड.उ.१.२.४)। उपर्युक्त मंत्र के महर्षि दयानन्द भाष्य में "मधुजिह्वम्" का अर्थ करते हुए इसे उद्धृत किया गया है। काली आदि

शब्दों का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द मंत्र के भावार्थ में लिखते हैं-"काली-शुक्लादिवर्णप्रकाशितका, कराली-दुःसहा, मनोजवा-मनोवद्वेगवती, सुलोहिता-शोभनो लोहितो रक्तो वर्णो यस्याः सा, सुधूम्रवर्णा-शोभनो धूम्रो वर्णो यस्याः सा, स्फुलिंगिनी-बहवः स्फुलिङ्गाः कणा विद्यन्ते यस्यां सा। अत्र भूम्न्यर्थ इनिः। विश्वरूपी-विश्वं सर्वं रूपं यस्याः सा, इति सप्तविधा। पुनः सा किंभूतादेवी-देदीप्यमाना, लेलायमाना-लेलायति सर्वत्र प्रकाशयति या सा। अत्र 'लेला दीप्तौ' इत्यस्मात् कण्ड्वादित्वाद्यक्, व्यत्ययेनात्मनेपदं च। सा जिह्वाऽर्थाज्जोहुवा पुनः पुनः सर्वान् पदार्थान् जुहोत्यादत्तेऽसाविति।।" अर्थात् 'काली'-जो कि सुपेद आदि रङ्ग का प्रकाश करने वाली, कराली-सहने में कठिन, मनोजवा-मन के समान वेग वाली, सुलोहिता-जिसका उत्तम रक्तवर्ण है, सुधूम्रवर्णा-जिसका सुन्दर धुएं का सा वर्ण है, स्फुलिंगिनी- जिसमें बहुत से चिनगे उठते हैं तथा विश्वरूपी-जिसका सब रूप हैं। ये देवी अर्थात् अतिशय करके प्रकाशमान और लेलायमाना-सबका प्रकाश करने वाली सात प्रकार की जिह्वा हैं अर्थात् सब पदार्थों को ग्रहण करने वाली होती हैं।

अग्नि की इन सातों किरणों को वैज्ञानिक भाष्यसार में समझें। महर्षि लिखते हैं कि 'प्रजा' ही 'नर' है और 'वाक्' ही 'शंस' है अर्थात् वाग्युक्त प्रजा ही नराशंस है। हमारी दृष्टि में 'प्रजा' शब्द का अर्थ विभिन्न उत्पन्न पदार्थ (कण वा तरंग) है। नेब्यूला वा तारों में प्रधानता से अग्नि और सोम पदार्थ ही होते हैं। उनमें भी इनके सम्मिश्रण से एवं वाक् तत्त्व के विशेष योग से अग्नि तत्त्व ही प्रधान होता है। इसी कारण ऊपर हमने नराशंस का अर्थ अग्नि ही किया है। इस ऋग् रश्मि के कारण सम्पूर्ण नेब्यूला वा तारे में विद्यमान पदार्थ अग्नि और वाक् तत्त्व से किंवा तेजस्वी अग्नि तत्त्व से तृप्त होता है। इस याज्या छन्द रश्मि के साथ प्रयाज संज्ञक छन्द रश्मि के रूप में आचार्य सायण ने पूर्वोक्त ऋचा ऋ.१.१८८.२ को ही स्वीकार किया है, हम भी इससे सहमत हैं। इस प्रकार वे तारे दोनों को विशेष रूप से धारण करते हुए विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को संचालित करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदनन्तर एक गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिसके प्रभाव से नेब्यूला वा तारों के अन्दर विभिन्न प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती हैं। यद्यपि इससे पूर्व भी विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न हो ही चुकी होती हैं, पुनरपि यहाँ इनके कुछ स्पष्ट विभाग हो जाते हैं, जिनका यहाँ वर्णन किया गया है। वे विभाग निम्नानुसार हैं-

(१) काली- अर्थात् शुक्लादि रंगों का प्रकाश करने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगें। इसका तात्पर्य है कि ये किरणें दृश्य प्रकाश तरंगें हैं, जिनमें आधुनिक विज्ञान सात रंग बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी, व लाल रंग का होना मानता है। ये सब मिलकर श्वेत रंग का रूप धारण कर लेते हैं तथा सभी रंग अवशोषित होने पर काले रंग का रूप प्रकट होता है।

(२) कराली- अर्थात् दुःसहा = कठिन बलयुक्त। इसका अभिप्राय यह है कि ये किरणें अतीव ऊर्जायुक्त भेदन शक्ति-सम्पन्न होती हैं। हमारे मत में गामा किरणें, विशेषकर कॉस्मिक गामा किरणें इसी श्रेणी की किरणें हैं। एक्स-रे भी इसी श्रेणी में मानी जा सकती हैं।

(३) मनोजवा- अर्थात् मन के समान वेग वाली। हम जानते हैं कि मन की रश्मियां अव्याहत गति से सर्वत्र विचरती हैं। उन्हें कहीं किसी बाधा से नहीं रोका जा सकता। ब्रह्माण्ड से आने वाले न्यूट्रिनोज् को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

(४) सुलोहिता- अर्थात् सुन्दर लाल रंग वाली किरणें। हम पूर्व में काली किरणों में लाल रंग की दृश्य प्रकाश किरणों को भी ग्रहण कर चुके हैं। हमारी दृष्टि में इसमें अवरक्त अर्थात् ऊष्मा तरंगों को ग्रहण कर सकते हैं। इन किरणों का रंग भी सुन्दर लाल होता है परन्तु इसे आँखों से देखना सम्भव नहीं होता। हमारी दृष्टि में सभी रंग, रूप प्रकाशयुक्त होते हुए भी हमारे द्वारा दृश्य प्रकाश की श्रेणी में नहीं आते, इस कारण उन्हें देखा जाना सम्भव नहीं हो पाता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनका कोई रंग नहीं होता।

(५) सुधूम्रवर्णा- अर्थात् सुन्दर धूंए के रंग वाली। हमारी दृष्टि में परावैंगनी किरणें इस श्रेणी में आती हैं। कदाचित् इनका रंग सुन्दर बैंगनी होता हो परन्तु दृश्य प्रकाश की श्रेणी में नहीं आने से दिखाई न देती हों। इस बैंगनी में नील, श्वेत, श्याम आदि का भी कुछ मिश्रण हो सकता है।

(६) स्फुलिंगिनी- अर्थात् जिसमें अनेक प्रकार के कण ही तरंग रूप में प्रवाहित होते हैं। हमारे मत में ब्रह्माण्ड में वा किसी भी तारे से इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन्स आदि विद्युदावेशित कण भी सतत इस अन्तरिक्ष में

उत्सर्जित होते रहते हैं। वे भी अपना एक प्रकाश उत्पन्न करते रहते हैं। पृथिवी के उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों पर Aurora के रूप में सुन्दर प्रकाश इन्हीं का रूप सर्वविदित है।
(७) विश्वरूपी– अर्थात् जिसमें उपर्युक्त किरणों के सभी गुण कुछ-कुछ अंशों में विद्यमान होती हैं। हमारी दृष्टि में रेडियो तरंगें इस श्रेणी में आती हैं।।

४. इळो यजत्यन्नं वा इळोऽन्नमेव तत्प्रीणात्यन्नं यजमाने दधाति।।

{परुच्छेपः = इन्द्र उ वै परुच्छेपः (कौ.ब्रा.२३.४), असुरीन्द्रं प्रत्यक्रमत पर्वन्पर्वन्मुष्कान्कृत्वा तामिन्द्रः प्रतिजिगीषन्पर्वन्पर्वञ्छेपांस्यकुरुत। (कौ.ब्रा.२३.४), (मुष्कम् = ढेर समुच्चय - 'मुष्कः' का छान्दस रूप - आप्टे)। शेपः = उपस्थेन्द्रियम् (म.द.य.भा.१६.८८)। अष्टिः = (अशुङ् व्याप्तौ)। वनिनः = रश्मिमतः (सूर्यस्य) (म.द.ऋ.भा.१.१८०.३), वनस्य संविभागस्य रश्मीनां (म.द.ऋ.भा.१.६४.१०), किरणवन्तः (म.द.ऋ.भा.७.४.५), वनं रश्मिसम्बन्धो विद्यते येषां ते वायवः (म.द.ऋ.भा.१.३६.३)। सद्मन् = सद्मनी द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)। अद्रिः = मेघनाम (निघं.१.१०), अद्रिरादृणात्येनेन अपि वाऽत्तेः स्यात् (नि.४.४)। अररिन्दानि = उदकनाम (निघं.१.१२)। पुरोहितः = यः पुरस्तात् सर्वं जगद् दधाति, छेदनधारणाऽऽकर्षणादिगुणाँश्चापि सः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१.१)। रत्नम् = धननाम (निघं.२.१०), रमणीयस्वरूपम् (म.द.ऋ.भा.१.५८.७)। जमदग्निः = प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा (नि.७.२४), (जमत् = ज्वलतो नाम - निघं.१.१७)। यहः = महन्नाम (निघं.३.३)। श्लोकः = श्लोकः वाङ्नाम (निघ.१.११) (श्लोकृ संघाते)}

व्याख्यानम्– यहाँ आचार्य सायण ने

होता॑ यक्षद् व॒निनो॑ वन्त॒ वार्यं॒ बृह॒स्पति॑र्यजति वे॒न उ॒क्षभिः॑ पुरु॒वारे॑भिरु॒क्षभिः॑।
जगृ॒भ्मा दू॒रआ॑दिशं॒ श्लोक॒मद्रे॒रध॒ त्मना॑।
अधा॑रयदर॒रिन्दा॑नि सु॒क्रतुः॑ पु॒रू सद्मा॑नि सु॒क्रतुः॑।। (ऋ.१.१३९.१०),

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्। होता॑रं रत्न॒धात॑मम्।। (ऋ.१.१.१)

से प्रेरित होकर होता के द्वारा

आ॒जुह्वा॑न॒ ईड्यो॒ वन्द्य॒श्चा ऽऽया॑ह्यग्ने॒ वसु॑भिः स॒जोषाः॑।
त्वं दे॒वाना॑मसि यह्व॒ होता॒ स ए॑नान्यक्षीषि॒तो यजी॑यान्।। (ऋ.१०.११०.३)

याज्या के पठन का विधान किया है। इसका तात्पर्य हमारी दृष्टि में यह है कि नेब्यूला व तारों की पूर्वोक्त स्थिति में परुच्छेप ऋषि अर्थात् ऐसा सूक्ष्म प्राण, जो तीव्र विद्युत् वायु अर्थात् इन्द्र का रूप होता है, जिसमें अनेक सन्धियां होती हैं और हर सन्धि से तेजस्वी उत्पादक रश्मियां उत्सर्जित होती रहती हैं, से बृहस्पतिदेवताक

होता॑ यक्षद् व॒निनो॑ वन्त॒ वार्यं॒ बृह॒स्पति॑र्यजति वे॒न उ॒क्षभिः॑ पुरु॒वारे॑भिरु॒क्षभिः॑।
जगृ॒भ्मा दू॒रआ॑दिशं॒ श्लोक॒मद्रे॒रध॒ त्मना॑।
अधा॑रयदर॒रिन्दा॑नि सु॒क्रतुः॑ पु॒रू सद्मा॑नि सु॒क्रतुः॑।। (ऋ.१.१३९.१०)

की उत्पत्ति होती है। इसका छन्द निचृदष्टिः है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से विद्युद्रूपाग्नि अत्यन्त व्यापक और भेदन शक्तियुक्त होती है। इसके अन्य प्रभाव से {उक्षन् = महन्नाम (निघं.३.३)} विभिन्न पदार्थों को संगत करने वाली यूप रूप तरंगें सबको आकर्षित करके अपने साथ बांधने वाले सूत्रात्मा वायु के साथ संगत होती हैं और वह सूत्रात्मा वायु अत्यन्त व्यापक और सबके साथ सदैव संयुक्त रहकर उनमें अपने सूक्ष्म बल की वृष्टि करने वाला होता है। इस सूत्रात्मा वायु के साथ संगत होकर यूप रूप तरंगें व्यापक स्तर पर प्रकाशित और अप्रकाशित कणों को अपने साथ धारण करने में विशेष कर्मशील होती हैं। इसके साथ ही वे यूप तरंगें विभिन्न पदार्थों को संयुक्त करने में विशेष क्रियाशील वाक् तत्त्व की रश्मियों को अच्छी प्रकार उसी तरह धारण करती हैं, जिस प्रकार मेघ दूर-२ तक जल को धारण किया करते हैं।

इसके साथ ही **मधुच्छन्दा ऋषि** अर्थात् सबको आच्छादित करने की प्रकृति वाले सूक्ष्म प्राण विशेष से अग्निदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।। (ऋ.१.१.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से नेब्यूला वा तारों में अग्नि तत्त्व का तेज और बल समृद्ध होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि तत्त्व, जो पूर्व से ही सबका धारक, धारण, आकर्षण-प्रतिकर्षण, छेदन, वेग, प्रकाश, दाह, और रूप इन आठ गुणों से युक्त होता है और इनसे युक्त होकर विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएं करने वाला, अत्यन्त रमणीय स्वरूपयुक्त, विभिन्न ऋतु प्राणों से उत्पन्न व उनको संगत करने वाला होता है, वह विभिन्न कणों और तरंगों को अच्छी प्रकार प्रेरित करता है।

उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियों से प्रेरित होकर नेब्यूला वा तारों में **जमदग्निराम ऋषि** अर्थात् जलती हुई अग्नि की विविध क्रीड़ा करने वाली प्राण रश्मियों से आप्रियदेवताक एवं आर्चीत्रिष्टुप् छन्दस्क

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा ऽऽयाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्।। (ऋ.१०.११०.३)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से तीव्र ज्वालाएं सब ओर से सबको आकर्षित करती हैं। इसके अन्य प्रभाव से महान् अग्नि तत्त्व सब ओर से प्रकाशित होकर नेब्यूला वा तारों में विद्यमान विभिन्न पदार्थों के साथ संगत होकर उन सबको सब ओर से संगत करता है। यह महान् अग्नि पूर्वोक्त यूप रूप तरंगों का ही रूप है।

इस ऋचा को आचार्य सायण ने याज्या कहा है। इसका तात्पर्य है कि यह ऋचा स्त्रीरूप होकर पूर्वोक्त प्रयाज रूपी ऋचाओं के साथ अति निकटता से संयुक्त होकर ही अपना कार्य करती है। इस याज्या रूप छन्द रश्मि के साथ पूर्वोक्त आप्री सूक्त की तृतीय ऋचा को मुख्य प्रयाज रूप में मानना चाहिये। इस रश्मि के प्रभाव से यूप तरंगें विभिन्न संयोज्य तरंग वा कणों का यजन करती हैं, जिसके कारण नेब्यूला वा तारे विभिन्न संगमनीय कण वा तरंगों को विविध रूप से धारण करते हैं और ऐसा करके उनके अन्दर चल रही विविध प्रक्रियाएं तृप्त होती रहती हैं। यहाँ इडा संज्ञक किरणों की भी अन्न की संज्ञा की है, इसका गम्भीर विज्ञान है, जिसके विषय में वैज्ञानिक भाष्यसार में देखें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त क्रम में निचृदष्टि और गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जिनसे तारों वा नेब्यूलाओं में अत्यन्त तीव्र भेदन शक्तियुक्त विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होने लगते हैं तथा इनके अन्दर विभिन्न सृजन प्रक्रियाएं तीव्र होने लगती हैं। उस स्थिति में एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उन जलते नेब्यूला वा तारों के अन्दर उत्पन्न होती है, जिसके प्रभाव से यूप रूप तरंगें और भी प्रचण्ड एवं विभिन्न पदार्थों को संगत करने में अधिक सक्षम हो जाती हैं। यह त्रिष्टुप् छन्द रश्मि पूर्वोक्त रश्मियों के साथ अति निकटता से संयुक्त रहती है और फिर विभिन्न तरंगों और कणों को तीव्रता से संयुक्त करने में समर्थ होती है। **यहाँ ऊर्जा को अन्न कहने का गम्भीर विज्ञान है। संलयन के समय अनेक प्रकार के विकिरण उत्पन्न होते हैं, जो वहाँ उपस्थित द्रव्य द्वारा अवशोषित कर लिये जाते हैं और**

उनके साहाय्य से वह द्रव्य पुनः संलयन करके अन्य पदार्थ को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वे विकिरण मानो यज्ञ रूपी यजमान तारे वा नेब्यूलाओं द्वारा धारण किये जाते हैं।।

५. बर्हिर्यजति, पशवो वै बर्हिः, पशूनेव तत्प्रीणाति, पशून् यजमाने दधाति।।

{वस्तोः = वासयितुम् (म.द.ऋ.भा.१.१७४.३)। प्रदिशा = आज्ञया (म.द.ऋ.भा.१.१६४.३६)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर पूर्वोक्त जमदग्निराम ऋषि प्राण से पूर्वोक्त आप्रिय देवता एवं पादनिचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्।। (ऋ.१०.११०.४)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत और छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से नेब्यूला वा तारों के केन्द्रों के अन्दर, जो पूर्व में सबको बसाने वाले अर्थात् विभिन्न तरंगों को धारण करने वाले अप्रकाशित कणों के आकर्षण के द्वारा विभिन्न प्रकार की मरुत् और छन्द रश्मियां उनके निकट संगृहीत होती हैं, यूप रूप तरंगों के इस रश्मि के साथ संगत होने पर वे छन्द रश्मियां उत्तम प्रकार से विस्तार को प्राप्त होती हैं, जिससे नेब्यूला वा तारों के अन्दर प्रकाशित और अप्रकाशित सभी कण सहजतया सृजन कर्म में विशेष समर्थ होते हैं। यहाँ विभिन्न छन्द और मरुत् रश्मियों एवं विभिन्न दृश्य अणुओं को ही वर्हि कहा गया है और ये **सभी पदार्थ इस रश्मि के द्वारा** तृप्त होकर **निर्माणाधीन** तेजस्वी लोकों के द्वारा धारण किये जाते हैं। यह छन्द रश्मि भी याज्या संज्ञक होने से पूर्वोक्त प्रयाज संज्ञक रश्मियों के साथ अति निकटता से संयुक्त रहती है और उन दोनों के संयुक्त होने से ही प्रभावी हो पाती है। यहाँ मुख्य प्रयाज के विषय में पूर्वोक्त आप्री सूक्त की चतुर्थ ऋचा का ग्रहण करना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदनन्तर एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर विभिन्न कणों के द्वारा विभिन्न छन्द और मरुद् रश्मियों एवं विभिन्न दृश्य अणुओं की संगतीकरण प्रक्रिया को अत्यन्त तीव्र और व्यापक बनाकर तारे आदि लोकों को विभिन्न तेजयुक्त पदार्थों से संगत करने में सहायक होती है।।

६. दुरो यजति, वृष्टिर्वै दुरो वृष्टिमेव तत्प्रीणाति, वृष्टिमन्नाद्यं यजमाने दधाति।।

{दुरः = द्वाराणि (म.द.य.भा.२०.३६), वृष्टिर्वै दुरः (ऐ.२.४), वृष्टिः = दुष्टानां शक्तिबन्धिका शक्तिः (म.द.ऋ.भा.१.१५२.७), वृष्टिः (प्रजापतिः) तम् (पाप्मानम्) अवृश्चत्-यदवृश्चत् तस्माद् वृष्टिः (तै.ब्रा.३.१०.६.१)। व्यचस्वतीः = गमनाऽवकाशयुक्ताः (म.द.य.भा.२८.२८), व्याप्तिमत्यः (म.द.य.भा.२०.६०)। उर्वी = पृथिवीनाम (निघं.१.१), बहुरूपादीप्तिः (तु.म.द.ऋ.भा.६.६.४), द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०), उर्व्य ऊर्णोतेः, वृणोतेरित्यौर्णवाभः (नि.२.२६)। शुम्भमाना = (शुम्भ शोभार्थे = चमकना, देदीप्यमान होना, सुन्दर होना- सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक)। सुप्रायणाः = सुप्रायाणाः सुप्रगमनाः (नि.४.१८)। जनयः = आपो वै जनयोऽद्भ्यो हीदं सर्वं जायते (श.६.८.२.३)।}

व्याख्यानम्- यहाँ सायण ने याज्या संज्ञक

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।

देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः।। (ऋ.१०.११०.५)

के पाठ का विधान किया है, इसका आशय हमारी दृष्टि में इस प्रकार है- पूर्वोक्त जमदग्निराम ऋषि प्राण से आप्रियदेवताक और निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क उपर्युक्त ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इनके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित कण, जो सम्पूर्ण नेब्यूला वा तारों के अन्दर व्याप्त रहते हैं, वे दोनों ही प्रदीप्त होकर एक दूसरे को आश्रय देते हैं। वे दोनों परस्पर संगमन करते हुए तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं। यहाँ अग्नि का आश्रय पृथिवी अर्थात् अप्रकाशित कण होते हैं, जिसमें अग्नि सदैव अपना तेज प्रवाहित करता रहता है। इसको उपमा देते हुए महर्षि कहते हैं कि अग्नि और पृथिवी का संयोग उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार विभिन्न आपः अर्थात् प्राण तत्त्व अथवा सोम तत्त्व देदीप्यमान होते हुए अपने पतिरूप सूत्रात्मा वायु के साथ सदैव संयुक्त रहता है। ये व्यापक तत्त्व विभिन्न मार्गों पर विचरण करते हुए {मिन्वन् = (डुमिञ् प्रक्षेपणे)} एक दूसरे को प्रक्षेपित करते हुए प्रकाशन आदि कर्मों के लिये सम्यक् गति प्राप्त करते और कराते हैं। वे पदार्थ दुरः अर्थात् वृष्टि किंवा अप्रकाशित बाधक विद्युत् वायु को नष्ट वा नियन्त्रित करके दूर प्रक्षिप्त कर देते हैं और उस प्रक्षेपक शक्ति से सभी तारे और नेब्यूला आदि पूर्णतः तृप्त होकर उनमें विभिन्न संयोज्य कणों को परस्पर संगत होने के लिए प्रेरित करते हैं। यह भी याज्या संज्ञक होने से पूर्वोक्त प्रयाज रश्मियों से मिथुन करती हैं। यहाँ मुख्य प्रयाज के रूप में पूर्वोक्त आप्री सूक्त की पांचवीं ऋचा का ग्रहण करना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इसी क्रम में एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जो विभिन्न कणों और विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को परस्पर संयुक्त करने में सहायक होती है। **विभिन्न फोटोन्स विभिन्न कणों के अन्दर उसी प्रकार व्याप्त हो जाते हैं, जिस प्रकार विभिन्न प्राण रश्मियों के अन्दर सूत्रात्मा वायुरूप प्राण रश्मि व्याप्त रहती है।** ये दोनों प्रकार के संगत पदार्थ एक-दूसरे के अन्दर अपना तेज प्रवाहित करते रहते हैं। विभिन्न कण और विद्युत् चुम्बकीय तरंगें संयुक्त होकर तीव्र रूप से गतिमान होते रहते हैं और उनकी विभिन्न गतियों के कारण ही ऊर्जा उत्सर्जन और अवशोषण की क्रियाएं भी सम्पादित हुआ करती हैं। तीव्र ऊर्जा अप्रकाशित बाधक ऊर्जा को बलपूर्वक दूर प्रक्षिप्त कर देती है और ऐसी प्रक्षेपक ऊर्जा से सभी तारे आदि तृप्त होकर विभिन्न प्रकार के नवीन-२ तत्त्वों के निर्माण में सफल हो पाते हैं।।

७. उषासानक्ता यजति, अहोरात्रे वा उषासानक्ताऽहोरात्रे एव तत्प्रीणात्यहोरात्रयोर्यजमानं दधाति।।

{सुष्वयन्ती = सुष्ठु शयाने इव (म.द.य.भा.२९.३१), (सु+ञिष्वप् शये धातोः शत्रन्तान् ङीप्। पकारस्य यकारश्छान्दसः = वै.को. आ. राजवीर शास्त्री), सेयष्मीयमाणे इति वा सुष्वापयन्त्याविति वा अर्थात् मुस्कुराती हुई अथवा सुन्दर प्रकार से सुलाती हुई (नि.८.११)। नक्ता = रात्रिनाम अनक्ति भूतान्यवश्यायेन अपि वा नक्ता अव्यक्तवर्णा (नि.८.१० पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर-भाष्य)। उपाके = अन्तिकनाम (निघं.२.१६), उपाके उपक्रान्ते (नि. ८.११)। योषणे = स्त्रियाविव (म.द.य.भा.२९.३१)। शुक्रपिसम = शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। पेश इति रूपनाम (नि.८.११)}

व्याख्यानम्- यहाँ सायण ने

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने।। (ऋ.१०.११०.६)

ऋचा का याज्या के रूप में पठन का विधान किया है। यहाँ याज्या का कर्म पूर्ववत् समझें और शेष आशय इस प्रकार है कि उस समय पूर्वोक्त जमदग्निराम ऋषि प्राण से आप्रियदेवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क उपर्युक्त ऋ.१०.११०.६ छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, जिसका दैवत और छान्दस् प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से नेब्यूला वा तारों के अन्दर प्रकाशशील एवं अप्रकाशशील दोनों ही कण परस्पर संगत होते हुए व्याप्त हो जाते हैं। वे दोनों प्रकार के पदार्थ परस्पर संगमनीय किंवा अन्य पदार्थों के प्रति मिश्रीभाव रखने वाले उत्तम दीप्ति और रूप से युक्त अपने कारण प्राणादि तत्त्वों में सम्यक् वर्तमान होते हैं।

महर्षि लिखते हैं कि उषा और रात्रि रूप ये उपर्युक्त दोनों पदार्थ अहोरात्र संज्ञक होते हैं। **ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशित पदार्थों में प्राण नामक प्राण तत्त्व और अप्रकाशित पदार्थों में अपान नामक प्राण तत्त्व की प्रधानता होती है।** इसके साथ ही **प्रकाशित पदार्थ अग्नि तत्त्व प्रधान और अप्रकाशित पदार्थ सोम तत्त्व प्रधान होते हैं।** इस छन्द रश्मि के प्रभाव से वे अग्नि और सोम किंवा प्राण और अपान दोनों ही तत्त्व विशेष सक्रिय होकर सृजन प्रक्रियाओं को और भी गतिशील बनाते हैं क्योंकि वे दोनों पदार्थ इस रश्मि के प्रभाव से तीव्र तेज और बल से युक्त होकर एक दूसरे को अच्छी प्रकार धारण करने में विशेष समर्थ होते हैं। यहाँ मुख्य प्रयाज के रूप में पूर्वोक्त आप्री सूक्त की छठी ऋचा को ग्रहण करना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के प्रभाव से नेब्यूला वा तारों के अन्दर विद्यमान अग्नि और सोम पदार्थ, जो पूर्व में क्रमशः प्रकाशित और अप्रकाशित रूप वाला होता है, विशेष प्रकाशित हो उठता है। यहाँ विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विभिन्न कणों के द्वारा अवशोषित कर ली जाती हैं, जिसके कारण वे सभी कण तीव्र ऊर्जावान् होकर अति गर्म एवं देदीप्यमान होकर परस्पर तेजी से संगत होकर नये-२ नाभिकों एवं आयनों का निर्माण करने लगते हैं।।

८. दैव्या होतारा यजति, प्राणापानौ वै दैव्या होतारा, प्राणापानावेव तत्प्रीणाति, प्राणापानौ यजमाने दधाति।।

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता।। (ऋ.१०.११०.७)

ऋचा को याज्या के रूप में पढ़ने का विधान किया है। याज्या कर्म को पूर्ववत् समझें। अन्य आशय इस प्रकार है- उस समय पूर्वोक्त जमदग्निराम ऋषि प्राण से आप्रियदेवताक और त्रिष्टुप् छन्दस्क

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता।। (ऋ.१०.११०.७)

की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न पदार्थों के मूल संगतीकर्ता दिव्य वायु में होता रूप में विद्यमान प्राण और अपान तत्त्व उत्तम वाक् तत्त्व से संयुक्त होकर विभिन्न लोकों के सृजनयज्ञ का निर्माण करने के लिए विभिन्न प्रकार के कणों और तरंगों में परस्पर संगत होने की विशेष प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। वे प्राण और अपान तत्त्व पूर्व में ही उत्पन्न ज्योतिर्मय पदार्थ को विशेष मार्ग में प्रेरित करते हुए तारों के निर्माण की प्रक्रिया को और भी अधिक गति देते हैं। इस ऋचा रूप रश्मि से वे प्राण और अपान अधिक तृप्त वा सक्रिय होकर नेब्यूला वा तारों के अन्दर एक-दूसरे के साथ अधिक संगम और सामंजस्य धारण करते हैं। यहाँ मुख्य प्रयाज के रूप में पूर्वोक्त आप्री सूक्त की सातवीं ऋचा का ग्रहण करना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त त्रिष्टुप् रश्मि के प्रभाव से नेब्यूला वा तारे आदि लोकों में मूलरूप से संगतीकारक प्राण और अपान रश्मियां विशेष सक्रिय होती हैं और इनके सक्रिय होने से तारों के अन्दर होने वाली विभिन्न प्रक्रियाएं भी तेज हो जाती हैं।।

९. तिस्रो देवीर्यजति, प्राणो वा अपानो व्यानस्तिस्रो देव्यस्ता एव तत्प्रीणाति ता यजमाने दधाति।।

{तूयम् = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५), उदकनाम (निघं.१.१२), वर्धकम् (म.द.य.भा.२६.३३)। स्वपसः = सु-अपस्पदयोः समासः, अपः कर्मनाम (निघं.२.१), स्वपसः सुकर्माणः (नि.८.१३)}

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु।। (ऋ.१०.११०.८)

याज्या के पाठ का विधान किया है। याज्या के स्वरूप और कर्म को पूर्ववत् समझें। अन्य आशय इस प्रकार है-

पूर्वोक्त जमदग्निराम ऋषि प्राण से आप्रियदेवताक एवं पादनिचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव को पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से तारों वा नेब्यूलाओं के अन्दर दिव्य वायु के अंगभूत प्राण, अपान एवं व्यान, तीनों पूर्वापेक्षया अधिक सक्रिय हो जाते हैं और ये तीनों ही सभी प्रकार के कर्मों को करने में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं {सरस्वती = नदीनाम (निघं.१.१३) {नदी = नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः (नि.२.२४)} इनके कारण तारों और नेब्यूलाओं में विभिन्न प्रकाशित एवं विद्युत्-आवेशित कणों की धाराएं तीव्र गति से गर्जना के साथ प्रवाहित होती रहती हैं और वे धाराएं देदीप्यमान होती हुई सम्पूर्ण क्षेत्र को भली प्रकार व्याप्त करके उसे अधिक सक्रिय और प्रकाशित करती हैं।

महर्षि ऐतरेय महीदास प्राण, अपान और व्यान को देवी पद से सम्बोधित करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि महत् वा अहंकार तत्त्व के पश्चात् जो दिव्य वायु उत्पन्न होता है, उसमें ये तीन प्रकार के प्राण प्रधान रूप से सक्रिय एवं अन्यों को भी सक्रिय करने वाले होते हैं। इनके विना ब्रह्माण्ड में किसी भी प्रकार की सक्रियता सम्भव नहीं है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से ये तीनों ही प्राण और अधिक सक्रिय होकर सृजन प्रक्रिया को समृद्ध करते हैं। यहाँ मुख्य प्रयाज के रूप में पूर्वोक्त आप्री सूक्त की आठवीं ऋचा का ग्रहण करना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मि तारों व नेब्यूलाओं के अन्दर प्राण, अपान और व्यान रश्मियों को अधिक सक्रिय रखने में सहायक होती है और इनके सक्रिय होने पर विद्युत्-आवेशित कणों की तीव्र धाराएं तारों व नेब्यूलाओं के अन्दर गर्जनयुक्त होकर तीव्रता से प्रवाहित होने लगती हैं। इसके कारण तारे अति सक्रिय होकर तेजस्वी हो उठते हैं।।

१०. त्वष्टारं यजति, वाग्वै त्वष्टा वाग्घीदं सर्वं ताष्टीव वाचमेव तत्प्रीणाति वाचं यजमाने दधाति।।

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।

तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्।। (ऋ.१०.११०.६)

इस याज्या संज्ञक ऋचा के पाठ का विधान किया है। यहाँ याज्या का स्वरूप व कर्म पूर्ववत् समझें। अन्य आशय इस प्रकार है-

पूर्वोक्त जमदग्निराम ऋषि से आप्रियदेवताक और त्रिष्टुप् छन्दस्क उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से सबसे सूक्ष्म छेदक तत्त्व वाग् रूपी त्वष्टा विभिन्न लोकों में होता रूप बनकर अतिशय सक्रिय होता है, जिससे वह विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित कणों को तीव्रता से उत्पन्न करके विभिन्न तारों वा नेब्यूलाओं को अनेक रूपों से युक्त करता है। फिर इसके कारण तारों में विभिन्न प्रकार के तत्त्वों की सृजन प्रक्रिया तीव्रतर होने लगती है।

यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास ने वाक् तत्त्व को त्वष्टा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वाक् तत्त्व छेदन और भेदन के सामर्थ्य से युक्त होता है। इस सृष्टि में जितने भी छेदन और भेदन के सामर्थ्य से युक्त पदार्थ हैं, उन सभी के भीतर वाक् तत्त्व का ही सामर्थ्य विद्यमान होता है। उस ऐसे वाक् को इस छन्द रश्मि के द्वारा और भी सक्रियता प्राप्त होती है। इस प्रकार इस रश्मि के सहयोग से नेब्यूला वा तारे वाक् तत्त्व से अति प्रबलता से संयुक्त कणों वा तरंगों को विशेष रूप से धारण करने वाले होते हैं। यहाँ मुख्य प्रयाज के रूप में पूर्वोक्त आप्री सूक्त की नवमी ऋचा का ग्रहण करना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के कारण विभिन्न तारों वा नेब्यूलाओं में वाक् तत्त्व पूर्वापेक्षया अधिक सक्रिय होता है। इस सृष्टि में जो भी कण वा तरंग भेदक शक्तिसम्पन्न होती हैं, उन सभी के अन्दर भेदन सामर्थ्य मूलतः वाक् तत्त्व के कारण ही होता है। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में ज्ञात विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में से cosmic gamma rays सबसे अधिक भेदक क्षमतायुक्त होती हैं। इससे अधिक क्षमता वाला एकमात्र कण न्यूट्रिनो माना जाता है। इस **न्यूट्रिनो अथवा गामा किरणों आदि सभी पदार्थों की भेदन क्षमता वाक् तत्त्व के कारण ही होती है**। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से वाक् तत्त्व और अधिक सक्रिय होकर तारों वा नेब्यूलाओं को अति सक्रिय कर देता है।।

११. वनस्पतिं यजति, प्राणो वै वनस्पतिः, प्राणमेव तत्प्रीणाति प्राणं यजमाने दधाति।।

{पाथः = मार्गम् (म.द.ऋ.भा.३.८.६), पाथोऽन्तरिक्षं.....उदकमपि पाथ उच्यते। पानात्। अन्नमपि पाथ उच्यते। पानादेव। (नि.६.७)। स्वदन्तु = प्राप्नुवन्तु (म.द.य.भा.२६.३५), (स्वदति अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४ - वै.को. से उद्धृत)। प्राणः = तन्मनस्स प्राणः (जै.उ. १.१७.१.२)}

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन।। (ऋ.१०.११०.१०)

इस याज्या संज्ञक इस ऋचा के पठन का विधान किया है। याज्या के स्वरूप और कर्म को पूर्ववत् समझें। अन्य आशय इस प्रकार है-

उपर्युक्त क्रम में पूर्वोक्त जमदग्निराम ऋषि प्राण से आप्रियदेवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्रकार की रश्मियों का पालक और रक्षक मन रूपी मुख्य प्राण अपने में सबका लय

करने वाला और मूलतः सबको प्रकाश और गति देने वाला होता है, वह ऐसा मनस् तत्त्व विभिन्न प्राणों तथा संदीप्त तेज से युक्त अग्नि तत्त्व को विशेष प्रकाशित करता है। इस ब्रह्माण्ड में महत् तत्त्व को छोड़कर जितने भी पदार्थों में प्रकाश और क्रियाशीलता विद्यमान है, उसका अन्तिम उपादान कारण यही मनस् तत्त्व है। (यद्यपि महत् तत्त्व और मनस् तत्त्व में भेद करना अति कठिन कार्य है)। इस रश्मि के प्रभाव से यूप रूप तरंगें मनस् तत्त्व से और भी प्रेरित होकर समय-२ पर विभिन्न प्रकाशित कणों वा तरंगों को मास रश्मियों के साथ संयुक्त करके अधिक व्यक्ततर बनाती हैं, जिससे सम्पूर्ण पदार्थ और भी क्रियाशील हो उठते हैं।

यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास ने प्राण वा मनस्तत्त्व को वनस्पति कहा है। इसका कारण यह है कि संसार में जितनी भी स्थूल वा सूक्ष्म रश्मियाँ हैं, वे सभी विभिन्न प्राणों से ही उत्पन्न होती हैं और सभी प्राण मनस्तत्त्व के अन्दर ही प्रतिष्ठित होते हैं। इसलिए कहा- "मन इदं सर्वमेकं भूत्वा प्राणे प्रतिष्ठितम्।" (जै.ब्रा.३.३७१), "मनसा हि प्राणो धृतः।" (काठ.२७.१), "मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः।" (श.१४.३.२.३)। इस रश्मि के द्वारा यूप तरंगों में विद्यमान मनस्तत्त्व भी प्रभावित होकर तारों वा नेब्यूलाओं के अन्दर विभिन्न प्रकार के प्राण तत्त्वों को धारण और संयोजित करने में अधिक समर्थ वा सक्रिय होता है। यहाँ मुख्य प्रयाज के रूप में पूर्वोक्त आप्री सूक्त की दशमी ऋचा का ग्रहण करना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के प्रभाव को दर्शाते हुए महर्षि कहते हैं कि ब्रह्माण्ड में समस्त प्रकाश और गति का अति सूक्ष्म कारण मनस्तत्त्व रूपी प्राण इस रश्मि से अधिक सक्रिय हो उठता है। **यह मनस्तत्त्व ऐसा प्राण है, जिसमें ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों का लय होता है और जिससे सब पदार्थों का उद्गम भी होता है।** ऐसे मनस् तत्त्व से पूर्वोक्त यूप रूपी तरंगें अधिक संगत होकर विभिन्न कण और तरंगों को परस्पर संगत रखते हुए भली प्रकार व्यक्त और संयोजक-बलयुक्त रखती हैं, जिससे उनका तेज और भी अधिक समृद्ध हो जाता है।।

१२. स्वाहाकृतीर्यजति, प्रतिष्ठा वै स्वाहाकृतयः प्रतिष्ठायामेव तद्यज्ञमन्ततः प्रतिष्ठापयति।।
ताभिर्यथऋष्याप्रीणीयाद्यद्यथऋष्याप्रीणाति,-यजमानमेव तद्बन्धुताया नोत्सृजति।।४।।

{स्वाहा-कृतयः प्राणा वै स्वाहाकृतयः (कौ.ब्रा.१०.५), अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः (श.१.५.३.१३), अनिरुक्तो वै स्वाहाकारः (श.२.२.१.३)}

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः।। (ऋ.१०.११०.११)

इस याज्या संज्ञक ऋचा के पठन का विधान किया है। यहाँ याज्या के स्वरूप और कर्म पूर्ववत् समझें। अन्य आशय इस प्रकार है-

पूर्वोक्त जमदग्निराम ऋषि प्राण से आप्रियदेवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव को पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से समस्त जड़ पदार्थों का आधार सूक्ष्मतम कार्यरूप पदार्थ मनस् तत्त्व तक प्रभावित होता है। यह मनस् तत्त्व सभी जड़ पदार्थों का प्रकृति के पश्चात् मूल उद्गम और लय का स्थान है। इसके प्रभावित होने से अग्नि तत्त्व उत्पन्न होते ही शीघ्रता से दूसरे पदार्थों के साथ संगत होता है। यह अग्नि तत्त्व ही सबको प्रकाशित करने वाला होता है। यह होतारूप अग्नि तत्त्व वाक् तत्त्व के संसर्ग में विभिन्न पदार्थों के द्वारा अवशोषित होता अथवा उन्हें अवशोषित करता है।

यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास ने प्रतिष्ठा को स्वाहाकृति कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मनस् तत्त्व सभी प्रकार के संयोग-वियोग की प्रक्रियाओं का अन्तिम एवं प्रथम स्थान है अर्थात् संयोग प्रक्रियाओं का प्रथम एवं वियोग प्रक्रियाओं का अन्तिम स्थान है। इस रश्मि के द्वारा उस अन्तिम स्थान तक विभिन्न पदार्थों की क्रियाशीलता समृद्ध होती है। यहाँ मुख्य प्रयाज के रूप में पूर्वोक्त आप्री सूक्त की ग्यारहवीं ऋचा का ग्रहण करना चाहिए।।

उपर्युक्त सभी छन्द रश्मियां जैसे-२ अपने-२ उत्पादक ऋषि अर्थात् सूक्ष्म प्राण से तृप्त होती हैं किंवा उसके द्वारा विशेषतया प्रभावित होती हैं, वैसे-२ ही वे अपने से तृप्त वा संयुक्त कणों वा तरंगों को तृप्त वा प्रभावित करती हैं। इससे प्रतीत होता है कि **जो छन्द रश्मि जिस ऋषिप्राण से उत्पन्न होती है, उसमें उसका प्रभाव अवश्यमेव होता है। वस्तुतः छन्द रश्मियां ऋषि प्राणों का ही तो विकार हैं। छन्द रश्मियां उन्हीं का स्थूल कार्य रूप हैं, इस कारण वे उन्हीं के गुणों से सर्वथा युक्त हों,** यह अनिवार्य ही है। **ऋषि प्राण एवं छन्द प्राण के इस कारण-कार्य सम्बन्ध के कारण साथ ही प्रेरक व प्रेरित सम्बन्ध के कारण ही सभी संगमनीय कण वा तरंग ऋषि प्राणों एवं उनके भी मूल ऋषि प्राण, अपान, व्यानादि प्राथमिक प्राणों व अन्ततः मनस्तत्त्व वा महत्तत्व तक सभी का अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है।** इसी सम्बन्ध के हेतु से सम्पूर्ण सृष्टि के सभी सूक्ष्म से स्थूल तक सभी पदार्थ परस्पर दृढ़ बन्धन से बंधे रहते हैं, वे परस्पर कभी सर्वथा दूर नहीं जा सकते।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस त्रिष्टुप् छन्द रश्मि का प्रभाव अन्तिम सूक्ष्म कार्य जड़ तत्त्व मनस् तक होता है। इसके कारण अग्नितत्त्व अधिक सक्रिय होकर अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की ऊर्जा में वृद्धि होकर नेब्यूला वा तारों में विभिन्न कणों व तरंगों का संयोग वियोग तीव्रता से होने लगता है।

इस खण्ड में दी हुई **सभी छन्द रश्मियां जिस-२ ऋषि अर्थात् सूक्ष्म प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती हैं, उन-२ ऋषि प्राण रश्मियों का प्रभाव उन छन्द रश्मियों के साथ भी अनिवार्यतः रहता है। उसी प्रभाव के साथ वे छन्द रश्मियां अन्य तरंगों वा कणों से संयुक्त वा वियुक्त होती रहती हैं। इस कारण वे सभी कण वा तरंगें ऋषि रूप सूक्ष्म प्राणों से भी बंधे रहते हैं।** उधर वे सभी ऋषि प्राण अपने कारणरूप प्राथमिक प्राणों, मन, वाक् आदि से भी प्रभावित होकर बंधे रहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि परस्पर बंधी रहती है। इसलिए कोई भी पदार्थ वा कण इस सृष्टि से नितान्त वहिर्गमन नहीं कर सकता।।

ॐ इति ६.४ समाप्तः ॐ

ॐ अथ ६.५ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. पर्यग्नये क्रियमाणायानुब्रूहीत्याहाध्वर्युः।।
'अग्निर्होता नो अध्वरे' इति तृचमाग्नेयं गायत्रमन्वाह पर्यग्निक्रियमाणे स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन च्छन्दसा समर्धयति।।

{उल्मुकः = उष्+मुक्, षस्य लः (आप्टे कोष)। प्रयः = प्रीणाति यः सः (म.द.ऋ.भा.१.११६.१), कमनीयम् (म.द.ऋ.भा.४.४६.३), अन्ननाम (निघं.२.७ - वै.को. से उद्धृत), उदकनाम (निघं.१.१२ - वै.को. से उद्धृत), त्रिविष्टि = आकाशे (म.द.ऋ.भा.४.६.४), (विष्टिः = विश प्रवेशने, धातोः क्तिन् - वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री)। आहवनीयः = स्वर्गो हि लोक आहवनीयः (क.४०.१.५), प्राणो-दानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च (श.२.२.२.१८)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर नेव्यूला वा तारों में एक अन्य प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। वह प्रक्रिया इस प्रकार है-

विभिन्न दृश्य कणों अथवा लोकों के चारों ओर अग्नि तत्त्व को समृद्ध करने वाली गायत्री छन्द रश्मियां आवृत हुआ करती हैं। इस विषय में आचार्य सायण ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ७.१५.२ को उद्धृत करते हुए लिखा है "आहवनीयादुल्मुकमादायाऽऽग्नीध्रः परि वाजपतिः कविरिति त्रिः प्रदक्षिणं पर्यग्निकरोति पशुम्"। इसका आशय यह है कि आग्नीध्र अर्थात् आकाश तत्त्व तारों के केन्द्रीय भाग से प्राण तत्त्व प्रधान ऊष्मा का ग्रहण करके ऋषि वामदेव अर्थात् मनस्तत्त्व से विशेष सम्पृक्त प्राण नामक प्राण तत्त्व से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं निचृद्गायत्री छन्दस्क

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे।। (ऋ.४.१५.३)

छन्द रश्मियों की तीन आवृत्तियों से विभिन्न दृश्य कणों वा लोकों को आवृत्त करता है। वस्तुतः वह आकाश तत्त्व इस रश्मि की तीन आवृत्तियों से मिश्रित होकर विभिन्न तारों एवं तारों के अन्दर दृश्य कणों को परिधि रूप में घेर लेता है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से वे कण वा लोक तीव्र तेजस्वी और बलयुक्त होते हैं। इन रश्मियों के अन्य प्रभाव से विभिन्न कण अनेक प्रकार के प्राणों के द्वारा रक्षित होकर क्रान्तदर्शी विद्युत् के तेज को धारण करते हुए अपने साथ संयोज्य अन्य कणों के चारों ओर सतत परिक्रमण करने वाले होते हैं। इसके साथ ही वे सभी कण स्वयं अपने अक्ष पर भी सतत घूर्णन करते रहते हैं। वस्तुतः यह छन्द रश्मि उपर्युक्त प्रभाव को उत्पन्न करने में केवल प्रेरक का कार्य करती है, जबकि इसके पूर्ण प्रभाव के लिये अग्रलिखित तीन छन्द रश्मियाँ उत्तरदायी होती हैं, जिनमें अन्तिम छन्द रश्मि स्वयं यही होती है।।

इसी क्रम में वामदेव ऋषि अर्थात् मनस्तत्त्व से विशेष सम्पृक्त प्राण नामक प्राथमिक प्राण से अग्निदेवताक

अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते। देवो देवेषु यज्ञियः।। (ऋ.४.१५.१)

इत्यादि तीन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जिनमें अन्तिम छन्द रश्मि "परि वाजपतिः......." ही है, जिसके विषय में ऊपर वर्णन किया गया है। प्रथम छन्द रश्मि का छन्द गायत्री और द्वितीय छन्द रश्मि का छन्द विराड् गायत्री है। इन दोनों के छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व तेजस्वी और बलवान् होता है। इनके अन्य प्रभाव से अग्नि तत्त्व अपने तेज और बल के साथ विभिन्न दृश्य कणों वा लोकों के चारों ओर परिधि रूप में व्याप्त हो जाता है। फिर वह अग्नि संयोज्य गुण धारण करके तीन स्तरों पर उन कणों वा लोकों के चारों ओर व्याप्त हो जाता है। इनके प्रभाव से वे कण वा लोक अधिक प्रकाशमान होते हुए अपने अक्ष पर घूर्णन करने लगते हैं और वह अग्नि भी इन छन्द रश्मियों के साथ मिश्रित होकर उन कणों वा लोकों के चारों ओर परिधि रूप में परिक्रमण करने लगता है। इस प्रकार वे लोक वा कण इस परिक्रमण के द्वारा अधिक समृद्ध और प्रकाशमान होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न दृश्य कण एवं लोक तीन प्रकार की गायत्री रश्मियों से आवृत्त होते हैं और उन रश्मियों के साथ ही उन कणों वा लोकों के चारों ओर विद्यमान आकाश तत्त्व भी कुछ संकुचित होकर उन लोकों वा तरंगों को विशेष रूप से आवृत्त कर लेता है। इन तीनों ही छन्द रश्मियों की उत्पत्ति प्राण नामक प्राण तत्त्व से होती है। **इन रश्मियों और आकाश तत्त्व के प्रभाव से वे कण और लोक अपने अक्ष पर घूर्णन करने के लिये प्रेरित होते हैं। इसके साथ ही उन रश्मियों का आवरण भी उन लोकों वा कणों के चारों ओर परिधि रूप में परिक्रमण करता है।** इस प्रक्रिया के प्रभाव से वे लोक वा कण न केवल अधिक देदीप्यमान हो उठते हैं, अपितु उनमें आकर्षण बल भी अधिक प्रबल हो उठता है।।
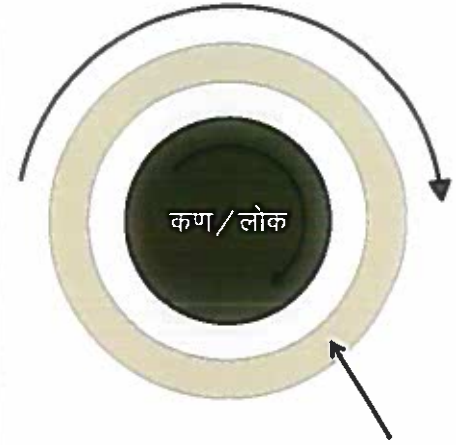
चित्र ६.७ कणों/ लोकों का घूर्णन

२. वाजी सन्परिणीयत इति वाजिनमिव ह्येनं सन्तं परिणयन्ति।। परित्रिविष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिवेति एष हि रथीरिवाध्वरं परियाति।। परि वाजपतिः कविरिति एष हि वाजानां पतिः।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त छन्द रश्मियों में से

अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते। देवो देवेषु यज्ञियः।। (ऋ.४.१५.१)

इसमें "वाजी सन्परिणीयते", इस पाद के प्रभाव से अग्नि तत्त्व आकाश तत्त्व के साथ मिश्रित होकर दृश्य कणों वा लोकों के निकट आकर्षित होता है और फिर उस कण वा लोक के चारों ओर परिधि में फैल जाता है। उस समय वह अग्नि तत्त्व अधिक आकर्षण गुणयुक्त होता है और इसी कारण वह उन कणों और लोकों के निकट आता है।।

उपर्युक्त ऋचाओं में से

परि त्रिविष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिव। आ देवेषु प्रयो दधत्।। (ऋ.४.१५.२)

इस अर्धर्च के प्रभाव से वह अग्नि तत्त्व विभिन्न प्राणों को साथ लेकर संगमनीय दृश्य कणों के चारों ओर परिक्रमण करता है। उसके साथ आकाश तत्त्व भी मिश्रित होकर उन कणों के चारों ओर प्राणों के साथ-२ परिक्रमण करता है।।

उपर्युक्त छन्द रश्मियों में से "परि वाजपतिः कविः" के प्रभाव से वह अग्नि तत्त्व संयोज्य कणों का नियन्त्रक वन जाता है। ऐसा इस कारण होता है कि उस अग्नि तत्त्व के साथ वलों के उत्पादक विभिन्न प्राण तत्त्व भी विद्यमान होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त छन्द रश्मियों और अग्नि तत्त्व के दृश्य कणों के चारों ओर परिक्रमण की प्रक्रिया दर्शाते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम एक रश्मि का भाग उस कण की ओर गतिशील होता है। उसके पश्चात् वह पूरी तरह से उस कण को आवृत्त कर लेता है। उसके पश्चात् सभी छन्द रश्मियां अग्नि और आकाश तत्त्व से मिश्रित होकर उस कण के चारों ओर त्रि-स्तरीय आवरण बना लेती हैं। उसके पश्चात् वह आवरण उन कणों के चारों ओर घूमने लगता है और उसके घूमने से वह कण भी अपने अक्ष पर घूर्णन करने लगता है। यही प्रक्रिया लोकों में भी होती है। यहाँ स्पष्ट है कि **लोकों वा कणों के घूर्णन के साथ-२ इन तरंगों से मिश्रित आकाश तत्त्व भी घूर्णन करता है।** कदाचित् यही कारण है कि पृथिवी आदि लोकों के गुरुत्वीय क्षेत्र में स्थित कोई भी पदार्थ पृथिवी के घूर्णन के साथ-२ स्वयंमेव गति करता है।।

३. अत उपप्रेष्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्याहाध्वर्युः।। अजैदग्निरसनद्वाजमिति मैत्रावरुण उपप्रैषं प्रतिपद्यते।। तदाहुर्यदध्वर्युर्होतारमुपप्रेष्यत्यथ कस्मान् मैत्रावरुण उपप्रैषं प्रतिपद्यत इति।। मनो वै यज्ञस्य मैत्रावरुणो, वाग्यज्ञस्य होता, मनसा वा इषिता वाग्वदति, यां ह्यन्यमना वाचं वदत्यसुर्या वै सा वागदेवजुष्टा तद्यन्मैत्रावरुण उपप्रैषं प्रतिपद्यते मनसैव तद्वाचमीरयति तन्मनसेरितया वाचा देवेभ्यो हव्यं संपादयति।।५।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त क्रम में एक गंभीर विज्ञान की चर्चा करते हुए महर्षि लिखते हैं कि अध्वर्यु रूप प्राण नामक प्राथमिक प्राण विभिन्न पदार्थों का छेदन-भेदन करके संयोगार्थ प्रेरित करने वाले वाक् तत्त्व को प्रेरित करके विभिन्न दिव्य कणों को संयोगादि प्रक्रियाओं के लिए प्रेरित करता है। पूर्व में जो तीन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति का विज्ञान दर्शाया गया है और उनकी उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण से होना वताया गया है। वही प्राण तत्त्व इन रश्मियों के साथ विद्यमान रहते हुए उनसे आवृत्त विभिन्न कणों को परस्पर संगत करने के लिए वाक् तत्त्व को प्रेरित करता है। हम जानते हैं कि विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं के लिए वियोग वा भेदक क्रियाएं भी आवश्यक होती हैं और यह कर्म करने के लिए वाक् तत्त्व ही विशेष समर्थ होता है। इस कारण वह प्राण तत्त्व वाक् तत्त्व को ही प्रेरित करता है, जिससे कि विभिन्न कणों के संयोग-वियोग की प्रक्रिया सम्पन्न व सम्भव हो सके। वाक् तत्त्व से यहाँ उपर्युक्त तीनों छन्द रश्मियों का ही ग्रहण करना अपेक्षित प्रतीत होता है। इन छन्द रश्मियों को उनका उत्पादक प्राण नामक प्राथमिक प्राण ही प्रेरित करता है। गायत्री को वाक् तत्त्व कहते हुए ऋषियों का कथन है-

"गायत्री वाक्" (मै.४.३.१)

"वाग्वै गायत्री" (काठ.२३.५; क.३६.२)।।

इसके तुरन्त पश्चात् मैत्रावरुण अर्थात् प्राण और उदान के साथ संयुक्त मनस्तत्त्व से अजैदग्निः असनद् वाजं नि देवो देवेभ्यो हव्यवाट् प्राञ्जोभिर्हिन्वानः धेनाभिः कल्पमानः यज्ञस्यायुः प्रतिरन् उपप्रेष्य होतः हव्या देवेभ्यः।। {मैत्रावरुणः = प्राणोदानयोरयं सहचारी (म.द.य.भा.१८.१६)। प्रतिरन् = प्रकर्षेण तरन् (तु.म.द.ऋ.भा.१.४४.६), हीन्वानः = वर्धयन् (हि गतौ वृद्धौ च)} छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। ध्यातव्य है कि यह ऋचा किसी भी वेद संहिता में विद्यमान नहीं है। इसे आचार्य सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.६.५.१ से उद्धृत किया है। यह ऋचा यद्यपि वेदसंहिता में उपलब्ध नहीं है, पुनरपि सृष्टि प्रक्रिया में यह अवश्य उत्पन्न होती है। हमारी दृष्टि में इसका देवता अग्नि प्रतीत होता है। इसके प्रभाव से वलशाली अग्नि तत्त्व विभिन्न दृश्य कणों को वहन करने के लिए उन पर नियन्त्रण प्राप्त करने में विशेष सहयोग पाता है। वह अग्नि वाक् तत्त्व के द्वारा गति करता हुआ, वढ़ता हुआ, सामर्थ्य

को प्राप्त होता हुआ, विभिन्न कणों की संयोग प्रक्रिया को उत्कृष्टता से पूर्ण रूप से तारता हुआ विभिन्न कणों के संयोग के लिए मनस्तत्त्व से अति निकटता से प्रेरित होता है। इस कारण वह मनस्तत्त्व, अग्नितत्त्व को इस प्रकार के सामर्थ्य के लिये निकटता से प्रेरित करता है।।

यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं कि जव प्राण नामक प्राणतत्त्व वाक् तत्त्व को प्रेरित करता है तव क्यों वाक्तत्त्व के स्थान पर मनस्तत्त्व प्रेरित होकर अग्नितत्त्व को समर्थ और समृद्ध करता है।।

इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि इस सृष्टियज्ञ में मैत्रावरुण अर्थात् प्राणोदान के साथ विचरण करने वाला अति सूक्ष्म प्राण मनस्तत्त्व ही है और इस सृष्टि में विभिन्न पदार्थों का आदान-प्रदान वा छेदन-भेदन करने वाला तत्त्व वाक् तत्त्व ही है। इन वाक् और मनस्तत्त्व का सदैव परस्पर जोड़ा रहता है। इनकी परस्पर इतनी निकटता होती है कि महर्षियों ने कहा- "मनसा हि वाग्धृता" (तै.सं. ६.१.७.२; काठ.२४.३) अर्थात् मन ही वाक् तत्त्व को धारण करता है, तो उधर अन्यत्र कहा- वागिति मनः (जै.उ.४.११.१.११) अर्थात् वाक् ही मन है। इसका तात्पर्य यही है कि ये दोनों तत्त्व परस्पर इतने निकट होते है कि वे प्रायः एकाकार ही प्रतीत होते हैं। इसका कारण स्वयं ऐतरेय ब्राह्मण में वताया है "वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्" (ऐ.५.२३)। इसका तात्पर्य यह है कि ये दोनों सदैव परस्पर संयुक्त रहते हैं और मनस्तत्त्व वाक् तत्त्व को अपने तेज से सिंचित वा तृप्त करता रहता है। इसलिए कहा- वृषा हि मनः (श.१.४.४.३) इस कारण वाक् तत्त्व मन से प्रेरित होकर ही गति वा क्रिया करता है {वदति गतिकर्मा (निघं.२.१४ - वै.को. से उद्धृत)} इससे सिद्ध होता है कि दैवी गायत्री छन्द से लेकर अतिच्छन्दा छन्द रश्मियों तक सभी मनस्तत्त्व से ही प्रेरित होकर सृष्टि प्रक्रिया का भाग वन पाते हैं। यहाँ महर्षि कहते हैं कि **जो वाक् तत्त्व अर्थात् छन्द रश्मियां मनस्तत्त्व से प्रेरित नहीं होती, वे सृष्टि प्रक्रिया में विशेष भाग नहीं ले पाती और वे आसुरी रश्मियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं।** ये आसुरी रश्मियाँ पूर्व में अनेकत्र वर्णित अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु को उत्पन्न करती हैं, जो सर्वत्र संयोग प्रक्रिया में वाधा खड़ी करता है और वह प्रकाशित पदार्थ के द्वारा सदैव प्रतिकर्षित किया जाता है। इसका सामर्थ्य सदैव प्रक्षेपक ही होता है। संयोजक सामर्थ्य का इसमें सदैव अभाव ही होता है। कदाचित् इसकी गति प्रकाशित तरंगों की अपेक्षा कम ही होती है। इस कारण पूर्व छन्द रश्मियों के द्वारा किसी कण को आवृत्त करने के प्रसंग में प्राण द्वारा वाक् तत्त्व को प्रेरित करने का जो प्रसंग है, उस विषय में मन को ही सर्वप्रथम प्रेरित किया जाता है और फिर वह मनस्तत्त्व वाक् तत्त्व को प्रेरित करता है। उसके पश्चात् ही वह वाक् तत्त्व अग्नि को प्रेरित करके विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ होता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि मन सवसे सूक्ष्म और मुख्य प्राण है, तव उसे प्राण तत्त्व कैसे प्रेरित करेगा, इसका उत्तर निम्नानुसार है-

(१) महत् तत्त्व मनस्तत्त्व से भी सूक्ष्म होता है और वह भी प्राणरूप ही होता है। इस कारण वह मनस्तत्त्व को प्रेरित कर सकता है।

(२) कभी-२ स्थूल पदार्थ भी सूक्ष्म पदार्थ को प्रेरित कर सकता है। जैसे-सुस्वादु सरस भोजन देखने मात्र से रसना इन्द्रिय और मनस्तत्त्व प्रेरित होते हैं, लोक में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। इसी प्रकार प्राण नामक प्राथमिक प्राण के द्वारा मनस्तत्त्व को प्रेरित करना भी सहज कार्य है। **यहाँ सबका मूल प्रेरक चेतन ईश्वर तत्त्व ही मानना चाहिए, जो स्वयं किसी से प्रेरित नहीं होता।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त गायत्री छन्द रश्मियाँ, जो विभिन्न कणों को तेजस्वी एवं संयोजक गुण-युक्त वनाने में महती भूमिका निभाती हैं, प्राण नामक प्राण तत्त्व के द्वारा वाक् और मनस्तत्त्व के प्रेरित होने के उपरान्त ही ऐसा कर पाती हैं। जव उपर्युक्त रश्मियां किसी कण के निकट पहुंचती हैं, तव प्राण और उदान के साथ संयुक्त मनस्तत्त्व एक छन्द रश्मि को उत्पन्न करता है, जिसके प्रभाव से उन छन्द रश्मियों से संयुक्त क्वान्टाज (quantas) अधिक ऊर्जा को प्राप्त करते हैं और फिर वे उन कणों के साथ संयुक्त होकर उन्हें परस्पर संयोग-वियोग हेतु प्रेरित करते हैं। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया यह है कि प्राण नामक प्राण तत्त्व पहले मनस्तत्त्व को प्रेरित करता है और फिर वह मनस्तत्त्व वाक् तत्त्व

किंवा छन्द रश्मियों को प्रेरित करता है। उसके पश्चात् वे छन्द रश्मियां अग्नि आदि पदार्थों को प्रेरित वा समर्थ करती हैं। **यहाँ एक गम्भीर विज्ञान यह है कि जो छन्द रश्मियां मनस्तत्त्व से प्रेरित और संयुक्त रहती हैं, वे ही दृश्य पदार्थ का अंग बनकर सृष्टि प्रक्रिया में भाग ले पाती हैं। इसके विपरीत जो छन्द रश्मियाँ मन के द्वारा प्रेरित नहीं होती हैं, वे अप्रकाशित ऊर्जा वा पदार्थ में परिवर्तित हो जाती हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित डार्क पदार्थ वा डार्क एनर्जी की उत्पत्ति का यही गम्भीर रहस्य जान पड़ता है।।**

ॐ इति ६.५ समाप्तः ॐ

ॐ अथ ६.६ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. दैव्याः शमितार आरभध्वमुत मनुष्या इत्याह।।
ये चैव देवानां शमितारो ये च मनुष्याणां तानेव तत्संशास्ति।।
उपनयत मेध्या दुर आशासाना मेधपतिभ्यां मेधमिति।।
पशुर्वै मेधो यजमानो मेधपतिर्यजमानमेव तत्स्वेन मेधेन समर्धयति।।
अथो खल्वाहुर्यस्यै वाव कस्यै च देवतायै पशुरालभ्यते सैव मेधपतिरिति।।
स यद्येकदेवत्यः पशुः स्यान्मेधपतय इति ब्रूयाद् यदि द्विदेवत्यो मेधपतिभ्यामिति यदि बहुदेवत्यो मेधपतिभ्य इत्येतदेव स्थितम्।।

{शमिता = यज्ञस्य कर्त्ता (म.द.य.भा.२३.३६), यज्ञः (म.द.य.भा.२०.४५), शान्तिकरः (म.द.य.भा.२६.३५), मृत्युः शमिता (तां.२५.१८.४)। आशासाना = (आ+शास् = इच्छा करना, खोजना, निर्देश देना)। आरभध्वम् = (रभन्ते = प्रवर्त्तयन्ति - म.द.ऋ.भा.३.२६.१३; रभसम् = वेगवन्तम् - म.द.य.भा.११.२३; रभसः = महन्नाम - निघं.३.३)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त मन एवं वाक् तत्त्व नेव्यूला वा तारों के अन्दर विभिन्न प्रकाशित कण वा तरंगों एवं अल्प प्रकाशित अनियन्त्रित एवं कम गति वाले मनुष्य नामक कणों को नियन्त्रित करने वाले और थामने वाले होते हैं। ऐसा करके ही वे विभिन्न प्रकार की संयोगादि प्रक्रियाओं को करने में समर्थ होते हैं। वे मन और वाक् तत्त्व उन कणों वा तरंगों को वेगवान् बनाकर परस्पर संयुक्त होने के लिये सब ओर से प्रवृत्त करते हैं। इससे वे सभी कण परस्पर एक दूसरे का चक्कर काटते हुए नृत्य जैसा करते हुए संयुक्त होना प्रारम्भ करते हैं। इसी प्रकार वे मन और वाक् विभिन्न प्रकाशित वा अल्पप्रकाशित लोकों को भी नियन्त्रण में लेकर थामना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे वे लोक भी विभिन्न गतियों से युक्त हुए कम्पायमान होने लगते हैं। यहाँ आचार्य सायण ने दैव्याः शमितार आरभध्वमुत मनुष्या उपनयत मेध्यादुर आशासाना मेधपतिभ्यां मेधम् (आश्व.श्रौ.३.३.१) को उद्धृत करते हुए इसे मन्त्र की संज्ञा दी है और महर्षि ऐतरेय महीदास ने इन कण्डिकाओं में इसे ही उद्धृत किया है। इस कारण हम यह मानते हैं कि यह छन्द रश्मि उपर्युक्त सृष्टि प्रक्रिया में मन और वाक् तत्त्व से उत्पन्न होती है। इसे आचार्य सायण ने अध्रिगुः प्रैष मंत्र की संज्ञा दी है। {अध्रिगुः = अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते अधृतगमनकर्मवन्, इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते (नि.५.११)} इसका तात्पर्य यह है कि यह छन्द रश्मि तीव्र विद्युत् युक्त वायु एवं ऊष्मा को समृद्ध करती है।।

उपर्युक्त छन्द रश्मि का पूर्वार्ध ही प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों वा तरंगों को मनस् और वाक् तत्त्व के संयोग से नियन्त्रित करने के लिए प्रेरित करता है। इस भाग से प्रेरित मनस् और वाक् तत्त्व अधिक सक्रिय हो उठते हैं, जिसके कारण वे उपर्युक्त दोनों प्रकार के कणों वा तरंगों को थामने के लिए अधिक समर्थ होते हैं।।

इसके उपरान्त उपर्युक्त छन्द रश्मि का उत्तरार्द्ध प्रभावी होता है। यहाँ ऐतरेय महीदास कहते हैं कि पशु ही मेध है, इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न दृश्य कण, छन्द वा मरुद् रश्मियाँ सभी संगमनीय होते हैं। इनके संगमन से ही सृष्टि प्रक्रिया सम्भव हो पाती है और ये पदार्थ ही समय-२ पर विभक्त होकर दूसरे भागों से संगत होते हैं, जिसके कारण ही विभिन्न तत्त्वों का निर्माण होता रहता है। फिर महर्षि कहते हैं कि यजमान ही मेधपति है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न तारे वा नेव्यूलादि लोक

इन संगमनीय पदार्थों के भण्डार होते हैं तथा वे इनके द्वारा पालित और रक्षित भी होते हैं। इन नेव्यूला वा तारे आदि लोकों के संवर्धन व संचालन के लिए इस ऋचा का द्वितीयार्ध विभिन्न संगमनीय मार्गों और वाधक अप्रकाशित विद्युत् वायु को नियन्त्रित करने वाली तीव्र प्रकाशक रश्मियों तथा विभिन्न संगमनीय कणों और तरंगों को आकर्षित करके परस्पर निकट लाने में सहयोग करता है। इसी प्रकार निर्मित हो रहे विभिन्न लोकों को भी परस्पर जोड़े रखने के लिए उचित स्थान प्रदान करने में सहयोग करता है। इस प्रकार इस रश्मि के उत्तरार्ध से वे कण वा लोक परस्पर समृद्ध व संगत होते हैं।।+।।

इस सन्दर्भ में महर्षि विद्वानों के मत को उद्धृत करते हैं कि जिस प्रकाशित कण के निकट, जो कोई दृश्य कण लाया जाता है, वह प्रकाशित कण ही उस दृश्य कण का नियन्त्रक और रक्षक वन जाता है अथवा जिस प्रकाशित कण के अन्दर जो भी मरुत् और छन्द रश्मियाँ व्याप्त होती हैं, वह प्रकाशित कण ही उनका पालक और रक्षक होता है किंवा वह कण ही उनके द्वारा पालित और रक्षित होता है। इसी प्रकार जिन लोकों में जो भी प्राणादि पदार्थ विद्यमान होते हैं, वे ही उन लोकों के पालक व रक्षक होते हैं।।

यहाँ महर्षि कहते हैं कि जहाँ 'मेधपतये' शब्द का प्रयोग मिलता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि दृश्य कण, छन्द वा मरुद् रश्मियां एक ही लोक से सम्वद्ध हैं और जहाँ 'मेधपतिभ्यां' तथा 'मेधपतिभ्यः' पदों का प्रयोग मिलता हैं। वहाँ वे दृश्य कण, छन्द वा मरुद् रश्मियाँ क्रमशः दो एवं अनेक प्रकाशित कण वा लोकों से सम्वद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- मन और वाक् तत्त्व संयुक्त रूप से विभिन्न कण और तरंगों को नियन्त्रित करने वाले और थामने वाले होते हैं, इसी कारण वे विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं को सम्भव कर पाते हैं। **जब कोई दो कण परस्पर संयुक्त होने वाले होते हैं, तब वे सीधे संयुक्त न होकर एक-दूसरे का चक्कर काटते हुए नृत्य जैसा करते हुए संयुक्त होते हैं।** इस समय एक छन्द रश्मि उत्पन्न होकर मन और वाक् तत्त्व को और भी अधिक प्रेरित करती है, जिससे संगमन क्रिया और भी तीव्र होती है। ये मन और वाक् तत्त्व इस छन्द रश्मि के द्वारा प्रेरित होकर विभिन्न लोकों को भी परस्पर जोड़े रखने में भी कुछ सहायक होते हैं।।

२. प्रास्मा अग्निं भरतेति।।

पशुर्वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत् स देवान्नान्वकामयतैतुं तं देवा अब्रुवन्नेहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमयिष्याम इति स तथेत्यब्रवीत् तस्य वै मे युष्माकमेकः पुरस्तादैत्विति तथेति तस्याग्निः पुरस्तादैत् सोऽग्निमनु प्राच्यवत।।

तस्मादाहुराग्नेयो वाव सर्वः पशुरग्निं हि सोऽनु प्राच्यवतेति।।

तस्माद् वस्याग्निं पुरस्ताद्धरन्ति।।

स्तृणीत बर्हिरित्योषध्यात्मा वै पशुः पशुमेव तत्सर्वात्मानं करोति।।

अन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनुभ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति जनित्रैरेवैनं तत्समनुमतमालभन्ते।।

उदीचीनाँ अस्य पदो निधत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्ववसृजतादन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमित्येष्वेवैनं तल्लोकेष्वादधाति।।

{भ्राता = भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः, भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा, तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः(नि.४.२६)। पिता = प्राणो वै पिता (ऐ.२.३८), मनः पितरः (श.१४.४.३.१३), पिता वै प्रयाजाः (तै.सं.२.६.१.६)। माता = मातृवत् परिपालिका

वाक् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२१.२), मान्यकारिणी किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.१), आकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२६.११), माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (नि.२.८)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त प्रास्मा अग्निं भरत स्तृणीत बर्हिरन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनुभ्राता सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः। (आश्व.श्रौ.३.३.१) छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका छन्द आर्षीबृहती तथा देवता अग्नि प्रतीत होता है। यह ऋचा भी वेदसंहिताओं में विद्यमान नहीं है। इस विषय में हमारा मत पूर्ववत् समझें।

इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व व्यापक होता है। अन्य प्रभाव का क्रमशः वर्णन कण्डिकाओं में किया गया है। जब दो कणों का परस्पर संयोग होने वाला होता है, तब वह सर्वप्रथम अग्नि अर्थात् विद्युत् को धारण करता है और विद्युत् के द्वारा ही वे परस्पर आकर्षित होते हैं। यह विद्युत् तत्त्व भी पूर्वोक्त नियंत्रक तत्त्व मन और वाक् के द्वारा उत्पन्न होता है और वे ही उस विद्युत् तत्त्व का पोषण भी करते हैं।।

जब कोई कण किसी दूसरे कण के निकट लाया जाता है, तब सर्वप्रथम उसका सामना मृत्यु से होता है। इसका आशय यह है कि सर्वप्रथम अप्रकाशित बाधक हिंसक विद्युत् वायु उसके मार्ग में बाधक के रूप में उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार विभिन्न लोकों छन्दों वा मरुतों आदि सभी की संयोग प्रक्रिया में यही तत्त्व बाधक के रूप में उपस्थित होता है, जिसके कारण संयुक्त होने वाले उपर्युक्त पदार्थों की गति सहसा रुक जाती है। प्राण आदि प्राथमिक प्राण बाधक तत्त्व से प्रभावित हुए बिना गति करने में सक्षम होते हैं। जब संयोज्य कणों की गति रुक जाती है, तब भी प्राणादि पदार्थ गतिशील रहते हैं। इसके उपरान्त भी वह कण अप्रकाशित बाधक हिंसक विद्युत् को भेदकर आगे नहीं बढ़ पाता है। ऐसी स्थिति में प्राणापान आदि से उत्पन्न तीव्र वैद्युत अग्नि वज्ररूप बनकर बाधक विद्युत् को नष्ट वा नियन्त्रित करता है और ऐसा करके वह उस संयोज्य कण के आगे-२ चलाकर सुरक्षित मार्ग प्रदान करता है। इसके पश्चात् वह कण भी वज्ररूप वैद्युत अग्नि के पीछे-२ चलकर सम्मुख विद्यमान कण के साथ संयुक्त होने की दिशा में बढ़ता रहता है। दो कणों के मध्य संयोग प्रक्रिया में विभिन्न प्राण, छन्द रश्मियों रूप प्राण आदि सबका संयोग व सहयोग होता है परन्तु बाधक हिंसक विद्युत् को नियन्त्रित करने में तीव्र विद्युत् युक्त वायु का प्रहार ही सक्षम होता है। इस कारण संयोज्य कण के आगे-२ उसी के गतिशील होने की चर्चा है।।

क्योंकि प्रत्येक संयोज्य कण तीव्र विद्युत् अग्नि का अनुसरण करता है, इस कारण प्रत्येक कण विद्युत् अग्नि से युक्त अवश्य होता है और वह विद्युत् अग्नि ही उन कणों के गमनागमन में साधक बनता है। वह विद्युदग्नि कण के आगे-२ चलता है। **इसका आशय यह है कि किसी कण में से विद्युद् रश्मियां आगे प्रवाहित होती हैं। वे ही सम्मुख उपस्थित कण को आकर्षित करती हैं और वे ही अपने अनुगामी कण को अपने साथ बांधे हुए आगे ले जाती हैं।** मानो वे विद्युद् रश्मियाँ विभिन्न कणों के वाहक का कार्य करती हैं। इसलिए कहा है- "अग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः" (काठ.१६.२०), देवरथो वा अग्नयः (कौ.ब्रा.५.१०) अर्थात् यह विद्युदग्नि ही सभी दिव्य कणों का रथ है। इसके अतिरिक्त कहा है "अग्निरु सर्वेषां पाप्मनामपहन्ता।" (श.७.३.२.१६) अर्थात् यह विद्युत् अग्नि ही बाधक तत्त्वों को दूर करके संयोगादि प्रक्रियाओं के मार्ग को प्रशस्त करता है। उपर्युक्त प्रक्रियाओं में "प्रास्मा अग्निं भरत" इस भाग की भूमिका रहती है।।+।।

तदनन्तर "स्तृणीत बर्हिः" के प्रभाव की चर्चा करते हैं-
जब दो संयोज्य कण परस्पर संयुक्त होने के लिए निकट आते हैं, तब उनके आस-पास विशेषकर दोनों के मध्य स्थित आकाश तत्त्व कुछ फैल सा जाता है। उन दोनों में से प्रसारित विद्युत् रश्मियां भी कुछ फैल जाती हैं {औषधि = ओषधय ओषद्धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा (नि. ६.२७)}। इसके प्रभाव से वे संयोज्य कण मानो एक दूसरे से प्रसारित विद्युत् रश्मियों को पीने अर्थात् ग्रहण करने लगते हैं। इसके साथ ही वह विद्युदग्नि उन दोनों कणों के मध्य स्थित अप्रकाशित बाधक विद्युत् रश्मियों को अवशोषित कर लेता वा नष्ट कर देता है। इसके साथ ही वे विद्युद् रश्मियां आत्मरूप

होकर दोनों ही कणों के अन्दर सतत विचरने लगती हैं और उन कणों के बाहर भी वे संयुक्त रूप से विचरती हैं। इस प्रकार वे दोनों कण उन विद्युद् रश्मियों से पूर्णतः युक्त और नियन्त्रित हो जाते हैं।।

इसके पश्चात् उन संयोज्य कणों के माता-पिता, भ्राता एवं सखा सभी उन कणों के संयोग के समय सद्यः प्रकाशित वा सक्रिय करते है। इसका आशय यह है कि मनोरूप पिता वाग् रूप माता के साथ संयुक्त होकर संयोज्य कण को प्रकाशित व प्रेरित करते हैं। उधर प्राण रूपी पिता भी वाग्रूपी माता से संयुक्त होकर उन कणों को प्रकाशित व प्रेरित करते हैं। पूर्ववर्णित प्रयाजरूपी छन्द रश्मियों रूपी पिता, याज्या संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होकर आकाश तत्त्व रूपी माता के साथ मिलकर उन कणों को प्रकाशित व प्रेरित करते हैं। भ्राता अर्थात् अग्नि और वायु का मिश्रित रूप अथवा कणों को धारण करने व पोषण देने वाला सूत्रात्मा वायु उन कणों को प्रेरित करके बांधने में सहायक होता है। अपने समूह के साथ विभिन्न प्राणों के युग्मरूप सखा उन कणों को प्रेरित और प्रकाशित करते हैं। प्राणों का यह युग्म उन प्राणों के साथ सदैव संयुक्त रहता हैं और ये प्राण, जिनमें छन्दादि प्राण भी सम्मिलित हैं, ही वस्तुतः इन कणों के निर्माता भी होते हैं। इन सबके प्रकाशन और प्रेरण से ही कणों का संयोग और वियोग सम्भव हो पाता हैं।।

{सूर्यम् = सरणशीलं स्वकीयरश्मिगणम् (म.द.ऋ.भा.१.३५.६), प्राणादिसमूहो वायुगणः (म.द.य. भा.३.६), बार्हतो वा एष य एष तपति (कौ.ब्रा.१५.४.२५.४)। चक्षुः = चक्षुर्वै ब्रह्म (श.१४.६.१०.८), चक्षुरुष्णिक् (श.१०.३.१.१), त्रैष्टुभं चक्षुः (तां.२०.१६.५)। असुः = नागादि मरुत् (म.द.य.भा.१८.२), प्रज्ञानाम (निघं.३.६)। श्रोत्रम् = वागिति श्रोत्रम् (जै.उ.४.११.१.११), अवकाशम् (तु.म.द.य.भा.३२. १३), श्रोत्रम् पंक्तिः (श.१०.३.१.१)। दिक् = छन्दांसि वै दिशः (श.८.३.१.१२), दिशो वै परिभूश्छन्दः (श.८.५.२.३), दिशः परिधयः (तै.ब्रा.२.१.५.२)}

जब कोई कण दूसरे कण से संयुक्त होने की दिशा में अग्रसर होता है, तब उस कण का उत्तरी ध्रुव आगे की दिशा में होता है अर्थात् उसकी गति उत्तरी ध्रुव की दिशा में होती चली जाती है। उस कण के अन्दर प्रकाशित त्रिष्टुप और उष्णिक छन्दमय वैद्युत तेज अगले कण के चतुर्दिक् व्याप्त बृहती छन्द एवं इन कणों के चारों ओर व्याप्त प्राणवायु से संयुक्त हो जाते हैं किंवा इनमें व्याप्त हो जाते हैं। उस कण में विद्यमान प्राणापान आदि प्राण कणों के बाहर परिधिरूप में व्याप्त सूत्रात्मा वायु से संयुक्त हो जाते हैं। उन दोनों कणों के बीच विद्यमान आकाश तत्त्व नाग, कूर्म आदि उपप्राणों रूप मरुद् रश्मियों से व्याप्त हो जाता है। उस कण में विद्यमान वाक् तत्त्व एवं तत्प्रेरित पंक्ति छन्द दूसरे कण के चारों ओर विद्यमान किंवा स्वयं के चारों ओर विद्यमान छन्द रश्मियों में व्याप्त हो जाता है और उन कणों के आकार, निकट आते हुए अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत हो जाते हैं। इस प्रकार इस छन्द रश्मि भाग के प्रभाव से उन कणों के सम्मिलन की परिस्थितियाँ सम्यक् रूप से निर्मित हो जाती हैं।।

ज्ञातव्य- इस प्रकरण में जो विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया बतलायी गयी है, लगभग वैसी ही प्रक्रिया स्थूल और स्थूलतर पदार्थों के संयोग में भी होती है। हमने उसकी चर्चा यहाँ नहीं की है। पाठक स्वयं इस प्रक्रिया को समझकर स्थूल पदार्थों के विलय की प्रक्रिया को समझ सकते हैं।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो कणों में परस्पर संयोग होता है, तब मन और वाक् तत्त्व के द्वारा विद्युदावेश सक्रिय हो उठता है। जब कण परस्पर निकट आते हैं, तब उनके मध्य अप्रकाशित ऊर्जा बाधक के रूप में उपस्थित हो जाती है, जिससे उन कणों की गति सहसा रुक जाती है। ध्यातव्य है कि प्राण और अपान आदि की गति को अप्रकाशित ऊर्जा बाधित नहीं कर पाती। प्राण, अपान से उत्पन्न तीव्र विद्युत् उस डार्क एनर्जी को नष्ट वा नियन्त्रित करके उन कणों के आगे-२ चलती है एवं उन्हें सुरक्षित मार्ग भी प्रदान करती जाती है। उस सुरक्षित मार्ग पर वे कण परस्पर एक-दूसरे की ओर गतिशील हो उठते हैं। प्रत्येक संयोज्य कण के साथ विद्युत् धन, ऋण अथवा उदासीन आवेश अवश्य होता है। वह आवेश ही दोनों को परस्पर आकर्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब वे दोनों कण निकट आते हैं, तो उनके मध्य स्थित आकाश तत्त्व एवं विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र कुछ फैल जाते हैं। इसके कारण वे दोनों कण एक-दूसरे से प्रसारित विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को ग्रहण करने लगते हैं और

अप्रकाशित ऊर्जा तरंगों से मुक्त होने लगते हैं। उनके मध्य विद्युद् रश्मियां संयुक्त रूप से विचरती हुई उन्हें अपने नियन्त्रण में ले लेती हैं। इस प्रक्रिया में मन और वाक् तत्त्व का मिथुन रूप पूर्वोक्त प्रयाज छन्द रश्मियों एवं याज्या संज्ञक छन्द रश्मियों का मिथुन, अग्नि और वायु का मिथुन एवं विभिन्न छन्दों का युग्म सभी कुछ एक-दूसरे कणों को प्रभावित और प्रकाशित करने लगते हैं। जब कोई कण संयुक्त होने के लिए आगे बढ़ता है, तो वह अपने उत्तरी ध्रुव की ओर से ही आगे बढ़ता है अर्थात् वह इसी दिशा अथवा दक्षिण दिशा से संयुक्त होता है। इस विषय में १.५.३ भी देखें। इस समय दोनों कणों की छन्द रश्मियां संयुक्त होने लगती हैं। प्राणापान आदि प्राण सूत्रात्मा वायु से संयुक्त होने लगते हैं। नाग, कूर्म आदि मरुद् रश्मियां दोनों कणों के मध्य विद्यमान आकाश तत्त्व में व्याप्त होने लगती हैं और वाक् तत्त्व एवं पंक्ति छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों के साथ व्याप्त होने लगती हैं। इस प्रकार दोनों कणों के संयोग की प्रक्रिया आगे बढ़ती रहती है।।

ज्ञातव्य- इस प्रकरण में जो विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया बतलायी गयी है। लगभग इसी प्रकार स्थूल कणों, जैसे-अणुओं, अन्य बड़े कणों, आकाशीय पिण्डों एवं विशाल लोकों के विलय की प्रक्रिया भी सम्पन्न होती है, जिसको हमने पृथक् से नहीं दर्शाया है। पाठक इस प्रक्रिया को गम्भीरता से समझकर उस स्थूल प्रक्रिया के विषय में भी स्वयंमेव समझ सकते हैं।

३.
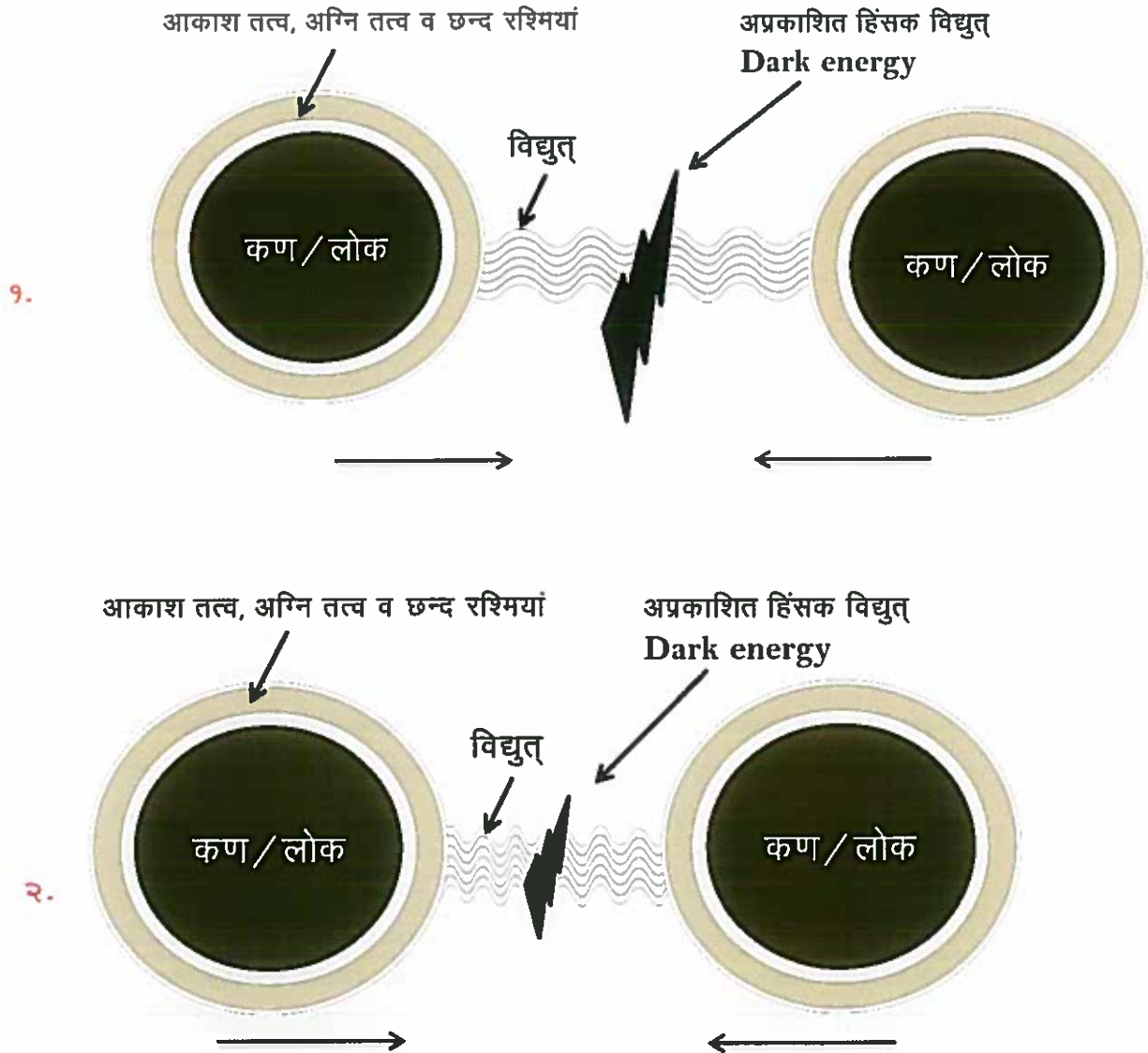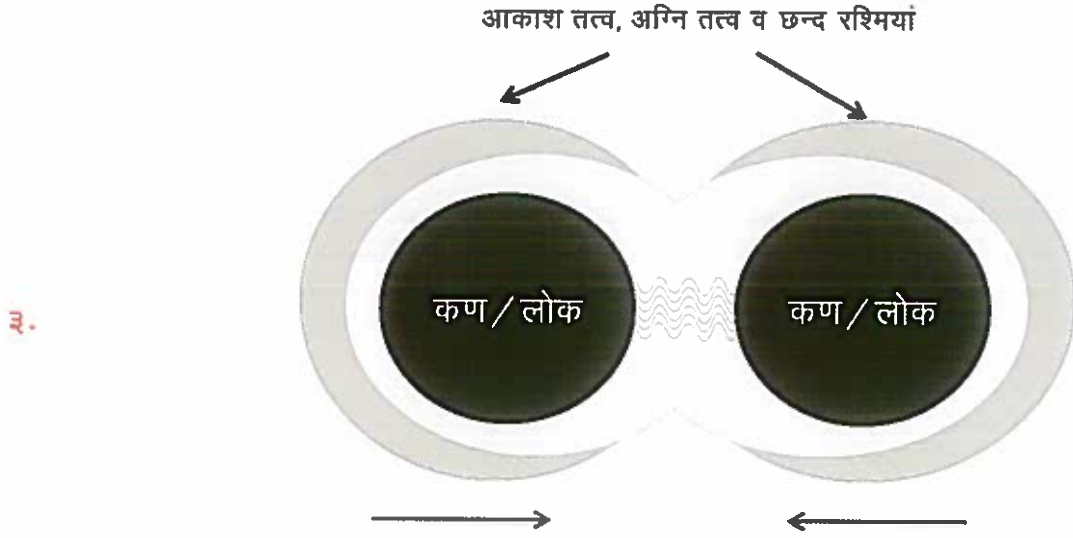
चित्र ६.८ विभिन्न कणों/लोकों के संयोग की प्रक्रिया

३. एकधाऽस्य त्वचमाच्छ्यतात् पुरा नाभ्या अपि शसो वपामुत्खिदतादन्तरेवोष्माणं वारयध्वादिति पशुष्वेव तत्प्राणान् दधाति।।
श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशसा बाहू, शला दोषणी, कश्यपेवांसाऽच्छिद्रे श्रोणी, कवषोरू स्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्ता अनुष्ठ्योच्च्यावयताद् गात्रं गात्रमस्यानूनं, कृणुतादित्यङ्गान्येवास्य तद्गात्राणि प्रीणाति।।
ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतादित्याहौषधं वा ऊवध्यमियं वा ओषधीनां प्रतिष्ठा, तदेनत्स्वायामेव प्रतिष्ठायामन्ततः प्रतिष्ठापयति।।६।।

{त्वक् = तनोति विस्तृता भवतीति त्वक् (उ.को.२.६४), यस्त्वचति संवृणोति सः (वायुः) (म.द.य.भा.४.३०), आच्छादकः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२६.३)। नाभिः = मध्याकर्षणेन बन्धकम् (म.द.य.भा.२३.६१), आकर्षणेन बन्धनम् (म.द.ऋ.भा.१.१६४.३५), स्तम्भनं, स्थिरीकरणं, प्रबन्धनम् (म.द.य.भा.१७.८६), धारकमङ्गम् (म.द.य.भा.२३.५६), आधारः (प्रज्ञापिका विद्युत् - तु.म.द.य.भा.१३.४४), अथ त्रिष्टुप् नाभिरेव सा (जै.ब्रा.१.२५४)। वपा = वपन्ति याभिः क्रियाभिस्ताः (म.द.य.भा.२१.३१), आत्मा वपा (कौ.ब्रा.१०.५), छिद्रम् (आप्टे कोष)। वक्षः = वक्षो भासोऽध्यूढमिदमपीतरद् वक्ष एतस्मादेवाध्यूढं काये (नि.४.१६), प्राप्तं वस्तु (म.द.ऋ.भा.१.१२४.४), (वक्ष रोषे संघाते च = संचित होना, शक्तिशली होना, वृद्धि को प्राप्त होना-आप्टे कोष)। श्येनः = प्रवृद्धवेगः (म.द.ऋ.भा.४.२६.६), श्येनः शंसनीयं गच्छति (नि.४.२४), श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर् गतिकर्मणः (नि.१४.१३)। शलाः = (शल् = हिलाना, क्षुब्ध करना। शल् = जाना, तेज दौड़ना। दोषणी = (दुष वैकृत्ये), प्रकोष्ठौ (सायण भाष्य)। अंसौ = बाहुमूले (म.द.य.भा.२०.८)। कश्यपः = कश्यपो वै कूर्मः (श.७.५.१.५)। श्रोणी = श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः, श्रोणिश्चलतीव गच्छतः (नि.४.३), जगती-छन्द आदित्यो देवता श्रोणी (श.१०.३.२.६)। कवषः = शब्दं कुर्वन् (म.द.य.भा. २६.५)। उरुः = बहुशक्तिः (म.द.ऋ.भा.२.१३.७)। उरु = व्यापकम् (म.द.ऋ.भा.३.५४. १६), बहुनाम (निघं.३.१)। स्रेक् = जाना, गतिशील होना (आप्टे कोष)। पर्णम् = पक्षम्

(म.द.ऋ.भा.१.११६.१५), गायत्री वै पर्णः (तै.ब्रा.३.२.१.१), सोमो वै पर्णः (श.६.५.५.१), ब्रह्म वै पर्णः (तै.ब्रा.३.२.१.१)। अष्ठिवन्तौ = (ष्ठिवु निरसने (स्वा.) धातोः शतृ. नञ् समासः), वङ्क्रीः = कुटिला गतीः (म.द.य.भा.२५.४१), यह वङ्क्रयः का छान्दस् रूप है। गात्रम् = गच्छति चेष्टतेऽनेनेति गात्रम् (उ.को.४.१७०)। ऊवध्यम् = वधितुं ताडितुमर्हम् (म.द.ऋ.भा.१.१६२.१०), ऊरू वध्ये येन तत् (रेतः = वीर्यम्) (म.द.य.भा.१६.८४)। गोहम् = संवरणीयं गृहम् (तु.म.द.ऋ.भा.४.२१.६)। ऊष्माणः = य ऊष्माणः स प्राणः (ऐ.आ.२.२.४), अन्तरिक्षस्य रूपम् ऊष्माणः (ऐ.आ.३.२.५)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि जब दो कणों में संयोग होता है, तब उनके निकट आने पर दोनों कणों के परितः विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियां, सूत्रात्मा वायु एवं पूर्व वर्णित प्राणों का जो घेरा होता है, उसी में सर्वप्रथम भारी विक्षोभ होता है। वह घेरा ही किसी कण वा लोक का आच्छादक त्वचारूप होता है। दोनों के निकट आते ही वह आच्छादक घेरा एक बार में ही हट जाता है। वह आवरण हटने के पश्चात् उन कणों वा लोकों के केन्द्रीय भाग भी अति विक्षुब्ध होते हैं परन्तु उनके विक्षोभ से पूर्व कणों वा लोकों का सम्पूर्ण भाग जो कि परस्पर विलीन होने वाले होते हैं, उनमें अति तीव्र भेदन क्रियाएं होने लगती हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण भाग ही उथल-पुथल से भर जाता है। मानो उन्हें विभिन्न बलों के द्वारा खोद दिया जाता है। उसके पश्चात् उन कणों वा लोकों के केन्द्रीय भाग में जो विद्युत् अग्नि आदि धारक और आकर्षक तत्त्व विद्यमान होते हैं, वे भी अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं। ध्यातव्य है कि कणों वा लोकों के सम्पूर्ण भाग में जो उथल-पुथल होती है, वह ऊपर की दिशा में होती है। इस प्रक्रिया में उन कणों वा लोकों के मध्य भाग में नाभिरूप होकर जो त्रिष्टुप् प्राणादि विद्यमान होते हैं, वे भले ही अपने स्थान से हट जाते हैं परन्तु वे उन कणों वा लोकों के भीतर ही रोक दिये जाते हैं अर्थात् वे बाहर नहीं निकल पाते। इस प्रकार विशेष हलचलयुक्त प्रक्रिया, उन लोकों वा कणों के बाहरी भाग में ही होती है और उन कणों वा लोकों में विद्यमान विभिन्न प्राणादि पदार्थ यथावत् बने रहते हैं।।

जब दो कण वा लोक परस्पर निकट आते हैं, तब उन दोनों की ऊपरी एवं सम्मुख दिशाओं में विद्यमान पदार्थ अति तीव्र वेग से ऊपर की ओर उठता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन कणों वा लोकों के अन्य निकटस्थ भागों का पदार्थ भी संचित होकर उसी दिशा में प्रबल वेग से बढ़ा आ रहा हो। यह क्रिया सहसा अति वेग और शक्ति के साथ सम्पन्न होती है। उन दोनों कणों के बाहुरूप वायु और विद्युत् और उनके भी कारणरूप प्राणापान व प्राणोदान एवं अति सूक्ष्म स्तर पर मन और वाक् तत्त्व अति प्रशंसनीयरूप से विशेष सक्रिय होते हैं। ध्यातव्य है कि किसी भी कण वा लोक के धारण और आकर्षण बल, जिन पर कि उनका अस्तित्त्व ही निर्भर होता है, इन वायु, विद्युत् आदि युग्मों से ही उत्पन्न होते हैं। कणों वा लोकों के संयोग के समय यह बल अत्यन्त तीव्र हो जाता है। इस प्रक्रिया में उन कणों वा लोकों के केन्द्रों को मिलाने वाली रेखा के लम्बवत् भाग के निकट विद्यमान जो बाहरी भाग होते हैं, वे संयोग के समय क्षुब्ध होकर विकृत हो जाते हैं। यद्यपि उनकी विकृति पूर्व में मन्द हलचल से प्रारम्भ होती है, उसके पश्चात् तीव्र गति से होती है। उपर्युक्त वायु, विद्युत्, प्राणापान व प्राणोदान के मूल में कूर्म प्राण संयुक्त होता है। वह कूर्म प्राण ही मन और वाक् के अतिरिक्त अन्य तीनों युग्मों को प्रेरित करता है। उधर चेतन सत्ता परमात्मा रूपी सर्वकर्त्ता कूर्म सभी शक्तियों को मूलरूपेण प्रेरित करता है। उसकी प्रेरणा सबसे अन्तिम प्रेरणा होती है, जिसके बिना इस सम्पूर्ण सृष्टि में किसी भी प्रकार का बल कार्य नहीं कर सकता। विभिन्न कणों वा लोकों
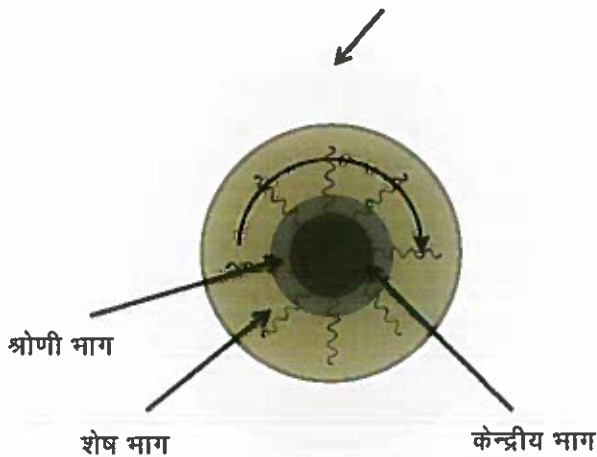
चित्र ६.६ कण की आन्तरिक संरचना

के केन्द्रीय भाग और शेष भाग को जोड़ने वाला क्षेत्र सतत चलायमान रहता है अर्थात् इसी भाग के ऊपर वे दोनों भाग परस्पर फिसलते रहते हैं। यह पद 'श्रोणृ संघाते' धातु से निष्पन्न होता हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि यह भाग कणों वा लोकों को परस्पर बांधे रखता है। वे इस भाग पर फिसलते हुए भी परस्पर कभी पृथक् नहीं हो पाते, बल्कि दृढ़ता से जुड़े रहते हैं। इस श्रोणि भाग में जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता रहती है। क्षेत्र अछिद्र होता है। इसका तात्पर्य यह है कि **केन्द्रीय भाग और शेष भाग में पदार्थ के आवागमन के लिये निश्चित और स्पष्ट मार्ग नहीं होते, बल्कि पदार्थ रिसता हुआ प्रवाहित होता रहता है। इस प्रक्रिया में व्यापक स्तर पर ध्वनि उत्पन्न होती है अर्थात् तारों वा विभिन्न कणों के अन्दर इस श्रोणि भाग में पदार्थ के विसरण के समय सतत ध्वनि होती रहती है।** इसके दोनों ओर के भागों की गतियाँ अच्युत होती हैं अर्थात् वे दोनों भाग परस्पर निश्चित दूरी पर बंधे हुए, फिसलते हुए, इतस्ततः भ्रष्ट नहीं हो पाते हैं। संयोज्य कणों वा लोकों में छब्बीस प्रकार की कुटिल गतियाँ होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि **जब दो कणों वा लोकों में परस्पर संयोग होता है, तब उनके अन्दर विद्यमान विभिन्न प्राणादि पदार्थ तीव्र और विचित्र गतियाँ करने लगते हैं और वे गतियाँ ही छब्बीस प्रकार की होती हैं,** ऐसा ही यहाँ संकेत किया गया है। ये सभी गतियाँ वक्रीय ही होती हैं। इनमें से कोई भी सरल रेखीय गति नहीं होती है। उन सभी गतियों के सम्पन्न होने पर पुनः सभी गतिशील पदार्थ अपनी उन कुटिल व अस्थायी गतियों को विराम दे देते हैं और फिर उन लोकों वा कणों के सभी अंग पूर्ववत् साम्यावस्था को प्राप्त करके एक अन्य नवीन पूर्ण कण वा लोक का रूप बन जाते हैं। इस प्रकार उन कणों वा लोकों का प्रत्येक भाग परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित करके तृप्त व संतुलित कर लेते हैं।

विशेष- यहाँ हमने श्येन आदि विभिन्न शब्दों का पूर्णतः यौगिक अर्थ ग्रहण किया है। इस कारण विभिन्न कणों वा लोकों के परस्पर संयुक्त होने की प्रक्रिया में जो-जो भी धुंधली आकृतियाँ उभर सकती हैं, उस विषय पर किंचिदपि ध्यान नहीं दिया गया है। इस विषय पर गम्भीरता से विचार करने पर हमें ऐसा भी प्रतीत होता है कि विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया में उनके अन्दर विद्यमान विभिन्न सूक्ष्म कणों वा तरंगों तथा दो लोकों के परस्पर संयुक्त होने पर उसमें विद्यमान पदार्थ बिखरकर पुनः संतुलित अवस्था प्राप्त करने के समय कई आकृतियों का निर्माण कर सकता है और वे आकृति श्येन पक्षी, कुल्हाड़ी, भाले की नोंक, कछुआ, ढाल एवम् कनेर के पत्ते जैसी भी हो सकती हैं। कदाचित् इस दृष्टि से भी महर्षि ने इस सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया प्रतीत होता है। पुनरपि यह निश्चित है कि इन पदों के यौगिक अर्थ लेकर हमने जो संयोग प्रक्रिया दर्शायी है, वह गम्भीर विज्ञान का परिचायक ही है। आकृतियों के प्रकरण को उसके साथ संयोजित अवश्य किया जा सकता है।।

इस उपर्युक्त प्रक्रिया में व्यापक स्तर पर बाधक बनने वाले पराक्रमी अप्रकाशित हिंसक विद्युद् वायु जिसको कि अनेकत्र दर्शाये अनुसार तेजस्वी विद्युद् वायु रूपी वज्र किरणों से नष्ट वा नियन्त्रित किया जाता है, कहाँ चला जाता है, इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं- इन कणों और लोकों की संयोग प्रक्रिया के समय वह अप्रकाशित बाधक विद्युद्वायु उन दोनों के बीच से हट जाता है और उनके आस-पास विस्तृत आकाश तत्त्व, जो स्वयं उस समय विकृत हो जाता है, वही आकाश तत्त्व उस अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु को ढक लेता है। इस प्रकार उसकी सामर्थ्य समाप्त हो जाती है और संयोग प्रक्रिया सहजतापूर्वक सम्पन्न हो जाती है। यह अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु विभिन्न संयोजक शक्तियों को पी जाने अर्थात् नष्ट करने का सामर्थ्य रखता है। इस कारण यह विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं को रोक सकता है। उस ऐसे अवरोधक पदार्थ को ग्रन्थ में अनेकत्र रोकने वा नष्ट करने की चर्चा की गयी है, उसी विषय को यहाँ स्पष्ट करते हैं कि वह नियन्त्रित अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु आकाश तत्त्व में फैलकर मानो विलीन वा दुर्बल हो जाता है। यह आकाश तत्त्व ही उस बाधक पदार्थ का आधार है। इस प्रकार उस पदार्थ को उसके आधारभूत आकाश तत्त्व में ही प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। जहाँ-२ भी इस तत्त्व के नियन्त्रण वा विनाश की चर्चा है, वहाँ सर्वत्र ऐसा ही जानना चाहिए।।

ज्ञातव्य- इस खण्ड में वर्णित सभी कण्डिकाओं को आचार्य सायण ने अभ्रिगुप्रैष कहा है। इससे संकेत मिलता है कि यहाँ वर्णित सभी क्रियाओं में ऊष्मा एवं विद्युत् की वृद्धि वा तीव्रता होती है।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **जब दो कण परस्पर संयुक्त होते हैं, तो सर्वप्रथम उनके परिधि भाग में विद्यमान फील्ड्स् वा प्राणादि तत्त्व आदि में भारी विक्षोभ होता है। उन कणों के परस्पर निकट आने पर वह घेरा तत्काल हट जाता है। उसके पश्चात् आयनों के अन्दर विद्यमान विभिन्न कक्षाओं में चक्रण करते इलेक्ट्रॉन्स आदि की कक्षाएं भी अव्यवस्थित और विक्षुब्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार की प्रक्रिया दो लोकों के परस्पर टकराने अथवा गैलेक्सियों के परस्पर मिलने अथवा विभिन्न पिण्डों के संयुक्त होने के समय भी होती है। इसके पश्चात् संयोग प्रक्रिया का प्रभाव आयनों के नाभिक वा अन्य पिण्डों के केन्द्रीय भाग पर भी होता है और उनके केन्द्रीय भाग कुछ विचलित होकर अपने स्थान से कुछ हट जाते हैं,** पुनरपि केन्द्रीय भाग में विद्यमान विद्युत् आवेश, आकर्षण बल, ऊष्मा आदि पदार्थ अति भीषण टक्कर के अतिरिक्त सामान्य सहज संयोग में बहिर्गमन नहीं कर पाते। कुछ समय में वे केन्द्रीय भाग विचलन मुक्त होकर स्थिरता को प्राप्त होते हैं। जब दो कण वा लोक निकट आते हैं, तो उनके सम्मुख भाग में विद्यमान **पदार्थ बहुत तीव्र गति से आकर्षित होकर एक-दूसरे की ओर दौड़ता है, इसके कारण सम्पूर्ण लोक वा कण की आकृति बदल जाती है। इस समय कणों वा लोकों के अन्दर विद्यमान अनेक प्रकार के बल प्रभावित और सक्रिय हो उठते हैं। इन बलों को परस्पर समन्वित रखने का कार्य एक चेतन परमात्म-सत्ता का होता है। विभिन्न Atoms के नाभिक और Atoms का शेष भाग, जिसमें इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं, परस्पर असमान गति से घूर्णन करते हैं। इसी प्रकार विभिन्न लोकों के केन्द्रीय भाग एवं अन्य सम्पूर्ण भाग भी असमान गति से अपने अक्ष पर घूर्णन करते हैं।** कणों वा लोकों के इन दोनों भागों के बीच में जो स्थान होता है, उसमें से सूक्ष्म पदार्थ और शक्तियाँ रिसती हुई एक-दूसरे में प्रवाहित होती है। इस प्रक्रिया में सतत ध्वनि भी उत्पन्न होती रहती है। जब दो कणों वा लोकों में मेल होता है, तब उनके प्रबल आकर्षण बल से उन कणों वा लोकों के अन्दर विद्यमान विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों की उथल-पुथल में अनेक प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होती हैं। वे सभी गतियाँ वक्रीय होती हैं। इनकी कुल संख्या यहाँ छब्बीस (२६) बतायी गयी है। परस्पर मिलन पूर्ण होने के पश्चात् एक नवीन कण वा लोक बनकर साम्यता को प्राप्त होता है। यहाँ ऐसा भी संकेत प्रतीत होता है कि इन कणों वा लोकों के मिलते समय कुछ अस्पष्ट आकृतियों का भी निर्माण होता है। **इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अथवा जहाँ कहीं भी डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करने की चर्चा आती है, उस समय वह नष्ट वा नियन्त्रित डार्क एनर्जी कहाँ चली जाती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह आकाश तत्त्व में विलीन होकर निष्प्रभावी हो जाती है और उस डार्क एनर्जी का निवास स्थान आकाश तत्त्व ही है, जिसमें वह गुप्त रूप से सदैव विद्यमान रहती है।।**

❧ इति ६.६ समाप्तः ❧

ॐ अथ ६.७ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अस्ना रक्षः संसृजतादित्याह तुषैर्वै फलीकरणैर्देवा हविर्यज्ञेभ्यो रक्षांसि निरभजन्नस्ना महायज्ञात् स यदस्ना रक्षः संसृजतादित्याह रक्षांस्येव तत्स्वेन भागधेयेन यज्ञान्निरवदयते।।

{अस्ना = असृज् - तस्य स्थाने टा प्रत्यये "पद्दनोमास्हृन्निशसन्........." (पा.अ.६.१.६१), सूत्रेण असन् आदेशः, (प्रजापतिः पशूनसृजत्, स वा असृगेव नासृजताऽसृष्टं वा एतत् तदस्नोऽसृक्त्वम् (मै.४.२.६) इस प्रमाण से 'असृज्' की तृतीया विभक्ति का अस्ना होना सिद्ध है), (सृज् = पहनना, ढीला छोड़ना, उत्सर्जन करना, बिखेरना, मुक्त करना, रचना करना - आप्टे कोष)। सम्+सृज् = मिश्रण करना, सम्पृक्त करना, मिलना, रचना करना (आप्टे कोष)। तुषः = तुष्+क (आप्टे कोष) (तुष् = संतुष्ट होना, परितृप्त होना)। फलीकरणम् = (फल निष्पत्तौ = पूरा होना, उत्पन्न करना), (फल विशरणे = जाना, विभाग करना, तोड़ना - सं.धा.को. - पं.युधिष्ठिर मीमांसक)। निर्ऋत्यै वा एतद् भागधेयं यत्तुषाः (तै.सं.५.२.४.२), (निर्ऋतिः = निर्ऋतिः पृथिवीनाम - निघं.१.१; पाप्मा वै निर्ऋतिः - श.७.२.१.३; घोरा वै निर्ऋतिः - श.७.२.१.११)। निरभजन् = (भज विश्राणने = अलग करना, दान करना, सिद्ध करना - सं.धा.को. पं.युधिष्ठिर मीमांसक)। अवदयते = अव+दयते = (अव = विनिग्रहार्थे - नि.१.३; पृथक्करणे - म.द.ऋ.भा.१.२४.१३)। दय = दान देना, जाना, सम्भालना, मार डालना।}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रसंग में कुछ अन्य चर्चा करते हुए महर्षि कहते हैं कि पूर्व प्रसंग में "असृना रक्षः संसृजतात्" इस प्राजापत्य गायत्री छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह ऋचा किसी भी वेद-संहिता में उपलब्ध नहीं है। यह ऋचा आश्वलायन श्रौतसूत्र ३.३.१ में भी विद्यमान है। आश्वलायन श्रौतसूत्र ३.३.२ में इसी सन्दर्भ में कहा है 'अस्ना रक्षः संसृजताच्छमितारोऽपापेत्युपांशु' {उपांशुः = उपगता अंशवो यत्र स उपांशुः (म.द.य.भा.१८.१६), अनिरुक्तम् वा ऽउपांशु (श.१.३.५.१०), उपांशु प्राण एव (कौ.ब्रा.१२.४), यज्ञमुखं वा ऽउपांशु (श.५.२.४.१७), (अंशुः = किरणसमूहः - तु.म.द.य.भा.१७.८६; किरणः - म.द.ऋ.भा.५.४३.४, प्रापकः - म.द.ऋ.भा.४.२२.८)} इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति संयोज्य कणों के मध्य बाधक अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु के नियन्त्रित होने के पश्चात् किंवा नियन्त्रित होते समय होती है। यह रश्मि अनिरुक्त अर्थात् तेजहीन वा अव्यक्त तेज स्वरूप वाली होती है। मानो उसकी तेजरूप किरणें उसमें से निकल चुकी हों। इस ऋचा पर व्याख्यान करते हुए महर्षि कहते हैं कि जब प्राण, अपान आदि प्राथमिक प्राणरूपी देवों अथवा विभिन्न वज्र रूपी किरणों ने पूर्वोक्त असुर तत्त्व अर्थात् अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु को नियंत्रित करके आकाश तत्त्व में छुपा दिया था, उसी विषय को और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उस असुर तत्त्व को विदीर्ण करके खण्ड-२ कर आकाश तत्त्व में ऐसा मिला देते हैं, जिससे वह असुर अर्थात् हिंसक विद्युद् वायु आकाश तत्त्व में मिलकर परितृप्त हो जाता है और वह संयोज्य कणों की संयोग प्रक्रिया में बाधक बनने का सामर्थ्य खो देता है। इस प्रकार वह सृष्टि प्रक्रिया से बहिष्कृत हो जाता है। उसकी तीक्ष्ण रश्मियाँ शान्त हो जाती हैं, जिससे वह किसी भी पदार्थ पर प्रहार नहीं कर सकता है। यहाँ 'फलीकरण' शब्द का अर्थ है कि उस अप्रकाशित बाधक विद्युद्वायु की जो बाधक तीक्ष्ण प्रवृत्ति है, उसे तोड़कर पृथक् कर देना। जैसा कि हम पूर्व में

अनेकत्र चर्चा कर चुके हैं कि विभिन्न वज्ररूप किरणें यह कार्य करने में समर्थ होती हैं। उस पृथक्कृत बाधक पदार्थ को आकाश तत्त्व में छुपाना ही 'तुष' है, क्योंकि वहाँ वह तत्त्व तृप्त वा शान्त हो जाता है। यहाँ 'अस्ना रक्षः संसृजतात्' का प्रभाव यह होता है कि अस्ना अर्थात् प्रजापतिना = मनस्तत्त्व के द्वारा वह बाधक पदार्थ आकाश तत्त्व के साथ इस प्रकार मिला दिया जाता है, जिससे कि वह पूर्ण शान्त, नियन्त्रित व तृप्त हो जाता है। इस प्रकार संयोज्य कणों वा लोकों की प्रक्रिया निर्बाधरूपेण सम्पन्न हो जाती है। उधर उस बाधक अप्रकाशित असुर तत्त्व को मानो उसके भागरूप आकाशतत्त्व से संयुक्त करके सर्गप्रक्रिया से बाहर कर दिया जाता है। आचार्य सायण ने इस छन्द रश्मि को भी अभिगुप्रैष संज्ञक माना है, इस कारण इसका विशेष प्रभाव भी पूर्ववत् समझें। इस प्रसंग में अन्य महर्षियों का भी कुछ ऐसा ही संकेत इस प्रकार मिलता है-

"तुषैरेव रक्षांसि निरवदयते" (तै.ब्रा.३.२.५.११)

"तुषानोप्य रक्षसां भागोऽसीत्यधस्तात् कृष्णाजिनस्योपवयति।" (आप.श्रौ.१.२०.६)

इससे यह संकेत मिलता है कि राक्षस संज्ञक पदार्थ उपर्युक्त प्रकार से छिन्न भिन्न होकर अजेय आकर्षण युक्त तरंगों के द्वारा आकाश में मिश्रित व शान्त हो जाता है। उस समय कृष्णाजिन संज्ञक अजेय आकर्षण बलयुक्त रश्मियों से दबा हुआ पड़ा रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रसंग में अप्रकाशित ऊर्जा को नियन्त्रित करके उसे विभिन्न कणों वा लोकों से परे हटा कर आकाश तत्त्व में छुपाने-मिलाने की चर्चा की गयी है। उसी प्रकरण को विस्तार देते व स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उसी समय एक **आर्षी गायत्री** की एक पाद रूपी छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जो तेजहीन वा अव्यक्त तेज वाली होती है। **यह रश्मि उस डार्क एनर्जी को छिन्न-भिन्न करके आकाश तत्त्व के साथ ऐसा मिश्रण बना देती है कि वह डार्क एनर्जी फिर नियन्त्रित एवं परितृप्त हो जाती है, जिससे वह विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया में बाधक नहीं बन पाती और वे क्रियाएं निर्बाध गति से होती रहती हैं।।**

२. तदाहुर्न यज्ञे रक्षसां कीर्तयेत् कानि रक्षांस्यृतेरक्षा वै यज्ञ इति।।
तदु वा आहुः कीर्तयेदेव।।
यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते त्वेवैनमिति।।

{कीर्तेः = कीर्त्यते संशब्द्यते सा कीर्त्तिः (उ.को.४.१२०), भागः = भग-प्रातिपदिकात् 'तस्येदम्' इत्यर्थे समूहार्थेवा अण्}

व्याख्यानम्- कुछ विद्वान् कहते हैं कि सृष्टि प्रक्रिया में असुर तत्त्व अर्थात् हिंसक अप्रकाशित विद्युत् वायु की कोई उपयोगिता नहीं है। इस कारण उसका अस्तित्त्व ही नहीं होना चाहिए। क्योंकि वह पदार्थ हर संयोग प्रक्रिया में बाधक है। तब सम्पूर्ण सृष्टि उससे मुक्त ही होनी चाहिए। इस कारण वे कहते हैं कि फिर सृष्टि निर्माण के प्रसंग में यत्र-तत्र इस पदार्थ की क्यों चर्चा की गयी है?

इसका एक अन्य तात्पर्य यह भी है कि संयोगादि प्रक्रियाओं में जो अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु होता है, वह ध्वनि उत्पन्न नहीं करता। किसी भी प्रकार की बाधक रश्मियाँ न ध्वनि उत्पन्न करती हैं और न नियन्त्रण के पश्चात् इन पदार्थों का आकाश तत्त्व में पूर्वोक्तानुसार विलय हो जाने पर उनका कोई प्रभाव ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसका आशय यह है कि इनके मतानुसार बाधक रश्मियाँ पूर्णतः ध्वनि रहित और नियन्त्रण के पश्चात् पूर्णतः अज्ञेय और अलक्षण हो जाती हैं।

हमारे मत में बाधक अप्रकाशित पदार्थ न तो कभी पूर्णतः ध्वनि रहित होता है और न ही पूर्णतः निष्क्रिय, अलक्षण एवं गुप्त ही हो पाता है, बल्कि सूक्ष्म प्रतिकर्षणादि के रूप में उसका प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य ही रहता है और उसमें से अति मन्द ध्वनि तरंगें कुछ मात्रा में अवश्य विद्यमान रहती हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि अप्रकाशित पदार्थ डार्क एनर्जी आदि नियन्त्रित होकर आकाश तत्त्व में विलीन होने के उपरान्त भी स्वल्प मात्रा में प्रतिकर्षण वल और विशेष प्रकार की सूक्ष्म ध्वनि तरंगों से युक्त रहते हैं, भले ही उसे हम किसी भौतिक तकनीक से न जान पायें।।

इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि सृष्टि प्रक्रिया में इस पदार्थ का भी महत्व है। यह पदार्थ अति प्रक्षेपक एवं प्रतिकर्षण वल से युक्त होता है, जिसकी सृष्टि प्रक्रिया में एक मर्यादा तक सर्वत्र आवश्यकता रहती है। केवल आकर्षण वल के कारण ही सृष्टि निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार केवल संयोग प्रक्रिया से ही सृष्टि का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता, वल्कि प्रतिकर्षण वल, वियोजन और भेदन प्रक्रिया भी इसके साथ-साथ अनिवार्य होती है। खण्ड १.२३ में प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थों के मध्य संघर्ष, अप्रकाशित असुर तत्त्व द्वारा लोकों का पृथक्-पृथक् प्रक्षेपण, सृष्टि प्रक्रिया में इस पदार्थ की अनिवार्यता को दर्शाया गया है। इस कारण सृष्टि प्रक्रिया से सम्वन्धित शास्त्रों में असुर तत्त्व की चर्चा की गयी है।।

संयोग प्रक्रिया में भाग लेने वाले कण {चयते = (चय गतौ, चिञ् चयने} जव उस संयोग प्रक्रिया से असुर तत्त्व को सर्वथा दूर फेंक देते हैं, तव वे स्वयं उस संयोग से दूर हो जाते हैं क्योंकि उस समय प्रतिकर्षण वल नितान्त समाप्त हो जाता है और प्रतिकर्षण वल के नितान्त समाप्त होने से कण संयोग प्रक्रिया का वांछित परिणाम प्राप्त नहीं कर पायेंगे, वल्कि वे परस्पर मिलकर अनिष्ट पिण्ड का रूप धारण कर लेंगे। यदि किसी प्रकार उनमें यह दोष न आ सके तो, उनसे उत्पन्न पदार्थों में यह दोष उपस्थित हो जायेगा। इस कारण असुर तत्त्व की भी अपनी महत्ता सर्वत्र वतलायी गयी है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- अप्रकाशित पदार्थ डार्क एनर्जी आदि सृष्टि प्रक्रिया में प्रायः वाधक के रूप में जाने जाते हैं, पुनरपि उनका भी सृष्टि प्रक्रिया में विशेष महत्व है। **यह पदार्थ विशाल लोकों के विखण्डन, उनका दूर-२ प्रक्षेपण करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विभिन्न कणों के बीच विखण्डन एवं उचित दूरी बनाये रखने में भी इसकी भूमिका रहती है।** इसके अभाव में लोक-लोकान्तरों का निर्माण एवं विभिन्न कणों के बीच उचित एवं आवश्यक दूरी का होना सम्भव न होने से सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया ध्वस्त हो जायेगी।।

३. स यदि कीर्तयेदुपांशु कीर्तयेत्तिर इव वा एतद्वाचो यदुपांशु तिर इवैतद् यद् रक्षांसि।।
अथ यदुच्चैः कीर्तयेदीश्वरो हास्य वाचो रक्षोभाषो जनितोः।।
योऽयं राक्षसीं वाचं वदति सः।।
यां वै दृप्तो वदति, यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्।।
नाऽऽत्मना दृप्यति नास्य प्रजायां दृप्त आजायते य एवं वेद।।

{दृप्तः = (दृप् = प्रज्वलित करना, प्रकाशित करना - आप्टे कोष)। तिरः = तिर्यक् (म.द.ऋ.भा.४.२६.१), अन्तर्धाने (म.द.ऋ.भा.१.४६.६), अधोगमने (म.द.ऋ.भा.१.६१.७), तिरस्तीर्णं भवति (नि.३.२०)। उन्मत्तः = (मदी हर्षे, तेजो वै मदन्ती - मै.३.७.१०; रसो वै मदः - जै.ब्रा.१.२१५)}

व्याख्यानम्- जव कोई संयोज्य कण संयोग के समय किसी असुर तत्त्व के प्रतिकर्षण वल एवं ध्वनि आदि का प्रकाशन करता है, तव वह इस प्रकार प्रकाशन करता है, मानो उस असुर तत्त्व की रश्मियाँ छुप गई हों अथवा निष्क्रिय हो गई हों। असुर तत्त्व की वे रश्मियाँ वक्रीय गति से अति दूर तक जाने वाली होती हैं, परन्तु उनकी स्थिति अन्तर्धान जैसी हो जाती है। अप्रकाशित हिंसक विद्युद् वायु आदि वाधक तत्त्व सभी वक्रीय गमन करने वाले होते हैं। वे भले ही तीक्ष्ण शक्तिसम्पन्न क्यों न हों, परन्तु

वे सदैव अन्तर्धान अर्थात् अदृश्य स्थिति में ही रहते हैं। जब किन्हीं संयोज्य कणों का संयोग सम्पन्न हो रहा होता है अथवा हो जाता है, उस समय भी अपने आस-पास आकाश तत्त्व में छुपे हुए अप्रकाशित हिंसक पदार्थ के प्रभाव को वे कण अनुभव करते एवं दर्शाते हैं, परन्तु उस समय उनका प्रभाव इस प्रकार होता है, मानो उनमें वाक् तत्त्व अन्तर्धान हो गया हो। ऐसी स्थिति में वह अप्रकाशित हिंसक पदार्थ न तो हिंसक ही रहता है और न स्पष्ट प्रभाव वाला ही।।

जब कोई संयोज्य कण उच्चैः अर्थात् अप्रकाशित पदार्थ को उत्कृष्ट रूप से तीक्ष्ण एवं एकत्रीभूत अवस्था में प्रकाशित वा अनुभव करता है, उस समय उस कण में विद्यमान वाक् तत्त्व और समर्थ हो जाता है कि वह स्वयं अप्रकाशित हिंसक पदार्थ के अन्दर विद्यमान वाक् तत्त्व के समान व्यवहार करने लगता है। इसका आशय यह है कि **अप्रकाशित हिंसक पदार्थ के किसी संयोज्य कण के अति निकट आने पर उस कण का वाक् तत्त्व अप्रकाशित हिंसक पदार्थ के वाक् तत्त्व से मिलकर विस्फोटक शक्ति उत्पन्न कर देता है और उस विस्फोटक शक्ति से ही कोई भी कण, कणों का समुदाय अथवा विशाल लोक-लोकान्तर विदीर्ण होकर तीव्र गतियों को प्राप्त करते हैं।** इस प्रक्रिया में अति भयंकर व तीक्ष्ण ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं और ध्वनि अप्रकाशित हिंसक पदार्थ के द्वारा ही उत्पन्न होती है।।+।।

यहाँ अप्रकाशित हिंसक विद्युद् वायु के वाक् तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यह वाक् तत्त्व किसी भी कण व लोकादि को अति तीव्रता से प्रज्वलित करता हुआ तीव्र गति प्रदान करता है। इसके प्रभाव से कोई भी कण वा लोक अति तीक्ष्ण शक्ति से सम्पन्न होकर उन्मत्त की भांति तीव्र गतिशील हो उठते हैं। इस अवस्था में वे परस्पर कभी संयुक्त नहीं हो पाते, अपितु परस्पर दूर ही भागते रहते हैं।।

जब कोई पदार्थ अप्रकाशित हिंसक पदार्थ के नियन्त्रित तथा आकाश तत्त्व में विलीन स्वरूप को ही अति दुर्बल रूप से अनुभव करता है, उस समय वह पदार्थ न तो अत्यन्त ज्वलनशील होता है और न ही परस्पर दूर भागकर संयोग आदि क्रियाओं से वंचित रहता है। इस पदार्थ से उत्पन्न अन्य पदार्थ भी इसी स्वरूप को प्राप्त करते हैं अर्थात् वे भी जलकर वा विस्फोटित होकर नष्ट नहीं होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किन्हीं कणों वा लोकों का परस्पर संयोग होता है और उस समय जो **डार्क एनर्जी आदि बाधक पदार्थ छिन्न-छिन्न वा नियन्त्रित होकर आकाश तत्त्व में विलीन हो जाता है, उस समय भी उसमें से अति मन्द ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। डार्क एनर्जी की रश्मियाँ भी अदृश्य और गुप्त रहकर इस ब्रह्माण्ड में दूर तक गमन करने वाली होती हैं। उस समय भी उनमें से ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं।**

जब वह डार्क एनर्जी आदि पदार्थ किन्हीं कण वा लोकों पर प्रहार करते हैं, उस समय तीव्र ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं और उस प्रहार से वे कण वा लोक जलकर नष्ट हो सकते हैं अथवा ब्रह्माण्ड में दूर तक प्रक्षिप्त किये जा सकते हैं। जब वह डार्क एनर्जी आदि पदार्थ नियन्त्रण में होता है, तब कोई भी कण वा लोक न तो जलकर नष्ट होते हैं और न वे परस्पर दूर भागते हैं, बल्कि समुचित संयोग प्रक्रिया सम्पन्न करके सृष्टि प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं।।

४. वनिष्ठुमस्य मा राविष्टोरूकं मन्यमाना नेद् वस्तोके तनये रविता रवच्छमितार इति ये चैव देवानां शमितारो ये च मनुष्याणां तेभ्य एवैनं तत् परिददाति।। अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगा३ उ इति त्रिर्ब्रूयादपापेति चाध्रिगुर्वै देवानां शमिताऽपापो निग्रभीता शमितृभ्यश्चैवैनं तन्निग्रभीतृभ्यश्च संप्रयच्छति।।

{वनिष्ठुः = सम्भाजी (म.द.य.भा.१६.८७), याचनम् (तु.म.द.य.भा.२५.७), (वनु याचने, वन शब्दे संभक्तौ धातोर्वा औणा. इष्टुप् बाहुलकात् - वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री)। राविष्ट = लवनं कुरुत - इति सायणः। उरुकः = उलूकः, इति सायणः (वलतेऽसौ उलूकः

- उ.को.४.४२)। वल संवरणे संचलने च = जाना, हिलना-डुलना, मुड़ना, आकृष्ट होना, ढकना, घेरना, ढका जाना, घेरा जाना, बढ़ाना (आप्टे कोष)। अध्रिगुः = अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते अधृतगमनकर्मवन्, इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते (नि.५.११), अधिकगन्ता (तु.म.द.ऋ.भा.५.७३.२), योऽधृन् धारकान् गच्छति (तु.म.द.ऋ.भा.५.१०.१)। मन्यते = मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा (नि.१०.२९)। वन् = (भ्वा.) = शब्द करना, व्यस्त होना। वन (तना.) = याचना करना, खोज करना, प्राप्त करने की चेष्टा करना, जीतना। वन (भ्वा.) (चुरा.) = चोट पहुचाना, सहायता करना (आप्टे कोष)। तोकम् = तुज् हिंसाबलादाननिकेतनेषु (चुरा.) धातोः संज्ञायां घः प्रत्ययः (वै.को.-आ. राजवीर शास्त्री), तोकं तुद्यतेः (नि.१०.७), (तुज = रहना, बलवान् होना ग्रहण करना, प्रकाशित होना, मार डालना-आप्टे कोष)}

व्याख्यानम्- विभिन्न कण, लोक वा नेब्यूलादि पदार्थ, जो अप्रकाशित बाधक पदार्थ को नियन्त्रित करके संयोगार्थ अन्य कणों, लोकों आदि को आकर्षित करते हुए, भाँति-भाँति की ध्वनियां उत्पन्न करते हुए परस्पर एक दूसरे से टकराते हुए विविध गतियों से युक्त होकर अपने निकटस्थ पदार्थ को घेर कर अपना आकार बढ़ाते रहते हैं। ऐसी दशा को प्राप्त वे लोक पुनः अप्रकाशित बाधक पदार्थ के द्वारा विखण्डित नहीं किए जा सकते। ध्यातव्य है कि कणों वा लोकों के आकार की वृद्धि प्रारम्भिक काल में होती है, पूर्णता प्राप्त होने के उपरान्त नहीं। यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है कि अप्रकाशित हिंसक विद्युद् वायु के आक्रमण सहते-२ जब उस पर नियन्त्रण होकर लोक वा कण उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, उसके उपरान्त वे उस हिंसक पदार्थ के आक्रमण से लगभग पूर्णतः मुक्त हो जाते हैं अर्थात् फिर वह पदार्थ उन लोकों वा कणों को तोड़ नहीं सकता। उस समय वे कण वा लोक **'मन्यमानाः'** अर्थात् दीप्ति से युक्त तेजस्वी हो जाते हैं, साथ ही उनका स्वयं का सामर्थ्य भी तीव्र व तीक्ष्ण हो जाता है, जिससे कोई बाधक पदार्थ उन्हें प्रायः नष्ट नहीं कर पाता। इस स्थिति का अपवाद भी इस ब्रह्माण्ड में देखा जाता है। प्रलयकाल प्रारम्भ अथवा कहीं-२ तारों में विस्फोट का होना, इस अपवाद के उदाहरण हैं। उस समय **शमिता** अर्थात् मन और वाक् तत्त्व से उत्पन्न अति तीक्ष्ण विभिन्न प्राणादि पदार्थ अति विस्तृत, देदीप्यमान और हिंसक हो उठते हैं। उस समय वे महाघोर ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। उसी समय अप्रकाशित पदार्थ भी घोर गर्जना करता हुआ बड़े-बड़े लोकों को विदीर्ण कर डालता है, लेकिन इस प्रकार की घटनाएं असामान्य परिस्थिति में ही होती हैं। सामान्य सर्ग प्रक्रिया में मन और वाक् तत्त्व एवं इनसे उत्पन्न प्राणादि पदार्थ सभी प्रकाशित कणों वा तरंगों तथा मनुष्य नामक कणों को सब ओर से ग्रहण करके विभिन्न कणों वा लोकों को स्वरूप प्रदान करते हैं। **आश्वलायन श्रौत सूत्र ३.३.१** में **"वनिष्ठुमस्य........शमितारः"** विद्यमान है। आचार्य सायण ने इसकी मंत्र संज्ञा की है। किसी भी वेद संहिता में यह मंत्र उपलब्ध नहीं है। सम्भव है सृष्टि प्रक्रिया में छन्द रश्मि के रूप में यह उत्पन्न होता हो, तब इसका वही प्रभाव होगा, जो हमने यहाँ व्याख्यात किया है।।

अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगा३ उ अपाप (आश्व.श्रौ.३.३.१) इसे भी सायण ने मंत्र संज्ञा दी है। इस विषय में कहा गया है **"अध्रिग्वादि त्रिरुक्त्वा" (आश्व.श्रौ.३.३.४)**। तदनन्तर यह छन्द रश्मि, जो **आश्व.श्रौ.३.३.१** में वर्णित है, उत्पन्न होती है और इसके **"अध्रिगो शमीध्वम्"** पदों की तीन बार आवृत्ति होती है। यह छन्द रश्मि सबके नियन्त्रक मन और वाक् तत्त्व से उत्पन्न होती प्रतीत होती है और इसका देवता भी शमिता अर्थात् मन और वाक् तत्त्व ही प्रतीत होता है। **महर्षि ऐतरेय महीदास** के अनुसार **'अपाप'** पद भी तीन बार आवृत्त होता है। इस प्रकार यह मन्त्र कुल ३४ अक्षर वाला हो जाता है, जो स्पष्टतः आर्षी विराट् बृहती वा स्वराडनुष्टुप् छन्द है। यदि **'अपाप'** शब्द की तीन आवृत्ति मानें, तब यह ऋचा ४० अक्षरों वाली होने से पंक्ति छन्द का रूप धारण कर लेती है। इसके प्रभाव से मन और वाक् तत्त्व की नियन्त्रण क्षमता अति विस्तृत हो जाती है और विद्युद् अग्नि एवं इन्द्र तत्त्व अजेय शक्ति से सम्पन्न होकर विविध कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं अर्थात् वे दोनों तत्त्व विभिन्न कणों और लोकों को अच्छी प्रकार नियन्त्रित करने में समर्थ होते हैं। यहाँ **'अध्रिगो'** पद प्लुत होने से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि मन व वाक् तत्त्व इस छन्द रश्मि के साथ संयुक्त होकर अग्नि व इन्द्र तत्त्व को दूर-२ से भी आकर्षित करके शक्तिसम्पन्न करता है। इसके साथ ही वे दोनों

पदार्थ विभिन्न कणों वा लोकों को अप्रकाशित बाधक विद्युद् वायु की बाधा से मुक्त रखने में भी सक्षम होते हैं। वे पदार्थ विभिन्न प्रकाशित कणों को भी नियन्त्रित करते हैं और वे बाधक तत्त्वों को पकड़कर उनका निग्रह करके सृष्टि प्रक्रिया को निर्बाध भी बनाते हैं। यहाँ मन और वाक् किंवा प्राणापान को भी 'अपाप' कहा जा सकता है। क्योंकि इन तत्त्वों पर असुर तत्त्व का कोई प्रभाव नहीं होता और असुर तत्त्व को मूलतः नियन्त्रण करने वाले यही तत्त्व होते हैं। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न लोक वा कण, मन और वाक्, प्राणापान और अग्नि वा इन्द्र के द्वारा सम्यग् रूप से ग्रहण कर लिये जाते हैं, जिससे वे अपनी सभी क्रियाओं को भली प्रकार से सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न कण वा लोक अप्रकाशित ऊर्जा आदि विभिन्न बाधक तत्त्व की बाधाओं को पार करते हुए जब अपने स्वरूप में प्रकाशित होने लगते हैं, तब वे अपनी अभीष्ट गतियों को प्राप्त करते हुए भांति-२ की ध्वनियाँ उत्पन्न करने लगते हैं और उस समय वे सभी आवश्यक बलों से सम्पन्न हो जाते हैं, ऐसे समय में डार्क एनर्जी आदि पदार्थ उनको प्रायः हानि नहीं पहुँचाते। इस ब्रह्माण्ड में कभी-कभी इसका अपवाद भी देखा जाता है। प्रलयकाल में तो इसके विपरीत ही सभी क्रियाएं देखी जाती हैं। उस समय डार्क एनर्जी और कुछ प्राणादि पदार्थ घोर गर्जना के साथ लोकों को विदीर्ण करने लग जाते हैं। विभिन्न कणों और लोकों के धारण करने में एक बृहती छन्द रश्मि का विशेष योगदान होता है। इसके प्रभाव से मन और वाक्, प्राण और अपान एवं विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अजेय शक्तिसम्पन्न होकर विभिन्न कणों वा लोकों को धारण करने में विशेष सक्षम हो जाती हैं। यहाँ यह भी प्रतीत होता है कि मन और वाक् तत्त्व विभिन्न प्रकाशित कणों वा तरंगों के नियन्त्रक और नियामक होते हैं और विभिन्न द्रव्य कण प्राणापान के सहयोग से विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को ग्रहण करने वाले अर्थात् उत्सर्जित वा अवशोषित करने वाले होते हैं। इन सबके सम्यग् मेल से ही सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया सुचारु रूप से चलती रहती है।।

५. शमितारो यदत्र सुकृतं कृणवथास्मासु तद्यद् दुष्कृतमन्यत्र तदित्याहाग्निर्वै देवानां होताऽऽसीत्, स एनं वाचा व्यशाद्, वाचा वा एनं होता विशास्ति तद्यदर्वाग्यत्परः कृन्तन्ति यदुल्बणं यद्विथुरं क्रियते शमितृभ्यश्चैवैनत् तन्निग्रभीतृभ्यश्च समनुदिशति स्वस्त्येव होतोन्मुच्यते, सर्वायुः सर्वायुत्वाय।।
सर्वमायुरेति य एवं वेद।।७।।

{उल्बणम् = प्रचुर, जमा हुआ, तीव्र, बलशाली, स्पष्ट (आप्टेकोष)। विथुरः = व्यथेत बिभेति यस्मात् स विथुरः। बाहुलकात् (अत्र) थकारस्य धकारो न, तेन विथुरः (उ.को.१.३८) (व्यथ भयसञ्चलनयोः)। जपः = ब्रह्म वै जपः (कौ.ब्रा.३.७), मन एवाग्निः (श.१०.१.२.३)}

व्याख्यानम्- "शमितारो यदत्र......अन्यत्र तत्" आश्व.श्रौ.सूत्र में भी विद्यमान है। जहाँ कहा गया है "शमितारो यदत्र सुकृतं......तदिति जपित्वा दक्षिणावृदावर्तते" (आश्व.श्रौ.३.३.४) यह मन्त्र २५ अक्षर वाला आर्षी भुरिक् गायत्री प्रतीत होता है, जिसका देवता शमिता प्रतीत होता है। इसका आशय यह है कि इस छन्द रश्मि के प्रभाव से सबके मूल नियन्त्रक मन और वाक् तत्त्व विशेष तेजस्वी और बलवान् होते हैं। इसके साथ ही पूर्वोक्त अग्नि और इन्द्र आदि पदार्थ भी तेजस्वी और बलवान् होते हैं। इसके कारण वे मन, वाक्, अग्नि व इन्द्र आदि पदार्थ विभिन्न कणों वा लोकों में होने वाली समस्त क्रियाओं को अच्छी प्रकार सम्पन्न होने में सहयोग करते हैं। इसके साथ ही उन क्रियाओं को रोकने अथवा विकृत करने वाले अप्रकाशित हिंसक विद्युद् वायु आदि पदार्थों को दूर करने किंवा नियन्त्रित करने में सहयोग करते हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र के उपर्युक्त प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि यह छन्द रश्मि उपांशु रूप में उत्पन्न होती है। इसका तात्पर्य यह है कि यह विभिन्न पदार्थों में संयोज्य गुण उत्पन्न करने वाली परन्तु कुछ अव्यक्त रूप में उत्पन्न होती है। यह छन्द रश्मि विभिन्न कणों वा लोकों के दक्षिण भाग को आवृत कर लेती है, जिससे वे कण वा लोक चक्राकार गमन करने लगते हैं अथवा

उन्हें चक्राकार गमन करने में इस रश्मि का भी विशेष सहयोग मिलता है। यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि अग्नि ही देवों का मूल होता था। इसका आशय यह है कि सबसे अग्रणी और सबका नायक मनस्तत्त्व रूप अग्नि प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों रूप देवों का आदान-प्रदान-कर्त्ता होता है। वह वाक् तत्त्व के साथ मिथुन रूप में विद्यमान होकर उन प्राणों को नियन्त्रित भी करता है और विच्छिन्न भी। **यह सभी जड़ नियन्त्रकों में सबसे मूल नियन्त्रक तत्त्व है। सभी स्थूल नियन्त्रक प्राणापान आदि प्राण, अग्नि और इन्द्र तत्त्व आदि में भी मूलतः यही मनस्तत्त्व वाक् तत्त्व के योग से सभी पदार्थों को नियन्त्रित और विच्छिन्न करने का काम करता है।** सृष्टि के पूर्वकाल में अथवा उसके पश्चात् होने वाली क्रियाओं में विभिन्न कणों वा लोकों में भेदन और छेदन की जो भी क्रियाएं होती हैं, वे सभी इन्हीं मन, वाक् आदि पदार्थों के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। विभिन्न लोकों वा कणों को संयुक्त करने, उन्हें दृढ़ और शक्तिशाली बनाने के अतिरिक्त उन्हें गति देने एवं कंपाने की जो भी क्रियाएं होती हैं, वे भी इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होती हैं। अग्नि व इन्द्र तत्त्व आदि नियन्त्रक व भेदक पदार्थ एवं विभिन्न प्रकाशित तरंगों को अवशोषित वा आकर्षित करने वाले प्राण एवं अपान आदि प्राण एवं विभिन्न प्रकार के कणों को मन और वाक् तत्त्व ही मूलरूप से प्रेरित करते हैं। उनके कारण ही प्राण और अपानादि एवं विद्युदग्नि रूप होता अप्रकाशित हिंसक पदार्थों के आक्रमण से स्वयं को मुक्त करके सभी प्रकार की क्रियाओं को समुचित रीति से संचालित कर पाते हैं। इसके साथ ही इस सृष्टि में वे पूर्ण आयु को प्राप्त करके अपने से स्थूल विभिन्न संयोज्य कणों वा तरंगों को बाधक पदार्थों से सुरक्षित रखकर पूर्ण आयु प्राप्त कराते हैं।।

जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है, तब विभिन्न प्रकार के कण वा तरंग पूर्ण सृष्टिकाल तक विद्यमान रहते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इसी क्रम में एक भुरिक् गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न होकर सबके नियन्त्रक एवं विच्छेदनकर्ता मन और वाक् तत्त्व तथा विद्युत् और वायु को तेजस्वी और बलवान् बनाती है, जिससे वे तत्त्व और अधिक सक्रिय होकर डार्क एनर्जी आदि की बाधाओं को दूर करके विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को अच्छी प्रकार सम्पन्न करने में सक्षम होते हैं। यह छन्द रश्मि विभिन्न कणों वा लोकों को दक्षिण भाग से आवृत्त करके उनको चक्राकार घुमाने में सहयोग करती है। **इस सृष्टि में मनस्तत्त्व और वाक् तत्त्व का मिथुन रूप ही सबसे मूल जड़ प्रेरक, नियन्त्रक एवं विच्छेदक पदार्थ है। इसके पश्चात् विद्युत् इस प्रकार का पदार्थ है, परन्तु वह मन और वागू रूपी मूल प्रेरकों से ही प्रेरित होता है।** विभिन्न प्रकार के कणों वा लोकों आदि को प्रेरित करने, उन्हें उचित रीति से विच्छेदित करने, संयुक्त करने एवं नियन्त्रित करके नाना क्रियाओं को सम्पन्न करने तथा डार्क एनर्जी आदि प्रक्षेपक पदार्थों के अनिष्ट आक्रमणों को रोकने में इन्हीं की भूमिका होती है। इन्हीं के कारण विभिन्न लोक वा कण अपनी आयु को पूर्ण करने में सक्षम होते हैं।।

∞ इति ६.७ समाप्तः ∞

अथ ६.८ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्, सोऽश्वं प्राविशत् तस्मादश्वो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स किंपुरुषोऽभवत्।।
तेऽश्वमालभन्त, सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्, स गां प्राविशत् तस्माद् गौर्मेध्योऽभवदथैनमु- त्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गौरमृगोऽभवत्।।
ते गामालभन्त, स गोरालब्धादुदक्रामत्, सोऽविं प्राविशत्, तस्मादविर्मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्त- मेधमत्यार्जन्त, स गवयोऽभवत्, तेऽविमालभन्त सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्, सोऽजं प्राविशत् तस्मादजो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त, स उष्ट्रोऽभवत्।।
सोऽजे ज्योक्तमामिवारमत तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः।।
तेऽजमालभन्त, सोऽजादालब्धादुदक्रामत्, स इमां प्राविशत्, तस्मादियं मेध्याऽभवदथैनमु- त्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त, स शरभोऽभवत्।।

{पुरुषः = इमे वै लोका पूरयमेव पुरुषो योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः (श.१३.६.२.१), प्राण एष स पुरि शेते स पुरि शेत इति। पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते (गो.पू.१.३६), स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः (श.१४.४.२.२), पुरुषो वै यज्ञः (जै.उ.४.२.१), पुरुषो वै संवत्सरः (श.१२.२.४.१), पुरत्यग्रं गच्छतीति पुरुषः (उ.को.४.७५)। अश्वम् = व्याप्तुं शीलं (मेघम्) (म.द.य.भा.१३.४२), शुक्लवर्णं वाष्पाख्यम् (ऋ.भा.भू.नौविमानादिविद्याविषयः - उद्धृत वै.को. -आ. राजवीर शास्त्री), अश्व इति महन्नाम (निघं.३.३), आशुगामी वायुरग्निर्वा (म.द.ऋ.भा.१.१६४.२), व्याप्तिशीलोऽग्निः (म.द.ऋ.भा.१.१६२.२२), अश्व इति किरणनाम, (निघं.१.५), अग्निर्वा अश्वः श्वेतः (श.३.६.२.५)। अति+अर्ज प्रतियत्ने = जाने देना, दूर करना (सं.धा.को. -पं. युधिष्ठिर मीमांसक)। किंपुरुषः = किंपुरुषो वै मयुः (श.७.५.२.३२), (मयुः = मिनोति सुशब्दं प्रक्षिपतीति मयुः - उ.को.१.७)। गौरः = गायति शब्दं करोतीति गौरः, अरुणे श्वेते पीते निर्मले च वाच्यलिङ्गः (उ.को.१.६५), गवतेऽव्यक्तं शब्दयतीति गौरः (उ.को.२.२६)। मृगः = मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः (नि.१.२०)। गवयः = गोसदृशः (तु.म.द.य.भा.१३.४६), गौरिवायो गमनं प्राप्तिर्वाऽस्येति गवयः, गो-अय-पदयोः समासः (वै.को.-आ.राजवीर शास्त्री)। अजः = क्षेपणशीलः (म.द.य.भा.२६.२३), प्रेरकः (म.द.ऋ.भा.३.४५.२), ब्रह्म वाऽअजः (श.६.४.४.१५), वाग्वाऽ अजः (श.७.५.२.२१), अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् (मै.२.७. १७), एषा वा अग्नेः प्रिया तनुर्यदजा (तै.सं.५.१.६.२), तस्या (गायत्र्यै) अग्निस्तेजः प्रायच्छत्, सोऽजोऽभवत् (मै.१.६.४)। उष्ट्र = ओषति दहतीति उष्ट्रः (उ.को.४.१६३), (उष् = उष दाहे = जलना, हिंसा करना, जलाना, उपभोग करना, चोट पहुँचाना -आप्टे कोष)। शरभम् = शल्यकम् (म.द.य.भा.१३.५१), शृणातीति (उ.को.३.१२२), शल्+अभच् = शलभः = शलते गच्छतीति (उ.को.३.१२२) (हमारे मत में लकार को रेफ होकर शलभः का शरभः हुआ है। यहाँ 'शल चलनसंवरणयोः = जाना, चुभना, चलना, आच्छादित करना, ढकना।

{व्रीहिः = व्रीहयः शक्वर्यः (जै.ब्रा.१.३३३), (शक्वरीः = शक्तिनिमित्ता गाः - म.द.य.भा. २१.२७), शक्वरी बाहुनाम (निघं.२.४), गोनाम (निघं.२.११), शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः, तद् यद् आभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते (नि.१.८), पशवः शक्वर्यः (तां.१३.१.३), आपो वै शक्वर्यः (जै.ब्रा.३.६२)। पशवः = पशवो वै हविष्मन्तः (श.१.४.१.६)। उद्+क्रम् = ऊपर होना, परे जाना, परे कदम रखना, उपेक्षा करना - आप्टे कोष}

व्याख्यानम्- अब महर्षि सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरणों को क्रमबद्ध व्याख्यात करते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम मन एवं वाक् तत्त्व रूपी प्राथमिक देव पदार्थ समस्त अवकाश रूप आकाश में विद्यमान दिव्य वायु, जो कि प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों के रूप में उस समय वर्तमान रहता है, को पशु रूप में देखते हैं। इसका आशय यह है कि **इस दिव्य वायु में सर्वप्रथम संगतीकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है।** उस समय यह दिव्य वायु रूपी पुरुष अप्रकाशित हिंसक विद्युद् वायु आदि बाधक पदार्थों से मुक्त होता है किंवा ऐसे बाधक पदार्थ उस समय उत्पन्न ही नहीं हो पाते हैं अथवा उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं। उस समय संगतीकरण की प्रक्रिया बिना किसी विघ्न बाधा के इस दिव्य वायु में सर्वतः प्रारम्भ हो जाती है। उसके पश्चात् संगतीकरण की प्रक्रिया इस दिव्य वायु से ऊपर उठकर आगे बढ़ने लगी अर्थात् इससे उत्पन्न स्थूलतर पदार्थ में भी यह क्रिया व्याप्त होने लगी। ध्यातव्य है कि प्रारम्भिक अवस्था में दिव्य वायु से स्थूल कोई पदार्थ विद्यमान ही नहीं था। तब संयोग प्रक्रिया स्थूल पदार्थों में कैसे व्याप्त हो गयी, इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि स्थूल पदार्थ उस दिव्य वायु से ही उत्पन्न हुए। इन स्थूल पदार्थों का नाम महर्षि ऐतरेय महीदास 'अश्व' देते हैं। हमारी दृष्टि में यहाँ 'अश्व' शब्द का अर्थ 'वाजी' अर्थात् छन्द रश्मियां होता है। इसी कारण कहा है "वाजिनो ह्यश्वाः" (श.५.१.४.१५) एवं "छन्दांसि वै वाजिनः" (मै.१.१०.६)। **ये छन्द भी प्राजापत्य छन्द होते हैं,** इसलिए कहा है "प्राजापत्यो वा अश्वः" (तै.सं.३.२.६.३; मै.४.४.८)। इससे यह भी स्वयमेव स्पष्ट हो रहा है कि दैवी छन्द दिव्य वायु के अन्तर्गत ही समाहित होते हैं। दूसरे चरण की संयोग प्रक्रिया इन्हीं प्राजापत्य छन्द रश्मियों में होने लगती है। ये रश्मियां अत्यन्त व्यापक स्तर पर विद्यमान होती और अति आशुगामी भी होती हैं। इसमें संयोग प्रक्रिया उत्पन्न होने पर शेष दिव्य वायु कैसे स्वरूप वाला हो जाता है, इसके उत्तर में महर्षि कहते हैं कि वह किंपुरुष = मयुः के रूप में अवस्थित हो जाता है। इसका आशय यह है कि वह शेष **दिव्य वायु एक ऐसे पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है, जो दूर तक फैला और मन्द-२ शब्द को उत्पन्न करने होता है अथवा जिसमें शब्द उत्पन्न वा प्रक्षिप्त होते हैं। हमारी दृष्टि में यही तत्त्व आकाश तत्त्व है, जिसका गुण शब्द बतलाया गया है।** यह शब्द गुण वाला आकाश तत्त्व संयोग-वियोग प्रक्रिया से कुछ दूर हो जाता है अथवा उसमें कम भाग लेता है। इस विषय में हमारा एक अन्य मत यह भी है कि यह **मयु (किंपुरुष) नाम का पदार्थ एक ऐसा पदार्थ है, जो अत्यन्त प्रक्षेपक क्षमता से युक्त एवं अत्यन्त व्यापनशील होता है, साथ ही यह सूक्ष्म ध्वनियां भी उत्पन्न करता रहता है। हमारी दृष्टि में यह पदार्थ ही सबसे सूक्ष्म एवं प्रारम्भिक असुर तत्त्व (अप्रकाशित हिंसक बाधक पदार्थ) कहलाता है।** इसमें होने वाली प्रक्रियाएं अत्यन्त तीक्ष्ण होती हैं और इस पदार्थ में कभी भी किसी प्रजा का वास नहीं होता है।।

तदनन्तर वे मन और वाक् तत्त्व रूपी देव उन प्राजापत्य छन्द रश्मियों में सब ओर से व्याप्त हो गये और उनमें संगतीकरण की प्रक्रिया तेज होने लगी परन्तु कुछ काल पश्चात् संयोग प्रक्रिया उपर्युक्त प्राजापत्य छन्द रश्मियों से आगे बढ़कर उनसे उत्पन्न अन्य महद् रश्मियों अर्थात् बड़ी छन्द रश्मियों में व्याप्त हो जाती है। ये छन्द रश्मियाँ लघु छन्द रश्मियों से ही उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ अधिक तेजस्वी और बलवती होती हैं। इसी कारण कहा है- 'इन्द्रियं वै वीर्यं गावः' (श.५.४.३.१०), 'गावो वै शक्वर्यः' (जै.ब्रा.३.१०३), 'गौस्त्रिष्टुप्' (तै.सं.७.५.१.५), 'जगती छन्दस्तद् गौः प्रजापतिर्देवता' (मै.२.१३.१४) इस प्रकार संयोग प्रक्रिया इन तीव्र छन्दों में सब ओर से व्याप्त हो जाती है अर्थात् ये परस्पर संयुक्त होने लगते हैं। इसके साथ ही पूर्वोक्त सूक्ष्म छन्द रश्मियां, जो स्थूल रश्मियों में परिवर्तित होने से शेष रह जाती हैं, वे गौरमृग में परिवर्तित हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि **वे रश्मियां अरुण-पीत-श्वेत रंग वाली किरणों के विशाल मेघ के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। यह वर्ण निर्मल वा स्पष्ट होता है। प्रतीत होता है कि रूपवान् अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति यहाँ हो जाती है।**

इनमें अव्यक्त ध्वनियां भी उत्पन्न होती रहती हैं। ये रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त रहती हुई भी संयोगादि प्रक्रियाओं से अन्य पदार्थ की भाँति परिपूर्ण नहीं होती हैं अर्थात् इनमें वे क्रियाएं न्यूनतर होती हैं।।

{अविः = अविं पशुम् (प्रजापतिः पद्भ्यामेवासृजत - जै.ब्रा.१.६६), इयं (पृथिवी) वाऽअविरियं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति (श.६.१.२.३३), नासिकाभ्यामेवास्य (इन्द्रस्य) वीर्यमस्रवत् सोऽविः पशुरभवन्मेषः (श.१२.७.१.३), (नासिका = नासिका नसतेः - नि.६.१७; नसते गतिकर्मा - निघं.२.१४; नासिके ऽउ वै प्राणस्य पन्थाः - श.१२.६.१.१४; यथा वै नासिकैवं यूपः - श.४.२.१.२५)}

तदनन्तर वे मन एवं वाक् तत्त्व रूपी देव उपर्युक्त विभिन्न छन्द रश्मियों में सब ओर से व्याप्त हो गये और उनमें संगतीकरण की क्रिया तीव्र होने लगी परन्तु कुछ कालोपरान्त वह संयोग प्रक्रिया उन छन्द रश्मियों से आगे बढ़कर उनसे उत्पन्न 'अवि' नामक पदार्थ में विशेषरूपेण व्याप्त हो गयी। यहाँ **'अवि' का तात्पर्य उस व्यापक पदार्थ से है, जो अन्तरिक्ष में फैला रहता व जिसमें अपना प्रकाश नहीं होता है। इसके कण पूर्वोत्पन्न त्रिष्टुबादि छन्द रश्मियों से उत्पन्न इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीव्र तेजस्वी विद्युद्वायु से उत्पन्न होते हैं।** उनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया महर्षि याज्ञवल्क्य अपने शतपथ ब्राह्मण में उपर्युक्त उद्धरणों के माध्यम से बतलाते हुए कहते हैं- **जब विद्युद्वायु के अन्दर प्राणतत्त्व के प्रवाहित होने के मार्ग से कुछ तेजस्वी रश्मियाँ प्रवाहित होने लगती हैं, तब वे रश्मियां अप्रकाशित कणों के रूप में संघनित होने लगती हैं।** जैमिनीय ब्राह्मण १.६६ के प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि इन कणों का निर्माण प्रजापति अर्थात् विभिन्न छन्दरश्मियों के विभिन्न पदों के संयोग से होता है। उन पदों का संयोग उपर्युक्त इन्द्रतत्त्व से प्रवाहित तेजस्वी रश्मियों से ही होता है तथा उससे अप्रकाशित कणों की उत्पत्ति होती है। ये अप्रकाशित कण 'अवि' इस कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये विभिन्न छन्दादि रश्मियों, विभिन्न प्रकाशित तरंगों एवं अन्य अनेक प्राणादि रश्मियों को धारण करने वाले होते हैं तथा उनके कारण ही गति, आकर्षण बलादि से युक्त होते हैं। उधर जब मन, वाक् की संगतीकरण की प्रक्रिया जिन छन्द रश्मियों से दूर हो जाती है किंवा जो छन्द रश्मियां अप्रकाशित कणों में परिवर्तित नहीं हो पाती हैं, वे 'गवय' में परिवर्तित हो जाती हैं। यहाँ **'गवय' पदार्थ भी गो पदार्थ के समान ही होता है अर्थात् वे रश्मियां छन्द रश्मियों के रूप में ही ब्रह्माण्ड में सर्वत्र प्राप्त वा व्याप्त रहकर अपना कार्य करती रहती हैं।**

इसके पश्चात् मन एवं वाक् तत्त्व ने संगति प्रक्रिया को उन अप्रकाशित कणों के मध्य सब ओर से व्याप्त कर दिया परन्तु कुछ काल पश्चात् वह प्रक्रिया उन कणों से भी आगे बढ़कर उन्हीं से उत्पन्न 'अज' नामक पदार्थ में व्याप्त हो गयी। इस 'अज' पदार्थ के स्वरूप पर उपर्युक्त प्रमाणों को दृष्टिगत रखकर विचार करते हैं- **यह पदार्थ ज्वलनशील अग्नि से उत्पन्न होता है तथा इसमें ही अग्नि तत्त्व का विस्तार होता है। इससे प्रतीत हो रहा है कि तेजवर्धक गायत्री एवं त्रिष्टुप् आदि छन्द रश्मियों से इसकी उत्पत्ति होती है।** प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि फिर यहाँ अप्रकाशित कणों से इसकी उत्पत्ति क्यों बतायी है? इसका कारण यह है कि विभिन्न अप्रकाशित कण विभिन्न छन्द रश्मियों के सघन रूप ही होते हैं, साथ ही वे विभिन्न छन्द रश्मियों से आवृत्त भी होते हैं। जब वे अप्रकाशित कण अग्नि तत्त्व के संयोग से देदीप्यमान हो जाते हैं। उस समय उनमें से यह 'अज' नामक तेजस्वी पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। यह पदार्थ तीव्र रूप से प्रक्षेपणशील भी होता है। इसी 'अज' नामक पदार्थ में मन और वाक् तत्त्व की संगतीकरण-प्रक्रिया व्याप्त हो जाती है, जिससे उसके परमाणु विभिन्न संयोगों को उत्पन्न करके नाना पदार्थों में परिवर्तित होने लगते हैं। उधर जो अप्रकाशित कण संयोगादि प्रक्रियाओं से कुछ वंचित होकर 'अज' नामक पदार्थ में परिवर्तित नहीं होते हैं, वे उष्ट्र रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। यहाँ **उष्ट्र उस पदार्थ का नाम है, जो तीव्र दाहक होता है और जिसकी भेदन क्षमता भी अधिक होती है। इसके कारण यह पदार्थ सबको जलाता हुआ तोड़-फोड़ करता रहता है, परन्तु इसमें संयोग की प्रक्रिया न्यून होने के कारण अन्य पदार्थ से कुछ पृथक् सा रहता है।।**

इसके पश्चात् पूर्वोक्त अज नामक तेजस्वी पदार्थ में मन और वाक् तत्त्व के द्वारा संगतीकरण की प्रक्रिया लम्बे काल तक चलती रहती है। **ये पदार्थ ही तेजस्वी और क्षेपणशील होने के कारण सबसे अधिक संयोज्य गुणधर्मी हो जाते हैं।** {ज्योक् = निरन्तरम् (म.द.ऋ.भा.१.१३६.६)} यह पदार्थ अग्नि तत्त्व के साथ अधिक संगमनीय होने के कारण संयोगादि प्रक्रिया के लिये अधिक उपयुक्त रहता है।।

इस कारण मन और वाक् तत्त्व की संगतीकरण की प्रक्रिया **इस** **'अज'** **नामक पदार्थ** में सब ओर से व्याप्त हो जाती है परन्तु एक दीर्घकाल के पश्चात् यह प्रक्रिया **उनसे भी आगे बढ़** जाती है। वह संगतीकरण प्रक्रिया इस पृथिवी अर्थात् सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में विद्यमान **प्रकाशित और अप्रकाशित** कणों में व्याप्त हो गयी। उधर उपर्युक्त अज नामक पदार्थ, जिनमें कि **संगतीकरण की प्रक्रिया** मन्द हो गयी थी, **शरभ** नामक पदार्थ में परिवर्तित हो गये। यहाँ **शरभ उस पदार्थ का नाम है, जो ब्रह्माण्ड में सबको आच्छादित करता हुआ भेदक शक्ति से सम्पन्न सर्वत्र विचरता रहता है। यह पदार्थ संयोग-वियोग की प्रक्रिया की मन्दता के चलते सृजन कार्यों की मुख्य धारा से कुछ पृथक् ही रहता है।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ सृष्टि प्रक्रिया के कुछ महत्वपूर्ण चरणों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम मन और वाक् तत्त्व प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों में संगतीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं। उस समय संगतीकरण की प्रक्रिया में बाधक अप्रकाशित ऊर्जा आदि पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो पाती है, जिसके कारण संगतीकरण की प्रक्रिया निर्बाध और तीव्र गति से चलती है। उसके पश्चात् इस प्रक्रिया से ही विभिन्न सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर मन और वाक् तत्त्व के द्वारा इन रश्मियों में संगतीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उधर पूर्व पदार्थ के शेष भाग में जो संगतीकरण की प्रक्रिया अति मन्द वा बन्द पड़ जाती है, **वही पदार्थ आकाश तत्त्व एवं अप्रकाशित ऊर्जा आदि में परिवर्तित हो जाता है। यही सर्वप्रथम ध्वनि ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। आकाश तत्त्व एवं डार्क एनर्जी व मैटर की भी यह प्रथम उत्पत्ति है।** उसके पश्चात् बड़ी एवं तीक्ष्ण छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं और उनमें मन और वाक् तत्त्व के द्वारा संयोगादि प्रक्रिया होने लगती है। उधर कुछ सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ संयोगादि प्रक्रिया की मन्दता की शिकार हो जाती हैं। उस समय **वे लाल, पीले और श्वेत रंगों के मिश्रित परन्तु स्पष्ट और स्वच्छ रूप वाली किरणों के विशाल मेघ के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। उनमें अव्यक्त ध्वनि तरंगें भी उत्पन्न होती रहती हैं।** उसके पश्चात् बड़ी छन्द रश्मियों से उत्पन्न **तेजस्वी विद्युत् के द्वारा अनेक पदार्थ कण उत्पन्न हो जाते हैं। ये पदार्थ कण विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय**
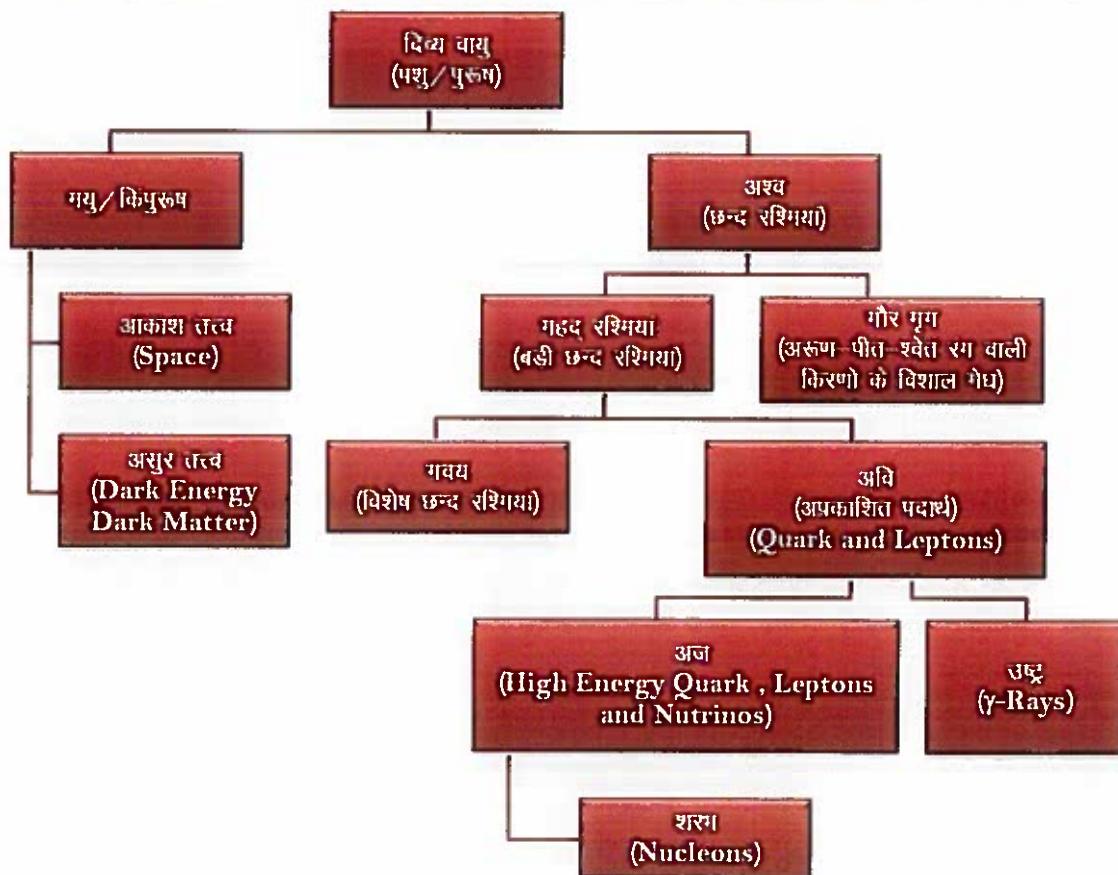
चित्र ६.१० सृष्टि प्रक्रिया के कुछ महत्वपूर्ण चरण

तरंगों को अवशोषित और उत्सर्जित करने के सामर्थ्य से युक्त होते हैं। हमारी दृष्टि में आधुनिक विज्ञान द्वारा **क्वार्क** एवं **लैप्टॉन** आदि पदार्थ इसी श्रेणी के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। उसके पश्चात् मन और वाक् तत्त्व के द्वारा इनमें संगतीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उधर संगतीकरण की प्रक्रिया की मन्दता से प्रभावित कुछ बड़ी छन्द रश्मियाँ अपने उसी रूप में इस ब्रह्माण्ड में विचरण करती रहती हैं। उसके पश्चात् उन लैप्टॉन्स और क्वार्क आदि के परस्पर संगत होने से किंवा उनकी विभिन्न छन्द रश्मियों से संगति होने से वे कण अति तीव्र भेदक और क्षेपक शक्तिसम्पन्न हो जाते हैं। कदाचित् न्यूट्रिनो आदि एवं विभिन्न प्रकार की तीव्र ऊर्जा युक्त तरंगें भी इन्हीं से उत्पन्न होती हैं और कुछ लैप्टॉन्स, क्वार्क आदि अपने ही प्रतिकणों से मिलकर अति तीव्र ऊर्जा वाली गामा (γ) तरंगों को उत्पन्न करते हैं। इसके पश्चात् **तीव्र ऊर्जा वाले लैप्टॉन्स और क्वार्क्स लम्बे काल तक मन और वाक् तत्त्व की मूल प्रेरणा से परस्पर संगत होकर विभिन्न न्यूक्लिऑन्स का निर्माण करते रहते हैं।** उसके पश्चात् मन और वाक् तत्त्व के द्वारा संगतीकरण की प्रक्रिया इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान समस्त न्यूक्लिऑन्स आदि पदार्थों में व्याप्त हो जाती है और उधर कुछ न्यूक्लिऑन्स इतनी तीव्र ऊर्जा से युक्त हो जाते हैं कि वे परस्पर संयोग ही नहीं कर पाते हैं। ऐसे तीव्र ऊर्जायुक्त न्यूक्लिऑन्स तीव्र भेदक क्षमतासम्पन्न होकर इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विचरते रहते हैं।।

२. त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्।।
तमस्यामन्वगच्छन्, सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्, तद्यत्पशौ पुरोळाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्, केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति।।
समेधेन हास्य पशुनेष्टं भवति, केवलेन हास्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद।।८।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण में जो-जो पदार्थ मन और वाक् तत्त्व की प्रेरणा से होने वाली संगति प्रक्रिया से हीन होते चले जाते हैं, वे सभी पदार्थ अमेध्य कहलाते हैं। ये पदार्थ कौन-कौन से हैं, इनको पुनः दर्शाने की आवश्यकता नहीं है, पाठक इसे वहीं देख सकते हैं। वे सभी अमेध्य पदार्थ परस्पर एक-दूसरे का भक्षण प्रायः नहीं करते हैं अर्थात् वे परस्पर एक-दूसरे के द्वारा अवशोषित वा संयुक्त होकर नवीन पदार्थों का निर्माण नहीं करते हैं, वल्कि हमारी दृष्टि में वे पदार्थ भेदक शक्तिसम्पन्न होने से दूसरे संगमनीय पदार्थों के संयोग में अवश्य सहयोग करते हैं।।

तदनन्तर अग्रिम प्रक्रिया की चर्चा करते हुए महर्षि लिखते हैं कि मन और वाक् तत्त्व द्वारा प्रेरित संगतीकरण की प्रक्रिया जव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान प्रकाशित और अप्रकाशित सभी तत्त्वों में व्याप्त हो चुकी थी, तव वे सभी तत्त्व सवका वरण करने योग्य अर्थात् संयोज्य गुणधर्म वाले विभिन्न तीक्ष्ण कण वा तरंगों में परिवर्तित हो गये। उन सभी कण वा तरंग अथवा छन्दादि रश्मियों में तीव्र संयोगादि प्रक्रियाएं होने लगीं। उसके पश्चात् उन पशुरूप विभिन्न पदार्थों में व्याप्ति के पश्चात् वे सभी पदार्थ पुरोडाश संज्ञक पदार्थ से युक्त हो जाते हैं। यहाँ **पुरोडाश वह पदार्थ है, जो विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा विभिन्न कणों के साथ संयुक्त होता रहता है और इस प्रकार निरन्तर संयुक्त होते रहकर अनेक प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ सारे ब्रह्माण्ड में विशेष दीप्ति उत्पन्न करता है।** इस विषय में विशेष जानकारी १.१.२ से प्राप्त करें। इस प्रकार वे सभी पदार्थ संगमनादि गुणों से युक्त होकर सृष्टि प्रक्रिया को निरन्तर वल देते रहते हैं। ऐसे तेजस्वी पदार्थ किसी अन्य वलों की अपेक्षा किये विना सतत संयुक्त होते रहकर सृष्टि प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करते हैं।।

जव इस प्रकार की स्थिति इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उत्पन्न हो जाती है, तो सृष्टि प्रक्रिया उपर्युक्त प्रकार से सहजता से सतत चलती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त प्रकरण में जिन-२ पदार्थों में परस्पर संयोग करने की प्रवृत्ति न्यून और न्यूनतर होती है, जैसे डार्क एनर्जी आदि, वे पदार्थ परस्पर संयुक्त होकर नवीन तत्त्वों का निर्माण नहीं करते हैं अर्थात् उनका स्वरूप सदैव यथावत् रहता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वे पदार्थ दूसरे पदार्थों

को तोड़-फोड़कर उनके द्वारा विभिन्न पदार्थों के निर्माण में अवश्य सहयोग करते हैं। वे पदार्थ इस सृष्टि में पूर्णतः निरुपयोगी नहीं होते। उधर जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उपर्युक्त अन्तिम चरण प्रारम्भ होता है, तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक विशेष चमक उत्पन्न हो जाती है और उसी समय सभी पदार्थ विद्युत् आवेश आदि अनेक गुणों से युक्त होकर परस्पर आकर्षण और प्रतिकर्षणशील हो जाते हैं। इसके कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तीव्रता से विभिन्न पदार्थों का संयोग और वियोग होकर नये-२ एटम (Atom) मॉलिक्यूल्स (Molecules) आदि बनते चले जाते हैं। फिर यह सृष्टि प्रक्रिया बड़ी सहजता से अग्रसर होती जाती है।।

॥ इति ६.८ समाप्तः ॥

ॐ अथ ६.१ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. स वा एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोळाशः।।
तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि, ये तुषाः सा त्वग्ये फलीकरणास्तदसृग्यत्पिष्टं किक्नसास्तन्मांसं यत्किंचित्कं सारं तदस्थि।।
सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोळाशेन यजते।।
तस्मादाहुः पुरोळाशसत्रं लोक्यमिति।।

{किंशारुः = किं शृणात्यनेनेति किंशारुः (उ.को.१.४)। रोमाणि = लोमानि (म.द.ऋ.भा.१.१३५.६), (लोम = लूयते छिद्यते तत् लोम - उ.को.४.१५२; छन्दांसि वै लोमानि - श.६.४.१.६)। किक्नसाः = सूक्ष्माः (आचार्य सायण भाष्य)। मांसम् = मनोऽस्मिन् सीदतीति वा (नि.४.३), मांसं वै पुरीषम् (श.८.६.२.१४), मांसं सादनम् (श.८.१.४.५)। रोम = रौति शब्दयतीति रोम (उ.को.४.१५२)}

व्याख्यानम्- इस ब्रह्माण्ड में जब सम्पूर्ण पदार्थ पूर्वोक्तानुसार देदीप्यमान हो उठता है एवं वह विद्युदावेश से युक्त हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में पूर्वोक्त **व्रीहि** नामक पदार्थ अर्थात् विभिन्न प्रकार की तीक्ष्ण तेजस्वी रश्मियां उस पदार्थ को व्याप्त कर लेती हैं। उसके कारण संयोग-वियोग की प्रक्रिया तीव्र होकर नाना तत्त्वों का निर्माण होने लगता है। उस समय की चर्चा करते हुए महर्षि लिखते हैं कि वह देदीप्यमान पदार्थ ही व्यापक पशुतुल्य होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह पदार्थ विभिन्न मरुद् रश्मियों, छन्द रश्मियों आदि से युक्त होकर दृश्य पदार्थ का रूप धारण कर लेता है।।

उस पदार्थ में विद्यमान {किंशारुः = किं किंचित् कुत्सितं वा शृणातीति (इति मे मतम्)} **शक्तिमान् और तेजस्वी विकिरणों में से जो तीव्र भेदक क्षमतासम्पन्न होते हैं, वे ही किंशारु कहलाते हैं।** इसलिए निघण्टुकार ने कहा "कुत्सः वज्रनाम" - निघं.२.२०। ऐसे तीव्र विकिरण विविध ध्वनियाँ उत्पन्न करते रहते हैं और ये विकिरण छन्द रश्मियों के रूप में होते हैं। ये रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों को तीव्रता से काटती रहती हैं और जो **अप्रकाशित बाधक पदार्थ** २.७.१ में वर्णितानुसार **आकाश तत्त्व में मिलकर तीक्ष्णता रहित हुआ परितृप्त सा हो जाता है, वह सभी प्रकार के कणों की त्वचा के तुल्य हो जाता है अर्थात् वह सभी कणों को आच्छादित किये रहता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह आच्छादित करने वाला अप्रकाशित बाधक पदार्थ उन कणों को आच्छादित करते हुए भी किसी भी संयोग प्रक्रिया में बाधक नहीं बन पाता।** इन सब प्रक्रियाओं में जो तत्त्व छेदन-भेदन व संयोजन का मूल प्रवर्तक है, वह मन और वाक् का मिथुन इन सभी तत्त्वों की अपेक्षा में असृजित ही कहलाता है। इसके लिए २.७.१ में देखें। इन तत्त्वों का मिथुन अन्य सृजित तत्त्वों की अपेक्षा पूर्ण होता है और वह पूर्ण तत्त्व इन सभी तत्त्वों के निर्माण और विनाश की प्रक्रियाओं को **सर्वशक्तिमती चेतन सत्ता की मूल प्रेरणा से चलाता रहता है।** इन तत्त्वों में **जो जितने सूक्ष्म तत्त्व होते हैं, वे उतने ही मन और वाक् के मिथुन से संसिक्त होते हैं, जिसके कारण वे उतने ही बलशाली होते हैं।** वे सूक्ष्म पदार्थ ही अपने से स्थूल पदार्थों के आधार और निवास स्थान रूप होते हैं। सभी स्थूल पदार्थों में उन सूक्ष्म पदार्थों का ही बल कार्य करता है और **उन पदार्थों में जो सारभूत तत्त्व होते हैं, वे अस्थि रूप होते हैं।** यहाँ 'सारम्' शब्द 'सृ गतौ' धातु से निष्पन्न है। इसका आशय यह है कि वह सूक्ष्म पदार्थ पूर्व पदार्थ से भी अधिक शक्तिशाली होता है, जो सारे पदार्थ को अपने बल से धारण किये रहता है। यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों को

इधर-उधर प्रक्षिप्त करने में भी समर्थ होता है। हमारे मत में यह पदार्थ मन और वाक् तत्त्व से ही निर्मित होता है।।

जब सृष्टि में इस प्रकार देदीप्यमान पदार्थों की यजन प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, उस समय सभी दृश्य पदार्थों, छन्द रश्मियों एवं मरुद् रश्मियों आदि सभी की संगति प्रक्रिया चल रही होती है। हम जानते हैं कि ब्रह्माण्ड की देदीप्यमान स्थिति पूर्वोक्त प्रकरण में सबसे अन्त में तथा सबसे स्थूल होती है। यह स्थिति इससे पूर्व की एवं सूक्ष्मतर अवस्थाओं से ही निर्मित होती है, इस कारण स्थूल पदार्थों में कोई भी क्रिया होने पर उन पदार्थों में विद्यमान सभी सूक्ष्म पदार्थों में स्वयमेव क्रियाएं होनी प्रारम्भ हो जाती हैं।।

इस कारण कहा गया है कि ब्रह्माण्ड की वह देदीप्यमान स्थिति, जिसमें सभी क्रियाएं चरम पर पहुँच जाती हैं, दृश्य और ज्ञेय अवस्था में होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब इस ब्रह्माण्ड की स्थिति प्रकाशमयी हो जाती है, उस समय विभिन्न प्रकार के नाभिक, एटम्स, एवं मॉलिक्यूल्स का निर्माण तेजी से होने लगता है। उस समय ब्रह्माण्ड में अनेक तीव्र रेडियेशन, जो तीव्र भेदन शक्तियुक्त होते हैं, विविध प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करते रहते हैं। वे विभिन्न पदार्थों का छेदन करते हुए नये-२ तत्त्वों के निर्माण में सहायक होते हैं। उस समय डार्क एनर्जी और डार्क मैटर आदि पदार्थ तीव्रता से रहित होकर आकाश तत्त्व के साथ मिलकर विभिन्न कणों के आवरण के रूप में स्थित होते हैं। **मन और वाक् तत्त्व इन सभी पदार्थों की अपेक्षा सदैव अनिर्मित और पूर्ण ही रहता है, जो इन सबको सर्वशक्तिमती ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा से गति और बल प्रदान करता रहता है। इस सृष्टि में जो पदार्थ जितना सूक्ष्म होता है, उतना ही अधिक शक्तिशाली और प्रेरक होता है।** प्रत्येक सूक्ष्म पदार्थ अपनी अपेक्षा स्थूल पदार्थों का उपादान कारण एवं आधाररूप होता है। **जब किसी स्थूल पदार्थ में कोई भी क्रिया होती है, तब स्वाभाविक रूप से उसके अन्दर विद्यमान एवं अंगभूत सूक्ष्म पदार्थ भी क्रियाशील हो उठते हैं और उन्हीं के कारण स्थूल पदार्थों में क्रियाएं सम्पन्न हो पाती हैं।।**
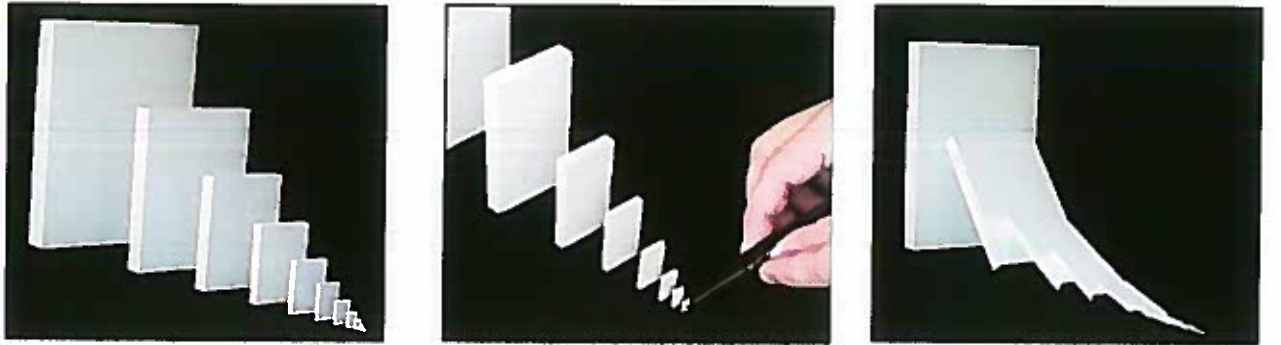
चित्र ६.११ सूक्ष्म बल द्वारा स्थूल बल को प्रेरित करना

२. 'युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्।
युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान्" इति वपायै यजति।।
सर्वाभिर्वा एष देवताभिरालब्धो भवति यो दीक्षितो भवति तस्मादाहुर्न दीक्षितस्याश्नीयादिति स यदग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतानिति वपायै यजति, सर्वाभ्य एव तद्देवताभ्यो यजमानं प्रमुञ्चति, तस्मादाहुरशितव्यं वपायां हुतायां यजमानो हि स तर्हि भवतीति।।

{वपा = वपन्ति याभिः क्रियाभिस्ताः (म.द.य.भा.२१.३१), आत्मा वपा (कौ.ब्रा.१०.५)}

व्याख्यानम्- उस समय इस ब्रह्माण्ड में पूर्वोक्त राहूगणपुत्रो गोतमः ऋषि प्राण से अग्नीषोमौ-देवताक एवं निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क छन्द रश्मि

युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्।
युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान्।। (ऋ.१.९३.५)

की उत्पत्ति होती है। राहूगण पुत्र गोतम वह सूक्ष्म ऋषि प्राण होता है, जो तीव्र गतिशील और प्रकाशमान् (हमारी दृष्टि में धनंजय प्राण) होता है। इसके छान्दस और देवत प्रभाव से अग्नि और सोम दोनों पदार्थ तीव्र तेजस्वी और वलवान् होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से ये दोनों पदार्थ ब्रह्माण्ड में विविध प्रकार के रंग व रूपों को धारण करते हैं।
{सिन्धुः = सिन्धुः स्रवणात् (नि.५.२७), सिन्धूनाम् = स्यन्दमानानाम् (नि.१०.५), तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.९.२.९)} हमारी दृष्टि में विभिन्न प्रकार के प्राण ही सबको वांधने वाले और सव ओर गति करने वाले होने से सिन्धु कहलाते हैं। ये अग्नि और सोम पदार्थ उन प्राण तत्त्वों को सव ओर से धारण करते हैं। वे दोनों धारण किये हुए उन प्राणों को निरन्तर उत्सर्जित करते रहते हैं।

इस छन्द रश्मि से विभिन्न तत्त्वों के निर्माण की विविध क्रियाएं जो सतत गतिशील रहती हैं, विभिन्न पदार्थों को संगत करती हैं।।

उस समय ब्रह्माण्ड में विद्यमान सभी प्रकार के कण मन, वाक् एवं प्राणापान आदि विभिन्न प्राथमिक प्राणरूप देवों के द्वारा व्याप्त होते हैं। इसी कारण वे कण विद्युत्, प्रकाश एवं ऊष्मा आदि से परिपूर्ण होते हैं। वे सभी कण मन-वागादि देवों के द्वारा गृहीत होते हैं। इस कारण कुछ विद्वान् कहते हैं कि ऐसी परिस्थिति में वे कण परस्पर एक-दूसरे का अवशोषण करके अथवा संयुक्त होकर नवीन तत्त्वान्तरों का निर्माण नहीं कर सकते क्योंकि वे उन देव पदार्थों के आकर्षण में वंधे रहते हैं किंवा आकर्षण से पूर्णतः वंधे हुए उन ऐसे देव पदार्थों का सघन रूप ही वे कण होते हैं। ऐसे में वे कैसे उस सघन रूप के वंधन को त्यागकर परस्पर संयुक्त होने में समर्थ हो सकते हैं। इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि उपर्युक्त छन्द रश्मि के अन्तिम पाद "अग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान्" के प्रभाव से सभी कण अपने अन्दर व्याप्त विभिन्न प्राण तत्त्वों को किंचिन्मात्रा में उत्सर्जित करते हैं। इस प्रकार सभी प्रकार के कणों से उत्सर्जित प्राण रश्मियाँ वाधक अप्रकाशित पदार्थ को भी दूर करती है और वे रश्मियाँ परस्पर मिलकर एक-दूसरे को अपने वंधन में वांधने लगती हैं। जिसके कारण विभिन्न संयोग-वियोग की प्रक्रियाएं गतिशील हो उठती हैं। इसी कारण वे सभी कण संयोज्य रूप धारण करके एक-दूसरे के भक्ष्य वा भक्षक वनते रहते हैं, जिससे नवीन-२ पदार्थों का निर्माण होता रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इसके पश्चात् धनंजय प्राण रश्मि से एक तीव्र त्रिष्टुप् रश्मि उत्पन्न होती है, जिसके कारण सम्पूर्ण पदार्थ और भी रूपवान् और प्रकाशमान् हो जाता है। उस समय ब्रह्माण्ड में विद्यमान विभिन्न प्रकार के **कणों से सूक्ष्म प्राण तत्त्व सतत प्रवाहित होता रहता है और उस प्राण तत्त्व के परस्पर मेल होने के कारण विभिन्न प्रकार के कण एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते रहते हैं** और यह सतत प्रवाहित प्राणतत्त्व ही डार्क एनर्जी आदि की सूक्ष्म रह चुकी वाधाओं को दूर करता रहता है, जिससे नवीन सृजन क्रियाएं सतत चलती रहती हैं।।
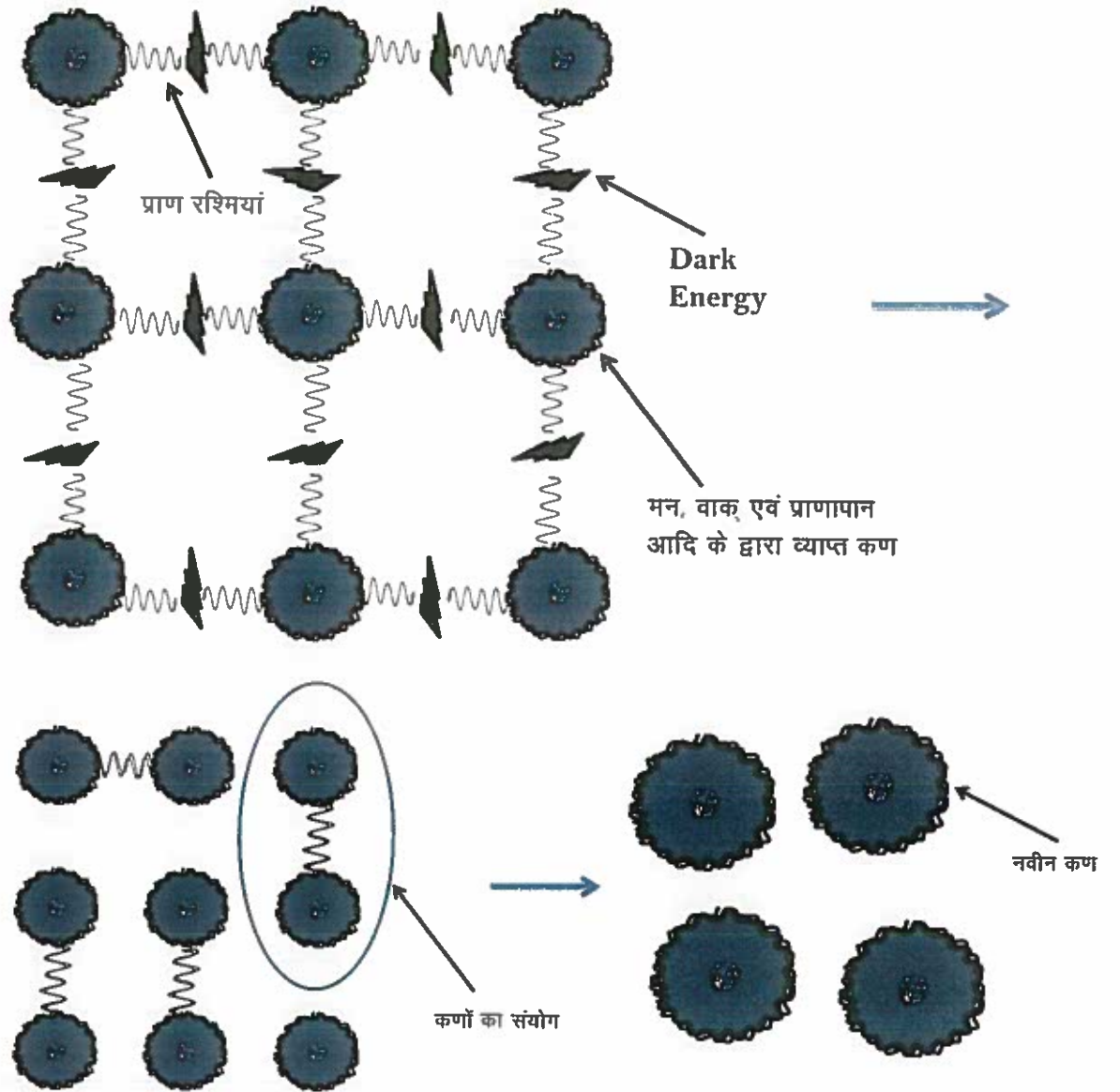
चित्र ६.१२ डार्क एनर्जी आदि की सूक्ष्म वाधाओं को दूर कर नवीन कण वनने की प्रक्रिया

३. 'आऽन्यं दिवो मातरिश्वा जभारेति' पुरोळाशस्य यजति।। अमथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेरितीत इव च ह्येष इत इव च मेधः समाहृतो भवति।।

व्याख्यानम्– विभिन्न कणों की संयोग प्रक्रिया एवं भेदन क्रिया की चर्चा करने के उपरान्त महर्षि ब्रह्माण्डीय पदार्थ की तेजस्विता वा तीव्रता की प्रकारान्तर से चर्चा करते हैं। उस समय ब्रह्माण्ड में पूर्वोक्त **राहूगणपुत्रो गोतमः** ऋषि प्राण अर्थात् धनंजय प्राण से अग्नीषोमौ-देवताक एवं विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क रश्मि

आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः।
अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम्।। (ऋ.१.९३.६)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि और सोम पदार्थ तीव्र वलवान् और विशेष प्रकाशमान होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्रकार के प्राणों से उन्नति को प्राप्त अग्नि और सोम पदार्थ परस्पर विविध रूप से संयुक्त होकर लोकों व कणों को प्रकट करते हैं। अवकाशरूप

आकाश में सर्वत्र फैला हुआ दिव्य वायु प्रकाशित और अप्रकाशित सभी लोकों को सब ओर से धारण करता है। अत्यन्त तीव्र बलवान् और गतिमान् विद्युदग्नि अन्तरिक्षस्थ विभिन्न मेघों को निरन्तर मथता रहता है।

इस रश्मि के सहाय से सम्पूर्ण देदीप्यमान पदार्थ और भी अधिक देदीप्यमान होकर तीव्रता से संगत होता रहता है।।

उपर्युक्त ऋचा का द्वितीय पाद "अमथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः......" पर व्याख्यान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि बलवान् और गतिमान् विद्युदग्नि जो अन्य कारणरूप विद्युदग्नि किंवा प्राणादि पदार्थों के मन्थन वा संघनन से उत्पन्न होता है, समस्त मेघरूप पदार्थ के अन्दर 'इतः' अर्थात् पहुंचा हुआ होता है अर्थात् वह उनमें पूर्णतया व्याप्त होता है। इसके साथ ही वह अग्नि मेध रूप भी होता है, इसका तात्पर्य यह है कि वह अग्नि हिंसक भी होता है और संगमनीय भी होता है। यह अग्नि ही विभिन्न पदार्थों का भेदन और छेदन करके उन्हें संयुक्त करने में समर्थ होता है। ऐसा विद्युदग्नि देदीप्यमान पदार्थ में सब ओर से सम्यग् रूप से विद्यमान होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ धनंजय प्राण से उत्पन्न विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के कारण विशेष तेजस्वी एवं बलसम्पन्न होता है। इसके कारण विभिन्न विद्युत् आवेशित कण परस्पर संयोग करके अनेक प्रकार के कणों और लोकों को उत्पन्न करने वाला होता है। उस समय तीव्र विद्युत् समस्त मेघरूप पदार्थजगत् को निरन्तर मथता रहता है। यह विद्युत् आवेश ही विभिन्न कणों का छेदन और भेदन करके संयोजन करने में समर्थ होता है। उस समय सम्पूर्ण पदार्थ विद्युत् से परिपूर्ण हो जाता है।।

४. 'स्वदस्व हव्या समिषो दिदीहीति' पुरोळाशस्विष्टकृतो यजति।। हविरेवास्मा एतत्स्वदयतीषमूर्जमात्मन्धत्ते।। इळामुपह्वयते पशवो वा इळा, पशूनेव तदुपह्वयते पशून् यजमाने दधाति।।६।।

{मिमीहि = याच्ञाकर्मा (निघं.३.१९), (मिमीते = रचयति - म.द.ऋ.भा.१.१६४.२४)। स्विष्टकृत् = अग्निर्हि स्विष्टकृत् (श.१.५.३.२३), रुद्रः स्विष्टकृत् (श.१३.३.४.३), तपः स्विष्टकृत् (श.११.२.७.१८), प्रतिष्ठा वै स्विष्टकृत् (ऐ.२.१०), एषा हि दिक् (उत्तर = उदीची स्विष्टकृत्) (श.२.३.१.२३)। स्वादु = मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४), प्रजा वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४), स्वदति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण में तेजस्वी पदार्थ को तीव्रता से संयुक्त करने के लिये प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से उत्पन्न एक विशेष प्रकार के सूक्ष्म प्राण से विश्वेदेवादेवताक एवं विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क

स्वदस्व हव्या समिषो दिदीह्यस्मद्र्यक्सं मिमीहि श्रवांसि।
विश्वाँ अग्ने पृत्सु ताञ्जेषि शत्रूनहा विश्वा सुमना दीदिही नः।। (ऋ.३.५४.२२)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ब्रह्माण्ड में स्थित सभी प्रकार के कण अति तीव्र तेजस्वी एवं बलशाली हो उठते हैं। इसके अन्य प्रभाव से विद्युदग्नि विभिन्न संयोज्य कणों, जो विभिन्न बलों से युक्त होते हैं, में व्याप्त होकर उनको प्रकाशित करता है। इसके साथ ही वह उन कणों को संयुक्त करके विभिन्न प्रकार के नवीन कणों को उत्पन्न करता है। वह विद्युदग्नि विभिन्न बलों को प्रकाशित वा प्रकट करता है, जिसमें विभिन्न प्रकार के कण अच्छी प्रकार प्रकाशित होते और परस्पर एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते व एक-दूसरे में समा जाते हैं। वे कण तीव्र विद्युत् शक्ति के द्वारा ही संघर्षण करते हुए विविध बाधक पदार्थ रश्मियों को जीतते अर्थात् नियन्त्रित करते

हैं। वह विद्युदग्नि अग्नि तत्त्व को अच्छी प्रकार देदीप्यमान करता हुआ सभी कणों को और देदीप्यमान बनाता है।

इस छन्द रश्मि के प्रभाव से पूर्वोक्त प्रकाशित विभिन्न कण, जो वायु और अग्नि से युक्त होते हैं तथा घोर शक्तिसम्पन्न होते हैं, उनका यजन करने में सहायता मिलती है। यहाँ 'स्विष्टकृत्' शब्द से यह भी संकेत मिलता है कि किसी भी कण की उत्तर वा दक्षिण दिशा (उत्तरी वा दक्षिणी ध्रुव), जो उसका आधार होती है, ही किसी कण से संयुक्त होती है। यही भाग विशेष सक्रिय होता है, जो अगले कण के कम सक्रिय होने पर भी उससे संयुक्त होने की प्रवृत्ति रखता है। इस विषय में विशेष जानकारी के लिए १.५.३ में पढ़ें। इस रश्मि के प्रभाव से यह संयोग प्रक्रिया सहजता से सम्पन्न होती है।।

इस रश्मि के द्वारा सृजन कर्म के लिये विभिन्न संयोज्य कण परस्पर मिथुन रूप धारण करके चमकते हुए नवीन कणों का निर्माण करते हैं और वे कण विभिन्न प्रकार के बल {इषः = इष्टसाधकाः किरणाः (म.द.ऋ.भा.१.८६.५)} एवं रश्मियों को अपने अन्दर धारण करते हुए विभिन्न इष्ट क्रियाओं को सम्पादित करते हैं। वे इस कार्य में अन्य संयोज्य कणों को भी अपने साथ मिलाते जाते हैं।।

इस क्रिया से वे कण इडा संज्ञक पदार्थ को सब ओर से आकर्षित करते हैं। विभिन्न प्रकार के छन्द प्राण, मरुद् रश्मियां एवं दृश्यकण ही इडा संज्ञक पदार्थ हैं। जब दो या दो से अधिक कण परस्पर संयुक्त होते हैं, तब वे अपने चारों ओर विद्यमान विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियों, छन्द रश्मियों एवं सूक्ष्म कणों को अपनी ओर आकर्षित करते जाते हैं और फिर आकर्षित करके उनको अपने साथ धारण कर लेते हैं। ऐसा करने से स्थूलतर कणों का निर्माण होता रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उसी समय एक विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिससे ब्रह्माण्ड में विद्यमान पदार्थ और भी तेजस्वी और बलवान् हो उठता है। विभिन्न विद्युदावेशित कण अत्यन्त ऊर्जा को प्राप्त करते हुए एक-दूसरे से संयुक्त होने के लिए तीव्रता से आकर्षित होते हैं, उस समय कोई भी बाधक पदार्थ इनके मार्ग में बाधा नहीं बन पाता। सम्पूर्ण पदार्थ जगत् अत्यन्त प्रकाशशील हो उठता है। **संयुक्त होने वाले दो कणों के परस्पर विपरीत ध्रुव ही संयुक्त होते हैं। जब दो कण परस्पर मिलते हैं, तो उनमें से एक कण अति सक्रिय और गतिशील होता है। वह अपने उत्तरी ध्रुव की दिशा में तीव्रता से दौड़ता हुआ अपने सम्मुख विद्यमान अपेक्षाकृत कम सक्रिय कण के दक्षिण ध्रुव से संयुक्त हो जाता है। जब दो कण परस्पर संयुक्त होते हैं, तब वे अपने चारों ओर विद्यमान विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म**
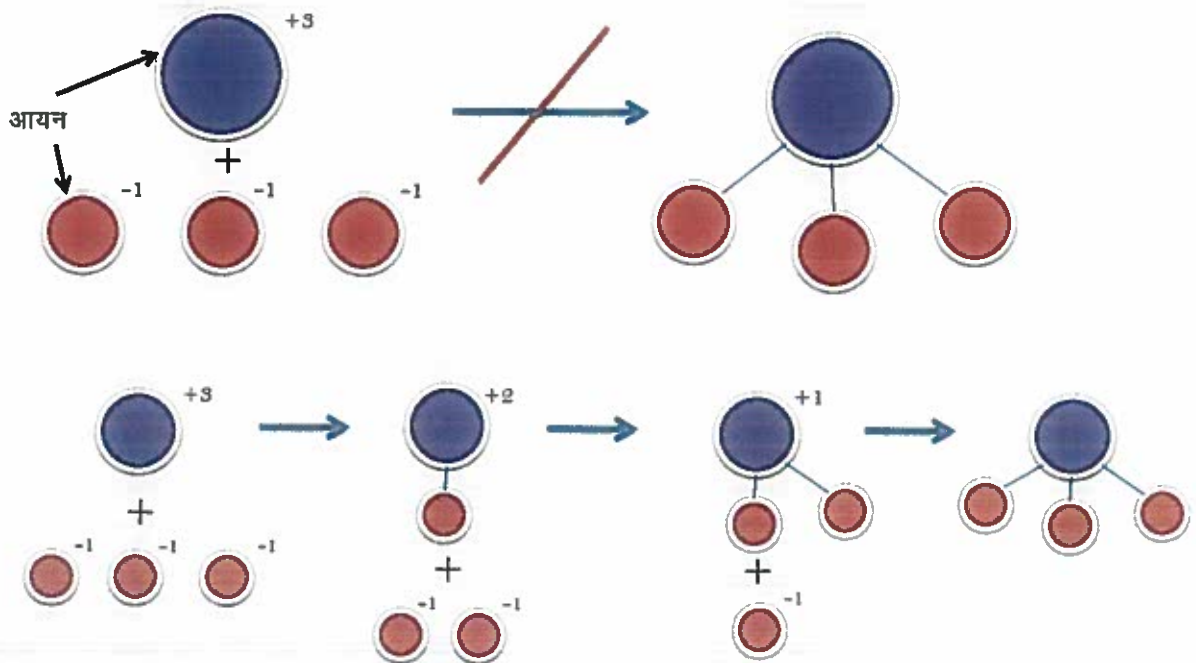
चित्र ६.१३ अणु के अनेक आयनों के साथ संयुक्त होने की क्रमबद्ध प्रक्रिया

रश्मियों को भी अपने साथ आकर्षित करते जाते हैं। जब किसी बड़े अणु का निर्माण होता है, तो उसकी प्रक्रिया यह है कि सर्वप्रथम दो ही आयनों का संयोग होता है और उस संयोग में भी अनेक सूक्ष्म रश्मियों की भागीदारी होती है। उसके पश्चात् भी वे दोनों संयुक्त आयन अतृप्त रहते हुए अपने निकट विद्यमान अन्य आयनों और रश्मियों को भी धीरे-२ एवं क्रमशः आकर्षित करते जाते हैं और इस प्रकार बड़े-२ अणुओं का निर्माण होता है। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि **कोई भी बड़ा अणु सहसा ही अनेक आयनों के एक साथ संयुक्त होने से कभी निर्मित नहीं हो सकता बल्कि उसके निर्माण की एक क्रमबद्ध प्रक्रिया ही होती है।।**

ॐ इति ६.९ समाप्तः ॐ

अथ ६.१० प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्यानुब्रूहीत्याहाध्वर्युः ।। 'त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति' सूक्तमन्वाह ।।

{मनोता = प्रज्ञापकः (म.द.ऋ.भा.२.६.४), मनोवद्गन्ता (म.द.ऋ.भा.६.१.१), मनो वै मनोता (मै.३.१०.२)। अध्वर्युः = मनो वा अध्वर्युः (श.१.५.१.२१)}

व्याख्यानम्- मन के समान वेगवान् तथा आदान प्रदान के लिए सक्षम अग्नि तत्त्व के लिए अर्थात् अग्नितत्त्व का वह रूप, जो अत्यन्त वेगवान् होता है तथा उत्सर्जित व अवशोषित होने के योग्य होता है, अर्थात् विकिरण रूप होता है, को टुकड़ों-टुकड़ों में विभक्त करने हेतु मनस्तत्त्व निम्नलिखित सूक्तरूपी रश्मिसमूह को उत्पन्न करने हेतु ऋषि प्राण को प्रेरित करता है।।

भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषि अर्थात् मनस्तत्त्व से उत्पन्न प्राण नामक प्राण तत्त्व से अग्निदेवताक विभिन्न छन्दस्क (ऋ.६.१) सूक्त रूपी छन्द रश्मिसमूह की उत्पत्ति होती है। इन तेरह रश्मियों का प्रभाव निम्नानुसार है-

१. त्वं ह्य॑ग्ने प्रथमो मनोतास्या धियो अभ॑वो दस्म होता॑। त्वं सीं वृषन्नकृणोर्दुष्टरीतु सहो विश्व॑स्मै सह॑से सह॑ध्यै।। (ऋ.६.१.१)

का छन्द भुरिक पंक्तिः है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व बाहू के तुल्य अपने बलों को विस्तृत करके संयोग-वियोगादि में अर्थात् उत्सर्जन व अवशोषण में प्रवृत्त होता है। इसके अन्य प्रभाव से {प्रथमः = प्रख्यातः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२६.५), विस्तृतः विस्तारयिता (तु.म.द.य.भा.१३.३), सर्वेष्वग्रगन्तारः (म.द.ऋ.भा.१.३१.११), प्रथम इति मुख्यनाम, प्रतमो भवति (नि.२.२२), प्रथमम् = परमम् (नि.३.८)। दस्म = मूर्तद्रव्याणामुपक्षयिता (म.द.ऋ.भा.३.३.२)। सीम् = सर्वतः (म.द.ऋ.भा.१.३६.१)।} वह अग्नि विस्तृत तथा सबसे आगे जाने वाला किंवा मन के समान वेगवाला होता है। वह अग्नितत्त्व विभिन्न कणों को धारण करने वाला, विभिन्न कणों को तोड़ने वा फैंकने वाला एवं उनको ग्रहण वा विसर्जित करने में समर्थ होता है। वह अग्नि सब ओर से सबके लिए बलशाली एवं सबको बलयुक्त करके बाधक रश्मियों से दूर रखने में समर्थ होता है।

२. अधा होता न्य॑सीदो यजीयानिळस्पद इषयन्नीड्यः सन्। तं त्वा नरः॑ प्रथमं दे॑वयन्तो॑ महो राये चितयन्तो अनु॑ ग्मन्।। (ऋ.६.१.२)

का छन्द स्वराट् पंक्तिः है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र देदीप्यमान होता हुआ विस्तृत होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि अत्यन्त संयोजनशील विभिन्न कणों को आकर्षित करता एवं देदीप्यमान होता हुआ विभिन्न संयोज्य कणों में निरन्तर स्थित होता है। विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियां जिस प्रकार सबको आकर्षित व सक्रिय करती हुई विस्तृत अग्नि को अपने पीछे-२ चलाती हैं, वैसे ही वह अग्नि भी अपने से स्थूल पदार्थों को अपने पीछे चलाता है। इसके साथ ही अग्नि तत्त्व अपने साथ स्वयं विभिन्न मरुद् रश्मियों एवं छन्द रश्मियों को भी चलाता है।

३. वृतेव यन्तं बहुभिर्वसव्यै३स्त्वे रयिं जागृवांसो अनु ग्मन्। रुशन्तमग्निं दर्शतं बृहन्तं वपावन्तं विश्वहा दीदिवांसम्।। (ऋ.६.१.३)

का छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नितत्त्व हिंसक तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। {रुशन्तम् = (रुश् वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः - नि.२.२०; ६.१३, रुच दीप्तौ, रुश हिंसायाम्), वृतेव = वर्त्तन्ते यस्मिँस्तेन मार्गेण (म.द.भा.)।} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि तत्त्व सबको सक्रिय करते हुए विभिन्न प्रकार की व्यापक वसु संज्ञक प्राण रश्मियों के साथ किंवा जिस मार्ग वा स्थान पर वे प्राण रश्मियां विद्यमान होती हैं, उस मार्ग में गमन करते हुए ज्वलनशील व हिंसाशील होता है। वह दृश्य अग्नि व्यापक स्तर पर विभिन्न क्रियाओं को जन्म देते हुए सभी प्रकाशित पदार्थों को और भी चमकाता व व्याप्त करता हुआ विभिन्न रश्मियों वा द्रव्य कणों को अपने साथ ले जाने में सक्षम होता है।

४. पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम्। नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टौ।। (ऋ.६.१.४)

का छन्द भी निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् होता है। {व्यन्तः = व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा- "पदं देवस्य नमसा व्यन्तः" इति पश्यतिकर्मा (नि.४.१६)। अमृक्तम् = (मृक्तः = मृजूष् शुद्धौ+क्तः)। नाम = वाङ्नाम (निघं.१.११), प्रख्यातिः (म.द.ऋ.भा.१.५७.३) । भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयम् भूतानामभिद्रवणीयम् भवद्रमयतीति वा भाजनाद्वा (नि.४.१०)} इसके अन्य प्रभाव से अग्नि तत्त्व सबको आकर्षित करता हुआ तीव्र तेजस्वी वज्ररूप किरणों का रूप धारण करके उस वज्र के द्वारा अति प्रकाशमान् होकर अशुद्ध कणसमूहों पर प्रहार करता है। इसके पश्चात् उन कणों को विदीर्ण वा छिन्न-भिन्न करके शुद्ध वा पृथक्-२ करके संयोज्य रूप प्रदान करता है, जिससे वे शुद्ध व सेवनीय वा संयोज्य कण प्रकाशमान् होकर विविध क्रियाओं में रमण करते हैं।

५. त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्। त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्।। (ऋ.६.१.५)

का छन्द पंक्तिः है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व व्यापकता प्राप्त करता है। {क्षितयः = मनुष्यनाम (निघं.२.३)} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि तत्त्व उस समय उत्पन्न सूक्ष्म पदार्थों विशेषकर मनुष्य नामक अल्पायु एवं अनियमित गति वाले कणों के प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही रूपों में समृद्ध होता है। साथ ही विभिन्न प्रकार के छन्द प्राण व मरुद्रश्मियाँ भी समृद्ध होती हैं। उस समय मनस्तत्त्व रूप पिता एवं वाक् तत्त्व रूप माता दोनों ही उपर्युक्त मनुष्य कणों में विशेषतया व्याप्त होते हैं।

६. सपर्येण्यः स प्रियो विक्ष्व१ग्निर्होता मन्द्रो नि षसादा यजीयान्। तं त्वा वयं दम आ दीदिवांसमुप ज्ञुबाधो नमसा सदेम।। (ऋ.६.१.६)

का छन्द निचृद् त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। {सपर्येण्यः = (सपर्यति परिचरणकर्मा - निघं.३.५)। मन्द्रः = (मन्द्रा वाङ्नाम - निघं.१.११)। ज्ञुबाधः = जानुनी बाधमानाः (म.द.भा.), (जानुस्थाने ज्ञुरादेशश्छान्दसः - इति वै.को.-आ.राजवीर शास्त्री)। जानु = जायन्तेऽस्मात् तत् जानु (उ.को.१.३)} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न उत्पन्न कणों के अन्दर सब ओर से विचरण करता हुआ, मानो उनकी सेवा करता हुआ, सबका आकर्षण व धारण करने वाला, सबका ग्राहक व विसर्जक वह अग्नि वाक् तत्त्व से परिपूर्ण अतिशय संयोजक व विभाजक होकर सबमें नितरां स्थित वा व्याप्त होता है। वह अग्नि विभिन्न मार्गों वा स्थानों में प्रकाशमान् होकर विभिन्न उत्पत्ति क्रियाओं का विलोडन करता है। वह ऐसा अग्नि तीव्र व तीक्ष्ण वज्ररूप होकर सबके निकट बसता है।

७. तं त्वा॑ व॒यं सु॒ध्यो३॒॑ नव्य॑मग्ने सु॒म्नाय॑व॒ ईमहे देव॒यन्तः॑। त्वं विशो॑ अनयो दीद्या॑नो दि॒वो अ॑ग्ने बृह॒ता रो॑च॒नेन॑।। (ऋ.६.१.७)

का छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसका दैवत व छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। {सुम्नम् = यज्ञो वै सुम्नम् (श.७.२.२.४), सुखनाम (निघं.३.६), प्रजा वै पशवः सुम्नम् (तै.ब्रा.३.३.६.६), सुम्नायुः = सुम्नपदाद् इच्छायामर्थे क्यजन्ताद् उः (वै.को. -आ. राजवीर शास्त्री)।} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि उत्तम धारणाशक्ति-सम्पन्न, विभिन्न प्रकार के छन्दों वा मरुद् रश्मियों को आकर्षित करता हुआ और ऐसा करके संयोगादि कर्मों का विशेष प्रणेता वनकर प्रकाशित होता हुआ सभी कणों को आकर्षित करता है। विभिन्न कणों से उत्सर्जित नवीन-२ अग्नि सवको व्याप्त करता है। वह अग्नि व्यापक प्रकाश से प्रकाशित होकर सभी कणों को विभिन्न प्राणादि पदार्थों से युक्त करके प्रकाशित करता है।

८. विशां क॒विं वि॒श्पतिं॒ शश्व॑तीनां नि॒तोश॑नं वृष॒भं च॑र्षणी॒नाम्। प्रेती॑षणिमि॒षय॑न्तं पाव॒कं राज॑न्तम॒ग्निं य॑ज॒तं र॑यी॒णाम्।। (ऋ.६.१.८)

का छन्द त्रिष्टुप् है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र तेजस्वी व वलवान् होता है। {नितोशनम् = पदार्थानां हिंसकम् (म.द.भा.), (नितोशे वधकर्मा - निघं.२.१९)। चर्षणिः = चायिता आदित्यः (नि.५.२४), (चायमानः = वर्धमानः (म.द.ऋ.भा.७.१८.८), (चर्षणयः = मनुष्यनाम - निघं. २.३)} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि निरन्तर विभिन्न उत्पन्न हुए पदार्थों में उनका पालक, रक्षक, क्रान्तदर्शी एवं पदार्थों का भेदक व छेदक होता है। वह सभी वर्धमानों में सवका वलवर्धक विभिन्न द्रव्यों, छन्द वा मरुद्रश्मियों एवं सभी व्याप्त पदार्थों के अन्दर व्याप्त होने वाला होता है। वह सवको आकर्षित, संगत और प्रकाशित करता है। वह अग्नि विभिन्न अशुद्ध पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके शुद्ध करता है।

९. सो अ॑ग्न ईजे शश॒मे च॒ मर्तो॒ यस्त॒ आन॑ट् स॒मिधा॑ ह॒व्यदा॑तिम्। य आहु॑तिं॒ परि॒ वेदा॒ नमो॑भि॒र्विश्वेत्स वा॒मा द॑धते॒ त्वोतः॑।। (ऋ.६.१.९)

का छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र प्रकाशयुक्त व वलवान् होता है। {शशमे = शाम्यति निरूपद्रवो भवति (म.द.य.भा.३३.८७), (शशमान इति अर्चतिकर्मा - निघं. ३.१४)। त्वोतः = त्वां कामयमानः (म.द.ऋ.भा.३.१९.३), त्वया रक्षितः (तु.म.द.ऋ.भा.५.३.६)। आनट् = आनडिति व्याप्तिकर्मा (निघं.२.१८), नक्षति गतिकर्मा (निघं.२.१४), व्याप्तिकर्मा (निघं.२.१८)। समित् = प्राणा वै समिधः (श.६.२.३.४४)} इसके अन्य प्रभाव से उस अग्नि को मरुद्रश्मियां विभिन्न प्राणों के द्वारा किंवा उनके साथ संगत होकर विभिन्न संयोज्य पदार्थों में व्याप्त करती हैं। इसके कारण वे पदार्थ उस अग्नि सहित गतिशील हो उठते हैं। वह ऐसा अग्नि उन कणों के साथ संगत होकर उन्हें नियन्त्रित भी करता है। उस अग्नि के चारों ओर जो भी संयोज्य पदार्थ कण विद्यमान होते हैं, वे उस अग्नि के द्वारा आकर्षित व रक्षित होते हैं, जिससे वे सभी प्रशस्य क्रियाओं को सम्पादित वा धारण करते हैं।

१०. अस्मा उ॑ ते॒ महि॑ म॒हे वि॑धेम॒ नमो॑भिरग्ने स॒मिधो॒त ह॒व्यैः। वेदी॑ सूनो सहसो गी॒र्भिरु॒क्थैरा ते॑ भ॒द्रायां॑ सुम॒तौ य॑तेम।।१०।। (ऋ.६.१.१०)

का छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत व छान्दस प्रभाव ऋ.६.१.८ की भाँति समझें। इसके अन्य प्रभाव से उस वलवान् अग्नि से उत्पन्न विभिन्न पदार्थ विभिन्न ज्वलनशील तेजस्वी किरणों को धारण करते हैं। वे पदार्थ वाक् तत्त्वों से प्रकाशमान् अनेक व्यापक संगमनीय पदार्थों को विशेष रूप से धारण करते हैं किंवा उन्हें विशेषरूपेण सर्वतः गति कराते हैं। {विधेमेति गतिकर्मा (निघं.२.१४), विधेम परिचरणकर्मा (निघं.३.५)।} इससे वे कण उत्तम मार्गों पर अच्छी प्रकार प्रकाशित हुए फैलते रहते हैं।

११. आ यस्ततन्थ रोदसी वि भासा श्रवोभिश्च श्रवस्य१स्तरुत्रः। बृहद्भिर्वाजैः स्थविरेभिरस्मे रेवद्भिरग्ने वितरं वि भाहि।। (ऋ.६.१.११)

का छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसका दैवत एवं छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। {तरुत्रः = तारकः (तु.म.द.ऋ.भा.६.२६.२)। श्रवः = सामर्थ्यम् (म.द.ऋ.भा.१.१०२.२)} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि अपने प्रकाश और विभिन्न संयोज्य कणों को आकर्षित करने के सामर्थ्य से विभिन्न पदार्थों को विभिन्न बाधाओं से तारता है। वह अग्नि व्यापक बलों के साथ विभिन्न छन्द वा मरुद्रश्मियों से युक्त पदार्थों के साथ प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों प्रकार के लोकों का विशेष विस्तार करता है किंवा दोनों के निर्माणादि में अग्नि की भूमिका रहती है।

१२. नृवद्वसो सदमिद्धेह्यस्मे भूरि तोकाय तनयाय पश्वः। पूर्वीरिषो बृहतीरारेअघा अस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु।। (ऋ.६.१.१२)

का भी छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसका भी दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् होता है। इसके अन्य प्रभाव से सबको बसाने अथवा सबमें बसने वाला अग्नि विभिन्न विस्तार वाले उत्पन्न पदार्थों {पश्वः = पशु-प्राति. "जसादिषु छन्दसि वा वचनम्" (पा.अ.७.३.१०९) वा. सूत्रेण गुणादीनां विकल्पे यणादेशे रूपम् (वै.को.-आ.राजवीर शास्त्री)} के लिए विभिन्न छन्द रश्मियों वा मरुद्रश्मियों को व्याप्त करता है। वह ऐसा अग्नि अप्रकाशित बाधक विद्युदादि से मुक्त विभिन्न संगमनीय कणों को अनेकशः धारण करता है। वह अग्नि विभिन्न मरुद्रश्मियों के समान विभिन्न संगमनीय कणों के लिए अनुकूलतायुक्त बल प्रदान करता है।

१३. पुरूण्यग्ने पुरुधा त्वाया वसूनि राजन्वसुता ते अश्याम्। पुरूणि हि त्वे पुरुवार सन्त्यग्ने वसु विधते राजनि त्वे।। (ऋ.६.१.१३)

का छन्द भुरिक् पंक्तिः होने से इसका दैवत व छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान समझें। इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि प्रकाशमान् होता हुआ बहुत प्रकार के पदार्थों को बहुत प्रकार से धारण करता हुआ उनमें व्याप्त होता है। उस अग्नि को बहुत प्रकार के पदार्थ भी बहुत प्रकार से वरण करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ऊर्जा जब किसी द्रव्य के साथ संयुक्त हो चुकी होती है, उस समय वह क्वाण्टाज् के रूप में नहीं होती किन्तु जब वह किसी पदार्थ वा इलेक्ट्रॉन से उत्सर्जित होती है, तब वह खण्ड-२ अर्थात् क्वाण्टाज् के रूप में प्रवाहित होती है। ऊर्जा को यह रूप प्रदान करने हेतु तेरह छन्द रश्मियाँ अपनी भूमिका निभाती हैं। इन रश्मियों में विविध प्रकार की त्रिष्टुप् व पंक्ति रश्मि होती हैं। इनके प्रभाव से किसी कण से ऊर्जा को उत्सर्जित होने हेतु आवश्यक बल की प्राप्ति होती है, जिससे वह इलेक्ट्रॉन ऊर्जा को पैकेट्स के रूप में उत्सर्जित करने को उद्यत होते हैं। इसके प्रभाव से वे उत्सर्जित क्वाण्टाज् धनंजय प्राण के साथ संयुक्त होकर तीव्र गति प्राप्त करते हैं। इस प्रक्रिया में भी डार्क एनर्जी व डार्क मैटर बाधा उत्पन्न कर सकते हैं, जिन्हें नियन्त्रित करने में भी इन छन्द रश्मियों से सामर्थ्य प्राप्त होता है। जब कोई पदार्थ बाहर से आये क्वाण्टाज् को अवशोषित करता है, तब ये रश्मियाँ उन क्वाण्टाज् को संयुक्त ऊर्जा में परिवर्तित करने में सहायक होती हैं। इसके कारण विभिन्न पदार्थ तेजस्वी होते हैं तथा फिर उनमें परस्पर संयोजन वा विशेष परिस्थिति में संलयन की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो पाती है। यह ऊर्जा किसी अणु वा इलेक्ट्रॉन से संयुक्त होकर उसे अपने साथ ले जाने में समर्थ होती है। ये क्वाण्टाज् भी विभिन्न पदार्थों के द्वारा आकर्षित होने की प्रवृत्ति इन्हीं छन्द रश्मियों के कारण रखते हैं। किसी पदार्थ के जलने की क्रिया में भी इन रश्मियों का योगदान रहता है। विभिन्न तीव्र विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विभिन्न अणुओं को तोड़ने का सामर्थ्य रखती हैं। इस तोड़फोड़ से विभिन्न पदार्थ शुद्ध रूप में प्राप्त होते हैं। यहाँ भी इन छन्द रश्मियों का योगदान रहता है। ऊर्जावान् होकर विभिन्न अल्पायु व अनियमित गति वाले कण भी दृश्य व प्रकाशित हो उठते हैं। किसी इलेक्ट्रॉन से उत्सर्जित क्वाण्टा किसी के द्वारा अवशोषित व पुनः इन रश्मियों के प्रभाव से उत्सर्जित होते रहकर इसी प्रक्रिया के तहत आगे बढ़ते रहते हैं। इस प्रक्रिया में इन्हीं छन्द रश्मियों की भूमिका होती है। विभिन्न क्वाण्टाज् अपने

साथ अन्य छन्द रश्मियों तथा अनेक मरुद्रश्मियों को लेकर ही उत्सर्जित वा अवशोषित होते हैं। कोई भी क्वाण्टा किसी के साथ संयुक्त होकर उसका वाहक व नियन्त्रक भी बन जाता है। विभिन्न तारों, ग्रहों, उपग्रहों, उल्कापिण्ड आदि अनेक आकाशीय पिण्डों के निर्माण में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की विशेष भूमिका होती है। विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें किसी एटम, अणु वा इलेक्ट्रॉन आदि से बहुत प्रकार से संयुक्त हो सकती हैं। इन सब प्रकारों में इन छन्द रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है।।

२. तदाहुर्यदन्यदेवत्य उत पशुर्भवत्यथ कस्मादाग्नेयीरेव मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्यान्वाहेति।।
तिस्रो वै देवानां मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि, वाग्वै देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि, गौर्वै देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतान्यग्निर्वै देवानां मनोता तस्मिन् हि तेषां मनांस्योतान्यग्निः सर्वा मनोता अग्नौ मनोताः संगच्छन्ते, तस्मादाग्नेयीरेव मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्यान्वाह।।

{ओतः = आङ्+वेञ् तन्तुसन्ताने+क्तः। वाक् = छन्दांऽसि वै वाक् (मै.१.१०.६; ४.८.८), (अग्नयो वै छन्दांऽसि - तै.सं.५.७.६.३)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का प्रश्न उपस्थित करते हैं कि जब पशुरूप विभिन्न कण, लोक वा अन्य पिण्डों के निर्माण में पूर्वोक्त अनेक देवताओं वाली ऋचाओं की भूमिका बतलाई गयी थी, तब यहाँ अग्नितत्त्व को तरंग रूप में परिवर्तित करके अति वेगवान् बनाने हेतु एवं उसको खण्ड-२ में उत्सर्जित वा अवशोषित करने में क्यों अग्निदेवताक पूर्वोक्त सूक्त की ही भूमिका दर्शायी गयी है। इसका आशय यह भी है कि जब अग्नितत्त्व के निर्माण में अनेक देवताओं वाली ऋग्रश्मियों की भूमिका रहती है, तब उस अग्नितत्त्व को खण्ड-२ का रूप प्रदान करने एवं ऐसा करके उसे उत्सर्जित व अवशोषित करने में क्यों केवल अग्निदेवताक ऋचाओं की भूमिका रहती हैं?।।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं-

इस सृष्टि में प्रकाशित पदार्थों के मध्य तीन प्रकार के मनोता विद्यमान हैं। इसका आशय यह है कि तीन प्रकार के पदार्थ मन की गति से चलने वाले तथा प्रकाशक धर्म वाले हैं। उन तीनों प्रकार के पदार्थों के अन्दर मनस्तत्त्व, जो यहाँ बहुवचन में होने से प्राणतत्त्वों का सूचक है, सभी के चारों ओर जाल की भाँति मानो बुना रहकर आच्छादित होता है। अपने इस जालवत् आच्छादन से ही वे प्राण इन तीनों दृश्य मनोजवा पदार्थों को गति प्रदान करते हैं। **वे प्राण स्वयं मनस्तत्त्व के कारण गति प्राप्त करते और मनस्तत्त्व स्वयं मूल गति व बल प्रदाता चेतन सर्वशक्तिमान् परमात्मा द्वारा गति व मूल बल प्राप्त करता है।** इस प्रकार हर स्थूल पदार्थ अपने से सूक्ष्म तत्त्व के द्वारा वहन व प्रेरित किया जाता है। वे तीन मनोता निम्नानुसार हैं-

१. वाक् तत्त्व अर्थात् विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियां तथा मरुद् रूपी सूक्ष्म छन्द रश्मियां। इन रश्मियों के चारों ओर प्राणापान व सूत्रात्मा वायु रूपी प्राथमिक प्राण तथा सर्वप्रमुख प्राण अर्थात् मनस्तत्त्व जालरूप में आच्छादित रहते हैं। इनमें से मनस्तत्त्व तो मिथुन रूप में उनसे एकरस संयुक्त रहकर उन्हें अपना तेज प्रदान करता रहता है। इसी प्रकार प्राण तत्त्व विशेषकर प्राण नामक का भी कुछ अंशों तक मिथुन वाक् तत्त्व से रहता है। अन्य प्राण भी इन्हें सतत बल व गति प्रदान करते रहते हैं।

२. गौ अर्थात् अन्तरिक्ष लोकस्थ अनेक प्रकार के विकिरण (विद्युत् चुम्बकीय विकिरणों के अतिरिक्त)। इन विकिरणों के साथ भी उपर्युक्त प्राण तत्त्वों के साथ अन्य छन्दादि प्राणों का जाल आच्छादित रहता है परन्तु इनका उपर्युक्त मन आदि प्राणों के साथ पूर्ण मिथुन नहीं होता।

३. अग्नि अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय विकिरण। इनके साथ भी सम्बन्धित प्राण तत्त्वों का जाल होता है। इन्हें गति प्रदान करने में धनंजय प्राण की भूमिका विशेष होती है।

ये तीनों मनोता (रश्मियाँ) अग्नि रूप ही होते हैं। ये सबको अपने साथ ले जाने में सक्षम, गति में अग्रणी तथा संगति क्रियाओं में भी अग्रणी भूमिका वाले होते हैं।

इनमें से अन्तिम पदार्थ विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अग्नि नाम से लोक में अधिक प्रसिद्ध हैं। ये तरंगें वस्तुतः तीनों अर्थात् उपर्युक्त दोनों मनोताओं को भी अपने साथ व्याप्त करने वाली किंवा उनके आच्छादक प्राणों को अपने साथ संयुक्त करने वाली होती हैं। यहाँ अन्य आशय यह है कि यह 'अग्नि' शब्द तीनों उपर्युक्त मनोताओं का ही वाचक है अर्थात् इस शब्द से तीनों ही मनोताओं का ग्रहण हो जाता है। इसी कारण अग्नि के उत्सर्जन, अवशोषण आदि प्रक्रिया में अग्निदेवताक छन्द रश्मियों की भूमिका विशेष रहती है, जिनका वर्णन यहाँ किया गया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– इस सृष्टि में तीन प्रकार के पदार्थ अति तीव्रगामी व प्रकाशयुक्त होते हैं। (१) विभिन्न छन्द व मरुद् रश्मियाँ (२) विद्युत् चुम्बकीय तरंगें (३) अन्य ब्रह्माण्डीय विकिरण। वर्तमान विज्ञान विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को सर्वाधिक तीव्रगामी मानता है, परन्तु हमारा मत है कि **अनेक छन्द व मरुद् रश्मियाँ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की अपेक्षा अधिक तीव्रगामी होती हैं। वर्तमान विज्ञान किसी भी तकनीक से इन रश्मियों को न तो प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है और न उनकी गति को ही माप सकता है।** हाँ, इतना अवश्य है कि जब विज्ञान अति विकसित हो जायेगा, तब वह छन्द वा मरुद् रश्मिों के स्थूल प्रभावों को अवश्य जान सकेगा। ये सभी पदार्थ विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म प्राण रश्मियों के जाल से आच्छादित रहते हैं। **वह प्राण-जाल ही उन विकिरणों, रश्मियों को गति प्रदान करता है और एक मर्यादा में बांधे रखता है।** इनमें से प्रथम सर्वाधिक गतिशील रश्मियों के साथ मनस्तत्त्व का पूर्ण मिथुन रहता है अर्थात् वह उनमें एकरस ओतप्रोत रहता है, जबकि प्राणादि प्राथमिक प्राण तत्त्वों का कुछ-२ मिथुन व पूर्ण आच्छादन रहता है। **विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में छन्द रश्मियों का भी संयोग रहता है और प्राणादि का भी। धनंजय प्राण के कारण इनकी गति अति तीव्र होती है।** ये तीनों प्रकार के पदार्थ विभिन्न सूक्ष्म कणों को अपने साथ ले जाने में समर्थ होते हैं अर्थात् ये वाहक का कार्य करने, संयोगादि क्रिया को सम्पन्न कराने एवं उन्हें बल व तेज प्रदान करने में सक्षम होते हैं।।

३. 'अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्येति' हविषो यजति।। हविष इति रूपसमृद्धा प्रस्थितस्येति रूपसमृद्धा।। सर्वाभिर्हास्य समृद्धिभिः समृद्धं हव्यं देवानप्येति य एवं वेद।।

{शर्म = वाग्वै शर्म (ऐ.२.४०), गृहनाम (निघं.३.४), सुखनाम (निघं.३.६)। योः = पदार्थानां पृथक्करणम् (म.द.ऋ.भा.१.६३.७), प्रापकः (म.द.ऋ.भा.१.१८६.२), संयुक्तम् (म.द.ऋ.भा.५.६८.३)}

व्याख्यानम्– अग्नि के विकिरण अर्थात् उत्सर्जन व अवशोषण में पूर्वोक्त तेरह छन्द रश्मियां प्रेरक का कार्य करती है। इसके साथ ही इस कार्य में मुख्य भूमिका के लिए पूर्वखण्डोक्त राहूगणपुत्रो गोतम ऋषि प्राण अर्थात् धनंजय प्राण से अग्नीषोमौ-देवताक एवं निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क रश्मि

अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्य वीतं हर्यतं वृषणा जुषेथाम्।
सुशर्माणा स्ववसा हि भूतमथा धत्तं यजमानाय शं योः।। (ऋ.१.९३.७)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि व सोम तत्त्व तीव्र बल व तेज से समृद्ध होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से अग्नि व सोम प्रधान पदार्थ अग्नि के परमाणुओं को विभक्त करके उत्सर्जित करने के लिए विभिन्न मार्गों से देशान्तर पहुंचाने हेतु वाक् तत्त्व का बल प्राप्त करते और

अग्नि के कणों को उत्तम रक्षा प्रदान करते हैं। इस कारण अर्थात् वाक् तत्त्व के संयोग से संयोग-वियोग करने वाले विभिन्न कणों व तरंगों के द्वारा वे अग्नि के परमाणु धारण किए जाते हैं।

इस रश्मि के कारण अग्नि तत्त्व परमाणुरूप होकर विभिन्न कणों के साथ संगत व वियुक्त होते हुए अपनी यात्रा पर सतत गमन करते रहते हैं। यहाँ ऋचा में विद्यमान 'वीतम्' व 'हर्य्यतम्' पदों से संकेत यह भी मिलता है कि **अग्नि गमन करते समय भी फैलता हुआ चलता है** तथा विभिन्न पदार्थ कणों के द्वारा आकर्षित किया जाता ही रहता है।।

यहाँ 'हविषः' एवं 'प्रस्थितस्य' पदों को रूप समृद्ध कहने का आशय पूर्ववत् समझें।।

जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है अर्थात् पूर्वोक्त सभी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति हो जाती है, तब विभिन्न आकर्षक कणों से अग्नि के परमाणु संयुक्त होते रहकर उन्हें समृद्ध करते रहते हैं अर्थात् उन्हें भी विविध प्रकार की गतियों, संगतियों से युक्त करते हैं। इसके साथ ही विभिन्न प्राणादि प्राथमिक प्राणरूप देवों से भी अग्नि के परमाणु व्याप्त होते रहते हैं, जिससे उनकी गमनागमन, संयोग-वियोग की प्रक्रिया निरन्तर आगे बढ़ती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के निर्माण में पूर्वोक्त तेरह छन्द रश्मियों की भूमिका प्रेरक की होती है, जबकि एक त्रिष्टुप् रश्मि की मुख्य भूमिका होती है। यह रश्मि बनने वाले विभिन्न क्वाण्टाज् के साथ संयुक्त होकर उन्हें वाक् तत्त्व से संयुक्त करके उन्हें इलेक्ट्रॉन आदि से उत्सर्जित करने में तीव्र बल प्रदान करती है। **वे क्वाण्टाज् जब तरंग रूप होकर गमन करते हैं, उस समय वे फैले हुए होते हैं और ज्यों ही वे किसी कण के द्वारा अवशोषित किए जाते हैं, वैसे ही तत्काल ऊर्जा संकुचित होकर फिर उस अवशोषक कण में व्याप्त हो जाती है। इससे प्रतीत होता है कि ऊर्जा केवल उत्सर्जित व अवशोषित होते समय ही कण का रूप धारण करती है।** मार्ग में वह **ऐसे प्रवाह करती है, मानो उसका एक पूर्ण सुस्पष्ट सीमांकन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ऊर्जा को क्वाण्टा रूप देने हेतु ही इस त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की विशेष भूमिका होती है।।**
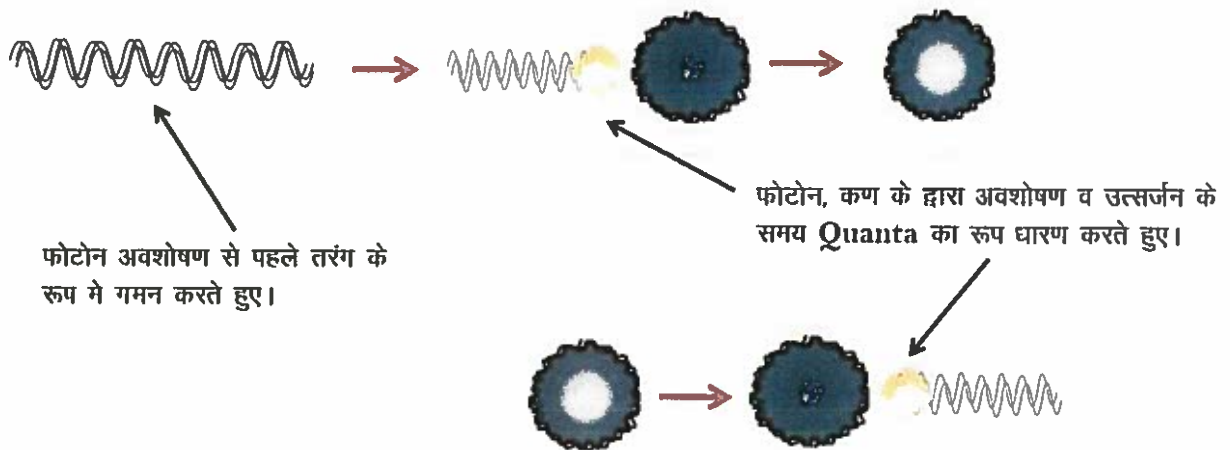
चित्र ६.१४ क्वाण्टाज् के किसी कण के द्वारा उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया

४. वनस्पतिं यजति प्राणो वै वनस्पतिः।।
जीवं हास्य हव्यं देवानप्येति यत्रैवं विद्वान् वनस्पतिं यजति।।
स्विष्टकृतं यजति, प्रतिष्ठा वै स्विष्टकृत्, प्रतिष्ठायामेव तद्यज्ञमन्ततः प्रतिष्ठापयति।।
इळामुपह्वयते पशवो वा इळा पशूनेव तदुपह्वयते पशून् यजमाने दधाति, दधाति।।१०।।

{वनम् = सम्भजनीयः पदार्थो रश्मिर्वा (तु.म.द.ऋ.भा.१.७०.२), रश्मिनाम (निघं.१.५), वनं वनोतेः (नि.८.३), उदकनाम (निघं.१.१२)}

व्याख्यानम्- इस सृष्टि में दो प्रकार के पदार्थों का संगतीकरण होता है। प्रथम वे पदार्थ हैं जो किरणों के द्वारा विखण्डित हो जाते हैं वा हो सकते हैं। द्वितीय पदार्थ स्वयं विभाजक रश्मियाँ हैं। ये रश्मियाँ अग्नि व वायु दोनों की ही हो सकती हैं। ये रश्मियाँ भी परस्पर संगत होकर तत्त्वान्तरों का निर्माण कर सकती हैं पुनरपि रश्मि संयोग अति विरल तथा विशेष परिस्थिति में ही हो सकता है। इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों का पालक व रक्षक होने से प्राणतत्त्व को वनस्पति कहा गया है। यह प्राण तत्त्व भी अति सूक्ष्म विभिन्न रश्मियों के रूप में होते हैं। सभी पदार्थ इन प्राण रश्मियों के संगत होने से ही निर्मित होते हैं। ये प्राण न केवल परस्पर संगत होकर विभिन्न रश्मियों तथा कणों का निर्माण करते हैं अपितु वे संयोजक व विभाजक की भी भूमिका निभाते हैं।।

जब विभिन्न प्राणतत्त्वों का यजन होता है और वह उपर्युक्त विभिन्न परिस्थितियों को उत्पन्न करते हुए होता है, तब विभिन्न संगमनीय कण व तरंगें प्राण तत्त्व से विशेषतया युक्त होकर अथवा विशेष गति व बल से युक्त होकर विभिन्न आकर्षक पदार्थों से संगत होती हैं। वस्तुतः जब भी कोई पदार्थ परस्पर संगत होता है, तब वह मूलतः प्राण तत्त्वों के संगत होने पर ही संगत हो पाता है। यहाँ "एवं विद्वान्" से भी यही संकेत मिलता है कि **यहाँ वनस्पति का अर्थ प्राण ही माना जाये, न कि अन्य कोई अर्थ**। यथा-अग्नि, सोम वा वृक्ष, लता आदि अर्थ का ग्रहण नहीं हो।।

प्रत्येक संगमनीय कण अग्नि वा वायु तत्त्वों के साथ संगत होता है। प्रत्येक संयोग तप अर्थात् ऊष्मा की विद्यमानता में होता है। **विभिन्न क्रियाओं के अन्तिम स्वाभाविक तथा सर्वशक्तिमान् चेतन कर्त्ता परमात्मा के साथ प्रत्येक स्थूल से स्थूलतम एवं सूक्ष्म से सूक्ष्मतम सभी पदार्थ सदैव संगत रहते हैं और यह चेतन तत्त्व ही प्रत्येक पदार्थ की अन्तिम प्रतिष्ठा है।** हम पूर्व में अनेकत्र यह भी बतला चुके हैं कि संगमनीय कणों में अधिक क्रियाशील कण अपने उत्तरी वा दक्षिणी ध्रुव की ओर से ही सम्मुख विद्यमान संगमनीय कण की दक्षिण वा उत्तर दिशा से संयुक्त होता है। संयोग के समय ये दोनों ध्रुव ही संगत होते हैं। विभिन्न प्राणों रूप प्रतिष्ठा में संगत होते हैं और उससे भी आगे मन, वाक् वा महत्तत्त्व वा मूल आधार रूप प्रकृति तत्त्व में संगत होते हैं और अन्ततः **सभी परमात्मा रूपी सबके मूल आधार में संगत होते हैं**।।

ये संगत होने वाले सभी पदार्थ विभिन्न छन्द वा मरुद्रश्मियों रूपी इडा को आकर्षित करते हैं। इससे वे पदार्थ उन छन्द रश्मियों एवं मरुद्रश्मियों को अपने अन्दर धारण कर लेते हैं। इस धारण क्रिया से ही वे परस्पर संगत होकर विविध पदार्थों का निर्माण करने में सक्षम होते हैं। यहाँ पूर्वोक्त अग्निदेवताक तेरह छन्द रश्मियों व एक अन्य रश्मि को ही पशु वा इडा मानना चाहिए। यहाँ उन्हीं के साथ संगति की चर्चा है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में दो प्रकार के पदार्थ हैं, जो विभाजक और विभाज्य कहलाते हैं। ये दोनों पदार्थ सापेक्ष होते हैं। एक विभाजक दूसरे के सापेक्ष विभाज्य हो सकता है। **परमसत्ता चेतन परमात्मा केवल विभाजक ही होता है। वह किसी के द्वारा भी विभाज्य नहीं हो सकता। मूल प्रकृति न विभाजक की श्रेणी में आती है और न विभाज्य की ही, क्योंकि वह पूर्णतः विभाजित पदार्थ का ही नाम है।** इसके आगे महत् वा मनस्तत्त्व वा वाक् तत्त्व विभाजक व विभाज्य दोनों हैं। वे परमात्मा के द्वारा विभाज्य, तो प्राणादि प्राथमिक प्राणों के विभाजक हैं। प्राणादि पदार्थ विभिन्न छन्दादि रश्मियों के विभाजक हैं और वे छन्दादि रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों व कणों की विभाजक हैं। इस प्रकार दो श्रेणी में सृष्टि के सभी निर्मित वा अनिर्मित पदार्थ समा जाते हैं। **सृष्टि के ज्ञेय व अनुभूत पदार्थों के विभाजक प्रायः प्राणादि प्राथमिक प्राण ही हैं।** ये जहाँ विभिन्न कणों वा तरंगों के संयोजक व विभाजक हैं, वहीं ये स्वयं संगत होकर कण व रश्मियों के साथ-२ पुनः स्थूल व स्थूलतर पदार्थों का निर्माण भी करने वाले हैं। प्रायः **प्रत्येक क्रिया हेतु ऊर्जा की विद्यमानता अनिवार्य होती है परन्तु ऊर्जा की शक्ति का भण्डार छन्दादि वा प्राण रश्मियाँ होती हैं। इन सबमें मूल बल परमात्म सत्ता का ही होता है। विभिन्न**

कणों वा तरंगों की उत्पत्ति वा विनाश की मूल प्रतिष्ठा भी परमात्मा ही है। उसके पश्चात् ही महत् तत्त्व, मनस्तत्त्व, वाक् तत्त्व एवं विभिन्न प्राणादि पदार्थ का क्रम आता है। प्रत्येक संयोग-वियोग की प्रक्रिया मूलरूप में प्राणादि व मन-वाक् के मिथुन तक होती है। इसके साथ ही महत्तत्व भी इसमें भाग लेता है। इससे सूक्ष्म जड़ मूल प्रकृति अथवा चेतन परमात्मा इस क्रिया से पृथक्, उनमें भी चेतन परमात्मा निरपेक्षरूपेण पूर्ण पृथक् रहता है। प्रकृति स्वयं संयुक्त होकर महत्तत्वादि के रूप में प्रकट होती है परन्तु ऐसा होकर उसका प्रकृतिरूप नहीं रहता, इसी कारण हमने इसे पृथक् रहने वाला तत्त्व कहा है। ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण में विभिन्न छन्द रश्मियों का विशेष योगदान रहता है।।

इति ६.१० समाप्तः

इति षष्ठोऽध्यायः समाप्तः

सप्तमोऽध्यायः

7

1. लोम – विभिन्न छन्द रश्मियां
2. त्वचा – छन्द रूप प्राण एवं सूत्रात्मा वायु आदि प्राण
3. मांस – मास व ऋतु संज्ञक रश्मियां
+
अनेक छन्दादि प्राण
+
तारों के निर्माण की सम्पूर्ण सामग्री
4. अस्थि – विभिन्न प्रक्षेपणशील किरणें
5. मज्जा – प्राण, कण व ज्योतिर्मयी संयोजक रश्मियां
H
H
H
H
H
H
He

।। ओ३म् ।।
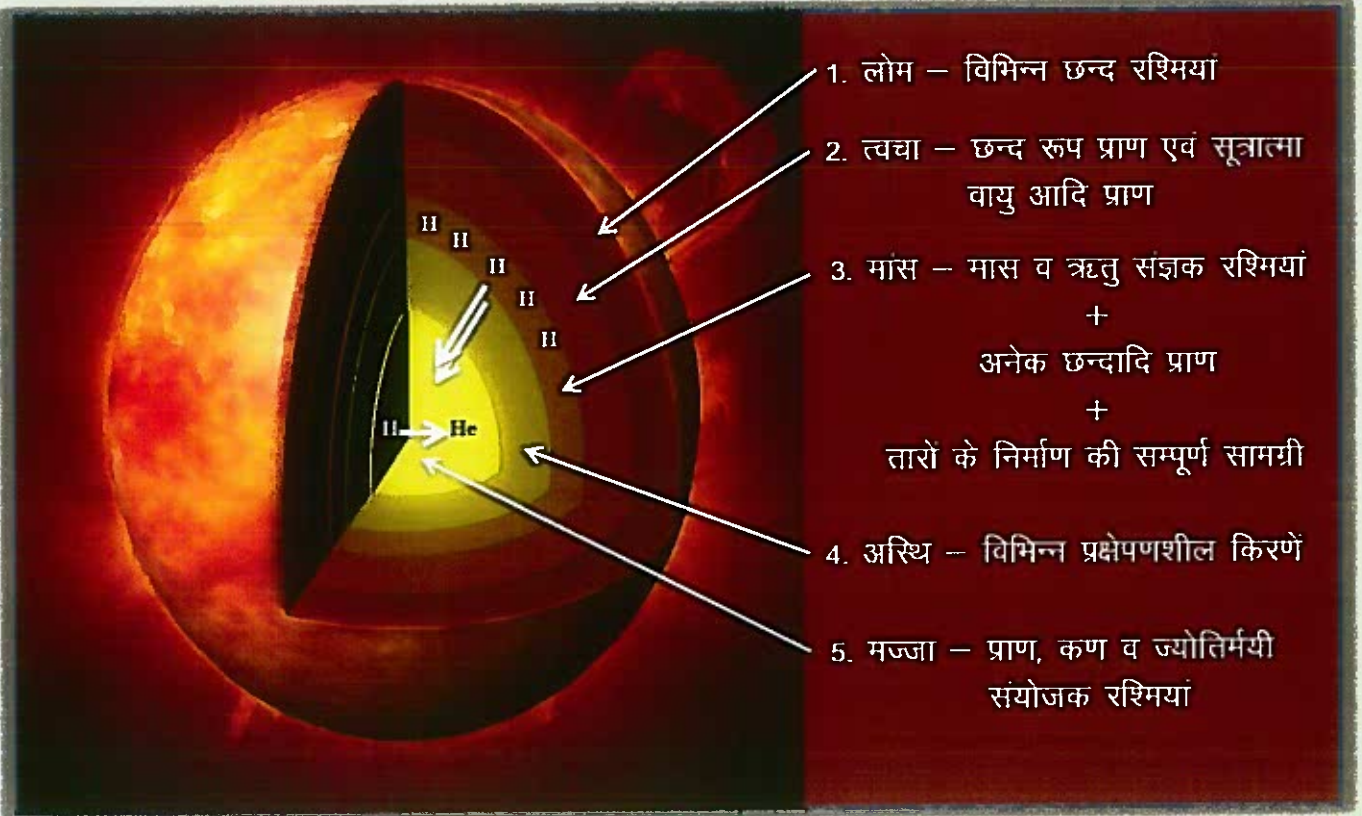
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

अनुक्रमणिका

७.१ देवों का यज्ञ विस्तार, असुर तत्त्व का आक्रमण, तीन पुरों का निर्माण, देवासुर संग्राम, असुर आक्रमण की प्रथम दिशा=पूर्व, गायत्री रश्मियों द्वारा असुरों का प्रतिकार। उल्मुक, विभिन्न संयोगों में असुर वाधा के निवारण का विज्ञान, निश्चित ऊर्जा पर ही कणों का संयोग और छन्द रश्मियों का योगदान। औषधी, ऊवध्य, आप्रीत, विभिन्न कणों के संयोग से अणु व परमाणुओं के निर्माण का विज्ञान एवं संयोग की दिशा व संयुक्त कणों की आकृतियाँ। लोम-त्वक्-अस्रिक्-कुष्ठिका-शका-विषाण-व्रीहि-यव, विभिन्न कणों व लोकों के निर्माण और विखण्डन में मन-वाक्-छन्द-प्राणापानादि की भूमिका, विखण्डन के समय अवयवी कणों की मूल स्वरूप के संरक्षण का कारण। 375

७.२ स्रुक्-स्तोक, पूर्वोक्त अणु व परमाणु निर्माण प्रक्रिया में गायत्री की भूमिका। मेदा-घृत-प्राशान, विभिन्न कणों के संयोग-वियोग में सूक्ष्मतम अवयवी पदार्थ तक प्रभाव और विद्युत् की भूमिका एवं विद्युत् के अनेक रूप। देववीति-विप्र, विद्युत् आवेश का मूल कारण प्राण तत्त्व, उनका भी मूल मन और वाक् तत्त्व, विभिन्न कणों के संयोग और वियोग का विज्ञान। शचीव-स्तोकास-भानु-ओज-वषट्कार, विभिन्न कणों के संयोग-वियोग की प्रक्रिया का विज्ञान एवं इसमें त्रिष्टुप् की भूमिका। 384

७.३ स्वाहाकृति-पुरोऽनुवाक्या-प्रेष-याज्या, विभिन्न कणों के संयोग में तीन प्रकार की छन्द रश्मियों की भूमिका एवं आकाश तत्त्व की भूमिका। मनुष्य-ऋषि-देव-अन्त्र-पशु, तारों के नाभिकीय संलयन का विज्ञान। 391

७.४ विभिन्न अमृत और अशरीर आहुतियाँ (वपा-अग्नि-आज्य-सोम), सृजन प्रक्रियाओं की निरन्तरता एवं उसकी परिसीमा। रेत-शुक्ल-वपा-शरीर-लोहित-मांस, सृष्टि के मूल उपादान पदार्थ से लेकर विभिन्न कणों और तरंगों के संयोग आदि की सूक्ष्म प्रक्रियाओं का स्वरूप, विभिन्न पदार्थों के आकार की विचित्रता एवं विज्ञान। पंचावत्ता-चतुरवत्ती-वपा-यजमान-हिरण्यशल्क-आज्य, सृष्टि में पांच प्रकार के पदार्थ, संयोजक-वियोजक चार प्रकार के पदार्थ, चार प्रकार के मूल वल, क्वार्क एवं लेप्टॉन की संरचना। हिरण्य-पुरुष-मज्जा-देवयोनि, मन-वाक्-प्राण एवं छन्द के अनुपात-दिशा क्रम-मात्रा भेद के कारण विभिन्न कणों व तरंगों का निर्माण, तारों के अन्दर पांच क्षेत्र। 395

७.५ प्रातर्यावाण-ऊषा-अश्विनौ-देव-होता-अध्वर्यु, विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों के द्वारा मन-वाक्-प्राणापानादि के साथ विभिन्न तरंगों की विशेष सक्रियता, विभिन्न कणों और तरंगों की विभिन्न क्रियाओं पर प्राणापानादि का प्रभाव। प्रातरनुवाक-भ्रातृव्य-प्रजापति, मनस् तत्त्व में अकस्मात् हुए कम्पनों से प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति, प्राणापानादि पर असुर तत्त्व निष्प्रभावी। रात्रि, मनस् तत्त्व से सर्वप्रथम दैवी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति, सृष्टि के सभी बलों एवं पदार्थों का मूल कारण दैवी छन्द रश्मियां। शकुनि-वयांसि-ब्रह्म, सृष्टि का प्रारम्भ तीव्र विक्षोभ या विस्फोट से नहीं वल्कि मनस् तत्त्व में अत्यन्त सूक्ष्म दैवी गायत्री छन्द रश्मियों के कारण। 403

७.६ रेवती-आप, दैवी छन्द रश्मियों से ही असुर और देव पदार्थ दोनों की उत्पत्ति, त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के कारण सभी पदार्थों की सक्रियता में वृद्धि। इन्द्र-वज्र-अपोनप्त्र, त्रिष्टुप् छन्द रश्मि द्वारा असुर तत्त्व का निवारण, मन-वाक् आदि की सक्रियता का कारण ईश्वरीय तत्त्व। 415

७.७ शतायु-पुरुष-षष्टि-संवत्सर-इन्द्रिय, सौ प्रकार की छन्द रश्मियों के कारण विभिन्न क्वान्टाज् की उत्पत्ति, ३६० प्रकार की छन्द रश्मियों के द्वारा गुरुत्व बल एवं विद्युत् चुम्बकीय बल आदि के साथ विभिन्न कणों की उत्पत्ति। शमल, ७२० प्रकार की छन्द रश्मियों से विभिन्न कणों का निर्माण, कॉस्मिक मेघों के निर्माण के समय तक ८० प्रकार की गायत्री रश्मियां उत्पन्न होकर कुल ८०० प्रकार की छन्द रश्मियों की उत्पत्ति, कुछ पदार्थ की निष्क्रियता। अश्विन-उक्थम्-अपरिमितम्, नेब्यूलाओं एवं तारों की उत्पत्ति के समय तक कुल १००० प्रकार की असंख्य छन्द रश्मियों की उत्पत्ति, अपने सूर्य के केन्द्रीय भाग की त्रिज्या का माप, ग्राम-अश्विनौ-देवलोक, ब्राह्मण्ड में तारों की सात श्रेणियां, सात प्रकार के पदार्थ, सात प्रकार की मुख्य छन्द रश्मियां, सात प्रकार की गैलेक्सियां, सात प्रकार के मुख्य प्राथमिक प्राण। 419

७.८ अंग-पच्छ-चतुष्पाद,मनस् तत्त्व में स्पन्दनों से विभिन्न छन्द रश्मियों की उत्पत्ति का विज्ञान। स्तोमभाग-छन्दोभाग-आहुतिभाग, उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा आकाश तत्त्व तथा विभिन्न मूल कणों के निर्माण का विज्ञान, ब्रह्माण्ड में मुख्यतः तीन प्रकार के पदार्थ। सोमपा-असोमपा, ३३-३३ प्रकार के देव पदार्थ, सृष्टि के विविध प्रकार के आठ पदार्थों का निर्माण, मरुद् रश्मियों से इन सभी का मनस् तत्त्व के साथ संबंध और इनका विविध विज्ञान। क्रतु-ऊषा-धाय्या- वृषण्वसू, मनस् तत्त्व में सबसे अन्तिम स्पन्दन विराट् पंक्ति और इसके कारण सभी छन्दों की विशेष सक्रियता। 426

अथ ७.१ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. देवा वै यज्ञमतन्वत तांस्तन्वानानसुरा अभ्यायन्, यज्ञवेशसमेषां करिष्याम इति तानाप्रीते पशौ पुर इव पर्यग्नेर्यूपं प्रति पुरस्तादुपायंस्ते देवाः प्रतिबुध्याग्निमयीः पुरस्त्रिपुरं पर्यास्यन्त यज्ञस्य चाऽऽत्मनश्च गुप्त्यै, ता एषामिमा अग्निमय्यः पुरो दीप्यमाना भ्राजमाना अतिष्ठंस्ता असुरा अनपधृष्यैवापाद्रवंस्तेऽग्निनैव पुरस्ताद् असुररक्षांस्यपाघ्नताग्निना पश्चात्।।

व्याख्यानम्– यहाँ महर्षि एक पूर्व प्रसंग को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि एक बार देवों अर्थात् प्राथमिक प्राणों व ऋषि संज्ञक सूक्ष्म प्राणों ने मन व वाक् तत्त्व की प्रेरणा से अपने से स्थूल व निर्मित सूक्ष्म कणों को संगत करना प्रारम्भ किया, उस समय असुर तत्त्व अर्थात् अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु ने इस प्रक्रिया को बाधित करने हेतु निकट आने व प्रहार करने का प्रयास किया। वह असुर पदार्थ सब ओर से दृश्य वा देव पदार्थ की ओर बढ़ने लगा। यह प्रकरण वा घटना किस समय की है? इसका उत्तर महर्षि देते हैं कि जब पशु अर्थात् विभिन्न प्रकार की छन्दादि रश्मियाँ एवं दृश्य कण आदि पदार्थों को संगत करते समय खण्ड २.४ में दर्शायी आप्री छन्द रश्मियों के द्वारा यूप रूप तरंगों के साथ संगत करने के उपरान्त खण्ड २.५ में वर्णित विभिन्न कणों वा लोकों को तेजस्वी बनाने हेतु विविध छन्द रश्मियाँ उन कणों को आच्छादित कर रही थीं। इस विषय को समझने हेतु इन दोनों खण्डों पर पूर्ण विचार करना आवश्यक है। उस ऐसी स्थिति में ही असुर तत्त्व द्वारा हुए आक्रमण वा आक्रमणार्थ सक्रिय होने की चर्चा यहाँ की गयी है। यह आक्रमण क्योंकि यूप तरंगों पर ही हुआ, जो स्वयं असुर तत्त्व को ही नियन्त्रित करती हैं, इस कारण उस प्रसंग में जिस सृजन कर्म की चर्चा की गयी है, वह बाधित हो जाता है किंवा उसमें बाधा व ा संकट खड़ा हो जाता है। यह आसुर आक्रमण उन यूप तरंगों की धाराओं वा समूहों के पूर्वी भाग में होता है किंवा उन कणों के पूर्वी भाग में स्थित यूप तरंगों पर यह आक्रमण होता है। यह भी सम्भव है कि यह आक्रमण किसी नेब्यूला, निर्माणाधीन लोक के पूर्वी क्षेत्र में हुआ हो और उसी की यहाँ चर्चा की गयी हो। इस आक्रमण के होने पर किंवा असुर तत्त्व के निकट आने पर देव अर्थात् प्राणादि पदार्थ विभिन्न कणों वा लोकों के चारों ओर कुछ गायत्री छन्द रश्मियों का तेजस्वी आवरण बना देते हैं। यह आवरण तीन प्रकार की तेजस्वी किरणों का होता है। ये किरणें ऊष्मा की विशेष वर्धिका होती हैं। इन्हीं छन्द रश्मियों की चर्चा खण्ड २.५ में की गयी है। यहाँ इसकी चर्चा अग्रिम कण्डिका में की जायेगी। इन तरंगों से विभिन्न कणों की संगति प्रक्रिया एवं उन कणों की स्वयं की रक्षा भी होती है। वे किरणें, जिनके द्वारा तीन स्तरीय आवरण बनाया गया था, अति अग्निमय, देदीप्यमान एवं ज्वलनशील थीं।

उन ऐसी जलती, तेजस्वी व अत्युष्ण तरंगों के आवरण से वे सभी कण वा लोक प्रकाशित हो उठे। ऐसी उन प्रदीप्त व तप्त किरणों को असुर तत्त्व भेद नहीं सका बल्कि वह वहाँ से दूर चला गया। जिस प्रकार पूर्व दिशा में यह घटना घटती है, उसी प्रकार पश्चिम दिशा में भी यही घटना घटती है। उधर भी इसी प्रकार असुर तत्त्व को दूर करने हेतु इसी प्रकार तेजस्वी तरंगों की उत्पत्ति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– यहाँ खण्ड २.४ व २.५ में वर्णित यूप तरंगों के द्वारा डार्क एनर्जी के आक्रमण को निष्प्रभावी करने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। इसके साथ यहाँ यह भी बतलाया गया है कि यह आक्रमण सर्वप्रथम पूर्व दिशा पुनः पश्चिम दिशा में होता है। यूप तरंगें इस आक्रमण को दूर करने हेतु प्रत्येक कण वा लोक को चारों ओर तेजस्वी, ज्वलनशील किरणों के त्रिस्तरीय आवरण से घेर दिया जाता है। इस आवरण से वे कण वा लोक अत्यन्त ऊर्जा वाले हो जाते हैं। ऊष्मा की मात्रा विशेष बढ़

जाती है। इस कारण डार्क एनर्जी उन कणों वा लोकों की संगति वा निर्माण - प्रक्रिया में बाधा नहीं डाल पाती बल्कि वह इनसे दूर चली जाती है। यहाँ त्रिस्तरीय आवरण किस प्रकार की तरंगों का होता है, इसकी चर्चा अग्रिम कण्डिका में की गयी है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि डार्क एनर्जी के तीव्र प्रक्षेपक बल के प्रतिकार की जो प्रक्रिया पूर्व दिशा में होती है, वही पश्चिम दिशा में भी होती है।।

२. तथैवैतद्यजमाना यत्पर्यग्नि कुर्वन्त्यग्निमयीरेव तत् पुरस्त्रिपुरं पर्यस्यन्ते यज्ञस्य चाऽऽत्मनश्च गुप्त्यै, तस्मात् पर्यग्नि कुर्वन्ति, तस्मात् पर्यग्नयेऽन्वाह।।

व्याख्यानम्- {उल्मुकम् = ओषति दहतीति उल्मुकम्, ज्वलदंगारो वा मुक् प्रत्ययो धातोः षकारस्य लत्वम् (उ.को.३.८४)। आहवनीयः = यजमान आहवनीयः (तै.ब्रा.३.३.७.२), प्राण आहवनीयः (श.२.२.२.१८)}

उपर्युक्त प्रकार के ऐसे संयोज्य कण वा लोक होते हैं, जो अपने चारों ओर अग्नि तत्त्व का घेरा बनाते हैं। पूर्वोक्त प्राण नामक प्राण तत्त्व से उत्पन्न छन्द रश्मियाँ इस त्रिस्तरीय आवरण को बनाकर प्रक्षिप्त करती हैं किंवा वे छन्द रश्मियाँ ही यह आवरण होती हैं। यहाँ आचार्य सायण ने आपस्तम्ब श्रौ. सूत्र ७.१५.२ को उद्धृत करते हुए लिखा है -

"आहवनीयादुल्मुकमादायाऽऽग्नीध्रः 'परि वाजपति कविः' इति त्रिः प्रदक्षिणं पर्यग्नि करोति पशुम्"
हमारे मत में इसका आशय है कि यजनशील अर्थात् विभिन्न कणों के संयोजक प्राण नामक प्राण तत्त्व से उत्पन्न जो ज्वलनशील तरंग होती है, वह वामदेव ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे।। (ऋ.४.१५.३)

का ही रूप किंवा उसी से उत्पन्न होती है। इस रश्मि को आग्नीध्र अर्थात् अग्नि तत्त्व का धारक आकाश तत्त्व प्राण नामक प्राण तत्त्व से ग्रहण करके तीन आवरण बनाता है अर्थात् इस छन्द रश्मि की तीन आवृत्ति एक साथ होती हैं और फिर वह आकाश तत्त्व इन तीन रश्मियों को लेकर उन संयोज्य कणों वा लोकों, जो असुर तत्त्व का आक्रमण सह रहे होते हैं अर्थात् उनका रक्षक यूप विकिरण ऐसे आक्रमण को सहन कर रहा होता है, पर प्रक्षिप्त करता है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव को जानने हेतु २.५.१ अवश्य पढ़ें। इस प्रक्रिया से वे कण और भी तेजस्वी व ऊर्जावान् हो उठते हैं। इससे वे संयोज्य कण निकट आकर परस्पर एक दूसरे के चारों ओर परिक्रमण करने लगते हैं। इसके साथ ही वे अपने अक्ष पर भी जो घूर्णन करते हैं, उसमें भी यह रश्मि सहयोग करती है। इस प्रक्रिया से उन कणों की संयोग प्रक्रिया एवं स्वयं उन संयोज्य कणों की भी रक्षा होती है। इस प्रकार अग्नि तत्त्व के आवरण बनाने की उपर्युक्त प्रक्रिया सम्पन्न हुआ करती है। इस प्रक्रिया के लिए पुनः प्राण नामक प्राथमिक प्राण से अग्निदेवताक

अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते। देवो देवेषु यज्ञियः।। (ऋ.४.१५.१)

इत्यादि तीन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इस विषय में २.५.१ द्रष्टव्य है। ये सभी परिधि रूप में संयोज्य कणों वा लोकों को घेरने हेतु प्रक्षिप्त की जाती हैं। ये रश्मियाँ मार्ग में विद्यमान यूप तरंगों के बाधक बने असुर तत्त्व को दूर करने में सक्षम होती हैं। इनके कारण वे कण तेजी से गति करते हुए अपने अन्दर असुर तत्त्व के प्रतिरोध के प्रति प्रतिरोध उत्पन्न कर लेते हैं परन्तु यह कार्य पूर्वोक्त यूप तरंगों के साहाय्य से ही हो पाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व कण्डिका में जो अग्निमय आवरण की चर्चा है, वह तीन प्रकार की गायत्री छन्द रश्मियों के कारण उत्पन्न होता है। ये रश्मियाँ कणों को चारों ओर से परिधि रूप में घेर लेती हैं। इस कारण **वे कण अपने अक्ष पर, साथ ही अपने निकट आये संयोज्य कण के साथ परस्पर एक**

दूसरे के चारों ओर तेजी से परिक्रमण करने लगते हैं। इस अपार ऊर्जा के कारण डार्क एनर्जी यूप तरंगों पर आक्रमण नहीं कर पाती और वहाँ से दूर हट जाती है, जिससे वे लोक वा कण अपनी क्रियाओं को सम्यग्रूपेण सम्पादित करने में समर्थ हो जाते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि रश्मियों के साथ आकाश तत्त्व भी मिश्रित हो जाता है अथवा वह आकाश तत्त्व ही उन रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करके उन कणों को आवृत्त कर लेता है।।
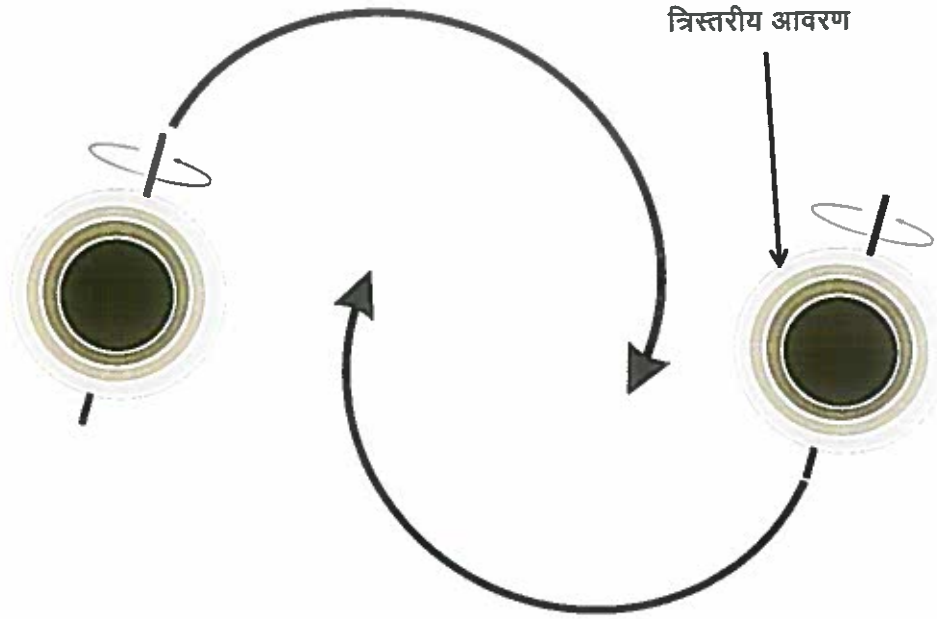
संयोज्य कण अपने अक्ष पर तथा एक दूसरे के चारों ओर परिक्रमण करते हुए।

चित्र ७.१ कणों के संयोग की प्रक्रिया

३. तं वा एतं पशुमाप्रीतं सन्तं पर्यग्निकृतमुदञ्चं नयन्ति।।
तस्योल्मुकं पुरस्ताद्धरन्ति।।
यजमानो वा एष निदानेन यत्पशुरनेन ज्योतिषा यजमानः पुरोज्योतिः स्वर्गं लोकमेष्यतीति तेन ज्योतिषा यजमानः पुरोज्योतिः स्वर्गं लोकमेति।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्तानुसार किसी कण वा लोकों के निकटस्थ उनकी रक्षक यूपरूप तरंगों पर जब असुर तत्त्व का प्रहार पूर्व दिशा से होता है, उस समय उस आक्रमण को विफल करने हेतु उपर्युक्त तीन छन्द रश्मियों से उत्पन्न तीव्र तेज व ऊष्मादि का प्रहार होता है। उसके कारण असुर तत्त्व अपने आक्रमण को बंद करके पीछे हटने को विवश होता है। इसके साथ ही संयोज्य कण खण्ड २.४ व २.५ में दर्शायी प्रयाज संज्ञक रश्मियों तथा अन्य पूर्व कण्डिका में दर्शायी छन्द रश्मियों से उत्पन्न ऊष्मा व तेज से आवृत्त हुआ उत्तर दिशा की ओर गमन करने लगता है। यहाँ उत्तर दिशा की ओर गमन का तात्पर्य यह है कि वे कण अपने ही उत्तरी ध्रुव की दिशा में गमन करने लगते हैं। यह बात हम पूर्व में अनेकत्र दर्शा चुके हैं कि सक्रिय संयोज्य कण अपने उत्तरी/दक्षिणी ध्रुव से ही अन्य किसी सक्रिय संयोज्य कण के दक्षिणी/उत्तरी ध्रुव से संयुक्त होता है। इस कारण असुर तत्त्व को पराभूत होने अर्थात् उसके पीछे हटने के पश्चात् संयोज्य कणों का उत्तरी दिशा में गमन हमारी मान्यता के सर्वथा अनुकूल है।।

जब वे कण उत्तरी ध्रुव की दिशा से उसी दिशा में आगे बढ़ते हैं, उस समय उनके आगे-२ उपर्युक्त तीन छन्द रश्मियों की ज्वलनशील रक्षक तरंगें यूप तरंगों के साथ संयुक्त होकर आगे-२ चलती जाती हैं, जिससे बाधक असुर तत्त्व पुनः लौट कर आक्रमण न कर सके। क्योंकि यदि ऐसा हो गया, तो संयोगार्थ गमन करने वाले कण पुनः दूर धकेल दिये जा सकते हैं।।

{निदानम् = तद् गृहा वै निदानं प्रजा निदानं पशवो निदानं स्वर्गो लोको निदानम्। (जै.ब्रा.३.३३)} उपर्युक्त संयोज्य कण जो विभिन्न छन्दादि रश्मियों से युक्त होता है, वह उपर्युक्त गृह अर्थात् मार्गों पर विभिन्न उत्पन्न रक्षक छन्द रश्मियों से युक्त हुआ यजमान रूप अर्थात् सृजन कर्म को विस्तार देने वाला ही होता है। वह ऐसा यजमान रूप हुआ कण अपने सम्मुख ज्योतिर्मयी छन्द रश्मियों को धारण करता हुआ स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है। इसका तात्पर्य है कि वह कण अपने सम्मुख विद्यमान अन्य कण से संयुक्त होने की प्रक्रिया को अन्तिम परिणति तक ले जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है - "एष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपन्ति" (श.१३.५.२.२)। उधर वामन आप्टे ने अपने संस्कृत हिन्दी कोष में 'सम्' पूर्वक 'ज्ञा' अवबोधने धातु के कई अर्थों में 'मेल जोल से रहना', 'परस्पर सहमत होना' भी दिये हैं। इस कारण स्वर्गलोक वह स्थान वा स्थिति है, जहाँ दो वा दो से अधिक कण वा तरंग परस्पर संयुक्त होकर किसी नवीन कण का रूप धारण कर लेते हैं। उस परिस्थिति में **दोनों कणों के बलों का समन्वय व सन्तुलन हो जाता है, इसी को 'संज्ञपन' कहा जाता है।** उन्हीं ज्वलनशील ज्योतिर्मयी छान्दस तरंगों के सहयोग से ही उस कण के साथ-२ गति करता हुआ दूसरा यजमान अर्थात् यूप रूप तरंग समूह भी स्वर्ग लोक अर्थात् उन कणों के संयोग में भाग लेता है किंवा उस संयोग को सफल बनाता है। इसी कारण कहा है - "यजमानो वै यूपः" (काठ.२६.८; ऐ.२.३; श.१३.२.६.६), एष वै यजमानो यद्यूपः (तै.ब्रा.१.३.७.३)। इसी प्रकार का संकेत महर्षि तित्तिर के निम्न वचनों से भी मिलता है - "यर्हि पशुमाप्रीतमुदञ्चं नयन्ति तर्हि तस्य पशुश्रपणमाहरेत्तेनैवैनं भागिनं करोति" (तै.सं.३.१.३.२)। ध्यातव्य है कि विभिन्न कणों वा तरंगों की असुर पदार्थ से रक्षा करने वाला रक्षक यूप तरंग समूह ही होता है। जब वह इसमें असमर्थ होता है, तब ज्वलनशील तरंगें उस यूप विकिरण की ही सहायता करती हैं, न कि प्रत्यक्ष उन कणों की। व्यवहार में कणों की सहायता ही इस कारण सर्वत्र विदित होती है, क्योंकि वे यूप तरंगें उन कणों के ही साथ रहती हैं। बड़े लोक लोकान्तर के विषय में भी यही बात लागू होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किसी कण वा लोक पर उनकी पूर्व दिशा से डार्क एनर्जी आदि का घातक प्रहार होता वा होने वाला होता है और पूर्वोक्त तीन छन्द रश्मियों की सहायता से अति ज्वलनशील यूप तरंगें अत्यधिक ऊष्मा को उत्पन्न करके उस प्रहार को विफल कर देती हैं, उस समय वे कण वा लोक सुरक्षित रूप से अपने उत्तरी ध्रुवों की दिशा में गमन करते हैं। उनके आगे-२ वे ज्वलनशील तरंगें भी साथ-२ चलती हैं। इसके द्वारा सुरक्षित वे कण परस्पर संयोगादि क्रियाओं को सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं। उस समय यूप तरंगें भी साथ ही रहती हैं, अन्यथा डार्क एनर्जी उस संयोग प्रक्रिया को बाधित कर सकती है। इस बात से यह भी स्पष्ट होता है कि **इस सृष्टि में किसी भी प्रकार की संयोग-वियोग की प्रक्रिया विद्युत् व ऊष्मा की विद्यमानता में ही हो पाती है।** वर्तमान विज्ञान भी मानता है कि अत्यन्त कम ताप पर सभी कणों की क्रियाएं बन्द हो जाती हैं, किंवा मन्द पड़ जाती हैं। परन्तु ऐसा क्यों होता है, यह सम्भवतः वर्तमान विज्ञान को अज्ञात है।

यहाँ वैदिक विज्ञान इसका कारण बताते हुए कहता है कि **ऊष्मा के अभाव में डार्क एनर्जी जैसे बाधक पदार्थ संयोग प्रक्रिया में बाधा डालते हैं और उनको दूर करने में ऊष्मा व विद्युत् का तीक्ष्ण व संयुक्त रूप ही सक्षम है।** ध्यातव्य है कि कणों की अति सक्रियता भी संयोगादि प्रक्रियाओं में बाधक होती है अर्थात् अत्युच्च ऊर्जा वाले कण भी परस्पर संयुक्त होकर तत्त्वान्तरों का निर्माण नहीं कर सकते। उधर अति न्यून ऊर्जा से युक्त कण भी कोई संरचना नहीं कर सकते। **सृजन कर्मों के लिए सम्यग् ऊर्जा की आवश्यकता होती है। ऐसी ही ऊर्जा विविध छन्दादि रश्मियों के द्वारा परमात्मा चेतन तत्त्व के मूल संरक्षण में प्राप्त होती है।।**

४. तं यत्र निहनिष्यन्तो भवन्ति तदध्वर्युर्बर्हिरधस्तादुपास्यति।।

यदेवैनमद आप्रीतं सन्तं पर्यग्निकृतं बहिर्वेदि नयन्ति बर्हिषदमेवैनं तत्कुर्वन्ति।।
तस्योवध्यगोहं खनन्ति।।
औषधं वा ऊवध्यमियं वा ओषधीनां प्रतिष्ठा तदेनत्स्वायामेव प्रतिष्ठायामन्ततः प्रतिष्ठापयन्ति।।

{सम्पृचः = ये सम्पृचन्ति ते (म.द.य.भा.१६.११), संयुक्तात् (म.द.ऋ.भा.२.३५.६), (सम्+पृची सम्पर्के धातोः कर्तरि क्विप् - वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री)। स्कन्नम् = प्राप्तम् (स्कन्दिर् गति - शोषणयोः = उछलना, कूदना, टपकना, रिसना, बिखरा जाना, उगलना, पास से निकल जाना, अवहेलना करना आदि - वामन आप्टे)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण में विभिन्न कणों वा लोकों के संयोगादि की चर्चा है, उसी प्रकरण को पूर्ववत् स्पष्ट करते हुए महर्षि कहते हैं कि जहाँ विभिन्न संयोज्य कण परस्पर एक दूसरे को पूर्णरूपेण प्राप्त करते हैं अर्थात् वे परस्पर संगत होते हैं, वहाँ अध्वर्यु अर्थात् मन एवं वाक् तत्त्व किंवा प्राणापानादि तत्त्व उन कणों के निवास स्थान अवकाश रूप आकाश में विभिन्न छन्द वा मरुद् रश्मियों का प्रक्षेपण करते हैं। वस्तुतः कणों के साथ मन वागादि तत्त्व उस अवकाश रूप आकाश में आकाश तत्त्व को भी विछा देते हैं। यह आकाश तत्त्व प्रत्येक कण के साथ संयुक्त रहता ही है, इसे ही उसका उन कणों के नीचे विछाना कहा जाता है। यहाँ 'उपास्यति' पद से स्पष्ट होता है कि आकाश तत्त्व, विभिन्न छन्द वा मरुद्रश्मि रूप वर्हिः उन कणों के चारों ओर ही संयुक्त रहते हैं।
यहाँ आचार्य सायण ने तैत्तिरीय संहिता को उद्धृत करते हुए लिखा है- **"पृथिव्याः संपृचः पाहीति बर्हिरूपास्यत्यस्कन्दायास्कन्नं हि तद्यद्बर्हिषि स्कन्दत्यथो बर्हिषदमेवैनं करोति।"** (तै.सं.६.३.८.२-३) हमारी दृष्टि में इसका भाव यह है - इस अन्तरिक्ष में फैले संयोज्य कणों की संयुक्तता की रक्षा हेतु ही वर्हिः संज्ञक आकाश तत्त्व, छन्द व मरुद्रश्मियाँ आदि की उन कणों के साथ व्याप्ति होती है। विभिन्न कण क्यों उपर्युक्त वर्हिः की ओर वा उसके साथ गति करते हैं और क्यों उनके द्वारा अवशोषित हो जाते वा उनको अपने में अवशोषित करते हैं? इसके लिये यहाँ तै.सं. के ऋषि ने कहा है कि विभिन्न अप्राप्त अथवा निष्क्रिय कणों की शक्ति विशेषकर संयोजक शक्ति के रिसने से रोकने हेतु वा असुर पदार्थ द्वारा उन्हें विखरने से रोकने हेतु वा परस्पर निष्क्रियता को समाप्त करने हेतु ही ऐसा होता है। ऐसा करके वे संयोज्य कण पूर्वोक्त वर्हिः पदार्थ के द्वारा धारण किये जाते वा उनको धारण करते हैं।

यहाँ सायण ने अन्य ऋषि को उद्धृत करते हुए लिखा है- **"अभि पर्यग्निकृत उल्मुकं निदधाति स शामित्रस्तं दक्षिणेन प्रत्यञ्चं पशुमवस्थाप्य पृथिव्या संपृचः पाहीति तस्याधस्ताद् बर्हिरूपास्यत्युपाकरणयोरन्यतरत्तस्मिन् संज्ञपयन्ति प्रत्यक्शिरसमुदीचीनन्पादम्।"** (आप.श्रौ.७.१६.२-५)

हमारी दृष्टि में यहाँ पूर्व की सभी क्रियाओं की पुष्टि करते हुए जो विशेष विज्ञान प्रकट हुआ है, वह यह है-

जव वे दो संयोज्य कण उपर्युक्तानुसार परस्पर संयुक्त होते हैं, उस समय प्रथम कण, जो अति सक्रिय होता है, उसका उत्तरी ध्रुव कम सक्रिय कण के दक्षिणी ध्रुव के साथ सम्मुख से संयुक्त होता है, ऐसा हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं, यहाँ उसी की पुष्टि होती है। यह प्रक्रिया इसके विपरीत भी हो सकती है। जव वे कण परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, तव उनके परस्पर सम्मुख ध्रुव शिर कहलाते हैं। इसी दिशा में दोनों कणों के प्राणों की विशेष सक्रियता व दृढ़वन्धता होती है। इसी दिशा में उनका परस्पर आकर्षण होने से परस्पर प्राणादि रश्मि संचार इसी क्षेत्र में होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- **"शिरो वै प्राणानां योनिः"** (श.७.५.१.२२)। इस कारण यह क्षेत्र ही प्राणों का विशेष निवास स्थान होता है। उधर इन कणों के दूसरे विपरीत भाग पाद कहलाते हैं, वे दोनों भाग उस संयुक्त कण की उत्तर की दिशा की ओर कुछ झुके हुए होते हैं।।

खण्ड २.४ व २.५ जिनकी चर्चा यहाँ ऊपर भी की गयी है, में वर्णित आप्री सूक्त रश्मि समूह से जव वे संगमनीय कण वा लोक युक्त होकर तेजस्वी हो जाते हैं एवं उसके पश्चात् उनके चारों ओर

पूर्वोक्त प्रकारेण तीन गायत्री छन्द रश्मियों की ज्वलनशील परिधियां यूप तरंगों के साथ संगत हो जाती हैं, उस समय वे कण परस्पर संयोजन हेतु अग्रसर होते हैं। उस समय वे उपर्युक्त आकाश तत्त्व, छन्द वा मरुद्रश्मियों की वेदी पर ही अवस्थित होते हैं। वे कण इन तत्त्वों से पृथक् रहकर यदृच्छया कहीं भी परस्पर संयोग नहीं कर पाते हैं। यहाँ केवल उन कणों की अवस्थिति को स्पष्ट करने हेतु इस प्रसंग को पुनः व्याख्यात किया गया है। यह ध्यातव्य है कि उनकी वह वेदी अर्थात् **उन कणों का संगमनीय स्थान वा मार्ग ऊर्जावान् वा ऊष्ण होता है तथा उन कणों के चारों ओर व्याप्त हो जाता है। वह घेरा उन कणों के ऊपर आघात करने वाले किसी भी प्रकार के पदार्थ को चारों ओर से काटने वाला होता है।** इसी कारण इस प्रकार के 'बर्हिः' जिसका अर्थ हमने आकाश तत्त्व, छन्द व मरुद्रश्मियां किया है, के विषय में कहा है - "ओषधयो बर्हिः" (ऐ.५.२८), बर्हिः परिबर्हणात् (नि.८.८) अर्थात् चारों ओर से काटने से व उष्णतायुक्त होने से ये पदार्थ बर्हिः कहलाते हैं। 'बर्हिः' का अर्थ आकाश तत्त्व, छन्द वा मरुद्रश्मियाँ हम पूर्व में अनेकत्र समझा ही चुके हैं।।

{खनन्ति = निष्पादयन्ति (तु.म.द.य.भा.११.२८)} पूर्व में खण्ड २.६ की अन्तिम कण्डिका को संयुक्त करके स्वल्प पाठभेद के साथ यहाँ पुनरावृत्त किया गया है। हमने वहाँ 'ऊवध्यम्' का अर्थ अप्रकाशित पदार्थ अर्थात् असुर तत्त्व किया है तथा उसको ढकने वाला तत्त्व आकाश तत्त्व को माना है। यहाँ भी 'ऊवध्यम्' पद का अर्थ वही है, परन्तु यहाँ 'गोहम्' व 'खनन्ति' का अर्थ हम पूर्व से कुछ भिन्न करेंगे। जब असुर पदार्थ विभिन्न वज्ररूप यूप तरंगों के प्रहार से निष्प्रभावी होकर समीपस्थ आकाश तत्त्व में छुप जाता है, उस समय उसको कुछ छन्दादि रश्मियाँ भी उसी प्रकार ढक लेती हैं, जिस प्रकार संयोज्य कणों को कुछ छन्द व मरुद्रश्मियाँ आवृत्त कर लेती हैं। वे छन्द आदि रश्मियाँ ही यहाँ 'गोहम्' कही गयी हैं। यहाँ 'खन्' धातु का अर्थ निष्पादन वा सिद्ध करना समीचीन है। इस प्रकार महर्षि कहते हैं कि आकाश तत्त्व में उस निष्प्रभावी अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु को छुपाने के लिए **सक्षम छन्दादि रश्मियां सिद्ध वा उत्पन्न होती हैं, जो उस पदार्थ को आवृत्त करके आकाश तत्त्व में विलीन सा कर देती हैं। वे कौन सी छन्द रश्मियाँ इस कार्य को करती हैं, यह यहाँ स्पष्ट नहीं है। इस विषय में एक अन्य ऋषि ने भी ऐसा ही संकेत किया है।**

"ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतादित्यभिज्ञायोवध्यगोहं खनति" (आप.श्रौ.७.१६.१)

वह असुर तत्त्व अति हिंसक होता है और उन उपर्युक्त छन्दादि रश्मियों के साथ संयुक्त आकाश तत्त्व उस असुर तत्त्व का आधार होता है। इस प्रकार प्रसिद्ध वज्र रूप विविध रश्मियों के प्रहार से वह असुर तत्त्व उन आधार रूप छन्दादि रश्मियों के साथ संयुक्त आकाश तत्त्व में ही प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। इस कारण वह तत्त्व सृजनशील कणों वा लोकों की सृजन प्रक्रियाओं में बाधक नहीं बन पाता।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न कणों के साथ आकाश तत्त्व (Space) परिधिरूप में आवृत्त रहता है। जब वे कण परस्पर संयोग करते हैं, उस समय उस संयुक्त कण एवं उनके अवयवरूप कणों के चारों ओर आकाश तत्त्व का संयोजन उनके द्रव्यमान व आकर्षण बल के अनुरूप होता है। इस आकाश तत्त्व के साथ कुछ छन्द रश्मियाँ व मरुद्रश्मियाँ भी संयुक्त रहती हैं। इस कारण ये रश्मियाँ उन कणों के साथ आकाश तत्त्व से मिश्रित होकर परिधिरूप में रहती हैं, जिससे सूक्ष्म अप्रकाशित ऊर्जा आदि कोई प्रतिकर्षक-प्रक्षेपण बाधक रश्मियां उन कणों के संयोजन व सृजन कर्म में बाधा न डाल सकें। **जब दो कण परस्पर संयुक्त होते हैं, तब उनके उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव परस्पर संयुक्त होते हैं।** जब वे कण संयुक्त हो जाते हैं, तब वे परस्पर सम्मुख उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव उस संयुक्त कण का शिर रूप होते हैं। इसी भाग में उसके अवयव रूप दोनों कणों किंवा अनेक कणों का आकर्षण बल अधिक प्रभावी होता है। क्योंकि इसी क्षेत्र में उन कणों के मध्य विभिन्न छन्द वा मरुद् रश्मियों की क्रियाशीलता अधिक होती तथा परस्पर एक दूसरे में विनिमय अधिक होता है। उन कणों के दूसरे ध्रुव पाद रूप होते हैं, क्योंकि वे ही उस संयुक्त कण को किसी अन्य कण की ओर गतिशील होने में सहयोग करते हैं। वे उस संयुक्त कण के उत्तरी ध्रुव की ओर कुछ झुके रहते हैं। जब दो से अधिक कणों वाले बड़े कण वा Molecules निर्मित होते हैं, तब उनकी रचना छोटे अणुओं की अपेक्षा बहुत जटिल होती है, परन्तु वहाँ भी मूल सिद्धान्त यही काम करता है।।

५. तदाहुर्यदेष हविरेव यत्पशुरथास्य बहपैति लोमानि त्वगसृक्कुष्ठिकाः शफा विषाणे स्कन्दति पिशितं केनास्य तदापूर्यत इति।।
यदेवैतत्पशौ पुरोळाशमनु निर्वपन्ति तेनैवास्य तदापूर्यते।।
पशुभ्यो वै मेधा उदक्रामंस्तौ व्रीहिश्चैव यवश्च भूतावजायेतां तद्यत्पशौ पुरोळाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्, केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति।।
समेधेन हास्य पशुनेष्टं भवति, केवलेन हास्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद।।१।।

{कुष्ठिकः = (कुष्+क्थन् = कुष्णाति निरन्तरं कर्षतीति - उ.को.२.२) हमारे मत में यहाँ समूह अर्थ वा स्वार्थ में 'ठक्' प्रत्यय होकर कुष्ठ+ठक् = कुष्ठिकः यहाँ वृद्धि आदेश न होना छान्दस है (कुष निष्कर्षे = बाहर निकलना, चमकना)। त्वक् = त्वक् सूददोहाः (श.८.१.४.५), (सूददोहाः = आपो वै सूदोऽन्नं दोहाः - श.८.७.३.२१) हमारी दृष्टि में सूत्रात्मा वायु, बृहती छन्द रश्मि एवं मास रश्मियों का युग्म ही सूददोहा अर्थात् त्वग् रूप हो सकता है। विषाणम् = प्रविष्टम् (म.द.ऋ.भा.५.४४.११), (विष्+कानच् इति आप्टे, विष् = घेरना, फैलना, व्यापक होना, मुकाबला करना)। पिशिम् = (पिश्+क्त, पिश् = प्रकाश करना, रूप देना, बनाना संघटित होना)। यवः = वरुण्यो यवः (श.४.२.१.११), विड् वै यवः (श.१३.२.६.८), संयोगविभागकर्त्ता (म.द.य.भा.६.१), मासा वै यवाः (यावाः) (काठ.१२.१ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि किन्हीं विद्वानों का एक पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जव संयोज्य कणों का परस्पर संगम होता है, उस समय उस संयोज्य कण के साथ संयुक्त रहने वाले कई पदार्थ उस कण से पूर्वापेक्षा कुछ दूर चले जाते हैं। हम जानते हैं कि जव दो वा दो से अधिक कण परस्पर संयुक्त होते हैं, उस समय उस कण के साथ रहने वाले अनेक पदार्थों की स्थिति में भारी उथल-पुथल होती है, जिसके कारण एक नवीन संयुक्त कण की संरचना हो जाती है। यह हम पूर्व में लिख भी चुके हैं कि किस प्रकार यह संरचना किन-२ प्रक्रियाओं से गुजरते हुए होती है। यहाँ उन तत्त्वों को विवरण दिया है, जो इस प्रक्रिया में भिन्न स्थिति को प्राप्त होते हैं। वे तत्त्व इस प्रकार हैं -
१. लोमानि - अर्थात् वे छन्द प्राण, जो किसी कण को आवृत्त किये रहते हैं। जव ऐसे दो वा अधिक कण संयुक्त होते हैं, उस समय उन छन्द रश्मियों की परिधियाँ छिन्न-भिन्न वा विकृत होकर संयुक्त कण को विशेष प्रकार से आवृत्त करती हैं किंवा पृथक्-२ रहने पर भी उनकी आच्छादक आकृति परिवर्तित हो जाती है। ये रश्मियाँ ही वस्तुतः सभी कणों के रोम के समान भी हैं, जो सवसे वाहर तक फैले रहते एवं सर्वप्रथम प्रभावित वा छिन्न-भिन्न भी होते हैं।
२. त्वक् - सूत्रात्मा वायु एवं बृहती छन्द रश्मियों का युग्म ही प्रत्येक कण की त्वचा का कार्य करता है, क्योंकि यही तत्त्व उन्हें सव ओर से ढकता तथा विभिन्न आघातों से सुरक्षित रखता है किंवा सुरक्षा में सहायक होता तथा कणों को आकार प्रदान करने में अग्रणी भूमिका निभाता है। कुछ अन्य छन्द वा मरुद्रश्मियां भी इसी का भाग होती हैं। संयोग के समय इसकी स्थिति भी संयोग केन्द्र की ओर से कुछ हट जाती वा विरल हो जाती हैं किंवा उसका स्वरूप कुछ भिन्न हो जाता है।
३. असृक् - जैसा कि हम २.७.१ में लिख चुके हैं कि मनस् तत्त्व ही असृक् कहलाता है, क्योंकि यह तत्त्व अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अनादि व अविनाशी होता है। यद्यपि महत् वा मूल प्रकृति की अपेक्षा यह तत्त्व उत्पत्तिधर्मा है, परन्तु सृष्टि के अन्य तत्त्वों की अपेक्षा यह उत्पत्तिधर्मा नहीं है। यह तत्त्व प्रत्येक कण में वाहर - भीतर वाक् तत्त्व के साथ मिथुन रूप में व्यापक है, पुनरपि कणों के वाहरी भाग में वाक् तत्त्व की प्रधानता होती है, परन्तु मन सर्वत्र विचरता है। विभिन्न कणों के संयोग के समय इस तत्त्व का विचरण भी कुछ परिवर्तित हो जाता है।
४. कुष्ठिका - हमारी दृष्टि में किसी कण को निरन्तर प्रकाशित करने वाले उसे खींचने, गति देने वाले प्राणापानादि प्राथमिक प्राण एवं विभिन्न मरुद्रश्मियों का समूह ही वह कुष्ठिक है, जो यहाँ वहुवचन में

प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः ये तत्त्व ही मानो किसी कण के शरीर वा उदर में भरे रहते हैं। जव विभिन्न कणों का संयोग होता है, उस समय इनकी क्रियाशीलता भी परिवर्तित हो जाती है अर्थात् कुछ दिशा परिवर्तित हो जाती है।

५. शफः - विभिन्न कणों को तीव्र गति देने वाले धनंजयादि प्राण ही मानो उन कण रूप पशु के खुर के तुल्य हैं। जव विभिन्न कणों का संयोग होता है, उस समय इन प्राणों की गति व स्थिति भी परिवर्तित वा प्रभावित होती है।

जहाँ ये पाँच प्रकार के पदार्थ संयोग की दिशा में पूर्वापेक्षा विकृत हो जाते हैं, वहीं उन कणों का रूप आकार भी 'विषाण' अर्थात् फैलाव में रिसने वा गति करने लग जाता है, जो परस्पर एक दूसरे से उत्सर्जित प्राण रश्मियों का भक्षण करने लग जाता है। इस फैलाव में गति का आशय यह है कि कण परस्पर एक दूसरे से आवद्ध होकर उस सीमावद्ध क्षेत्र में दोलन वा कम्पन करने लगते हैं।

यह स्थिति दर्शाने के पश्चात् महर्षि इस पर उन विद्वानों का प्रश्न उठाते हुए कहते हैं- जव कणों के साथ सम्वद्ध इतने पदार्थ इस प्रकार विकार को प्राप्त हो जाते हैं, तव उन कणों पर, जो इन पदार्थों का जो-२ प्रभाव पड़ता था अर्थात् उस-२ तत्त्व का जो-२ कार्य उस पृथक् कण वा कणों पर दिखाई देता था, उस प्रभाव की पूर्ति उन कणों के संयुक्त होने की दशा में कैसे हो पाती है? कैसे उन सभी कणों का पृथक्-२ अस्तित्त्व भी रहता है? क्यों वे परस्पर पूर्णतः मिलकर अपना पूर्व अस्तित्त्व खो नहीं देते हैं?।।

जव उपर्युक्तवत् दो वा अधिक कणों का परस्पर संयोग होता है, उस समय उनके साथ संलग्न उपर्युक्त पदार्थों में जो विकृति आती है, उनकी दिशा व दशा कुछ परिवर्तित हो जाती है। उस समय भी उन सभी पदार्थों का तेज सूक्ष्मांश में पूर्ववत् स्थान व दिशा में विद्यमान रहता है। इस कारण उन अवयव रूप कणों का स्वरूप वना ही रहता है। इस विषय में खण्ड १.३ विशेष द्रष्टव्य है। जैसे ही वे कण कभी पृथक् होते हैं, वैसे ही उन कणों के पूर्वोक्त सभी पदार्थ पूर्ववत् दिशा व दशा को प्राप्त कर लेते हैं।।

पूर्वोक्तानुसार अर्थात् खण्ड २.८ में वर्णितानुसार संयोगादि प्रक्रियाएं जैसे-२ एक-२ पदार्थ से आगे वढ़कर आगे-२ नवीन पदार्थों में प्रारम्भ होती हैं, वैसे-२ पूर्व-२ पदार्थ अन्य पदार्थ में परिवर्तित होता चला जाता है। अन्त में सम्पूर्ण व्रह्माण्ड में व्यापक तेजस्वी तीक्ष्ण व्रीहि रूप तरंगें सव ओर प्रकाशित व सक्रिय हो उठती हैं। इसके साथ सवको परस्पर मिश्रित करने की प्रवृत्ति वाली मास रूप रश्मियां किंवा वरुण रश्मियां भी सभी कणों में प्रकट हो जाती हैं। उस समय विभिन्न संयुक्त वा असंयुक्त कणों में तेजस्विता व सक्रियता उत्पन्न हो जाती है। वह तेज व सक्रियता सम्पूर्ण पदार्थ में वीज की भाँति विखेर दी जाती है। उस समय सभी कण छन्दादि रश्मियों से युक्त दृश्य पदार्थ के संयोग के द्वारा सृष्टि कर्म आगे वढ़ाते हैं। विना किसी अतिरिक्त वलादि की अपेक्षा के यह कर्म उस दृश्य पदार्थ में निरन्तर विस्तृत होता चला जाता है। इसके लिए खण्ड २.८ अवश्य पढ़ें।

यहाँ 'केवल' शब्द का तात्पर्य है कि विभिन्न कणों के साथ जो विभिन्न छन्द प्राण, मरुद्रश्मियां आदि तत्त्व संयुक्त रहते हैं और जो संयुक्त होने की दशा में भी अपने सभी कर्मों को करने में समर्थ होते हैं, उनके ही द्वारा संयोगादि कर्म सम्पन्न हो जाते हैं। इसके लिए अन्य किसी विशेष वल वा पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती।।

जव उपर्युक्तानुसार सभी वांछित क्रियाएं सुचारु रूप से चलने लगती हैं, उस समय सृजन कर्म सहजतया सम्पन्न होने लगते हैं। शेष पूर्ववत्।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जव दो अथवा दो से अधिक कण वा लोक परस्पर कोई संयुक्त कण वा लोक समूह यथा- सौर मण्डल, गैलेक्सी आदि का निर्माण करते हैं, उस समय उनके साथ संयुक्त अनेक पदार्थ सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं। वे पदार्थ ही उन कणों के गुण-धर्मों का कारण होते हैं। उन पदार्थों की गणना इस प्रकार है-

१. विभिन्न छन्द अथवा मरुद् रश्मियां। ये सभी कणों वा लोकों की परिधि रूप में सदैव विद्यमान रहती हैं। ये कणों की एक कल्पित परिधि के बाहर तक फैली रहती हैं। जब उन कणों का संयोग होता है, तब इनकी स्थिति में भारी परिवर्तन आ जाता है।
२. सूत्रात्मा वायु, बृहती छन्द रश्मि व मास रश्मियों का युग्म सदैव कणों की परिधि में विशेष रूप से विद्यमान होता है। छन्दादि रश्मियां इसी तत्त्व में मिश्रित होतीं किंवा इसी तत्त्व का रूप होती हैं। संयोग के समय इसकी स्थिति भी परिवर्तित हो जाती है अर्थात् कणों के आकार में परिवर्तन आ जाता है।
३. अति सूक्ष्म मनस् तत्त्व कणों के अन्दर एवं बाहर सर्वत्र विचरण करता है, परन्तु संयोग के समय व कणों की संयुक्त अवस्था में इसकी गति व दिशा परिवर्तित होती है।
४. प्राणापानादि प्राथमिक प्राण, जो सभी कणों में सर्वतः भरे रहते हैं। संयोगादि प्रक्रिया में इनमें भी परिवर्तन आ जाता है।
५. विभिन्न कणों को तीव्र गति देने वाले धनंजयादि प्राण भी संयोगादि के समय परिवर्तित दिशा को प्राप्त कर लेते हैं। **संयुक्त कण अपने स्थान पर बंधे रहने पर भी कम्पन करते रहते हैं। उन सभी कणों के उपर्युक्त पांचों पदार्थ सूक्ष्म तेज रूप में तथा सूत्रात्मा वायु रश्मि के सहारे कणों के साथ पूर्व प्रभाव में भी आबद्ध रहते हैं। इसी कारण जब भी कोई अणु टूटता है, तो पूर्ववत् एटम प्राप्त हो ही जाते हैं। उनमें कोई विकार वा परिवर्तन नहीं आता।** इसी प्रकार जब भी कोई इलेक्ट्रॉन किसी एटम से पृथक् होता है, उस समय उसके साथ संयुक्त सभी पदार्थ अविकृत रूप में उसके साथ ही रहते हैं। यही प्रक्रिया सभी संयोग-वियोग में होती है। इन्हीं पदार्थों के सहारे ही विभिन्न कणों का संयोग-वियोग कर्म सतत चलता रहता है।।

⁂ इति ७.१ समाप्तः ⁂

ॐ अथ ७.२ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. तस्य वपामुत्खिद्याऽऽहरन्ति, तामध्वर्युः स्रुवेणाभिघारयन्नाह स्तोकेभ्योऽनुब्रूहीति।। तद्यत्स्तोका श्चोतन्ति सर्वदेवत्या वै स्तोका नेन्म इमेऽनभिप्रीता देवान् गच्छानिति।।
जुषस्व सप्रथस्तममित्यन्वाह।।
वचो देवप्सरस्तमम्। हव्या जुह्वान आसनीति।।
अग्नेरेवैनांस्तदास्ये जुहोति।।

{स्रुवः = प्राणः स्रुवः (श.६.३.१.८), योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवः (श.१.३.१.६), स्रुक् = गौर्वै स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.५.४), इमे वै लोकाः स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.१.२), यजमानः स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.६.३), वाग्वै स्रुक् (श.६.३.१.८)। स्तोकः = स्तोको वै द्रप्सः (गो.उ.२.१२), अपत्यः (तु.म.द.य.भा.३४.१३ - वै.को. से उद्धृत), स्वल्पः (तु.म.द.य.भा.६.१६)। द्रप्सः = कमनीयः (तु.म.द.ऋ.भा.७.३३.११), ज्वालादयो गुणाः (म.द.ऋ.भा.१.६१.११), असौ वाऽआदित्यो द्रप्सः (श.७.४.१.२०)। श्चोतन्ति = श्चोतति गतिकर्मा (निघं.२.१४), श्च्युतिर् क्षरणे (भ्वा.), श्चुतिरासेचने (भ्वा.)। देवप्सरस्तमम् = देवैरतिशयेन ग्राह्यम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.७५.१), (प्सः = रूपनाम - निघं.३.७)। श्रप्यमाणा = (श्रा पाके)}

व्याख्यानम्- यहाँ एक अन्य महर्षि का वचन है- "वपायां श्रप्यमाणायां प्रेषितस्तोकेभ्योऽन्वाह जुषस्व सप्रथस्तमिमं नो यज्ञमिति।" (आश्व.श्रौ.३.४.१) इस वचन के साथ उपर्युक्त प्रथम कण्डिका की संगति पर विचार करने पर स्पष्ट हो रहा है कि पूर्व में खण्ड २.६ में विभिन्न कणों के संयुक्त होने पर विभिन्न क्रियाओं में भारी उथल - पुथल की जो चर्चा की है, यहाँ उस प्रकरण की गहराई में जाकर कहते हैं-

जब दो वा अधिक कणों का संयोग होता है, उस समय उन कणों के बहिर्भागों में जो भी विभिन्न प्राणादि तत्त्व होते हैं, उनकी परस्पर जो भी क्रियाएं होती हैं, वे जब परिपक्व हो जाती हैं, उस समय प्राणापान नामक अध्वर्यु अथवा मन व वाग्रूप अध्वर्यु उन क्रियाओं को सर्वतः धारण कर लेते हैं। वे मन व वाक्तत्त्व, उनमें भी विशेषकर वाक्तत्त्व योषा रूप बनकर प्राणनामक प्राण तत्त्व रूपी वृषा से पूर्णतः संयुक्त होकर किंवा मिथुन बनाकर उस प्राण तत्त्व के द्वारा उन क्रियाओं को सब ओर से धारण करते हुए निकटवर्ती संयुक्त हुए कण को आकृष्ट करने के लिए धनंजय नामक उप प्राणतत्त्व को अग्रलिखित गायत्री छन्द रश्मि को उत्पन्न करने हेतु प्रेरित करता है। यहाँ 'स्तोकः' = 'द्रप्सः' का अर्थ आदित्य ग्रहण करने पर यह भी प्रतीत होता है कि यहाँ गायत्री रश्मि की उत्पत्ति हेतु धनंजय उपप्राण को प्रेरित करने का प्रयोजन आदित्य अर्थात् प्रसिद्ध सन्धानक गुणों से युक्त मास रश्मियों को उत्पन्न वा आकर्षित करना भी हो, जिससे उन कणों के संयोग में दृढ़ता एवं स्थायित्व आ जाए। इसके साथ उनके कारण समस्त सृष्टि में ज्वालादि गुण भी प्रखर होने लगते हैं। मन व वाक् तत्त्व से प्रेरित प्राण नामक प्राणतत्त्व की यह क्रिया खण्डशः होती है, न कि सर्वत्र एकरस अवस्था में। इन खण्डों को भी स्तोक कहा गया है।।

वे विभिन्न खण्ड अर्थात् छोटे-२ क्षेत्र विभिन्न प्रकार के प्राणों से युक्त होते हैं। इसके साथ ही कमनीय पदार्थ कण वा सन्धानक मास नामक प्राण भी सभी प्रकार के प्राणों से युक्त वा संगत होते हैं किंवा वे सबको ही संगत करने वाले होते हैं। वे विभिन्न खण्ड वा क्षेत्र किंवा विभिन्न कमनीय कण वा

मास रश्मियां सभी देव पदार्थों अर्थात् विभिन्न प्राण तत्त्वों से पराङ्मुख होकर दूर न चली जाएं, इस समस्या वा आशंका के निवारण हेतु ही अग्रिम छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ चेतन ईश्वर-तत्त्व की अनिवार्यता प्रतिपादित होती है। यहाँ 'देवान्' पद को आचार्य सायण आदि ने द्वितीया विभक्ति के रूप में ही ग्रहण कर अर्थ किया है, कि 'इस भय से कि बूंदें देवताओं से सम्बन्धित हैं, इस कारण वे देवताओं के पास ही न चली जाएं, अग्रिम ऋचा का अनुवचन है। (यह डॉ. सुधाकर मालवीय के हिन्दी अनुवाद व सायण भाष्य का भाव है) उनका सम्पूर्ण अर्थ याज्ञिक, वह भी क्रूर, हिंसा एवं पशुवलि से युक्त है। **उनके भाष्य की समीक्षा वा खण्डन पर हमने कहीं भी ध्यान नहीं दिया है। केवल पूर्वपीठिका में कुछ खण्डों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर अवश्य स्पष्ट किया है। यदि हम सायण भाष्य का खण्डन करते, तो लगभग प्रत्येक कण्डिका के अर्थ का खण्डन करना पड़ता, जिससे यह ग्रन्थ दो गुना बड़े आकार का हो जाता।** यहाँ हम केवल इस कारण इस विभक्ति पर विचारकर रहे हैं कि जब सभी हवियाँ देवों के लिए ही होती हैं, तो उनके पास जाने का भय क्यों? यह सर्वथा अनावश्यक व सिद्धान्तविरुद्ध कथन है। ग्रन्थ में सर्वत्रैव एवं इसी खण्ड में आगे ही देवों को हवि समर्पित करने का विधान सायणादि याज्ञिक भाष्यकार कर रहे हैं, फिर यहाँ देवों के पास हवि के जाने का व्यर्थ भय क्यों? हमारा मानना है कि यहाँ 'देवान्' पद में पञ्चमी अर्थ में द्वितीया का प्रयोग छान्दस है। तब, यह अर्थ होगा कि हवि देवों के पास से चली न जाएं, इस भय से अनुवचन है। यहाँ हमारे आधिदैविक प्रकरण में वही अर्थ होगा, जो हमने ऊपर किया है। यहाँ 'मे' पद का अर्थ 'उस कण के' किया जायेगा। यह वाक्य उस कण की भाषा में ही महर्षि ने कहलवाया है।।

उपर्युक्तानुसार प्राण नामक प्राणतत्त्व की प्रेरणा से राहुगणो गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण रश्मियों के द्वारा अग्निदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क

जुषस्व॑ स॒प्रथ॑स्तमं॒ वचो॑ दे॒वप्स॑रस्तमम्। ह॒व्या जुह्वा॑न आ॒सनि॑।। (ऋ.१.७५.१)

की उत्पत्ति होती है। जिसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तेजस्वी व बलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से पूर्वोक्त विभिन्न खण्ड, मास रश्मियां वा कमनीय कण विभिन्न प्राण तत्त्वों, जो अति विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं, का सेवन करते हैं। वे उन प्राण रूप देवों के द्वारा अति निकट से ग्रहण किए गये वाक् तत्त्व का भी सेवन करते हैं। इस प्रकार वे वाक् व प्राणों के मिथुन का मानो सर्वतः भक्षण करते हैं। ऐसा करने से वे पदार्थ उन विभिन्न कणों के संयोगों को दृढ़ करते हैं, साथ ही उन्हें समृद्ध भी करते हैं।

इस छन्द रश्मि के द्वारा वे विभिन्न क्षेत्र ब्रह्माण्ड में विद्यमान विद्युदग्नि में आहुत होते हैं अर्थात् सर्वतः विद्युत् एवं ऊष्मा आदि की समृद्धि होती है। यहाँ विद्युत् के मुख में होम का तात्पर्य यह है कि ये जो भी प्राणादि की क्रियाएं होती हैं, वे प्रत्यक्षतया विद्युत् आवेश के विभिन्न व्यवहारों के रूप में ही होती है। इन व्यवहारों को ही मानव भौतिक तकनीक द्वारा जान सकता है। प्राणों का व्यवहार अज्ञेय ही है।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– जब दो वा दो से अधिक कणों का संयोग होता है, यथा जब दो वा अधिक आयन मिलकर किसी अणु का निर्माण करते हैं, उस समय उन आयनों पर मन व वाक् तत्त्व का संयुक्त बन्धन दृढ़ होकर उस अणु का बन्धन दृढ़ होता है। उस समय प्राण नामक प्राथमिक प्राण तत्त्व से प्रेरित वा उत्तेजित होकर धनंजय प्राण से एक गायत्री रश्मि उत्पन्न होती है, जो उस अणु को ऊर्जा प्रदान करती है। उस समय मास नामक रश्मियां भी उत्पन्न होकर उन अणुओं में कार्यरत विभिन्न छन्दों के बन्धनों को दृढ़ करती हैं। उस समय ब्रह्माण्ड में ऊष्मा की मात्रा भी बढ़ जाती है। इस प्रकार की क्रियाएं इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वत्र एकरस न होकर खण्डशः होती हैं। ये सभी खण्ड विभिन्न प्राणों एवं मास रश्मियों आदि से समन्वित होते हैं। ये सभी बन्धन प्राणादि तत्त्वों वा मन-वाक् के मूल बन्धन से कुछ दूर न हो जाएं, इस आशंका की निवृत्ति हेतु ही गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। यह रश्मि विद्युत् ऊर्जा व ऊष्मा आदि को समृद्ध करती है। इस रश्मि से मास रश्मियां, विभिन्न प्राथमिक प्राण, छन्दादि रश्मियां उन एटम्स व मॉलिक्यूल्स के साथ दृढ़ता से आबद्ध हो जाती हैं। यहाँ आशंका की निवृत्ति का भाव ईश्वर तत्त्व में ही उत्पन्न होता है।

प्राणादि विविध रश्मियों का व्यवहार मानव की भौतिक तकनीकों द्वारा अज्ञेय है, परन्तु इस व्यवहार का स्थूल रूप विद्युत् व चुम्बकीय बलों के रूप में ज्ञेय हैं। **सर्वत्र इन बलों के पीछे, यहाँ तक कि गुरुत्वादि प्रत्येक बल के पीछे प्राणादि का व्यवहार ही कारण होता है।।**

२. 'इमं नो यज्ञममृतेषु धेहि' इति सूक्तमन्वाह।।
'इमा हव्या जातवेदो जुषस्वेति' हव्यजुष्टिमाशास्ते।।
'स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्येति मेदसश्च हि घृतस्य च भवन्ति।।
'होतः प्राशान प्रथमो निषद्य' इत्यग्निर्वै देवानां होताऽग्ने प्राशान प्रथमो निषद्येत्येव तदाह।।

{मेदसः = स्निग्धाः (म.द.य.भा.३५.२०), मेदो मेद्यतेः (नि.४.३), मेदो वै मेधः (श.३.८.४.६)। कुशिकः = क्रोशेः शब्दकर्मणः क्रंशेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा (नि.२.२५)। गाथी = (गाथा वाङ्नाम - निघं.१.११)}

व्याख्यानम्- इसी प्रकरण में पुनः प्राण नामक प्राण तत्त्व की प्रेरणा से गाथी कौशिक ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से विशेष युक्त ध्वनि व प्रकाश को विशेषतया उत्पन्न करने वाले प्राण विशेष से अग्निदेवताक

इमं नो यज्ञममृतेषु धेहीमा हव्या जातवेदो जुषस्व।
स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निषद्य।।१।।

घृतवन्तः पावक ते स्तोकाः श्चोतन्ति मेदसः।
स्वधर्मन्देववीतये श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम्।।२।।

तुभ्यं स्तोका घृतश्चुतोऽग्ने विप्राय सन्त्य।
ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव।।३।।

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य।
कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर।।४।।

ओजिष्ठं ते मध्यतो मेद उद्भृतं प्र ते वयं ददामहे।
श्चोतन्ति ते वसो स्तोका अधि त्वचि प्रति तान्देवशो विहि।।५।। (ऋ.३.२१.१-५)

पांच ऋचाओं वाले सूक्त रूप रश्मि समूह की उत्पत्ति होती है। इन सभी ऋग्रश्मियों का प्रभाव अग्रिम कण्डिकाओं के माध्यम से हम पृथक्-२ दर्शाने का प्रयत्न करेंगे। यहाँ प्रथम ऋचा के प्रथम पाद का प्रभाव दर्शाते हैं-

इसके अर्थात् सम्पूर्ण छन्द रश्मि के दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व अधिक तीव्र व तेजस्वी होता है। इसके प्रथम पाद के अन्य प्रभाव से विभिन्न अविनाशी सूक्ष्मतम कणों के मध्य संगतीकरण की प्रक्रिया तेज होती है। स्मर्तव्य है कि हम यहाँ जिन्हें अविनाशी कण कह रहे हैं, वे वस्तुतः अविनाशी नहीं होते, पुनरपि सृष्टि काल में नष्ट न होने वाले होने से उन्हें अविनाशी कहा गया है। वस्तुतः कोई भी संयोग वा वियोग अन्तिम सूक्ष्म कण तक प्रभावी होता है।।

इसी प्रथम ऋग्रश्मि के द्वितीय पाद 'इमा हव्या जातवेदो जुषस्व' के प्रभाव से उन उपर्युक्त सूक्ष्म अविनाशी कण, जो परस्पर विशेष आकर्षण वा प्रतिकर्षण बलशील होते हैं, एक दूसरे का भक्षण करने

लगते हैं अर्थात् वे एक दूसरे के साथ संगत होने लगते हैं। यह पाद उन कणों में परस्पर संगत होने की प्रवृत्ति को समृद्ध करता है।।

इसके तृतीय पाद **'स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य'** तथा चतुर्थ पाद **'होतः प्राशान प्रथमो निषद्य'** के संयुक्त प्रभाव से पूर्वोक्त स्तोक अर्थात् आकर्षणशील विभिन्न कण, जो अग्नि के सन्दीप्त तेज से परिपूर्ण होते हैं, के जो पृथक्-२ क्षेत्र वा समूह बन जाते हैं, वे प्रथम विद्युदग्नि के साथ संयुक्त होकर परस्पर एक दूसरे का भक्षण करते किंवा एक दूसरे के आकर्षण बल के प्रभाव क्षेत्र में व्याप्त हो जाते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अग्नि तत्त्व होता का कार्य करता है अर्थात् यही तत्त्व विभिन्न कणों का आदान-प्रदान अर्थात् आकर्षण-प्रतिकर्षण करने में अग्रणी भूमिका निभाता है। यह अग्नि-तत्त्व ही मानो सभी कणों का भक्षण करता है। इस सम्बन्ध में जो **'निषद्य'** शब्द है, उससे स्पष्ट होता है कि अग्नि तत्त्व उन कणों का भक्षण करने के लिए उनमें नितराम् बैठ जाता है, समा जाता है। उसके समा जाने के कारण ही वे सभी कण अपने-अपने कार्य में सक्रिय हो उठते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न कणों की संयोग-वियोग की प्रक्रिया अन्तिम सूक्ष्म कण तक प्रभावी होती है। ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता कि कोई संयोग-वियोग केवल अणु वा परमाणु (Atom) स्तर तक ही होवे और उनके घटक इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन एवं इससे आगे चलकर क्वार्क, ग्लूऑन, मीजोन आदि कणों पर विभिन्न रासायनिक अथवा भौतिक क्रियाओं का कोई प्रभाव ही नहीं पड़े। इसी कारण कहा है कि संगतीकरण की प्रक्रिया इन मूल कणों तक होती है, केवल ऊपरी स्तर तक नहीं। ये सभी कण इस छन्द रश्मि के कारण और भी तेजस्वी हो जाते हैं, जिससे वे कण परस्पर तीव्रता से आकृष्ट होते हैं। जब यह क्रिया होती है, उस समय वे कण विद्युदावेश से युक्त होते हैं किंवा विद्युदावेश उनमें पूर्णरूपेण व्याप्त रहता है। बिना विद्युत् के कोई भी क्रिया सम्भव नहीं। **जो कण विद्युदावेश विहीन माने जाते हैं, वे भी वास्तव में विद्युत् से किसी न किसी प्रकार से युक्त होते हैं। वर्तमान विज्ञान क्वार्क स्तर पर कलर, फ्लेवर, अथवा अन्य कणों में कुछ स्ट्रैंज आदि गुणों की बात करता है, वह भी वस्तुतः विद्युत् का ही सूक्ष्म भेद है।**
ध्यातव्य है कि विद्युत् के स्वरूप व गुण धर्मों को वर्तमान विज्ञान पूर्णतः नहीं जानता। रिचर्ड पी.फाइनमैन स्पष्ट स्वीकार करते हैं-

"we could say that we do not yet know the laws of electricity."
(Lectures on Physics- Vol. I, page-593)

३. 'घृतवन्तः पावक ते स्तोकाः श्चोतन्ति मेदसः' इति मेदसश्च ह्येव हि घृतस्य च भवन्ति।।
'स्वधर्मं देववीतये श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम्' इत्याशिषमाशास्ते।।
'तुभ्यं स्तोका घृतश्चुतोऽग्ने विप्राय सन्त्य' इति घृतश्चुतो हि भवन्ति।।
'ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव' इति यज्ञसमृद्धिमाशास्ते।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त सूक्त की द्वितीय ऋचा का छन्द अनुष्टुप् है। इस कारण इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नितत्त्व तेजस्वी एवं बलवान् होता है। इसके पूर्वार्ध के प्रभाव से विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके शुद्धरूप प्रदान करके गति देने वाला अग्नि तत्त्व तेजसम्पन्न एवं स्नेहनशील विभिन्न संयोज्य कण समूहों को अपने तेजस्वी रूप से सींचता है। वह उन्हें सर्वतः प्रवाहित होने के लिए गति प्रदान करता है। वे विभिन्न कण समूह सन्दीप्त तेज से सम्पन्न होते हैं एवं वे परस्पर आकर्षण बलयुक्त भी होते हैं। केवल तेजस्वी होने मात्र से संयोग आदि क्रियाएं सम्भव नहीं, अपितु उनका प्रबल आकर्षणबल से सम्पन्न होना भी आवश्यक है। वे पदार्थ न केवल एक दूसरे की ओर गति करते हैं, अपितु वे परस्पर एक दूसरे पर अपने बल व तेज का सिंचन भी करते हैं। उन कणों में से विभिन्न प्राण रश्मियां एक दूसरे को सींचती रहती हैं, जिसके कारण उनमें परस्पर संयोग की प्रवृत्ति होती है।।

इसी छन्द के द्वितीयार्थ के प्रभाव से उस समय विद्यमान विभिन्न संयोज्य कणों में उपर्युक्त व्याप्तिगुण तथा नाना तत्त्वों के निर्माण का गुण उत्पन्न करने हेतु अग्नि तत्त्व रूपी 'स्व' को धारण करने में उत्तम प्रकार से वरणीय एवं वर्जनीय गुण उत्पन्न होते हैं। इससे वे कण एक दूसरे को आकर्षित करते हैं, उन्हें यत्र-तत्र प्रक्षिप्त करते हैं, उन्हें व्याप्त करते हैं तथा अनेकानेक नवीन तत्त्वों की शृंखला को उत्पन्न करते हैं।

इसी के द्वारा वे कण एक दूसरे को सब ओर चाहते हैं अर्थात् वे एक दूसरे की ओर तीव्रता से प्रवाहित होने लगते हैं।।

इसके अनन्तर अग्रिम ऋचा उत्पन्न होती है, जिसका छन्द भी उपर्युक्तवत् अनुष्टुप् ही है। इस कारण इसका दैवत व छान्दस प्रभाव भी पूर्ववत् है। इसके पूर्वार्ध 'तुभ्यं स्तोक घृतश्चुतोऽग्ने विप्राय सन्त्य' के प्रभाव से उपर्युक्त स्तोक अर्थात् विभिन्न संयोज्य कण आदि के समूह अग्नि के सन्दीप्त तेज से सिंचित होकर विप्र अर्थात् विभिन्न किरणों को उत्पन्न करने के लिए उस समय अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न विप्र अर्थात् सूक्ष्म ऋषि प्राणों एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों में व्याप्त हो जाते हैं किंवा वे उनसे व्याप्त हो जाते हैं। इस पूर्वार्द्ध के कारण वे कण वा कण समूह और भी सन्दीप्त हो उठते हैं।।

इसके उत्तरार्द्ध "ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे...." के प्रभाव से प्राणापानादि प्राथमिक प्राण व धनंजयादि उपप्राण रूप सूक्ष्म ऋषि प्राण, जो प्राणतत्त्वों में अति श्रेष्ठ होते हैं, वे भी उस समय सम्यग्रूपेण प्रकाशित होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य ऋषि प्राण भी प्रदीप्त हो उठते हैं। ये सभी प्राण श्रेष्ठ गन्ता होते हैं। ये सभी ऋषि प्राण विभिन्न कणों की संयोगादि क्रियाओं के श्रेष्ठ रक्षक होते हैं। वे उन क्रियाओं के संचालक, प्रकाशक व स्वामी होते हैं। इसका तात्पर्य है कि उन सभी क्रियाओं पर उन प्राणों का ही मन व वाक् तत्त्व वा चेतन सत्ता परमात्मा के सबसे मूल नियन्त्रण के पश्चात् अन्तिम नियन्त्रण रहता है। **इन्हीं के ऊपर विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं की समृद्धि निर्भर करती है। हम जहाँ भी विभिन्न ऋचाओं के उत्पत्तिकर्ता ऋषि प्राणों की चर्चा करते हैं, परन्तु उनका सृजन कर्म में कोई प्रभाव नहीं दर्शा रहे, इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उनका इस सृष्टि में कोई उपयोग नहीं है। वे विभिन्न ऋचाओं को तो उत्पन्न करते ही हैं, इसके साथ-२ वे सृष्टि प्रक्रिया अर्थात् उन छन्दों की क्रियाओं पर भी प्रभाव डाल कर उसे समृद्ध करते हैं।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें सृष्टि में विद्यमान पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके शुद्ध रूप प्रदान करने हेतु उन पर प्रहार करती हैं। इससे विभिन्न कणों की ऊर्जा बढ़ती जाती है। कई संयुक्त कण टूट कर नये कणों से संयुक्त होने लगते हैं, तो कई छोटे-२ कण संयुक्त होकर बड़े अणुओं का निर्माण करने लगते हैं। इस प्रक्रिया में विभिन्न आवेशित कण परस्पर एक दूसरे से टकराते, इधर-उधर दौड़ते व कभी टूटते रहते हैं। इससे उनमें एक श्रंखला चल पड़ती है। इस समय अनेक प्रकार की नवीन तरंगें भी उत्पन्न होती रहती हैं। इस प्रक्रिया में अनेक सूक्ष्म प्राण व सूत्रात्मा वायु भी सक्रिय हो उठते हैं। ये सूक्ष्म प्राण ही इन कणों को गति प्रदान करने अथवा विद्युत् आवेश उत्पन्न करने का कारण होते हैं। इनका भी मूल कारण मन, वाक् आदि होते हैं। ये प्राण ही इन सब क्रियाओं के संचालक व नियन्त्रक होते हैं। प्रकाश, ऊष्मा आदि की उत्पत्ति भी मूलतः इन्हीं से हो पाती है।।

४. 'तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य' इति मेदसश्च ह्येव हि घृतस्य च भवन्ति।।
'कविशस्तो बृहता भानुनाऽऽगा हव्या जुषस्व मेधिर' इति हव्यजुष्टिमेवाऽऽशास्ते।।
'ओजिष्ठं ते मध्यतो मेद उद्भृतं प्र ते वयं ददामहे। श्चोतन्ति ते वसो स्तोका अधि त्वचि प्रति तान् देवशो विहि' इति।।
अभ्येवैनांस्तद्वषट्करोति यथा 'सोमस्याग्ने वीहीति'।।

तद्यत् स्तोका श्चोतन्ति सर्वदेवत्या वै स्तोकास्तस्मादियं स्तोकशो वृष्टिर्विभक्तोपाचरति।।२।।

{शचीवः = कर्मवन् (नि.५.११), शची प्रशस्ता वाक्प्रज्ञा कर्म वा विद्यतेऽस्मिन् तत्सम्बुद्धौ (म.द.ऋ.भा.१.६२.१२), (शची वाङ्नाम - निघं.१.११, कर्मनाम - निघं.२.१, प्रज्ञानाम - निघं.३.६)। स्तोकासः = स्तोकः ततो जसोऽसुक् (वै.को. आ.राजवीर शास्त्री), गुणानां स्तावकाः (म.द.ऋ.भा.३.२१.४)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर उपर्युक्त सूक्त की चतुर्थ ऋचा "तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः....." की चर्चा करते हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् है, इस कारण इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नितत्त्व की तेजस्विता तीव्र होती है। इसके अन्य प्रभाव से {कविशस्ताः = (नि.१२.३३), अध्रिगुः = योऽध्रीन् मन्त्रान् गच्छति (म.द.ऋ.भा.३.२१.४)} विभिन्न छन्द रूप रश्मियों को धारण करके विभिन्न गमनागमन क्रियाओं से युक्त ज्योतिर्मय मनस्तत्त्व से प्रकाशमान अग्नि तत्त्व के परमाणु व परमाणु समूहों को आकर्षण वलशील संदीप्त तेज से विशेषतया सिंचित किया जाता है, जिससे वे अग्नियुक्त कण विशेष गतिशील हो उठते हैं। वे सभी अग्नियुक्त कण व्यापक क्षेत्र में अपनी रश्मियों को सव ओर फैलाते हैं और वे ऐसे अग्नियुक्त कण परस्पर एक-दूसरे का भक्षण करके नवीन तत्त्वों को उत्पन्न करते रहते हैं।

इस छन्द रश्मि के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से वे अग्नियुक्त कण आकर्षण वलशीलता एवं तेज से समृद्ध होते हैं और उत्तरार्द्ध के प्रभाव से वे कण एक-दूसरे से संयुक्त होकर तृप्त होने लगते हैं। उस समय वे कण सूत्रात्मा वायु से विशेषतः युक्त होते हैं। इसी कारण यहाँ अग्नि को मेधिरः कहा गया है।।+।।

{देवशः = देवान् (म.द.ऋ.भा.३.२१.५), देवप्राति. 'वा छन्दसि' इति शस् (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री)} इसका देवता पूर्वोक्त अग्नि एवं इसका छन्द आचार्य सायण ने विराड्रूपा सतो वृहती माना है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व व्यापक रूप धारण करके संयुक्त कणों को परस्पर वांधने में सहायक होता है।

सवको वसाने वाले प्राण तत्त्व विशेषकर प्राण नामक प्राथमिक प्राण के द्वारा अत्यन्त तेज और वलयुक्त विभिन्न कणों का संगति गुण अच्छी प्रकार धारण किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार के कणों के अन्दर जो भी वल और तेज विद्यमान होता है, वह प्राणतत्त्व के द्वारा ही प्राप्त होता है। जव कोई कण किसी अन्य कण से संयोग करता है, तव एक कण का तेज और वल, जो प्राण तत्त्व का ही कार्यरूप है, अन्य कण के वल और तेज से संयुक्त होने पर उस वल और तेज के प्रधान कारण प्राण तत्त्व से ही संयुक्त होता है। इसका आशय यह है कि **जिस संयोग को हम किन्हीं कणों का संयुक्त होना मानते वा अनुभव करते हैं, वह वस्तुतः दोनों कणों के प्राणतत्त्वों का ही संयोग होता है, जिसके कारण ही वे दोनों कण संयुक्त हुआ करते हैं।** उस संयोग का विधि वताते हुए कहते हैं कि एक कण की सूक्ष्म प्राण रश्मियां दूसरे कण की परिधि में स्थित सूक्ष्म प्राण रश्मियों के आवरण के ऊपर सिंचित होने लगती हैं। इस कारण वे प्राण रश्मियाँ दोनों कणों को निकटता से और संयुक्त रूप से व्याप्त कर लेती हैं, जिससे वे कण परस्पर संयुक्त हो जाते हैं। इस छन्द रश्मि द्वारा वे संदीप्त तेजस्वी पदार्थसमूह वूंदों की भांति स्निग्ध तथा भिन्न-२ स्थानों पर झरते हैं और परस्पर संगम को प्राप्त होते हैं।।

उपर्युक्त विराड्रूपा सतो वृहती छन्द रश्मि से तीव्र तेजस्वी किरण समूह की उत्पत्ति होती है, जो अन्तरिक्ष में अग्निमय कणों को संगत करने के लिये वज्र का काम करती है। जिस प्रकार से अग्नि तत्त्व सोम पदार्थ को अपने अन्दर व्याप्त करके उसका भक्षण कर लेता है और उसे चारों ओर से घेरकर इधर-उधर गति प्रदान करता है, वैसे ही ये छन्द रश्मियाँ विभिन्न कणों को इधर-उधर प्रक्षिप्त करती हुई, उन्हें अवशोषित करती हुई संगत करती रहती हैं।।

अग्निमय वे पदार्थ, जो इधर-उधर विन्दु रूप में गति करते हुए झरते रहते हैं, वे सभी देव पदार्थों अर्थात् विभिन्न प्राणादि पदार्थों से युक्त होते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक खण्ड स्वयं सर्वप्राणमय होने से संगति हेतु पूर्ण सक्षम होता है और वह स्वयं में एक संसार छुपाये रहता है। इसी कारण समस्त वृष्टि वा अन्नरूपी पदार्थ खण्ड-२ में ही होता है। यदि समस्त पदार्थ खण्ड-२ में न होकर सम्पूर्ण संघात के रूप में विशाल पिण्ड हो जाये तो यज्ञ (सृष्टि) प्रक्रिया सम्पन्न ही नहीं हो सकती और यदि एक-२ खण्ड में सर्व देवों वा प्राणों का सम्वन्ध नहीं जुड़ा हो, तब भी कोई अकेला खण्ड स्वयं किसी अन्य से संयुक्त होकर सृष्टि रचना में भाग नहीं ले सकता।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस प्रक्रिया में त्रिष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिससे ब्रह्माण्ड के कण और भी अधिक तेजस्वी और बलयुक्त हो जाते हैं। वे सभी ऐसे कण एक प्रकार की रश्मियों को उत्सर्जित करते रहते हैं और उसके कारण ही वे एक-दूसरे की ओर तेजी से आकृष्ट होते हैं। इस आकर्षण और बन्धन में प्राण नामक प्राण रश्मि और सूत्रात्मा वायु की अधिक सक्रियता होती है और इन्हीं के परस्पर बंधन से उन कणों का बन्धन समझा और अनुभव किया जाता है। उस समय ब्रह्माण्ड में ये सब क्रियाएं उसी प्रकार होती हुई प्रतीत होती हैं, मानो वहाँ अग्नि की बूंदें झर रही हों। ऐसे बिन्दुरूप क्षेत्र इस छन्द रश्मि के प्रभाव से परस्पर तेजी से टकराते, एक-दूसरे को प्रक्षिप्त करते, घेरते एवं परस्पर एक-दूसरे को अवशोषित करते प्रतीत होते हैं। उन विन्दुरूप क्षेत्रों में सभी प्रकार के प्राणों का पूर्ण समावेश रहता है, जिसके कारण ही ये सभी क्रियाएं सम्पन्न हो पाती हैं।।

❧ इति ७.२ समाप्तः ☙

अथ ७.३ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. तदाहुः काः स्वाहाकृतीनां पुरोनुवाक्याः, कः प्रैषः, का याज्येति।।
या एवैता अन्वाहैताः पुरोनुवाक्या, यः प्रैषः स प्रैषो, या याज्या सा याज्या।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कुछ प्रश्न उठाते हुए कहते हैं -
(१) स्वाहा-कृतियों की पुरोनुवाक्या क्या होती हैं?
(२) उनकी प्रैष क्या होती हैं?
(३) उनकी याज्या क्या होती है?

यहाँ स्वाहा-कृति उन प्राणों का नाम है, जो विभिन्न कणों की संयोग-वियोग प्रक्रिया के लिये प्रतिष्ठा अर्थात् आधार रूप होते हैं। **पुरोनुवाक्या उन प्राणों को कहते हैं, जो किसी कण वा लोक के चारों ओर विद्यमान आकाश तत्त्व को नियन्त्रित करके उन कणों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस ग्रन्थ के सायण भाष्य में जिन-२ छन्द रश्मियों के अनुवचन का विधान किया है, वे सभी छन्द रश्मियां ही पुरोनुवाक्या का कार्य करती हैं।** ये रश्मियां ही विभिन्न कणों वा लोकों को परस्पर संयुक्त वा वियुक्त करने में आधारभूत भूमिका निभाती हैं। स्मरण रहे कि विभिन्न मरुद् रश्मियां भी सूक्ष्म छन्द रूप ही होती हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार की छन्द रश्मियां आकाश तत्त्व को नियन्त्रित करके कणों के संयोग-वियोग कराने में अपनी आधारभूत भूमिका निभाती हैं। **जिन छन्द रश्मियों को ग्रन्थकार ने प्रैष संज्ञा दी है, वे छन्द रश्मियां प्रेषक अर्थात् प्रेरक का कार्य करती हैं। ये रश्मियां विभिन्न ऋषि रूप सूक्ष्म प्राणों को प्रेरित करके विभिन्न छन्द रश्मियों को उत्पन्न कराने में सहायक होती हैं।** जो छन्द रश्मियाँ विभिन्न संयोगादि क्रियाओं को कराने में विशेष सक्रिय होती हैं तथा प्रयाज संज्ञक विभिन्न नररूप रश्मियों के साथ नारीरूप बनकर कर्मों को विस्तार देती हैं, वे याज्या कहलाती हैं। प्रयाज संज्ञक रश्मियाँ इन रश्मियों के साथ अति निकट से संयुक्त होकर अपना तेज प्रवाहित करती रहती हैं, जिससे ये याज्या संज्ञक रश्मियाँ संयोग-वियोग की विभिन्न प्रक्रियाओं को सम्पन्न करने में और भी सक्रिय हो उठती हैं। जहाँ कहीं प्रयाज संज्ञक रश्मियों का विधान नहीं है, वहाँ ये स्वयं भी संयोगादि कर्मों को करने में सक्षम होती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- संयोगादि प्रक्रियाओं में तीन प्रकार की छन्द रश्मियाँ मुख्य भूमिका निभाती हैं। प्रथम छन्द रश्मियाँ वे होती हैं, जो किन्हीं ऋषि रूप प्राणों को प्रेरित करके द्वितीय प्रकार की ऐसी छन्द रश्मियों को उत्पन्न कराती हैं, जो किसी कण वा लोक के चारों ओर विद्यमान आकाश तत्त्व को नियन्त्रित करके उन कणों वा लोकों को एक-दूसरे के निकट लाने में सहायक होती हैं। तीसरी रश्मियाँ जो निकट आये हुए कणों वा लोकों को परस्पर संगत होने में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियां एक अन्य अर्थात् चतुर्थ रश्मि के साथ संयुक्त होकर उससे और भी अधिक ऊर्जा प्राप्त करके अपना कार्य करने में और भी अधिक सक्षम होती हैं। इस प्रकार इन चारों रश्मियों की परस्पर संगति से ही संयोग-वियोग की प्रक्रिया सुचारु रूप से सम्पन्न होती है।।

२. तदाहुः का देवताः स्वाहाकृतय इति।।
विश्वे देवा इति ब्रूयात्।।
तस्मात् 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' इति यजन्तीति।।

व्याख्यानम्- यहाँ प्रश्न यह उपस्थित करते हैं कि पूर्वोक्त स्वाहाकृति वा पुरोऽनुवाक्या संज्ञक ऋचाओं का देवता क्या होता है? इसका तात्पर्य यह है कि इन छन्द रश्मियों का प्रभाव किस-२ पदार्थ पर होता है?।।

इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि अग्नि, वायु आदि सभी दिव्य पदार्थों पर इन ऋचाओं का प्रभाव पड़ता है। आकर्षण व प्रतिकर्षण बल जिन-२ कणों पर काम करता है, उन-२ सभी कणों व लोकों पर इन छन्द रश्मियों का प्रभाव पड़ता है।।

इस कारण पूर्वोक्त सभी पुरोऽनुवाक्या संज्ञक छन्द रश्मियों को आप्रियदेवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः।। (ऋ.१०.११०.११)

छन्द रश्मि के चतुर्थ पाद 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' के साथ संगत किया जाता है। इसके प्रभाव से जो-२ कण उन स्वाहाकृति अर्थात् पुरोऽनुवाक्या संज्ञक छन्द रश्मियों के साथ संगत होते हैं, वे कण उन रश्मियों के साथ-२ इस उपर्युक्त निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के चतुर्थ पाद रूप रश्मि से भी संगत होते हैं। इसका विधान यह है कि यह पाद रश्मि पूर्व में संगत पुरोऽनुवाक्या छन्दरश्मियों के साथ ही संगत हो जाती है। इसके प्रभाव से वे कण स्वाहाकृति अर्थात् आकाशत्व को नियन्त्रित कर चुके अन्य छन्दप्राण से संयुक्त कणों को अपने साथ संगत करने लगते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व में वर्णित वे रश्मियां, जो विभिन्न कणों वा तरंगों को संयुक्त करने हेतु उन-२ कणों वा तरंगों के चारों ओर स्थित आकाश तत्त्व को आकर्षित करके उन कणों वा तरंगों को निकट लाने का कार्य करती हैं, वे सभी प्रकार के कणों वा तरंगों को संगत करने में काम आती हैं। इसके साथ इस कार्य में एक अन्य निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की एक पादरूप लघु रश्मि भी अपनी भूमिका निभाने हेतु उन छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त हो जाती है।।

३. देवा वै यज्ञेन श्रमेण तपसाऽऽहुतिभिः स्वर्गं लोकमजयंस्तेषां वपायामेव हुतायां स्वर्गो लोकः प्राख्यायत ते वपामेव हुत्वाऽनादृत्येतराणि कर्माण्यूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायंस्ततो वै मनुष्याश्च ऋषयश्च देवानां यज्ञवास्त्वभ्यायन् यज्ञस्य किंचिदेषिष्यामः प्रज्ञात्या इति तेऽभितः परिचरन्त ऐत्पशुमेव निरान्त्रं शयानं ते विदुरियान्वाव किल पशुर्यावती वपेति।।
स एतावानेव पशुर्यावती वपा।।
अथ यदेनं तृतीयसवने श्रपयित्वा जुह्वति भूयसीभिर्न आहुतिभिरिष्टमसत् केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति।।
भूयसीभिर्हास्याऽऽहुतिभिरिष्टं भवति, केवलेन हास्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद।।३।।

{अन्त्रम् = अमति जानाति प्राप्नोति येन तत् अन्त्रम् (उ.को.४.१६५) (अम गतिशब्दसंविभक्तिषु)। केवल = (विशेषण) पूर्ण, समस्त, अनावृत, अमिश्रित (आप्टे)}

व्याख्यानम्- यहाँ वपा होम अर्थात् विभिन्न कणों वा तरंगों के परस्पर वीजवपन, संगतीकरण की प्रशंसा में कहते हैं -

जब देव मन व वाक्तत्त्व किंवा प्राणापानादि प्राथमिक प्राण विभिन्न क्रिया-प्रयत्न करके तेज और ऊष्मा को उत्पन्न करते हैं, फिर इसके द्वारा अर्थात् तीव्र तेज व ऊष्मा की अवस्था में देव पदार्थ विभिन्न प्रकार के कणों, तरंगों, छन्दादि रश्मियों की आहुतियों के द्वारा नेब्यूला वा तारे आदि के केन्द्रीय भाग का निर्माण कर लेते हैं। इसके साथ ही वे अनेक प्रकार के विद्युदावेशित कण वा तरंगों को उत्पन्न कर लेते हैं। इसके साथ ही इन्हीं के प्रयत्न से विभिन्न प्रकाशित कण वा प्राणादि पदार्थ इस केन्द्रीय भाग तक पहुँचने में सक्षम वा सफल हो जाते हैं। उस समय वह केन्द्रीय भाग वपा की आहुति अर्थात् विभिन्न प्राणों, कणों वा तरंगों के निर्वपन अर्थात् उनके परस्पर संगमन से ही प्रकाशित होता है। यहाँ प्रकाशित होने का तात्पर्य पूर्वापेक्षा अधिक व स्थायी रूप से प्रकाशित होना मानना चाहिए। उस समय जो पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होते हैं, वे अन्य अभिक्रियाओं को विराम देकर केन्द्रीय भाग की ओर जाने की क्रिया ही करते हैं। यद्यपि वे पदार्थ नेब्यूला वा तारों के बाहरी क्षेत्र में ही परस्पर संगम से अनेक अवांछित तत्त्वों का निर्माण भी कर सकते हैं, परन्तु वे ऐसा नहीं करके केन्द्रीय भाग की ओर ही प्रवाहित होते रहते हैं। उन कणों, प्राणों आदि के अनन्तर वा साथ-२ मनुष्य अर्थात् अनियमित, अनियन्त्रित गतियुक्त कण तथा ऋषि अर्थात् विभिन्न सूक्ष्म प्राण भी केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होते हैं, किंवा वे उधर प्रवाहित होने का प्रयत्न करते हैं। वहाँ वे केन्द्रीय भाग के भीतर प्रविष्ट न होकर उसके चारों ओर परिक्रमण करने लगते हैं। इसके कारण वे केन्द्रीय भाग में संगमनीय पदार्थ में व्याप्त होने लगते हैं और इस व्याप्ति से वे पदार्थ भी उस संगमनीय पदार्थ में विद्यमान तीव्र दीप्ति से प्रदीप्त होने लगते है। वे उन प्रदीप्त पदार्थों की तेजस्विता से आकृष्ट भी होने लगते हैं। उस समय विभिन्न पशुरूप पदार्थ अर्थात् विभिन्न उत्पन्न कणों की स्थिति कुछ सोई जैसी होती है अर्थात् वे पदार्थ उस सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त हो जाते हैं। उनकी गति मन्द हो जाती है। वस्तुतः उन कणों के उत्पादक कणों की वपन वा संगमन क्रिया जो भी होनी होती हैं, हो चुकी होती हैं। इसके पश्चात् उनकी संगमन शक्ति समाप्त हो जाती है। जो शेष संगमनीय कण बाहर से आये थे, वे संगत होते रहते हैं। उन्हीं पर तारों का जीवन निर्भर रहता है। इन संगमनीय कणों की जितनी मात्रा उन तारों में होती है तथा जितनी गति से वह संगम क्रिया होती है, वह तारा उतना ही तप्त होता है तथा उसका जीवन भी उस क्रिया व पदार्थ पर निर्भर करता है।।+।।

जब तारों वा नेब्यूलाओं की विकसित अवस्था में जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है, उस समय उनके अन्दर विद्यमान पदार्थ विशेषकर केन्द्रीय भाग में विद्यमान पदार्थ अति तप्त होते हैं। वे तप्तावस्था की भी पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेते हैं और उस दशा में जब उनका संगतीकरण होता है, तब अनेक प्रकार के पदार्थ अत्यधिक मात्रा में वेग के साथ संगत होने लगते हैं। उस समय सम्पूर्ण तारा विभिन्न पदार्थों की संगति से पूर्णतः भर जाता है। उस समय उस तारे को बाहर से किसी पदार्थ की कोई विशेष अपेक्षा नहीं होती। जब तक कोई तारा परिपक्वावस्था को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसमें बाहरी पदार्थ का आना जारी रहता है और ऐसा होना आवश्यक भी होता है। जब तारा परिपक्व हो जाता है, तब उसे बाहरी पदार्थ की विशेष अपेक्षा नहीं रहती, बल्कि उसके अन्दर विद्यमान पदार्थ ही उस तारे के जीवन के लिए पर्याप्त होता है। जब वह पदार्थ अति न्यून हो जाता है, तब तारे की आयु भी पूर्ण हो जाती है।।

इस प्रकार की परिस्थिति जिस किसी तारे में उत्पन्न हो जाती है, वहाँ तारे की परिपक्वता एवं पूर्णता हो जाती है। शेष पूर्ववत्।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किसी नेब्यूला में किसी तारे का निर्माण होना प्रारम्भ होता है, उस समय उसके निर्माणाधीन केन्द्रीय भाग की ओर निकटवर्ती क्षेत्रों से पदार्थ सूक्ष्म रूप में धीरे-२ प्रवाहित होता है। उस समय वह प्रवहमान पदार्थ परस्पर क्रिया करके कोई अन्य पदार्थ न बनाकर तारों के केन्द्रीय भाग की ओर ही प्रवाहित होता रहता है। **सूर्य के अन्दर हाइड्रोजन के नाभिक केन्द्रीय भाग की ओर उसकी प्रबल आकर्षण शक्ति के कारण सतत प्रवाहित होते रहते हैं। वे ऐसा सहगमन करते हुए परस्पर मार्ग में कोई भी संयोगादि क्रिया नहीं करते। जब वे केन्द्र में पहुँच कर संलयित होकर हीलियम नाभिकों में परिवर्तित हो जाते हैं, उस समय वे हीलियम नाभिक हाइड्रोजन नाभिकों की अपेक्षा शान्त वा शिथिल होते हैं।** जिस समय संलयन की क्रिया हो रही होती है, उस समय संलयनीय नाभिकों के मध्य अन्य

कोई क्रिया सम्भव नहीं होती। यद्यपि तारों के नाभिक वा अन्य भाग में इलेक्ट्रॉन्स का विशाल भण्डार होता है परन्तु कोई भी नाभिक वहाँ उन इलेक्ट्रॉन्स को अपने साथ मिलाकर कोई एटम अथवा मॉलिक्यूल्स नहीं बना सकता। वहाँ इलेक्ट्रॉन्स स्वतंत्र विचरण करने के लिए ही बाध्य होते हैं। सम्भव है विभिन्न वैद्युत क्षेत्र बनाने में उनकी कोई विशेष भूमिका होती हो, परन्तु वे नाभिकों से संयुक्त नहीं हो सकते। जिस तारे में संलयनीय पदार्थ की मात्रा जितनी अधिक होगी, उस तारे की आयु, ताप व आकार उतना ही अधिक होगा। परन्तु कभी-२ इसका अपवाद भी होता है। तारों की आयु संलयन क्रिया की तीव्रता पर भी निर्भर होती है।।

꧁ इति ७.3 समाप्तः ꧂

ॐ अथ ७.४ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. सा वा एषाऽमृताहुतिरेव यद्वपाहुतिरमृताहुतिरग्न्याहुतिरमृताहुतिराज्याहुतिरमृता-हुतिः सोमाहुतिरेता वा अशरीरा आहुतयो, या वै काश्चाशरीरा आहुतयोऽमृतत्त्वमेव ताभिर्यजमानो जयति।।

{अमृतम् = उदकनाम (निघं.१.१२), हिरण्यनाम (निघं.१.२), प्रजापतिर्वाऽअमृतः (श.६.३.१.१७), अमृतं वा ऽआपः (श.१.६.३.७), अमृतमु वै प्राणाः (श.६.१.२.३२), अमृतं वा ऋक् (कौ.ब्रा.७.१०), अग्निरमृतम् (श.१०.२.६.१७), आज्यम् = प्राणो वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.८.१५.१), वज्रो वा ऽआज्यम् (कौ.ब्रा.१३.७)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त वपा संज्ञक अर्थात् संलयनीय वा संगमनीय पदार्थों की संगति-क्रियाएं अमृत होती हैं। इसका तात्पर्य है कि वे क्रियाएं प्राणों से परिपूर्ण, तेजस्विनी एवं नवीन तत्त्वों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। ये क्रियाएं सर्वत्र ऐसी होती हैं, मानो इनका सम्पूर्ण पदार्थ पर सिंचन हो रहा हो। इनके साथ विभिन्न छन्द रश्मियां भी संगत होती हैं किंवा उन्हीं की संगति हमें कणों की संगति के रूप में अनुभूत होती है। अग्नि की आहुति अर्थात् विभिन्न फोटोन्स का संयोग अथवा विभिन्न आयन्स का संयोग (रासायनिक संयोग) भी उपर्युक्त प्रकार का अमृत ही होता है। वहाँ भी प्राण, छन्द, तेज आदि से परिपूर्णता होती है। इनकी अनुपस्थिति में कोई रासायनिक संयोग भी नहीं हो सकता। आज्य अर्थात् विभिन्न प्राणों का संयोग भी अमृत होता है। यहाँ प्राणों से कुछ छन्द रश्मियों का ग्रहण होना चाहिए, क्योंकि कुछ तीक्ष्ण छन्द रश्मियां ही वज्ररूप होती हैं। इस संयोग में प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की संगति, वाग् वा मनरूप प्रजापति की संगति, तेजस्विता वा एकरस सेचनरूप संगति यहाँ भी होती है। सोम पदार्थ की आहुति अर्थात् सूक्ष्म मरुद्रश्मियों किंवा वायु तत्त्व किंवा प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की संगति भी अमृत होती है। इसका तात्पर्य है कि यहाँ भी तेजस्वी एवं सबके उत्पादक मनस्तत्त्व वा वाक् तत्त्व की संगति पूर्णतः व्याप्त होती है। ये सभी आहुतियां वा संगतीकरण की प्रक्रियाएं अशरीरी होती हैं, इसका तात्पर्य है कि ये किसी संकुचित क्षेत्र विशेष में नहीं होती वल्कि व्यापक क्षेत्र में प्रायः एकरसवत् होती रहती हैं। इनको रोकना वा वाधित करना भी सहज नहीं है, इस कारण भी इन्हें अशरीरी कहा गया है। क्रियाएं किसी का आश्रय नहीं होती वल्कि वे स्वयं ही किसी पदार्थ पर आश्रित होती हैं, इस कारण भी इन्हें अशरीरी कहा है। उपर्युक्त संगमनीय पदार्थों में जो संगतीकरण की क्रिया होती है, वह मन, वाक् एवं प्राथमिक प्राण प्राणापानादि तक व्याप्त होती है किंवा उन्हीं पर आधारित होती है। इससे स्थूल पदार्थ मरुद्रश्मियां, छन्द रश्मियां आदि हैं। ये सभी पदार्थ संयोज्य कणों की अपेक्षा, यहाँ तक कि तरंगों की अपेक्षा भी सूक्ष्म तथा अमूर्त होने से अशरीरी कहलाते हैं। यद्यपि इनमें परस्पर शरीरी व शरीर का सम्बंध अवश्य है पुनरपि मानव तकनीक से ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा ये अशरीरी ही हैं। संगतीकरण की प्रक्रिया इन्हीं के स्तर पर होती है। इनको पृथक् करके किसी भी संगतीकरण की क्रिया की कल्पना भी सम्भव नहीं है। इस कारण कहा है कि आहुतियाँ अशरीरी होती हैं। इन ऐसी आहुतियों से यजमान {यज्ञो वै यजमानः (जै.ब्रा.१.२५६)} अर्थात् सृष्टि में विभिन्न सृजन प्रक्रियाएं अमृतरूप हो जाती हैं अर्थात् वे सम्पूर्ण सृष्टि काल तक यथावत् चलती रहती हैं, जिनसे विभिन्न प्रकार के तत्त्व सतत उत्पन्न होते रहते हैं। उधर तारारूप यजमान भी अपनी पूर्ण आयु तक इन क्रियाओं को संचालित रखने में सक्षम होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में जो भी सृजन क्रियाएं हो रही हों, वे चाहें विभिन्न अणु, परमाणु वा नाभिकों का संयोग हो अथवा उनसे भी सूक्ष्म कण व प्रतिकणों अथवा उनसे भी सूक्ष्म प्राण, छन्द रश्मियों आदि का संयोग, सभी कुछ इस सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक चलता रहता है। उसमें कहीं विराम नहीं आता। यह सभी संयोगादि कर्म प्राणादि पदार्थों और उनसे भी सूक्ष्म पदार्थ मन-वाक् तत्त्व जैसे अमूर्त पदार्थों तक व्याप्त होता है। वास्तविकता तो यह है कि संयोग व वियोग की प्रक्रिया अन्तिम सूक्ष्म अमूर्त तत्त्व तक प्रभावी किंवा उसी में होती है, जिसका अनुभव हमें अपनी सम्भव भौतिक तकनीक से ज्ञेय पदार्थ के संयोग-वियोग के रूप में हो पाता है। नग्न आँखों से हमें और भी अति स्थूल पदार्थों में ही इस प्रक्रिया का भान होता है, जबकि वह प्रक्रिया उससे अति सूक्ष्मतर स्तर तक हो रही होती है। जैसे-२ हमारी तकनीक विकसित होती जाएगी, वैसे-वैसे हमारी दृष्टि भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती चली जाएगी। सृष्टि की क्रियाएं किसी एक देश विशेष वा कुछ क्षेत्रों में न होकर सम्पूर्ण क्षेत्रों में एकरसवत् आवश्यकतानुसार होती रहती हैं। **इस ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ पूर्ण निष्क्रियता हो।** इस प्रकार क्रियाओं की निरन्तरता से यह सृष्टि संचालित होती रहती है। इसके पदार्थ पूर्ण आयु तक सतत क्रियाशील रहते हैं।।

२. सा वा एषा रेत एव यद्वपा प्रेव वै रेतो लीयते प्रेव वपा लीयते शुक्लं वै रेतः शुक्ला वपाऽशरीरं वै रेतोऽशरीरा वपा यद्वै लोहितं यन्मांसं तच्छरीरं तस्माद् ब्रूयाद् यावदलोहितं तावत्परिवासयेति।।

{लोहितः = रोहितः = रोहति प्रादुर्भवति इति (उ.को.३.६४), रुद्रं लोहितेन (प्रीणामि) (तै. सं.१.४.३६.१, तै.आ.३.२१.१)}

व्याख्यानम्- वह जो वपा नामक पदार्थ है अर्थात् विभिन्न कणों वा तरंगों के संयोगादि कर्म वा पदार्थ हैं, वे ही विभिन्न नेब्यूलाओं, तारों किंवा समस्त सृष्टि प्रक्रिया के रेत अर्थात् उत्पादक हैं। ये ही इस सर्ग प्रक्रिया का बीज हैं, ये ही बल व तेज हैं एवं ये ही परस्पर संगत होकर विविध सृष्टि के उत्पादन करने वाले उपादान पदार्थ हैं। जिस प्रकार किसी पदार्थ का तेज एवं बल उसके अन्दर लीन रहता है तथा उस पदार्थ के अन्य किसी पदार्थ से संयुक्त होने पर उसके बल व तेज में लीन हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न तारों, नेब्यूलाओं वा सर्वत्रैव संगमनीय पदार्थ वा संगति-क्रियाएं उन-२ पदार्थों में लीन हो जाती हैं। सूक्ष्म स्तर पर इन पदार्थों व उनकी क्रियाओं को पृथक् करना वा पृथक् अनुभव करना अति दुष्कर कार्य है।

{शुक्लम् = शुक्रम् = शुच्यते पवित्रीभवतीति शुक्रम् अस्यैव व्यवस्थितविभाषया पक्षे लत्वम् शुक्लः (उ. को.२.२६)}

जिस प्रकार विभिन्न पदार्थों का बल व तेज शुद्ध होता है अर्थात् उसमें अन्य कुछ भी पदार्थ मिश्रित नहीं होता। उत्पादक धर्म भी शुद्ध हुए पदार्थ में ही होता है, उसी प्रकार वपा अर्थात् संगति क्रिया वा **संगमनीय पदार्थ तभी संगत होते हैं, जब वे शुद्ध रूप में पृथक्-२ विद्यमान होते हैं। किसी मिश्रित पदार्थ में भी जब कोई संयोग क्रिया होती है, तब वह संयुक्त पदार्थ में विद्यमान शुद्ध व स्पष्ट रूप में विद्यमान कणों के मध्य ही सम्भव होती है। एक साथ अनेकों मिश्रित कणों का सहसैव संयोग नहीं हो सकता।** जिस प्रकार किसी पदार्थ के बल, तेज आदि गुण व इनके उत्पादक सूक्ष्म प्राणादि पदार्थ अशरीरी अर्थात् अमूर्त होते हैं, उसी प्रकार संगमनीय सूक्ष्मतम कण व उनके कर्म भी अमूर्त होते हैं। वे किसी के आश्रय नहीं होते बल्कि किसी पदार्थ पर स्वयं आश्रित होते हैं। इसके साथ ये पदार्थ सर्वत्र व्याप्त होकर अथवा विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होकर सर्ग संचालन व रचना करते हैं। जो पदार्थ विभिन्न सूक्ष्म कणों से प्रादुर्भूत होकर वृद्धि को प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उन्होंने स्थूल रूप प्राप्त कर लिया है, वे लोहित कहाते हैं। जो पदार्थ पूर्ण बलयुक्त एवं अनेक सूक्ष्म पदार्थों के आधार वा निवास होते हैं, वे मांस कहलाते हैं। ये दोनों प्रकार के पदार्थ शरीरी होते हैं अर्थात् ये विभिन्न सूक्ष्म प्राणादि पदार्थों वा सूक्ष्मतम कणों का आश्रय होते हैं। ये पदार्थ विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों का संघनित रूप होकर स्पष्टतः संकुचित आकार वाले होते हैं। ये सर्वत्र व्याप्त नहीं होते। वे पृथक्-२ स्थानों पर स्थित होकर निश्चित

गति करते रहते हैं। इस कारण वेदार्थ तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि जो-२ पदार्थ वृद्धि को प्राप्त करके स्थूल रूप प्राप्त कर चुके हैं, वे ही पदार्थ अन्य सूक्ष्म पदार्थों व प्राणियों को वसाने वाले हैं अर्थात् समस्त जीव उन्हीं स्थूल पिण्डों, लोकों वा कणों के ऊपर ही वसते हैं। उधर वे पदार्थ ही सूक्ष्म पदार्थों से सिक्त होते रहते हैं अर्थात् उनके ऊपर उपर्युक्त अशरीरी अमूर्त पदार्थों की वृष्टि होती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में सूक्ष्मतम पदार्थ द्रव्य कण वा ऊर्जा तरंगें ही इस सृष्टि का बीज रूप है, विभिन्न बल अर्थात् इनके उत्पादक virtual particles एवं उनके उत्पादक vacuum energy कहे जाने वाला पदार्थ एवं हमारे वैदिक विज्ञान के **प्राणादि पदार्थ, जो इनसे भी सूक्ष्म होते हैं, ये सब पदार्थ सृष्टि के बीज रूप हैं। ये ही बल हैं, इन्हीं बलों की प्रेरणा से क्रियाशील द्रव्य व ऊर्जा भी यही हैं। मूलतः सभी एक हैं, जिसका मूल उद्गम एवं प्रलय स्थान मूल प्रकृति है। इस मूल प्रकृति, महत्, मन, वाक् एवं प्राणादि को आधुनिक भौतिक विज्ञान नहीं जानता और न इनको आधुनिक तकनीक से जानना सम्भव है।** विभिन्न प्रकार के virtual particles विभिन्न कणों के अन्दर पूर्णतः ऐसे लीन हो जाते हैं कि उन्हें पृथक् करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में होने वाली सूक्ष्मतम व मूल क्रियाएं इस पदार्थजगत् में लीन हो रही हैं। उन्हें पृथक्-२ पहिचानना सम्भव नहीं है। **इलेक्ट्रॉन, ग्लूऑन, क्वार्क, एण्टी पार्टिकल्स, मीजोन, फोटोन आदि के अन्दर वा उनके निकट होने वाली सूक्ष्म क्रियाएं रहस्यमयी होती हैं। उन्हें जानना अति दुष्कर है। जो भी क्रियाएं व विभिन्न कणों का आकर्षण वा प्रतिकर्षण आदि जो भी हलचल होती है, उसका सूक्ष्मतम प्रभाव शुद्धरूपेण एक-२ पृथक्-२ कण पर होता है। एक साथ अनेक कण संघात को प्राप्त नहीं हो सकते, बल्कि उस संघात का एक व्यवस्थित क्रम होता है, भले ही हम उस क्रम वा व्यवस्था को जान नहीं पाएं। विभिन्न बल-कण, फोटोन वा सूक्ष्म द्रव्य-कण एक विशेष व स्पष्ट आकार वाले नहीं होते और न रश्मियाँ ही स्पष्ट आकारयुक्त होती हैं, बल्कि ये सब सूक्ष्म स्तर पर बड़े ही अस्पष्ट, धुंधले, मेघवत् संघनित पदार्थ का ढेर होते हैं, जिसकी परिधि पूर्ण स्पष्ट नहीं होती,** जबकि जो पदार्थ स्थूल होकर विभिन्न पिण्ड, लोक आदि का रूप धारण कर लेते हैं, वे स्पष्ट आकार व परिधि वाले प्रतीत होते हैं। सूक्ष्म कण व तरंगें अथवा बलों की रश्मियाँ इस सृष्टि में अतीव विस्तृत क्षेत्र में फैली रहती हैं, जबकि स्पष्ट आकार वाले सघन व स्थूल पिण्ड ऐसे नहीं हो सकते। उनका आयतन सूक्ष्म कणों वा तरंगों के क्षेत्र की अपेक्षा में बहुत कम होता है। स्थूल पदार्थों यथा विभिन्न पिण्ड, ग्रह, उपग्रह, तारे आदि सभी के ऊपर सतत सूक्ष्म पदार्थ यथा इलेक्ट्रॉन्स, प्रोटोन्स, फोटोन्स, न्यूट्रिनोज आदि की वृष्टि होती रहती है तथा इन सूक्ष्म पदार्थों के ऊपर भी विभिन्न सूक्ष्म प्राण रश्मियों की वृष्टि होती रहती है। **स्थूल पदार्थ सूक्ष्म पदार्थों को अपने अन्दर भी बसाते हैं किंवा उनके वास से ही स्थूल पदार्थों का अस्तित्व सम्भव होता है।।**

३. सा पञ्चावत्ता भवति यद्यपि चतुरवत्ती यजमानः स्यादथ पञ्चावत्तैव वपा।। आज्यस्योपस्तृणाति हिरण्यशल्को वपा हिरण्यशल्क आज्यस्योपरिष्टादभिघारयति।। तदाहुर्यद्धिरण्यं न विद्येत कथं स्यादिति द्विराज्यस्योपस्तीर्य वपामवदाय द्विरुपरिष्टादभिघारयति।।

{अवत्तिन् = (विशे) विभाजन करने वाला, काटकर पृथक् करने वाला (आप्टे कोष)। शल्कम् = भाग, अंश, छिलका (आप्टे कोष)। आज्यम् = छन्दांसि वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.३.५.३), यजमानो वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.३.४.४), मनो यजमानस्य रूपम् (श.१२.८.२.४), प्राणो वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.८.१५.२-३), रेतो वा आज्यम् (श.१.९.२.७), वागु हि रेतः (श.१.५.२.७)। हिरण्यम् = अग्ने रेतो हिरण्यम् (श.२.२.३.२८), प्राणा वै हिरण्यम् (श.७.५.२.८)}

व्याख्यानम्- वपा संज्ञक पदार्थ अर्थात् संगमनीय पदार्थ पांच भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। हमारे मत में यह विभाग आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथिवी तत्त्व के रूप में माना जा सकता है

किंवा इन्हीं का सूक्ष्म-रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध तन्मात्राएं ही पांच प्रकार के वपा संज्ञक पदार्थ हैं। इन्हें आधुनिक विज्ञान की भाषा में समझने के लिए पूर्वपीठिका पढ़ें। वर्तमान विज्ञान द्वारा ज्ञेय एवं परिभाषित पदार्थ भी पांच प्रकार के हैं, जिनसे यह सम्पूर्ण सृष्टि बनी है। इन्हें वैज्ञानिक भाष्यसार में पढ़ें। इन पांच प्रकार के तत्त्वों को संयुक्त करने वाले बलरूप पदार्थ चार प्रकार के माने गये हैं। हमारी दृष्टि में वे पदार्थ हैं - मन, वाक्, सूत्रात्मा वायु तथा प्राणादि दस प्राण एवं छन्द रूप प्राण। ये चार प्रकार के पदार्थ ही समस्त सृष्टि को उत्पन्न व संचालित करने हेतु मूल बलों के मूल उत्पादक हैं। हाँ! **इनका उत्पादक व प्रेरक सबसे मूल-बल परमात्म-चेतना ही होती है।** वर्तमान विज्ञान द्वारा ज्ञेय चार बलों को भाष्यसार में पढ़ें। भले ही ये बल चार प्रकार के हैं किंवा चार प्रकार के पदार्थों से उत्पन्न होते हैं परन्तु चार बलों के द्वारा संयोग व वियोग को प्राप्त करके सृष्टि उत्पन्न करने वाले स्थूल पदार्थ पांच प्रकार के ही होते हैं। ये पदार्थ ही स्थूल सृष्टि का मानो बीजरूप होते हैं। इन पांचों पदार्थों की संयोग प्रक्रिया भी परस्पर समान न होकर पृथक्-२ पांच प्रकार की होती है। ध्यातव्य है कि यद्यपि इस सृष्टि में बल असंख्य प्रकार के होते हैं, तदपि ये चार बल प्रत्यक्षतः सबके उत्पादक माने गये हैं। इनमें भी पूर्व से उत्तर की ओर उत्तरोत्तर बल स्थूल तथा पूर्वापेक्षा कार्यरूप माने जाते हैं परन्तु वाक् तत्त्व का तो सबके साथ मिथुन रहता है।।

जब संयोग प्रक्रिया होती है, उस समय सर्वप्रथम तो आज्य अर्थात् सर्वत्र व्याप्त मन व वाक् तत्त्व को फैलाया जाता है। यहाँ व्याप्ति का अर्थ 'ईश्वर की भाँति व्याप्ति' नहीं समझना चाहिए, बल्कि यहाँ व्याप्ति का अर्थ इतना ही है कि वह प्रचुरता से लगभग सर्वत्र विद्यमान रहता है तथा विशेष सक्रिय उपादानों में सबसे सूक्ष्म तत्त्व है। ध्यातव्य है कि मन व वाक् का सर्वत्र प्रायः मिथुन ही रहता है। उसके पश्चात् **हिरण्यशल्क** अर्थात् मन व वाक् तत्त्व के सापेक्ष गति करने वाले प्राणादि प्राथमिक प्राण तत्त्वों का भाग होता है। **{शल्यम् = शल्यति गच्छति शल्यते वा तत् शल्यम् (उ.को.३.४२)}** मन व वाक् तत्त्व से प्राथमिक प्राणों का निकटतम सम्बन्ध होता है। **वाक् तत्त्व के साथ तो प्राण तत्त्व का मिथुन ही होता है,** उसके पश्चात् वपा अर्थात् विभिन्न संगमनीय पदार्थ कणों वा तरंगों का इन दोनों प्रकार के पदार्थों के साथ सायुज्य होता है। उसके पश्चात् पुनः **हिरण्यशल्क** का आवरण होता है। यहाँ **'हिरण्यम्'** शब्द का अर्थ अग्नि का तेज तथा अग्नि का अर्थ छन्द प्राण भी होता है। जैसा कि कहा है- **"अग्नयो वै छन्दांसि" (तै.सं.५.७.६.३)।** इस प्रकार उन वपा संज्ञक पदार्थों के ऊपर छन्द रश्मियों का आवरण होता है। इसके उपरान्त पुनः आज्य का सिंचन किया जाता है। इसका आशय यह है कि वपा संज्ञक पदार्थ के ऊपर मन, वाक्, प्राथमिक प्राण आदि का सिंचन उन छन्द रश्मियों के आवरण पर सदैव होता रहता है। स्मर्तव्य है कि छन्द रश्मियां स्वयं वाक् तत्त्व व प्राथमिक प्राणों से ही निर्मित रहती हैं तथा मन सबसे प्रधान प्राण है, जो सभी प्राणों को अपने अन्दर धारण किए रहता है। वाक् तत्त्व भी एक प्रकार का प्राण ही होता है। ध्यातव्य है कि **'ओम्' एवं भूरादि सूक्ष्म छन्द रश्मियां ही वाक् तत्त्व कहाती हैं अर्थात् दैवी गायत्री रश्मियां ही वाक् तत्त्व कहाती हैं।** क्वचित् दोनों ही स्थानों पर **'हिरण्यशल्क'** का अर्थ आवृत्त छन्द रश्मियां होता है और प्राणादि तत्त्व **आज्यसंज्ञक** ही होते हैं।।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि यदि कुछ कण अपेक्षाकृत कम तेजस्वी अथवा तेजहीन हों, तो क्या होता है? उनकी संयोग प्रक्रिया वा संरचना कैसी होती है? इस विषय में महर्षि समाधान करते हैं कि कुछ अल्पप्रकाशित कण ऐसे भी होते हैं, जिनमें आवरणरूप तेजस्वी छन्द रश्मियां विद्यमान नहीं होती अथवा अत्यल्प वा सूक्ष्म छन्द रश्मियां ही होती हैं, उनके संयोग की प्रक्रिया वा संरचना निम्नानुसार होती है-

सर्वप्रथम मन, वाक्, एवं प्राथमिक प्राणों को द्विस्तरीय करके फैलाया जाता है, पुनः वे कण और उनके ऊपर पुनः द्विस्तरीय मन, वाक्, तथा प्राथमिक प्राणों का आवरण होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या कोई भी कण वा उसकी क्रिया ऐसी हो सकती है, जिसमें छन्द रश्मियों का पूर्ण अभाव हो? हमारे मत में ऐसा होना सम्भव नहीं है। प्रत्येक कण विभिन्न छन्द रश्मियों का सघनरूप ही है, फिर कैसे कोई संरचना छन्द रश्मियों से विहीन हो सकती है? यहाँ जो छन्दविहीन संरचना की चर्चा है, उसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि कण के ऊपर छन्द रश्मियों के आवरण के स्थान पर मन, वाक्, सूत्रात्मा वायु सहित सभी अन्य दस प्राथमिक प्राणों का ही दोहरा आवरण बाहर व भीतर होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यह सृष्टि जिस पदार्थ से मिलकर बनी है, उसके स्थूलरूप को आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथिवी इन पांच भागों में बांटा जा सकता है। इन पंच भूतों के स्वरूप के विषय में पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है। वर्तमान विज्ञान भी अपने ढंग से मूल कणों को पांच श्रेणियों में विभाजित करता है। वे हैं- **क्वार्क्स, लेप्टोन्स, बेरियॉन्स, मीजोन्स एवं ऊर्जा**। सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं से मिलकर बनी है। इन पांचों की तुलना पंचभूतों से नहीं हो सकती। उधर सृष्टि में चार पदार्थ ऐसे हैं, जो पंचतत्त्वों का संयोजन व वियोजन करके सृष्टि का निर्माण व विनाश करते हैं। वे चार पदार्थ हैं- **मन, वाक्, सूत्रात्मा-वायु** सहित **प्राणादि दस प्राण** एवं **विभिन्न छन्द रश्मियाँ**। समस्त सृष्टि में विद्यमान सभी प्रकार के बलों का मूल कारणरूप ये चार प्रकार के पदार्थ ही हैं। वर्तमान विज्ञान भी मूल बल चार प्रकार के ही मानता है। वह इन चार बलों के लिए चार प्रकार के Mediator particles को उत्तरदायी बतलाता है। वे क्रमशः हैं-

Strong force के लिए उत्तरदायी कण - gluon
Electro magnetic force के लिए उत्तरदायी कण - photon (γ)
Charged weak force के लिए उत्तरदायी कण - W^{+}
Neutral force के लिए उत्तरदायी कण - Z^{0}

इन चारों की मन, वाक् आदि से तुलना नहीं हो सकती। मन, वागादि तत्त्व इन चार पदार्थों की अपेक्षा अति सूक्ष्म हैं। इनके विषय में पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है।

उपर्युक्त पांचों पदार्थों की क्रिया व व्यवहार पृथक्-२ होता है। किसी भी तेजस्वी पदार्थ कण की संरचना निम्नानुसार होती है-

उसके अन्दर सर्वप्रथम मन, वाक् तत्त्व की परत होती है, पुनः प्राणादि दस प्राणों की, पुनः कण अर्थात् छन्दरश्मियों के सघन रूप की, पुनः छन्द रश्मियों का तेजस्वी आवरण और अन्त में उन पर मन, वाक्, सूत्रात्मा वायु एवं प्राणादि दस प्राणों की सतत वृष्टि होती रहती है। छन्द रश्मियों के आवरण से वह कण तेजस्वी होता है। इसे चित्र से समझें-

चित्र ७.२ तेजस्वी पदार्थ कण की संरचना
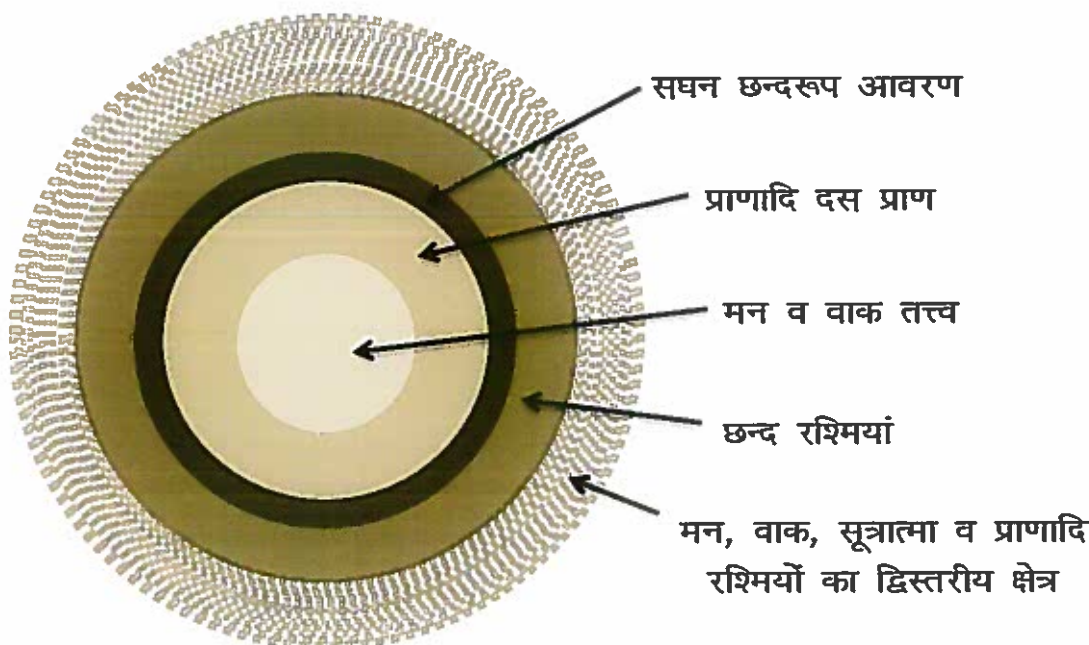
इस संरचना को खण्ड १.३ में दी हुई रचना के साथ तुलना करके और गम्भीरता से समझने का प्रयास करें।

इसके अतिरिक्त कुछ कण ऐसे होते हैं, जो कम प्रकाशित होते हैं। उनकी संरचना में वाहरी छन्द रश्मियों का आवरण नहीं होता। उनकी रचना इस चित्र से समझें-

चित्र ७.३ अल्प प्रकाशित कणों की संरचना
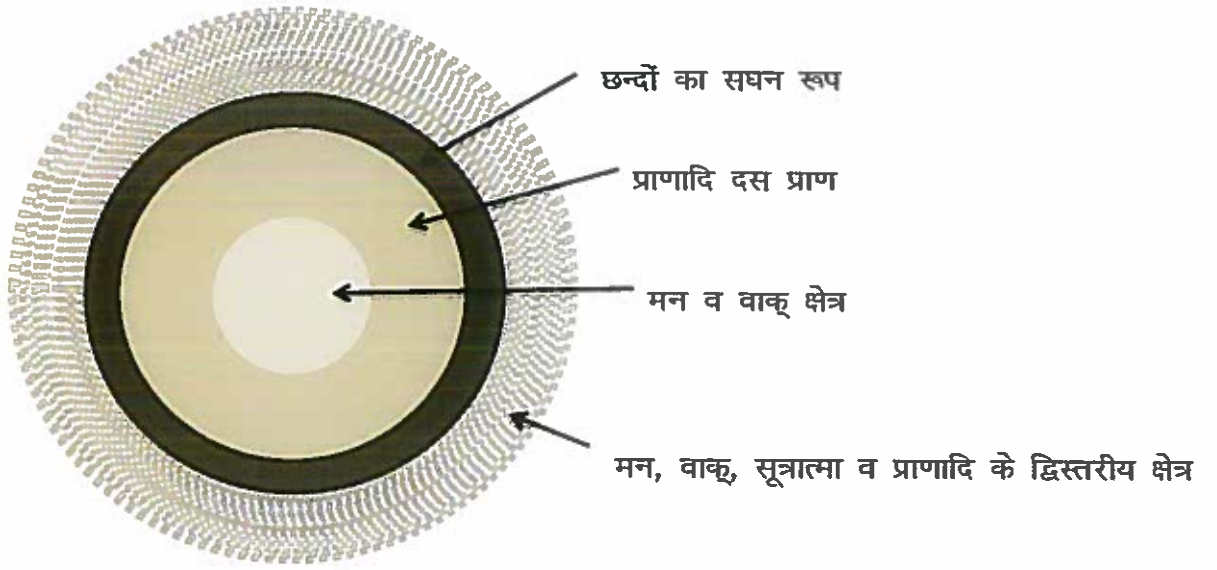
ये कण अल्प प्रकाशित होते हुए भी डार्क मैटर वा डार्क एनर्जी के नहीं होते। ऐसा प्रतीत होता है कि चित्र (७.२) में दर्शाये कण वर्तमान विज्ञान के लेप्टॉन्स हो सकते हैं तथा चित्र (७.३) में दर्शाये कण वर्तमान विज्ञान के क्वार्क्स हो सकते हैं।।

४. अमृतं वा आज्यममृतं हिरण्यं, तत्र स काम उपाप्तो य आज्ये, तत्र स काम उपाप्तो यो हिरण्ये, तत्पञ्च संपद्यन्ते।।

पाङ्क्तोऽयं पुरुषः पञ्चधा विहितो लोमानि त्वङ्मांसमस्थि मज्जा स यावानेव पुरुषस्तावन्तं यजमानं संस्कृत्याग्नौ देवयोन्यां जुहोत्यग्निर्वै देवयोनिः सोऽग्नेर्देवयोन्या आहुतिभ्यः संभूय हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेति।।४।।

{मज्जा = मज्जानः स्वररूपम् (ऐ.आ.३.२.१), (स्वरः = प्राणः स्वरः - तां.७.१.१०; १७.१२.२), मज्जानो ज्योतिस्तद्धि यजुष्मतीनां रूपम् (श.१०.२.६.१८), मज्जति शुन्धतीति मज्जा (उ.को.१.१५६)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त आज्य-संज्ञक मन, वाक् तथा प्राथमिक प्राणादि पदार्थ अमृतस्वरूप होते हैं अर्थात् सृष्टिकाल में इनका विनाश नहीं होता। उधर हिरण्यसंज्ञक छन्दादि रश्मियां भी सर्गपर्यन्त नष्ट नहीं होती।

{अमृतम् = उदकनाम (निघं.१.१२), अमृतं वा ऽआपः (श.१.६.३.७)} यहाँ अमृत होने के अन्य अभिप्राय भी हैं, यथा -

(१) ये पदार्थ सदैव प्राणत्व अर्थात् वल एवं गति से युक्त होते हैं।

(२) ये पदार्थ सर्वत्र व्याप्त जैसा व्यवहार करते हैं। इस सृष्टि में अन्य कार्यरूप जड़ पदार्थों की अपेक्षा इनकी ही व्याप्तता सर्वाधिक होती है। इनमें भी मन की व्याप्तता विशेष होती है।

(३) ये पदार्थ अन्य स्थूल पदार्थों के ऊपर पानी के समान मानो सदैव सिंचित होते रहते हैं।

इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों अर्थात् आज्य व हिरण्य में जो भी आकर्षण-विकर्षण आदि क्रिया होती है, वही उस कण को प्राप्त होती है। इसी आकर्षण-विकर्षण की विविध क्रियाओं तथा इन मन, प्राणादि पदार्थों की मात्रा, अनुपात, दिशा, व्यवस्था के द्वारा पूर्वोक्त पंचभूतादि की सृष्टि हुआ करती है। इन्हीं पंचभूतों से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है।।

पुरुष रूप तारे भी पांच भागों से युक्त होते हैं। उन पांच भागों के नाम लोम, त्वचा, मांस, अस्थि व मज्जा वतलाये गये हैं। तारों के अन्दर ये सभी पदार्थ यथावत् भरे रहते हैं। मज्जा के अतिरिक्त अन्य पदों का वैज्ञानिक स्वरूप खण्ड २.६ व २.६ में पढ़ें। इन तारों के वैदिक वैज्ञानिक स्वरूप में **विभिन्न छन्द रश्मियां ही तारों के लोम हैं।** ये तारों के वहिर्भाग में सतत वाहरी दिशा में प्रवाहित होते रहकर ज्वालाएं उत्पन्न करती रहती हैं। उसके अन्दर उनके भी आधार रूप अन्य छन्द रश्मियों रूप प्राण एवं सूत्रात्मा वायु आदि प्राणों का आवरण सम्पूर्ण तारे को ढके रहता है। **यही तारे की त्वचा के समान होना है।** इसी भाग में असुर तत्त्व, जो नियन्त्रित अवस्था में आकाश तत्त्व के साथ मिश्रित होता है, भी इन्हीं छन्दादि रश्मियों के निकट होता है। ये सभी मिलकर तारे की परिधि का निर्माण करते हैं। यहाँ छन्द व प्राणादि की सघनता से तारे की परिधि अत्युष्ण होती है। उसके पश्चात् तारे का भीतरी भाग, जो केन्द्रीय भाग के ऊपर सतत फिसलता रहता है, होता है। **यह भाग मांस रूप होता अर्थात् इसी में तारों के निर्माण की सम्पूर्ण सामग्री अवस्थित होती है तथा तारों का अधिकांश वल इसी भाग में कार्य करता है।** इसी भाग में मास व ऋतु संज्ञक रश्मियां अनेक छन्दादि प्राणों के साथ विद्यमान होती हैं। इसी भाग में **विभिन्न प्रक्षेपणशील किरणें अस्थिरूप होती हैं, जो सम्पूर्ण तारे को मानो धारण करती हैं। सम्भवतः त्रिष्टुप् एवं जगती रश्मियां इस कार्य को सम्पादित करती हैं। तारों का केन्द्रीय भाग,** जो अत्यन्त शुद्धरूप में विभिन्न प्राणों व कणों का भण्डार होता है तथा **ज्योतिर्मयी संयोजक रश्मियों से भरा होता है, मज्जा कहलाता है। यह भाग ही सम्पूर्ण तारे के वल का केन्द्र है, यही ज्योति का केन्द्र है।** इस प्रकार पांच प्रकार के पदार्थों से वना हुआ जो तारा होता है, वह सवके संयोजक मन व वाग्रूपी तेजस्वी पदार्थों के द्वारा संस्कृत होकर विभिन्न देवपदार्थों के उत्पत्ति व निवास स्थल अग्नि में अपनी आहुति सतत देता रहता है। अग्नि ही सभी प्रकाशित व आकर्षणयुक्त पदार्थों का उत्पत्ति व निवास स्थान है। यद्यपि सभी तारे मुख्यतः अग्नि तथा सोम दो प्रकार के पदार्थों से मिलकर वने हैं। पुनरपि सोम भी जव अग्निमय हो जाता है, तभी तारों का स्वरूप निर्मित होने लगता है। इसी कारण अग्नि को ही देवयोनि कहा है। विभिन्न प्रकार के कण, जो तारे के विभिन्न भागों में
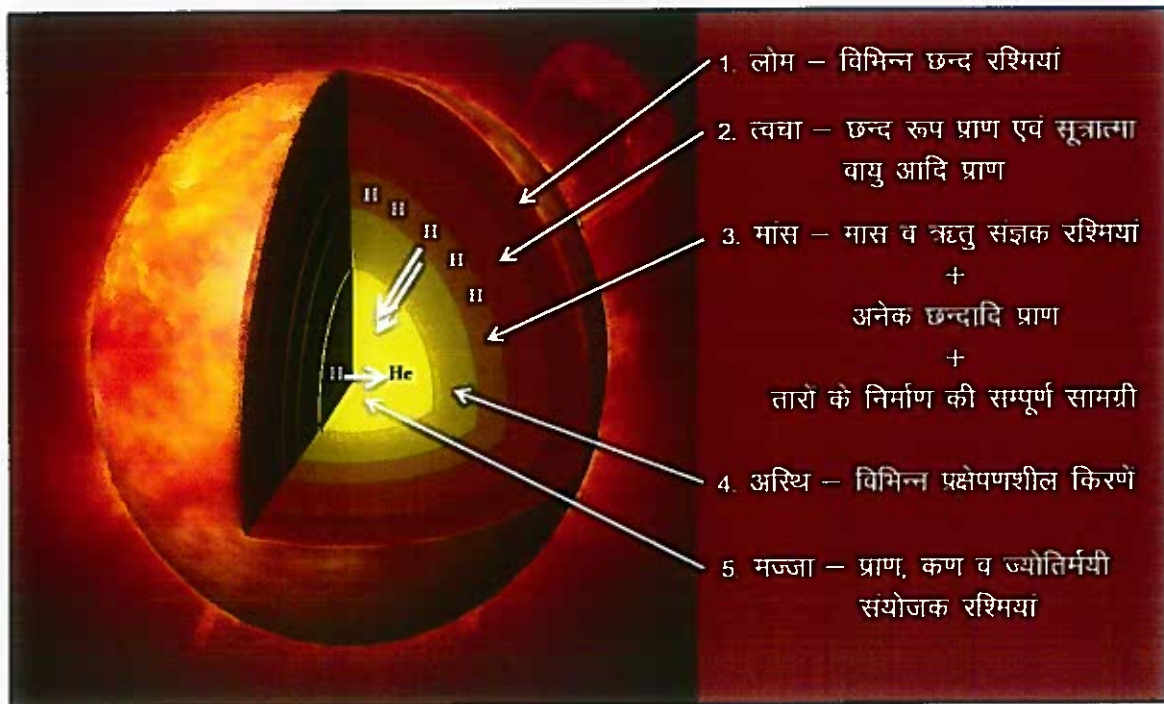
चित्र ७.४ प्रकाशित लोकों की संरचना

दूर-२ तक फैले रहते हैं, वे ऐसे देवयोनिरूप अग्नि में अपनी आहुति देकर अत्यन्त तेजस्वी हो जाते हैं। वे विविध छन्दरश्मियों का भी आश्रय ले लेते हैं। इस प्रकार वे तारों के अति तेजस्वी केन्द्रीय भाग की ओर पहुँचते रहते हैं। वहाँ पहुँचकर वे विविध प्रकार के प्राणों के साथ संयुक्त होकर परस्पर संगत होकर नाना तत्त्वों का निर्माण करते रहते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- मन, वाक्, प्राण व छन्दादि रश्मियां सृष्टि काल में नष्ट नहीं होती हैं। वे पदार्थ सतत गति करते हुए बल व हल्की अदृश्य दीप्ति से युक्त होते हैं। वे सम्पूर्ण सृष्टि में फैले होते हैं। ये पदार्थ अन्य स्थूल पदार्थों पर अपनी अत्यन्त सूक्ष्म रश्मियां बिखेरते रहते हैं। इनकी रश्मियों के कारण ही सृष्टि के सभी पदार्थों में आकर्षण आदि बल उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के रश्मि-अनुपात भेद, दिशाक्रम भेद, मात्रा भेद के कारण ही सृष्टि के विभिन्न कण व तरंगों का निर्माण होता है। तारों के भी मुख्य पांच भाग होते हैं। सर्वप्रथम **तारों के ऊपरी तल पर ऊँची उठती हुयी तेज ज्वालाएं, जिनमें छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।** उसके नीचे **कोरोना, जो अति तप्त भाग तथा तारों की परिधि के समान होता है। इसमें विभिन्न छन्दरश्मियां एवं सूत्रात्मा वायु की प्रधानता होती है।** इस भाग में डार्क एनर्जी व डार्क मैटर की नियन्त्रित परत आकाश तत्त्व में मिश्रित होकर विद्यमान रहती है, जो तारे की परिधि के निर्माण में सूत्रात्मा वायु आदि का किंचित् सहयोग करती है। **इसके नीचे तारे का सर्वाधिक विस्तृत भाग होता है,** जिसमें उसके निर्माण की सारी सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती है। इनमें **विभिन्न छन्द रश्मियां, मास व ऋतु रश्मियां भरी होती हैं। इस भाग में हाइड्रोजन के नाभिक अत्यधिक मात्रा में भरे रहते हैं** तथा इलेक्ट्रॉन्स भी उसी अनुपात में रहते हैं परन्तु वे मुक्तावस्था में रहते हैं। इसी भाग में त्रिष्टुप् व जगती रश्मियां तीक्ष्ण तीव्र बलयुक्त विद्यमान होती हैं। इस क्षेत्र में तीव्र विद्युत् धाराएं प्रवाहित होती रहती हैं। अन्त में **तारों का केन्द्रीय भाग होता है, जो अतिज्योतिर्मय एवं सभी बलों का केन्द्र होता है।** इसी भाग में बाहरी पदार्थ, विशेषकर हाइड्रोजन के नाभिक प्रवाहित होते रहते हैं, जो संलयित होकर हीलियम में परिवर्तित होकर ऊर्जा उत्पन्न करते रहते हैं। अनेक तारों में हीलियम आदि भी संलयित होकर अन्य बड़े नाभिकों का निर्माण करते हैं।।

इति ७.४ समाप्तः

अथ ७.५ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. देवेभ्यः प्रातर्यावभ्यो होतरनुब्रूहीत्याहाध्वर्युः।।
एते वाव देवाः प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ त एते सप्तभिः सप्तभिश्छन्दोभिरागच्छन्ति।।
आऽस्य देवाः प्रातर्यावाणो हवं गच्छन्ति य एवं वेद।।

{प्रातः = प्रकृष्टमतति गच्छतीति प्रातः (उ.को.५.५६), प्रातरनुवाकः = प्रजापतेर्वा एतदुक्थं यत्प्रातरनुवाकः (मै.४.५.३), (उक्थं = वागुक्थम् - ष.१.५; पशव उक्थाग्नि - मै.४.४.१०; ऐन्द्राग्नानि ह्युक्थानि - श.४.२.५.१४; उक्थमिति बह्वृचाः एष हीदं सर्वमुत्थापयति - श. १०.५.२.२०)}

व्याख्यानम्- अतिशीघ्रता से ब्रह्माण्ड में व्याप्त वा सतत गति करने वाले विभिन्न दिव्य कणों को विशेषरूप से संगत करने के लिए मन और वाक् रूपी अध्वर्यु विभिन्न प्राण-अपानादि प्राथमिक प्राणों एवं ऋषि संज्ञक सूक्ष्म प्राणों को अग्रलिखित छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करते हैं। पूर्व में हम जहाँ-२ भी विभिन्न कणों के संयोग आदि की चर्चा करते आए हैं, उस संयोग को त्वरित गति प्रदान करने के लिए इन छन्द रश्मियों का उपयोग होता है।।

{उषाः = दाहनिमित्तशीला (म.द.ऋ.भा.१.४६.१), उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः, उच्छतेरितरा माध्यमिका (नि.१२.५)}

अग्नि, उषा और अश्विनौ अर्थात् विद्युद् अग्नि, सुन्दर प्रकाश और ऊष्मा युक्त रश्मियाँ, विभिन्न प्राणापानादि प्राण रश्मियाँ किंवा प्रकाशित व अप्रकाशित कण, ये तीनों दिव्य पदार्थ प्रकृष्ट वेग से गति करने और व्याप्त होने वाले होते हैं। ये तीनों सात-२ छन्द रश्मियों के साथ गति करते हैं। यहाँ आचार्य सायण ने उन इक्कीस ऋचाओं का परिगणन निम्न प्रकार किया है। जिन पर हम अपने आधिदैविक दृष्टिकोण से क्रमशः विचार करते हैं -

(१) राहूगणो गोतमः ऋषि प्राण अर्थात् धनंजय प्राण द्वारा उपर्युक्त मन एवं वाग्रूप अध्वर्यु की प्रेरणा से अग्निदेवताक एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते।। (ऋ.१.७४.१)

की उत्पत्ति होती है, जिसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विद्युदग्नि तीव्र तेजस्वी और वलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न कणों को विद्युदावेश से युक्त करने के लिए विभिन्न छन्द रश्मियाँ, जो उन कणों के निकट वा दूर विद्यमान होती हैं, सहज भाव से एवं निरापद रूप से उन कणों को तेजस्वी वाक् तत्त्व से युक्त करती हैं।

(२) उपर्युक्त मन और वाग्रूप अध्वर्यु की प्रेरणा से प्रस्कण्वः काण्व ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से अग्निदेवताक एवं भुरिगुष्णिक् छन्दस्क

त्वम॑ग्ने वसूँरिह रुद्राँ आ॑दित्याँ उत। यजा॑ स्वध्वरं जनं मनु॑जातं घृतप्रुषम्।। (ऋ.१.४५.१)

की उत्पत्ति होती है। {उष्णिक् = उष्णिक् उष्णिगुत्स्नाता भवति, स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः (नि.७.१२), घृतप्रुषः = (घृतोपपदे प्रुष स्नेहन-सेचन-पुरणेषु धातोः क्विप् - वै.को.- आ.राजवीर शास्त्री)}। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विद्युदग्नि उत्कृष्ट रूप से आकर्षक और प्रतिकर्षक बलयुक्त हो जाता है। इसके अन्य प्रभाव से सबको बसाने वाले प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण भेदक शक्तिसम्पन्न विविध प्रकार के रुद्र प्राण एवं मास किंवा ऋतु संज्ञक विभिन्न रश्मियाँ एवं घृतप्रुष अर्थात् संदीप्त तेज से परिपूरित अपनी सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा विविध पदार्थों को सिक्त और पूर्ण करने वा मनस्तत्त्व से उत्पन्न विभिन्न प्राण अति सहजतापूर्वक विभिन्न पदार्थों का यजन करने में सक्रिय होते हैं।

(३) उपर्युक्त मन और वाक् से बुधगविष्ठिरावात्रेयावृषी अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न ज्वलनशील किरणों में स्थित रहने वाले रश्मिप्राणद्वय से अग्निदेवताक एवं निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म्।
य॒ह्वाइ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑।। (ऋ.५.१.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विद्युदग्नि अति तीक्ष्ण और तेजस्वी हो जाता है। {यह्व = महन्नाम (निघं.३.३), यजतीति यह्वः यजमानो वा, जकारस्य हकारः (उ.को.१.१५४)} इसके अन्य प्रभाव से अग्नि तत्त्व विभिन्न प्राणरूप समिधाओं के द्वारा प्रज्ज्वलित होता एवं उसकी किरणें विभिन्न उत्पन्न पदार्थों में व्याप्त होती हैं। वे किरणें प्रकाश और ऊष्मा के रूप में व्याप्त होकर विशाल अन्तरिक्ष को अच्छे प्रकार भरती हैं।

(४) पूर्वोक्त प्रेरणा से वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से अग्निदेवताक एवं स्वराडनुष्टुप् छन्दस्क

ए॒ना वो॑ अ॒ग्निं नम॑सो॒र्जो नपा॑त॒मा हु॑वे। प्रि॒यं चेति॑ष्ठमर॒तिं स्व॑ध्व॒रं विश्व॑स्य दू॒तम॒मृत॑म्।। (ऋ.७.१६.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। {अरतिः = प्रापकः (म.द.ऋ.भा.२.२.२), सर्वत्र प्राप्तः (म.द.ऋ.भा.४.२.१), समर्थः (म.द.ऋ.भा.२.४.२)} इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से अग्नि के परमाणु विभिन्न कणों को थामने में विशेष समर्थ एवं बल और तेज से युक्त होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से वह ऐसा अग्नि तत्त्व अपनी वज्ररूप किरणों के द्वारा अक्षय पराक्रम को धारण करके विशेष रूप से सबको सक्रिय करने वाला सब जगह व्यापक विभिन्न कर्मों को सहज भाव से करने वाला सम्पूर्ण सृष्टिकाल तक सृष्टि के विभिन्न कार्यों का साधक होता है।

(५) उपर्युक्त प्रेरणा से राहूगणो गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण से अग्निदेवताक एवं आर्च्युष्णिक् छन्दस्क

अग्ने॒ वाज॑स्य॒ गोम॑त॒ ईशा॑नः सहसो यहो। अ॒स्मे धे॑हि जातवेदो॒ महि॒ श्रवः॑।। (ऋ.१.७९.४)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव को द्वितीय ऋचा के समान समझें। इसके अन्य प्रभाव से प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान विद्युदग्नि से उत्पन्न बलवान् एवं गतिमानों में श्रेष्ठ विभिन्न संयोज्य कणों को अपने नियन्त्रण में लेने वाले प्राणादि पदार्थ उन कणों में बल और सामर्थ्य को धारण कराते हैं। {श्रवः = सामर्थ्यम् (म.द.ऋ.भा.१.१०२.२)}

(६) उपर्युक्त प्रेरणा से सोम पदार्थ को धारण करने वाले सूत्रात्मा वायु रूप सुतम्भरं आत्रेय ऋषि से अग्निदेवताक एवं निचृत् जगती छन्दस्क

जन॑स्य गो॒पा अ॑जनिष्ट॒ जागृ॑विर॒ग्निः सु॒दक्षः॑ सुवि॒ताय॒ नव्य॑से।
घृ॒तप्र॑तीको बृह॒ता दि॑वि॒स्पृशा॑ द्यु॒मद्वि भा॑ति भर॒तेभ्यः॒ शुचिः॑।। (ऋ.५.११.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व व्यापक होता है और उसके उत्सर्जन, अवशोषण की प्रक्रिया अति तीव्र होने लगती है। इसके अन्य प्रभाव से अग्नि तत्त्व, जो विभिन्न उत्पन्न कणों की रक्षा करता है और उन्हें सक्रिय करके अच्छे प्रकार बलवान् बनाता एवं बार-२ संदीप्त तेज को उनमें व्याप्त कराता, उनका शोधन एवं प्रज्ज्वलन करते हुए आकाश तत्त्व को निकटता से स्पर्श करता है एवं विभिन्न बलों के धारण और पोषण करने वाले प्राणों के द्वारा उत्पन्न और प्रकाशित होता है।

(७) उपर्युक्त प्रेरणा से वसुश्रुत आत्रेय ऋषि अर्थात् विभिन्न द्रव्यों में गति करने वाले सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक सूक्ष्म प्राण विशेष से अग्निदेवताक एवं निचृत् पंक्ति छन्दस्क

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽ स्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर।। (ऋ.५.६.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से विद्युदग्नि भेदक शक्तिसम्पन्न होते हुए अति विस्तृत क्षेत्र में फैलता जाता है। इसके अन्य प्रभाव से सभी कणों में व्याप्त विद्युदग्नि अपनी रश्मियों को तीव्रता से चतुर्दिक् प्रक्षिप्त करता रहता है। ये रश्मियाँ अविनाशी वेग से युक्त होकर तीव्रगति से चलने वाली एवं विभिन्न कणों को प्रेरणा करने वाली होती हैं। इन रश्मियों से प्रकाशित वा प्रेरित विभिन्न प्रकार के संयोज्य कण सब ओर से संयोगादि प्रक्रियाओं को धारण करते हैं।

ये सातों छन्द रश्मियाँ विद्युदग्नि के साथ संयुक्त होकर उसे अपने प्रभावों से प्रभावित करते हुए उसके साथ ही गमन करती हैं।

(८) उपर्युक्त प्रेरणा से वामदेव ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उषादेवताक एवं निचृद्गायत्री छन्दस्क

प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः। दिवो अदर्शि दुहिता।। (ऋ.४.५२.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सुन्दर कान्तियुक्त ऊष्मा तीव्र तेज से युक्त होती है। इसके अन्य प्रभाव से {सूनरी = या सुष्ठु नयति सा (म.द.ऋ.भा.१.४८.५), सूनरी उषोनाम (निघं.१.८)। स्वसा = अंगुलिनाम (निघं.२.५), सुष्ठ्वस्यतीति स्वसा (उ.को.२.९८), सु असा स्वेषु सीदतीति वा (नि.११.३२)। दुहिता = किरणः (म.द.ऋ.भा.४.५१.१०), कान्तिरुषा (म.द.ऋ.भा. १.११६.१७), दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा (नि.३.४), स्या = सा (म.द.भा), व्युच्छन्ती = निवासयन्ती (म.द.भा)} सुन्दर कान्ति और ऊष्मायुक्त किरणें, जो कठिनाई से धारण करने योग्य होती हैं तथा विभिन्न कणों को अच्छी प्रकार ले जाती हुई किंवा उनको अपने अन्दर निवास देती हुई अपनी शक्तियों से भरती रहती हैं। ऐसी किरणें उन कणों के सम्मुख आकर उन्हें आकर्षित करती हैं।

(९) पूर्वोक्त प्रेरणा से प्रस्कण्व ऋषि {प्र = अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.२.४१), प्राणो वै प्र (ऐ.२.४०)। प्सु = रूपनाम (निघं.३.७)} अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण और सूत्रात्मा वायु से आकाश तत्त्व में उत्पन्न सूक्ष्म प्राण से उषा देवताक एवं निचृदनुष्टुप् छन्दस्क

उषो भद्रेभिरा गहि दिवश्चिद्रोचनादधि। वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम्।। (ऋ.१.४९.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सुन्दर कान्ति और ऊष्मायुक्त तरंगें तीव्र तेज और स्तम्भक शक्तियुक्त होती हैं। इसके अन्य प्रभाव से वे प्रकाशमान किरणें विभिन्न संयोज्य कणों के साथ व्याप्त हो जाती हैं। वे तरंगें सब ओर से प्रकाशमान हुए अरुण रंग वाले सोम पदार्थ के निवास स्थानों को प्राप्त करती हैं।

(१०) उपर्युक्त प्रेरणा से आङ्गिरसः कुत्स ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उत्पन्न तीक्ष्ण वज्र रूप तरंगों से उषादेवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥ (ऋ.१.११३.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से प्रकाश व ऊष्मायुक्त किरणें अति तीक्ष्ण तेज और बलयुक्त होती हैं। {आरैक् = अरिचत् (नि.२.१६), प्रारिचत् (नि.३.६)} इसके अन्य प्रभाव से इस सृष्टि में अच्छी प्रकार उत्पन्न सोम पदार्थ रूपी रात्रि, प्राथमिक प्राणों से युक्त होकर प्रेरक कान्तिमयी दाहयुक्त किरणों के स्थान को शुद्ध करती है, उसी प्रकार अद्भुत् गुणों से युक्त प्रकृष्ट रूप से प्रकाशमान उषा रूप किरणें विभिन्न ज्योतिर्मयी किरणों के बीच विशेष प्रकाशित होती हैं। ऐसी वे किरणें अपनी व्यापकता के साथ सब ओर उत्पन्न होती हैं।

(११) उपर्युक्त प्रेरणा से वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उषादेवताक एवं विराड् बृहती छन्दस्क

प्रत्यु अदर्श्यायत्यु१च्छन्ती दुहिता दिवः। अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी॥ (ऋ.७.८१.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से कान्ति व ऊष्मा से युक्त तरंगें तीव्रता से व्याप्त होती तथा तेज से अधिक सम्पन्न होती जाती हैं। {व्ययति = जाना, हिलना - जुलना (आप्टे कोष)। ज्योतिः = प्राणो वै ज्योतिः (श.८.३.२.१४)} इसके अन्य प्रभाव से प्राण नामक प्राथमिक प्राण व्यापक अन्धकार में व्याप्त होकर प्रकाश हेतु सुन्दर कान्ति व कठिनाई से धारण करने योग्य ऊष्मामयी किरणों को अन्तरिक्ष में विद्यमान तन्मात्राओं में फैलाकर सबको प्रकाशित करता है, जिससे सम्पूर्ण आकाश प्रकाशित हो उठता है।

(१२) उपर्युक्त प्रेरणा से राहूगणो गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण से उषादेवताक निचृत्परोष्णिक् छन्दस्क

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं च तनयं च धामहे॥ (ऋ.१.९२.१३)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस तथा दैवत प्रभाव से कान्तिमयी ऊष्म किरणें उत्कृष्ट आकर्षण बल से युक्त होती हैं किंवा वे विभिन्न प्राण रश्मियों से अधिक संसिक्त हो जाती हैं। इसके अन्य प्रभाव से वे किरणें अपने बल के द्वारा विभिन्न कणों को धारण करके संयोगादि क्रियाओं को सब ओर से धारण करके विस्तृत करती हैं।

(१३) उपर्युक्त प्रेरणा से उपर्युक्त देवता वाली तथा निचृज्जगती छन्दस्क

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥ (ऋ.१.९२.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से कान्तिमयी ऊष्म किरणें व्यापक रूप से फैलती हुई उत्सर्जन व अवशोषण का तीव्र रूप धारण करती हैं। इसके अन्य प्रभाव से {त्याः = दूरलोकस्था अप्रत्यक्षाः (म.द.भा.), अर्धम् = अर्धकम् (म.द.ऋ.भा.६.४७.२१), हरतेर्विपरीतात्, धारयतेर्वा स्याद्, उद्धृतं भवति, ऋध्नोतेर्वा स्यात्, ऋद्धतमो विभागः (नि.३.२०)। पूर्वम् = पुरस्सरं पूर्णम् (म.द.य.भा.४०.४)} प्रत्यक्ष वा निकटस्थ एवं दूरस्थ जो लोक पूर्णरूपेण विकसित हो चुके होते हैं, को ये कान्ति व ऊष्मायुक्त तरंगें प्रकाशित करती हैं। वे किरणें क्षत्रियों के अस्त्रों की भाँति चहुँदिश तीव्रता से गमन करती हुई बार-२ अन्तरिक्ष को लालवर्णयुक्त करती हैं।

(१४) उपर्युक्त प्रेरणा से सत्यश्रवा आत्रेय ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विभिन्न पदार्थों को जलवृष्टि के समान अपनी प्राण बल रश्मियों से सिंचित करने वाले सूक्ष्म प्राण से उषादेवताक एवं स्वराड् ब्राह्मी गायत्री छन्दस्क

महे नों अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते।। (ऋ.५.७९.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से उषा किरणें अति व्यापक क्षेत्र में फैलकर अपने बल व तेज को सबमें व्याप्त करती हैं। इसके अन्य प्रभाव से {वाय्ये = तन्तुसदृशे सन्ताननीये विस्तारणीये सन्ततिरूपे (म.द.भा.), गमनीये (म.द.ऋ.भा.५.७९.३)। सूनृता = उषोनाम (निघं.१.८), अन्ननाम (निघं.२.७), वाङ्नाम (निघं.१.११)। अश्वम् = महन्नाम (निघं.३.३)} वे कान्तिमयी ऊष्मा तरंगें धागे के समान विस्तृत अन्तरिक्ष में फैलकर विभिन्न कणों को अपने तेज से आच्छादित करती हैं। वे किरणें उन कणों को व्यापक रूप से प्रकाशित व सक्रिय करती हैं।

ये उपर्युक्त सात छन्द रश्मियाँ कान्तिमयी ऊष्मा तरंगों के साथ उन्हें आच्छादित करते हुए गमन करती हैं। इनके कारण उन किरणों में इन रश्मियों का प्रभाव उपर्युक्तानुसार होता जाता है।

(१५) उपर्युक्त प्रेरणा से प्रस्कण्व ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से अश्विनौ-देवताक एवं विराड्गायत्री छन्दस्क ऋचा

एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्।। (ऋ.१.४६.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राणापान वा प्राणोदान तेज व बलों को और भी देदीप्यमान बनाते हैं। इसके अन्य प्रभाव से कान्ति व ऊष्मा से युक्त वे तरंगें, जो पूर्णरूपेण प्रकाशित नहीं हो पाती हैं, परन्तु उनका आकर्षक बल पर्याप्त होता है, इस छन्द रश्मि के साथ प्राणापान के योग से ये व्यापकरूपेण प्रकाशित हो उठती हैं।

(१६) उपर्युक्त प्रेरणा से पौर आत्रेय ऋषि {पुरः = मन एव पुरः (श.१०.३.५.७), लेखा हि पुरः (श.६.३.३.२५), लेखा = रेखा, किनारी - आप्टे कोष)} अर्थात् सूत्रात्मा वायु के किनारे पर स्थित मनस्तत्त्व से उत्पन्न सूक्ष्म प्राण से अश्विनौ-देवता व निचृदनुष्टुप् छन्द वाली

यदद्य स्थः परावति यदर्वावत्यश्विना। यद्वा पुरू पुरुभुजा यदन्तरिक्ष आ गतम्।। (ऋ.५.७३.१)

ऋचा उत्पन्न होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राणापान व प्राणोदान तीव्रता से देदीप्यमान बलों को उत्पन्न करते हैं। इसके अन्य प्रभाव से वे प्राणापान व प्राणोदान निकट वा दूर आकाश में जो भी असंख्य कण वा तरंगें विद्यमान होती हैं, उन सबको व्याप्त करके अधिक सक्रिय बनाते हैं।

(१७) उपर्युक्त प्रेरणा से अत्रि ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से अश्विनौ-देवताक एवं स्वराट्पंक्तिश्छन्दस्क

आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणां देवया वाचो अस्थुः।
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छ।। (ऋ.५.७६.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राणापान एवं प्राणोदान की उपर्युक्त सक्रियता अति विस्तृत क्षेत्र में फैलकर प्रकाशशीलता को समृद्ध करती है। इसके अन्य प्रभाव से प्राणापान एवं प्राणोदान, जो विभिन्न छन्दादि रश्मियों वा तरंगों को वहन करने में अग्रगण्य होते हैं, वे विप्र अर्थात् विभिन्न ऋषि प्राण रश्मियों {एते वै विप्रा यद् ऋषयः (श.१.४.२.७)} में विद्यमान दिव्य वाक् तत्त्व एवं सुन्दर कान्ति व ऊष्मा से युक्त तरंगों की सेना, जो सतत उत्कृष्ट रूप से प्रकाशित होती रहती है, से संयुक्त होकर विभिन्न प्रकार से सर्गयज्ञ को अच्छे प्रकार समृद्ध करते रहते हैं।

(१८) उपर्युक्त प्रेरणा से वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से अश्विनौ-देवताक तथा निचृद् बृहती छन्दस्क ऋचा

इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना। अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः।। (ऋ.७.७४.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राणापान एवं प्राणोदान तीव्रता से सभी कणों वा तरंगों के चारों ओर आच्छादित होने लगते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {शचीवसू = शचीं प्रज्ञां वासयितारौ (ऋ.१.१३९.५), (शची = प्रज्ञानाम - निघं.३.९, कर्मनाम - निघं.२.१)। उस्रा = रश्मिनाम (निघं.१.५)} प्राणापान व प्राणोदान, जो विभिन्न कणों वा तरंगों में तेजस्विता व सक्रियता को वसाने वाले होते हैं, संगमनीय कणों वा तरंगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसके कारण वे सभी उत्पन्न कणों वा तरंगों में व्याप्त होकर उनकी रक्षा करते हैं। इसलिए वे सभी कण वा तरंगें उन प्राणापान व प्राणोदान के द्वारा सतत आकर्षित होती रहती हैं।

(१९) उपर्युक्त प्रेरणा से राहूगणपुत्रो गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण द्वारा उषादेवताक एवं उष्णिक् छन्दस्क

अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत्। अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम्।। (ऋ.१.९२.१६)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से कांति व ऊष्मा से युक्त रश्मियां उत्कृष्ट आकर्षक होती हैं। {दस्रा = दातारौ (म.द.ऋ.भा.१.११६.१०), शत्रूणामुपक्षेतारौ (म.द.ऋ.भा.१.४७.६), दर्शनीयौ (नि.६.२६)। वर्तिः = वर्त्तन्ते व्यवहरन्ति यस्मिन्मार्गे तम् (म.द.ऋ.भा.१.३४.४)।} इसके अन्य प्रभाव से प्राणापान एवं प्राणोदान, जो अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायुरूपी बाधक रश्मियों को नष्ट करने वाले तथा सब कणों वा तरंगों को वल प्रदान करने वाले होते हैं, सदैव मनस्तत्त्व के साथ वर्तमान होकर अनेक सूक्ष्म तेजयुक्त रश्मियों से युक्त होकर इस अन्तरिक्ष में सभी कणों वा तरंगों के मार्गों का नियन्त्रण करते हैं।

(२०) उपर्युक्त प्रेरणा से दीर्घतमा ऋषि {दीर्घम् द्राघतेः (नि.२.१६) (द्राघ समार्थ्ये आयामे च)। चन्द्रः = चन्द्रं हिरण्यम् (तै.ब्रा.१.७.६.३), चन्द्रा ह्यापः (तै.ब्रा.१.७.६.३), हिरण्यनाम (निघं.१.२)।} अर्थात् एक शक्तिशाली फैलते हुए चलने वाले एवं व्यापक सूक्ष्म प्राण विशेष से अश्विनौ-देवता तथा त्रिष्टुप् छन्द वाली ऋचा

अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा।
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत्पृथक्।। (ऋ.१.१५७.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से प्राणापान एवं प्राणोदान तीक्ष्ण वल व तेज की उत्पादक त्रिष्टुप् रश्मियों को समृद्ध करते हैं। इसके अन्य प्रभाव से अग्नितत्त्व की उत्पत्ति होती है और भूलोक तथा तारे पृथक्-२ होने में समर्थ होते हैं। चमकती हुई ऊष्मायुक्त तरंगें व्यापक क्षेत्र में फैलकर सवको प्रकाशित करती हैं। विभिन्न तारों की किरणें सम्पूर्ण जगत् को प्रेरित करती हैं। इन सभी कर्मों में प्राणापान व प्राणोदान की भूमिका रहती है।

(२१) उपर्युक्त प्रेरणा से अवस्युरात्रेय ऋषि {अवस्युः = आत्मनोऽवो रक्षणमिच्छुः (म.द.ऋ.भा.५.३१.१०)} अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न ऐसे सूक्ष्म प्राण, जो अन्य प्राणों से पृथक् वने रहना चाहते हैं अर्थात् जो एकाकी रहने की प्रवृत्ति वाला होता है, से अश्विनौ-देवता तथा पंक्तिश्छन्द वाली

प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषिः स्तोमेन प्रति भूषति माध्वी मम श्रुतं हवम्।। (ऋ.५.७५.१)

ऋचा की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राणापान एवं प्राणोदान अतीव विस्तृत क्षेत्र में सक्रिय हो उठते हैं। इसके अन्य प्रभाव से वे प्राणापान व प्राणोदान विभिन्न प्रकाशित व सुस्पष्ट मार्गों पर चलकर किंवा ऐसे मार्ग वनाते हुए अन्य ऋषि प्राणों अर्थात् अन्य प्राथमिक प्राणों तथा विभिन्न

ऋषि प्राणों को प्रकाशित व सक्रिय करते हैं। इस कारण वे अत्यन्त आकर्षक वलों की वृष्टि करके विभिन्न द्रव्यों को वहन करते तथा उन्हें सुशोभित करते हुए उनके प्रति गमन करते हैं।

इन सात छन्द रश्मियों का विशेष प्रभाव प्राणापान व प्राणोदान नामक सूक्ष्म प्राणों पर होता है, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया ही बलवती व गतिमती हो जाती है। यहाँ **'अश्विनी'** पद का अर्थ प्रकाशित व अप्रकाशित कण ग्रहण करने पर यह भी स्पष्ट होगा कि इस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित व अप्रकाशित दो भागों में व्यक्त हो जाता है अर्थात अग्नि तत्त्व की अपेक्षा बड़े परन्तु अप्रकाशित स्वरूप वाले जल व पृथिवी आदि के परमाणु भी उत्पन्न हो जाते हैं।।

जब इस प्रकार से उपर्युक्त इक्कीस छन्द रश्मियां तीन भागों में विभक्त होकर उपर्युक्त तीन प्रकार के पदार्थों से संगत होकर चलती हैं, तब इस सृष्टि में अति प्रकृष्ट वेगवान् तीनों प्रकार के पदार्थ सबको व्याप्त करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में विद्युद् आवेशित अथवा न्यूट्रिनो आदि सूक्ष्म कण, जो तरंगों के समान व्यवहार करते हैं, विद्युत् चुम्बकीय तरंगें तथा प्राणापान आदि प्राण रश्मियां अति तीव्रता से गति करने वाली होती हैं। इन तीनों को और भी सक्रिय गतिशील एवं प्रभावी बनाने हेतु मन व वाक् तत्त्वों के मिथुन की प्रेरणा से विभिन्न ऋषि प्राण २१ प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करते हैं। वे इक्कीस प्रकार की रश्मियां क्रमशः सात-२ के समूह में उपर्युक्त तीनों प्रकार के वेगवान् पदार्थों के साथ संगत होकर उन्हें प्रभावी बनाती हैं। इनका विस्तार व्याख्यान में देखें। इसके प्रभाव से विद्युदावेशित कण वा न्यूट्रिनो आदि कण तेजस्वी होकर अधिक गतिशील होते हैं। उनमें परस्पर आकर्षणादि बल बढ़ जाता है। संयोगादि प्रक्रिया समृद्ध होती है। अन्तरिक्ष में प्रकाश व ऊष्मा में वृद्धि होती है। वे किरणें विभिन्न कणों को धारण करने में अधिक समर्थ होती तथा उन्हें अधिक सक्रिय करती हैं। अन्तरिक्ष में विभिन्न कण शुद्ध रूप में प्रकट होते तथा अधिक प्रकाशित होते हैं। इन किरणों वा तरंगों का वेग नष्ट न होने वाला होता है अर्थात् सृष्टिकाल पर्यन्त यथावत् बना रहता है। ये तरंगें व्यापक क्षेत्र में फैलती जाती और संयोगादि कर्मों को विस्तार देती जाती हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विशेषकर दृश्य प्रकाश व अवरक्त किरणों की बहुलता होती है। ये किरणें विभिन्न कणों के साथ संयुक्त होकर उन्हें भी प्रकाशित व तीव्र गतिशील बनाने में सहायक होती हैं। ये तरंगें उन कणों को सम्मुख लाकर आकर्षित करती हैं। उस समय आकाशस्थ पदार्थ का रंग अरुण हो जाता है। इस प्रकार की लाल रंग की कान्ति इस ब्रह्माण्ड में दूर-२ तक फैलने लगती है। इन विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को रोकना कठिन होता है, क्योंकि इसका वेग अत्यधिक होता है। ये किरणें भी विभिन्न कणों के साथ क्रिया करके उनकी ऊर्जा में वृद्धि करके संयोग-वियोग प्रक्रिया को बढ़ावा देती हैं। ये विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विभिन्न लोक लोकान्तरों को प्रकाशित करके उन्हें दृश्य बनाती हैं। ये किरणें चारों ओर बड़े वेग से निर्बाध चलती रहती हैं। वे किरणें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अपने ताने-बाने को बुनती रहती हैं। वे परस्पर भी आपसी आकर्षण से अत्यल्पांश में बंधी भी रहती हैं। प्राणापान व प्राणोदान इन सभी रश्मियों, छन्द रश्मियों को सक्रिय करके विभिन्न कणों को भी सक्रिय करते रहते हैं। विभिन्न छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर अनेक प्रकार की संगति-क्रियाओं को संचालित करती हैं।

विभिन्न कणों, तरंगों, छन्दादि रश्मियों के ऊपर प्राणापान व प्राणोदान रूपी अति सूक्ष्म रश्मियों की वर्षा सतत होती रहती है। प्राणापान व प्राणोदान स्वयं भी मन व वाक् तत्त्व के द्वारा प्रेरित होकर डार्क एनर्जी के बाधक प्रभाव को नष्ट वा नियन्त्रित करने में अन्तिम व सूक्ष्मतम स्तर की भूमिका निभाते तथा विभिन्न कणों, तरंगों वा छन्द रश्मियों को निरापद मार्ग प्रदान करने में सहायक होते हैं। ये उन मार्गों का नियमन भी करते हैं। तारे तथा विभिन्न ग्रह-उपग्रहादि लोकों को पृथक् करने में भी डार्क एनर्जी के साथ-२ इनकी भूमिका होती है। इस समय अनेक प्रकार के atoms एवं molecules का निर्माण होने लगता है। इस प्रकार सृष्टि की प्रत्येक क्रिया को समृद्ध व संचालित करने में इन २१ छन्द रश्मियों की उपर्युक्त तीनों प्रकार के पदार्थों के साथ विशेष भूमिका होती है। यहाँ यह बात विशेष ज्ञातव्य है कि जब प्राणापान वा प्राणोदान आदि बिना उपर्युक्त सप्त छन्द रश्मियों के चलते हैं, उस समय वे इतनी तीव्र गति से नहीं चलते, जितने कि छन्द रश्मियों के योग से चलते हैं।।

२. प्रजापतौ वै स्वयं होतरि प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यत्युभये देवासुरा यज्ञमुपावसन्नस्मभ्यमनुवक्ष्यत्यस्मभ्यमिति स वै देवेभ्य एवान्वब्रवीत्।।
ततो वै देवा अभवन् पराऽसुराः।।
भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् पाप्मा भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद।।

व्याख्यानम्– सर्गारम्भ में जब महत्तत्व वा मनस्तत्त्व होता का रूप धारण करता है अर्थात् सर्गरचना प्रारम्भ करता है, तब देव अर्थात् प्रकाशित एवं असुर अर्थात् अप्रकाशित, दोनों ही प्रकार के पदार्थों के बनाने की आवश्यकता होती है। इस क्रम में सर्वप्रथम देव अर्थात् प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति हेतु दैवी छन्दरश्मियों की उत्पत्ति ईश्वरीय चेतना द्वारा लगभग सम वा एकरस अवस्था में विद्यमान महत्तत्व में अति सूक्ष्म किंवा सूक्ष्मतम कम्पन (Fluctuation) के रूप में होती है। यह प्रक्रिया अत्यन्त तीव्र व अकस्मात् व व्यापक क्षेत्र में होती है। यहाँ देव व असुर पदार्थों का ऐसा सोचना कि यह क्रिया उनमें प्रथम होगी, ग्रन्थकार की शैली है, जो जड़ पदार्थों का चेतनवत् व्यवहार दर्शा करके अपनी बात को सरल व रोचक ढंग से समझाना चाहते हैं। वस्तुतः उस समय दोनों ही पदार्थों का अस्तित्त्व नहीं होता। उनकी उत्पत्ति ही इस प्रक्रिया के साथ होती है। इस क्रम में प्राणापानादि प्राथमिक प्राण पहले उत्पन्न होते हैं। असुर पदार्थ इस प्रक्रिया के पश्चात् उत्पन्न होता है। प्राणापानादि के उत्पन्न होते समय असुर तत्त्व अर्थात् अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु न तो विद्यमान होता है और न वह उस समय उत्पन्न ही होता है। इस कारण असुर पदार्थ प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की किसी प्रक्रिया को बाधित भी नहीं कर पाता। वह प्राणापानादि की अपेक्षा स्थूल पदार्थों के साथ ही उत्पन्न होता है और उन्हीं से उसका संघर्ष भी होता है। जब दैवी छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, उस समय प्राणापानादि प्राथमिक प्राण सम्पूर्ण महत्तत्व में उत्पन्न होकर सतत गमन करने लग जाते हैं। उस समय उस पदार्थ का कोई भी शत्रु वा बाधक पदार्थ विद्यमान ही नहीं होता। इसी बात को यहाँ **'पराभवति'** क्रियापद से व्यक्त किया है। इसके अर्थ **'जीतना'**, **'पृथक् होना'** वा **'दूर होना'** आदि होते हैं। जब वह पदार्थ विद्यमान ही नहीं है, तो उसे जीतने का प्रश्न ही नहीं है। इस कारण यहाँ **'पराभवति'** का तात्पर्य यही है कि प्राणादि प्राथमिक प्राणों का शत्रु होता ही नहीं, मानो उसे दूर ही रखा गया हो। अन्य भविष्य में बनने वाले पदार्थों के बाधक की उत्पत्ति भी अभी दूर ही है।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भिक चरण में महत् तत्त्व किंवा मनस्तत्त्व सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में लगभग समान रूप से भरा रहता है। इस पदार्थ से अन्य प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों की उत्पत्ति होती है। कुछ पदार्थ विभिन्न लोकों के निर्माण के मुख्य घटक होते हैं। इनका निर्माण प्रकाशित पदार्थों से ही होता है और दूसरे पदार्थ वे होते हैं, जो विभिन्न लोकों के मुख्य घटक तो नहीं होते परन्तु उनके निर्माण में सहायक होते हैं और अनेकत्र वे विभिन्न प्रक्रियाओं को अवरुद्ध करके भी परोक्ष रूप से सृष्टि निर्माण में सहायक होते हैं। इन दोनों पदार्थों को क्रमशः **दृश्य पदार्थ और अदृश्य पदार्थ** (कथित डार्क मेटर व डार्क एनर्जी) कहा जाता है। **इन दोनों ही पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम उस महत् तत्त्व में ईश्वरीय चेतना के द्वारा दैवी छन्द रश्मियां fluctuation के रूप में उत्पन्न होती हैं। यह प्रक्रिया अत्यन्त तीव्र वेग से अकस्मात् एवं व्यापक स्तर पर होती है।** इस प्रक्रिया से प्राणापान आदि १० एवं सूत्रात्मा वायु रूपी प्राथमिक प्राण की उत्पत्ति होती है। ये प्राण तत्त्व अतिक्षीण दीप्ति के कारण देव कहलाते हैं। इनके साथ किसी अन्य पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। इन प्राणों में सूक्ष्म आकर्षण बल विद्यमान होता है, परन्तु प्रतिकर्षण बल नगण्य होता है, जिससे ये परस्पर संयुक्त होकर आगामी उत्पादों का निर्माण करने में प्रवृत्त होते हैं। इन प्राणों पर भविष्य में उत्पन्न होने वाले अप्रकाशित पदार्थ को कोई प्रभाव नहीं होता।।

३. प्रातर्वै स तं देवेभ्योऽन्वब्रवीद् यत्प्रातरन्वब्रवीत् तत्प्रातरनुवाकस्य प्रातरनुवाकत्वम्।।

महति रात्र्या अनूच्यः, सर्वस्यै वाचः सर्वस्य ब्रह्मणः परिगृहीत्यै, यो वै भवति, यः श्रेष्ठतामश्नुते, तस्य वाचं प्रोदितामनुप्रवदन्ति तस्मात् महति रात्र्या अनूच्यः।।
पुरा वाचः प्रवदितोरनूच्यः।।
यद्वाचि प्रोदितायामनुब्रूयाद् अन्यस्यैवैनमुदितानुवादिनं कुर्यात्।।
तस्मान्महति रात्र्या अनूच्यः।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रसंग में मनस्तत्त्व रूप होता प्राणादि प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति हेतु सूक्ष्म दैवी छन्द रश्मियों को अति तीव्रता से प्रकाशित करता है, न कि शनैः-२। क्योंकि यह प्रक्रिया प्रकृष्ट वेग से होती है, इस कारण ही इसे 'प्रातरनुवाक' कहते हैं। यह क्रिया न केवल प्रकृष्ट वेग से होती है वल्कि यह क्रिया एक स्थान तक सीमित न होकर सर्वत्र फैलती हुई सी होती है। 'प्रातः' पद का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं -
'प्रकृष्टमतति गच्छतीति प्रातः' (उ.को.५.५६)।।

सर्वप्रथम जव सूक्ष्म दैवी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, उस समय वे रश्मियां प्रकृति से उत्पन्न महत्तत्व किंवा मनस्तत्त्व जो अन्धकारयुक्त ही होता है, उसके अन्दर ही उत्पन्न होती हैं। यह महत्तत्व अत्यन्त विशाल क्षेत्र में व्याप्त होता है। इससे अधिक विस्तृत क्षेत्र में इस सृष्टि का कोई सृजित पदार्थ व्यापक नहीं होता। यह प्रक्रिया अति तीव्र वेग से होती है। इससे ही सभी प्रकार की छन्द रश्मियां, जो सभी वेदों में विद्यमान हैं वा नहीं भी हैं, उत्पन्न होती हैं। **यहाँ 'ब्रह्म' अर्थात् वेद का 'वाक्' से पृथक् ग्रहण यह संकेत देता है कि कुछ छन्द रश्मियां ऐसी भी होती हैं, जो वेद संहिताओं में उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु इस सृष्टि में यत्र कुत्र विद्यमान अवश्य हैं,** जैसा कि हम अनेकत्र ऐसी रश्मियों की चर्चा करते आये हैं। दैवी गायत्र्यादि रश्मियां एवं विभिन्न प्राथमिक प्राण व मनस्तत्त्वादि ही अन्य विभिन्न ऋषि रूप सूक्ष्म प्राणों को उत्पन्न करके विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करते हैं। यहाँ 'ब्रह्मणः' पद में 'ब्रह्म' शव्द वल का भी वाचक है। इससे तात्पर्य है कि **सभी प्रकार के वलों की भी प्रथम उत्पत्ति इन्हीं दैवी गायत्री छन्दादि रश्मियों से ही होती है। इनके बिना ईश्वरीय वल के अतिरिक्त कोई भी वल सम्भव नहीं।** यहाँ 'प्रजापति' शव्द सर्वशक्तिमती चेतन सत्ता का भी वाचक है, जो मनस्तत्त्व वा महत्तत्व में प्रेरणा करके इस दैवी गायत्र्यादि वाक् तत्त्व की उत्पत्ति करती है। उस समय जो पदार्थ उन दैवी छन्द रश्मियों के साथ विद्यमान होता है, वह श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह विभिन्न प्रकार के वलों को प्राप्त करके प्राणादि प्राथमिक प्राणों का रूप धारण कर लेता है। जव उस तत्त्व में वाक् तत्त्व अर्थात् दैवी छन्द रश्मियां प्रकाशमान व सक्रिय हो जाती हैं, उस समय वाद में उत्पन्न होने वाले अन्य तत्त्व भी उन वाग्युक्त प्रवल व सतेज पदार्थ का अनुसरण करने लगते हैं। उनमें भी तीव्र गति उत्पन्न हो जाती है। इस कारण अन्धकारावृत्त महत्तत्त्व के विशाल भाग में ये दैवी छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जिससे वह महत्तत्व सक्रिय हो उठता है। यहाँ 'अनुप्रवदन्ति' क्रियापद अन्य छन्द रश्मियों के लिए भी प्रयुक्त है। तव इसका अर्थ यह है कि दैवी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् ही अन्य छन्द रश्मियां उत्पन्न हो पाती हैं, इससे पूर्व नहीं। यदि इसे उपर्युक्तानुसार 'अन्य तत्त्व' के लिए 'अनुप्रवदन्ति' क्रियापद प्रयुक्त मानें, तव यह संकेत मिलता है कि सम्पूर्ण महत्तत्व में एक साथ दैवी छन्द रश्मियां उत्पन्न नहीं होतीं। जो पदार्थ शेष रह जाता है, उसे ही यहाँ 'अन्य तत्त्व' कहा जाता है, जिसमें वाद में ये रश्मियां उत्पन्न होती हैं। यहाँ 'महति' पद महत्तत्व की सप्तमी के लिए भी प्रयुक्त है एवं उसके एक वड़े भाग के लिए भी। दोनों ही अर्थों की इस व्याख्यान से संगति है।।

{वाक् = वागित्यन्तरिक्षम् (जै.उ.४.११.१.११), वागृक् (जै.उ.१.८.१.८), वाग्वा इन्द्रः (कौ.ब्रा.२.७), वाग्घि वज्रः (ऐ.४.१)} उपर्युक्त दैवी छन्द रश्मियां इनसे स्थूल वाक् तत्त्व अर्थात् विभिन्न ऋचाओं, तीव्र विकिरणों, आकाश तत्त्व किंवा विद्युद्वायु की उत्पत्ति से पूर्व ही उत्पन्न होती हैं। ध्यातव्य है कि दैवी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के विना अन्य उपर्युक्त तत्त्व एवं अन्य प्राजापत्य, याजुषी, आसुरी आदि छन्दों की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती किंवा दैवी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पूर्व किसी भी छन्द रश्मि आदि पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं हैं।।

{अनुवादी = (अनु = सादृश्यापरभावम् - नि.१.३)} अब महर्षि कहते हैं कि यदि दैवी छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों वा आकाश तत्त्वादि के उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न होवें, तो वे उनके समान गति व प्रभाव वाली हो जाएंगी किंवा उनकी अनुगामिनी हो जाएंगी। इसका परिणाम यह होगा कि उन दैवी छन्द रश्मियों का जो प्रभाव होना चाहिए, वह नहीं रह पाएगा। दैवी छन्द रश्मियां 'भूः' 'भुवः' एवं 'स्वः', जो विभिन्न पदार्थों की शक्तिरूपा पत्नी होती हैं परन्तु यदि ये शक्तिरूपा रश्मियां उस पदार्थ के बाद में उत्पन्न होंगी, तो वह शक्तिहीन हो जायेगा और दैवी छन्द रश्मि के बाद में उत्पन्न होने पर भी वह शक्तिमान् नहीं हो पायेगा। इसका कारण हमें यह प्रतीत होता है कि ये दैवी रश्मियां उन छन्द रश्मियों वा आकाशादितत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करके उनकी गति को प्रभावित कर सकती हैं। जिससे सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया अस्त-व्यस्त हो सकती है। यद्यपि दैवी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पूर्व महत्तत्व किंवा मन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उत्पन्न होता ही नहीं पुनरपि दृढ़ता हेतु यह बात प्रकारान्तर से कही गयी है।।

इस कारण ये दैवी छन्द रश्मियां अन्धकारावृत्त उस महत्तत्व के अन्दर व उसी से ही उत्पन्न होती हैं, जिसमें उस समय अन्य कोई पदार्थ विद्यमान वा उत्पन्न नहीं होता। मनस्तत्त्व तो महत्तत्व का ही अपर रूप है, जिसका सदैव वाक् तत्त्व अर्थात् दैवी गायत्री छन्द रश्मि के साथ मिथुन रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- मनस्तत्त्व सूक्ष्म दैवी छन्द रश्मियों को अति तीव्रता से एक साथ सम्पूर्ण क्षेत्र में उत्पन्न करता है। इन रश्मियों के उत्पन्न होने के पूर्व **मनस्तत्त्व रूपी समस्त उपादान पदार्थ अन्धकारमय होता है। इस पदार्थ से ही सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। अन्य छन्द रश्मियां, आकाश तत्त्व आदि पदार्थ बाद में उत्पन्न होते हैं। प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण मनस्तत्त्व में ही इन छन्द-रश्मियों रूपी कम्पनों से ही उत्पन्न वा प्रकट होते हैं। इन सबसे ही अन्य छन्द रश्मियां व आकाश आदि तत्त्व उत्पन्न होते हैं।** आकाश तत्त्व व छन्द रश्मियों के विषय में विशेष जानकारी के लिए पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है। **सूक्ष्म दैवी छन्द रश्मियां ही सृष्टि के सभी सूक्ष्म व स्थूल पदार्थों का मूल अचेतन बल है, जो चेतन परमात्मा के बल पर आश्रित है। इससे सूक्ष्म व विशाल बल अन्य कोई भी नहीं है।** सभी प्रकार के बलों, यथा - गुरुत्वबल, विद्युत् चुम्बकीय बल, नाभिकीय प्रबल बल अथवा दुर्बल बल आदि जो भी ज्ञात व अज्ञात बल इस सृष्टि में हैं, वे सभी प्राणादि प्राथमिक प्राणों व छन्द रश्मियों के कारण उत्पन्न होते हैं तथा उनमें बल की उत्पत्ति दैवी छन्द रश्मियों के कारण होती है।।

४. पुरा शकुनिवादादनुब्रूयात्।।

निर्ऋतेर्वा एतन्मुखं यद्वयांसि यच्छकुनयस्तद्यत्पुरा शकुनिवादादनुब्रूयान्मा यज्ञियां वाचं प्रोदितामनु प्रवदिष्मेति, तस्मान्महति रात्र्या अनूच्यः।।
अथो खलु यदैवाध्वर्युरुपाकुर्यादथानुब्रूयात्।।
यदा वा अध्वर्युरुपाकरोति वाचैवोपाकरोति वाचा होताऽन्वाह वाग्घि ब्रह्म तत्र स काम उपाप्तो यो वाचि च ब्रह्मणि च।।५।।

{शकुनिः = शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं शक्नोति नदितुमिति वा शक्नोति तकितुमिति (उड़ने में समर्थ = पं. भगवद्दत्तः) वा सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा शक्नोतेर्वा (नि.६.३)। निर्ऋतिः = पृथिवीनाम (निघं.१.१), पाप्मा वै निर्ऋतिः (श.७.२.१.३), घोरा वै निर्ऋतिः (श.७.२.१.११)। वयांसि = अन्ननाम (निघं.२.७), पशवो वै वयांसि (श.६.३.३.७), प्राणो वै वयः (ऐ.१.२८), प्रदीपकानि तेजांसि (तु.म.द.ऋ.भा.५.१६.१), बलम् इच्छा कामना (तु.म.द.य.भा.१४.१०)। उपाकरणम् = आरम्भ करना, तैयारी करना (आप्टे)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त दैवी छन्द रश्मियों की पुनः चर्चा करते हुए कहते हैं कि इन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पूर्व तीव्र व्यापक वल, ध्वनि एवं असुर आदि पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। इन सभी पदार्थों का उस समय कोई अस्तित्त्व नहीं होता और इस कारण उस समय ब्रह्माण्ड में तीव्र विक्षोभजनक कोई भी क्रियाएं नहीं होती। ये तीव्र व्यापक वल असुर तत्त्व अर्थात् अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु, तीव्र विध्वंसक क्रियाओं एवं आकाशतत्त्व वा अप्रकाशित कण आदि के उत्पादक होते हैं किंवा उन तत्त्वों के मुख रूप होते हैं। विभिन्न छन्द रश्मियाँ, मरुद् रश्मियाँ, प्रदीपक तेज व वल आदि भी उपर्युक्त पदार्थों के ही उत्पाद्य होते हैं। ये सभी वल अति तीव्र व विध्वंसक होते हैं। विशेषकर प्रतिकर्षण वल एवं अति गतिज ऊर्जा से युक्त ये पदार्थ विभिन्न संयोगकर्मों को सम्पन्न नहीं करने देते। सृष्टि के आदि में विखरे पदार्थ में सृजन कर्म प्रारम्भ करने हेतु आकर्षण वलों की अधिक अपेक्षा होती है। प्रतिकर्षक वलों की वाद में आकर्षक वलों के साथ-२ आवश्यकता होती है। इस कारण केवल प्रतिकर्षण वल एवं तीव्र व अनियन्त्रित गतियां अयज्ञीय कही जाती हैं। इस कारण इनकी उत्पत्ति के पूर्व ही महत्तत्व में सूक्ष्म आकर्षक वल के मूल कारण रूप दैवी छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। उसके पश्चात् ही अन्य वलों की उत्पत्ति होती है। **दैवी छन्द रश्मियां आकर्षण के साथ-२ धारक बलों से भी युक्त होती हैं। इनकी गति भी मर्यादित होती है।** इसी कारण इनकी उत्पत्ति प्रथम होती है और शनैः-२ इन्हीं से कुछ कालोपरान्त अन्य रश्मियों, वलों व अन्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है।।+।।

दैवी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति का एक और काल वतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि **जब मनस्तत्त्व रूपी अध्वर्यु किसी छन्द रश्मि आदि को उत्पन्न करने के लिए उद्यत होता है, तब सर्वप्रथम ये दैवी छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं।** ये उस **रश्मि को बल प्रदान करती हैं किंवा उसके बल को मर्यादित करती हैं।** इस प्रकार यह काल भी दैवी छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने का है।।

जव मनस्तत्त्वरूप अध्वर्यु किसी छन्द रश्मि को उत्पन्न करता है वा उत्पन्न करने हेतु उद्यत होता है, वह वाक् तत्त्व अर्थात् एकाक्षरा वाक् किंवा वा दैवी गायत्री छन्द रश्मि के द्वारा ही वह ऐसा करता है। वहाँ वही मनस्तत्त्व किंवा महत्तत्व रूप होता जव इन दैवी छन्द रश्मियों को उत्पन्न करता है, तव वह मनस्तत्त्व किंवा महत्तत्व रूप होता भी एकाक्षरा वाक् अर्थात् दैवी गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा ही अन्य दैवी छन्द रश्मियों को उत्पन्न करता है। **वस्तुतः यह एकाक्षरा अर्थात् दैवी गायत्री छन्द रश्मि ब्रह्म अर्थात् सर्वशक्तिमती चेतन सत्ता के द्वारा ही उत्पन्न होती है। इसकी उत्पत्ति महत्तत्व के अन्दर परमात्मा ही करता है।** इस कारण इस दैवी गायत्री छन्द रश्मि रूप ब्रह्म वाक् तत्त्व की उत्पत्ति से अन्य छन्द रश्मि रूपी वाक् तत्त्व की उत्पत्ति होकर सृष्टि में सभी प्रकार के वल एवं तेज आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सवका जड़ मूल यही दैवी गायत्री छन्द रूपी वाक् तत्त्व ही है। इस विषय में अन्य ऋषियों का भी कुछ ऐसा ही मत प्रतीत होता है-

"पुरा वाचः प्रवदितोः प्रातरनुवाकमुपाकरोति यावत्येव वाक् तामवरुन्धे" (तै.सं.६.४.३.१-२)
"पुरा वाचः पुरा वा वयोभ्यः प्रवदितो प्रातरनुवाकमुपाकरोति प्रातर्यावभ्यो देवेभ्योऽनुब्रूहि ब्रह्मन् वाचं यच्छ प्रतिप्रस्थातः सवनीयान्निर्वप सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्यामाह्वयेति संप्रेष्यति" (आप.श्रौ.१२.३.१३-१४)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि का प्रारम्भ तीव्र विक्षोभ, तीव्र तेज व वल के साथ नहीं होता, जैसा कि वर्तमान बिग बैंग मॉडल मानता है। प्रारम्भ से उत्पन्न दैवी छन्द रश्मियां मृदु आकर्षण व धारक बल व अत्यन्त क्षीण तेज से युक्त होती हैं। यह दीप्ति दृश्य नहीं होती। प्रतिकर्षण बल उस समय नहीं होता। मनस्तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होता है। वह लगभग एक समान होता है। उसमें कोई उतार-चढ़ाव (fluctuation) नहीं होता। **ईश्वरीय चेतना द्वारा इसमें fluctuation करके दैवी छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इनमें भी दैवी गायत्री रश्मि की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है। सर्वप्रथम 'ओम्' दैवी छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। यह रश्मि इस ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम fluctuation का रूप होती है।** इसके पश्चात् **'भूः', 'भुवः'** एवं **'स्वः'** आदि छन्द रश्मियों की उत्पत्ति fluctuation के रूप में होती है। इसके पश्चात् एवं इसी के द्वारा सभी छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर सम्पूर्ण पदार्थ fluctuate होने लगता है। विग बैंग मॉडल के विषय में पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है। प्रारम्भिक fluctuation से संयोग प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। पुनः वाद में उत्पन्न

fluctuations तीव्र व तीव्रतर होते जाते हैं, जहाँ संयोग, वियोग, छेदन व भेदन सभी क्रियाएं होती हैं।।

ॐ इति ७.५ समाप्तः ॐ

अथ ७.६ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. प्रजापतौ वै स्वयं होतरि प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यति सर्वा देवता आशंसन्त मामभि प्रतिपत्स्यति मामभीति स प्रजापतिरैक्षत यद्येकां देवतामादिष्टामभि प्रतिपत्स्यामीतरामेकेन देवता उपाप्ता भविष्यन्तीति स एतामृचमपश्यदापो रेवतीरित्यापो वै सर्वा देवता, रेवत्यः सर्वा देवताः, स एतयर्चा प्रातरनुवाकं प्रत्यपद्यत ताः सर्वा देवताः प्रामोदन्त मामभि प्रत्यपादि मामभीति।।

{कवषः = शब्दं कुर्वन् (म.द.य.भा.२६.५), कु शब्दे+उणादि अस् (उ.को.४.२) = कवसः = कवषः छान्दस (कुशब्दे अदादि = कूजना, भिनभिनाना, गुंजन करना - आप्टे)। ऐलूषः = इल प्रेरणे एवं स्वप्नक्षेपणयोः धातु से 'पीयेरूषन्' (उ.को.४.७७) से ऊषन् प्रत्यय होकर पुनः स्वार्थ में तद्धित होकर ऐलूषः सिद्ध होता है। रेवती = रेवत्यः सर्वा देवताः (ऐ.२.१६), रेवत्यः नदीनाम (निघं.१.१३), गायत्री वै रेवती (तां.१६.५.१६), रेवत्य आपः (श.१.२.२.२), पशवो वै रेवत्यः (तां.१३.१०.११), वाग्वै रेवती (श.३.८.१.१२), वज्रो वै रेवती (काठ.१०.१०)। वस्वः = द्रव्याणि (म.द.ऋ.भा.१.६०.२)। क्रतुः = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.६)। आपः = कारणाख्याः प्राणाः (म.द.य.भा.१७.३०), अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), प्राणा वा आपः (तां.६.६.४)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर प्राथमिक प्राणों रूप प्राणतत्त्व एवं वाक्तत्त्व अर्थात् दैवी छन्द रश्मियों के मिथुन रूप प्रजापति नामक तत्त्व में पुनः एक तीव्र एवं व्यापक क्रिया उत्पन्न होती है। प्राण और वाक् का संयुक्त रूप स्वयं होता बनकर मनस् तत्त्व की प्रेरणा से अनेक प्रकार के प्रकाशित तत्त्वों किंवा छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने के लिए उद्यत होता है। उस समय विभिन्न प्रकार के देव पदार्थों के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। इसी बात को ग्रन्थकार ने अपनी पूर्व खण्ड में दर्शायी हुई शैली में वर्णित किया है। हमारे मत में यद्यपि उस समय दैवी छन्द रश्मियों के अतिरिक्त याजुषी और प्राजापत्या छन्द रश्मियां भी उत्पन्न हो चुकी होती हैं। साम्नी, आसुरी एवं आर्ची छन्द रश्मियां भी कदाचित् अल्पमात्रा उत्पन्न हो चुकी होती हैं। इस समय **आर्षी छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होने वाली होती हैं और इन रश्मियों की ही मात्रा इस ब्रह्माण्ड में सबसे अधिक होती है**। मुख्यतः इन्हीं रश्मियों से इस ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ उत्पन्न होता है। मन और प्राण रूपी प्रजापति में एक साथ एवं व्यापक स्तर पर विभिन्न प्रकार के दृश्य एवं प्रकाशित पदार्थ को उत्पन्न करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत 'कवष ऐलूष' ऋषि से 'आप अपान्नपाद्वा' देवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

आपो॑ रेवतीः॒ क्षय॑था॒ हि वस्वः॒ क्रतुं॑ च भ॒द्रं बि॑भृ॒थामृतं॑ च।
रा॒यश्च॒ स्थ स्व॑प॒त्यस्य॒ पत्नीः॒ सर॑स्वती॒ तद् गृ॑णते॒ वयो॑ धात्।। (ऋ.१०.३०.१२)

की उत्पत्ति होती है। कवष ऐलुष ऋषि के वैज्ञानिक स्वरूप को हम खण्ड २.१६ में दर्शायेंगे। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों एवं उनके पतित न होने वाले कर्मों में तीव्र तेजस्विता उत्पन्न होती है अर्थात् वे प्राथमिक प्राण पूर्व की अपेक्षा अति तीव्र बल और तेज से युक्त हो जाते हैं। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्राथमिक प्राण रूपी 'आपः' अनेक प्रकार की दैवी छन्द रश्मियों रूप मरुतों से युक्त होकर विभिन्न द्रव्यों को अपने अन्दर बसाने वाले अर्थात् उनको उत्पन्न

करने वाले होते हैं। वे प्राण तत्त्व श्रेष्ठ एवं अविनाशी दीप्ति और कर्मों को धारण करते हैं। ये ही अपने अन्दर उन सूक्ष्म दैवी छन्द अर्थात् मरुद् रश्मियों एवं अपने से उत्पन्न अन्य छन्द रश्मि आदि पदार्थों के पालक होते हैं। इनके अन्दर विभिन्न प्रकार के वल विद्यमान होते हैं।

इस छन्द रश्मि के उत्पन्न होने पर अनेक प्रकार की छन्द रश्मियां इसकी ओर आकृष्ट होती हैं। विभिन्न प्रकार के प्राथमिक प्राण एवं विभिन्न प्रकार की दैवी छन्द रश्मियां सभी प्रकार के दिव्य पदार्थों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। जब इस निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की अकस्मात् और तीव्र गति से उत्पत्ति होती है, तव उसका व्यापक प्रभाव उस समय विद्यमान सभी छन्द रश्मियों पर एक साथ होता है, जिससे सभी प्रकार की छन्द रश्मियां उसके प्रभाव से प्रभावित होकर उत्तेजित हो उठती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व fluctuations उत्पन्न होने के पश्चात् इस ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार की छन्द रश्मियाँ, जिनमें सूक्ष्म अप्रकाशित ऊर्जा रश्मियां भी सम्मिलित हैं, उत्पन्न हो जाती हैं और जो रश्मियां मुख्यतः इस ब्रह्माण्ड के निर्माण के उपयोग में आती हैं, उनकी उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। इस क्रम में एक निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। जिसके प्रभाव से न केवल अन्य छन्द रश्मियाँ तीव्र क्रियाशील हो उठती हैं अपितु प्राणापानादि प्राथमिक प्राण भी तीव्र रूप से क्रियाशील हो जाते हैं। यह प्रक्रिया इस ब्रह्माण्ड में तीव्र वेग से और अति व्यापक स्तर पर अकस्मात् होती है।।

२. सर्वा ह्यस्मिन् देवताः प्रातरनुवाकमनुब्रुवति प्रमोदन्ते।।
सर्वाभिर्हास्य देवताभिः प्रातरनुवाकः प्रतिपन्नो भवति य एवं वेद।।
ते देवा अबिभयुरादातारो वै न इमं प्रातर्यज्ञमसुरा यथौजीयांसो बलीयांस एवमिति तानब्रवीदिन्द्रो मा बिभीत त्रिषमृद्धमेभ्योऽहं प्रातर्वज्रं प्रहर्ताऽस्मीत्येतां वाव तद्दृचमब्रवीद् वज्रस्तेन यदपोनप्त्रीया वज्रस्तेन यत्रिष्टुब्वज्रस्तेन यद्वाक् तमेभ्यः प्राहरत् तेनैनानहंस्ततो वै देवा अभवन् पराऽसुराः।।
भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् पाप्मा भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद।।
तदाहुः स वै होता स्याद् य एतस्यामृचि सर्वाणि च्छन्दांसि प्रजनयेदित्येषा वाव त्रिरनूक्ता सर्वाणि च्छन्दांसि भवत्येषा छन्दसां प्रजातिः।।६।।

व्याख्यानम्- जहाँ कहीं भी उपर्युक्त "आपो रेवतीः क्षयथा......." निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की अकस्मात् तीव्र गति से एवं व्यापक क्षेत्र में उत्पत्ति होती है, उस समय उससे उत्तेजित होकर विभिन्न प्रकार के देव पदार्थ किंवा छन्द रश्मियां भी तीव्र और व्यापक गतियुक्त होकर परस्पर संगत होने लगती हैं। जव ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तव सभी प्रकार के देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थ शीघ्रतापूर्वक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में इस छन्द रश्मि से युक्त होने लगते हैं, जिसके कारण वे सभी तीव्र, तेजस्वी और वलयुक्त हो जाते हैं।।+।।

महर्षि पूर्वोक्त घटना का प्रकारान्तर से वर्णन करते हुए कहते हैं कि जव प्राथमिक प्राणों और वाक् तत्त्व के संयोग रूप प्रजापति में दैवी छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने के लिए अकस्मात् तीव्र प्रतिक्रिया होने लगती है, उस समय ब्रह्माण्ड में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों में भारी कम्पन प्रारम्भ होने लगता है। हमारे मत में इस समय आसुरी छन्द रश्मियाँ भी उत्पन्न हो चुकी होती हैं। ये छन्द रश्मियाँ ही असुर तत्त्व का रूप होती हैं। यह असुर तत्त्व दैवी छन्द रश्मियों से संघर्ष करने लगता है, जिसके कारण ही उनमें तथा अन्य छन्द रश्मियों में भी भारी उथल-पुथल प्रारम्भ हो जाती है। इस उथल-पुथल को रोकने तथा आसुरी रश्मियों को नियन्त्रित करने के लिए ही पूर्वोक्त कवष ऐलूष नामक ऋषि प्राण से "आपो रेवतीः क्षयथा......" निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। यहाँ कवष ऐलूष ऋषि को ही इन्द्र नाम से सम्बोधित किया है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं "वागिन्द्रः (श.८.७.२.६), प्राण एवेन्द्रः (श.१२.६.१.१४), मन एवेन्द्रः (श.१२.६.१.१३)" अर्थात् प्राण, वाक्तत्त्व एवं मनस् तत्त्व

तीनों ही अत्यन्त ऐश्वर्यवान् अर्थात् नियन्त्रक-शक्ति-सम्पन्न होने से इन्द्र कहलाते हैं। कवष ऐलूष नामक ऋषि प्राण भी इन तीनों का ही मिश्र रूप होता है।
उपर्युक्त निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि तीन प्रकार से वज्र का काम करती हैं-

(१) इस ऋचा का देवता 'आप अपान्नपात्' है। इसका तात्पर्य है कि इस ऋचा से प्राणापानादि प्राथमिक प्राण और उनकी क्रियाशीलता बहुत तीव्र और अजेय हो जाती है, जिससे वे प्राण वज्र का रूप हो जाते हैं। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है "वज्रो वा ऽआपः" (श.१.१.१.१७)। यहाँ प्राथमिक प्राणों को ही 'आपः' कहा गया है।

(२) इस ऋचा का छन्द निचृत्त्रिष्टुप् है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है "वज्रो वै त्रिष्टुप्" (श.७.४.२.२४) अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि वज्र रूप होती हैं और निचृत्त्रिष्टुप् होने से और भी अधिक तीक्ष्णता होती है, जिससे यह वज्र रूप रश्मि और भी अधिक तीक्ष्ण हो जाती है।

(३) यह ऋचा वाग्रूप प्रसिद्ध ही है और महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं "वज्र एव वाक्" (ऐ.२.२१)। इस कारण से भी यह ऋचा वज्र रूप है।

इन तीनों ही कारणों से वज्र रूप होने से यह छन्द रश्मि आसुरी रश्मियों को रोकने में समर्थ होती है, जिससे अन्य छन्द रश्मियों रूपी देव पदार्थ असुर पदार्थ को नियन्त्रित वा दूर करके सृजन कर्म करने में समर्थ होते हैं। देव पदार्थ प्रारम्भ में असुर पदार्थ से दुर्बल होते हैं, परन्तु इस छन्द रश्मि के साथ संयुक्त होकर वे प्रबल हो उठते हैं।।

जब इस प्रकार की स्थिति इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी और कभी भी उत्पन्न होती है अर्थात् वज्र रूप किरणें जब और जहाँ भी उत्पन्न होती हैं, वे बाधक असुर पदार्थ को दूर करके देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थ को निरापद गति प्रदान करती हैं, जिसके कारण वे अपने अभीष्ट कर्मों को करने में समर्थ होते हैं।।

वे पदार्थ ही मुख्य रूप से होता का कार्य कर पाते हैं अर्थात् सृजन कर्मों को सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं, जो इस छन्द रश्मि से सभी छन्द रश्मियों को उत्पन्न कर लेते हैं। जब इस छन्द रश्मि की तीन बार आवृत्ति होती है, तब इससे सभी छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। तीन बार आवृत्ति होने पर इस छन्द रश्मि में कुल १२६ अक्षर हो जाते हैं क्योंकि निचृत्त्रिष्टुप् छन्द में ४३ अक्षर होते हैं। इन अक्षरों में से जो होता विभिन्न विभाग करके सभी छन्द रश्मियों को उत्पन्न कर सकता है, वही मुख्य 'होता' होता है। **हमारी दृष्टि में यह सामर्थ्य प्राणादि प्राथमिक प्राणों अथवा मन और वाक्तत्त्व में ही हो सकता है। इसलिए ये ही 'मुख्य होता' होते हैं।** ध्यातव्य है कि इनकी भी अपेक्षा **सबसे प्रमुख होता चेतन तत्त्व परमात्मा ही होता है।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं और जब कभी भी पूर्वोक्त निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, तब-२ अन्य छन्द रश्मियाँ आदि पदार्थ उत्तेजित और अत्यन्त क्रियाशील हो उठते हैं। इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति से पूर्व कथित डार्क एनर्जी सूक्ष्म रूप में उत्पन्न हो चुकी होती है। वह एनर्जी विभिन्न छन्द रश्मियों की क्रियाओं को अपने तीव्र प्रतिकर्षण बल से बाधित करने लगती है, जिसके कारण सभी दृश्य छन्द रश्मियों में भारी कम्पन वा विक्षोभ होने लगता है और उनका संगतीकरण अस्त-व्यस्त हो जाता है। उसी समय उपर्युक्त निचृत् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका बल और तेज अत्यन्त तीक्ष्ण होता है, जो कथित डार्क एनर्जी पर प्रहार करके उसे दूर हटा देता है अथवा नियन्त्रित कर लेता है और ऐसा होने पर अन्य दृश्य छन्द रश्मियाँ उस डार्क एनर्जी के प्रहार से मुक्त होकर सृष्टि रचना के कार्य को आगे बढ़ाती हैं। जब कभी भी इस ब्रह्माण्ड में दृश्य पदार्थ पर डार्क एनर्जी का अनिष्ट और प्रक्षेपक प्रहार होता है, तब तीव्र छन्द रश्मियाँ आदि उत्पन्न होकर उस प्रहार को नष्ट करती हैं। कुछ पदार्थ किंवा रश्मियाँ कुछ तीव्र छन्द रश्मियों को अनेक भागों में विभाजित करके उससे सभी प्रकार की छन्द रश्मियाँ उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। ऐसी समर्थ रश्मियाँ ही इस सृष्टि के निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं और उनका इस सृष्टि में सर्वत्र योगदान

रहता है। हमारी दृष्टि में मन, वाक् एवं विभिन्न प्राथमिक प्राण सर्वत्र सर्वाधिक सक्रिय रहते हैं और इनकी सक्रियता को भी चेतन परमात्म-तत्त्व के स्वाभाविक सर्वतो महान् बल के कारण क्रियाशीलता मिलती है।।

ॐ इति ७.८ समाप्तः ॐ

अथ ७.७ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. शतमनूच्यमायुष्कामस्य, शतायुर्वै पुरुषः, शतवीर्यः शतेन्द्रिय आयुष्येवैनं तद् वीर्य इन्द्रिये दधाति।।
त्रीणि च शतानि षष्टिश्चानूच्यानि यज्ञकामस्य, त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि, तावान्संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः।।
उपैनं यज्ञो नमति यस्यैवं विद्वांस्त्रीणि च शतानि षष्टिं चान्वाह।।

{शतम् = बहुनाम (निघं.३.१), एषा वावयज्ञस्य मात्रा यच्छतम् (तां.२०.१५.१२), आयुः = वायुः (नि.६.३), वरुण एवायुः (श.४.१.४.१०), आयुर्हि हिरण्यम् (श.४.३.४.२४)। पुरुषः = पुरत्यग्रं गच्छतीति पुरुषः (उ.को.४.७५), पुरुषोऽग्निः (श.१०.४.१.६)। वीर्यम् = पराक्रमं बलं वा (म.द.ऋ.भा.१.५७.५), आकर्षणप्रकाशयुक्तादिवत्कर्म (तु.म.द.ऋ.भा.१.३२.१), वीर्यं विष्णुः (तै.ब्रा.१.७.२.२)। इन्द्रियम् = विज्ञानसाधकम् (म.द.य.भा.१६.७७), लिङ्गम् (तु. म.य.भा.२०.६१)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए चर्चा करते हैं कि जब महत् तत्त्व वा मनस् तत्त्व में विभिन्न प्रकार के उतार-चढ़ाव के द्वारा विभिन्न प्राण एवं छन्द आदि रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, परन्तु सब कुछ एक मिश्रण जैसा बनकर वायु का रूप धारण नहीं कर पाता, उस समय वायु रूप की उत्पत्ति के लिए सम्पूर्ण पदार्थसमूह में पूर्वोक्त "आपो रेवतीः क्षयथा....." निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की बार-२ आवृत्ति होकर कुल १०० बार आवृत्ति होती है। जिसके प्रभाव से सम्पूर्ण पदार्थ वायव्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जो यदृच्छया सर्वत्र विचरण करने लगता है। इस वायु का वरुण रूप होना यह संकेत देता है कि भले ही वह यदृच्छया गति करने में सक्षम हो परन्तु उसमें विभिन्न परमाणुओं को एक व्यापक सूक्ष्म बल के द्वारा परस्पर एक-दूसरे के साथ बांधने का गुण अवश्य उत्पन्न हो जाता है। उस समय एक सौ प्रकार के प्राण तत्त्व (छन्दादि) उत्पन्न हो जाते हैं। वायु के विषय में विशेष जानकारी के लिये पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है। इस अवस्था में वे रश्मियाँ कुछ सघन होकर अति सूक्ष्म परमाणुओं का रूप प्राप्त कर लेती हैं। ऐसे अनेक संयोज्य परमाणु मिलकर पुरुष अर्थात् अति तीव्रगामी अग्नि तत्त्व के परमाणुओं का रूप धारण करते हैं। स्मरण रहे कि वायु और अग्नि दोनों के ही परमाणु तरंग प्रवृत्ति से ही गति करते हैं। इस अग्नि के परमाणु में अनेक प्रकार के बल कार्य करते हैं, क्योंकि उसमें वायु के अनेक परमाणु होते है। इस कारण उनके अनेक प्रकार के बल भी अग्नि के परमाणु में समाविष्ट होते हैं। ये बल उस अग्नि के परमाणु में बाहर-भीतर पूर्णतया व्याप्त होते हैं। मानो उन बलों की रश्मियां सम्पूर्ण अग्नि के परमाणु को सतत सींचती रहती हैं। इस अग्नि के परमाणु में उन अनेक बलों के अनेक प्रकार के लक्षण भी होते हैं, जिनसे उस अग्नि परमाणु की पहचान हो सकती है। इस प्रकार उपर्युक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के १०० बार स्पन्दित होने से अग्नि के परमाणु विभिन्न प्राणों, बलों, गुणों एवं लक्षणों को धारण करते हैं।।

अग्नि व वायु तत्त्वों की उत्पत्ति के पश्चात् इनसे सघन पदार्थ बनने का क्रम प्रारम्भ होता है। जब उपर्युक्त छन्द रश्मि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् उस समय तक उत्पन्न पदार्थ जगत् में कुल तीन सौ साठ बार स्पन्दित होती है, उस समय उन वायु व अग्नि के परमाणुओं में यज्ञीय प्रक्रिया अर्थात् संयोगादि प्रक्रिया उत्पन्न होने लगती है। वे परस्पर संयुक्त होकर विभिन्न कणों को उत्पन्न करने लगते हैं। तीन सौ साठ स्पन्दन से उस समय तक कुल तीन सौ साठ प्रकार के छन्दादि प्राण उत्पन्न हो जाते

हैं। जब सृष्टि उत्पत्ति क्रम में तीन सौ साठ छन्दादि प्राण उत्पन्न हो जाते हैं, तब संयोग-वियोग प्रक्रिया उत्पन्न होकर विभिन्न कणों के बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उसके पश्चात् वह सम्पूर्ण पदार्थ गुरुत्वाकर्षण बल से युक्त होने लगता है, जिसके कारण वह पूर्वापेक्षा कुछ संघनित होने लगता है। विभिन्न मास और ऋतु रश्मियां उत्पन्न होने लगती हैं और शनैः-२ इस ब्रह्माण्ड में अनेक नेब्यूलाओं का निर्माण प्रारम्भ होने लगता है। इन निर्माणाधीन नेब्यूलाओं में कुल ३६० प्रकार की छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं, जिनमें प्राण नामक प्राण तत्त्व की अपेक्षाकृत प्रधानता होती है। उस समय उस पदार्थ का रंग अरुण एवं ताम्र वर्ण का होता है, जिसमें अग्नि की प्रधानता होती है। इसलिए कहा गया है - **"अह्नोऽग्निः, ताम्रो अरुणः (तै.आ.१.१०.११)"**। ये नेब्यूलाज् प्रजापति कहलाते हैं, क्योंकि इनके गर्भ में ही अनेकों प्रकार के कणों की उत्पत्ति होती है। वह उत्पत्ति विभिन्न प्रकार के छन्द प्राणों एवं उनसे उत्पन्न विभिन्न सूक्ष्म कणों के संयोग के परिणामस्वरूप होती है।।

मन और वाक् तत्त्व की मूल प्रेरणा से जब इस प्रकार ३६० रश्मियों की उत्पत्ति हो जाती है, उस समय उनमें यज्ञ प्रक्रिया तीव्रतर होने लगती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियां उत्पन्न हो रही होती हैं, उस क्रम में पूर्वोक्त निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की आवृत्ति १०० बार हो चुकी होती है। तब अनेक प्रकार की छन्द रश्मियाँ उस समय तक उत्पन्न हो जाती हैं। उस समय ब्रह्माण्ड का समस्त पदार्थ अति सूक्ष्म वायु रूप सर्वत्र प्रवाहित होने लगता है। स्मरण रहे कि यहाँ वायु का अर्थ हवा (Air) नहीं है। इसके विषय में विशेष जानकारी हेतु पूर्वपीठिका पढ़ें। उस समय तक वर्तमान प्रचलित ऊर्जा उत्पन्न नहीं होती। आधुनिक विज्ञान द्वारा ज्ञात किसी प्रकार के कण प्रतिकण उत्पन्न नहीं होते। **जब अनेक प्रकार की छन्द रश्मियां जो वायु रूप हैं, उत्पन्न हो जाती हैं। उस समय उनके संघनन से सर्वप्रथम वर्तमान प्रचलित ऊर्जा उत्पन्न होती है। उनके प्रत्येक क्वाण्टा के अन्तर्गत अनेक प्रकार की सूक्ष्म रश्मियां और उनके इतने ही सूक्ष्म बल विद्यमान होते हैं।** उसके पश्चात् उस ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ में पुनः fluctuations उत्पन्न होते हैं और जब ३६० प्रकार की छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, तब उनके संघनित कण रूप में **सर्वप्रथम गुरुत्वाकर्षण बल उत्पन्न होता है,** जिसके कारण वह पदार्थ धीरे-२ संघनित होने लगता है। **उसी समय विद्युदावेशित कणों की उत्पत्ति भी होती है। इसके साथ ही विद्युत् चुम्बकीय बल भी प्रकट हो जाते हैं। अग्नि प्रधान कण विद्युत् धनावेशित एवं वायु अर्थात् सोम प्रधान कण विद्युत् ऋणावेशित होते हैं।** इसी समय वह पदार्थ संघनित होकर नेब्यूला का निर्माण करने लग जाता है। उस समय पदार्थ का रंग कुछ लाल वा ताम्र वर्ण का होता है। उसी समय **तारों की उत्पत्ति के पूर्व ही विभिन्न प्रकार के छोटे नाभिकों की उत्पत्ति भी होने लगती है वायु व अग्नि के विषय में पूर्वपीठिका अवश्य देखें।।**
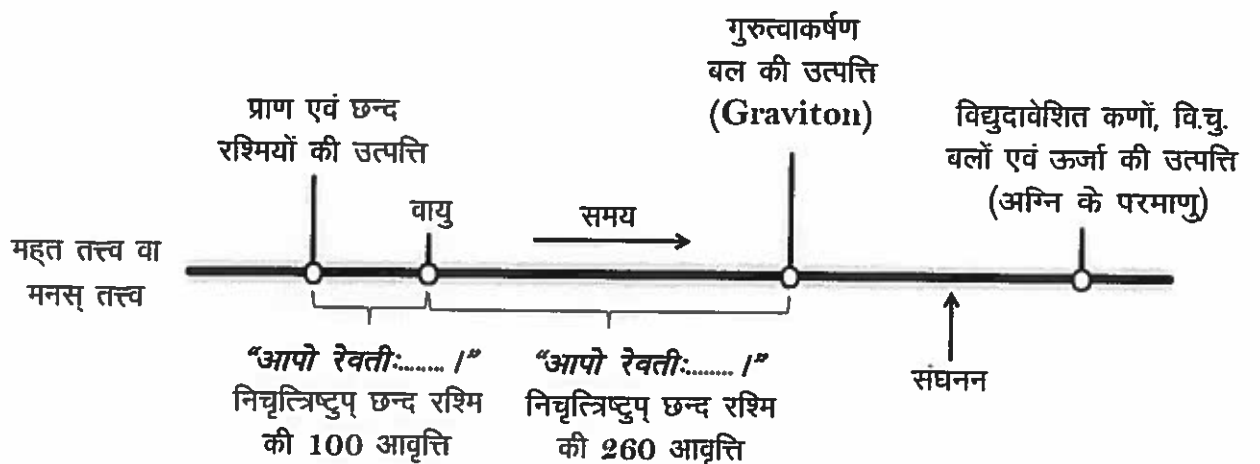
चित्र ७.५ विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम

२. सप्त च शतानि विंशतिश्चानूच्यानि प्रजापशुकामस्य, सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्रास्तावान्संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिर्यं प्रजायमानं विश्वं रूपमिदमनु प्रजायते, प्रजापतिमेव तत्प्रजायमानं प्रजया पशुभिरनु प्रजायते प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।
अष्टौ शतान्यनूच्यान्यब्राह्मणोक्तस्य यो वा दुरुक्तोक्तः शमलगृहीतो यजेताष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्या वै देवाः पाप्मानं शमलमपाघ्नत गायत्र्यैवास्य तत्पाप्मानं शमलमपहन्ति।।
अप पाप्मानं हते य एवं वेद।।

{शमलः = शाम्यतीति शमलः (उ.को.१.११२), (शमु उपशमे = शान्त होना, ठण्डा होना - सं.धा.को. - पं.युधिष्ठिर मीमांसक)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रक्रिया के चलते उन निर्माणाधीन नेव्यूलाओं में ७२० प्रकार की छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनमें प्राण और अपान प्रधान दोनों ही प्रकार के छन्द विद्यमान होते हैं। उस समय इस गैसीय पदार्थ में विभिन्न प्रकार के कणों का परस्पर संयोग होने लगता है, जिसके कारण विभिन्न प्रकार के दृश्य और अदृश्य कण उत्पन्न होने लगते हैं। विभिन्न नेव्यूलाज् में ये ७२० प्रकार की छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। ऐसे नेव्यूला, जिनमें विभिन्न तत्त्वों का निर्माण होने लगता है, वे सम्पूर्ण रूप से विशाल अन्तरिक्ष में स्पष्ट भासने लगते हैं। उस समय उनके अन्दर अनेक प्रकार के तत्त्वों का निर्माण एवं कहीं-२ दृश्य कणों का निर्माण भी होने लगता है। यहाँ दृश्य कणों को ही पशु संज्ञा की गई है। जब इस प्रकार की स्थिति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उत्पन्न हो जाती है, तब विभिन्न प्रकार के तत्त्वों की उत्पत्ति होकर सर्ग प्रक्रिया तेजी से बढ़ने लगती है।।+।।

{ब्राह्मणः = दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः (तै.ब्रा.१.२.६.७), आग्नेयो ब्राह्मणः (तां.१५.४.८), सोम्या हि ब्राह्मणाः (तु.तै.ब्रा.२.७.३.१)} उपर्युक्त प्रक्रिया के चलते कुछ ऐसे भी कणों की उत्पत्ति इस ब्रह्माण्ड में होती है, जो न आग्नेय होते हैं और न सौम्य होते हैं, न प्रकाशित ही होते हैं। ऐसे कणों की उत्पत्ति कदाचित् विभिन्न छन्द रश्मियों के विकृत संयोग से होती है। इस प्रकार के कण प्रायः शान्त और शीतल कणों के द्वारा अपने अधीन कर लिये जाते हैं। ये शान्त और शीतल कण अप्रकाशित ही होते हैं। ऐसी स्थिति में सृष्टि प्रक्रिया में कुछ बाधा उपस्थित होने लगती है। उस समय इस ब्रह्माण्ड में कुल ८०० प्रकार की छन्द रश्मियों की उत्पत्ति हो चुकी होती है। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि पूर्व में ७२० प्रकार की छन्द रश्मियों की उत्पत्ति हो चुकी थी। शेष ८० प्रकार की छन्द रश्मियां और उत्पन्न हो जाती हैं। हमारे मत में इनमें से गायत्री छन्द रश्मि की ही ८० आवृत्ति होती है। प्राजापत्या गायत्री ८ अक्षरों की होती है, उसी की उत्पत्ति यहाँ हुआ करती है। यह भी संभव है कि आर्षी गायत्री के ८ अक्षर वाले १ पाद से ही यहाँ सम्पूर्ण छन्द का ग्रहण किया गया हो, तब यहाँ आर्षी गायत्री छन्द रश्मियों की उत्पत्ति भी मानी जा सकती है। ये गायत्री छन्द रश्मियां तेज और बल से युक्त होने के कारण अग्नि तत्त्व को समृद्ध करती हैं और उस आग्नेय तेज से अप्रकाशित पदार्थ के द्वारा परिगृहीत कणों को मुक्त किया जाता है। ये गायत्री छन्द रश्मियाँ समस्त बाधक पदार्थों को नष्ट करके उनके बन्धन से मुक्त पदार्थ को सक्रिय और सतेज करती हैं। इस प्रकार की स्थिति बनने पर निर्माणाधीन नेव्यूलाओं में सृजन प्रक्रिया पुनः निर्बाध रूप से चलने लग जाती है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त उन गैसीय मेघों में ७२० प्रकार की छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण विभिन्न कणों का संयोग होकर अनेक प्रकार के atoms and molecules का निर्माण होने लगता है। इसके साथ ही अनेक अणुओं के संयोग से बड़े-२ दृश्य कण उत्पन्न होकर cosmic dust का भी निर्माण करने लगते हैं, उस समय cosmic dust के वे मेघ स्पष्ट चमकने लगते हैं।

इसी प्रक्रिया के चलते कुछ ऐसे भी कणों का निर्माण होता है, जो डार्क मैटर के साथ बंध जाते हैं तथा वे शान्त और शीतल होते हैं, जिसके कारण वे सृष्टि प्रक्रिया में भाग नहीं ले पाते हैं। उस समय ८० प्रकार की गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिसके कारण उन cosmic मेघों में प्रकाशशीलता एवं तीक्ष्ण रश्मियां बढ़ने लगती हैं। ये तीक्ष्ण तेजस्वी रश्मियां डार्क मैटर पर प्रहार करके उनके बंधन से शीतल शान्त कणों को मुक्त करती हैं, जिसके कारण वे कण भी तेजस्वी और सक्रिय होकर सृष्टि प्रक्रिया में भाग लेने लग जाते हैं, जिससे सृष्टि प्रक्रिया यथावत् चलने लगती है। इस समय कुल ८०० छन्द रश्मियां ब्रह्माण्ड में उत्पन्न हो चुकी होती हैं।।

३. सहस्रमनूच्यं स्वर्गकामस्य सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै संपत्त्यै संगत्यै।।
अपरिमितमनूच्यमपरिमितो वै प्रजापतिः प्रजापतेर्वा एतदुक्थं यत्प्रातरनुवाकस्तस्मिन् सर्वे कामा अवरुध्यन्ते स यदपरिमितमन्वाह सर्वेषां कामानामवरुद्ध्यै।।
सर्वान् कामानवरुन्धे य एवं वेद।।
तस्मादपरिमितमेवानूच्यम्।।

{अश्वीनः = एकाहेन गम्यत इत्येकाहगमः अश्वीनोऽध्वा (सिद्धान्त कौमुदी - उद्धृत सायणाचार्य), (अ.को.२.८.४७)। संपत्तिः = (संपत्) = सम्यक् प्राप्यते या सा (म.द.य.भा. १५.८)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर अन्य छन्द रश्मियों की भी उत्पत्ति होती है और कुल मिलाकर १००० छन्द रश्मियों की उत्पत्ति हो जाती है। उधर "आपो रेवतीः क्षयथा....." छन्द रश्मि की भी आवृत्ति १००० बार हो जाती है। इन सबके प्रभाव से वह cosmic dust से बना हुआ मेघ न केवल नेव्यूला का रूप धारण कर लेता है अपितु उसमें तारों का भी निर्माण हो जाता है। यहाँ स्वर्ग का तात्पर्य तारों के केन्द्रीय भाग से है। इन भागों के निर्माण होने तक ब्रह्माण्ड में १००० छन्द रश्मियों की उत्पत्ति हो चुकी होती है। स्मरण रहे कि इसमें किसी मंत्र की आवृत्ति की गणना नहीं है। इस प्रकरण में महर्षि ऐतरेय महीदास यहाँ अर्थात् पृथिवी से स्वर्ग लोक की दूरी १ सहस्र आश्वीन मानते हैं। "आश्वीनः" शब्द 'अश्वस्यैकाहगमः' (पा.अ.५.२.१९) से खञ् प्रत्यय से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ यह है कि एक अश्व द्वारा एक अहन् में तय की गई दूरी अश्वीन कहलाती है। इधर शास्त्रों में अहन् शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे - अहरेव सविता (गो.पू.१.३३), अहः स्वर्गः (श.१३.२.१.६), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.५.२४)। 'अश्व' शब्द का अर्थ किरण प्रसिद्ध ही है। इसका तात्पर्य यह है कि महर्षि कहना चाहते हैं कि **हमारे सूर्य के केन्द्रीय भाग की त्रिज्या ही आश्वीन है और सूर्य के केन्द्र से पृथ्वी के धरातल की दूरी १००० आश्वीन है।** उपर्युक्त १ सहस्र प्रकार के छन्दों की उत्पत्ति के द्वारा तारों के केन्द्रीय भाग अच्छी प्रकार प्रकट हो जाते, उनके तारों के शेष भाग से पूर्ण नियन्त्रक सम्बन्ध स्थापित हो जाते और परस्पर संगत होकर सम्यक् क्रियाशील हो जाते हैं। वे अपनी रश्मियों के द्वारा सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं।।

इस ब्रह्माण्ड में छन्द रश्मियों की कुल संख्या अपरिमित है। उधर सबके प्रेरक एवं सूक्ष्म उपादान तत्त्व मन और वाक् किंवा महत् तत्त्व भी अपरिमित क्षेत्र में व्याप्त होता है। इसलिए उनसे उत्पन्न और उनमें व्याप्त छन्द रश्मियां असंख्य आवृत्तियों और प्रकारों के कारण अपरिमित ही होती हैं। ये सभी छन्द रश्मियां प्रातरनुवाक रूप अर्थात् अत्यन्त तीव्र और व्यापक वेग से उत्पन्न होती हैं। यह तीव्र और व्यापक प्रक्रिया प्रजापति रूप मन और वाक् तत्त्वों का उक्थ रूप है। इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रक्रिया से ही प्राण और अन्न दोनों ही प्रकार के तत्त्वों का निर्माण होता है और सभी छन्द रश्मियां वाक् रूप होती हैं। इसलिए कहा गया है - "प्राणो वा ऽउक्तस्यान्नमेव थम् (श.१०.६.२.१०), वागुक्थम् (ष.१.५), उक्थमिति बह्वृचाः (उपासते) एष हीदं सर्वमुत्त्थापयति (श.१०.५.२.२०)"। प्राण वे तत्त्व हैं, जो किन्हीं अन्य तत्त्वों को प्रेरणा और बल प्रदान करते हैं एवं अन्न वे तत्त्व हैं, जो प्राण तत्त्वों से

प्रेरणा और वल प्राप्त करते हैं। ये दोनों ही तत्त्व सापेक्ष होते हैं। इस कारण कोई एक तत्त्व किसी का प्राण, तो अन्य किसी का अन्न भी होता है। इस प्रातरनुवाक क्रिया से वहुत सी छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर सभी प्रकार के वलों को उत्पन्न करती हैं और वे सभी वल सभी प्रकार के संयोग-वियोग आदि कर्मों को सम्पादित करते हैं।।

इस प्रकार की स्थिति वनने पर इस सृष्टि में सभी प्रकार की क्रियाएं होने लगती हैं, क्योंकि उस समय सभी आवश्यक वल उत्पन्न हो चुके होते हैं। इस कारण इस सृष्टि में अपरिमित छन्द रश्मियाँ क्रियाशील होती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त अन्य छन्द रश्मियों की भी उत्पत्ति होती है। कुल मिलाकर १००० छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनमें अनेक छन्द रश्मियां अनेक वार आवृत्त होती हैं। इन सवके प्रभाव से cosmic dust से वने हुए मेघ न केवल नेव्यूला का रूप धारण कर लेते हैं, अपितु उनमें तारों का भी निर्माण हो जाता है। यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** अपने सूर्य के केन्द्रीय भाग की त्रिज्या के माप का भी वर्णन करते हैं। यहाँ उन्होंने सूर्य के केन्द्रीय भाग की त्रिज्या को एक आश्वीन कहा है और सूर्य के केन्द्र के बाहरी भाग से पृथिवी की दूरी को १ सहस्र आश्वीन कहा है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सूर्य का ऊपरी पृष्ठ यहाँ से लगभग १५ करोड़ किमी. दूरी पर है तथा सूर्य की त्रिज्या ६,९६,००० किमी. है। तब पृथिवी के ऊपरी पृष्ठ से सूर्य के केन्द्र की दूरी १५,०६,९६,००० किमी.। माना **संलयन क्षेत्र की त्रिज्या = x किमी.।** तव उसके वाहरी भाग से पृथ्वी के पृष्ठ की दूरी = १५०६९६००० - x किमी., जो १००० x के वरावर होगी। तव x = **१,५०,५४५ किमी.। यहाँ यह कण्डिका पौरुषेय होने से इसमें नाप पृथिवी को ध्यान में रखते हुए ही मानी जानी चाहिए।**

१००० छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने पर तारों के निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। इस ब्रह्माण्ड में छन्द रश्मियों की संख्या असंख्य है। इन्हीं के संयोग आदि से विभिन्न प्रकार के कण और तरंगें एवं विभिन्न प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं।।
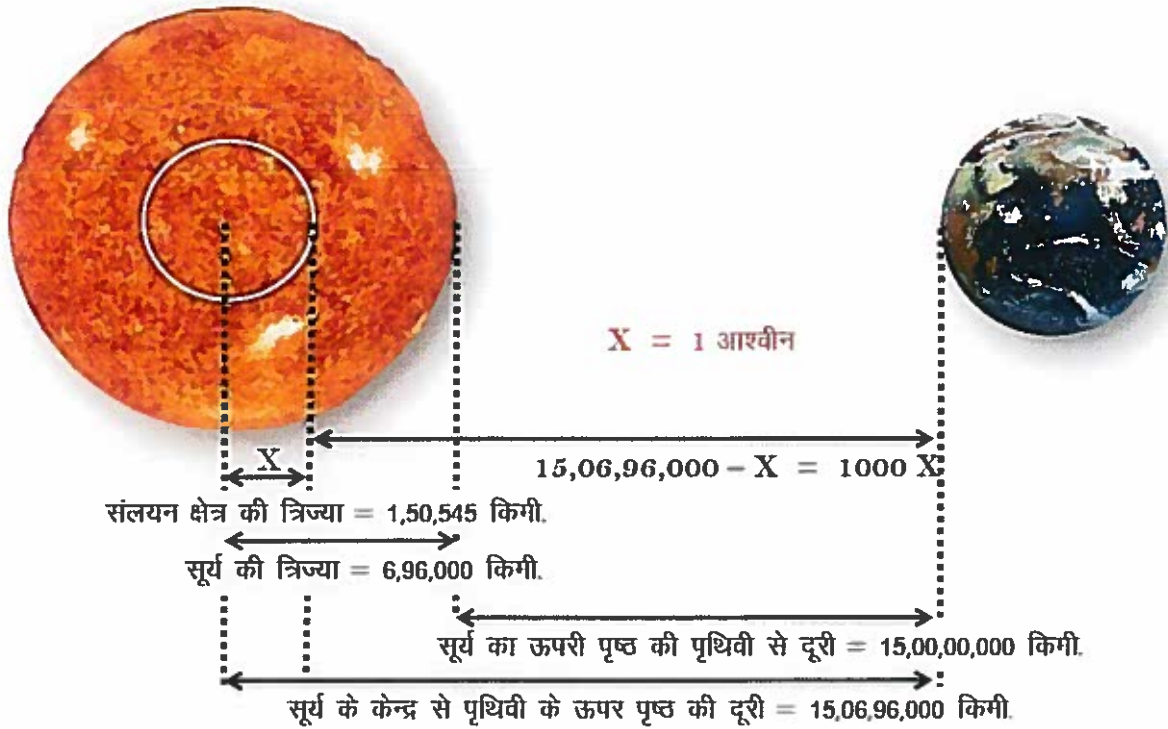
चित्र ७.६ सूर्य के केन्द्रीय भाग की त्रिज्या की माप की गणना

४. सप्ताऽऽग्नेयानि च्छन्दांस्यन्वाह सप्त वै देवलोकाः।।
सर्वेषु देवलोकेषु राध्नोति य एवं वेद।।
सप्तोषस्यानि च्छन्दांस्यन्वाह, सप्त वै ग्राम्याः पशवः।।
अव ग्राम्यान् पशून् रुन्धे य एवं वेद।।
सप्ताऽऽश्विनानि च्छन्दांस्यन्वाह, सप्तधा वै वाग्, अवदत् तावद् वै वागवदत् सर्वस्यै वाचः सर्वस्य ब्रह्मणः परिगृहीत्यै।।
तिस्रो देवता अन्वाह, त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोका एषामेव लोकानामभिजित्यै।।७।।

{ग्रामः = ब्रह्माण्डसमूहः (तु.म.द.य.भा.१६.४८), ग्रसतेऽत्ति यो वा ग्रस्यते स ग्रामः (उ.को. १.१४३), छन्दांसीव खलु वै ग्रामः (तै.सं.३.४.६.२)}

व्याख्यानम्– अब महर्षि आगे की कुछ अन्य प्रक्रियाओं को दर्शाते हुए कहते हैं -

अग्निदेवताक सात छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। ये छन्द रश्मियाँ कौन सी हैं, यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है। हाँ, यह निश्चित है कि ये अग्निदेवताक सातों छन्द रश्मियाँ पृथक्-२ होती हैं। इन सात प्रकार की छन्द रश्मियों के कारण देवलोक अर्थात् तारे सात प्रकार के होते हैं। आदित्य ही देवलोक कहलाते हैं। इसी कारण कहा है- "आदित्य एव देवलोकः" (जै.उ.३.३.३.१२) **इस ब्रह्माण्ड में तारों की कुल सात श्रेणियाँ हैं। दूसरी ओर यदि देवलोक का अर्थ कण मानें, तब यह सिद्ध होगा कि इस ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म कणों की भी सात ही श्रेणियाँ हैं।** इन सबमें अर्थात् भिन्न-२ श्रेणी के तारों व कणों में पृथक्-२ अग्निदेवताक छन्द रश्मियां प्रधानता से विद्यमान होती हैं। जब ब्रह्माण्ड में इन सप्त छन्द रश्मियों की बार-२ आवृत्ति होने लगती है, उस समय यहाँ सात श्रेणियों में विभक्त होने योग्य कण एवं तारों के गर्भ बनने लगते हैं। धीरे-२ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इनसे समृद्ध हो जाता है।।+।।

तदुपरान्त इस ब्रह्माण्ड में सात उषादेवताक छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियां कौन सी होती हैं, यह यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है। इनके उत्पन्न होने से सात प्रकार के दृश्य कण बनने लगते हैं। यहाँ सात प्रकार के कणों से तात्पर्य सात श्रेणियों में विभाजित करने योग्य कण। यहाँ 'पशु' शब्द का अर्थ संवत्सर अर्थात् तारा ग्रहण करने पर यह अर्थ होगा कि इन रश्मियों के बार-२ आवृत्त होने पर पूर्वोत्पन्न सात प्रकार के तारों के समूह भी सात प्रकार की श्रेणियों में विभक्त होने लगते हैं। यहाँ 'ग्राम्य' का अर्थ होगा - 'समूह में रहने योग्य'। जब ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की छन्द रश्मियों की प्रचुरता हो जाती है, तब समस्त ब्रह्माण्ड में सात विभिन्न प्रकार के तारा-गुच्छ बनते चले जाकर ब्रह्माण्ड उनसे समृद्ध हो जाता है। इनके प्रत्येक गुच्छ में पृथक्-२ उषादेवताक छन्द रश्मियां होती हैं। उनका पृथक्पन ही उन गुच्छों के भेद का कारण होता है। ये रश्मियां ही उन गुच्छों के आकार को बनाते किंवा तारों को बांधे रहती हैं।।+।।

तदनन्तर सात प्रकार की अश्विनौ-देवताक छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। वे भी बार-२ तेजी से आवृत्त होने लगती हैं।

{वागिति पृथिवी (जै.उ.४.११.१.११)} इन रश्मियों के प्रभाव से इस ब्रह्माण्ड में सात प्रकार के अप्रकाशित लोक उत्पन्न होने लगते हैं। इन लोकों में मुख्यतः सात प्रकार की छन्द रश्मियां ही कार्य करती हैं और इन रश्मियों के स्वर भी सात प्रकार के ही होते हैं, जैसा कि आचार्य सायण ने नारद शिक्षा को उद्धृत करते हुए लिखा है-

"षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्तमः स्वरः।।" (ना.शि.१.२.५)

इस समय ब्रह्माण्ड में सातों मुख्य प्रकार की छन्द रश्मियाँ सप्त स्वरों के साथ परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा के रूप में व्याप्त हो जाती हैं। ये रश्मियां सभी प्रकार की असंख्य छन्द रश्मियों और सभी प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म बलों को अपने अन्दर समेटे रहती हैं।।

उपर्युक्त छन्द रश्मियों के तीन देवता होते हैं। इस ब्रह्माण्ड में प्रकाशित लोक, अप्रकाशित लोक, अन्तरिक्ष लोक ही तीन प्रकार के प्रमुख लोक कहलाते हैं। उपर्युक्त क्रम के अनुसार विभिन्न प्रकार के तारों, उनके समूह एवं अप्रकाशित ग्रह-उपग्रह आदि लोक तीन प्रकार के लोकों में ग्रहण किये जा सकते हैं। इन सब लोकों को निर्मित, नियन्त्रित व संचालित करना उपर्युक्त तीन प्रकार के देवताओं वाली छन्द रश्मियों का प्रमुख कर्त्तव्य है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **इस ब्रह्माण्ड में तारों की कुल सात श्रेणियां हैं।** वर्तमान वैज्ञानिक भी तारों की कई श्रेणियां स्वीकार करते हैं, जैसे- Very massive stars, Massive stars, Light stars, Brown dwarfs, Eco (Eternally colapsing object), Ns (Neutron stars), White dwarfs, Black dwarfs. (उद्धृत A new case for an Eternally old Infinite universe- Dr. A.K. Mitra)

इस ब्रह्माण्ड में कण भी सात श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं। वर्तमान विज्ञान भी सात प्रकार के कणों को स्वीकार करता है। Introduction to Elementary particle के लेखक David griffiths कणों की सात श्रेणियां स्वीकार करते है, जैसे - (1) Quarks (spin½) (2) Leptons (spin½) (3) Mediators (spin 1) (4) Baryons (spin½) (5) Baryons (spin$^3/_2$) (6) Pseudoscalar mesons (spin 0) (7) Vector mesons (spin 1)|

हम समस्त ब्रह्माण्ड के पदार्थ को प्राथमिक प्राण, छन्द प्राण, आकाश तत्त्व, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी के रूप में स्वीकार करते हैं, जो वर्त्तमान विज्ञान के सात कणों की अपेक्षा अधिक व्यापक और मौलिक विभाजन है। इस ब्रह्माण्ड में गैलेक्सियां भी सात प्रकार की होती हैं, जिन पर वर्त्तमान विज्ञान को अनुसंधान करना चाहिए। मूल तत्त्व कहलाने वाले पदार्थ भी सात श्रेणियों में विभाजित हो सकते हैं।

इस ब्रह्माण्ड में ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु जैसे लोक भी सात प्रकार के ही होते हैं। इन **सभी के निर्माण, नियन्त्रण और संचालन में मुख्यतः सात प्रकार के ही छन्द प्राणों एवं सात प्रकार के प्राथमिक प्राण जैसे- प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, धनञ्जय एवं सूत्रात्मा वायु की भूमिका रहती है।।**

ॐ इति ७.७ समाप्तः ॐ

ॐ अथ ७.८ प्रारभ्यते ॐ

✲✲✲ तमसो मा ज्योतिर्गमय ✲✲✲

१. तदाहुः कथमनूच्यः प्रातरनुवाक इति।।
यथाछन्दसमनूच्यः प्रातरनुवाकः प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांस्येष उ एव प्रजापतिर्यो यजते तद् यजमानाय हितम्।।
पच्छोऽनूच्यः प्रातरनुवाकश्चतुष्पादा वै पशवः पशूनामवरुद्ध्यै।।
अर्धर्चश एवानूच्यो यथैवेनमेतदन्वाह प्रतिष्ठाया एव द्विप्रतिष्ठो वै पुरुषश्चतुष्पादाः पशवो, यजमानमेव तद्द्विप्रतिष्ठं चतुष्पात्सु पशुषु प्रतिष्ठापयति, तस्मादर्धर्चश एवानूच्यः।।

{पच्छः = पच्छ एकैकस्मिन् पादेऽवसायेत्यर्थः (आचार्य सायण भाष्य)। अङ्गम् = अङ्गेति क्षिप्रनाम, अञ्जितमेवाञ्चितं भवति (नि.५.१७), अङ्गनादञ्चनाद्वा (नि.४.३)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रातरनुवाक अर्थात् महत् वा मनस् तत्त्व में त्वरित स्पन्दन (fluctuation) किंवा सक्रियता का उद्भव कैसे होता है? इस विषय की चर्चा यहाँ करते है।।

मनस् तत्त्व में fluctuation = स्पन्दन छन्दों के अनुसार होता है किंवा छंदों के रूप में ही वह स्पन्दन होता है। दैवी छन्द रश्मियों से लेकर ब्राह्मी छन्द रश्मियों तक विविध रूपों वाले पृथक्-२ अक्षर संख्या वाले सात मुख्य छन्द होते हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के अतिच्छन्द होते हैं, जिनमें अक्षरों की संख्या और भी अधिक होती है। जिस छन्द में जितने अधिक अक्षर होते हैं, वे उतने ही अधिक वड़े स्पन्दन उत्पन्न करते हैं। **सभी प्रकार की छन्द रश्मियां मन और वाक् तत्त्व रूपी प्रजापति की अंग रूप होती हैं, साथ ही ये रश्मियां सृष्टियज्ञ रूपी प्रजापति की भी अंग रूप होती हैं। अंग रूप होने का तात्पर्य यह है कि एक तो ये मन-वाक् आदि का भाग होती हैं, दूसरी यह कि सभी छन्द रूप रश्मियों की पृथक्-२ पहचान भी होती है। इनके पृथक्-२ स्पन्दन होते हैं। ये स्पन्दन अत्यन्त शीघ्र और व्यापक होते हैं, पुनरपि ये परस्पर मिश्रित वा अस्त-व्यस्त नहीं होते।** भले ही किसी भी उच्च तकनीक से (यद्यपि ऐसी तकनीक विकसित होना असंभव है) उनका पृथक्पन अनुभव न हो सके, परन्तु वे रश्मियां वा स्पन्दन अपने वैशिष्ट्य एवं पृथक्पन से युक्त ही होती हैं। तदनुसार ही उनका कार्य और प्रभाव भी होता है। कोई भी क्रिया अनेक कारण रूप क्रियाओं का परिणाम होती है। वे कारण रूप क्रियाएं भले ही कितनी त्वरित और मिश्रित प्रतीत क्यों न होती हों, उनका पृथक्पन और वैशिष्ट्य कभी समाप्त नहीं होता। वाक् और मन रूपी प्रजापति ही परस्पर संगत होकर इन रश्मियों को उत्पन्न करते और विभिन्न अन्य संगमनीय पदार्थों को उत्पन्न करके धारण करते जाते हैं। इस कार्य में भी छन्दों का वैशिष्ट्य और पृथक्पन अपनी अनिवार्य भूमिका निभाता है।।

कुछ विद्वानों का मत दर्शाते हुए महर्षि लिखते हैं कि जिस प्रकार विभिन्न छन्द रश्मियों में भिन्न-२ पाद होते हैं, उसी प्रकार वे छन्द रश्मियां पादशः मनस् तत्त्व को स्पन्दित करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह स्पन्दन पृथक्-२ पदों वा पादों के द्वारा पृथक्-२ ही होता है। इस प्रकार स्पन्दन होने से विभिन्न मरुद् रश्मियों रूपी पशुओं की प्राप्ति होती है। जैसा कि हम जानते हैं कि सूक्ष्म छन्द रश्मियां ही मरुद् रूप होती हैं, जैसा कि कहा गया है - "यानि क्षुद्राणि छन्दांसि तानि मरुताम्" (तां. १७.१.३)। इन मरुद् रश्मियों के चार पाद होने का तात्पर्य यह है कि इनकी गतियां चार प्रकार की

होती हैं। यहाँ **'पशु'** शब्द का अर्थ द्रष्टव्य कण आदि मानें, तब यह संकेत मिलता है कि वे कण भी इसी पादशः स्पन्दन से उत्पन्न व नियन्त्रित होते हैं। ये कण भी चार गुण वाले होते हैं।।

अब महर्षि जी अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि विभिन्न छन्द रश्मियों का स्पन्दन उनके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध भागों के अनुसार होता है अर्थात् स्पन्दन अत्यन्त त्वरित गति से होते हुए भी उनके दो पृथक् भाग अपना-२ प्रभाव पृथक्-२ दर्शाये होते हैं। उधर यजमान अर्थात् महत् तत्त्व के भी दो विभाग मन और वाक् के रूप में होते हैं। सृष्टि प्रक्रिया में भूमिका निभाने वाले प्राथमिक प्राण रूपी यजमान भी मुख्यतः प्राणापान एवं प्राणोदान के रूप में होते हैं। उपर्युक्त यजमान संज्ञक पदार्थों के ये दो-२ भाग ही उनके आधार रूप होते हैं। किसी भी छन्द रश्मि के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध के पृथक्-२ स्पन्दन से मन और वाक् एवं प्राणापान वा प्राणोदान के रूप में प्रतिष्ठित मनस् तत्त्व एवं प्राथमिक प्राण विभिन्न उपर्युक्त मरुद् रश्मियों एवं दृष्टव्य कणों में प्रतिष्ठित होते हैं किंवा इस प्रकार के स्पन्दनों के द्वारा मरुद् रश्मियों और द्रष्टव्य कणों का निर्माण मनस् तत्त्वादि पदार्थ के द्वारा सम्पन्न हुआ करता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि का प्रारम्भ मूल प्रकृति पदार्थ से उत्पन्न महत् तत्त्व में चेतनसत्ता द्वारा विभिन्न स्पन्दनों के माध्यम से होता है। ये स्पन्दन (fluctuation=Vibration) विभिन्न चरणों में विभिन्न परिमाणों वाला होता है। सर्वप्रथम सूक्ष्म परिमाण वाले स्पन्दन होते हैं, जो दैवी गायत्री आदि सात भागों में विभक्त होते हैं। उसके पश्चात् उत्तरोत्तर बड़े परिमाण में स्पन्दन होते जाते हैं। ये स्पन्दन अत्यन्त तीव्र गति से एवं अति व्यापक स्तर पर परस्पर मिश्रीभाव रखते हुए होते हैं पुनरपि उन सभी स्पन्दनों का पृथक्-२ परन्तु अज्ञेय अस्तित्त्व सदैव बना रहता है। जिस प्रकार किसी तालाब में अनेक जगह पत्थर फैंकने पर अनेक तरंगें उत्पन्न होती हैं। वे परस्पर टकराती, मिश्रित होती हुई प्रतीत होती हैं, परन्तु उनका पृथक् अस्तित्त्व सदैव बना रहता है और जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं, परस्पर टकराकर Super Position की स्थिति बनाती हैं, अत्यन्त तीव्र गति से इधर-उधर गति करती हैं, पुनरपि उनका पृथक् अस्तित्त्व सदैव बना रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अव्यवस्था फैलकर दृश्य, श्रव्य एवं संचार आदि व्यवस्थाएं ध्वस्त हो जातीं। उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में महत् तत्त्व में विभिन्न छन्द रश्मियों रूपी जो स्पन्दन उत्पन्न होते हैं, वे अति तीव्र गतिशील होते हुए एवं परस्पर टकराते हुए भी अपना पृथक् अस्तित्त्व बनाये रखते हैं, जैसे वर्तमान विज्ञान की भाषा में समुद्र में solitary waves। यदि ऐसा नहीं होता तो विभिन्न स्पन्दन एक-दूसरे को नष्ट कर सकते थे, जिससे कोई भी सृजन कर्म उत्पन्न नहीं हो पाता किंवा जारी नहीं रह पाता। विभिन्न छन्द रूपी स्पन्दनों में आधे-२ भाग पर एक अति सूक्ष्म विराम होता है। कुछ ऋषियों के अनुसार प्रत्येक चौथाई भाग में अति सूक्ष्म विराम होता है। इस प्रकार के विराम के कारण अनेक मरुद् रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। इन रश्मियों की गति चार प्रकार की होती है। आगे चलकर इनसे अनेक प्रकार के मूल कण कहे जाने वाले कण उत्पन्न होते हैं, जिनके भी मुख्यतः चार गुण होते हैं - (१) आकर्षण बल, (२) प्रतिकर्षण बल, (३) अपने अक्ष पर घूर्णन और (४) गतिशीलता अथवा (१) आवेश, (२) द्रव्यमान, शेष उपर्युक्त में से तीसरा व चौथा गुण। इन सबकी उत्पत्ति उन स्पन्दनों के कारण ही होती है।।

चित्र ७.७ मनसतत्त्व में जल के समान विभिन्न तरंगों की उत्पत्ति

२. तदाहुर्यद्व्यूह्ळः प्रातरनुवाकः कथमव्यूह्ळो भवतीति यदेवास्य बृहती मध्यान्नैतीति ब्रूयात्तेनेति।।
आहुतिभागा वा अन्या देवता अन्याः स्तोमभागाश्छन्दोभागास्ता या अग्नावाहुतयो हूयन्ते ताभिराहुतिभागाः प्रीणात्यथ यत्स्तुवन्ति च शंसन्ति च तेन स्तोमभागाश्छन्दोभागाः।।
उभयो हास्यैता देवताः प्रीता अभीष्टा भवन्ति य एवं वेद।।

{व्यूह्ळः = (व्यूढः = फुलाया हुआ, विकसित, क्रमवद्ध - आप्टे कोष)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि एक अन्य प्रश्न उपस्थित करके उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं कि आर्षी एवं प्राजापत्या गायत्री छन्द से लेकर उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, शक्वरी आदि सभी छन्द चार-२ वढ़े हुए अक्षरों के क्रम से वनते हैं, लेकिन सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत जव इनकी उत्पत्ति मनस् तत्त्व में स्पन्दनों के द्वारा होती है, तव इस क्रम में व्यवधान क्यों हुआ करता है? यहाँ आचार्य सायण ने महर्षि आश्वलायन को उद्धृत करते हुए "अव्यूढ" अर्थात् क्रम भंग को गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, वृहती, उष्णिक्, जगती एवं पंक्ति आदि के रूप में दर्शाया है। तव प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सृष्टि प्रक्रिया में क्यों वढ़ते हुए अक्षरों के क्रमानुसार ही छन्द रश्मियों की उत्पत्ति नहीं होती? इस क्रमभंग का हमें एक {बृहती = बृहती परिवर्हणात् (नि.९.७), बृहती मर्या ययेमान् लोकान् व्यापामेति तद् बृहत्या बृहत्त्वम् (तां.७.४.३), अयं मध्यमो (लोकः = अन्तरिक्षम्) बृहती (तां.७.३.६), बृहती द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३)} रहस्य यह प्रतीत होता है कि इस क्रम के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया निम्नानुसार सम्यग् रूप से अग्रसर होती है -

सर्वप्रथम दैवी आदि गायत्री छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, जिसके कारण सम्पूर्ण सूक्ष्मतम पदार्थ अति सूक्ष्म वल और दीप्ति से युक्त हो जाता है। तदनन्तर अनुष्टुप् छन्द रश्मि इस कारण उत्पन्न होती है, क्योंकि इस रश्मि को भी वाक् तत्त्व के प्रथम रूप में स्वीकार किया गया है और इसी आधार पर इसको गायत्री छन्द रश्मि का रूप कहकर विभिन्न छन्दों का कारण कहा है, जैसा कि आर्ष मत है - "गायत्री वै सा यानुष्टुप् (कौ.ब्रा.१०.५), वागेवासौ प्रथमानुष्टुप् (कौ.ब्रा.१५.३), अनुष्टुब्धि छन्दसां योनिः (तां.११.५.१७)"। इस कारण अनुष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति से पूर्वोत्पन्न वल और दीप्ति अपेक्षाकृत व्यक्ततर हो जाते हैं। इस छन्द रश्मि को उत्पन्न होने वाले अग्रिम छन्दों की योनि कहा है। इसके पश्चात् क्रम भंग करके बृहती छन्द के स्थान पर त्रिष्टुप् छन्द की उत्पत्ति होती है। इस छन्द रश्मि के स्पन्दन अत्यन्त वल और तेज वर्षक होते हैं। इस कारण यह छन्द रश्मि अनुष्टुप् रश्मिमय पदार्थ में अपने तेज और वल का सिंचन करके आकर्षण, प्रतिकर्षण और धारण आदि वलों को उत्पन्न करती है। इसी कारण कहा है - "वृषा वै त्रिष्टुप् योषानुष्टुप् (ऐ.आ.१.३.५)"। इन दोनों के संयोग से वृहती छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। हमारे मत में आर्षी छन्दों को दृष्टिगत रखते हुए एक त्रिष्टुप् दो अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से संयुक्त होकर तीन वृहती छन्द रश्मियों का निर्माण करती है। बृहती प्राण के उद्भव से आकाश तत्त्व की उत्पत्ति होने लगती है। इसके साथ ही विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य अवकाश उत्पन्न होकर पूर्वोत्पन्न छन्द रश्मियों की पृथक्-२ मर्यादाएं निर्मित होने लगती हैं, जो आगे चलकर विभिन्न सूक्ष्म कणों को उत्पन्न करने में कारण वनती हैं। ये कण प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के होते हैं। इसके पश्चात् उष्णिक् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, जिसके कारण दाह गुण भी विशेषतया उत्पन्न होने लगता है। उस समय ब्रह्माण्ड का समस्त पदार्थ सुन्दर, कान्तिमय, गर्म और विभिन्न प्रकार के कणों से युक्त हो जाता है। तदनन्तर जगती प्राण की उत्पत्ति होती है। यह प्राण रश्मि अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में फैलती हुई अग्नि तत्त्व के विस्तार में प्रभावी भूमिका निभाती है। इस समय विभिन्न कणों की उत्पत्ति विशेष समृद्ध होती है। इसी कारण कहा है - "प्रजननं जगती" (जै.ब्रा.१.९३)। इस छन्द रश्मि को 'सिनीवाली' कहा है - "या सिनीवाली सा जगती (ऐ.३.४७)"। तात्पर्य यह है कि यह छन्द रश्मि सवको अपने आकर्षण में वांधने वाली होती है। इस सृष्टि प्रक्रिया में वृहती छन्द रश्मि पुरुष रूप होकर योषा रूप जगती छन्द रश्मि में अपने वल का सिंचन करके पंक्ति

छन्द रश्मि को उत्पन्न करती है। इसलिये कहा है - "योषा वै सिनीवाली (श.६.५.१.१०) एवं पुंसो वा एतद् रूपं यद् बृहत् स्त्रियै जगती (जै.ब्रा.३.२६१)"। यह पंक्ति छन्द विभिन्न कणों के मध्य संयोग-वियोग की प्रक्रिया को व्यापक और तीव्रतम बनाता है। इसके कारण समस्त ब्रह्माण्ड में सर्ग प्रक्रिया विस्तृत होती चली जाती है। इस प्रकरण से पूर्वोक्त अग्नि, उषा, और अश्विनौ के क्रम की भी पूर्ण संगति स्पष्ट होती है। अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि गायत्री छन्द रश्मि के पश्चात् उष्णिक् छन्द रश्मि अनुष्टुप् छन्द रश्मि से पूर्व तथा त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के पूर्व बृहती छन्द रश्मि क्यों नहीं उत्पन्न हो सकती? इसका कारण हमें यह समझ आता है कि गायत्री छन्द रश्मि की उत्पत्ति के तुरन्त पश्चात् उष्णिक् छन्द रश्मि उत्पन्न होने से न तो अनुष्टुप् छन्द रश्मि को गायत्री छन्द रश्मि के समान माना जा सकता और न अनुष्टुप् छन्द रश्मि का त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के साथ मिथुन हो सकता है और न ही अनुष्टुप् छन्द को प्रथमा वाक् कहकर सभी छन्दों की योनि कहा जा सकता। इस कारण उष्णिक् छन्द रश्मि अनुष्टुप् छन्द रश्मि के पूर्व उत्पन्न नहीं हो सकती। हम इस पर दूसरी तरह से विचार करें, तो गायत्री छन्द रश्मि के उत्पन्न होने मात्र से एवं बृहती छन्द रश्मि के उत्पन्न होने से पूर्व किसी भी प्रकार के कणों का निर्माण संभव नहीं है और न त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् के उत्पन्न होने के पूर्व ऊष्मा और प्रकाश का स्पष्ट प्रकट होना ही संभव है। इस कारण उष्णिक् छन्द रश्मि की उत्पत्ति गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् ही होती है। इसी प्रकार बृहती छन्द रश्मि की उत्पत्ति के क्रम पर विचार करते हैं- बृहती छन्द रश्मि त्रिष्टुप छन्द रश्मि के पूर्व इस कारण उत्पन्न नहीं हो पाती क्योंकि ऐसा होने से त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् का मिथुन नहीं हो सकता और दूसरा कारण इसका यह भी है कि त्रिष्टुप् छन्द अपने तीव्र बल और तेज से अन्य छन्द रश्मियों को, विशेषकर अनुष्टुप् छन्द रश्मि को अपने साथ तीन प्रकार से बांधकर अन्य छन्दों को उत्पन्न करने में, विशेषकर बृहती छन्द को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इसलिये महर्षि यास्क कहते हैं- "यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते (नि.७.१२)"। दूसरा यह कारण भी है कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के अभाव में पर्याप्त बल और तेज की विद्यमानता न होने से कोई भी छन्द अन्य छन्द रश्मियों को मर्यादाओं में बांधकर कण आदि का निर्माण नहीं कर सकता। इस कारण बृहती छन्द रश्मि की उत्पत्ति त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के पश्चात् ही होती है। यदि ऐसा न हो तो बृहती छन्द रश्मि का बृहत्पन ही नहीं रह पायेगा, क्योंकि उसके गुण ही प्रकट नहीं हो पायेंगे। इसी बात को ऋषि ने कहा है कि बृहती छन्द अन्य छन्द रश्मियों के मध्य से पलायन कर जायेगा।।

{स्तोमः = प्राणा वै स्तोमाः (श.८.४.१.३), वीर्यं वै स्तोमाः (तां.२.५.४), गायत्रीमात्रो वै स्तोमः (कौ.ब्रा.१६.८), स्तौति येन स स्तोमः (उ.को.१.१४०)}

देवता अर्थात् दिव्य अर्थात प्रकाशित एवं बलयुक्त पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं -

(१) वे पदार्थ, जो विभिन्न सूक्ष्म कणों का आदान-प्रदान करते हैं और यह आदान-प्रदान की क्रिया वे अपने आकर्षण बलों के द्वारा सब ओर से करते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा संयोग-वियोग की प्रक्रिया विस्तृत होती है।

(२) वे पदार्थ, जो स्तोम अर्थात् तेजस्वी एवं बलवान् प्राणापान आदि पदार्थों का भक्षण करते हैं। वे इससे स्थूल पदार्थों का भक्षण नहीं कर सकते। इन प्राणादि पदार्थों के कारण ही वे बल और तेज से युक्त होते हैं।

(३) वे पदार्थ, जो छन्द रूपी विभिन्न रश्मियों का विशेष भक्षण करते हैं।

जब विद्युदग्नि से युक्त पदार्थों से अन्य कणों का आकर्षण-विकर्षण होता है, तब वे पदार्थ परस्पर तृप्त होकर अपेक्षाकृत स्थायित्व प्राप्त करते हैं। जब पदार्थ दीप्तिमान् एवं तीव्र बलयुक्त होते हैं, उस समय वे विभिन्न प्रकार के प्राथमिक प्राणों एवं छन्द रश्मियों का अवशोषण कर रहे होते हैं। यह छन्द तथा प्राथमिक प्राण, दोनों ही वायु रूप तत्त्व हैं। इस कारण इन दोनों को एक ही मानकर प्रकाशित पदार्थों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है। इस प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होने पर उपर्युक्त तीनों प्रकार के पदार्थ परस्पर संयुक्त व तृप्त होकर अभीष्ट पदार्थों का सम्पादन करते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में **पूर्वोक्तानुसार मनस् तत्त्व में जब विभिन्न छन्द रश्मि रूप स्पन्दन** (fluctuation = vibration) **उत्पन्न होते हैं, उनका क्रम गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, बृहती, उष्णिक्, जगती एवं पंक्ति के रूप में होता है।** इनमें भी दैवी छन्द रश्मियां सर्वप्रथम उत्पन्न होती हैं। गायत्री छन्द रश्मिरूप स्पन्दन होने से ब्रह्माण्ड का सूक्ष्मतम अवस्था वाला वह पदार्थ अति सूक्ष्म बल और दीप्ति से युक्त हो जाता है। उसके पश्चात् अनुष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति से वह बल और दीप्ति स्पष्ट भासने लगती है। फिर उस पदार्थ में पुनः तीव्र fluctuation होते हैं, जो त्रिष्टुप् कहलाते हैं। इनके कारण सम्पूर्ण पदार्थ अत्यन्त तेज और बल से युक्त हो जाता है। इस समय आकर्षण, प्रतिकर्षण और धारण बलों को उत्पन्न करने वाले बृहती रूप स्पन्दन उत्पन्न होते हैं। इन स्पन्दनों के कारण वे बल और तेज विस्तृत होकर कण रूप स्थिति का निर्माण करने लगते हैं अर्थात् वह पदार्थ कुछ-२ संघनित होकर सूक्ष्मतम कणों का निर्माण करने लग जाता है। इसके कारण पदार्थ में अवकाश भी उत्पन्न होने लगता है। इसी समय आकाश तत्त्व की भी उत्पत्ति होती है और वायु तत्त्व भी इसी समय निर्मित होता है, क्योंकि वायु छन्द और प्राणों का ही रूप होता है, जो सर्वत्र प्रवाहित होने के गुण से युक्त हो जाता है। ध्यातव्य है कि यह वायु Air नहीं है। इसके पश्चात् उस वायु रूप पदार्थ में उष्णिक् नामक स्पन्दन उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति होती है। फलस्वरूप ब्रह्माण्ड में सर्वत्र फैला हुआ वह पदार्थ दृश्य, प्रकाश और ऊष्मा से युक्त होने लगता है। उसके पश्चात् उस पदार्थ में जगती नामक स्पन्दन उत्पन्न होते हैं, जो सर्वत्र फैलकर ऊर्जा के उत्सर्जन और अवशोषण की प्रक्रिया को जन्म देते हैं। इसके पश्चात् पंक्ति नामक स्पन्दन उत्पन्न होते हैं, जिनसे विभिन्न उत्पन्न सूक्ष्म कणों के मध्य संयोग-वियोग की प्रक्रिया उत्पन्न और विस्तृत होने लगती है। इस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में अत्यन्त तेज और ऊष्मा की अवस्था उत्पन्न हो जाती है और उस समय अनेक प्रकार के कणों की उत्पत्ति होने लगती है। विभिन्न स्पन्दनों के इस क्रम की विशेषता और अपरिहार्यता समझने तथा किस स्पन्दन का किस अन्य स्पन्दन से मेल होकर नवीन स्पन्दनों एवं तत्त्वों के निर्माण की प्रक्रिया समझने के लिए व्याख्यान भाग अवश्य पढ़ें।

इस ब्रह्माण्ड में मुख्यतः तीन प्रकार के प्रकाशित पदार्थ होते हैं-

(१) वे पदार्थ, जो इलेक्ट्रॉन आदि कणों के संयोग-वियोग से नवीन तत्त्वों का निर्माण करते हैं। विभिन्न एटम्स और मोलिक्यूल्स इस श्रेणी के पदार्थ होते हैं।

(२) वे पदार्थ, जो प्राथमिक प्राणों के आदान-प्रदान से नये पदार्थों का निर्माण करते हैं। विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियां, क्वान्टाज् एवं मिडीएटर पार्टिकल्स इस श्रेणी में आ सकते हैं।

(३) वे पदार्थ, जो छन्द रश्मियों के आदान-प्रदान से नवीन तत्त्वों का निर्माण करते हैं। इलेक्ट्रॉन्स, क्वार्क्स और क्वान्टाज् आदि सूक्ष्म कण इस श्रेणी में आ सकते हैं।

इनमें दूसरी और तीसरी श्रेणी को एक भी माना जा सकता है। दूसरी और तीसरी श्रेणी के पदार्थ प्रथम श्रेणी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और दीप्तियुक्त होते हैं।।

३. त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः सोमपास्त्रयस्त्रिंशदसोमपा, अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च, एते देवाः सोमपाः एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजा एतेऽसोमपाः पशुभाजनाः सोमेन सोमपान् प्रीणाति पशुनाऽसोमपान्।।
उभयो हास्यैता देवताः प्रीता अभीष्टा भवन्ति य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि देवों की संख्या कुल ६६ बतला रहे हैं, जिसमें ३३ प्रकार के देव ऐसे हैं, जो सोम तत्त्व को अर्थात् मन्दगामी शीतल व प्रकाशविहीन मरुद् रश्मियों को अवशोषित करते रहते हैं। साथ ही उनको अपने अन्दर धारण व रक्षित करते किंवा उनके द्वारा रक्षित होते हैं। इन ३३ देवों में ८ आठ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और १-१ प्रजापति व वषट्कार कहे गये हैं। वेद संहिताओं में भी ३३ देवों के होने के प्रमाण महर्षि दयानन्द ने अपने "ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका" ग्रन्थ के "वेद विषय विचार" नामक अध्याय में इस प्रकार दिये हैं-

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्।। (ऋ.८.२८.१)

त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्।। (यजु.१४.३१)

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ।।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः।। (अथर्व.१०.७.२३,२७)

वसु आदि देवों की गणना करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं -

कतमे वसव इति? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च
द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः।
एतेषु हीदँ सर्वं वसु हितमेते हीदँ
सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदँ सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति।।
कतमे रुद्रा इति? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते
यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति।।
कतम आदित्या इति? द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः।
एते हीदँ सर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदँ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति।।
कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति।
कतम स्तनयित्नुरित्यशनिरिति। कतमो यज्ञ इति? पशव इति।। ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका से उद्धृत (श.१४.६.९.४-७)

इसका तात्पर्य है कि अग्नि तत्त्व अर्थात् ऊर्जा किंवा विद्युत्, पृथिवी अर्थात् विभिन्न ग्रहादि लोक, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य- जिसका अर्थ महर्षि दयानन्द ने 'सूर्य' किया है, द्यौ- जिसका अर्थ महर्षि दयानन्द ने 'सूर्य का प्रकाश' किया है, चन्द्रमा- हमारे मत में इसका अर्थ विभिन्न प्रकार के उपग्रह आदि लोक हो सकते हैं, नक्षत्र अर्थात् विभिन्न प्रकार के तारे, ये कुल मिलाकर आठ वसु कहलाते हैं, क्योंकि ब्रह्माण्ड का समस्त पदार्थ इन्हीं में बसा हुआ है। ये सभी पदार्थ अग्नि और सोम के संयोग से ही निर्मित होते हैं और अग्नि तत्त्व स्वयं सोम तत्त्व से उत्पन्न होता है। इसलिये महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद १.६३.५ के भाष्य में 'सोम' शब्द का अर्थ 'कारणरूप वायु' किया है और ऋ.१.१.१ के भाष्य में सभी पदार्थों को सोम कहा है। इन आठ वसुओं को सोम तत्त्व से निर्मित होने के कारण एवं सदैव सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के अवशोषक होने के कारण "सोमपा" कहा गया है।

रुद्र पदार्थों की गणना करते हुए प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, देवदत्त, धनञ्जय, कृकल नामक दश प्राण और एक आत्मा का ग्रहण किया है। यहाँ आधिदैविक तथा सोमपान के प्रकरण में हम 'आत्मा' शब्द से सूत्रात्मा वायु का ग्रहण करेंगें। 'रुद्र' शब्द का अर्थ प्रकाशित वा सक्रिय करने वाला ग्रहण करेंगे, क्योंकि "रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम्" (निघं.३.१६)। ये कुल ११ प्राथमिक प्राण इस कारण सोमपा कहलाते हैं, क्योंकि ये ही मरुद् रश्मियों रूपी सोम तत्त्व के निर्माता होते हैं और ये ही उस तत्त्व की रक्षा भी करते हैं। इसलिये कहा गया है - "सोमो रुद्रेभिरभि रक्षतु त्मना" (मै.४.१२.२)। यहाँ "त्मना" से आत्मना का ग्रहण करना चाहिए और 'आत्मना' पद में द्वितीया अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग छान्दस है।

१२ देवता आदित्य संज्ञक कहलाते हैं। यहाँ 'आदित्य' शब्द का अर्थ १२ मास नामक रश्मियां हैं। ये रश्मियां ऊष्मा की उत्पादिका और विभिन्न प्राणादि पदार्थों की सन्धानकारिणी होती हैं। इनको सोमपा इस कारण कहा गया है कि विभिन्न तारों के अन्दर सोम रश्मियों को परस्पर जोड़े रखकर उनकी रक्षा करने में भी इनकी महती भूमिका होती हैं, क्योंकि ये आदित्य अर्थात् सूर्यादि लोकों में विशेषतया निवास करती हैं, इस कारण इन्हें आदित्य कहा गया है।

३२ वाँ देवता 'प्रजापति' कहलाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार यज्ञ ही प्रजापति है अर्थात् विभिन्न तत्त्वों का संयोग-वियोग ही प्रजापति संज्ञक कहलाता है और इस संयोग-वियोग में सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों का आदान-प्रदान विशेष होने से इस प्रक्रिया को भी सोमपा कहा जाता है। उधर जैसा कि हम अनेकत्र लिखते आये हैं कि मन भी प्रजापति है, क्योंकि कहा गया है- "मनो हि प्रजापतिः" (सामविधानब्राह्मण १.१.४)। उधर "वाग् वै यज्ञः" (ऐ.५.२४) और "वागिति मनः" (जै.उ.४.११.१.११) इन प्रमाणों के आधार पर भी प्रजापति और यज्ञ दोनों मन अर्थ में भी सिद्ध होते हैं। यह मनस् तत्त्व न केवल मरुद् रश्मियों अपितु प्राणमात्र का रक्षक होने से सोमपा कहलाता है।

अगला ३३ वाँ देवता वषट्कार अर्थात् वज्र रूप तीक्ष्ण किरणें होती हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य इन्द्र अर्थात् विद्युत् युक्त वायु को ३३ वाँ देवता मानते हैं। इन्द्र तत्त्व भी अति तीक्ष्ण किरणों के रूप में होता है, इस कारण इसे सर्वत्र वज्रधारी कहा जाता है। इसकी तीक्ष्ण रश्मियां मरुद् रश्मियों से युक्त होने के कारण इसे 'सोमपा' कहा जाता है।

अब असोमपा देवों पर विचार करते हैं। यहाँ आचार्य सायण के भाष्य में इन देवताओं के विषय में आर्ष मत को निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है -

(१) समिधः, तनूनपात् नराशंसो वा, इळः, बर्हिः, दुरः, उषासानक्ता, दैव्याहोतारा:, तिस्रो देव्यः (इडा, सरस्वती, भारती), त्वष्टा, वनस्पतिः, स्वाहाकृतयः, - इत्येकादशप्रयाजदेवताः (तै.ब्रा.३.६.२,३)।

(२) बर्हिः, द्वारः, उषासानक्ता, जोष्ट्री, ऊर्जाहुती, दैव्याहोतारा, तिस्री देव्याः, नराशंसः वनस्पतिः, बर्हिः, स्विष्टकृत् - इत्येकादशानुयाजदेवताः (तै.ब्रा.३.६.१३-१४)।

(३) समुद्रः, अन्तरिक्षम्, सविता, अहोरात्रे, मित्रावरुणौ, सोमः यज्ञः, छन्दांसि, द्यावापृथिवी, दिव्यं नभः, वैश्वानरः, आपः - इत्येकादशोपयाजदेवता (तै.सं.६.४.१) उपयजोपयाजशब्दावेकार्थौ - इति आचार्य सायणः।"

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.६.२,३ में कुल १२-१२ ऋचाएं दी हुई हैं, जिनके देवता वही हैं, जो आचार्य सायण ने प्रथम प्रमाण में दर्शाये हैं। ये १२ छन्द रश्मियां ११ प्रयाज संज्ञक छन्द रश्मियों के समान कार्य करती हैं, क्योंकि आचार्य सायण ने तनूनपात् एवं नराशंस देवताक ऋचाओं को एक-दूसरे के विकल्प से ग्रहण किया है। इस कारण ये कुल ११ प्रयाज संज्ञक ऋचाएं कहलाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये छन्द रश्मियां वृषा का कार्य करती हैं, जैसा कि हम पूर्व में भी उद्धृत कर चुके हैं- "प्राणा वै प्रयाजाः (ऐ.१.११; श.११.२.७.२७), यज्ञमुखं वै प्रयाजाः....वीर्यं वै प्रयाजाः (मै.१.७.३), रेतः सिच्यं वै प्रयाजाः (कौ.ब्रा.१०.३)"। इससे सिद्ध होता है कि ये ११ छन्द रश्मियां प्राण नामक प्राथमिक प्राण से प्रधानता से युक्त होती हैं तथा ये अन्य किंवा अनुयाज संज्ञक रश्मियों में अपने तेज सिंचन करती हुई उनसे संयुक्त रहती हैं। आचार्य सायण ने अपने तै.ब्रा. के भाष्य में आचार्य बोधायन को उद्धृत करते हुए लिखा है- "यदा जानाति समिद्भ्यः प्रेष्येति तं मैत्रावरुणः प्रेष्यति "होता यक्षदग्निँ सुषमिधा समिद्धम्" इति....."। इस विषय में हमारा मत यह है कि मन रूपी मैत्रावरुण प्राथमिक प्राण रूपी प्राणों एवं अन्य ऋषि संज्ञक प्राणों को प्रेरित करके इन प्रयाज संज्ञक छन्द रश्मियों को उत्पन्न कराता है। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "मनो मैत्रावरुणः" (श.१२.८.२.२३; तै.ब्रा.३.६.२.१-१२; ३.६.३.१-१२) में वर्णित १२-१२ ऋचाएं इस प्रकार हैं-

(१) होता॑ यक्षदग्निः॒समिधा॑ सुषमिधा समि॑द्धंनाभा॑ पृथिव्याः। संगथे वामस्य॑। वर्ष्मन्दिव इडस्पदे वेत्वाज्यस्य होतर्यज॑, इति।।

(२) होता॑ यक्षत्तनूनपा॑तमदि॑तेर्गर्भं भुव॑नस्य गोपाम्। मध्वाद्य देवो देवेभ्यो॑ देवयाना॑न्पथो अ॑नक्तु वेत्वाज्य॑स्य होतर्यज॑, इति।।

(३) होता॑ यक्षन्नराश॒ꣳसं नृशꣳसं नृः॒प्रणे॑त्रम्। गोभिर्वपावान्त्स्याद्वीरैः शक्तीवान्रथैः प्रथमयावा हिर॑ण्यैश्चन्द्री वेत्वाज्य॑स्य होतर्यज॑, इति।।

(४) होता॑ यक्षदग्निमिड ईडितो देवो देवा॒ आव॑क्षद्दूतो ह॑व्यवाडमूर॑ः। उपेमं यज्ञमुपेमां देवो देवहूतिमवतु वेत्वाज्य॑स्य होतर्यज॑, इति।।

(५) होता यक्षद्बर्हिः सुष्टरीमोर्णम्रदा अस्मिन्यज्ञे वि च प्र च प्रथताꣳ स्वासस्थं देवेभ्यः। एमेनदद्य वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु प्रियमिन्द्रस्यास्तु वेत्वाज्यस्य होतर्यज,(१) इति।

(६) होता यक्षद्दुर ऋष्वाः कवष्योऽकोषधावनीरुदाताभिर्जिहतां वि पक्षोभिः श्रयन्ताम्। सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्तामृतावृधो वियन्त्वाज्यस्य होतर्यज, इति।

(७) होता यक्षदुषासानक्ता बृहती सुपेशसा नृꣳपतिभ्यो योनिं कृण्वाने। सꣳस्मयमाने इन्द्रेण देवैरेदं बर्हिः सीदतां वीतामाज्यस्य होतर्यज, इति।

(८) होता यक्षद्दैव्या होतारा मन्द्रा पोतारा कवी प्रचेतमा। स्विष्टमद्यान्यः करदिषा स्वभिगूर्तमन्य ऊर्जा सतवसेमं यज्ञं दिवि देवेषु धत्तां वीतामाज्यस्य होतर्यज, इति।

(९) होता यक्षत्तिस्रो देवीरपसामपस्तमा अच्छिद्रमद्येदमपस्तन्वताम्। देवेभ्यो देवीर्देवमपो वियन्त्वाज्यस्य होतर्यत, इति।

(१०) होता यक्षत्त्वष्टारमचिष्टुमपाकꣳ रेतोधां विश्रवसं यशोधाम्। पुरुरूपमकामकर्शनꣳ सुपोषः पोषैः स्यात्सुवीरो वीरैर्वेत्वाज्यस्य होतर्यज, इति।

(११) होता यक्षद्वनस्पतिमुपावस्रक्षद्धियो जोष्टारꣳ शशमन्नरः। स्वदात्स्वधितिर्ऋतुथाऽद्य देवो देवेभ्यो हव्याऽवाड्वेत्वाज्यस्य होतर्यज, इति।

(१२) होता यक्षदग्निꣳ स्वाहाऽऽज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳ स्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳ स्वाहा हव्यसूक्तीनाम्। स्वाहा देवाꣳ आज्यपान्स्वाहाऽग्निꣳ होत्राज्जुषाणा अग्न आज्यस्य वियन्तु होतर्यज(२), इति।

(१३) समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे। देवो देवान्य जसि जातवेदः। आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्। त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः, इति।

(१४) तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्। मध्वा समजन्त्स्वदया सुजिह्व। मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्। देवत्रा च कृणुह्यध्वर नः, इति।

(१५) नराशꣳसस्य महिमानमेषाम्। उपस्तोषाम यजतस्य यज्ञैः (१)। ते सुक्रतवः शुचयो धियंधाः। स्वदन्तु देवा उभयानि हव्याः, इति।

(१६) आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्च। आयाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः। त्वं देवानामसि यह्व होता। स एनान्यक्षीषितो यजीयान, इति।

(१७) प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्याः। वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्। व्युप्रथते वितरं वरीयः। देवेभ्यो अदितये स्योन्नम् (२), इति।

(१८) व्यचस्वतीरुर्विया विश्रयन्ताम्। पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः। देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वाः। देवेभ्यो भवथ सुप्रायणाः, इति।

(१९) आ सुष्वयन्ती यजते उपाके। उषासानक्ता सदतां नि योनौ। दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे। अधि श्रियꣳ शुक्रपिशं दधाने, इति।

(२०) दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा। मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै(३)। प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू। प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता, इति।
(२१) आ नो यज्ञं भारती तूयमेतु। इडा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्बर्हिरेदᳪस्योनम्। सरस्वतीः स्वपसः सदन्तु, इति।

(२२) य इमे द्यावापृथिवी जनित्री। रूपैरपिᳪशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान्। देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्, इति।

(२३) उपावसृजत्मन्या समञ्जन्। देवानां पाथ ऋतुथा हवीᳪषि। वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः। स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन, इति।।

(२४) सद्योजातो व्यमिमीत यज्ञम्। अग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः। अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि। स्वाहाकृतᳪ हविरदन्तु देवाः, इति।।

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.६.१३ में सायण द्वारा उद्धृत १० देवताओं वाली ११ छन्द रश्मियां अनुयाज कहलाती हैं। इन छन्द रश्मियों को भी पूर्ववत् मनस् तत्त्व की प्रेरणा से प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण एवं कुछ अन्य सूक्ष्म ऋषि नामक प्राण उत्पन्न करते हैं। ये छन्द रश्मियां अनुयाज कहलाती हैं। ये अनुयाज संज्ञक छन्द रश्मियां अपान प्रधान होती हैं तथा ये प्रयाज संज्ञक छंद रश्मियों के पीछे से संयुक्त रहकर उनके तेज को धारण करती रहती हैं, इस कारण इन्हें योषा कह सकते है। इसी कारण ऋषियों ने कहा है- "अपाना अनुयाजाः (कौ.ब्रा.७.१; १०,३), येऽवाञ्चस्तेऽनुयाजाः (प्राणाः) (ऐ.१.१७), रेतोधेयम् अनुयाजा (कौ.ब्रा.१०.३)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित ११ ऋचाएं इस प्रकार हैं –

(१) देवं बर्हिः सुदेवं देवैः स्यात्सुवीरं वीरैर्वस्तोर्वृज्येताक्तोः प्रभ्रियेतात्यन्यान्राया बर्हिष्मतो मदेम वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज, इति।
(२) देवीर्द्वारः संघाते विड्वीर्यामञ्छिथिरा ध्रुवा देवहूतौ वत्स ईमेनास्तरुण आमिमीयात्कुमारो वा नवजातो मैना अर्वा रेणुककाटः पृणग्वसुवने वसुधेयस्य वियन्तु यज, इति।
(३) देवी उषासानक्ताऽद्यास्मिन्यज्ञे प्रयत्यह्वेतामपि नूनं दैवीर्विशः प्रायासिष्टाᳪ सुप्रीते सुधिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज, इति।
(४) देवी जोष्ट्री वसुधिती ययोरन्याऽघा द्वेषाᳪसि यूयवदान्यावक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज, इति।
(५) देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्याऽऽवक्षत्सग्धिᳪ सपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमाना स्याम पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज, इति।
(६) देवा दैव्याहोतारा नेष्टारा पोतारा हताघशᳪ सावाभरद्वसू वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज, इति।
(७) देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीरिडा सरस्वती भारती द्यां भारत्यादित्यैरस्पृक्षत्सरस्वतीमᳪ रुद्रैर्यज्ञमावीदिहैवेडया वसुमत्या सधमाद मदेम वसुवने वसुधेयस्य वियन्तु यज, इति।
(८) देवो नराशᳪसस्त्रियशीर्षा षडक्षः शतमिदेनᳪशितिपृष्ठा आदधति सहस्रमीं प्रवहन्ति मित्रावरुणेदस्य होत्रमर्हतो बृहस्पतिः स्तोत्रमश्विनाऽऽध्वर्यवं वसुवनेवसुधेयस्य वेतु यज, इति।
(९) देवो वनस्पतिर्वर्षप्रावा घृतनिर्णिग्द्यामग्रेणास्पृक्षदान्तरिक्षं मध्येनाऽऽप्राः पृथिवीमुपरिणादृᳪहीद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज, इति।
(१०) देवं बर्हिर्वारितीनां निधे धासि प्रच्युतीनामप्रच्युतं निकामधरणं पुरुस्पार्हयशस्वदेना बर्हिषाऽन्या बर्हीᳪष्यभिष्याम वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज, इति।
(११) देवो अग्निः स्विष्टकृत्सुद्रविणा मन्द्रः कविः सत्यमन्माऽऽयजी होता होतुर्होतुरायजीयानग्ने यान्देवानयाड्याᳪ अपिप्रेर्ये तें होत्रे अमत्सत ताᳪ ससनुषीᳪ होत्रां देवंगमां दिवि देवेषु यज्ञमेरयेमᳪ स्विष्टकृच्चाग्ने होताऽभूर्वसुवने वसुधेयस्य नमोवाके वीहि यज (१), इति।

तैत्तिरीय संहिता ६.४.१ में कुल ५ मंत्र दिये हुए हैं, परन्तु उनके देवताओं की कुल संख्या ११ है। इस अनुवाक के प्रारम्भ में उपयजों (उपयाजों) के द्वारा सृष्टि रचना का वर्णन होने से ये छन्द उपयाज संज्ञक कहलाते हैं। 'उप' उपसर्ग 'उपजन' अर्थ में प्रयुक्त होता है। पं.भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर नि.१.३ "उपेत्युपजनम्" का भाष्य करते हुए लिखते हैं- "यह उपजन को कहता है। स्कन्द के अनुसार उपजन का अर्थ उपचय, उपधान और उपकार है।"

वामन आप्टे के अनुसार 'उपजन' शब्द का अर्थ 'परिशिष्ट' भी है। इससे स्पष्ट है कि उपयाज वे छन्द रश्मियां होती हैं, जो प्रयाज और अनुयाज संज्ञक छन्द रश्मियों के मिथुन के साथ परिशिष्ट रूप में संयुक्त होकर उनको सब ओर से निकटता से धारण किये रहती हैं और ऐसा करके वे उनकी सृजन प्रक्रियाओं का सहयोग करती हैं। तैत्तिरीय संहिता में वर्णित ५ ऋचाएं इस प्रकार हैं-

(१) यज्ञेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत ता उपयड्भिरेवासृजत यदुपयज उपयजति प्रजा एव तद्यजमानः सृजते जघनार्धदव द्यति जघनार्धाद्धि प्रजाः प्रजायन्ते स्थविमतोऽव द्यति स्थविमतो हि प्रजाः प्रजायन्ते ऽसंभिन्दन्नव द्यति प्राणानामसंभेदाय न पर्यावर्तयति यत् पर्यावर्तयेदुदावर्तः प्रजा ग्राहुकः स्यात् समुद्रं गच्छ स्वाहेत्याह रेत(२) एव तद्दधात्यन्तरिक्षं गच्छ स्वाहेत्याहान्तरिक्षेणैवास्मै प्रजाः प्र जनयत्यन्तरिक्षः ह्यनु प्रजाः प्रजायन्ते" देवःसवितारं गच्छ स्वाहेत्याह सवितृप्रसूत एवास्मै प्रजाः प्र जनयत्यं होरात्रे गच्छ स्वाहेत्याहाहोरात्राभ्यामेवास्मै प्रजाः प्र जनयत्यहोरात्रे ह्यनु प्रजाः प्रजायन्ते मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहे(३) त्याह प्रजास्वेव प्रजातासु प्राणापानौ दधाति सोमं गच्छ स्वाहेत्याह सौम्या हि देवतया प्रजा यज्ञं गच्छ स्वाहेत्याह प्रजा एवं यज्ञियाः करोति छन्दांःसि गच्छ स्वाहेत्याह पशवो वै छन्दांःसि पशूनेवाव रुन्धे द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहेत्याह प्रजा एव प्रजाता द्यावापृथिवीभ्यामुभयतः परि गृह्णाति नभो (४) दिव्यं गच्छ स्वाहेत्याह प्रजाभ्य एवं प्रजाताभ्यो वृष्टिं नियच्छत्य ग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहेत्याह प्रजा एव प्रजाता अस्यां प्रति ष्ठापयति प्राणानां वा एषोऽव द्यति योऽवद्यति गुदस्य मनो मे हार्दि यच्छेत्याह प्राणानेव यथास्थानमुप ह्वयते पशोर्वा आलब्धस्य हृदयःशुगृच्छति सा हृदयशूल (५) मभि समेति यत् पृथिव्याः हृदयशूलमुद्वासयेत् पृथिवीः शुचाऽर्पयेद्यदप्स्वपः शुचाऽर्पयेच्छुष्कस्य चाऽऽर्द्रस्य च सन्धावुद्वासयत्युभयस्य शान्त्यै ये द्विष्यात् तं ध्यायेच्छुचैवैनमर्पयति।।

इस प्रकार इन ३३ प्रकार के देवता वाली कुल २६ छन्द रश्मियां परस्पर एक-दूसरे से बंधी रहती हैं। इन्हें महर्षि ऐतरेय ने 'असोमपा' कहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये रश्मियां सूक्ष्म मरुद् रश्मियों का भक्षण नहीं करती हैं। अपितु **पशु अर्थात् बड़ी छन्द रश्मियों एवं द्रष्टव्य कणों** पर ही अपना विशेष प्रत्यक्ष प्रभाव दर्शाती हैं। इनके कार्य में सोम रश्मियों की विशेष भूमिका न होने से ये 'असोमपा' ही कहलाती हैं।

इस प्रकार इस सृष्टि में सोमपा कहलाने वाली रश्मियां मरुद् रश्मियों के द्वारा तथा असोमपा कहलाने वाली रश्मियां बड़ी छन्द रश्मियों किंवा दृश्य कणों के द्वारा तृप्त होती हैं, साथ ही उनको भी तृप्त करती हैं।।

उपर्युक्त परिस्थिति उत्पन्न होने पर सभी ६६ प्रकार के देव पदार्थ सक्रिय होकर अभीष्ट सृजन प्रक्रियाओं को जन्म देते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में जो भी पदार्थ विद्यमान है, वह विद्युत्, ग्रहादि विभिन्न लोक, वायु, आकाश तत्त्व, विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, उपग्रह-उल्का पिण्ड आदि विभिन्न लोक एवं विभिन्न प्रकार के तारे, इन आठ पदार्थों में ही बसा हुआ है। इन सभी पदार्थों का निर्माण सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के द्वारा ही होता है। ये सभी पदार्थ सूक्ष्म मरुद् रश्मियों से घिरे रहते और उनका उत्सर्जन व अवशोषण करते रहते हैं। प्राणापान आदि सभी ११ प्राथमिक प्राण इन सूक्ष्म मरुद् रश्मियों की रक्षा व निर्माण करते हैं, किन्तु दैवी गायत्री छन्द रश्मियों रूपी सोम पदार्थ से स्वयं भी रक्षित होते हैं। मास नामक १२ प्रकार की रश्मियां तारों के अन्दर समस्त सोम प्रधान पदार्थ को जोड़े रखकर उनकी रक्षा में सहयोग करती हैं। इस सृष्टि में प्रायः सभी प्रकार की संयोग-वियोग की प्रक्रियाएं मरुद् रश्मियों के कारण ही सम्पन्न

होती हैं। मनस् तत्त्व रूपी सबसे सूक्ष्म प्राण न केवल सूक्ष्म मरुद् रश्मियों, अपितु समस्त प्राण जगत् का धारक और पोषक होने के साथ-२ उनका उपादान कारण भी होता है। इस प्रकार मरुद् रश्मियां इस मनस् तत्त्व से निकटता से सम्बद्ध होती हैं। इन सभी पदार्थों के वर्णन के पश्चात् कुल ३३ प्रकार के प्रभाव वाली २६ छन्द रश्मियां ऐसी होती हैं, जिनके कार्यों में मरुद् रश्मियों का विशेष योगदान नहीं होता। इनमें से १२ प्रकार की छन्द रश्मियां बल और तेज से विशेष युक्त होती हैं। ये अपने साथ संयुक्त होकर अनुगमन करती हुई १२ अन्य छन्द रश्मियों के अन्दर अपना तेज और बल सूक्ष्म रूप में प्रवाहित करती रहती हैं। इनके साथ-२ ११ प्रकार के प्रभावों वाली ५ छन्द रश्मियां इनको परस्पर बांधे रखती हैं, जिससे वे छन्द रश्मियां अपने सृजन कार्य अनुकूलता से कर सकें।।

४. 'अभूदुषा रुशत् पशुरिति' उत्तमया परिदधाति।।
तदाहुर्यत्त्रीन् क्रतूनन्वाहाऽऽग्नेयमुषस्यमाश्विनं कथमस्यैकयर्चा परिदधतः सर्वे त्रयः क्रतवः परिहिता भवन्तीति।।
अभूदुषा रुशत् पशुरित्युषसो रूपमाऽग्निरधाय्यृत्विय इत्यग्नेरयोजि वां वृषण्वसू रथो दस्रावमर्त्यो माध्वी मम श्रुतं हवमित्यश्विनोरेवमु हास्यैकयर्चा परिदधतः सर्वे त्रयः क्रतवः परिहिता भवन्ति, भवन्ति।।८।।

{अवस्युः = आत्मनोऽवो रक्षणमिच्छुः (म.द.ऋ.भा.५.३१.१०), अव+सिवु तन्तुसन्ताने (दिवा.) धातोः कर्त्तरि क्विप्, वकारस्य ऊठ् (वै.को. -आ.राजवीर शास्त्री), (अवेति विनिग्रहार्थीयः - नि.१.३)। रुश् = सुरूपम् (म.द.य.भा.३४.१४), ज्वलितवर्णम् (म.द.ऋ.भा.१.११५.५), हिंसन् (म.द.ऋ.भा.३.२६.३), (रुश् वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः - नि.२.२०), (रुश हिंसायाम्)}

व्याख्यानम्- खण्ड २.१५ से प्रारम्भ हुए प्रातरनुवाक प्रकरण अर्थात् सृष्टि के मूल उपादान पदार्थ में अकस्मात् और अति तीव्र वेग से व्यापक स्तर पर होने वाली सभी प्रकार की हलचल जिन वाक् वा प्राण तत्त्वों द्वारा छन्द रूप में होती है, उन सभी छन्द रश्मियों को सब ओर से धारण करती हुई एक विराट् पंक्ति छन्द रश्मि

अभूदुषा रुशत्पशुराग्निरधाय्यृत्वियः।
अयोजि वां वृषण्वसू रथो दस्रावमर्त्यो माध्वी मम श्रुतं हवम्।। (ऋ.५.७५.९)

उत्पन्न होती है। यह छन्द रश्मि 'अवस्युरात्रेय' ऋषि अर्थात् ऐसा सूक्ष्म प्राण, जो सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न होता है तथा जो सभी रश्मियों को अपने साथ बांधता हुआ स्वयं सबसे सुरक्षित भी होता है, से उत्पन्न होती है। इसका देवता 'अश्विनौ' होने के कारण इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से समस्त प्रकाशित और अप्रकाशित जगत् अति विस्तृत होकर सृजन प्रक्रियाओं को गतिशील बनाता है। इसके अन्य प्रभाव से यह दोनों प्रकार का जगत् विभिन्न बलों के दाता, सबको बसाने वाले, विभिन्न बाधक पदार्थों को दूर करने वाले तथा सभी पदार्थों को उत्तम मार्ग प्रदान करने वाले प्राणापान वा प्राणोदान के द्वारा सुन्दर, प्रदीपक, विघ्ननाशक, काल चक्र के साथ यजन करने वाले अग्नि तत्त्व को धारण करता है। इनसे ही सुन्दर रूप और दाह से युक्त विभिन्न अविनाशी किरणें विभिन्न प्रकार के कणों को वहन करती हुई उनके सृजन कर्मों को संचालित करती हैं।।

यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि जब प्रातरनुवाक सम्बन्धी इस सम्पूर्ण प्रकरण में अग्नि, उषा एवं अश्विनौ तीन देवताओं सम्बन्धी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, तब एक

ही अश्विनी देवता वाली यह छन्द रश्मि कैसे चारों ओर से उनको धारण कर सकती है और कैसे यह एक देवता वाली छन्द रश्मि उन सभी छन्द रश्मियों के कार्यों में व्याप्त हो सकती है?।।

इस प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं कि **"अभूदुषा रुशृ पशुः"** उपर्युक्त छन्द रश्मि के इस भाग से इस ब्रह्माण्ड में उषादेवताक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके प्रभाव से ब्रह्माण्ड में सुन्दर कान्ति, प्रकाश और ऊष्मा की वर्धक विभिन्न छन्द रश्मियों की सक्रियता और बढ़ जाती है। **"आग्निरधाय्यृत्वियः"** ऋचा के इस भाग से अग्निदेवताक सभी प्रभाव प्रकट वा समृद्ध होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अग्निदेवताक पूर्वोक्त छन्द रश्मियां इसके प्रभाव से सक्रिय होकर विद्युत् तत्त्व को विशेष रूप से समृद्ध करती हैं। इस ऋचा के उत्तरार्ध, जिसमें वृषण्वसू, दस्रौ, माध्वी एवं वाम् द्विवचनान्त पद हैं, जो अश्विनौ द्विवचनान्त पद के विशेषण हैं। इसके प्रभाव से अश्विनौ-देवताक छन्द रश्मियों की सक्रियता बढ़कर प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार का पदार्थ सक्रिय हो उठता है। इस समय प्राणापान और प्राणोदान विशेष सक्रिय होकर सम्पूर्ण पदार्थ को सक्रिय करते हैं। इसके अतिरिक्त इस खण्ड के प्रारम्भ में हम लिख चुके हैं कि प्रातरनुवाक की क्रिया में गायत्री से लेकर जिन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, उनमें पंक्ति छन्द रश्मि अन्तिम रश्मि है और इधर इस रश्मि का छन्द विराट् पंक्ति छन्द होने से यह सभी छन्द रश्मियों को विशेष रूप से प्रकाशित करता हुआ सबको बांध लेता है। इसके साथ ही यह छन्द रश्मि सभी सातों छन्द रश्मियों को विस्तृत करते हुए संयोगादि प्रक्रियाओं को विस्तार और निरन्तरता प्रदान करती है। यह छन्द रश्मि अपना कोई नया प्रभाव नहीं दर्शाती, बल्कि पूर्व छन्द रश्मियों को व्यवस्थित और सक्रिय करते हुए उनके कार्यों को ही गति देती है। यह छन्द रश्मि पूर्वोक्त तीनों देवता वाली छन्द रश्मियों को सब ओर से धारण करके उनके कर्मों को भी सब ओर से पुष्ट करती है। इस कारण इस एक ही छन्द रश्मि के द्वारा प्रातरनुवाक कर्म का समापन होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत जब महत् तत्त्व में पूर्वोक्तानुसार विभिन्न चरणों में विभिन्न छन्द रश्मियों के रूप में fluctuation उत्पन्न होते हैं, उनमें सबसे अन्तिम fluctuation एक विराट् पंक्ति छन्द के रूप में होता है। इस स्पन्दन के द्वारा पूर्वोत्पन्न सभी स्पन्दन व्यवस्थित और सक्रिय हो उठते हैं। इस स्पन्दन के कारण ब्रह्माण्ड का पदार्थ सुन्दर, प्रकाश, ऊष्मा और विद्युत् आदि की बहुलता से भर जाता है। यह छन्द रूप स्पन्दन सभी उन स्पन्दनों को, जो सृष्टि के आदि से इस रश्मि के उत्पन्न होने से पूर्व अति तीव्र वेग से अकस्मात् और व्यापक रूप से उत्पन्न होते हैं और जिनका वर्णन इस खण्ड में किया गया है, भली-भाँति पुष्ट होते रहते हैं। इसके कारण ब्रह्माण्ड का पदार्थ संयोग-वियोग आदि प्रक्रियाओं से विशेष रूप से युक्त हो जाता है। ध्यातव्य है कि इस खण्ड में दी हुई सभी क्रियाएं अति तीव्र, व्यापक स्तर पर एवं अकस्मात् होती हैं। सृष्टि की अन्य क्रियाएं इनकी अपेक्षा संकुचित और मन्द गति से हुआ करती हैं।।

इति ७.८ समाप्तः

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः

अष्टमोऽध्यायः

कण

संयुक्त कण

कण

।। ओ३म् ।।
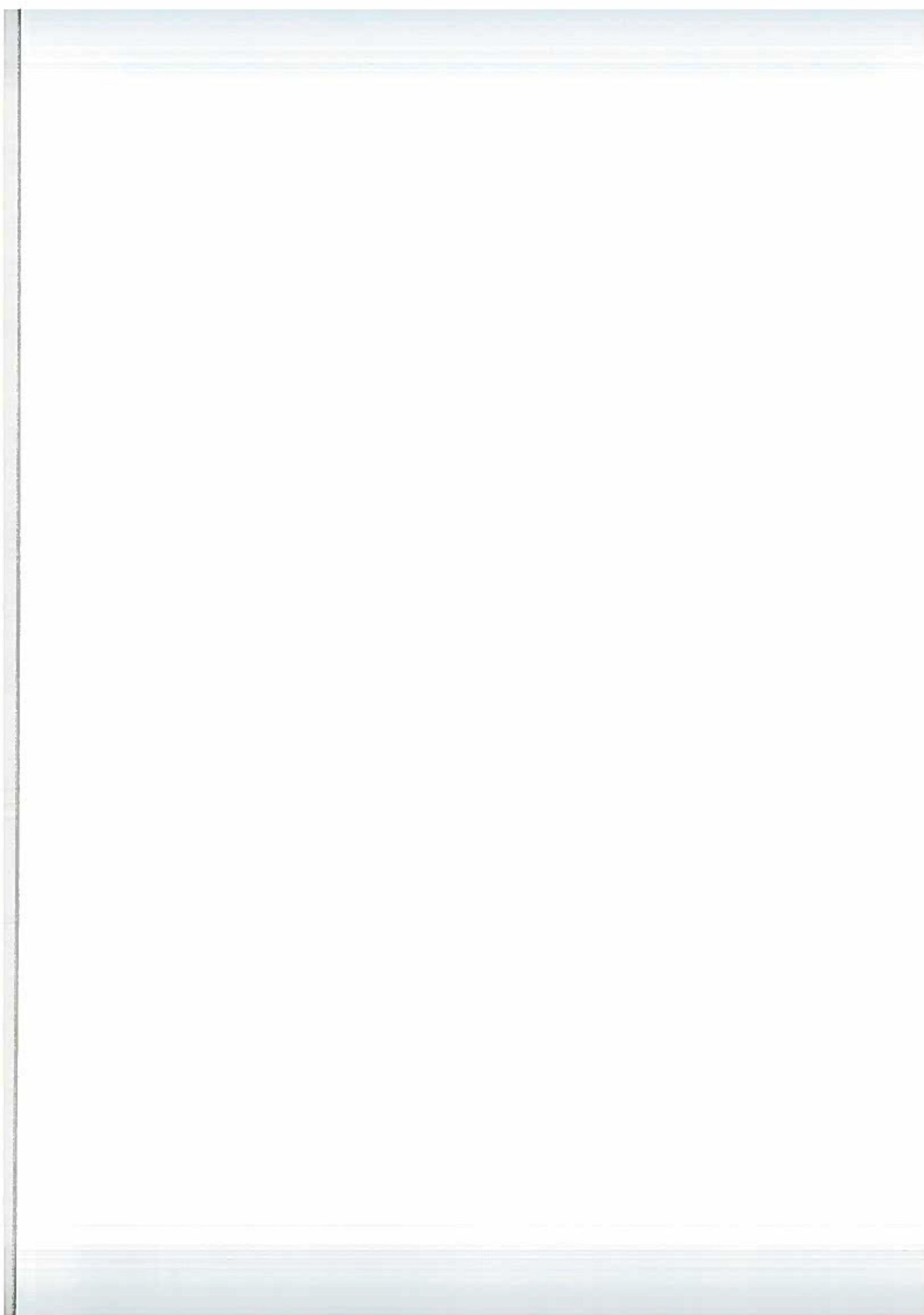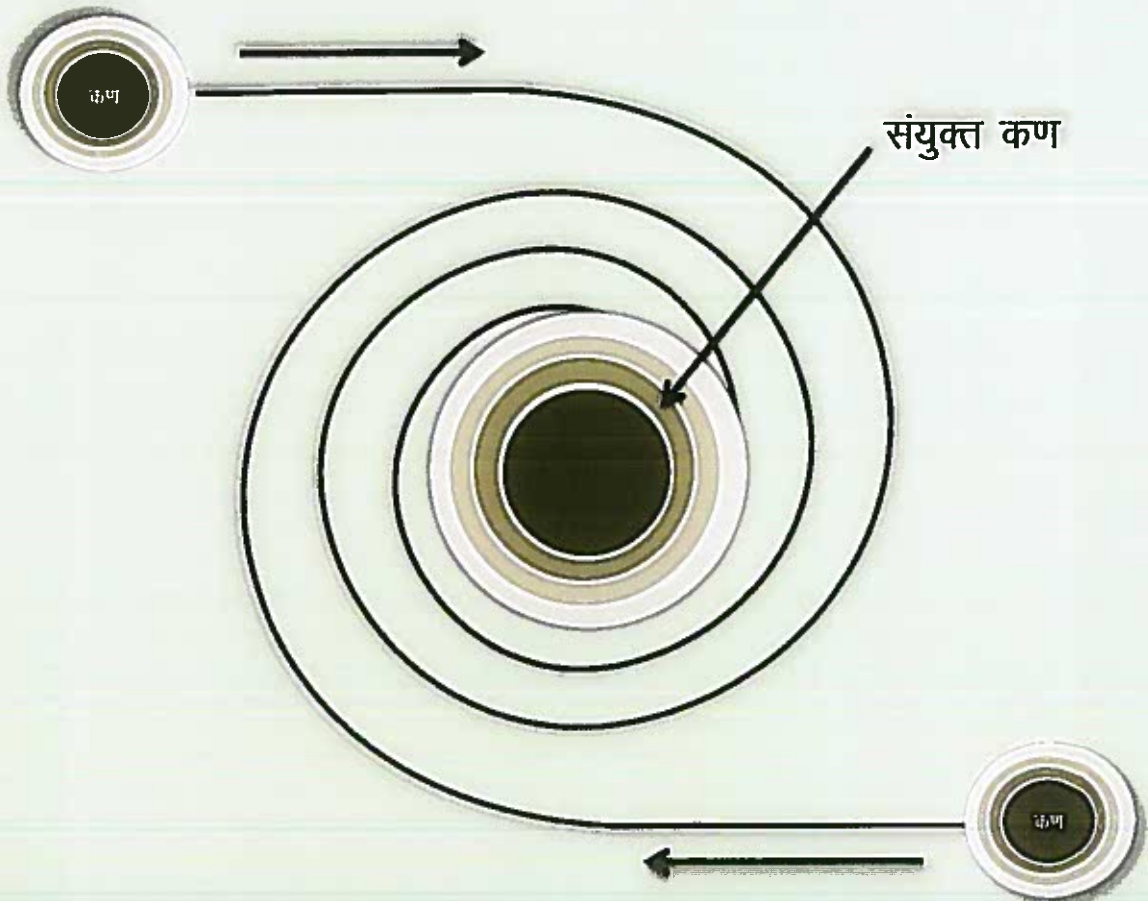
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

अनुक्रमणिका

८.१ ऋषि-सरस्वती-सत्र-कवषऐलूष-दासी-कितव-उदक-अपोनप्त्र-धेनव-आप, विशेष प्रकार की अप्रकाशित ऊर्जा की उत्पत्ति, उसका विभिन्न प्राणापानादि ऊर्जा में प्रतिकर्षण वल के साथ-२ भेदक-धारक एवं आकर्षक वलों के साथ प्रकाश व ऊष्मा की उत्पत्ति, पुनः इनसे अनेक पदार्थों का निर्माण। MECO की निर्माण प्रक्रिया। जीमूत-पर्जन्य, विविध १५ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति में विराम नहीं। 443

८.२ हिनोता-एकधना-धेनू-पय-तूर्णि, विशेष प्रकार की उपर्युक्त १५ त्रिष्टुप् रश्मियों की उत्पत्ति का अन्य क्रम, इससे विभिन्न विद्युत् चुम्वकीय तरंगों की उत्पत्ति। आप-वसतीवरी-भृगु, विभिन्न कणों के निर्माण में प्राथमिक प्राणों और मरुद् रश्मियों में सामंजस्य की अनिवार्यता, भुरिक् पंक्ति द्वारा इनका सामंजस्य। होत्रिय-होतृचमस, प्राणापान द्वारा विभिन्न कणों व तरंगों को निरन्तर वल प्रदान करना, मन और वाक् द्वारा सभी प्राणों को प्रेरणा, जगती छन्द द्वारा ऊर्जा-उत्सर्जन-अवशोषण।
इन्द्र-सोम-वृष्टि-वसु-रुद्र-आदित्य-ऋभु-विभु-वृहस्पति, इन्द्र तत्त्व की उत्पत्ति और उसका स्वरूप। श्रेय-यश, विभिन्न कणों और तरंगों के परस्पर संयोग की कार्य प्रणाली, पूर्वोक्त कवषऐलूष की कार्य प्रणाली, इनके प्राथमिक प्राण और मरुद् रश्मियों के साथ संयोग में गायत्री रश्मियों की भूमिका। रेवती-जीवधन्या-वसतीवरी-एकधना, कवषऐलूष रश्मियों का विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयोग और इससे विभिन्न कणों का निर्माण। 450

८.३ शिर-प्रातरनुवाक-उपांशु-अन्तर्याम-वाक्-होता, विभिन्न कणों के साथ प्राणापान और वाक् तत्त्व का संवंध एवं प्रभाव, ग्रावाण-उपांशुसवन-सूर्य, प्राणापान के ऊपर वाक् तत्त्व के प्रोक्षण की विधि। 460

८.४ देव मनुष्यों का भक्ष, वहिष्पवमान, विभिन्न वागु रश्मियों एवं ६ वहिष्पवमान गायत्री छन्द रश्मियों का प्राणापान के साथ मेल और इससे तीक्ष्णता व तेजस्विता में वृद्धि। सोमपीथ-मुख, विभिन्न संयोज्य कणों के परितः ६ गायत्री छन्द रश्मियों के आवरण से संयोग प्रक्रिया की तीव्रता। दीर्घजिह्वी सूक्ष्मतम असुर पदार्थ की उत्पति, उससे ध्वनि तरंगों की उत्पति, असुर पदार्थ द्वारा गायत्री छन्द रश्मियों पर प्रहार, प्राणापान एवं दैवी वृहती से असुर तत्त्व नियन्त्रण। 464

८.५ पुरोडाश-सवन, सृष्टि के तीनों चरणों में असुर पदार्थ का आक्रमण और उनका तीन प्रकार की रश्मियों से प्रतिकार। असुर निवारण हेतु विभिन्न कपालों वाले पुरोडाश और उसका महर्षि द्वारा खण्डन, सृष्टि के प्रथम चरण में १० प्राथमिक प्राण और एक वाक् तत्त्व तथा अन्य दोनों चरणों में इनके साथ त्रिष्टुप् के द्वारा असुर निवारण। आज्य-धाना-करम्भ-परिवाप-पुरोडाश-पयस्या-स्वधा, अति तेजस्वी और कम तेजस्वी दोनों पदार्थों का ६ श्रेणियों में विभाजन। 469

८.६ हविष्पंक्ति-अक्षर पंक्ति, पूर्वोक्त ६ पदार्थों के पांच रूप (सु, मद्, पत्, वग्, दे), इस सृष्टि में विद्यमान पदार्थों के सु, मद् आदि पांच प्रकार के गुण, गायत्री छन्द रश्मियों की अपान तत्त्व एवं विद्युत् आदि के साथ क्रिया से विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति। नराशंस पंक्ति, तीनों सवनों से इसका संवंध, सृष्टि में पांच प्रकार के तत्त्व, जो सूक्ष्म पदार्थों को गति देने और रोकने में समर्थ। सृष्टि में पांच स्तरों के आकर्षण वल, डार्क पदार्थ की उत्पत्ति। इन्द्र-धाना-करम्भ आदि, अपूप-भरत, सृष्टि में पांच स्तर के संघातों से पांच प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति। अवत्सार, पूर्वोक्त पांचों पदार्थों में याजुषी गायत्री की भूमिका और सबको बांधने वाले सूत्रात्मा वायु की भूमिका। 474

ॐ अथ ८.१ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत, ते कवषमैलूषं सोमादनयन् दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्येऽदीक्षिष्टेति तं बहिर्धन्वोदवहन्नत्रैनं पिपासा हन्तु सरस्वत्या उदकं मा पादिति स बहिर्धन्वोदूह्ळः पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् 'प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्विति तेनापां प्रियं धामोपागच्छत् तमापोऽनूदायंस्तं सरस्वती समन्तं पर्यधावत्।।

{सत्रम् = दीर्घयज्ञम् (तु.म.द.ऋ.भा.७.३३.१३), सद्वै सत्त्रिणस्स्पृण्वन्ति तत् सत्त्रस्य सत्त्रत्वं, प्राणा वै सत्, प्राणानेव तत् स्पृण्वन्ति सर्वासां वा एते प्रजानां प्राणैरासते ये सत्त्रमासते (काठ.३४.८)। सरस्वती = वाग्वै सरस्वती (कौ.ब्रा.५.२; तां.६.७.७), वाङ्नाम (निघं.१.११), नदीनाम (निघं.१.१३), एषा वा अपां पृष्ठं यत् सरस्वती (तै.ब्रा.१.७.५.५), सरस्वतीति तद् द्वितीयम् वज्ररूपम् (कौ.ब्रा.१२.२), अथ यत्स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम् (ऐ.३.४)। कितवः = श्वघ्नी कितवो भवति, स्वं हन्ति, स्वं पुनराश्रितं भवति (नि.५.२२)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रातरनुवाक अर्थात् विभिन्न छन्द रूप तरंगों के अकस्मात् उत्पन्न होने की प्रक्रिया के कारण सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में किंवा अति विस्तृत आकाश तत्त्व में विभिन्न छन्द रश्मियों का पूर्वोक्त प्रकार से प्रादुर्भाव हो जाता है। वे सभी रश्मियां तेजयुक्त होती हुई सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं। उन छन्द रश्मियों से युक्त व्यापक पदार्थ को ही यहाँ सरस्वती कहा गया है। उस समय उस सम्पूर्ण पदार्थ जगत् में प्राणापान आदि ११ प्राथमिक प्राण एवं अन्य कुछ सूक्ष्म ऋषि प्राण सर्वत्र विद्यमान होते हैं। वे ऐसे प्राण उस सरस्वती रूपी पदार्थ में विस्तृत यजन कर्म करने के लिए तत्पर होते हैं। उल्लेखनीय है कि उस समय उस सरस्वती नामक पदार्थ में अनेक तीव्र भेदक और दाहक किरणें भी विद्यमान होती हैं तथा उसमें विद्यमान विभिन्न प्रकार की तरंगें भावी कणों वा तरंगों की आधार एवं बीज रूप होती हैं। उस समय मन और सूक्ष्म वाक् तत्त्व प्राणापान आदि ऋषि रूप प्राणों के द्वारा संगतीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। उसी समय 'कवष ऐलूष' नामक पदार्थ प्रकट होता है। इसके विषय में खण्ड २.१८ के प्रमाण द्रष्टव्य हैं। यह पदार्थ ध्वनि उत्पन्न करता हुआ प्रक्षेपक और प्रेरक गुणयुक्त होता है। यह दासी पुत्र अर्थात् ऐसे बलों का उत्पादक होता है, जो केवल प्रक्षेपण वा प्रतिकर्षण गुणों से युक्त होते हैं। इसके साथ ही वह पदार्थ 'कितव' अर्थात् तेज को हरने वाला, विद्युत् को नष्ट करने वाला किंवा वैद्युत तेज में आश्रित होकर विभिन्न पदार्थों को परस्पर दूर फेंकने की क्षमता से युक्त होता है। वह पदार्थ अब्राह्मण अर्थात् अग्नि और सोम दोनों से पृथक् विद्युत् रहित होता है। इस पदार्थ के कारण ब्रह्माण्ड में होने वाली यजन प्रक्रिया बाधित हो सकती है। वह ऐसा बाधक पदार्थ उन प्राण तत्त्वों के मध्य यत्र-तत्र प्रकट होकर सृजन प्रक्रिया को बाधित करने लग गया था। उस समय प्राणादि ऋषियों ने उस बाधक पदार्थ को सुदूर अन्तरिक्ष में फेंक दिया। जहाँ वह पदार्थ फेंका गया था, वहाँ विद्युत् तत्त्व विद्यमान नहीं था और न वहाँ कोई तेजस्वी पदार्थ विद्यमान था। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि वह पदार्थ विद्युत् युक्त होने पर ही अपना बाधक प्रभाव उत्पन्न कर सकता था। वह पदार्थ विद्युत् के प्रति अति आकर्षण रखने के स्वभाव वाला होता है, परन्तु सुदूर अन्तरिक्ष में वह पदार्थ विद्युत् तत्त्व को प्राप्त न कर पाने के कारण अपना बाधक प्रभाव दिखलाने में असमर्थ हो जाता है। विद्युत् तेजयुक्त पदार्थ के अन्दर उत्पन्न इस 'कवष ऐलूष' नामक बाधक सूक्ष्म प्राण को कैसे विद्युत् रहित सुदूर अन्तरिक्ष

में प्राथमिक प्राणादि पदार्थों ने फेंक दिया? इस विषय में हमारा मत यह है कि प्राण एवं अपान किंवा प्राणोदान के युग्म रूप वज्र किरणों के द्वारा मन और वाक् के मिथुन ने तीव्र वल से उस पदार्थ पर प्रहार करके वाहर निकाल दिया। वाहर निकाला गया वह पदार्थ विद्युत् तत्त्व के प्रति अत्यन्त कामना वाला होकर निरन्तर व्यापक मन और वाक् तत्त्व के सम्पर्क में रहता है और कुछ काल पश्चात् वह ऋषि प्राण के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है, जिससे 'आप अपान्नपाद्वा' देवताक ऋ.१०.३० सूक्त की उत्पत्ति होती है। ध्यातव्य है कि यहाँ 'स्वः' शब्द का अर्थ विद्युत् के स्थान पर व्यान प्राण अथवा 'स्वः' नामक दैवी गायत्री छन्द भी हो सकता है। तव इसका यह अर्थ होगा कि वह 'कवष ऐलूष' नामक पदार्थ विभिन्न छन्द रश्मियों के भण्डार सरस्वती रूप पदार्थ से भले ही दूर कर दिया गया हो, परन्तु सुदूर अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त एकाक्षरा वाक् तत्त्व से पृथक् नहीं हो पाता। उसी वाक् तत्त्व और मन के साथ निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण और उनके साथ निरन्तर आकर्षण भाव रखने के कारण वह पदार्थ ऋषि रूप प्राणों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इससे उत्पन्न विभिन्न ऋचाओं का प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार है-

(१) प्र दे॑व॒त्रा ब्रह्म॑णे गा॒तुरे॑त्व॒पो अच्छा॒ मन॑सो॒ न प्रयु॑क्ति। म॒हीं मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य धा॒सिं पृ॑थु॒ज्रय॑से रीरधा सुवृ॒क्तिम्॥१॥

निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचा उत्पन्न होती है। इसके छान्दस तथा दैवत प्रभाव से कवष ऐलूष नामक पदार्थ व्यान तत्त्व किंवा सभी कारणरूप प्राथमिक प्राणों से दूर नहीं हो पाता। इसके साथ ही वहाँ भी तीव्र तेज एवं वल उत्पन्न हो जाता है। यहाँ 'आपः' का अर्थ व्यानादि प्राण है, जैसा कि कहा है- 'आपो व्यानः' (जै.उ.४.११.१.६) एवं 'प्राणा वा आपः' (तै.ब्रा.३.२.५.२)। इसके अन्य प्रभाव से मन के साथ प्रकृष्ट संयोग होकर वैद्युत तेज की प्राप्ति के लिये यह छन्द रश्मि समस्त प्राथमिक आदि प्राणों को अच्छी प्रकार प्राप्त होती है, जिसके कारण वह ऋषि प्राण महान् धारक गुण से संयुक्त होकर **प्राण और अपान को प्राप्त करता है।**

(२) अध्व॑र्यवो ह॒विष्म॑न्तो॒ हि भू॒ताऽ च्छा॒प इ॑तोश॒तीरु॑श॒न्तः। अव॒ याश्चष्टे॑ अरु॒णः सु॑प॒र्णस्तमास्य॑ध्वमू॒र्मिम॒द्या सु॑हस्ताः॥२॥

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् है। इसका छान्दस व दैवत प्रभाव उपर्युक्तवत् होता है। भेद केवल यह है कि पूर्व छन्द रश्मि का प्रभाव अधिक भेदन शक्तियुक्त होता है और इसके प्रभाव से प्रकाशशीलता का गुण विशेष होता है। इसके अन्य प्रभाव से मन और वाक् रूपी अध्वर्यु इस छन्द रश्मि के साथ संयुक्त होकर आवश्यकतानुसार प्राथमिक प्राणों को प्राप्त कराते हैं, जिसके कारण वहाँ अरुण वर्ण की ऊष्मायुक्त तरंगें व्याप्त हो जाती हैं, जिनमें सुन्दर हरणशील वल रश्मियां विद्यमान होती हैं।

(३) अध्व॑र्यवोऽ प इ॑ता समु॒द्रम॒पां नपा॑तं ह॒विषा॑ यजध्वम्। स वो॑ दददू॒र्मिम॒द्या सुपू॑तं॒ तस्मै॒ सोमं॒ मधु॑मन्तं सुनोत॥३॥

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस और दैवत प्रभाव प्रथम ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से मन और वाक् तत्त्व सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में विभिन्न तन्मात्राओं के निर्माण के लिए विभिन्न कारण रूप प्राणों को इस छन्द रश्मि किंवा इसके ऋषि प्राण कवष ऐलूष नामक प्राण के साथ संगत करते हैं, जिसके कारण उन प्राणादि पदार्थों में विभिन्न तेजस्विनी सोम रश्मियां प्रवाहित होने लगती हैं।

(४) यो अ॑नि॒ध्मो दीद॑यद॒प्स्व१॒॑न्तर्यं विप्रा॑स ईळ॑ते अध्व॒रेषु॑। अपां॑ नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑य॥४॥

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस और दैवत प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से अदीप्त कवषऐलूषयुक्त पदार्थ विभिन्न कारणाख्य प्राणों के संगत होने पर दीप्तिमान् होने लगता है। {ईळते = ईळते याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा (नि.८.१)} इसकी विभिन्न संगतियों में विभिन्न प्रकार की किरणें किंवा सूत्रात्मा वायु रश्मियां इसके प्रभाव को और समृद्ध

करती हैं, जिससे वह पदार्थ विभिन्न तेजस्वी प्राणों को धारण करके इन्द्र तत्त्व से युक्त होकर बढ़ने लगता है।

(५) याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः। ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात्॥५॥

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है। {कल्याणी = (कल्याणं कमनीयं भवति - नि.२.३), कल्याणी तत् पशवः (ऐ.५.२५; कौ.ब्रा.२७.५)। मर्यः = मर्य इति मनुष्यनाम (निघं.२.३), मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा (नि.३.१४), मर्या इति मनुष्यनाम, मर्यादाभिधानं वा स्यात् (नि.४.२)} इसके अन्य प्रभाव से जिस प्रकार अल्प दीप्तिमान् अनियन्त्रित गति वाले अल्पायु मनुष्य नामक कण आकर्षणशील अन्य कणों के साथ संयुक्त होते हैं, उसी प्रकार प्राण और अपान रूप अध्वर्यु विभिन्न सूक्ष्म छन्द रश्मियों रूप सोम पदार्थ से संयुक्त होकर अग्नि आदि दाहक तत्त्वों के साथ संयुक्त करके विभिन्न तन्मात्राओं को शुद्ध करता है।

(६) एवेद्यूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ। सं जानते मनसा सं चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवीः॥६॥

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से जैसे कोई भी संयोज्य कण किसी अन्य संयोज्य कण की ओर आकृष्ट होता हुआ सर्वप्रथम उसकी ओर झुक जाता है और फिर भली-भाँति उसके साथ संयुक्त हो जाता है, उसी प्रकार प्राण और अपान तत्त्व मनस् तत्त्व एवं वाक् तत्त्व साथ संगत होकर अन्य सभी प्राणों को चमकाते हैं।

(७) यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्या अभिशस्तेरमुञ्चत्। तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवमादनं प्र हिणोतनापः॥७॥

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है। इसके अन्य प्रभाव से पूर्व उत्पन्न इन्द्र तत्त्व विभिन्न मूर्त्त तन्मात्राओं के लिए विभिन्न मार्गों का निर्माण करता है एवं वह इनके मार्ग में विद्यमान विभिन्न बाधक तत्त्वों को दूर करता है। विभिन्न कारणाख्य प्राण उस इन्द्र तत्त्व को अपनी रश्मियों से तृप्त करते हैं।

(८) प्रास्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः। घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वापो रेवतीः शृणुता हवं मे॥८॥

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से {सिन्धवः = तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.६.२.६)। उत्सः = उत्सः कूपनाम (निघं.३.२३), आपो वा ऽउत्सः (श.६.७.४.४)} सबको बांधने वाले प्राथमिक प्राण तत्त्वों की तेजस्विनी रश्मियां गर्भ के समान विभिन्न छन्द रश्मियों आदि पदार्थों के अन्दर व्याप्त होती हैं। वे रश्मियां उत्स रूप होकर सभी पदार्थों के अन्दर निरन्तर प्रवाहित होती हुई उनको अपनी शक्तियों से सींचती रहती हैं। इसी कारण 'उत्स' शब्द का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क ने कहा है - "उत्सरणाद्वोत्सदनाद्वोत्स्यन्दनाद्वोनत्तेर्वा" (नि.१०.६)। ये प्राणादि पदार्थ आकाश एवं संदीप्त तेज को धारण करने वाले विद्युत् युक्त वायु एवं विभिन्न मरुतों से युक्त अनेक प्रकार की तन्मात्राएं विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को सम्पादित करने के लिए अनेक प्रकार के वलों को उत्पन्न करती हैं।

(९) तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति। मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्॥९॥

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव प्रथम ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से सबको बांधने वाले विभिन्न कारणाख्य प्राण संयोग और वियोग किंवा आकर्षण और प्रतिकर्षण दोनों को ही सम्पादित करते हैं। इन प्राणों की रश्मियों को विद्युद्वायु अवशोषित करता रहता है। {नभः = चत्वारि वै नभांसि देवाः पितरो मनुष्या असुराः (मै.४.२.१)} ये रश्मियां

देव-मनुष्य-पितर और असुर नामक पदार्थों से भी निरन्तर उत्सर्जित होकर सर्वत्र विचरती हुई सत्व, रज और तमस् तीन गुणों से युक्त विभिन्न रश्मियों को उत्पन्न करती रहती हैं।

(१०) आववृ॑तती॒रध॒ नु द्वि॒धारा॒ गोषु॒युधो॒ न नि॑य॒वं चर॑न्तीः। ऋषे॒ जनि॑त्री॒र्भुव॑नस्य॒ पत्नी॑र॒पो व॑न्दस्व स॒वृधः॒ सयो॑नीः॥१०॥

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है। इसके अन्य प्रभाव से {वन्दस्व = कामय (म.द.ऋ.भा.१.३८.१५), (वन्दते अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४)} विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियों में होने वाले संयोग आदि के समान आकर्षण और प्रतिकर्षण बलों से युक्त विभिन्न प्राण रश्मियां सब ओर परिक्रमण करती हुई नियमपूर्वक अनेक संयोगों को जन्म देती हुई विभिन्न कणों वा लोकों का पालन एवं रक्षण करती हैं। ये आकर्षण और प्रतिकर्षण बल रूप रश्मियां साथ-२ उत्पन्न होकर विभिन्न तन्मात्राओं को प्रदीप्त और आकृष्ट करती हैं।

(११) हि॒नोता॑ नो अध्व॒रं दे॑वय॒ज्या हि॒नोत॒ ब्रह्म॑ स॒नये॒ धना॑नाम्। ऋ॒तस्य॒ योगे॒ वि ष्य॑ध्व॒मूधः॑ श्रु॒ष्टीव॒री॑र्भूतना॒स्मभ्य॑मापः॥११॥

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव प्रथम ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से {ऊधः = उषसम् (म.द.ऋ.भा.१.६४.५), रात्रिनाम (निघं.१.७)। विष्यध्वम् = (वि+षोऽन्तःकर्मणि)। श्रुष्टी = क्षिप्रनाम (निघं.६.१२), प्राप्तव्यं वस्तु (म.द.ऋ.भा.१.१६६.१३) (यहाँ 'स्रुष्टी' पद में इकार को दीर्घत्व छान्दस प्रयोग है)} विभिन्न देव कणों को संगत करने के लिए और विभिन्न द्रव्यों के सम्यक् विभाग करके नाना पदार्थों की उत्पत्ति के लिए विद्युत् तत्त्व की प्राप्ति होती है। {ऋतम् = अग्निर्वा ऋतम् (तै.ब्रा.२.१.११.१), ब्रह्म वाऽऋतम् (श.४.१.४.१०)} इस प्रक्रिया में विद्युद् अग्नि का विभिन्न पदार्थों के साथ संयोग होने पर अन्तरिक्षस्थ पदार्थ अन्धकार से मुक्त हो जाते हैं। इसके साथ ही विभिन्न तन्मात्राएं अत्यन्त शीघ्रगामिनी और व्याप्तिशील हो जाती हैं।

(१२) आपो॒ रेव॑तीः॒ क्षय॑था॒ हि वस्वः॒ क्रतुं॑ च भ॒द्रं बि॑भृ॒थामृतं॑ च। रा॒यश्च॒ स्थ स्व॑प॒त्यस्य॒ पत्नीः॒ सर॑स्वती॒ तद् गृ॑ण॒ते वयो॑ धात्॥१२॥

इस मंत्र का प्रभाव पूर्ववत् २.१६.१ में देखें।

(१३) प्रति॒ यदापो॒ अदृ॑श्रमायती॒र्घृतं॒ पयां॑सि॒ बिभ्र॑ती॒र्मधू॑नि। अ॒ध्व॒र्युभि॒र्मन॑सा संविदा॒ना इन्द्रा॑य॒ सोमं॒ सुषु॑तं॒ भर॑न्तीः॥१३॥

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है। इसके अन्य प्रभाव से {पयः = ज्वलतोनाम (निघं.१.१७), सोमः पयः (श.१२.७.३.१३), पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (नि.२.५)} विभिन्न कारणाख्य प्राण सब ओर व्याप्त होकर संदीप्त तेज, उस तेज वा प्राणों को अवशोषित करने वाले वर्धमान सोम पदार्थ को स्पष्ट प्रकाशित मार्गों पर धारण करते हैं। विद्युत् युक्त वायु को उत्पन्न करने के लिए वह सोम तत्त्व प्राणापान वा प्राणोदान को मनस् तत्त्व की प्रेरणा से सम्यग् रूप से प्राप्त करता है।

(१४) एमा अ॑ग्मन्रे॒वती॑र्जी॒वध॑न्या॒ अध्व॑र्यवः सा॒दय॑ता सखायः। नि ब॒र्हिषि॑ धत्तन सोम्यासो॒ऽपां नप्त्रा॑ संविदा॒नास॑ एनाः॥१४॥

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से {जीवधन्या = (धिवि प्रीणनार्थः = सन्तुष्ट होना या करना, समीप जाना या आना)। नप्ता = नपततीति नप्ता (उ.को.२.९७)} विभिन्न मरुतों से युक्त, शब्द उत्पन्न करती हुई, विभिन्न प्राणों के द्वारा तृप्त एवं उनके समीप रहती हुई विभिन्न तन्मात्राएं परस्पर एक-दूसरे के साथ प्रकाशित होती हुई सर्वत्र गमन करती हैं। मन और वाक् रूपी अध्वर्यु एवं पतित न होने वाले कारणरूप प्राण सोम तत्त्व के साथ संयुक्त होकर सभी तन्मात्राओं को व्याप्त करके महान् आकाश में धारण करते हैं।

(१५) आग्म॒न्नाप॑ उश॒तीर्ब॒र्हिरे॒दं न्य॑ध्व॒रे अ॑सदन्देव॒यन्तीः॑। अध्व॑र्यवः सुनु॒तेन्द्रा॑य॒ सोम॒मभू॑दु वः सु॒शका॑ देवय॒ज्या।।१५।।

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस व दैवत प्रभाव प्रथम ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से {शका = शक्तिमान् (म.द.य.भा.२४.३२), शक्लृ शक्तौ (स्वा) धातोर्घञर्थे कः, ततः 'सुपां सुलुक्.' इति सोराकारादेशः} आकर्षण बल से युक्त प्रकाश को प्राप्त करती हुई विभिन्न प्रकार की तन्मात्राएं आकाश में व्याप्त होकर यजन कर्म को सम्पादित करती हैं। प्राणापानरूप अध्वर्यु विद्युदग्नियुक्त वायु को उत्पन्न करने के लिए सोम तत्त्व को संपीडित करके विभिन्न देव कणों के यजन कर्म में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार कवष ऐलूष नामक ऋषि प्राण विभिन्न प्राण रश्मियों से सुदूर अन्तरिक्ष में भी उपर्युक्त अनेकविध प्रक्रियाओं को सम्पादित करके प्राथमिक प्राणादि तत्त्वों के साथ संयुक्त हो गया, जिसके कारण विभिन्न छन्द रश्मियों से युक्त सरस्वती रूप पूर्वोक्त वह पदार्थ, जहाँ से उसे निष्कासित किया गया था, उसी की ओर प्रवाहित होने लगा। इस प्रकार जो कवष ऐलूष नामक पदार्थ सृष्टि प्रक्रिया में बाधक था, वह उस प्रक्रिया में साधक बन गया।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्तानुसार सृष्टि के व्यापक कारणरूप पदार्थ में अनेक fluctuation होने के कारण अनेक प्रकार के कण वा तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं। उस समय इस ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार की तेजस्वी भेदक किरणें भी उत्पन्न हो चुकी होती हैं। विद्युदावेश का कार्य सर्वत्र व्याप्त होने लगता है। उसी समय इस ब्रह्माण्ड में कुछ ऐसी रश्मियां भी उत्पन्न हो जाती हैं, जो तीव्र प्रक्षेपक, प्रकाशरहित व प्रतिकर्षक बलों से युक्त होकर विद्युत् को नष्ट करने वाली होती हैं, जिसके कारण सृष्टि की विभिन्न सृजन प्रक्रियाएं रुक सकती हैं। उस समय प्राणापान वा प्राणोदान की संयुक्त अत्यन्त भेदक रश्मियां उन बाधक रश्मियों को सुदूर अन्तरिक्ष में फैंक देती हैं। ये बाधक किरणें विद्युत् के प्रति अति आकर्षणशील भी होती हैं। कदाचित् ये रश्मियां पूर्व में अनेकत्र वर्णित अप्रकाशित ऊर्जा का एक विशेष रूप होती हैं। सुदूर अन्तरिक्ष में फैंकी गई ये रश्मियां मन और वाक् तत्त्व के निरन्तर सम्पर्क में रहती हैं, जिसके कारण कुछ काल पश्चात् इन रश्मियों से १५ प्रकार की विभिन्न त्रिष्टुप् किरणें उत्पन्न होती हैं। इनके प्रभाव से वह अप्रकाशित बाधक ऊर्जा प्राथमिक प्राणों के सम्पर्क में आकर विद्युत् तेज से संयुक्त होने लगती है। इनमें प्रतिकर्षण बल के साथ-२ भेदक, धारक एवं आकर्षण गुण भी उत्पन्न होने लगते हैं। इनमें अरुण वर्ण का प्रकाश और ऊष्मा भी उत्पन्न होने लगती है। फिर ये किरणें अनेक मरुद् रश्मियों के साथ संयुक्त होने से विद्युत् युक्त होकर सब ओर बढ़ने लगती हैं। इनसे अनेक प्रकार के कण और तरंगें भी उत्पन्न होने लगती हैं और उन कणों के बीच संयोग-वियोग की विभिन्न प्रक्रियाएं सम्पादित होने लगती हैं। उस समय उस पदार्थ में सर्वत्र अनेक प्रकार की विद्युत् धाराएं प्रवाहित होने लगती हैं। प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण विभिन्न कणों वा तरंगों के अन्दर व्याप्त होकर शक्ति का संचार करते रहते हैं, जिसके कारण वे पदार्थ निरन्तर गति करते हुए सृजन प्रक्रियाओं को सम्पन्न करते रहते हैं। विभिन्न प्रकार के फोटोन्स, अल्प प्रकाशयुक्त एवं अनियमित व अनियन्त्रित गति वाले विभिन्न कण, ऊष्मा की उत्पादक ऋतु आदि प्राण रश्मियां एवं डार्क एनर्जी आदि ये चारों प्रकार के पदार्थ उस क्षेत्र में भी उत्पन्न हो जाते हैं। इनका सम्बन्ध प्राणापानादि से सतत बना रहता है। विभिन्न प्राण रश्मियां इन चारों प्रकार के पदार्थों के चारों ओर परिक्रमण करती रहती हैं। पूर्व में अन्तरिक्ष का जो भाग अन्धकारयुक्त था, वह प्रकाशित हो उठता है और कणों वा तरंगों की गति वा आवृत्ति भी बढ़ने लगती है। विभिन्न प्रकार के पदार्थों के मार्ग और गतियां स्पष्ट होकर अनेकविध सृजन प्रक्रियाओं का जन्म होता है। इसके पश्चात् ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर मिलकर सर्वत्र सृष्टि प्रक्रिया को संवर्धित करता है।।

२. तस्माद्धाप्येतर्हि परिसारकमित्याचक्षते यदेनं सरस्वती समन्तं परिससार।।
ते वा ऋषयोऽब्रुवन् विदुर्वा इमं देवा उपेमं ह्वयामहा इति तथेति तमुपाह्वयन्त तमुपहूयै- तदपोनप्त्रीयमकुर्वत प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्विति तेनापां प्रियं धामोपागच्छन्नुपदेवानाम्।।

उपापां प्रियं धाम गच्छत्युप देवानां जयति परमं लोकं य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेतदपोनप्त्रीयं कुरुते।।

व्याख्यानम्- अन्तरिक्ष के जिस भाग में पूर्वोक्त कवष ऐलूष नामक पदार्थ, जो प्रक्षिप्त कर दिया गया था और फिर उस क्षेत्र में पूर्वोक्त १५ प्रकार की त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति हुई थी, जिसके कारण उस स्थान में तेज और वल के उत्पन्न हो जाने से विभिन्न छन्द आदि रश्मियों का समूह विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों के साथ उस ओर चारों ओर से प्रवाहित होने लगा था, आज भी ब्रह्माण्ड के उस क्षेत्र विशेष में विभिन्न छन्द रश्मियां एवं वल और तेज आदि से युक्त विभिन्न किरणें उस क्षेत्र के चारों ओर चक्कर लगाती रहती हैं। विश्व के खगोल शास्त्रियों को इस विषय में विशेष अनुसंधान करना चाहिए कि वर्तमान ब्रह्माण्ड में कहाँ-२ ऐसे क्षेत्र हैं, जिनके चारों ओर अनेक प्रकार की छन्द रश्मियां एवं विभिन्न तेजस्वी किरणें सतत परिक्रमण करती हैं।।

जव कवष ऐलूष नामक रश्मियां सुदूर अन्धकारावृत अन्तरिक्ष में मन और वाक् तत्त्व रूपी देवों के साथ संगत और व्याप्त होकर उपर्युक्त प्रभाव उत्पन्न करने लगती हैं, उस समय पूर्व क्षेत्र में विद्यमान अनेक ऋषि प्राण, जिन्होंने उन कवष ऐलूष रश्मियों को वहाँ से निस्सारित किया था, वे ही उसे अपनी ओर आकृष्ट करने लगते हैं किंवा उनकी ओर स्वयं आकृष्ट होने लगते हैं। इसके पश्चात् वे ऋषि प्राण कवष ऐलूष ऋषि द्वारा उत्पन्न १५ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को सव ओर धारण करने लगते हैं, जिसके कारण वे ऋषि प्राण भी विभिन्न प्रकार के देव कणों किंवा तन्मात्राओं को अपने अन्दर धारण कर लेते हैं।।

इस ब्रह्माण्ड में जहाँ-२ भी कवष ऐलूष नामक रश्मियों के कारण उपर्युक्त प्रकार की स्थिति वन जाती है और फिर जहाँ-२ उपर्युक्त त्रिष्टुप् छन्दस्क रश्मियों की उत्पत्ति होती है, वहाँ-२ विभिन्न प्रकार के प्राथमिक प्राणादि तत्त्वों को प्राप्त करके विभिन्न तन्मात्राओं की उत्पत्ति होने लगती है। अन्ततः इन स्थितियों में अनेक महान् लोकों का भी निर्माण होने लगता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **वर्तमान ब्रह्माण्ड में अनेक ऐसे स्थान हैं, जिनके चारों ओर विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियां और अनेक ऊर्जा तरंगें विशेष रूप से परिक्रमण करती रहती हैं। ऐसे वे लोक अत्यन्त गुरुत्वाकर्षण बल युक्त होते हैं।** इस प्रकार के लोकों की उत्पत्ति आज भी अनेकत्र होती रह सकती है। पूर्व में नेव्यूलाओं के अन्दर किंवा ब्रह्माण्ड के अन्दर क्रमशः तारों व नेव्यूलाओं के केन्द्रों के निर्माण की जो प्रक्रिया दर्शायी गई है, उससे कुछ मिलती -जुलती यह प्रक्रिया है। **इसमें निर्मित लोक ब्लेक हॉल किंवा MECO के समान हो सकते हैं।** कथित ब्लैक होल अथवा MECO की उत्पत्ति की वर्तमान वैज्ञानिक प्रक्रिया से यह वैदिक प्रक्रिया भिन्न है। वर्तमान सृष्टि विज्ञानियों को इस पर विचार करना चाहिए। **ये पिण्ड न्यूट्रॉन स्टार आदि के रूप में भी हो सकते हैं।।**

३. तत्संततमनुब्रूयात्।।
संततवर्षी ह प्रजाभ्यः पर्जन्यो भवति यत्रैवं विद्वानेतत्संततमन्वाह।।
यदवग्राहमनुब्रूयाज्जीमूतवर्षी ह प्रजाभ्यः पर्जन्यः स्यात्, तस्मात् तत्संततमेवानूच्यम्।।
तस्य त्रिः प्रथमां संततमन्वाह तेनैव तत्सर्वं संततमनूक्तं भवति।।१।।

{जीमूत = यो जयति येन वा (उ.को.३.६१)। पर्जन्यः = पर्जन्यो वा अग्निः (श.१४.६.१.१३), पर्जन्यस्य विद्युत् (पत्नी) (तै.आ.३.६.१), वृषा पर्जन्यः (तै.सं.२.४.६.४), परो जेता वा, परो जनयिता वा, प्रार्जयिता वा रसानाम् (नि.१०.१०)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि पूर्व वर्णित १५ त्रिष्टुप् प्राण छन्द रश्मियों की उत्पत्ति का प्रकार बतलाते हुए कहते हैं कि इन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति सतत प्रवाह के रूप में होती हैं। इनके मध्य में विराम नहीं होता। इस ग्रन्थ में हम पाद और अर्धर्च पर विराम की चर्चा कर चुके हैं। कदाचित् उस प्रकार का विराम किंवा दो ऋचाओं के मध्य विराम अन्यत्रवत् यहाँ नहीं होता।।

जहाँ इन ऋचाओं का इस प्रकार सतत प्रवाह होता है, वहाँ विद्युदग्नि से युक्त अनेक बाधक रश्मियों को अपने नियन्त्रण में लेने में सक्षम मेघ रूप पदार्थ विभिन्न प्रकार के तत्त्वों को उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रकार के कणों वा तरंगों की सतत वृष्टि करते रहते हैं अर्थात् उस समय विभिन्न प्रकार के पदार्थ विविध संयोग करके अनेक प्रकार के तत्त्वों के निर्माण के लिए सतत क्रियाशील रहते हैं।।

यदि उपर्युक्त छन्द रश्मियों की उत्पत्ति सतत न होकर कुछ अवरोधों वा विरामों के साथ होती है, उस समय विभिन्न प्रकार के मेघ रूप पदार्थ जीमूतवर्षी हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उन मेघ रूप पदार्थों से विभिन्न रश्मियों वा कणों की वर्षा रुक-२ कर ऐसे हुआ करती है, मानो उसे किसी ने नियन्त्रित कर लिया हो, जिसके कारण विभिन्न प्रकार के तत्त्वों के निर्माण में व्यवधान उत्पन्न होता है। इस कारण उपर्युक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां सतत प्रवाह के रूप में ही उत्पन्न होती हैं।।

उपर्युक्त १५ छन्द रश्मियों में से प्रथम छन्द रश्मि की एक साथ तीन आवृत्ति करती है। उसके साथ ही अन्य सभी छन्द रश्मियां सतत प्रकाशित होकर उन रश्मियों में निरन्तरता उत्पन्न करती हैं। जिसके कारण उनसे विविध पदार्थों की सृष्टि भी सतत रूप से होती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्ववर्णित १५ प्रकार की विविध त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां सतत प्रवाह के रूप में उत्पन्न हुआ करती हैं। उनके बीच में किसी प्रकार का विराम नहीं होता। इस सतत प्रवाह के कारण विभिन्न प्रकार के कणों वा तरंगों की भी सतत वृष्टि होकर नाना तत्त्वों की उत्पत्ति होती रहती है। यदि इन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के मध्य में कोई विराम वा व्यवधान आ जाए, तो उनसे उत्पन्न होने वाले विभिन्न पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया भी बाधित होने लगती है। इन १५ प्रकार की त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों में से प्रथम छन्द रश्मि की तीन बार आवृत्ति होकर कुल १७ छन्द रश्मियों का सतत प्रवाह बना रहता है।।

इति ८.१ समाप्तः

ॐ अथ ८.२ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. ता एता नवानन्तरायमन्वाह।।
'हिनोता नो अध्वरं देवयज्येति' दशमीम्।।
आवर्वृततीरध नु द्विधारा इत्यवृत्तास्वेकधनासु।।
'प्रति यदापो अदृश्रमायतीरिति' प्रतिदृश्यमानासु।।
'आ धेनवः पयसा तूर्ण्यर्था' इत्युपायतीषु।।
'समन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः' इति समायतीषु।।

{धनम् = यद्धिनोति वर्धयति तत् (म.द.य.भा.१२.८२), वस्तुमात्रम् (म.द.य.भा.४०.१)। एकः = प्रजापतिर्वा एकः (तै.ब्रा.३.८.१६.१)। वसतीवरी = पशवो वै वसतीवरीः (तै.सं.६.४.२.२), यज्ञो वै वसतीवरी (तै.सं.६.४.२.१), तदासु विश्वान्देवान्त्संवेशयत्येते वै वसतां वरं तस्मांद्वसतीवर्यो नाम (श.३.६.२.१६), एता वै सर्वा देवता यद् वसतीवर्यः (जै.ब्रा.१.३४२)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त सूक्त की पन्द्रह विविध त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति का एक अन्य क्रम यहाँ बतलाते हुए कहते हैं कि प्रारम्भ की नौ विविध त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां बिना किसी विराम व्यवधान के उत्पन्न होती हैं। पूर्व खण्ड में सभी पन्द्रह ऋचाओं को बिना किसी विराम के सतत प्रवाह के रूप में उत्पन्न बतलाया गया था, जबकि यहाँ सतत प्रवाह के रूप में प्रारम्भिक नौ छन्द रश्मियों का ही उत्पन्न होना कहा है।।

इन नौ ऋचाओं की सतत उत्पत्ति के पश्चात् दशमी के स्थान पर ग्यारहवीं ऋचा 'हिनोता नो अध्वरं...' की उत्पत्ति होती है।।

यहाँ 'एकधना' पद का तात्पर्य उन प्राणों से है, जो मनस्तत्त्व रूपी प्रजापति के द्वारा निरन्तर तृप्त एवं समृद्ध होते रहते हैं। इस प्रकार प्राण अपानादि ग्यारह प्राथमिक प्राण ही एकधना आपः हैं। दशमी ऋचा, ग्यारहवीं ऋचा के पश्चात् ग्यारह प्राथमिक प्राणों के पूर्व क्षेत्र से कवष ऐलूष रश्मियों की ओर लौटते समय किंवा लौटते हुए उन ग्यारह प्राणों के अन्दर ही इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकरण की इस ऋग्रश्मि के पूर्व खण्ड में दर्शाये प्रभाव के साथ पूर्ण संगति लगती है। ये ग्यारह प्राण रश्मियां एक ही वर्ग की व कुछ सीमा तक समानता रखने के कारण भी एकधना कहलाती हैं।।

जब उपर्युक्त ग्यारह प्राथमिक प्राणों का प्रवाह कवष ऐलूष रश्मियों के क्षेत्र की ओर होने लगता है, उसी समय 'प्रति यदापो अदृश्रमायतीः' तेरहवीं ऋग्रश्मि की उत्पत्ति होती है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो उन लौटते हुए तथा कवष ऐलूष रश्मियों के द्वारा कामना किए हुए ग्यारह प्राणों से वा उनके सहाय से ही इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है।।

इसके उपरान्त जब वे ग्यारह प्राण कवष ऐलूष रश्मियों के निकट पहुँच जाते हैं, उस समय उपर्युक्त क्रम से हटकर अत्रि ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से विश्वेदेवादेवताक तथा निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचा

आ धेनवः पयसा तूर्ण्यर्था अमर्धन्तीरुप नो यन्तु मध्वा।

महो राये बृहतीः सप्त विप्रो मयोभुवो जरिता जोहवीति।। (ऋ.५.४३.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से सभी देव पदार्थ तीव्र हिंसक तेज व वल से युक्त हो जाते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {जरिता = यजमानो जरिता (ऐ.३.३८), स्तोतृनाम (निघं.३.१६)। अमर्धन्ती = (मृधु उन्दने = मार डालना आर्द्र करना)} सवको अपने साथ संगतकर्त्ता सूत्रात्मा वायु विविध प्रकार के पदार्थों (कणों वा तरंगों) को उत्पन्न करने हेतु व्यापक स्तर पर सात प्रकार की विविध छन्द रश्मियों को उत्पन्न करता है। वे छन्द रश्मियां विभिन्न प्रकाशित प्राणों के साथ संयुक्त होकर विभिन्न पदार्थों को सिक्त करती हुई शीघ्रगामी अनेक किरणों को उत्पन्न करती हैं।

इससे स्पष्ट है कि पूर्व में जो विविध त्रिष्टुप् छन्दस्क १५ छन्द रश्मियों की चर्चा चल रही थी, यहाँ तेरहवीं ऋचा के तुरन्त पश्चात् यह एक अन्य निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि अपने प्रभाव से अन्य अनेक छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने में भी समर्थ होती है, जिससे अनेक पदार्थों की रचना सम्भव हो पाती है।।

तदुपरान्त उपर्युक्त ऋग्वेद १०.३० सूक्तस्थ ऋचाओं से भिन्न गृत्समद ऋषि प्राणापान के संयोग से उत्पन्न एक सूक्ष्म प्राण विशेष से अपान्नपाद्देवताक तथा भुरिक् पंक्तिश्छन्दस्क

समन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यः पृणन्ति।
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपां नपातं परि तस्थुरापः।। (ऋ.२.३५.३)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पतित न होने वाले विभिन्न प्राणों के वाहुरूप वल विस्तृत होते जाते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {नद्यः = (नदति अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४, नदतेः स्तुतिकर्मणः - नि.५.२)} पूर्वोक्तानुसार विभिन्न प्राथमिक प्राण जव कवष ऐलूष रश्मियों के निकट आते हैं वा आ जाते हैं, उस समय वे अच्छी प्रकार से विविध ध्वनियां व ऊष्मा-दीप्तियुक्त तरंगें उत्पन्न करते हुए सम्पूर्ण क्षेत्र को पवित्र व ज्योतिर्मय करके सभी पदार्थों को तृप्त कर देते हैं। यहाँ आचार्य सायण ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १२.५.२ को उद्धृत करते हुए लिखा है- "उन्नेतर्होतृचमसेन वसतीवरीमिश्च चात्वालं प्रत्यास्वेति" {चात्वालः = अग्निरेष यच्चात्वालः (श.७.१.१.३६; ६.१.१.४२), एषा (चात्वालः) वा अग्नीनां योनिः (मै.३.६.७), योनिर्वै यज्ञस्य चात्वालः (जै.ब्रा.३.११५)। उन्नेता = विष्णुर्वा उन्नेता (जै.ब्रा.२.६८)} हमारे मत में इसका आशय है कि व्यापक एवं उत्कृष्टरूपेण ढोने वा वहन करने में समर्थ विभिन्न प्राथमिक प्राणों रूप एकधना आपः के मेघों के साथ विभिन्न वसतीवरी अर्थात् छन्दों वा मरुद् रश्मियों को मिश्रित करके अग्निरूपी चात्वाल को सम्पादित करते हैं। यहाँ 'उन्नेतः' में तृतीयार्थ में सम्वोधन विभक्ति का प्रयोग छान्दस है। इससे स्पष्ट है कि जब विभिन्न प्राथमिक प्राण व मरुद् वा छन्द रश्मियां परस्पर मिश्रित हो रही होती हैं, उस समय इस छन्द की उत्पत्ति होती है किंवा यही छन्द रश्मि उन्हें परस्पर मिलाने का कार्य करती है। यहाँ आचार्य सायण ने पुनः आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १२.६.१-२ को उद्धृत करते हुए लिखा है- "होतृचमसेन वसतीवरीभ्यो निषिच्योपरि चात्वाले होतृचमसं मैत्रावरुणचमसं च सँस्पर्श्य वसतीवरीर्व्यानयति 'समन्या यन्ति' इत्यभिज्ञाय होतृचमसान् मैत्रावरुणचमस आनयति मैत्रावरुणचमसाद्धोतृचमस एतद्वा विपरीतम्।" हमारे मत में इसका तात्पर्य है कि प्राथमिक प्राणों के मेघ वा समूह रूप होतृचमस के द्वारा विभिन्न छन्द वा मरुद्रश्मियों से अग्नितत्त्व को ऊपर से सिक्त करके प्राथमिक प्राण के समूह विशेषकर प्राणापान से स्पर्श करके मरुद् वा छन्द रश्मियों को सर्वत्र व्याप्त किया जाता है। इसके पश्चात् 'समन्या यन्ति......' छन्द रश्मि को उत्पन्न करके प्राणापान सभी प्राथमिक प्राणों को सव ओर से व्याप्त करते हैं अथवा सभी प्राथमिक प्राणों का समूह प्राणापान को विशेषरूपेण प्राप्त करता है, इससे सभी प्राथमिक प्राण व मरुद् व छन्द रश्मियां परस्पर मिश्रित हो जाती हैं। इसके कारण अनेक पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्ववर्णित १५ प्रकार की विविध त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति का एक अन्य क्रम भी हुआ करता है। इस क्रम के अनुसार प्रारम्भ की नौ रश्मियां पूर्ववत् सतत प्रवाह के रूप में

अविराम उत्पन्न होती हैं। उसके पश्चात् दशमी रश्मि के पूर्व ११ वीं छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। उस समय प्राणापानादि ग्यारह प्राथमिक प्राण उस ओर विशेष रूप से प्रवाहित होने लगते हैं। उस समय एक अन्य निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसके कारण सात प्रकार की विविध छन्द रश्मियां उस क्षेत्र में उत्पन्न होने लगती हैं। ये रश्मियां प्राथमिक प्राणों के साथ विशेष संसर्ग करके नाना प्रकार के कणों व तरंगों को उत्पन्न करने लगती हैं। इसके पश्चात् एक अन्य पंक्ति छन्द रश्मि उत्पन्न होकर विभिन्न प्राथमिक प्राण, मरुद् व छन्द रश्मियां परस्पर मिश्रित होने लगती हैं। इसके कारण उस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होकर उस सम्पूर्ण क्षेत्र को ज्योतिर्मय कर देती हैं।।

२. आपो वा अस्पर्धन्त वयं पूर्वं यज्ञं वक्ष्यामो वयमिति याश्चेमाः पूर्वेद्युर्वसतीवर्यो गृह्यन्ते याश्च प्रातरेकधनास्ता भृगुरपश्यदापो वै स्पर्धन्त इति ता एतयर्चा समज्ञपयत् 'समन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः' इति ताः समजानत।।
संजानाना हास्याऽऽपो यज्ञं वहन्ति य एवं वेद।।

{भृगुः = अर्चिषि भृगुः सम्बभूव भृगुः भृज्यमानो न देहे (नि.३.१७)। तस्य (प्रजापतेः) यद् रेतसः प्रथमम् उददीप्यत तदसावादित्योऽभवद् यद् द्वितीयमासीत्तद् भृगुरभवत् (ऐ.३.३४)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकरण में कुछ स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि जब प्राणादि प्राथमिक प्राण तथा मरुद्रश्मियों रूपी वसतीवरी प्राण दोनों ही पूर्वोक्तानुसार कवष ऐलूष रश्मियों की ओर प्रवाहित हुए। इनमें से पहले मरुद्रश्मियां प्रवाहित होती हैं उसके पश्चात् प्राणादि प्राथमिक प्राण प्रवाहित होते हैं। इनमें प्राणादि प्राथमिक प्राण अति तीव्र गति से प्रवाहित होते हैं। इन दोनों के प्रवाहित होने पर दोनों ही प्रकार की रश्मियों में मानो स्पर्धा हुई कि कौन सर्वप्रथम यजन करे? इसका तात्पर्य है कि दोनों ही प्रकार की रश्मियों का कवष ऐलूष रश्मियों के प्रति पृथक्-२ आकर्षण होने लगता है। जिसके कारण अव्यवस्था उत्पन्न होकर अनिष्ट स्थिति उत्पन्न होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। ध्यातव्य है कि प्राणादि प्राथमिक प्राणों के शीघ्र गमन करने का तात्पर्य उनका अति सक्रिय होना ग्रहण करना चाहिए। ऐसी स्थिति में भृगु नामक ऋषि प्राण ने उन दोनों को ही अपनी ओर आकृष्ट किया। **भृगु नामक ऋषि प्राण एक ऐसा प्राण है, जो मन व वाग्रूपी प्रजापति के संयोग से मास रश्मियों तथा प्राथमिक प्राणों के पश्चात् उत्पन्न होता है।** यह सूक्ष्म प्राण उस समय उत्पन्न होता है, जब ब्रह्माण्ड में तीव्र तेजस्वी तरंगें उत्पन्न हो चुकी होती हैं किंवा अग्नि की ज्वालाएं उठ रही होती हैं। इस प्रकरण में विभिन्न त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने से उस क्षेत्र में तेज की प्रचुरता होती है। भृगु रश्मियां इस तेज के सहयोग से विभिन्न पदार्थों को जलाने में सक्षम होती हैं परन्तु स्वयं नहीं जलती हैं। उस समय पूर्वोक्तानुसार प्राणापान के संयोग से उत्पन्न गृत्समद नामक एक सूक्ष्म प्राण रश्मि से भुरिक् पंक्तिश्छन्दस्क तथा अपान्नपाद् देवताक **'समन्या यन्त्युप.....'** (ऋ.२.३५.३) छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इस छन्द रश्मि के कारण २.२०.१ में वर्णितानुसार प्राथमिक प्राण व विभिन्न मरुद् रश्मियां दोनों ही परस्पर मिश्रित होने लगते हैं, जिसके कारण उनके विरोध वा स्पर्धा के कारण उत्पन्न वा सम्भावित अव्यवस्था समाप्त होकर अनुकूल स्थिति उत्पन्न होने लगती है। इनके अनुकूलन व एकत्व भाव उत्पन्न होने पर तत्रैव वर्णितानुसार सभी क्रियाएं सम्यग्रूपेण सम्पादित होने लगती हैं।।

जब इस प्रकार से प्राथमिक प्राणों तथा विभिन्न मरुतों में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है, तब विभिन्न यजन प्रक्रियाएं गतिशील हो उठती हैं, जिससे नाना तत्त्वों का मेल होकर नाना पदार्थों का निर्माण होने लगता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब पूर्वोक्तानुसार प्राथमिक प्राण तथा विभिन्न मरुद् रश्मियां पूर्व निर्दिष्ट क्षेत्र की ओर प्रवाहित होने लगती हैं, उस समय उनका वहाँ विद्यमान विभिन्न रश्मियों से आकर्षण होने लगता है। इन दोनों प्रकार की रश्मियों में से मरुद्रश्मियां पहले प्रवाहित होने लगती हैं तथा प्राथमिक

प्राण रश्मियां उसके पश्चात्, परन्तु वे मरुद्रश्मियों की अपेक्षा अति तीव्रता से सक्रिय होती हैं। इन दोनों प्रकार की रश्मियों में परस्पर कुछ संघर्षण, टकराव होने से कुछ अव्यवस्था उत्पन्न होने लगती है। उस समय वहाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के तीव्र तेज के कारण कुछ अन्य सूक्ष्म रश्मियां उत्पन्न होकर पूर्वोत्पन्न भुरिक् पंक्ति छन्द रश्मि की सहायता से दोनों प्रकार की रश्मियों को मिश्रित कर देती हैं। इनके परस्पर मिश्रित हो जाने से विभिन्न कणों वा तरंगों के सृजन की प्रक्रिया सम्यग्रूपेण सम्पादित होने लगती है। इस सृष्टि में सृजन प्रक्रिया को सम्यग्रूपेण संचालित करने के लिए प्राथमिक प्राण व विभिन्न मरुद्रश्मियों में सामंजस्य का होना अनिवार्य है, अन्यथा सृजन कर्मों का होना दुष्कर है।।

३. 'आपो न देवीरुपयन्ति होत्रियमिति होतृचमसे समवनीयमानास्वन्वाह वसतीवरीष्वेकधनासु च।।
अवेरपोऽध्वर्या३उ इति होताऽध्वर्युं पृच्छति।।
आपो वै यज्ञोऽविदो यज्ञा३म्, इत्येव तदाह।।
उतेमनन्नमुरित्यध्वर्युः प्रत्याह।।
उतेमाः पश्येत्येव तदाह।।

व्याख्यानम्- इसके पश्चात् राहूगणो गोतम ऋषि अर्थात् धनञ्जय प्राण से इन्द्रदेवताक तथा जगती छन्दस्क

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः।
प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वराइव।। (ऋ.१.८३.२)

छन्दरश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से इन्द्रतत्त्व समृद्ध होकर ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की क्रिया होने लगती है, जिससे उस क्षेत्र में विक्षोभ उत्पन्न होने लगता है। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित पदार्थ पूर्वोक्त प्राथमिक प्राणों व मरुतों की मात्रा व सामंजस्य के अनुसार दिव्यतादि गुणों को प्राप्त करते हैं। कवष ऐलूष रश्मियों के उस क्षेत्र में पूर्व में जो कण वा पदार्थ विद्यमान थे, वे आदान-प्रदान वा संयोग-वियोग गुणों को प्राप्त करने लगते हैं। ये कण विद्युद्युक्त होकर परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित करने लगते हैं।

ध्यातव्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उस समय होती है, जब प्राथमिक प्राण तथा मरुद्रश्मियों का परस्पर मेल होकर नानाविध संयोगादि क्रियाएं होने लगती हैं। ये दोनों मिलकर मेघरूप धारण कर लेते हैं। यहाँ 'होतृचमस्' पद यह भी दर्शाता है कि जिस प्रकार लोक में होम करने वाले के हाथ में स्रुवा होती है और उसी के द्वारा वह यज्ञवेदी में निरन्तर घृत की आहुति देते रहकर यज्ञ को सम्पादित करता है। उसकी स्रुवा ही यज्ञ का प्रमुख साधन है, उसी प्रकार **प्राथमिक प्राण व विभिन्न मरुद्रश्मियाँ, दोनों का मेल ही मानो मन व वाग्रूप होता किंवा चेतन तत्त्व परमात्मा के हाथ में स्रुवा के समान है, जिसके द्वारा इस सृष्टियज्ञ में निरन्तर तेज व शक्ति की आहुतियां दी जाती रहती हैं। इनके बिना सृष्टियज्ञ कभी सफल नहीं हो सकता।।**

{प्रच्छ् = ढूंढना, तलाश करना} यहाँ 'प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादया...... वा. अष्टाध्यायी (८.२.१०७) से विचार्यमाण अर्थ में प्लुत हुआ है। यहाँ 'विचार्यमाण' का अर्थ हमारे मत में 'विशेष रूप से विचरण करता व कराता हुआ' वा 'भक्षण करता हुआ' होगा।

उपर्युक्त प्रक्रिया के अनन्तर होता अर्थात् **मन व वाक् तत्त्व का संयुक्त रूप अध्वर्यु अर्थात् प्राणापान को खोज-२ कर अपने साथ विविधतया संयुक्त करके सक्रिय करता है।** जब तक प्राणापान तत्त्व अन्य सभी प्राथमिक प्राणों व मरुद्रश्मियों से संयुक्त नहीं हो जाते, तब तक यही प्रक्रिया सतत चलती रहती है। प्राण व अपान दोनों ही अन्य सभी प्राथमिक प्राण तत्त्वों तथा मरुद्रश्मियों में व्याप्त

होते रहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार अपनी शैली में मानो मनस्तत्त्व के द्वारा प्राणापान से कहलवाते हैं कि तुम्हें अन्य प्राथमिक प्राण वा मरुत् प्राप्त हो गये क्या?।।

सभी प्राथमिक प्राणतत्त्व एवं मरुद्रश्मियां यज्ञरूप ही होते हैं अर्थात् वे सदैव परस्पर आकर्षणशील व गतिशील ही होते हैं, जिसके कारण वे परस्पर संगति को प्राप्त करते हैं। इस संगति की प्रक्रिया में मन व वाग्रूप होता की अनिवार्य भूमिका होती है। उसी शैली में ग्रन्थकार मानो पुनः कहलवाते हैं कि वे यज्ञरूप प्राथमिक प्राण व मरुद्रश्मियां प्राप्त हो गयीं क्या?।।

इस मन व वाग्रूप होता की प्रेरणा से प्राणापान रूप अध्वर्यु अन्य प्राथमिक प्राणों व मरुद्रश्मियों को प्रचुरतया प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ आचार्य सायण ने 'उत' शब्द को 'अपि' अर्थ में तथा 'ईम्' शब्द वाक्य पूरणार्थ निपात को 'इमा' अर्थ में प्रयुक्त माना है। इसके साथ ही 'अनन्नमुः' का अर्थ 'अतिशयेनोपनताः' किया है। इससे हमारा उपर्युक्त मत ही पुष्ट होता है। यहाँ भी ग्रन्थकार अपनी उसी शैली में मानो प्राणापानरूप अध्वर्यु से कहलवाते हैं कि उन्हें अन्य प्राथमिक प्राण व विभिन्न मरुत् प्रचुरतया प्राप्त हो गये हैं।।

तदनन्तर अन्य प्राथमिक प्राण व मरुद्रश्मियां मनस्तत्त्व रूपी होता के द्वारा आकृष्ट की जाती हैं और इस आकर्षण का माध्यम होते हैं, प्राण व अपान नामक प्राथमिक प्राणतत्त्व। इसे ही ग्रन्थकार इस प्रकार दर्शा रहे हैं मानो वे प्राणापान उन प्राणादि रश्मियों को उस मनस्तत्त्व किंवा मन व वाक् तत्त्व के मिथुन को दिखला रहे हों।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदनन्तर एक निचृज्जगती छन्द रश्मि के उत्पन्न होने से उस क्षेत्र में तीव्र रूप से ऊर्जा का उत्सर्जन व अवशोषण होने लगता है। इससे वह सम्पूर्ण क्षेत्र विक्षुब्ध हो उठता है। इसके कारण विभिन्न पदार्थों के बीच संयोग वियोग की प्रक्रिया तीव्र होने लगती है। विद्युत् बलों की समृद्धि होकर नवीन तत्त्वों का निर्माण तीव्र होने लगता है। इस सम्पूर्ण प्रकरण में प्राण व अपान तत्त्व महत्वपूर्ण साधन के रूप में काम करते हैं। ये ही विभिन्न कणों वा तरंगों को सतत बल प्रदान करते रहते हैं। इन प्राण व अपान रश्मियों को मन व वाक् तत्त्व ही विभिन्न प्राणों वा मरुत् किरणों से संयुक्त होने के लिए सतत प्रेरित करते रहते हैं, जिसके कारण उन प्राण व अपान तत्त्वों का अन्य प्राणादि पदार्थों के साथ व्यापक व अति निकट सम्बन्ध स्थापित होता रहता है। इस सम्बंध की परिणति विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाओं के द्वारा विभिन्न नवीन तत्त्वों के सतत सृजन के रूप में होती है।।

४. तास्वध्वर्यो इन्द्राय सोमं सोता मधुमन्तं वृष्टिवनिं तीव्रान्तं बहुरमध्यं वसुमते रुद्रवत आदित्यवत ऋभुमते विभुमते वाजवते बृहस्पतिवते विश्वदेव्यावते। यस्येन्द्रः पीत्वा वृत्राणि जङ्घनत् प्र स जन्यानि तारिषो३मिति प्रत्युत्तिष्ठति।।

{वृष्टिवनिम् = वृष्टियाचिनम् (नि.२.१२), (वृष्टिः = दुष्टानां शक्तिर्बन्धिका शक्तिः - म.द.ऋ.भा.१.१५२.७)। ऋभुः = धनञ्जयः सूत्रात्मा वायुरिव मेधावी (म.द.ऋ.भा.१.१६१.६), ऋभव उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीतिवा आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते (नि.११.१५-१६), मेधाविनाम (निघं.३.१५)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त विषय को आगे बढ़ाते हुए महर्षि लिखते हैं कि वे मन वाक् रूप होता मानो प्राणापान रूप अध्वर्यु से कहते हैं, जिसका आशय यह है कि मन वा वाग्रूप होता उस प्राणापान युग्म को प्रेरित करके निम्न गुणों से युक्त कर देते हैं-

इन्द्र तत्त्व का स्वरूप

वे प्राणापान इन्द्र तत्त्व के उत्पन्न करने वाले होते हैं। वह इन्द्रतत्त्व कैसा होता है, इसको दर्शाते हुए कहा है कि **वह इन्द्रतत्त्व सोम अर्थात् विभिन्न ठंडे मरुत् प्राणों को सम्पीडित व प्रेरित करने वाला, विभिन्न स्पष्ट मार्गों पर मन्द गति से गमन करने वाला, उसे प्रेरित करके नाना तत्त्वों का निर्माण करने व उसे विभिन्न प्राणों से संयुक्त करने वाला, विभिन्न बाधक तीव्र किरणों को रोकने वा नियन्त्रित करके उसको खण्ड-२ करने की सामर्थ्य वाला, विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करने वाला, अनेक पदार्थों के वासयिता विभिन्न प्राणों व अग्नितत्त्व से युक्त, विभिन्न घोरकर्मा तीव्र ध्वनि करने वाले प्राणों से युक्त, विभिन्न प्रकार की बारह मास रश्मियों से युक्त, धनंजय वायु से युक्त, व्यापक प्रभाव से किंवा व्यापक मन व वाग्युक्त, विभिन्न बलों वा छन्द रश्मियों से युक्त, सूत्रात्मा वायुरूप सबके पालक बृहस्पति से युक्त तथा सभी प्रकार के दिव्य गुणों से युक्त होता है।** यहाँ 'ऋभु' युक्त होने का महर्षि यास्क के दृष्टिकोण से यह भी अर्थ है कि यह **इन्द्र जिस धनंजय वायु से युक्त होता है, वह धनंजय वायु अन्तरिक्ष में व्यापक होकर चमकता है, प्राण नामक प्राथमिक प्राणों के साथ मिलकर चमकता है** और वस्तुतः उस प्राण नामक तत्त्व के साथ ही वह सदैव रहता भी है। क्योंकि आदित्य रश्मियों को वह लेकर गमन करता है, इस कारण आदित्य रश्मि को भी ऋभु कहते हैं।

ध्यातव्य है कि सामान्यतः प्राणापान इन इतने व्यापक गुणों से युक्त नहीं होते, परन्तु जब मन व वाक् तत्त्व की प्रेरणा से वे विभिन्न मरुद्ररश्मियों से संयुक्त होते हैं, उस समय उनके विशेष संयोग से उनसे अति शक्तिशाली इन्द्रतत्त्व उत्पन्न होता है, जो उपर्युक्त गुणों से युक्त होता है। इसी कारण भगवान् यास्क ने इन्द्रतत्त्व को बलों का स्वामी कहा है। वे लिखते हैं- "या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्।" (नि.७.१०) यह ऐसा इन्द्र तत्त्व अथवा विद्युद्युक्त वायु सोम अर्थात् विभिन्न मरुद्ररश्मियों को अवशोषित करके और भी प्रबल हो उठता है। फिर यह प्रबल इन्द्र तत्त्व वृत्र अर्थात् अप्रकाशित हिंसक असुर पदार्थ, जो मेघरूप होकर सबको त्रास पहुँचाता है, विभिन्न संयोगादि कर्मों में भारी विघ्न डालता है, को नष्ट कर देता है। वस्तुतः **इन्द्र तत्त्व अत्यन्त जटिल व बलवान् पदार्थ है।** इस इन्द्रतत्त्व के साहाय्य से विभिन्न संगमनीय पदार्थ अनेक सम्भावित बाधक असुरादि रश्मियों की बाधाओं को पार कर लेते हैं। फिर उन्हें पार करके संयोगादि प्रक्रियाओं में स्थिरता से दृढ़ रहकर अनेक कर्मों व पदार्थों का सम्पादन करते हैं। 'ओम्' पद यहाँ उक्त कथन के अंगीकार अर्थात् स्वीकार करने के अर्थ में है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ विद्युत्, विशेषकर विद्युत् युक्त वायु की उत्पत्ति व गुणों का विशद विवेचन किया गया है। जब मन व वाक् तत्त्व की प्रेरणा से प्राणापान नामक तत्त्व विभिन्न मरुद्ररश्मियों व अन्य प्राथमिक प्राणों से एक विशेष संयोग को प्राप्त होता है, उस समय अति तीव्र विद्युत् संयुक्त वायु की उत्पत्ति होती है। ऐसा वह तीव्र विद्युत् विभिन्न मरुद्रश्मियों को सम्पीडित व अवशोषित करने वाला, अप्रकाशित ऊर्जा की बाधक व प्रतिकर्षक क्रियाओं को नियन्त्रित वा नष्ट करने वाला, ऊष्मा व गर्जनयुक्त ध्वनि से युक्त अनेक पदार्थों का भेदन व सृजन करने वाला, विभिन्न छन्द व अन्य प्राण रश्मियों से युक्त होकर अनेक प्रकार की क्रियाओं को सम्पन्न करने वाला, विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ संयुक्त रहकर चमकने वाला आदि अनेक गुणों से युक्त होता है। वस्तुतः विद्युत् वा तड़ित का स्वरूप अत्यन्त जटिल होता है। वर्तमान विज्ञान भी विद्युत् के गुणों को पूर्णरूपेण जानने में अभी तक अक्षम है। भौतिक विज्ञानी 'रिचर्ड पी. फाईमैन' अपनी पुस्तक Lectures on Physics, Vol. I, p.593 पर लिखते हैं -

"We could say that we are not yet know the laws of electricity."

उस ऐसे विद्युत् के कारण ही विभिन्न पदार्थ सृजन कर्मों में रत रह पाते हैं।।

५. प्रत्युत्थेया वा आपः प्रति वै श्रेयांसमायन् तमुत्तिष्ठन्ति, तस्मात् प्रत्युत्थेयाः।।
अनुपर्यावृत्याः।।
अनु वै श्रेयांसं पर्यावर्त्तन्ते तस्मादनुपर्यावृत्या अनुब्रुवतैवानुप्रपत्तव्यम्।।
ईश्वरो ह यद्यप्यन्यो यजेताथ होतारं यशोऽर्तोस्तस्मादनुब्रुवतैवानुप्रपत्तव्यम्।।

{श्रेयांसः = अतिशयेन श्रेय इच्छन्तः (म.द.ऋ.भा.५.६०.४), (श्रिञ् = सहारा लेना, पहुँचना, धारण करना, चिपकना, निवास करना - आप्टे कोष)}

व्याख्यानम्- पूर्व प्रकरण को प्रकारान्तर से वर्णित करते हुए कहते हैं कि जब विभिन्न मरुद्रश्मियों सहित प्राथमिक प्राण उस कवष ऐलूष ऋषिप्राण के क्षेत्र की ओर गमन करते वा वहाँ पहुँचते हैं, उस समय उस क्षेत्र में विद्यमान कवष ऐलूष रश्मियां आदि पदार्थ उठ खड़े होते हैं। इसका तात्पर्य है कि वे पदार्थ उन प्राण व मरुदादि रश्मियों के आते ही उनके प्रभाव से सक्रिय व दृढ़ हो जाते हैं। वे उनकी ओर झुकते हुए दृढ़ आकर्षण बल का अनुभव करते हैं। इसकी उपमा देते हुए महर्षि कहते हैं कि यह प्रक्रिया उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अतिशय आकर्षक बल से युक्त होकर कोई कण जब किसी अन्य कण के सम्मुख आकर खड़ा हो जाता है, उस समय वह कण आकर्षण का अनुभव करके दृढ़ता से खड़ा होकर उसकी ओर झुकता हुआ चला आता है। ध्यातव्य है कि जब कोई कण किसी विशेष दिशा में गतिशील होता है और उसी समय आकर्षण बलयुक्त अन्य कण उसके पास से गति करता है, तब उनके मध्य उत्पन्न आकर्षण बल सर्वप्रथम उन दोनों कणों की गतियों को विराम देकर उन्हें परस्पर सम्मुख खड़ा कर देता है। उसके पश्चात् ही संयोगादि क्रिया होती है। वही स्थिति यहाँ प्राथमिक प्राण एवं मरुद्रश्मियों के कवष ऐलूष रश्मि के मध्य बतलायी गई है।।

इसी क्रम में महर्षि और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार उपर्युक्त संयोज्य कण परस्पर सन्निकट आने पर सर्वप्रथम रुकते हैं, पुनः उनमें से एक कण दूसरे कण का परिक्रमण करता है। उसके अनन्तर ही उस परिक्रमण करते हुए कण के साथ अन्य कण का संयोग होता है। इसी प्रकार जब विभिन्न मरुद्रश्मियों के साथ प्राथमिक प्राण कवष ऐलूष रश्मियों के क्षेत्र में आते हैं, तब पहिले तो वे दोनों परस्पर सम्मुख आकर कुछ रुकते, ठहरते पुनः कवष ऐलूष रश्मियां उन प्राणों के साथ संयुक्त होने के लिए उनके चारों ओर चक्कर लगाने लगती हैं। इस परिक्रमण क्रिया के पश्चात् ही उनका वास्तविक संयोग हो पाता है। इस परिक्रमण क्रिया के होते समय पूर्वोक्त १५ विभिन्न त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां भी अपने तेज बल आदि प्रभावों को उन सबके ऊपर डालती रहती हैं। ऐसा न होने पर संयोग की प्रक्रिया या तो हो नहीं पाएगी और यदि हुई भी तो विभिन्न सृजन कर्मों को सम्पादित नहीं कर पाएगी।।+।।

इस प्रक्रिया में प्राथमिक प्राणों व मरुद्रश्मियों का सम्मिश्रण होकर इस मिश्रित प्राण तत्त्व का कवष ऐलूष नामक सूक्ष्म रश्मियों व त्रिष्टुप् छन्दस्क पूर्वोक्त रश्मियों के साथ यजन होता है परन्तु मन व वाक् रूप होता की प्रेरणा के बिना यह यजन वा सृजन कार्य कहीं भी कभी भी सम्भव नहीं है। **(यद्यपि अन्तिम व सबका प्रेरक प्राथमिक होता तो परमपिता चेतन तत्त्व परमात्मा है परन्तु वह किसी भी कार्य का उपादान कारण नहीं होने से उसकी चर्चा प्रायः यहाँ नहीं की गई है।)** इस कारण मन व वाक् तत्त्वों का मिथुन रूप ही प्रत्येक प्रकार के तेज, प्रकाश वा बल की प्राप्ति तथा इनके द्वारा विभिन्न यजन-सृजन कार्यों को कराने में पूर्ण समर्थ व नियामक है। इस कारण जब मन व वाक् तत्त्व की प्रेरणा से पूर्वोक्त १५ विभिन्न छन्द रश्मियां उत्पन्न व प्रकाशित हो रही हों, उसी समय कवष ऐलूष रश्मि आदि पदार्थ आने वाले प्राथमिक प्राणों तथा विभिन्न मरुद्रश्मियों का परिक्रमण करने लगते वा करते हैं, उसके पूर्व नहीं। उसी समय उन सभी में विशेष सक्रियता, दृढ़ता, तेजस्विता व संयोग की इच्छा उत्पन्न होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो कण वा तरंगों का पारस्परिक संयोग होता है, तब वह संयोग सहसैव नहीं होता बल्कि वे गतिशील दोनों ही कण वा तरंगें एक दूसरे के आकर्षण बल से पहले कुछ ठहर जाते हैं। एक दूसरे के सम्मुख आने पर ठहर कर एक दूसरे की ओर आकर्षण का प्रबल बल अनुभव करके एक दूसरे की ओर झुक जाते हैं। तदुपरान्त **एक दूसरे का परिक्रमण करते हुए अन्त में संयुक्त हो जाते हैं।** विशेष परिज्ञानार्थ व्याख्यान भाग पठनीय है।।
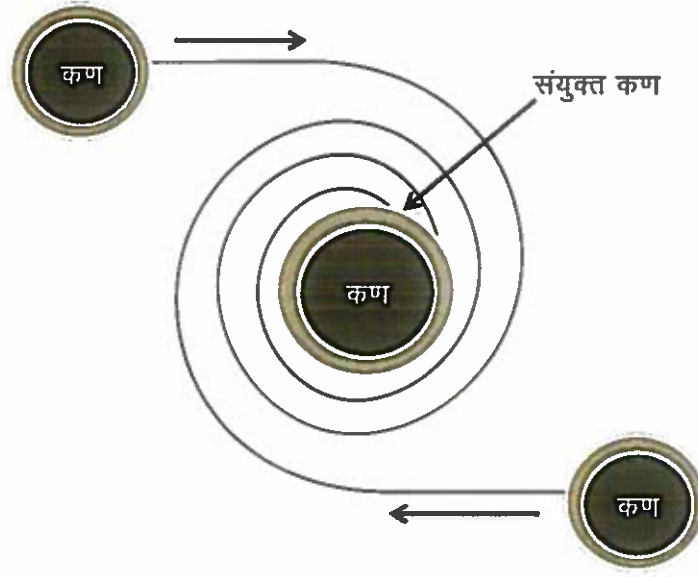
चित्र ८.१ दो कणों के संयोग की प्रक्रिया

६. 'अम्बयो यन्त्यध्वभिः' इति एतामनुब्रुवन्ननु प्रपद्येत।।
'जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः' इति।।
योऽमधव्यो यशोऽर्तोर्बुभूषेत्।।
'अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह' इति तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामः।।

{अम्बयः = रक्षणहेतव आपः (म.द.ऋ.भा.१.२३.१६), आपो वा अम्बयः (कौ.ब्रा.१२.२), (अबि गतौ, अबि शब्दे - सं.धा.को. - पं.युधिष्ठिर मीमांसक)। जामयः = (जमतीति गतिकर्मा - निघं.१.१४), जायमानाः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२.६), जामि उदकनाम (निघं.१.१२), अङ्गुलिनाम (निघं.२.५)। पृञ्चतीः = (पृची सम्पर्के)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण व परिस्थिति में अर्थात् कवष ऐलूष रश्मियों द्वारा प्राथमिक प्राण व विभिन्न प्राण व विभिन्न मरुद्रश्मियों का अनुगमन व परिक्रमण करते समय काण्व मेधातिथि ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से आपः देवताक तथा गायत्री छन्दस्क

अम्बयो॑ य॒न्त्यध्व॑भिर्जा॒मयो॑ अध्वरीय॒ताम्। पृ॒ञ्च॒तीर्मधु॑ना॒ पयः॑।। (ऋ.१.२३.१६)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से प्राथमिक प्राण एवं विभिन्न मरुद्रश्मियां अधिक सक्रिय व तेजस्वी हो उठती हैं। इसके अन्य प्रभाव से गति करने वाली वे प्राण व मरुद्रश्मियां, जो अपने सेचन से विभिन्न पदार्थों को बल प्रदान करती हैं, शब्द उत्पन्न करती हुई सृजन कर्मों की रक्षा भी करती हैं। वे प्राथमिक प्राणादि पदार्थ संयोगोत्सुक विभिन्न पदार्थों को स्पष्ट व प्रकाशमान मार्गों पर चलाने हेतु उनके सम्पर्क में आते हैं।

इस छन्दरश्मि के उत्पन्न होते-२ उपर्युक्त परिक्रमण वा अनुक्रमण की क्रिया होती हैं।।+।।

जो पदार्थ अमधव्य हैं अर्थात् मधुयुक्त किंवा प्राणत्व व प्रकाशमान स्पष्ट मार्गों से युक्त नहीं हैं, वे यश अर्थात् सर्वत्र गमन व व्याप्ति के साथ संघात-संयोग गुण से युक्त होना चाहते हैं। {यशः = (अशूङ् व्याप्तौ संघाते च), यशो वै हिरण्यम् (ऐ.७.१८), पशवो यशः (श.१२.८.३.१), प्राणा वै यशः (श.१४.५.२.५), अन्ननाम (निघं.२.७)} इसके साथ ही जो प्राथमिक प्राण, छन्द व मरुदादि के साथ संयुक्त होकर संयोज्यता व देदीप्यता प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए उपर्युक्त ऋचा का 'मधुना' पद

विशेष सहायक होता है। इस कारण इस ऋग्रश्मि का इस स्थिति में उपयोग होता है {बुभूषेत् = भू सत्तायाम् इच्छार्थे सन् प्रत्ययः}।।

इसी प्रकरण में उपर्युक्त ऋषि प्राण व देवता व छन्द वाली

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्।। (ऋ.१.२३.१७)

की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्रकार के प्राणादि पदार्थ जो दिखाई नहीं देते हैं अर्थात् परोक्ष विद्यमान होते हैं, वे विभिन्न सूर्य्यादि प्रकाशमय लोकों के अन्दर विद्यमान होते हैं किंवा जिन परोक्ष प्राणादि पदार्थों के साथ तेजस्वी सूर्य्यादि लोक सदैव वर्तमान होते हैं, वे ऐसे प्राणादि पदार्थ इस छन्द रश्मि के द्वारा और भी सक्रिय व सतेज होकर विभिन्न सृजन-यजन कर्मों को सिद्ध करते हैं।

इस छन्द रश्मि के प्रभाव से प्रकाशमयता तथा विद्युत् प्रभाव में विशेष वृद्धि होती है। इसके कारण विभिन्न कणों वा तरंगों की भेदन क्षमता तीक्ष्ण होकर विविध संगतकर्मों की समृद्धि होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उसी प्रक्रिया में जब कवष ऐलूष रश्मियां प्राथमिक प्राण व मरुद्रश्मियों का परिक्रमण व अनुगमन करती हैं, उस समय दो गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर उन प्राणादि पदार्थों को तेजस्वी बनाने में सहयोग करती हैं। इनके प्रभाव से वे पदार्थ, जो विशेष सक्रिय व तेजस्वी नहीं थे, वे सक्रिय व तेजस्वी हो उठते हैं। उनके गमन मार्ग स्पष्ट होकर विभिन्न संयोग वियोग क्रियाओं को सम्पादित करने में विशेष समर्थ होते हैं। उनकी भेदन-छेदन क्षमता बढ़ने लगती है।।

७. 'अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः' इति पशुकामः।।
ता एताः सर्वा एवानुब्रुवन्ननुप्रपद्येतैतेषां कामानामवरुद्ध्यै।।
एतान् कामानवरुन्धे य एवं वेद।।
'एमा अग्मन् रेवतीर्जीवधन्या' इति साद्यमानास्वन्वाह वसतीवरीष्वेकधनासु च।।
'आग्मन्नाप उशतीर्बर्हिरेदम्' इति सन्नासु स एतया परिदधाति।।२।।

व्याख्यानम्- उस समय विभिन्न रश्मि वा कणों के अन्दर विभिन्न प्रकार की छन्द वा मरुद्रश्मियों के प्रति विशेष आकर्षण भाव उत्पन्न करने हेतु उपर्युक्त ऋषि से उसी छन्द व देवता वाली

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः।। (ऋ.१.२३.१८)

छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिसका छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत् होता है। इसके अन्य प्रभाव से विविध प्रकार की संयोग वियोग प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न दिव्य रश्मियां अन्तरिक्ष से विभिन्न प्राथमिक प्राण, मरुद्रश्मि आदि का अवशोषण करती हैं। वे रश्मियां विभिन्न मास रश्मियों आदि हवियों को भी अपने साथ संगत करती हैं। इसके कारण अन्य अनेक द्रष्टव्य कणों का भी निर्माण होने लगता है।।

जब उपर्युक्त सभी छन्द रश्मियां उत्पन्न व सक्रिय होती हैं, उस समय विविध पदार्थ प्राथमिक प्राणों एवं मरुद्रश्मियों आदि पदार्थों के साथ शीघ्रतया संगत होने लगते हैं। इससे अनेक प्रकार के बल व कान्ति आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर अन्य संयोज्य पदार्थ परस्पर एक दूसरे को रोकने व उनके साथ संयुक्त होने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं।।+।।+।।

इसके उपरान्त पूर्वोक्त कवष ऐलूष ऋषि प्राण से विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क एवं 'आप अपान्नपात्' देवताक

एमा अंग्मन्रेवतीर्जीवधंन्या अध्वर्यवः सादयंता सखायः।

नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽ पां नप्त्रा संविदानास एनाः।। (ऋ.१०.३०.१४)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका सम्पूर्ण प्रभाव पूर्व खण्ड में देखें। इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति के समय प्राथमिक प्राण एवं विभिन्न मरुद्रश्मियां परस्पर मिश्रीभाव को प्राप्त करके उस क्षेत्र वा अन्तरिक्ष में व्याप्त होने लगती हैं।।

अन्त में उपर्युक्त ऋषि, देवता व निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क रश्मि

आग्मन्नाप उशतीर्बर्हिरेदं न्यध्वरे असदन्देवयन्तीः।
अध्वर्यवः सुनुतेन्द्राय सोममभूदु वः सुशका देवयज्या।। (ऋ.१०.३०.१५)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका सम्पूर्ण प्रभाव पूर्व खण्ड में देखें। यह छन्द रश्मि अति तीव्र भेदक वल व तेजयुक्त होती है। इस रश्मि की उत्पत्ति भी उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति के समय ही होती है। यह रश्मि इस प्रकरण में अव तक उत्पन्न (अध्याय के प्रारम्भ से अव तक दर्शायी गई) सभी छन्द रश्मियों को अपने चारों ओर धारण कर लेती है। जिसके कारण वे सभी छन्द रश्मियां इसके तीव्र तेजस्वी वल के आवरण वा आकर्षण में वंध कर अपने-२ कार्यों को सम्यग्रूपेण संचालित करने में समर्थ होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **तदनन्तर एक विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के कारण वह क्षेत्र अधिक तेजस्वी व क्षुब्ध हो उठता है। विभिन्न कण व तरंगें अति सक्रिय होकर व्यापक गमनागमन करने लगती हैं। अनेक दृश्य कणों का निर्माण होने लगता है। संयोगादि प्रक्रिया, प्रकाशशीलता परस्पर संघर्षण आदि क्रियाएं तीव्र होने लगती हैं। इस समय अत्यधिक भेदक क्षमतायुक्त अनेक तरंगें उत्पन्न होकर विभिन्न कणों को तोड़कर नये-२ तत्त्वों का सृजन करने में सक्षम होती हैं। ये भेदक रश्मियां अन्य सभी छन्द रश्मियों को चारों ओर से धारण करके उनकी सुरक्षा करती हैं।**

ॐ इति ८.२ समाप्तः ॐ

अथ ८.३ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. शिरो वा एतद् यज्ञस्य यत्प्रातरनुवाकः; प्राणापाना उपांश्वन्तर्यामौ; वज्र एव वाङ् नाहुतयोरुपांश्वन्तर्यामयोर्होता वाचं विसृजेत।।
यदहुतयोरुपांश्वन्तर्यामयोर्होता वाचं विसृजेत् वाचा वज्रेण यजमानस्य प्राणान् वीयाद् य एनं तत्र ब्रूयाद् वाचा वज्रेण यजमानस्य प्राणान् व्यगात् प्राण एनं हास्यतीति शश्वत् तथा स्यात् तस्मान्नाहुतयोरुपांश्वन्तर्यामयोर्होता वाचं विसृजेत।।

{शिरः = शिरो वै प्राणानां योनिः (श.७.५.१.२२), उत्तमगुणम् (म.द.य.भा.३७.५), शिरो वै प्रथमं जायमानस्य जायते (श.८.२.४.१८)। शश्वत् = निरन्तरम् (म.द.ऋ.भा.६.२१.८), बहुनाम (निघं.३.१), शश्वन्तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा (नि.१३.३७ - वै. को. से उद्धृत), (शश प्लुतगतौ धातोः क्विप् - वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रातरनुवाक अर्थात् मनस् तत्त्व में विभिन्न प्रकार के स्पन्दन उत्पन्न होकर सूक्ष्म छन्द रश्मियों अर्थात् वाक् तत्त्व के उत्पन्न होने की अति तीव्र प्रक्रिया इस सृष्टियज्ञ के शिर के समान है। जिस प्रकार किसी प्राणी के शरीर में शिर सबसे प्रधान व उत्तम गुण है, उसी प्रकार यह प्रक्रिया भी समग्र सृष्टि की सबसे प्रधान व उत्तम प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के प्रारम्भ होते ही मनस् तत्त्व से विभिन्न प्राणों, छन्द रश्मियों आदि की उत्पत्ति का प्रारम्भ होता है। इस कारण यह प्रक्रिया सभी प्राणों का उद्गम व कारण है। **प्रत्येक प्राण जब भी जहां भी उत्पन्न होता है, उसकी उत्पत्ति इसी प्रकार अकस्मात् एवं अति तीव्र वेग से ही होती है, न कि धीरे-२। यह प्रक्रिया सृष्टि के आदि में समस्त कार्य जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व उत्पन्न होती है।** मनस् वा अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति को इस प्रक्रिया से पृथक् देखना चाहिए क्योंकि प्रकृति अर्थात पदार्थ की साम्यावस्था से अहंकार तक की उत्पत्ति इस ग्रन्थ का विषय नहीं है। प्राण तथा अपान दोनों ही अव्यक्त भाव से सबके मध्य सतत प्रवाहित होते हैं। ये अपनी रश्मियों के द्वारा सबको सिंचित करते हुए सबको निकटता से प्राप्त होते हैं। ये विभिन्न पदार्थों के वाहर-भीतर सतत व्याप्त व गतिशील रहते हैं। 'उपांश्वन्तर्यामौ' पद से प्रतीत होता है कि यहाँ उपांशु और अन्तर्याम दोनों क्रमशः प्राण और अपान के विशेषण हैं। इस कारण यह भी सिद्ध होता है कि **प्राण तत्त्व किसी भी सूक्ष्म पदार्थ को अति निकटता से ग्रहण करते हुए उसके बाहरी भाग में विशेष विद्यमान होता है, जबकि अपान तत्त्व उस पदार्थ के मध्य में विचरता है।** वाक् तत्त्व वज्र के समान है, इसका तात्पर्य है कि संसार में जो भी वर्जना व मारक वा अवरोधक शक्ति है, वह मूलतः वाक् तत्त्व के कारण ही होती है। इसके विना कोई भी पदार्थ इस प्रकार की शक्तियों से युक्त नहीं हो सकता। समस्त जड़ जगत् में मूलरूपेण वज्र, यही वाक् तत्त्व है, जिसके संयोग से इस ब्रह्माण्ड में अनेक विकिरणादि पदार्थ वज्र रूप हो जाते हैं। जब किसी पदार्थ के अन्दर प्राण व अपान तत्त्वों की आहुति दी जाती है अर्थात् वे किसी पदार्थ के ऊपर मनस्तत्त्व द्वारा प्रक्षिप्त किये जाते हैं, उस समय जैसे ही प्राण तत्त्व उस पदार्थ से निकटता से सम्पर्क करता व अपान तत्त्व उसके मध्य विचरने लगता है, उसी समय मनस्तत्त्व रूपी होता उस पदार्थ के ऊपर प्रक्षिप्त प्राण व अपान तत्त्वों पर वाक् तत्त्व को विसर्जित करता है। इस वाक् तत्त्व से संयुक्त होकर प्राणापान तत्त्व सूक्ष्म वज्र रूप होकर छेदक व भेदक का अति सूक्ष्म गुण धारण करके अनेकविध कर्मों को सम्पादित करने में समर्थ हो जाते हैं। विना वाक् तत्त्व के कोई भी प्राणादि तत्त्व किसी भी क्रिया को करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए कहा है- "वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम् (श.१.४.१.२), वाक् प्राणेन संहिता (ऐ.आ.३.१.६)"। इसका तात्पर्य यह

है कि वाक् तत्त्व सदैव प्राणों के साथ संयुक्त रहता है और यह वाक् तत्त्व योषा रूप होता है। इसलिए कहा है- "योषा हि वाक्" (श.१.४.४.४) तथा प्राण वृषा रूप होता है। वाक् तत्त्व का प्राणापान के साथ संयोग उसी समय होता है, जब वे दोनों किसी अन्य पदार्थ से संयुक्त होते हैं। इसके पूर्व वा मध्य में यह संयोग नहीं होता है।।

जब वर्जना शक्तियुक्त वाक् तत्त्व प्राणापान के किसी पदार्थ से संयुक्त होने के पूर्व वा मध्य उस पदार्थ से संयुक्त हो जाता है, तब उस पदार्थ में भी वर्जना किंवा निरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण वह पदार्थ अपने निकट आये प्राण एवं अपान दोनों को ही रोकने की सामर्थ्य वाला हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्राणापान उस पदार्थ को विभिन्न प्रकार के बल और गति देने में सक्षम थे, वे उस पदार्थ के निकट भी नहीं आ पाते हैं अर्थात् वाक् तत्त्व उनके मार्ग को दूर से ही अवरुद्ध कर देता है। इसके विपरीत यदि प्राणापान का संयोग पूर्व में हो जाए, तब वाक् तत्त्व उन प्राणापानों को उस पदार्थ की सीमा में ही रोक देता है और दूसरे किसी भी प्रकार के प्राणादि पदार्थ को उन प्राणापानों के साथ अनिष्ट रूप से संयुक्त होने से बचा लेता है। जब पूर्व प्रकट वाक् तत्त्व प्राण और अपान तत्त्व को किसी पदार्थ के बाहर दूर ही रोक लेता है, उसी कारण एक अन्य शक्ति, जो सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया के सम्पूर्ण प्रयोजन को समझते हुए समग्र सृष्टि का संचालन करती है, **ऐसी महती चेतन सत्ता परमात्मा निरन्तर और अनादि काल से उस मनस्तत्त्व रूपी होता को प्राणापान के उत्सर्जन के पश्चात् ही वाक् तत्त्व को उत्सर्जित करने के लिए प्रेरित करती है।** इसके पूर्व अथवा मध्य नहीं, जिससे वे प्राणापान वज्र रूप तेजस्वी होकर विविध प्रक्रिया सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के प्रारम्भ में मूल पदार्थ में जो हलचल अकस्मात् और अति तीव्रता से होती है, वह सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया का एक अत्यन्त अद्भुत और उत्तम कर्म होता है। यह प्रक्रिया ही सम्पूर्ण सृष्टि का मूल आधार भी है। प्राण और अपान नामक प्राथमिक तत्त्व इस सृष्टि प्रक्रिया में महती भूमिका निभाते हैं। इनमें से **प्राण तत्त्व किसी पदार्थ के बाहरी भाग में विशेष रूप से विद्यमान होता है और अपान तत्त्व उस पदार्थ के मध्य में विचरता रहता है। वाक् तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में छेदक-भेदक और अवरोधक गुण उत्पन्न करता है।** इसके संयोग से ही ब्रह्माण्ड का कोई भी पदार्थ इन गुणों से युक्त होकर सृष्टि प्रक्रिया में भाग लेता है। कोई भी प्राणादि पदार्थ जब सृष्टि प्रक्रिया में भाग लेने वाला होता है, उस समय मनस् तत्त्व उस पदार्थ के ऊपर प्राण और अपान तत्त्व का प्रक्षेपण करता है। उसके तत्काल पश्चात् वही मनस् तत्त्व वाक् तत्त्व का भी उसी पदार्थ पर प्रक्षेपण करता है, जिससे वे प्राणापान पदार्थ उस पदार्थ के निकट ही सीमित होकर नाना क्रियाएं सम्पादित करते रहते हैं तथा बाहरी किसी पदार्थ से प्रभावित नहीं होते। यदि वाक् तत्त्व का प्रक्षेपण प्राणापान से पूर्व हो जाए, तो वे प्राणापान उस पदार्थ से संयुक्त नहीं हो पाएंगे और सृजन प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाएगी। इस कारण **चेतन तत्त्व परमात्मा द्वारा प्राणापान एवं वाक् तत्त्व की उत्पत्ति का यह क्रम सदैव बनाये रखा जाता है।।**

२. प्राणं यच्छ स्वाहा त्वा सुहव सूर्यायेत्युपांशुमनुमन्त्रयेत तमभि प्राणेत् प्राण प्राणं मे यच्छेत्यपानं यच्छ स्वाहा त्वा सुहव सूर्यायेत्यन्तर्याममनुमन्त्रयेत तमभ्यपानेदपानापानं मे यच्छेति व्यानाय त्वेत्युपांशुसवनं ग्रावाणमभिमृश्य वाचं विसृजेत।।
आत्मा वा उपांशुसवन, आत्मन्येव तद्धोता प्राणान् प्रतिधाय वाचं विसृजते सर्वायुः, सर्वायुत्वाय।।
सर्वमायुरेति य एवं वेद।।३।।

{स्वाहा = स्वं दधात्यनया सा स्वाहा क्रिया (म.द.य.भा.२.२६), वाचं विद्युतं वा (म.द.य. भा.४.१८), स्वाहा वाङ्नाम (निघं.१.११), अनिरुक्तो वै स्वाहाकारः (श.२.२.१.३)। सूर्यः =

सरणशीलः स्वकीयरश्मिगणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.३५.६)। ग्रावाणः = ग्रावा शेपः (तै.सं.७.५.२५.२), ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा (नि.६.८), प्राणा वै ग्रावाणः (श.१४.२.२.३३), मेघनाम (निघं.१.१०)।}

व्याख्यानम्– उपर्युक्त परिस्थिति में वाक् तत्त्व का किस प्रकार उत्सर्जन किया जाता है, इसका वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि मनस् तत्त्व द्वारा "प्राणं यच्छ स्वाहा त्वा सुहव सूर्याय" यह १३ अक्षरों वाला वृहती छन्द का प्रथम पाद वाग्रश्मि के रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार के छन्द का उदाहरण

अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा।। (ऋ.८.४६.१४)

में देख सकते हैं। पिंगल छन्दशास्त्र के व्याख्याता आचार्य हलायुध भट्ट ने इस ऋचा का छन्द ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार पिपीलिका मध्या वृहती माना है। इसी प्रकार उपर्युक्त वृहती छन्द का प्रथम पाद वास्तव में पिपीलिका मध्या वृहती छन्द का प्रथम पाद है। हमारे मत में इसका छन्द विराट् ब्राह्मी वृहती भी हो सकता है। जिसके चार पादों में से यह प्रथम पाद के रूप में है। "ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम (तै.ब्रा.३.६.५.५), प्राणापानौ ब्रह्म (गो.पू.२.११)" ये आर्ष प्रमाण यह वतलाते हैं कि ब्राह्मी छन्द प्राण और अपान से साक्षात् सम्वन्धित वाक् तत्त्व का रूप है। इस कारण इसी छन्द को मानना अधिक उचित रहेगा। हम पूर्व में आश्वलायन श्रौतसूत्र के प्रमाण से यह वतला चुके हैं कि किसी छन्द के एक पाद से ही सम्पूर्ण छन्द का ग्रहण हो सकता है। इस कारण इस एक पाद के ही छान्दस प्रभाव से यह छन्द रश्मि प्राण तत्त्व को चारों तरफ से आवृत्त कर लेती है। इसके अन्य प्रभाव से इस छन्द रश्मि से आवृत्त प्राण तत्त्व अपने वल से युक्त होकर अपनी रश्मियों के समूह को अच्छी प्रकार से प्रवाहित करके आकर्षणादि वलों से युक्त हो उठता है। इससे वह प्राण तत्त्व उस पदार्थ को अव्यक्त दीप्ति से युक्त करके उस पदार्थ में अपने वल और तेज का संचार करने में समर्थ हो जाता है। यही उपर्युक्त वाग्रश्मि का प्राण तत्त्व पर प्रभाव होता है। इसके साथ ही "अपानं यच्छ स्वाहा त्वा सुहव सूर्याय" इस स्वराट् ब्राह्मी छन्द रश्मि के प्रथम पाद की उत्पत्ति मनस्तत्त्व के द्वारा होती है। इसका छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् है। इसके अन्य प्रभाव से अपान तत्त्व भी उसी प्रकार वल और तेज से सम्पन्न होकर क्रियाशील हो उठता है, जिस प्रकार प्राण तत्त्व हुआ था। इसके पश्चात् वह अपान तत्त्व भी अदृश्य दीप्ति और वल के द्वारा उसी पदार्थ को सक्रिय और प्रदीप्त करता है। उपर्युक्त वाग्रश्मियों से आच्छादित हुए वे प्राण और अपान दोनों ही उस पदार्थ के अन्दर और वाहर मन्द-२ गति से प्रवाहित होने लगते हैं। ध्यातव्य है कि प्राण और अपान के सक्रिय होने के उपर्युक्त प्रकरण में क्रमशः "प्राण प्राणं मे यच्छ" एवं "अपानापानं मे यच्छ" क्रमशः पाद निचृद् गायत्री एवं गायत्री छन्द रश्मियों के एक-एक पाद की उत्पत्ति होकर उपर्युक्त बृहती छन्द रश्मियों के प्रभाव को तेज और वल प्रदान करती हैं, जिसके कारण प्राण और अपान दोनों ही तत्त्व और भी सक्रिय होते हैं। उसके पश्चात् मनस्तत्त्व से ही "व्यानाय त्वा" वृहती दैवी छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जो वरुण रूप होकर उस सम्पूर्ण पदार्थ को सव ओर से वांध लेती है और उसमें पूरी तरह व्याप्त हो जाती है। इसलिए कहा है- "व्यानो वरुणः (श.१२.६.१.१६), आपो व्यानः (जै.उ.४.११.१.६)"। यह रश्मि उस पदार्थ में निरन्तर संचरण करती रहती है। इस छन्द रश्मि के द्वारा अव्यक्त रूप से रिसने, प्रवाहित होने और प्रेरणा करने वाले प्राण और अपान रूपी ग्रावाण के मुख्य रूप से तेज प्रवाहक भाग का इन सभी छन्द रश्मियों के साथ निकट स्पर्श होता है, जिससे वे दोनों प्राण तत्त्व और उपर्युक्त सभी छन्द रश्मियों रूप वाक् तत्त्व दोनों परस्पर संयुक्त होकर एक-दूसरे में अपने तेज और वल का संचरण करते रहते हैं, जिसके कारण इनसे युक्त पदार्थ विभिन्न सृजन-उत्पादन क्रियाएं सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं।।

प्राण तत्त्व का अव्यक्त रूप से प्रवाहित होना, रिसना एवं विभिन्न पदार्थों को अपने वल से प्रेरित करने का कर्म आत्मा के समान होता है। इसके दो आशय हैं- प्रथम यह कि यह कर्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में निरन्तर और अविराम होता रहता है और दूसरा आशय यह है कि इस कर्म के विना ब्रह्माण्ड की कोई भी क्रिया प्राण विहीन होकर नष्ट हो जाती है। इस प्रकार यह कर्म सम्पूर्ण सृष्टि के

आत्मा के समान है। इस प्रकार मनस्तत्त्व रूपी होता प्राण तत्त्व को इस सतत कर्म में नियुक्त करके किंवा करने के लिए पूर्वोक्त छन्द रश्मियों रूपी वाक् तत्त्व को प्रक्षिप्त करता है, जिससे प्राण तत्त्व किसी पदार्थ को उसके सम्पूर्ण जीवन काल तक सक्रिय बनाये रखता है। इस प्रकार की स्थिति बनने पर ही कोई भी पदार्थ अपनी आयु भर के लिए सक्रिय रह पाता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राणापान तत्त्वों के ऊपर वाक् तत्त्व के प्रक्षेपण की विधि इस प्रकार है-

प्राणापान के किसी पदार्थ से संयुक्त होते ही एक ब्राह्मी बृहती छन्द रश्मि उन दोनों को आवृत्त कर लेती है। इससे आवृत्त प्राण तत्त्व अपने बल से युक्त होकर सूक्ष्म बल रश्मियों का प्रवाह करने लगता है। उस समय एक अति सूक्ष्म अव्यक्त दीप्ति उत्पन्न होती है। यही क्रिया अपान तत्त्व में भी होती है। उसके पश्चात् वे दोनों उस पदार्थ में अव्यक्त परन्तु सतत रूप से अपने बल को प्रवाहित करते रहते हैं। उस समय एक दैवी बृहती छन्द रश्मि उस पदार्थ और प्राणापान आदि में निरन्तर संचरित होने लगती है, जिससे प्राणापान सतत सक्रिय रहते हैं। इन छन्द रश्मियों रूपी वाक् तत्त्व का प्राणापान से सूक्ष्म परन्तु अति निकट संयोग सतत रूप से इस प्रकार बना रहता है, मानो वे एकरस हो जाते हैं। इन प्राण व अपान रश्मियों को व्यान रश्मि सदैव परस्पर बांधे रखने में सहायक होती है। इस प्रकार की क्रिया इस सृष्टि में सर्वत्र सतत होती रहती है। इसके बिना सृष्टि का निर्माण और संचालन कदापि संभव नहीं है।

ॐ इति ८.३ समाप्तः ॐ

अथ ८.४ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. तदाहुः सर्पेऽ३त्, न सर्पेऽ३त्, इति सर्पेदिति हैक आहुरुभयेषां वा एष देवमनुष्याणां भक्षो यद्बहिष्पवमानस्तस्मादेनमभिसंगच्छन्त इति वदन्तः।।
तत्तन्नाऽऽदृत्यम्।।
यत्सर्पेदृचमेव तत्साम्नोऽनुवर्त्मानं कुर्याद् य एनं तत्र ब्रूयादनुवर्त्मा न्वा अयं होता सामगस्याभूद् उद्गातरि यशोऽधादच्योष्टाऽऽयतनाच्च्योष्यत आयतनादिति शश्वत् तथा स्यात्।।
तस्मात् तत्रैवाऽऽसीनोऽनुमन्त्रयेत।।

{बहिष्पवमानः = यज्ञमुखं बहिष्पवमानम् (मै.१.६.५), प्रजापतिर्ह वा एतत् प्रातःसवने प्रज्ञाः प्रजनयंस्तिष्ठति यदेतद् बहिष्पवमानम् (जै.ब्रा.१.३१२), (पवमानः = पशवो वै पवमानः - मै.१.६.८; सोमो वै पवमानः - श.२.२.३.२२; प्राण पवमानेन (संहितः) - ऐ.आ.३.१. ६; सुपावः पवमानः - तै.सं.७.५.२०.१)। साम = सन्धिः (तु.म.द.ऋ.भा.२.२३.१६), स्यन्ति खण्डयन्ति येन तत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.२), अर्चिः सामानि (श.१०.५.१.५)। उद्गाता = प्राण उद्गाता (कौ.ब्रा.१७.७), देवानां वै षड् उद्गातार आसन् वाक् च मनश्च चक्षुश्च श्रोत्रं चाऽपानश्च प्राणश्च (जै.उ.२.१.१.१), उदङ्ङासीन उद्गायति (जै.ब्रा.१.७२)। ऋक् = ऋचि साम गीयते (श.८.१.३.३), भूरिति वा ऋचः (तै.उ.१.५.३), साम वाऽऋचः पतिः (श.८.१.३.५), सा या सा वागृक् (जै.उ.१.८.१.८)। देवलः = दीव्यति विजिगीषति इति देवलः (तु.उ.को.१.१०६)। कश्यपः = प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत् तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मः (श.७.५.१.५)}

व्याख्यानम्- यहाँ "प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादया ज्यान्तेष्विति वक्तव्यम्" (वार्तिक अष्टाध्यायी ८.२.१०७) से सर्पेऽ३त् में प्लुत हुआ है। यह प्लुत 'विचार' अर्थ में हुआ है। पूर्व प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए महर्षि कहते हैं कि कुछ विद्वान् इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि पूर्व वर्णित ब्राह्मी बृहती आदि छन्द रश्मियों रूपी वाक् तत्त्व, जो किसी पदार्थ के साथ संगत प्राण और अपान तत्त्व के साथ योषा रूप होकर संगत होता है, वह स्वयं बहिष्पवमान नामक छन्द रश्मियों के प्रकट होने पर उनकी ओर गति करता है वा नहीं? श्री पं.तुलसीराम स्वामी अपने सामवेद भाष्य में श्री सत्यव्रत सामश्रमी को उद्धृत् करते हुए लिखते हैं- मीमांसा द.६.४.३ में लिखा है कि तीन सूक्तों के गान से साध्य स्तोत्र बहिष्पवमान कहाता है। क्योंकि उनमें की ऋचाएं पवमानार्थ हैं और बाहर से सम्बन्ध (सम्बद्ध) है।" इनमें सामवेद उत्तरार्चिक १.१.१-६ मंत्र समाविष्ट हैं। इनमें से प्रथम तृच की उत्पत्ति 'असितः काश्यपो देवल ऋषि' अर्थात् किसी भी अन्य प्राण के बंधन से मुक्त सृष्टि के प्रत्येक कर्म के कर्त्ता मूल प्राण रूपी मनस् तत्त्व, जो सभी को सक्रिय व नियन्त्रित करता है, से होती है। द्वितीय तृच की उत्पत्ति कश्यपो मारीच ऋषि अर्थात् कूर्म प्राण रश्मियों तथा तृतीय तृच की उत्पत्ति 'वैखानस आङ्गिरसा ऋषयः' {ये नखाः (प्रजापतेः) ते वैखानसाः (तै.आ.१.२३.३), (नखः = नह्यति बध्नाति रुधिरादिकानिति नखः - उ.को.५.२३)} अर्थात् मनस्तत्त्व से उत्पन्न सूत्रात्मा वायु के बंधन बलों से युक्त रश्मियों से होती है। इनमें प्रथम व तृतीय तृच का देवता सोम व छन्द गायत्री है एवं द्वितीय तृच का देवता पवमान सोम है, जिसके छान्दस व दैवत प्रभाव से विभिन्न मरुद् रश्मियां सूक्ष्म तेज और बल से युक्त होती हैं। इन

सभी तृचों के विषय में विस्तार से जानने हेतु खण्ड ३.४२ द्रष्टव्य है। ये ६ छन्द रश्मियां जब किसी पदार्थ के निकट आती हैं और पूर्वोक्त छन्द रश्मिरूप वाक् तत्त्व से इनका स्पर्श होने वाला होता है, तब वह वाक् तत्त्व भी इन बहिष्पवमान ६ छन्द रश्मियों की ओर गति करता है वा नहीं? इस प्रश्न को यहाँ उठाया गया है। ये ६ गायत्री छन्द रश्मियां देव और मनुष्य नामक दोनों कणों के द्वारा अवशोषित की जाती हैं और दोनों ही इनके द्वारा बल और तेज को प्राप्त करते हैं। इस कारण कुछ विद्वानों का मानना है कि पूर्वोक्त बृहती आदि छन्द रश्मियां भी इन गायत्री छन्द रश्मियों की ओर गति करती हुई उनको सब ओर से व्याप्त कर लेती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन दोनों प्रकार की रश्मियों के मध्य संयोग एकपक्षीय नहीं होता, बल्कि प्रवृत्ति दोनों ओर से होती है। ध्यातव्य है कि इस बहिष्पवमान सूक्त रूप ६ छन्द रश्मियां संयोग आदि प्रक्रिया में मुख्य रूप होकर अग्रणी भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियां प्राणापान आदि से युक्त पदार्थ के बाहरी भाग में ही संचरित होकर उसे गतिशील एवं शुद्ध करती रहती हैं। ये गायत्री छन्द रश्मियां उक्त पदार्थ के बहिःस्थ प्राण तत्त्व के निकट आकर अवस्थित हो जाती हैं। ऐसी इन रश्मियों की ओर उपर्युक्त वाक् तत्त्व के संचरण का प्रत्याख्यान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यह मत स्वीकार्य नहीं है। इसका कारण बतलाते हुए वे आगे लिखते हैं- ।।+।।

यदि ऐसा होता है तो उपर्युक्त ब्राह्मी छन्द रश्मियां उपर्युक्त बहिष्पवमान सूक्तस्थ ६ गायत्री साम रश्मियों के अनुकरण करने वाली हो जाएगी। उधर छान्दोग्योपनिषत्कार ऋषि लिखते हैं- "तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳसाम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते" (छां.उप.१.६.५)। इसका तात्पर्य यह है कि साम रश्मियां ऋग् रश्मियों में आधृत होकर ही प्रकाशित होती हैं। 'ऋचि साम गीयते' का भी यही अभिप्राय है। पूर्वोक्त छन्द रश्मि रूप वाक् तत्त्व योषा रूप होकर प्राणापान रूप वृषा तत्त्व से संयुक्त रहता है और इसी कारण उनसे युक्त पदार्थ भी सतेज और सबल रहता है। ऐसी स्थिति में वह वाक् तत्त्व प्राणापान को छोड़कर गायत्री साम रश्मि रूप बहिष्पवमान नामक वृषा तत्त्व की ओर प्रवाहित नहीं हो सकता। जैमिनीय ब्राह्मण ३.२४ में "वृषा वै सोमः" कथन से गायत्री रश्मियों के वृषा रूप होने के हमारे कथन की पुष्टि होती है। यह वृषा रूप सोम उन वाग् रश्मियों के कुछ ऊपर संचरित होकर वाग् रूप रश्मियों को अपने तेज से प्रकाशित करता रहता है। यहाँ वाग् रश्मियों को ही होता नाम दिया गया है। मनस् तत्त्व को यहाँ उद्गाता कहा गया है। यही इन ६ साम रश्मियों को उत्पन्न करने वाला भी है। यदि वाग् रूप होता प्राणापान को छोड़कर मनस् तत्त्व से उत्पन्न साम रश्मियों के साथ संयुक्त होने हेतु संचरित होगा, तब प्राण तत्त्व की क्रिया और बल भी दुर्बल हो जाएंगे और वाक् तत्त्व भी मनस् तत्त्व का अनुवर्ती होकर अपने तेज को उसी में समर्पित कर देगा और निरन्तर ऐसा करते रहने से प्राणापान के आवरण रूप स्थान से वह स्खलित हो जाएगा, जिससे सृष्टि प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाएगी। यद्यपि वाग् रूप योषा और वृषा रूप मन का मिथुन सदैव विद्यमान रहता है, तब यहाँ सृष्टि प्रक्रिया का अवरुद्ध होना क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में हमारा मत है कि यहाँ वाग् रश्मियों के प्राणापान के साथ संयोग को भंग करके साम रश्मियों के साथ संयुक्त होने से सृष्टि प्रक्रिया भंग होने की आशंका रहेगी, न कि मन के साथ मिथुन के कारण। स्मरण रहे कि ये साम रश्मियां सन्धि रूप होकर ऋग् रश्मियों के अन्दर अच्छी प्रकार स्थापित हो जाती हैं। इस कारण कहा गया है - "तान्होताऽनुमन्त्रयतेऽत्रैवासीनः" (आश्व.श्रौ.५.२.८)। इसका तात्पर्य यह है कि ऋग् रूप वाग् रश्मियां प्राणापान के साथ संयुक्त रहते हुए ही गायत्री साम रश्मियों को आकर्षित करती रहती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब पूर्वोक्त वाग्रश्मियों का प्राणापान से मेल होता है और इन सबसे युक्त पदार्थ जब सतेज व सबल हो जाता है, उसी समय ६ गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर उन वाग्रश्मियों की ओर प्रवाहित होती हैं। वे वाग्रश्मियों से ऐसे ही संयुक्त हो जाती हैं, जैसे प्राण तत्त्व उन वाग्रश्मियों से संयुक्त हुआ करता है। इन गायत्री रश्मियों के योग से वह पदार्थ तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार इनके उत्पन्न व संयोग होने से ब्रह्माण्ड के पदार्थों में भेदक शक्तिसम्पन्न कणों की वृद्धि होने लगती है। इसके साथ ही उनमें परस्पर आकर्षण व धारण गुण भी समृद्ध होने लगता है। विशेष परिज्ञानार्थ व्याख्यान भाग अवश्य पढ़ें।।

२. यो देवानामिह सोमपीथो यज्ञे बर्हिषि वेद्या३म्। तस्यापि भक्षयामसीति।।
एवमु हास्याऽऽत्मा सोमपीथादनन्तरितो भवति।।
अथो ब्रूयान्मुखमसि मुखं भूयासमिति।।
मुखं वा एतद् यज्ञस्य यद् बहिष्पवमानः।।
मुखं स्वेषु भवति, श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद।।

{भक्षयामि = पालयामि (म.द.य.भा.८.३७)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण में वागू रूप रश्मियां गायत्री साम रश्मियों को आकर्षित करने के लिए "यो देवानामिह सोमपीथो......" स्वराड् गायत्री छन्द रश्मि को उत्पन्न करती हैं। इसको आश्वलायन श्रौतसूत्र ५.२.८ में भी उद्धृत किया गया है। इसके प्रभाव से उपर्युक्त प्रक्रियान्तर्गत जो आकाश तत्त्व किंवा उसमें सूक्ष्म मरुद् रश्मियां विद्यमान होती हैं, वे उपर्युक्त वहिष्पवमान संज्ञक गायत्री साम रश्मियों रूपी सोम को अपनी ओर आकर्षित करने लगती हैं और ऐसा करके उनको अपने अनुकूल ही प्रकाशित करने लगती हैं। इस प्रक्रिया के कारण पूर्वोक्त वागू रूप होता विशेषकर सतत गमन करने वाली दैवी ब्राह्मी छन्द रश्मि उपर्युक्त गायत्री साम रश्मियों रूपी सोम तत्त्व को निरन्तर अवशोषित करती रहती है। इस प्रक्रिया में कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता।।+।।

इसके अनन्तर "मुखमसि मुखं भूयासम्" इस प्राजापत्य गायत्री छन्द रश्मि की उत्पत्ति मनस् तत्त्व से होती है। इसे भी आश्वलायन श्रौतसूत्र ने ५.२.८ में ही उद्धृत किया है। इसके प्रभाव से उक्त दैवी-ब्राह्मी बृहती छन्द रश्मियां उक्त गायत्री छन्द रश्मियों के समान सबका भक्षण करने में समर्थ हो जाती है। इस प्रकार इन सब रश्मियों से संयुक्त कोई पदार्थ अन्य पदार्थों से संयुक्त होने की बलवती प्रवृत्ति से युक्त हो जाता है और ये दोनों प्रकार की रश्मियां उस पदार्थ के बाहरी भाग में अवस्थित होकर संयोग आदि प्रक्रियाओं को संचालित करने में विशेष समर्थ हो जाती हैं।।

उपर्युक्त गायत्री साम रश्मियां सृष्टियज्ञ के मुख के समान कार्य करती हैं। जिस प्रकार किसी प्राणी के शरीर में मुख ही ऐसा अंग है, जो आहार का भक्षण करता है और उस भक्षण कर्म से ही वह प्राणी विभिन्न अन्नपान आदि का ग्रहण करके निरन्तर ऊर्जा प्राप्त करता रहता है। इसी प्रकार कोई भी कण आदि पदार्थ अपने वहिर्भाग में विद्यमान उक्त गायत्री रश्मियों के द्वारा सभी संयोग आदि प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ होता है। जब इस प्रकार की स्थिति जो कण प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अन्य कणों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ, दूसरों को अकर्षित करने में समर्थ होकर सृजन प्रक्रियाओं को समृद्ध करते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रक्रिया में प्राणापान के साथ संचरित दैवी-ब्राह्मी बृहती छन्द रश्मियां ६ गायत्री छन्द रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करने लगती हैं और यह आकर्षण निरन्तर बना रहता है। इसके बाद एक और गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न होकर वे दैवी-ब्राह्मी बृहती रश्मियां उस गायत्री छन्द रश्मि को उन ६ गायत्री छन्द रश्मियों से मिलाने में विशेष सक्रियता प्रदान करती है। इससे वे दोनों मिलकर उस पदार्थ के संयोग और वियोग के गुण को और अधिक समृद्ध करती हैं। जब भी कोई अन्य पदार्थ इस पदार्थ के निकट सम्पर्क में आता है, तो ये दोनों प्रकार की गायत्री छन्द रश्मियां ही उस कण के बाहरी भाग में स्थित रश्मियों को शीघ्रता से अवशोषित करके उस कण के साथ इस कण को संयुक्त करने की क्रिया का सम्पादन करती हैं।।

३. आसुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां प्रातःसवनमवालेट्, तद्व्यमाद्यत् ते देवाः प्राजिज्ञासन्त ते मित्रावरुणावब्रुवन् युवमिदं निष्कुरुतमिति, तौ तथेत्यब्रूतां तौ वै वो वरं वृणावहा इति, वृणाथामिति, तावेतमेव वरमवृणातां, प्रातःसवने पयस्यां सैनयोरेषाऽच्युता

वरवृता, ह्येनयोस्तद्यदस्यै विमत्तमिव तदस्यै समृद्धं विमत्तमिव हि तौ तया निरकुरुताम्।।४।।

{जिह्व = वाङ्नाम (निघं.१.११), किरणज्वालासमूहः (तु.म.द.ऋ.भा.१.४६.१०), जयति यया सा (उ.को.१.१५४), जिह्व कोकुवा, कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा (कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः) (नि.५.२६ - पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य)। पयस्या = योषा पयस्या रेतो वाजिनम् (श.२.४.४.२१), पयो वै पयस्या (काठ.१२.१), पयः = ज्वलतोनाम (निघं. १.१७), आपो हि पयः (कौ.ब्रा.५.४), सोमः पयः (श.१२.७.३.१३)}

व्याख्यानम्- सृष्टि प्रक्रिया के उपर्युक्त चरण में अर्थात् प्रारम्भिक अवस्था में ही संयोज्य गायत्री छन्द रश्मियों रूप प्रातःसवन को {प्रातःसवन = गायत्रं वै प्रातःसवनम् (ऐ.६.२; ष.१.४), अनिरुक्तं प्रातःसवनम् (तां.१८.६.७), एकच्छन्दः प्रातःसवनम् (ष.१.३), प्रजापतिर्ह वा एतत् प्रातःसवने प्रजाः प्रजनयंस्तिष्ठति यदेतद् बहिष्पवमानम् (जै.ब्रा.१.३१२)। असुरः = मनो वा असुरम् (जै.उ.३.६.७.३), असुषु प्राणेषु रममाणः (म.द.ऋ.भा.७.५६.२४) (असुः = नागादि मरुत् - म.द.य.भा.१८.२)} अप्रकाशित सूक्ष्म असुर नामक वायु शनैः-२ अवशोषित करने लग जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त वहिष्पवमान सूक्तस्थ जो ६ गायत्री साम रश्मियां उत्पन्न होती हैं, वे प्रातःसवन का ही रूप हैं तथा प्रातःसवन जो सृष्टि की पूर्वावस्था का ही नाम है, वह प्रारम्भ में गायत्री नामक एक छन्द से ही विशेष रूप से युक्त होता है। उसी के अवशोषित वा नष्ट होने की यहाँ चर्चा की गई है। यहाँ जिस असुर तत्त्व की चर्चा है, वह ऐसा प्रारम्भिक अप्रकाशित वायु है, जो मनस् तत्त्व के नाग उपप्राण आदि में प्रवाहित होने पर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह मन और नाग आदि प्राणों का मिश्रित रूप है किंवा मनस् तत्त्व से प्रेरित नाग आदि उपप्राणों से उत्पन्न विशेष प्रकार की रूपरहित वायु रश्मियां हैं। ये रश्मियां ही उन ६ गायत्री रश्मियों को धीरे-२ अवशोषित करने लग जाती हैं। इन रूपरहित रश्मियों के द्वारा अवशोषित वे गायत्री छन्द रश्मियां अति क्षुब्ध हो जाती हैं, जिससे वे पूर्ववर्णित वाक् तथा प्राण रश्मियों से संयुक्त होने के स्थान पर इधर-उधर कम्पन करती हुई अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। यहाँ उस प्राथमिक असुर तत्त्व को **'दीर्घजिह्वी'** कहा है और इसे स्त्रीलिंग में वर्णित किया गया है। उधर पूर्व में हम लिख चुके हैं कि वहिष्पवमान सूक्तस्थ ६ गायत्री साम रश्मियां वृषा रूप होती हैं। उन वृषा रूप रश्मियों को यह योषा रूप असुर रश्मियां अपने साथ शनैः-२ मिलाने लग जाती हैं। इस योषा रूप असुर तत्त्व को दीर्घजिह्वी कहने का तात्पर्य यह है कि इसकी शक्ति वहुत विस्तृत होती है और यह तत्त्व शब्द उत्पन्न करता हुआ उन गायत्री रश्मियों को अवशोषित करने के लिए व्यापक क्षेत्र में फैल जाता है। इस अनिष्ट स्थिति के शमन हेतु वे सभी प्राथमिक प्राण रूपी देव वा ऋषि सक्रिय हो उठते हैं। वे प्राण और अपान को इस कार्य में नियुक्त करते हैं। यहाँ प्राणापान और देवों का चेतनवत् संवाद दर्शाना लेखक की अपनी एक शैली है। वस्तुतः इन तत्त्वों में परस्पर संवाद आदि व्यवहार नहीं होता। वे प्राण और अपान सभी प्राथमिक प्राणों और मन की प्रेरणा से उन ६ गायत्री छन्द रश्मियों के मध्य उपस्थित पयस्या तत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। **यह पयस्या वह तेजस्वी वाक् तत्त्व है, जो प्राणापान के साथ संयुक्त होते हुए ६ गायत्री साम रश्मियों के साथ योषा रूप में संयुक्त होता है।** पूर्व में जो हम दैवी वृहती छन्द रश्मि की चर्चा कर चुके है, वही सव में विचरण करता हुआ सोम रूप (सूक्ष्म छन्द रूप) वाक् तत्त्व है। ऐसे ही वाक् तत्त्व रूप पयस्या को प्राणापान उत्कृष्ट रूप से अपने अन्दर धारण कर लेते हैं। इसके कारण वे प्राणापान इस दैवी वृहती वाक् तत्त्व से च्युत नहीं होते अर्थात् दृढ़ता से संयुक्त हो जाते हैं। फिर इन दोनों का दृढ़ संयुक्त रूप उस सूक्ष्म असुर पदार्थ को नियन्त्रित वा दुर्वल करके ६ गायत्री छन्द रश्मियों को उनसे मुक्त करता है। इसके कारण वे छन्द रश्मियां अपने क्षोभ को त्यागकर पुनः व्यवस्थित रूप से अपनी क्रियाओं को सम्पादन करने लगती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व प्रक्रिया के चलते **मनस् तत्त्व एवं नाग आदि सूक्ष्म रश्मियों के संयोग से सबसे सूक्ष्म अप्रकाशित वायु अर्थात् डार्क एनर्जी का सबसे सूक्ष्म रूप उत्पन्न होता है।** यह डार्क एनर्जी

पूर्वोक्त ६ गायत्री छन्द रश्मियों को धीरे-२ अवशोषित करके विक्षुब्ध तथा अस्त-व्यस्त कर देती है, जिससे सृष्टि प्रक्रिया में बाधा आने लगती है। उस समय समस्त पदार्थ में अनेक अनियन्त्रित और अस्त-व्यस्त कम्पन उत्पन्न होने लगते हैं, जिससे विभिन्न प्रकार के कणों की संयोग-वियोग की क्षमता कम वा समाप्त होने लगती है। उस डार्क एनर्जी का विस्तार बहुत व्यापक क्षेत्र में होता है। उस समय उस एनर्जी से सूक्ष्म ध्वनि तरंगें भी उत्पन्न होने लगती हैं। ये ध्वनि तरंगें भी सृजन प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करने वाली होती हैं। उसी समय विभिन्न प्राथमिक प्राण और मनस् तत्त्व की प्रेरणा से प्राणापान पूर्व वर्णित दैवी बृहती छन्द रश्मियों, जो सब पदार्थों में व्याप्त हो रही होती हैं, को अति तीव्रता से अपनी ओर आकृष्ट करने लगते हैं। इसके कारण वे प्राणापान उस वाग्रश्मि से संयुक्त होकर अति सबल और तेजस्वी हो उठते हैं। फिर वे अपनी तीव्र रश्मियों के द्वारा उस डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करके ६ गायत्री छन्द रश्मियों को संतुलित और व्यवस्थित करते हैं, जिसके कारण विभिन्न पदार्थ पुनः संयोग-वियोग आदि के गुणों से युक्त होकर अर्थात् आकर्षण और प्रतिकर्षण दोनों प्रकार के बलों के संतुलित रूप को प्राप्त करके सृजन प्रक्रिया को पुनः प्रारम्भ कर देते हैं।

॥ इति ८.४ समाप्तः ॥

अथ ८.५ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. देवानां वै सवनानि नाध्रियन्त त एतान् पुरोळाशानपश्यंस्ताननुसवनं निरवपन् सवनानां धृत्यै ततो वै तानि तेषामध्रियन्त।।
तद् यदनुसवनं पुरोळाशा निरुप्यन्ते सवनानामेव धृत्यै तथा हि तानि तेषामध्रियन्त।।
पुरो वा एतान् देवा अक्रत यत्पुरोळाशास्तत्पुरोळाशानां पुरोळाशत्वम्।।

{सवनम् = षु प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वा.) (अदा) षुञ् अभिषवे (स्वा.) धातोः करणेऽधिकरणे वा ल्युट् (वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री), यज्ञनाम (निघं.३.१७), स्थानानि (नि.५.२५), प्रेरणम् (तु.म.द.ऋ.भा.७.३२.६), संग्रामः (तु.म.द.य.भा.६.६)}

व्याख्यानम्- देवों के सवन तीन प्रकार के होते हैं। इसका यह भी तात्पर्य है कि सृष्टि प्रक्रिया के मुख्यतः तीन चरण होते हैं, उनके नाम क्रमशः प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन हैं। "अथ सवनीयेन पशुना चरन्ति" (आश्व.श्री.५.३.१) पर वृत्ति लिखते हुए आचार्य नारायण ने लिखा है- "सवनेषु भवः सवनीयः। वपया प्रातःसवने चरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिनेऽङ्गैस्तृतीयसवन इत्येवं यष्टव्य इत्यर्थः।" हमारी दृष्टि में आचार्य नारायण ने जिस किसी भी ग्रन्थ के आधार पर यह वृत्ति लिखी है, उस ग्रन्थकार अथवा स्वयं आचार्य नारायण का भी यही विचार हो सकता है कि सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भिक चरण में जो पूर्वोक्त प्रातरनुवाक आदि क्रियाएं अति शीघ्रता से होती हैं, वे मानो सृष्टि रचना का वीज वपन करती हैं और वे क्रियायें सम्पूर्ण पदार्थ में निरन्तर गमन करके व्याप्त हो जाती हैं। उन्हीं क्रियाओं से ही पदार्थ में संयोग आदि धर्म उत्पन्न व समृद्ध होते हैं। इसलिए कहा है- "आत्मा वपा (कौ.ब्रा.१०.५), यजमानदेवत्या वै वपा (तै.ब्रा.३.६.१०.१)"। सृष्टि प्रक्रिया के मध्य चरण में पुरोडाश अर्थात् अग्नि तत्त्व के तेज की प्रधानता हो जाती है और उसी के कारण सृजन प्रक्रिया तीव्रतर हो उठती है। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "आग्नेयः पुरोडाशो भवति" (श.२.४.४.१२)। इस समय अनेक प्रकार की मरुद् एवं छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर विद्युत् तत्त्व की वृष्टि करके संयोग-वियोग की प्रक्रियाओं को अति तीव्र वनाती हैं। इस चरण को ही माध्यन्दिन अर्थात् द्वितीय सवन कहते है। **सृष्टि का अन्तिम चरण ही तृतीय सवन कहलाता है।** इसमें सभी प्रकार के देव पदार्थ तीव्र आकर्षण और तेज को प्राप्त करके सृष्टि प्रक्रिया को अति तीव्र और व्यापक कर देते हैं। इसलिए कहा है- "वैश्वदेवानि ह्यङ्गानि (ऐ.३.२)" एवं "अङ्गेति क्षिप्रनाम (नि.५.१७)"। जैसा कि हम पूर्व में अवगत हो चुके हैं कि प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि के प्रथम चरण में गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। द्वितीय सवन अर्थात् माध्यन्दिन सवन में त्रिष्टुप् एवं वृहती छन्द रश्मियों तथा ऊष्मा की अति प्रवलता होती है। इस समय क्रियाएं अति हिंसक होती हैं। इसी कारण कहा गया है- "त्रैष्टुभबार्हतो वै माध्यन्दिनः (जै.ब्रा.२.३८३), माध्यन्दिनं सवनानां तपस्वितमम् (काठ.२३.१०), रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम् (कौ.ब्रा.१६.१)।" सृष्टि के तृतीय चरण, जिसमें तारों का पूर्ण निर्माण हो चुका होता है और जिसमें सभी देव पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं और जहाँ जगती छन्द की प्रधानता होती है, को अन्तिम चरण कह सकते हैं। इसलिए कहा है- "द्यौर्वै तृतीयसवनम् (श.१२.८.२.१०), वैश्वदेवं जागतं तृतीयसवनम् (काठ.२२.३), तृतीयसवनं वै स्विष्टकृत् (श.१.७.३.१६)"।

तीनों सवनों के इस परिचय के पश्चात् प्रथम कण्डिका का व्याख्यान करते हैं। सृष्टि के इन तीनों चरणों में अनेक कारण से, विशेषकर अप्रकाशित वायु अर्थात् असुर तत्त्व के वार-२ प्रहार से वाधा पहुँचती रहती है। सृजन प्रक्रियाएं वार-२ वाधित होती रहती हैं। ऐसी स्थिति में मन और वाक् तत्त्व से प्रेरित प्राथमिक प्राण आदि पदार्थ विभिन्न प्रकार के पुरोडाशों को उत्पन्न करते हैं। पुरोडाश

विभिन्न प्रकार की तेजस्वी रश्मियां हैं, जो विभिन्न पदार्थों की संयोग आदि प्रक्रिया को तीव्र करती हैं। वे रश्मियां जब सृष्टि के विभिन्न चरणों में उत्पन्न करके धारण की जाती हैं, उस समय वे विभिन्न चरणों में बाधक बन रहे असुर तत्त्व को नियन्त्रित करके सभी प्रकार के पदार्थों में आकर्षण, प्रतिकर्षण एवं धारण बलों को संतुलित रूप प्रदान करके सृजन प्रक्रिया को सम्यग् रूप से संचालित करने में सहायक होती हैं।।

सृष्टि प्रक्रिया के तीनों चरणों के लिए मन और वाक् तत्त्व से प्रेरित प्राथमिक प्राण आदि तत्त्व पृथक्-२ प्रकार की पुरोडाश संज्ञक रश्मियों को उत्पन्न करके विभिन्न पदार्थों में स्थापित करते हैं। ऐसा करके वे पदार्थ उन रश्मियों के द्वारा पृथक्-२ चरण में पृथक्-२ प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं को उत्पन्न करके धारण करते हैं और इस धारण के पश्चात् उन रश्मियों के माध्यम से सृष्टि के सभी पदार्थ मन, वाक् एवं प्राथमिक प्राण आदि पदार्थों के द्वारा धारण किए जाते हैं। इस प्रकार वे पुरोडाश संज्ञक रश्मियां मन, वाक् एवं प्राथमिक प्राण आदि पदार्थ एवं सृष्टि के अन्य सभी पदार्थों के मध्य सेतु का काम करती हैं।।

"पुरोडाश" शब्द "मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्" (पा.अ.३.२.७१) से ण्विन् प्रत्ययान्त निपातित है। इस विषय में काशिकाकार वामन-जयादित्य लिखते हैं- "दाश दाने (भ्वा.) इत्येतस्य पुरःपूर्वस्य डत्वम्, कर्मणि च प्रत्ययः"। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो पदार्थ मन, वाक् एवं प्राथमिक प्राण आदि पदार्थों के द्वारा विभिन्न रश्मियों के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं और जिनके कारण विभिन्न सृजन कर्म अच्छी प्रकार प्रकाशित हो उठते हैं, वे रश्मि रूप पदार्थ पुरोडाश कहलाते हैं। जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मात् पुरोदाशः, पुरोदाशो ह वै नामैतद् यत् पुरोडाश इति (श.१.६.२.५)"।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया के मुख्यतः तीन चरण होते हैं, जिनमें से प्रथम चरण में प्रारम्भिक अकस्मात् हल्की हरकत से प्रारम्भ होकर द्वितीय चरण में तीव्र और तेजस्वी क्रियाओं के सम्पन्न होने पर विभिन्न नेब्यूला आदि का निर्माण होता है। उसके पश्चात् तृतीय चरण में सभी प्रकार के तारों का निर्माण हो चुका होता है। इन तीनों चरणों में ही अप्रकाशित ऊर्जा किंवा डार्क एनर्जी के भिन्न-२ रूपों का आक्रमण भी होता रहता है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के पदार्थों के मध्य आकर्षण बल कम तथा प्रतिकर्षण बल अधिक हो जाता है। इस कारण विभिन्न पदार्थों का सृजन बाधित होता है और सृष्टि के वे तीनों चरण अस्थिर हो उठते हैं। इस अनिष्ट स्थिति को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार की रश्मियां सृष्टि के पृथक्-२ चरणों में उत्पन्न हुआ करती हैं। वे रश्मियां अप्रकाशित ऊर्जा के अनिष्ट प्रभाव को नष्ट वा नियन्त्रित करके विभिन्न पदार्थों के मध्य आकर्षण, प्रतिकर्षण एवं धारण बल को संतुलित करके संयोग-वियोग आदि प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में सहयोग करती हैं।।

२. तदाहुरनुसवनं पुरोळाशान् निर्वपेदष्टाकपालं प्रातःसवन एकादशकपालं माध्यंदिने सवने, द्वादशकपालं तृतीयसवने; तथाहि सवनानां रूपं तथा छन्दसामिति।। तत्तन्नाऽऽदृत्यमैन्द्रा वा एते सर्वे निरुप्यन्ते यदनुसवनं पुरोळाशास्तस्मात् तानेकादशकपालानेव निर्वपेत्।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का मत उद्धृत करते हुए कहते हैं कि सृष्टि के प्रत्येक चरण में पृथक्-२ कपाल अर्थात् प्राणों से युक्त पुरोडाश संज्ञक रश्मियां उत्पन्न होती हैं। जैसे- प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि के प्रथम चरण में ८ प्राण रश्मियों से युक्त, माध्यन्दिन सवन में ११ एवं तृतीय सवन में १२ प्राणों से युक्त पुरोडाश रश्मियां उत्पन्न होती हैं। वे विद्वान् इसका कारण भी बताते हैं, क्योंकि सृष्टि के तीनों सवनों अर्थात् चरणों के रूप एवं उनमें उत्पन्न प्रधान छन्द रश्मियां पृथक्-२ होती हैं। इस कारण वे पुरोडाश रश्मियां भी उन छन्द रश्मियों के प्राजापत्य रूप में विद्यमान अक्षरों की संख्या के अनुसार ही होंगी। जैसा कि तैत्तिरीय संहिता २.२.६.५-६ में कहा है- "यदष्टाकपालो भवत्यष्टाक्षरा

गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं प्रातःसवनमेव तेनाऽऽप्नोत्याग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेन्माध्यन्दिनस्य सवनस्याऽऽकाले सरस्वत्याज्यभागा स्याद्बार्हस्पत्यश्चरुर्यदेकादशकपालो भवत्येकादशाक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं माध्यन्दिनमेव सवनं तेनाऽऽप्नोत्याग्नावैष्णवं द्वादशकपालं निर्वपेत् तृतीयसवनस्याऽऽकाले सरस्वत्याज्यभागा स्याद्बार्हस्पत्यश्चरुर्यद् द्वादशकपालो भवति द्वादशाक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तृतीयसवनमेव तेनाऽऽप्नोति।"

यहाँ स्पष्ट रूप से तीनों प्रकार की पुरोडाश रश्मियों को क्रमशः ८,११ व १२ प्राण रश्मियों से युक्त बताया है। यह संख्या इनकी छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या के समान ही है।।

इस मत का निराकरण करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यह मत आदरणीय किंवा स्वीकार्य नहीं है क्योंकि सभी प्रकार की पुरोडाश रश्मियां इन्द्र तत्त्व को समृद्ध करने वाली होती हैं और इसी के कारण वे असुर तत्त्व नामक हिंसक बाधक पदार्थ को नियन्त्रित वा नष्ट करने में समर्थ होती हैं। इस कारण सृष्टि के सभी चरणों में ११ प्राण रश्मियों युक्त पुरोडाश रश्मियों की उत्पत्ति हुआ करती है। इस विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.११.४ में कहा गया है- "स यदष्टाकपालान्प्रातःसवने कुर्यात्। एकादशकपालान्माध्यन्दिने सवने। द्वादशकपालाँस्तृतीयसवने। विलोम तद्यज्ञस्य क्रियते। एकादशकपालानेव प्रातःसवने कुर्यात्। एकादशकपालान्माध्यन्दिने सवने। एकादशकपालाँस्तृतीयसवने। यज्ञस्य सलोमत्वाय, इति।" यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है कि सृष्टि के तीनों चरणों में पृथक्-२ संख्या में विभिन्न प्राण रश्मियों से युक्त तीन प्रकार की पुरोडाश रश्मियां उत्पन्न होकर विविध लक्षणों से युक्त सृजन कर्म करने में सहायक होती हैं, जिसके कारण सृष्टि की विविधता स्वाभाविक रूप से बनी रहती है। यह भी ज्ञातव्य है कि विविधता का होना सृष्टि के लिए नितान्त अनिवार्य है, किन्तु सृष्टि का यह भी एक अनिवार्य तथ्य है कि कुछ विशेष कर्मों वा परिस्थितियों में समान प्रभाव वाली रश्मियों का उत्पन्न होना अनिवार्य है। इस प्रकार की स्थिति में सृष्टि के तीनों चरणों में उत्पन्न पुरोडाश रश्मियां एक समान केवल ११ प्राण रश्मियों से ही युक्त उत्पन्न हुआ करती हैं। यहाँ यज्ञ के विलोम और सलोम का यही आशय है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद भाष्य २३.३६ में "लोम" शब्द का अर्थ "अनुकूलं वचनम्" किया है। इससे भी सिद्ध है कि यज्ञ विलोमत्व का आशय यह है कि सृष्टियज्ञ में विविध प्रकार की अनुकूल वाग् रश्मियों का उत्पन्न होकर सृष्टि में विविधता उत्पन्न करना एवं यज्ञ के सलोमत्व का तात्पर्य है कि समान परिस्थिति में सृष्टि के सभी चरणों में समान प्रभाव उत्पन्न करने के लिए समान संख्या में प्राण रश्मियों से युक्त पुरोडाश रश्मियां उत्पन्न होकर समान प्रकार की बाधाओं को दूर करना। अपने भाष्य में आचार्य सायण ने यद्यपि इन प्रमाणों को उद्धृत किया है, परन्तु उन पर कोई भी टिप्पणी वा विचार नहीं दिया गया है। अपनी इसी शैली में ही सायण ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १२.४.१-२ को उद्धृत करते हुए लिखा है- "अष्टौ पुरोडाशकपालान्येकादश माध्यन्दिने द्वादश तृतीयसवने सर्वानैन्द्रानेकादशकपालाननुसवनमेके समामनन्ति"। हमारे विचार में सूत्रकार का यही मत प्रकाशित हो रहा है, जो तैत्तिरीय ब्राह्मणकार को स्वीकार है अर्थात् सृष्टि की विविधता के लिए उपर्युक्त क्रमशः तीनों चरणों में क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्दों के प्राजापत्य रूपों के अक्षरों की संख्या ८,११ एवं १२ प्राण रश्मियों से युक्त पुरोडाश रश्मियां उत्पन्न होती हैं परन्तु पूर्वोक्त विशेष परिस्थिति में इन्द्र तत्त्व को समृद्ध करके असुर तत्त्व को नियन्त्रित वा नष्ट करने के लिए ११ प्राण रश्मियों से युक्त एक ही प्रकार की पुरोडाश रश्मियां सृष्टि के तीनों चरणों में सदैव उत्पन्न होती हैं। इधर पूर्व खण्ड में दीर्घजिही आसुरी तत्त्व के अनिष्ट प्रभाव को नष्ट करने के लिए पुरोडाश नामक रश्मियों की इस खण्ड में चर्चा की गई है और असुर तत्त्व का इसी से मिलता-जुलता प्रहार सृष्टि के सभी चरणों में होता रहता है। इस कारण महर्षि ऐतरेय महीदास ने इस एक समान परिस्थिति के निराकरण के लिए ही भिन्न-२ प्रकार की पुरोडाश रश्मियों के उत्पन्न होने का खण्डन किया है। इसी कारण उन्होंने एक समान अर्थात् ११ प्राण रश्मियों से युक्त समान पुरोडाश रश्मियों का ही समर्थन किया है। हमें प्रसंग के अनुकूल ही अर्थ ग्रहण करने चाहिए। प्रकरण के अनुसार दोनों ही मत सत्य हैं, परन्तु इस प्रकरण में एक ही मत स्वीकार्य है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि उत्पत्ति के विभिन्न चरणों में जो डार्क एनर्जी का आक्रमण हुआ करता है, उसको निष्क्रिय वा नियन्त्रित करने के लिए ११ प्रकार की प्राण रश्मियों से विभिन्न तेजस्वी किरणें उत्पन्न हुआ करती हैं। सृष्टि उत्पत्ति के प्रथम चरण में जो रश्मियां उत्पन्न होती हैं, वे प्राणापान आदि

१० प्राथमिक प्राणों और एक वाक् तत्त्व रूपी रश्मियों से संयुक्त होती हैं। इन सबका संयुक्त रूप अति तीक्ष्ण होकर डार्क एनर्जी के प्रतिकर्षक प्रभाव को निष्क्रिय करके संयोग आदि प्रक्रिया के मार्ग की बाधाओं को दूर करता है। सृष्टि के अन्य दो चरणों में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के ११ अक्षर ही ११ सूक्ष्म प्राण रश्मियों का रूप होते हैं। इनके साथ प्रथम चरण में उत्पन्न ११ प्राण रश्मियां भी समाहित होती हैं, जिनके कारण उस समय उत्पन्न अप्रकाशित ऊर्जा की बाधा को दूर किया जाता है।।

३. तदाहुर्यतो घृतेनानक्तं स्यात् ततः पुरोळाशस्य प्राश्नीयात् सोमपीथस्य गुप्त्यै, घृतेन हि वज्रेणेन्द्रो वृत्रमहन्निति।।
तत्तन्नादृत्यं, हविर्वा एतद्यदुत्पूतं सोमपीथो वा एष यदुत्पूतं तस्मात् तस्य यत एव कुतश्च प्राश्नीयात्, सर्वतो वा एताः स्वधा यजमानमुपक्षरन्ति यदेतानि हवींष्याज्यं धानाः करम्भः परिवापः पुरोळाशः पयस्येति।।
सर्वत एवैनं स्वधा उपक्षरन्ति य एवं वेद।।५।।

{करम्भः = भोगं कर्त्तुं योग्यम् (म.द.ऋ.भा.६.५७.२), करोति मथनं येन सः (म.द.य.भा. १६.२१), कर्त्ता (म.द.ऋ.भा.१.१८७.१०), पूषण्वान् करम्भः, इति पशवो वै पूषा (मै.३.१०.६), पूष्णः करम्भः (तै.ब्रा.१.५.११.३; श.४.२.५.२२)। धानाः = धीयन्ते यासु ता दीप्तयः (म.द.ऋ.भा.१.१६.२), धारकाः (म.द.य.भा.८.११), पशवो वै धानाः (मै.४.७.४), अहोरात्राणां वाऽएतद्रूपं यद्धानाः (श.१३.२.१.४)। परिवापः = अन्नमेव परिवापः (ऐ.२.२४), सरस्वतीवान् भारतीवान् परिवापः (मै.३.१०.६; ऐ.२.२४)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का मत उद्धृत करते हुए कहते हैं कि घृत अर्थात् संदीप्त तेज से सम्पन्न पुरोडाश रश्मियों की सहायता से ही इन्द्र तत्त्व असुर तत्त्व नामक अप्रकाशित, हिंसक व वाधक पदार्थ को नष्ट वा नियन्त्रित करता है और फिर वह इन्द्र तत्त्व सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों का अवशोषण करके उनकी रक्षा भी करता है। इस कारण समस्त सृष्टि में संदीप्त तेजयुक्त पुरोडाश संज्ञक रश्मियां ही विभिन्न पदार्थों के द्वारा अवशोषित होती वा उपयोग में आती हैं। तेजहीन रश्मियां सृष्टि के किसी उपयोग में नहीं आती, क्योंकि तेजहीन रश्मियां सोमपान के अवशोषण व रक्षण में उपयोगी नहीं हो सकतीं।।

इस मत का प्रत्याख्यान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यह मत स्वीकार्य नहीं है। इस सृष्टियज्ञ में जो भी पदार्थ उत्कृष्ट रूप से पवित्र और गतिशील होते हैं, वे सभी हवि रूप होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो कण वा तरंगें विशेष और पृथक् स्वरूप को प्राप्त होकर उत्कृष्ट रूप से गतियुक्त होती हैं, वे संयोग और वियोग आदि गुणों से अवश्य युक्त होती हैं और इस प्रकार की क्रियाओं का होना ही सोमपान के सदृश है। इसका तात्पर्य यह है कि तीव्र गतिशील और संयोज्य पदार्थ के रूप में सोम तत्त्व अर्थात् मरुद् रश्मियां भी इन्द्र तत्त्व आदि के द्वारा अवशोषित होकर नाना कर्म करने में सक्षम होती ही हैं। इस कारण विभिन्न पुरोडाश संज्ञक रश्मियां आदि पदार्थ चाहे अति तेजस्वी हों वा कम तेजस्वी, वे सभी एक-दूसरे का अवशोषण वा उत्सर्जन करने में उपयोगी होते ही हैं। ऐसे पदार्थ स्वधा रूप होकर संयोज्य पदार्थों के ऊपर स्रवित होते रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न पदार्थ अति तेजस्वी होने अथवा कम तेजस्वी होने पर भी विद्युत् किंवा विभिन्न प्राणों से युक्त होकर संयोग-वियोग प्रक्रिया को सम्पादित करते ही हैं। इन ऐसे पदार्थों को महर्षि निम्न प्रकार वर्गीकृत करते हैं -

(१) आज्यम् = विभिन्न छन्द वा मरुद् रश्मियों तथा अन्य प्राणों का वह स्वरूप जो भेदक और प्रक्षेपक सामर्थ्य रखता है।

(२) धानाः = प्राण, अपान, मरुत् एवं छन्द रश्मियों किंवा अन्य विकिरणों का वह रूप, जिसमें धारक गुण विशेष होता है।
(३) करम्भः = विभिन्न मरुतों से युक्त वे विकिरण, जो विशेष बल सम्पन्न होकर पदार्थों के पोषक होते हैं तथा वे विभिन्न पदार्थों को मथने और उन्हें आवश्यक रूप से भेदकर संयोग-वियोग की क्रिया के लिए समर्थ बनाते हैं।
(४) परिवापः = आकाश तत्त्व, जिसमें विभिन्न प्रकार की वायु रश्मियां और तेज आदि की रश्मियां विद्यमान होती हैं तथा जिसमें ही सभी प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति का सब ओर से बीज वपन किया जाता है।
(५) पुरोडाशः = विभिन्न प्राण वा छन्द रश्मियां, जो विभिन्न संयोग आदि प्रक्रियाओं में एवं असुर तत्त्व आदि बाधक हिंसक रश्मियों को दूर करने की प्रक्रिया में प्रकट होकर सृजन प्रक्रियाओं को प्रकाशित वा सम्पादित करने में महती भूमिका निभाती हैं।
(६) पयस्या = वह तेजस्वी वाक् तत्त्व, जो प्राणापान के साथ संयुक्त होते हुए पूर्वोक्त ६ गायत्री साम रश्मियों के साथ योषा रूप में संयुक्त होता है।

ये सभी पदार्थ संयोज्य कणों के द्वारा अवशोषित होकर किंवा उनके साथ संयुक्त होकर सृजन कर्मों का विस्तार करते हैं।।

इस प्रकार की स्थिति बनने पर सृजन कर्म में रत उपर्युक्त सभी पदार्थ स्वधा रूप होकर उस संयोज्य पदार्थ के ऊपर वृष्टि करके उसे पूर्ण संसिक्त कर देते हैं। "स्वधा अन्ननाम" (निघं.२.७) और "स्वधा उदकनाम" (निघं.१.१२) से भी यही अभिप्राय सिद्ध होता है। ध्यातव्य है कि इस प्रकार की क्रिया सभी प्रकाशित और अप्रकाशित कणों के संयोग के समय होती है। इसकी पुष्टि "स्वधा द्यावापृथिव्योर्नाम" (निघं.३.३०) की संगति इस कण्डिका के साथ लगाने पर भी होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- समस्त सृष्टि में अति तेजस्वी और कम तेजस्वी दो प्रकार के तेजस्वी पदार्थ होते हैं। इनको भी ६ विभागों में व्यक्त किया जा सकता है। इनका पृथक्-२ स्वरूप व्याख्यान में देख सकते हैं। ये सभी प्रकार के पदार्थ विभिन्न कणों के साथ संयुक्त होकर नाना प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हैं। कम प्रकाशित और अधिक प्रकाशित दोनों ही प्रकार के पदार्थों में प्राथमिक प्राण एवं विद्युदादि पदार्थ विद्यमान होते हैं। प्रत्येक प्रकार के संयोग-वियोग में विभिन्न रूपों में विद्यमान प्राणापान आदि प्राण, मरुद् रश्मियां, छन्द रश्मियां, सूक्ष्म वाक् तत्त्व के अतिरिक्त आकाश तत्त्व भी प्रत्येक संयोग-वियोग प्रक्रिया में महती भूमिका निभाता है।

❧ इति ८.५ समाप्तः ❧

अथ ८.६ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. यो वै यज्ञं हविष्पङ्क्तिं वेद हविष्पङ्क्तिना यज्ञेन राध्नोति धानाः करम्भः परिवापः पुरोळाशः पयस्येत्येष वै यज्ञो हविष्पङ्क्तिर्हविष्पङ्क्तिना यज्ञेन राध्नोति य एवं वेद।।
यो वै यज्ञमक्षरपङ्क्तिं वेदाक्षरपङ्क्तिना यज्ञेन राध्नोति सुमत्पद्वग्द इत्येष वै यज्ञोऽक्षरपङ्क्तिरक्षरपङ्क्तिना यज्ञेन राध्नोति य एवं वेद।।

{सु = सुष्ठु (म.द.ऋ.भा.५.६५.३), सर्वथा (म.द.ऋ.भा.१.३८.६), श्रैष्ठ्ये (म.द.य.भा. ४.१४)। "सुपूजितं मत्प्रहृष्टं पत्सर्वव्यापि तच्च वक्। सर्वस्य वक्तृ ब्रह्मैव दे फलानां प्रदातृ तत्।।" (षड्गुरुशिष्यस्य पद्यमिदम् - आचार्य सायण द्वारा उद्धृत)। दे = देदीप्यमानौ देवौ (मित्रावरुणौ) (म.द.ऋ.भा.५.४१.१)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त हवि रूप ६ पदार्थों में से जब ५ पदार्थ धाना-करम्भ-परिवाप-पुरोडाश-पयस्या इस सृष्टि प्रक्रिया में उत्पन्न और व्याप्त हो जाते हैं, उस समय इनसे व्याप्त सम्पूर्ण पदार्थ विभिन्न सृजन कर्मों को सम्पादित करने लगता है। इन पाँचों पदार्थों के विषय में पूर्व खण्ड की अन्तिम कण्डिकाओं को देखना आवश्यक है। यहाँ "आज्यम्" पद का ग्रहण नहीं किया गया है। इसके निम्न कारण प्रतीत होते हैं-

(१) गति और प्रक्षेपण क्षमता से युक्त तेजस्वी पदार्थ ही आज्य कहलाते हैं। निश्चित ही सभी ५ प्रकार के पदार्थ इन गुणों से न्यूनाधिक रूप से युक्त होते ही हैं। इस कारण सम्भव है इस पद का भाव इन सभी पांचों में समाहित कर दिया गया हो।

(२) संदीप्त, तेजस्वी और तीव्रगन्ता पदार्थों को आज्य कहा जाता है। उधर तीव्रगन्ता तेजस्वी रश्मियों को पुरोडाश भी कहते हैं। इस कारण सम्भव है कि पुरोडाश के अन्तर्गत ही इसका समायोजन कर दिया गया हो।

(३) जिस प्रकार अग्निहोत्र में अन्य विविध शाकल्य के साथ घृत की आहुति स्वाभाविक रूप से ग्रहण कर ली जाती है, उसी प्रकार उपर्युक्त पाँचों पदार्थों रूप हवियों के साथ आज्य का ग्रहण स्वाभाविक रूप से कर लिया गया हो।

इन सभी पाँचों पदार्थों के सक्रिय होने पर सर्ग यज्ञ समृद्ध होने लगता है। यहाँ आचार्य सायण ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १२.४.६-१४ को उद्धृत करते हुए लिखा है- "कपालानामुपधानकाले प्रथमकपालमन्त्रेण धानार्थं लाजार्थं कपाले अधिश्रित्य तण्डुलानोप्य धानाः करोति व्रीहीनोप्य लाजान् करोति पुरोडाशमधिश्रित्याऽऽमिक्षावत् पयस्यां करोत्युद्वासनकाले धाना उद्वास्य विभागमन्त्रेण विभज्यार्धा आज्येन संयौत्यर्धाः पिष्टानामावृता सक्तून् करोति। मन्थं संयुतं करम्भ इत्याचक्षते, लाजान् परिवाप इति नखर्लाजेभ्यस्तुषान् संहरति" इति।
{लाजा = आदित्यानां वा एतद्रूपं यल्लाजाः (तै.ब्रा.३.८.१४.४) (लाज भर्जने), लाजाः लाजतेः = लाजाः लाजति = राजति से, शोभा देती हैं (नि.६.६ पं.भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य)। तण्डुलः = वसूनां वा एतद्रूपं यत्तण्डुलाः (तै.ब्रा.३.८.१४.३), अह्नो वै रूपं धाना राज्यास्तण्डुलाः (काठ.११.२)। व्रीहिः = व्रीहयः शक्वर्यः (जै.ब्रा.१.३२३)। सक्तुः = सक्तुः सचतेः दुर्धावो भवति कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो

भवति = सक्तुः = सचति से = एकत्र जम जाता है, कठिन है शोधना जिस का, ऐसा होता है, कसति = खिलता है, से अथवा होवे उलट किए हुए कस+तु = सकतु = सक्तु, खिला हुआ होता है। (नि. ४.१० पं.भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य), देवानां वा ऽएतद् रूपं यत्सक्तवः (श.१३.२.१.३)। उद्वासनम् = निर्वासित कर देना, वध करना (आप्टे कोष)। मा = यया मीयते सा (म.द.य.भा.१४.१८), अयं वै लोको मा अयं हि लोको मित इव (श.८.३.३.५)। आमिक्षा = (मिश शब्दे रोषकृते च बाहुलकात् सः प्रत्ययः - वै.को.-आ.राजवीर शास्त्री)} हमारी दृष्टि में इस सूत्र से उपर्युक्त धान आदि पदार्थों के विषय में एक गम्भीर विज्ञान उद्घाटित होता है। पूर्ववर्णित कपाल संज्ञक प्राणों से युक्त गायत्री आदि छन्द रश्मियों के रूप में जो पुरोडाश संज्ञक रश्मियां उत्पन्न होती हैं, उस समय प्रथम चरण में धान अर्थात् विभिन्न दीप्तियों को धारण करने वाले प्राण प्रधान विकिरणों को उत्पन्न करने के लिए उन गायत्री छन्द रश्मियों का आश्रय लेकर अपान प्राणों का वपन किया जाता है। इसके साथ ही तीव्र ऊष्मायुक्त लाजा रूप किरणों को उत्पन्न करने के लिए शक्तिशाली व्यापक प्राथमिक प्राणों का किंवा विद्युत् तत्त्व का वपन किया जाता है। इसलिए कहा है- "आपो वै शक्वर्यः" (जै.ब्रा.३.६२), "ब्रह्म शक्वर्यः (तां. १६.५.१८)"। तदनन्तर पूर्वोक्त पुरोडाश रश्मियों का आश्रय लेकर पयस्या संज्ञक पूर्वोक्त देवी बृहती छन्द रश्मि को सब ओर से तीव्र बनाया जाता है।

उन रश्मियों के द्वारा जब असुर तत्त्व को दूर हटाया वा नष्ट किया जाता है, उस काल में उस क्रिया के सम्पन्न होने के तत्काल पश्चात् धाना अर्थात् विभिन्न दीप्तियों को धारण करने वाले विकिरण वा कण विशेष सेवनीय छन्द रश्मियों के द्वारा विभक्त होकर कुछ मात्रा में तो आज्य अर्थात् तीव्रता से बढ़ती हुई तीव्र दीप्ति से युक्त हो जाते हैं और शेष अन्य विभिन्न अप्रकाशित पदार्थ कण, जो सूक्ष्म एवं अवयव रूप में विद्यमान होते हैं, से अति निकटता से संयुक्त होकर उन्हें प्रकाशित करने लगते हैं। आज्य से संयुक्त धान अर्थात् तेज और प्रक्षेपणशील सामर्थ्य वाली दीप्तियों को धारण करने वाले संयुक्त विकिरण मथने और ताड़ने युक्त गुणों से युक्त होकर 'करम्भ' कहलाते हैं। तीव्र ऊष्मा युक्त लाज **संज्ञक किरणें सब ओर फैलकर दूसरी इसी प्रकार की किरणों से उत्पन्न विभिन्न सूक्ष्म दीप्तियों को अच्छी प्रकार आकर्षित करती हैं। इस विषय में महर्षि तित्तिर का भी कथन है-**

"ब्रह्मवादिनो वदन्ति नर्चा न यजुषा पङ्क्तिराप्यतेऽथ किं यज्ञस्य पाङ्क्तत्त्वमिति। धानाः करम्भः परिवापः पुरोळाशः पयस्याः तेन पङ्क्तिराप्यते तद् यज्ञस्य पाङ्क्तत्त्वम्।" (तै.सं.६.५.११.४-५)।।

यहाँ आचार्य सायण ने "अक्षरपङ्क्तिः" को परिभाषित करते हुए लिखा है - "पञ्चसंख्याकानामक्षराणां समूहोऽक्षरपङ्क्तिः" यहाँ 'सु', 'मद्', 'पद्', 'वग्' एवं 'दे' इन पाँच अक्षरों से युक्त यज्ञ ही अक्षरपङ्क्ति यज्ञ कहलाता है। क्योंकि इन सभी को अक्षर नाम दिया गया है। इससे सिद्ध है कि ये पाँचों अति सूक्ष्म तथा सृष्टि काल में नष्ट न होने वाले गुण हैं। ये पाँच सूक्ष्म गुण ही उपरि-कण्डिका में वर्णित धाना, करम्भ आदि पाँचों पदार्थ के गुणों के कारण रूप हैं किंवा उनको सक्रिय करने वाले हैं। इस कारण इन सूक्ष्म पाँच गुणों के द्वारा ही उपर्युक्त पाँच तत्त्व सक्रिय होकर सृष्टि प्रक्रिया को समृद्ध करते हैं। इन गुणों का स्वरूप निम्नानुसार है -

(१) सु = तत्त्वों का सुष्ठु व सतत क्रियाशील रहना। जिस तत्त्व का जो-२ क्रिया करने का गुण है, वह-२ सतत, सर्वथा व सुष्ठु-रीत्या होता रहता है। उस गुण में विराम वा अन्यथा भाव नहीं आने पाता।

(२) मद् = वे सभी अणु अत्यन्त आवेश को प्राप्त करके अर्थात् केवल धनावेश वा ऋणावेश ही नहीं अपितु प्रत्येक प्रकार के आकर्षण आदि बल से युक्त होकर अन्योऽन्य क्रियाएं प्रहृष्टता से करते रहते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि उस बल वा प्रेरणा में कोई कमी वा अवरोध आ जाए।

(३) पद् = अर्थात् सभी कण सर्वत्र व्याप्त होकर प्राप्तव्य होकर एक दूसरे को प्राप्त करते रहते हैं। ये क्रियाएं कहीं होवें और कहीं नहीं, यह नहीं हो सकता बल्कि सर्वत्र होती रहती हैं। इन कणों में प्रापिका गति सदैव रहती है। कोई कण कभी गतिहीन नहीं होता।

(४) वग् = सभी अणु विशिष्ट प्रकार के तेज को धारण किये होते हैं और वह तेज महान् होता है। वह विद्युज्जन्य होता है। इसका अर्थ यह कि हर अणु विद्युद्युक्त होता है। यह विद्युत्तेज ही प्रत्येक क्रिया वा प्रेरणा का मुख्य कारण होता है। यह भी अविनाशिभाव से कार्य करती है।

(५) दे = देदीप्यमान मित्रावरुण नामक देव सदैव सबके साथ संयुक्त होते हैं। मित्रावरुण का अर्थ प्राणापान वा प्राणोदान होता है। सूक्ष्म ११ प्राणों में से ये दो मुख्यतः विशेष क्रियाशील होते हैं। ये दोनों

साथ-२ संयुक्त रहते हुए सभी अणुओं को बल प्रदान करते हैं, साथ में गति भी। स्थितिभेद से इनका युग्म बदल सकता है। कहीं प्राण-अपान साथ रहता है, तो कहीं प्राण-उदान साथ में कार्य करते हैं।

इन पाँचों गुणों के उत्पन्न व समृद्ध होने पर उपर्युक्त पाँच पदार्थ समृद्ध होकर सृष्टियज्ञ को समृद्ध करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में सभी पदार्थ गति, प्रक्षेपण क्षमता, अन्य प्रकार के बल और दीप्ति आदि गुणों से न्यूनाधिक मात्रा में युक्त होते ही हैं। पूर्वोक्त ६ गायत्री छन्द रश्मियों की अपान तत्त्व से क्रिया होने पर ऐसे विकिरण उत्पन्न होते हैं, जो प्रकाश आदि गुणों से युक्त होकर प्राण तत्त्व प्रधान होते हैं। जब इन्हीं गायत्री छन्द रश्मियों में विभिन्न प्राथमिक प्राणों किंवा विद्युत् तत्त्व की क्रिया होने पर तीव्र ऊष्मा तरंगें उत्पन्न होती हैं एवं जब अप्रकाशित ऊर्जा को विभिन्न तेजस्वी किरणों के द्वारा दूर हटाया जाता है, उस समय किंवा दूरीकरण के तुरन्त पश्चात् प्राण प्रधान उपर्युक्त प्रकाशित किरणें विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ क्रिया करके दो भागों में बंट जाती हैं। उनमें से एक भाग और भी अधिक ऊर्जावान् हो जाता है और दूसरा भाग विभिन्न द्रव्य कणों से संयुक्त होकर उसे तेजस्वी बना देता है। इसमें से तीव्र प्रकाशशील विकिरणों वाला भाग छेदन और भेदन आदि गुणों से युक्त होता है और तीव्र ऊष्मा युक्त किरणें सूक्ष्म दीप्तियों से युक्त तरंगों को आकर्षित करने वाली होती हैं। इस सृष्टि में निम्नलिखित पांच प्रकार के गुण सदैव विद्यमान रहते हैं-

(१) विभिन्न प्रकार के कण वा तरंगें जिस-२ क्रिया से युक्त होती हैं, वे बिना किसी प्रबल बाधा से बाधित हुए सृष्टि काल पर्यन्त उस क्रिया से युक्त बनी रहती हैं।

(२) जिन कणों पर विद्युदादि जो भी आवेश होता है, वह भी बिना किसी विराम के सदैव उनके साथ बना रहता है। इसी के कारण इस सृष्टि में आवेश संरक्षित रहता है।

(३) सृष्टि के सभी पदार्थ सदैव गतिशील रहते हैं और समान परिस्थितियों में सभी कणों की गतियां समान बनी रहती हैं। परस्पर आकर्षणशील कण सदैव आकर्षणशील ही बने रहते हैं। इसका विपरीत कभी नहीं देखा जाता और न ही कभी गति का अत्यन्त अभाव सृष्टि काल पर्यन्त होता है।

(४) सभी सूक्ष्म कण किसी न किसी प्रकार विद्युत् के तेज से युक्त होते ही हैं और इसी के कारण उनकी समस्त क्रियाएं सम्भव हो पाती हैं।

(५) सृष्टि के सभी कण विभिन्न प्राथमिक प्राणों में से प्राण और अपान किंवा प्राणोदान से सदैव संयुक्त रहते हैं। ये ही प्राण सभी कणों के विद्युत् से भी सूक्ष्म नियन्त्रक और प्रेरक होते हैं।

२. यो वै यज्ञं नराशंसपङ्क्तिं वेद नराशंसपङ्क्तिना यज्ञेन राध्नोति द्विनाराशंसं प्रातःसवनं द्विनाराशंसं माध्यन्दिनं सवनं सकृन्नाराशंसं तृतीयसवनमेष वै यज्ञो नराशंसपङ्क्तिर्नराशंसपङ्क्तिना यज्ञेन राध्नोति य एवं वेद।।

{नराशंसः = नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः, नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति, अग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति (नि.८.६), प्रजा वै नरस्ता इमा अन्तरिक्षमनु वावद्यमानाः प्रजाश्चरन्ति यद्वै वदति शंसतीति वै तदाहुस्तस्मादन्तरिक्षं नराशंसः (श.१.८.२.१२), यो नरैराशस्यते स्तूयते सः (म.द.य.भा.२०.३७), (नरः = अश्वनाम - निघं.१.१४; प्रजा वै नरः - ऐ.२.४; नयनकर्त्तारो मनुष्या वायवो वा - म.द.ऋ.भा.१.६४.१०)}

व्याख्यानम्- आश्वलायन श्रौतसूत्रकार लिखते हैं - "आप्यायितांश्चमसान्सादयन्ति ते नाराशंसा भवन्ति"। (५.६.३०) इसका आशय यह है कि सब ओर वृद्धि को प्राप्त सूक्ष्म पदार्थों के मेघों को जो तत्त्व गति देने किंवा उन्हें शक्तिहीन करके रोकने की क्षमता रखते हैं, वे नराशंस कहलाते हैं। उधर अन्तरिक्ष और अग्नि तत्त्व भी नराशंस कहलाते हैं। यह अग्नि तत्त्व विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के सम्पीडित होने के कारण उत्पन्न होता है अर्थात् **संपीडित मरुद् रश्मियां प्रकाश, दाह आदि गुणों से युक्त होकर**

अग्नि का रूप धारण कर लेती हैं, जिससे वह अग्नि नराशंस कहलाता है। सूक्ष्म मरुद् रश्मियां ही अपनी सूक्ष्म दीप्ति के कारण आकाश तत्त्व को प्रकाशित करती हैं। इस कारण अन्तरिक्ष किंवा आकाश तत्त्व को भी नराशंस कहते हैं। आकाश तत्त्व किंवा अन्तरिक्ष में विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म मरुद् रश्मियां मन्द-२ ध्वनि उत्पन्न करती हुई सतत गतिमान रहती हैं। जब इस सृष्टि में पांच प्रकार के नराशंसों से युक्त सृजन प्रक्रिया संपादित होती है, तब सृष्टियज्ञ समुचित रूप से समृद्ध होता है। प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण, जिस समय गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है, में उस समय प्राथमिक प्राणों की भी प्रधानता होती है। यहाँ गायत्री छन्द रश्मियां सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के द्वारा प्रकाशित होने के कारण नराशंस कहलाती हैं। इसके साथ ही दैवी गायत्री छन्द रश्मियां सूक्ष्म मरुद् के रूप में ही प्रकाशित होने के कारण नराशंस कहलाती हैं। उधर प्राथमिक प्राण तत्त्व रूपी देव विभिन्न मरुद् रश्मियों को प्रकाशित करने किंवा उनके साथ मिलकर प्रकाशित होने के कारण नराशंस कहलाते हैं। इस विषय में कहा गया है - "देवो नराशःसस्त्रिशीर्षा षडक्षः...." (मै.४.१३.८)। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि सभी प्राथमिक प्राण सत्व, रजस् और तमस् तीन गुणों से युक्त होते हैं और इनके ६ आधार होते हैं- (१) सर्वाधार चेतन परमात्म-तत्त्व (२) मूल प्रकृति (३) महत् तत्त्व (४) अहंकार तत्त्व (५) मनस् तत्त्व एवं (६) वाक् तत्त्व अथवा (१) मूल प्रकृति (२) मनस् तत्त्व (३) 'ओम्' (४) 'भूः' (५) 'भुवः' एवं (६) 'स्वः' रश्मियां।

सृष्टि प्रक्रिया के द्वितीय चरण अर्थात् माध्यन्दिन सवन में अग्नि तत्त्व और अन्तरिक्ष किंवा आकाश तत्त्व रूपी नराशंसों की प्रधानता होती है। इस समय सभी छन्दों में त्रिष्टुप् छन्द प्रधान होता है। इसलिए कहा गया है- "त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः" (कौ.ब्रा.८.६), "अन्तरिक्षं वा आग्नीध्रम्" (श.६.२.३.१५) इस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार की तीव्र ऊष्मा और प्रकाश तरंगों से युक्त अन्तरिक्षस्थ पदार्थ प्रकाशित होने लगता है। तृतीय सवन अर्थात् सृष्टि के अन्तिम चरण में संयोग-वियोग की प्रक्रिया की चरम स्थिति उत्पन्न होकर विभिन्न तारे पूर्णता को प्राप्त करते हैं। इस समय अग्नि तत्त्व का विशेष संयोग ही नराशंस रूप होता है। इस समय जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। ये रश्मियां ही अग्नि के संयोग-वियोग के लिए उत्तरदायी होकर सभी पदार्थों को विविधता से प्रकाशित करती हैं। ध्यातव्य है कि माध्यन्दिन सवन अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया के द्वितीय चरण में त्रिष्टुप् के साथ बृहती छन्द रश्मियों की प्रचुरता होने से ये दो छन्द रश्मियां भी दो नराशंस का रूप होती हैं, क्योंकि ये रश्मियां सूक्ष्म नर अर्थात् मरुद् रश्मियों के द्वारा ही प्रकाशित होती हैं।

इस प्रकार पाँच प्रकार के नराशंस रूप पदार्थों के द्वारा ही समस्त सृष्टियज्ञ समृद्ध होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया में पांच प्रकार के ऐसे तत्त्वों की विशेष भूमिका होती है, जो विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों को गति देने वा रोकने में समर्थ होकर विभिन्न पदार्थों के संयोग और वियोग में मुख्य भूमिका निभाते हैं। वे पदार्थ क्रमशः निम्नानुसार हैं -

(१) प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण रूप सूक्ष्म रश्मियां।
(२) गायत्री छन्द रश्मियां।
(३) त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां।
(४) बृहती छन्द रश्मियां।
(५) जगती छन्द रश्मियां।

इनका अन्य प्रकार से वर्गीकरण निम्नानुसार और भी संभव है -

(१) प्राथमिक प्राण
(२) विभिन्न छन्द रश्मियां
(३) विद्युदावेश आदि बल
(४) आकाश तत्त्व
(५) विद्युत् चुम्बकीय तरंगें आदि विभिन्न ऊर्जाएं।

इन पांचों प्रकार के पदार्थों के सहयोग से ही सृष्टि प्रक्रिया सम्पन्न हो पाती है।

३. यो वै यज्ञं सवनपङ्क्तिं वेद सवनपङ्क्तिना यज्ञेन राध्नोति पशुरूपवसथे त्रीणि सवनानि पशुरनूबन्ध्य इत्येष वै यज्ञः सवनपङ्क्तिः सवनपङ्क्तिना यज्ञेन राध्नोति य एवं वेद।।

{उपवसथः = त एतद्धविः प्रविशन्ति (विश्वे देवाः) तऽ एतासु वसतीवरीषूपवसन्ति स उपवसथः (श.३.६.२.७)। अनूबन्ध्या = मैत्रावरुणी वा अनूबन्ध्या (कौ.ब्रा.४.४), चतुर्थमेवैतत्सवनं यदनूबन्ध्या तस्मादच्युता भवति (कौ.ब्रा.१८.११), (मैत्रावरुणी = वशा मैत्रावरुण्यः - मै.३.१३.६; यदा न कश्चन रसः पर्यशिष्यत तत एषा मैत्रावरुणी वशा समभवत्तस्मादेषा न प्रजायते - श.४.५.१.६), (वशा = छन्दसां वा एष रसो यद् वशा - तै.सं.२.१.७.२) (वश कान्तौ+अच्+टाप्)}

व्याख्यानम्- इस ग्रन्थ में प्रायः तीन सवनों प्रातःसवन, माध्यन्दिन एवं तृतीय सवन की ही चर्चा की गई है, किन्तु यहाँ सवनों की संख्या पाँच बताई गई है। **"पंक्ति"** शब्द का अर्थ करते हुए **महर्षि दयानन्द** यजुर्वेद भाष्य १४.१८ में **"पंचाऽवयवो योगः"** ऐसा लिखते हैं। तीन सवनों के विषय में हम पूर्व में अवगत हो ही चुके हैं।
दो अन्य सवनों का स्वरूप निम्नानुसार है-

(१) उपवसथ - यह सृष्टि प्रक्रिया के उस चरण का नाम है, जिसमें प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण विभिन्न मरुद् वा छन्द रश्मियों के अन्दर प्रविष्ट होते हैं किंवा उनके साथ संगत होते हैं। यह निश्चित ही प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवन के मध्य और प्रातःसवन के अति निकट प्रतीत होता है। जब सवनों की गणना तीन की जाती है, तब इसको प्रातःसवन में समायोजित मानना चाहिए। ये प्राण रश्मियां सबमें व्याप्त होकर उनके अति निकट बसती हैं। इनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है तथा इनका संयोग भी प्रत्येक पदार्थ से लगभग सतत बना रहता है। इसलिए इनको **'उपवसथ'** कहते हैं। इनको **'पशु'** इस कारण कहा जाता है, क्योंकि ये प्राथमिक प्राण रूप सूक्ष्म मरुद् रश्मियों का ही रूप होते हैं।

(२) अनूबन्ध्या - यह सृष्टि का वह चरण है जिसमें कुछ छन्द रश्मियों का सार भाग अन्तरिक्ष में रिसकर अन्य रश्मियों आदि के साथ संगत होकर विविध कर्म करता है, जबकि वे सार रहित छन्द रश्मियां किसी भी प्रकार के सृजन कर्मों को सम्पादित नहीं कर पाती अर्थात् वे किसी अन्य पदार्थ में परिवर्तित नहीं हो पाती तथा अन्तरिक्ष में इसी रूप में व्याप्त रहती हैं। ऐसी प्रतीत होता है कि ये छन्द रश्मियां आकर्षण बल से रहित होकर केवल प्रतिकर्षण बल की उत्पादिका होती हैं। **कदाचित् असुर तत्त्व भी इन्हीं का एक रूप हो।** उधर छन्दों का रिसा हुआ सार भाग धनंजय आदि सूक्ष्म प्राणों के रूप में किसी भी संयोग को और भी दृढ़ करता है। पूर्वोक्त त्रिष्टुप् गायत्री और बृहती आदि छन्द रश्मियों के आकर्षण बल से सम्पादित विभिन्न संयोग इन धनंजय आदि सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के सहयोग से और भी अधिक सुदृढ़ हो जाते हैं। इस कारण उन धनंजय आदि मरुद् रश्मियों को **'अनूबन्ध्य'** कहते हैं, क्योंकि ये रश्मियां किसी संयोग की क्रिया के उपरान्त तत्काल ही उस संयोग को और भी बांधने में सहायक होती हैं।

इन पाँचों प्रकार के सवनों अर्थात् सृष्टि के पाँचों चरणों, जिनमें कि संयोग आदि की विभिन्न प्रक्रियाओं के पृथक्-२ स्तर विद्यमान होते हैं और उन स्तरों में विभिन्न रश्मियों के विभिन्न प्रकार के पृथक्-२ बल कार्य करते हैं, के सक्रिय और समृद्ध होने पर सृष्टि प्रक्रिया समृद्ध होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार के आकर्षण बलों के मुख्य पांच स्तर होते हैं-
(१) दैवी गायत्री छन्द रश्मि आदि का सर्वप्रथम उत्पन्न बल, जो मनस् वा अहंकार रूप पदार्थ में विषमता उत्पन्न करके उत्पत्ति प्रक्रिया को विशेष रूप से प्रारम्भ करता है।
(२) प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण रश्मियां जब सूक्ष्म छन्द रश्मियों के साथ संगत होती हैं, तब उनके मध्य कार्य करने वाला बल इस श्रेणी में आता है।

(३) त्रिष्टुप् और बृहती छन्द रश्मियों से उत्पन्न बल, जो सृष्टि प्रक्रिया के मध्य भाग में उत्पन्न होता है, इस श्रेणी में आता है।
(४) कुछ छन्द रश्मियों के आकर्षण बलयुक्त सूक्ष्म सार रूप बल, जो तीसरे प्रकार के बल को और भी सुदृढ़ करता है, सार भाग रहित छन्द रश्मियां प्रतिकर्षण बल सम्पन्न होकर अप्रकाशित ऊर्जा के रूप में इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाती हैं। उनमें संयोग गुण न होने से, वे किसी पदार्थ को उत्पन्न नहीं करतीं।
(५) जगती छन्द रश्मियों से उत्पन्न बल, जो ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण में विशेष भूमिका निभाता है।

४. हरिवाँ इन्द्रो धाना अत्तु पूषण्वान् करम्भं सरस्वतीवान् भारतीवान् परिवाप इन्द्रस्यापूप इति हविष्पङ्क्त्या यजति।।
ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी।।
पशवः पूषाऽन्नं करम्भः।।
सरस्वतीवान् भारतीवानिति वागेव सरस्वती प्राणो भरतः।।
परिवाप इन्द्रस्यापूप इत्यन्नमेव परिवाप इन्द्रियमपूपः।।
एतासामेव तद्देवतानां यजमानं सायुज्यं सरूपतां सलोकतां गमयति, गच्छति श्रेयसः सायुज्यं गच्छति श्रेष्ठतां य एवं वेद।।

{हरयः = हरन्ति ये ते किरणाः (म.द.ऋ.भा.१.१६.१), आशुगन्ता (म.द.य.भा.३८.२२), धारण व आकर्षण बल (तु.म.द.ऋ.भा.२.११.६)। सरस्वती = वाङ्नाम (निघं.१.११), एषा वा अपां पृष्ठं यत् सरस्वती (तै.ब्रा.१.७.५.५)। भारती = एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति (श.१.४.२.२), द्यां भारत्यादित्यैरस्पृश् (मै.४.१३.८), डुभृञ् धातोरौणा.अतच्प्रत्यये भरतः ततः इदमर्थेऽण् ततः स्त्रियां ङीप् (वै.को.-आ. राजवीर शास्त्री)। अपूपः = इन्द्रियमपूपः (ऐ.२.२४)। ऋक् = ऋक् अर्चनी (नि.१.८), अस्थि वा ऋक् (श.७.५.२.२५), वाङ्नाम (निघं.१.११), ब्रह्म वा ऋक् (कौ.ब्रा.७.१०)। साम = क्षत्रं वै साम (श.१२.८.३.२३), मनो वाव साम्नश्श्रीः (जै.उ.१.१२.५.२), सन्धिः (तु.म.द.ऋ.भा.२.२३.१६)। इन्द्रः = महाबलवान् वायुः (तु.म.द.ऋ.भा.१.७.१), सूर्य्यलोकः (म.द.ऋ.भा.१.१०.७), विद्युत् (म.द.य.भा.२०.२६), विद्युदादिरूपो वह्निः (म.द.ऋ.भा.३.४.६), प्राणः (श.१२.६.१.१४)}

व्याख्यानम्- यहाँ पांच प्रकार के इन्द्रतत्त्व और उसके यजन की चर्चा की गई है। इनमें से प्रथम इन्द्र का विशेषण 'हरिवान्' अर्थात् हरियों से युक्त बताया है। जो किरणें आशुगामिनी होकर धारण व आकर्षण बल आदि से युक्त होती हैं, वे 'हरि' कहलाती हैं। अगली कण्डिका में महर्षि ऋक् व साम को इन्द्र की दो हरणशील किरणें बतलाते हैं। इनमें से **वाक्तत्त्व की आकर्षक सूक्ष्म रश्मियां 'ऋक्' तथा मनस्तत्त्व की सूक्ष्म सर्वधारक रश्मियां 'साम' कहाती हैं। कुत्रचित् सन्धिकारक वा धारक रश्मियां 'ऋक्' कहाती हैं तथा भेदक शक्ति-सम्पन्न रश्मियां 'साम' कहलाती हैं।** इस प्रकार इन दोनों ही श्रेणी की दोनों रश्मियों से युक्त इन्द्र तत्त्व हरिवान् कहलाता है। इस प्रकार एक हरिवान् इन्द्र, जो मन तथा वाग् रश्मियों से युक्त होता है, वह प्राण रूप इन्द्र कहलाता है अर्थात् ऐसा इन्द्र प्राण तत्त्व ही है, जो मन तथा वाक् दोनों से ही युक्त होता है। यह प्राण तत्त्व धारक व भेदक गुणों का भी जनक होने से हरिवान् इन्द्र कहाता है। यह प्राण तत्त्व 'धाना' संज्ञक पदार्थ का ही भक्षण करता है। 'धाना' पद का अर्थ २.२३.३ में देखें, जहाँ प्राण, अपान, मरुद् वा छन्द रश्मियों को ही धाना कहा है। इस प्रकार

प्राण रूप इन्द्र इन धारक गुणयुक्त प्राणापानादि का ही भक्षण करता है अर्थात् प्राणादि तत्त्वों की प्रत्यक्ष क्रिया प्राणादि तत्त्वों से ही होती है, इस कारण प्राणरूप इन्द्र का भक्ष्य प्राणतत्त्व ही कहा गया है।

दूसरा इन्द्र पूषण्वान् अर्थात् पुष्टि गुण युक्त होता है अर्थात् यह पुष्टिकारक पदार्थों से युक्त होता है। महर्षि यहाँ पशु को 'पूषा' कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि विभिन्न मरुद् व छन्द रश्मियों से युक्त सूर्य्यरूपी इन्द्र करम्भ अर्थात् ऐसे विकिरण, जो विभिन्न संयोग तथा वियोग कराने में सक्षम होकर सबको मथकर सृजन कर्मों में सहायक होते हैं तथा वे स्वयं अन्नरूप अर्थात् संयोज्य गुणधर्मी होते हैं, का भक्षण करता है। सूर्य्यादि लोकों में विभिन्न छन्दों व मरुत् रूपी रश्मियों का सतत भक्षण होता रहता है। यहाँ 'पशु' शब्द का अर्थ द्रष्टव्य पदार्थ भी होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूर्यरूप इन्द्र में विभिन्न दृष्टव्य कणों का भी भण्डार होता है।

तृतीय इन्द्र सरस्वतीवान् अर्थात् वाक् तत्त्व रूप विभिन्न मरुद् वा छन्द रश्मियों का भण्डार होता है, वह महाबलिष्ठ वायु होता है। यह महाबलिष्ठ वायुरूप इन्द्र भारतीवान् अर्थात् सबके धारक प्राणतत्त्व से युक्त परिवाप अर्थात् आकाशतत्त्व का भक्षण करता है अर्थात् आकाशस्थ प्राणतत्त्व का सतत भक्षण करके बलवान् बना रहता है। यह प्राण तत्त्व अन्य सभी कारणाख्य प्राथमिक प्राणतत्त्वों के साथ मिलकर द्यु अर्थात् आकाश तत्त्व के साथ संगत रहता है। इसके साथ यह भी आशय है कि महाबलिष्ठ वायु आकाश तत्त्व एवं उसमें भरे प्राणतत्त्व को पूर्णतः ढाँप लेता है, मानो वे वायु में ही समा जाते हैं किंवा वायु उनमें समा जाता है। 'परिवाप' को अन्न बताते हुए महर्षि ने यहां कहा है - "परिवाप इन्द्रस्यापूप इत्यन्नमेव परिवापः"। इसी कारण हमने आकाश तत्त्व वा इसमें व्याप्त प्राणतत्त्व को भक्ष्य कहा है।

चतुर्थ इन्द्र का भक्ष्य अपूप कहा है। इसका तात्पर्य है कि यह इन्द्र इन्द्रियों का भक्षण करता है। यहाँ 'इन्द्रिय' का तात्पर्य है धन अर्थात् वस्तुमात्र किंवा प्राण तत्त्व। इसी कारण कहा है- "इन्द्रियमिति धननाम" (निघं.२.१०) तथा "प्राणा इन्द्रियाणि" (तां.२.१४.२)। यहाँ 'इन्द्र' का अर्थ विद्युत् है। यह विद्युत् तत्त्व सभी प्राणों का भक्षण करके बलशाली होती है। यह विद्युत् सृष्टि के सभी पदार्थों को भी अपने में ढांप लेती है। सभी पदार्थ किसी न किसी रूप में इससे युक्त होते हैं। उधर 'इन्द्रियं त्रिष्टुप्' (तै.सं.२.५.१०.४) से यह संकेत मिलता है कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को विद्युत् तत्त्व सदैव अवशोषित करता रहता है। यहाँ महर्षि 'इन्द्रिय' को 'अपूप' कहते हैं। 'अपूपः' पद नञ्पूर्वक 'पूयी विशरणे दुर्गन्धे च' धातु से 'प' प्रत्यय होकर बना है, ऐसा वामन आप्टे का मत है। इससे स्पष्ट होता है कि विद्युत् रूपी इन्द्र तत्त्व ऐसे पदार्थों का ही भक्षण करता है, जो टूटते नहीं है अर्थात् अखण्ड होते हैं। प्राणादि तत्त्व भी अखण्ड ही होते हैं। इस कारण ये अपूप कहलाते हैं।

यहाँ पंक्ति शब्द से विदित होता है कि यह इन्द्र तत्त्व पांच प्रकार के हैं और उनके अन्न वा हवि भी पांच प्रकार के होंगे। अब तक हमने यहाँ चार प्रकार के इन्द्र तत्त्व तथा उनके भक्ष्यों का वर्णन किया है। इन कण्डिकाओं में भी चार प्रकार के इन्द्रतत्त्व का ही वर्णन प्रतीत हो रहा है, फिर पंक्ति शब्द से संगति कैसे बैठ सकेगी? यहाँ आचार्य सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण को उद्धृत करके 'मित्रावरुणी पयस्यया' (तै.ब्रा.१.५.११.२) से पांचवीं हवि पयस्या बतायी है। हम आचार्य सायण के मत से सहमत नहीं हैं कि प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण अपने अनुवर्ती किसी ग्रन्थ के लिए कोई बात पूर्ति हेतु छोड़ दे। उधर तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस उद्धरण "तदश्विनौ धानाभिरभिषिज्यताम् पूषा करम्भेण, भारती परिवापेण, मित्रावरुणी पयस्यया" में कहीं भी इन्द्रतत्त्व का नाम नहीं है। अन्य भी बहुत भेद है। हाँ, हमें 'भारती परिवापेण' से यह संकेत अवश्य मिलता है कि उपर्युक्त प्रथम कण्डिका में 'भारतीवान्' पद को 'परिवापः' का विशेषण न मान कर 'सरस्वतीवान्' तथा 'भारतीवान्' दोनों को पृथक्-२ इन्द्र माना जाए तथा दोनों का भक्ष्य (हवि) परिवाप माना जाए। तब तृतीय इन्द्र तो सरस्वतीवान् ही होगा और पांचवां इन्द्र 'भारतीवान्' अर्थात् विद्युत् युक्त अग्नि (ऊष्मा) होगा। यह ऊष्मायुक्त विद्युत् तत्त्व भी 'परिवाप' अर्थात् आकाशस्थ प्राणों का भक्षण करता है।

इस प्रकार यहाँ पांच प्रकार के इन्द्र तत्त्वों की यथार्थ संगति लग जाती है। विकल्प से उपर्युक्तानुसार 'भारतीवान्' को परिवाप का विशेषण मानकर चार प्रकार के इन्द्र भी मान सकते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने चार तत्त्वों का ही वर्णन उपर्युक्त उद्धरण में किया है।।+।।+।।+।।+।।

इस प्रकार की विभिन्न परिस्थितियां उत्पन्न होने पर उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के इन्द्र तत्त्व अर्थात् प्राण, सूर्य, वायु, विद्युत् तथा ऊष्मायुक्त विद्युत् सभी अपने-२ भक्ष्य पदार्थों के साथ संयुक्त हो जाते

हैं, उस समय वे भक्षित पदार्थ इन अपने-२ भक्षक पदार्थों के साथ संयुक्त होकर उनकी नितान्त समीपता प्राप्त कर लेते हैं। उनमें मिलकर उन्हीं का रूप भी धारण का लेते हैं तथा उन्हीं के लोक अर्थात् स्थान को प्राप्त करके उनके साथ-२ संयुक्त होकर गमन करते रहते हैं। वे उनसे पृथक् नहीं होते। इससे सृष्टि प्रक्रिया सतत श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होती रहती है। इधर इस सृष्टियज्ञ के होता मन व वाक् तत्त्व भी इन इन्द्र नामक पदार्थों से सदैव संयुक्त रहते हैं, जिसके कारण समस्त सर्गयज्ञ निरन्तर अग्रसर होता रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में विभिन्न पांच प्रकार के पदार्थ पृथक्-२ पांच प्रकार के शक्तिशाली पदार्थों के साथ संयुक्त होकर किंवा उनके द्वारा अवशोषित होकर सृष्टि प्रक्रिया को समृद्ध करते हैं। ये पांच प्रकार के युग्म निम्नानुसार हैं-
(१) प्राण तत्त्व- मन वा वाक् रश्मियों के साथ युक्त होकर बलवान् एवं क्रियावान् होते हैं। ये प्राण तत्त्व प्राण तत्त्वों का ही भक्षण करते हैं। ये प्राण तत्त्व आकर्षक, संधिकारक एवं भेदक दोनों प्रकार के गुणों से युक्त होते हैं।
(२) सूर्यादि लोक- इसमें विभिन्न छन्द और मरुद् रश्मियां व्याप्त होती हैं और इन्हीं के भक्षण से सूर्यादि लोकों का जीवन चलता रहता है। ये लोक द्रष्टव्य पदार्थों के भी भंडार होते हैं और इन्हीं पदार्थों के मंथन के फलस्वरूप उत्पन्न ऊर्जा से ये सतत प्रकाशित होते रहते हैं।
(३) वायु- विभिन्न छन्द रश्मियों का संघात रूप वायु, आकाश तत्त्व एवं आकाश तत्त्व में स्थित विभिन्न प्राण तत्त्वों को अवशोषित करके किंवा उनके साथ संगत होकर महाबलवान् होता हुआ सर्वत्र विचरता है।
(४) विद्युत्- यह विभिन्न प्राणों को अवशोषित करके सम्पूर्ण द्रव्यमात्र में व्याप्त रहता है। छन्द रश्मियों में से त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां विशेष रूप से विद्युत् तत्त्व को बलवान् बनाती हैं। यह विद्युत् तत्त्व सभी अखण्ड कणों के भीतर व्याप्त रहता है।
(५) विद्युत् युक्त वह्नि- यह भी आकाशस्थ प्राणों का ही भक्षण करके सदैव संतप्त रहता है।

ये पांचों प्रकार के पदार्थ जब पृथक्-२ पांच पदार्थों को अवशोषित कर लेते हैं, उस समय वे अवशोषित पदार्थ अपने अवशोषक पदार्थों के साथ अति निकटता से संयुक्त होकर उन्हीं का रूप और स्थान धारण कर लेते हैं। उधर मन और वाक् तत्त्व आदि सभी प्रकार के पदार्थों से संयुक्त होकर सृष्टि प्रक्रिया को समृद्ध करते हैं।।

५. हविरग्ने वीहित्यनुसवनं पुरोळाशः स्विष्टकृतो यजति।।
अवत्सारो वा एतेनाग्नेः प्रियं धामोपागच्छत् स परमं लोकमजयत्।।
उपाग्नेः प्रियं धाम गच्छति, जयति परमं लोकं, य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेतया हविष्पङ्क्त्या यजते यजतीति च, यजतीति च।।६।।

{स्विष्टकृत् = अग्निर्हि स्विष्टकृत् (श.१.५.३.२३), वाङ्प्राणः स्विष्टकृत् (श.११.१.६.३०)। अवत्सारः = योऽवतो रक्षकान् सरति प्राप्नोति सः (तु.म.द.ऋ.भा.५.४४.१०)}

व्याख्यानम्- "हविरग्ने वीहि" इस याजुषी गायत्री छन्द रश्मि के द्वारा पूर्वोक्त तीनों सवनों किंवा पांचों सवनों अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया के विभिन्न चरणों में जब-२ भी पूर्वोक्त 'पुरोडाश' रश्मियों की उत्पत्ति होती है, तब-२ वे रश्मियां इस याजुषी गायत्री छन्द रश्मि के सहयोग से ही वाग् एवं प्राण तत्त्व किंवा आधारभूत मन एवं वाक् तत्त्व के साथ संगत होती हैं और इससे संगत होकर वे निरन्तर रहने वाली गतियों को और भी समृद्ध करती हैं। ध्यातव्य है कि जहाँ किसी विशेष छन्द का वर्णन न हो वहाँ वाक् तत्त्व से एकाक्षरा छन्द रश्मि अर्थात् दैवी गायत्री छन्द रश्मि का ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकरण में 'पुरोडाश' शब्द का अर्थ इस खण्ड में वर्णित पांच प्रकार हवियों अर्थात् विभिन्न प्रकार के प्राण रश्मियों के रूप में भी ग्राह्य है। इन हवियों के भक्षण के समय उपर्युक्त याजुषी गायत्री छन्द रश्मि

विशेष सहायक होती है। यहाँ वीहि+इति+अनुसवनम् = वीहीत्यनुसवनम् होना चाहिए परन्तु यहाँ सन्धि होने पर भी इकार को दीर्घत्व नहीं हुआ है। यह छान्दस प्रयोग प्रतीत होता है।।

उपर्युक्त याजुषी गायत्री छन्द रश्मि के साथ संगत पांचों प्रकार की हवि रूप विभिन्न रश्मियों के द्वारा अर्थात् उन रश्मियों के अवशोषक पांचों पदार्थों के द्वारा उन रश्मियों के अवशोषण की क्रिया के फलस्वरूप अवत्सार रूप सूक्ष्म प्राण अग्नि तत्त्व के प्रिय धाम को प्राप्त होता है। {धाम = अङ्गानि वै धामानि - (काण्वीय शतपथ ब्रा.४.३.४.११)} और ऐसा करके वह परमलोक को भी प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अवत्सार नाम का सूक्ष्म प्राण अग्नि तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों में इन पांच प्रकार की पदार्थ रश्मियों के सहयोग से अर्थात् उनके साथ संगत होकर विचरता है और अन्त में तारों के निर्माण के समय उनके केन्द्रीय भागों में भी व्याप्त हो जाता है। यहाँ **अवत्सार वह सूक्ष्म प्राण है, जो सतत विचरण करता हुआ विभिन्न रक्षक प्राणों में प्रधान होता है। हमारे मत में यह प्राण सूत्रात्मा वायु ही हो सकता है।** यजुर्वेद ५.८ में अग्नि अर्थात् विद्युत् का धाम बतलाते हुए इसको "गह्वरेष्ठा" कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि विद्युत् तत्त्व सूक्ष्मतम कणों के आभ्यान्तर भाग तक व्याप्त होता है। इस कारण सूत्रात्मा वायु भी वहाँ तक व्याप्त रहता है।।

जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है, तब उपर्युक्त पांचों प्रकार की हवि रूप रश्मियां उपर्युक्त याजुषी गायत्री छन्द रश्मि के साथ संगत होकर होता रूप विभिन्न ऋषि प्राण, मन और वाक् तत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्युदग्नि को उत्पन्न और व्याप्त कर देती हैं और इसी अग्नि के द्वारा विभिन्न तारों के केन्द्रीय भाग उन तारों को नियन्त्रित करते हैं और सभी तारे परस्पर एक-दूसरे के नियन्त्रण में रहते हैं। इस प्रकार सूत्रात्मा वायु रूप प्राण अन्य प्राण रश्मियों के साथ संगत होकर विभिन्न प्रकार की तीव्र वा मन्द क्रियाओं के चलते हुए भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक सूत्र में बांधे रखता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त पांचों पदार्थों के द्वारा पृथक्-२ रश्मियों के अवशोषण कार्य में एक याजुषी गायत्री छन्द रश्मि सहायक होती है। इन सब प्रक्रियाओं में सूत्रात्मा वायु रूप सूक्ष्म रश्मि सबके भीतर व्याप्त होकर उनकी रक्षा करती है। यह सूत्रात्मा वायु सूक्ष्मतम कणों के आभ्यान्तर भाग से लेकर विशाल तारों के केन्द्रीय भाग तक व्याप्त रहकर सम्पूर्ण सृष्टि को बांधे रखता है। इस ब्रह्माण्ड में असंख्य क्रियाएं अति मन्द गति से होती हैं, तो कहीं ऊर्जा तरंगें अति तीव्र गति से सतत विचरण करती हैं। कहीं सुपर नोवा आदि भयंकर विस्फोट होते हैं, तो कहीं अनेक जैविक और रासायनिक क्रियाएं भी होती हैं परन्तु फिर भी यह ब्रह्माण्ड एक ही रहकर बंधा रहता है। इसका कारण सूत्रात्मा वायु प्राण ही है।।

ॐ इति ८.६ समाप्तः ॐ

ॐ इति अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॐ

नवमोऽध्यायः

Quarks
Gluons
नाभिक के बाहर प्राण रश्मियां अपनी सामंजस्यता एवं संगति खो देती हैं।
नाभिक के अन्दर प्राण रश्मियों की संगति बनी रहती है तथा Gluons का निर्माण होता रहता है।
Nucleus
प्राण क्षेत्र

।। ओ३म् ।।
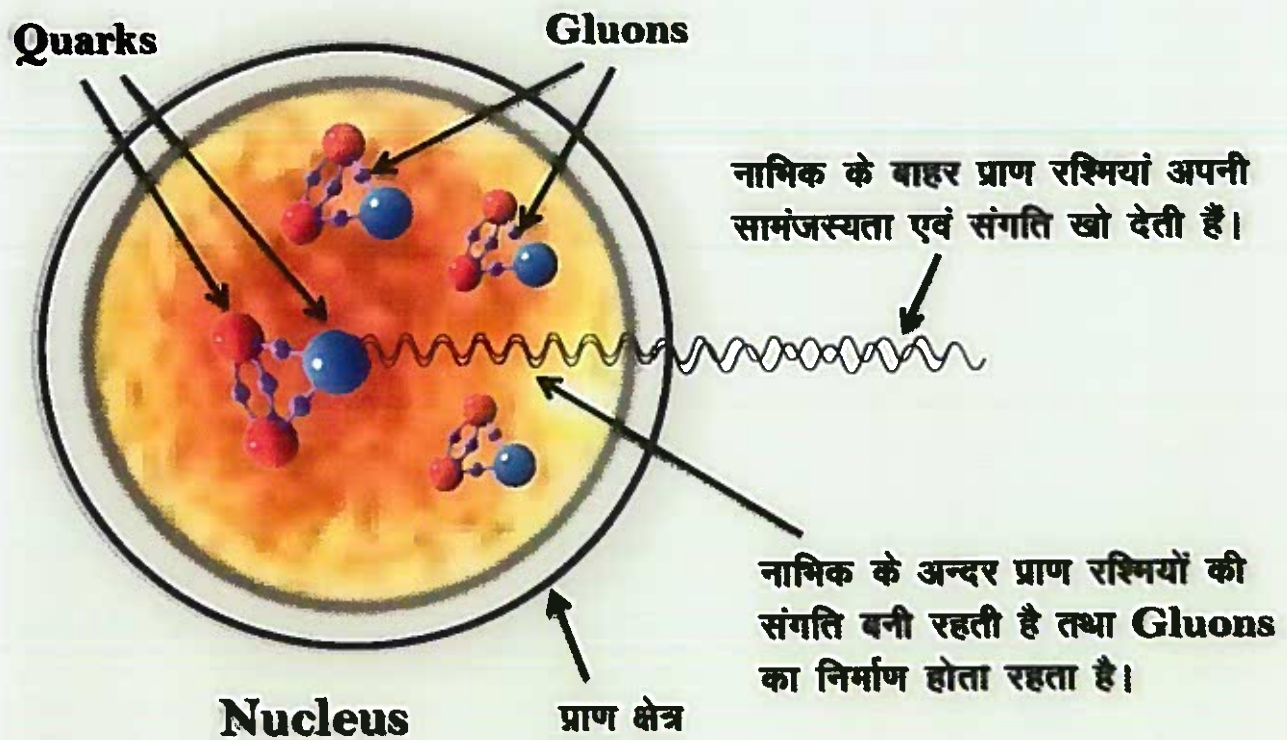
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

अनुक्रमणिका

९.१ सोमपान के लिये देवों में प्रतिस्पर्धा, धनञ्जय वायु तीव्रतमगामी, उसके पश्चात् क्रमशः इन्द्र, मित्रावरुण और अश्विनी, ब्रह्माण्ड में सर्वाधिक गतिशील धनञ्जय प्राण, उसके द्वारा प्रकाश आदि तरंगों को वहन करना। देवों की गति की प्रतिस्पर्धा इन्द्र और धनञ्जय की गति का अनुपात, क्वाण्टा के परितः सूत्रात्मा वायु के प्रभाव का क्षेत्र। इन्द्र के बल में वायु का योगदान, ऋणावेशित और धनावेशित कणों के मध्य आकर्षण बल का गम्भीर विज्ञान। 487

९.२ द्विदेवत्या प्राण तत्त्व, ऐन्द्रवायव-मैत्रावरुण-आश्विन (वाक्-प्राण, चक्षु-मन, श्रोत्र- आत्मा), सृष्टि में विभिन्न प्रकार के बलों की उत्पादक विभिन्न प्रकार की रश्मियां, आश्विन बल ही गुरुत्व बल। धनावेशित व ऋणावेशित कणों के मध्य आकर्षण बल का गूढ विज्ञान एवं वेक्यूम एनर्जी का स्वरूप। 493

९.३ द्विदेवत्या, प्राण-एकपात्रा-द्विपात्रा, आवेशित कणों के मध्य आकर्षण व प्रतिकर्षण का गम्भीर विज्ञान। पुरुवसु-तनुपावान-तपोजा, पूर्वोक्त बल एवं फील्ड पार्टीकल्स का सूक्ष्म विज्ञान। वसुर्विद-चक्षुष्पा-मैत्रावरुण, प्राणापान आदि के मध्य कार्यरत सूक्ष्म बलों का विज्ञान, इस कार्य में व्यान रूपी मीडिएटर एवं मन तथा छन्दों की भूमिका। संयद्वसु-श्रोत्रपा-आश्विन, गुरुत्व बल एवं ग्रेविटॉन कण का सूक्ष्म विज्ञान, इलेक्ट्रान और फोटोन्स के मध्य कार्यरत बल, गुरुत्व+विद्युत् चुम्बकीय बल, ऐन्द्रावयव-मैत्रावरुण-आश्विन-मनुष्य-पशु, उपर्युक्त तीनों बलों का सूक्ष्म विज्ञान। ग्रेवीटान का स्वरूप, गुरुत्व बल की दुर्बलता का कारण। 497

९.४ वषट्कार-द्विदेवत्या, पूर्वोक्त बलों का सूक्ष्म विज्ञान, नाभिकीय बलों की प्रबलता का कारण। मैत्रावरुण-वज्र-आशु, विद्युत् चुम्बकीय बलों के मध्य प्राणापानोदानव्यान एवं गायत्री व त्रिष्टुप् रश्मियों की भूमिका। मन-मैत्रावरुण-वाक्-होता, उपर्युक्त बलों में मनस् तत्त्व की भूमिका, असुर तत्त्व के सूक्ष्मतम स्वरूप ही उत्पत्ति। 509

९.५	प्राणा-ऋतुयाजा, प्राणापानव्यान की सूक्ष्म वाग् रश्मियों से उत्पत्ति, एकाक्षरा वाक् का ऋतुरूप होना, इन रश्मियों के मध्य किसी भी वाधा का होना असम्भव, **'ओम्'** रश्मि की सर्व व्यापकता।	514
९.६	प्राणा-द्विदेवत्या-पशु-इडा-होतृचमस, विद्युदावेशित कणों के मध्य उत्पन्न फील्ड पार्टिकल्स के संचरण में प्राणादि एवं मरुद् रश्मियों का क्रिया विज्ञान। सोमपीथ-आत्मा-होतृचमस, विद्युदावेशित कणों के मध्य कार्यरत पूर्वोक्त वल का विज्ञान।	518
९.७	देवों और असुरों का यज्ञ, तूष्णीशंस, प्राणापान आदि का एकाक्षरा वाग् रश्मियों से संयोग, सूक्ष्मतम असुर तत्त्व की वाधा का उनके द्वारा निवारण। देव-असुर-वज्र-तूष्णींशंस-पाप्मा-भ्रातृव्य, **'ओम्'** रश्मि के विना असुर तत्त्व निवारण संभव नहीं। देवों के यज्ञ में असुरों की वाधा, मध्यम स्तरीय तूष्णीशंस से असुर तत्त्व निवारण। वज्र रश्मियों में प्राणापान आदि की अनिवार्यता।	520
९.८	चक्षु-सवन-मध्यम तूष्णीशंस-इन्द्र-स्वर्गलोक, प्राथमिक प्राणों एवं छन्द रश्मियों के संयोग से विभिन्न रंगों की उत्पत्ति एवं तूष्णीशंस द्वारा असुर निवारण, वज्र द्वारा असुर निवारण का क्रिया विज्ञान।	525

अथ ९.१ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. देवा वै सोमस्य राज्ञोऽग्रपेये न समपादयन्नहं प्रथमः पिबेयमहं प्रथमः पिबेयमित्येवाकामयन्त, ते संपादयन्तोऽब्रुवन् हन्ताऽऽजिमयाम स यो न उज्जेष्यति स प्रथमः सोमस्य पास्यतीति, तथेति त आजिमयुस्तेषामाजिं यतामभिसृष्टानां वायुर्मुखं प्रथमः प्रत्यपद्यताथेन्द्रोऽथ मित्रावरुणावथाश्विनौ।।

व्याख्यानम्- {समपादयन् = (सम्+पद् = करार या वादा करना - आप्टे कोष)} यहाँ महर्षि अपनी विशेष शैली में लिखते हैं कि विभिन्न देवों में इस बात के लिए स्पर्धा हुई कि तेजस्वी सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों को कौनसा देव सबसे पहले अवशोषित करेगा? इस विषय में वे सब एक मत नहीं हो सके, क्योंकि सभी देव मरुद् रश्मियों को सर्वप्रथम अवशोषित करने की इच्छा कर रहे थे। अन्त में उनमें एक समझौता हुआ कि जो सबसे अधिक गतिमान् होगा, वही सर्वप्रथम सोम रश्मियों को अवशोषित करेगा। यह मात्र समझाने की शैली है, जिससे महर्षि यह बतलाना चाहते हैं कि कौनसा देव सर्वाधिक गतिशील होता है और किस देव पदार्थ की नियन्त्रक क्षमता सबसे अधिक होती है। यहाँ महर्षि कहते हैं कि सबसे तीव्रगामी वायु, उससे न्यूनतर गतिवाला इन्द्र, उससे न्यूनतर मित्रावरुण और न्यूनतम गति अश्विनौ की होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- समस्त सृष्टि में सबसे अधिक गति धनञ्जय नामक सूक्ष्म प्राण की होती है। ये रश्मियां ही सभी विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को वहन करके ले जाती हैं। इनके पश्चात् न्यूनतर गति विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की ही होती है वर्तमान विज्ञान इनकी गति को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थों में सबसे अधिक मानता है, जो निर्वात में ३ लाख कि.मी. प्रति सेकण्ड मानी जाती है। सर अल्बर्ट आइन्स्टीन के सापेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार इससे अधिक गति किसी भी पदार्थ की सम्भव नहीं है। **हमारे मत में कोई भी कण भले ही इससे अधिक गति प्राप्त न कर सके परन्तु इन दोनों से सूक्ष्म धनंजय प्राण तत्त्व इससे अधिक गति युक्त होता है। ये धनंजय प्राण जब इलेक्ट्रॉन आदि सूक्ष्म कणों अथवा क्वाण्टाज् को अपने साथ लेकर गति करते हैं, तब वे उन कणों अथवा क्वाण्टाज् की अपेक्षा उसी प्रकार अधिक गतिशील होते हैं, जिस प्रकार धूलकणों अथवा तिनकों को उड़ाकर ले जाने वाली हवा उन धूल कणों अथवा तिनकों से अधिक गतिशील होती है।** वर्त्तमान विज्ञान किसी भी तकनीक से धनंजय आदि प्राणों को नहीं देख सकता है। इस कारण उसकी गति का कोई भी बोध वर्तमान विज्ञान से होना संभव नहीं है। हमारी दृष्टि में विद्युत् चुम्बकीय बल, गुरुत्वबल एवं प्रबल नाभिकीय बल में, इनमें भी विशेषकर विद्युत् चुम्बकीय बल तथा प्रबल नाभिकीय बल में धनावेशित कणों में से जो धनंजय प्राण रश्मियाँ उत्सर्जित होती हैं, उनकी गति विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा वर्त्तमान विज्ञान द्वारा कल्पित मीडीएटर फोटोन्स अथवा ग्लूऑन की अपेक्षा अधिक होती है। इन बलों के विषय में विशेष परिज्ञान के लिये खण्ड १.२ देखें। सम्भव है कि ग्लूऑन्स एवं मिडीएटर अथवा वर्चुअल फोटोन्स की गति विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के बराबर हो। तीसरी तीव्र गति, जो उपर्युक्त दोनों गतियों से कुछ न्यून होती है, वह प्राणापान अथवा प्राणोदान की गति होती है। ये सूक्ष्म प्राण युग्म विभिन्न कणों वा क्वान्टाज् के साथ संयुक्त रहते हुए उनमें बाहर और भीतर सतत चक्र के रूप में प्रवाहित होते रहते हैं। इनकी गति उन कणों वा क्वान्टाज् की गति को विशेष प्रभावित नहीं करती है, बल्कि वे उन कणों वा क्वान्टाज् को बल और तेज प्रदान करते रहते हैं। इनकी गति सभी प्रकार के कणों की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। इसके पश्चात् सभी प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थ के कणों की गति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्त्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित डार्क मैटर तथा इलेक्ट्रॉन आदि प्रकाशित कणों की गति इनमें से सबसे

कम होती है।।

२. सोऽवेदिन्द्रो वायुमुद्वै जयतीति तमनु परापतत् सह नावथोज्जयावेति स नेत्यब्रवीदहमेवोज्जेष्यामीति तृतीयं मेऽथोज्जयावेति नेति हैवाब्रवीदहमेवोज्जेष्यामीति तुरीयं मेऽथोज्जयावेति, तथेति तं तुरीयेऽत्यार्जत, तत्तुरीयभागिन्द्रोऽभवत् त्रिभाग्वायुः।।

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण के भाष्य के भावों को स्वीकार करते हुए डॉ.सुधाकर मालवीय इसका हिन्दी अनुवाद करते हुए लिखते हैं- ''इन्द्र यह सोचकर कि 'मैं वायु से आगे पहुँचूँ' {ऐसा दौड़े कि} वायु के पास ही गिर पड़े। तब इन्द्र ने कहा- 'क्योंकि हम दोनों जीते हैं, अतः हम दोनों साथ-२ {आधा-२ करके सोम} पान करें।' उस {वायु} ने कहा- 'नहीं, मैं ही जीता हूँ।' इन्द्र ने कहा- {अच्छा, आधा न हो तो} तृतीय भाग मुझे मिले, क्योंकि हम दोनों जीते हैं। वायु ने पुनः कहा- 'नहीं, मैं ही जीता हूँ।' तब इन्द्र ने कहा- 'चौथाई भाग मुझे मिले, क्योंकि हम दोनों जीते हैं।' वायु ने कहा- 'ठीक है', और उसको चौथाई भाग देना स्वीकार कर लिया। इसीलिए इन्द्र चौथाई भाग के भागीदार हुए और वायु तीन भाग के।'' इस संवाद का आशय मात्र पूर्व कण्डिका के भाव को और भी अधिक स्पष्ट करना है। हमारे मत में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की अपेक्षा धनंजय के साथ सूत्रात्मा वायु किसी भी कण वा क्वाण्टा को अधिक व्याप्त करता है। इन्द्र को चौथाई भाग मिलने के दो आशय हैं-

(१) धनंजय वा सूत्रात्मा वायु जब किसी कण को व्याप्त करता है, तो उसकी व्याप्ति किसी क्वाण्टा के द्वारा किसी कण को व्याप्त किये गए क्षेत्र की अपेक्षा चार गुनी होती है।

(२) धनंजय वायु की गति विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति से चार गुनी होती है। ध्यातव्य है कि फील्ड पार्टीकल्स की गति धनंजय प्राण की गति नहीं है। यहाँ चार संख्या विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है। यहाँ इन्द्र के भाग को १/२ एवं १/३ नकार कर चौथाई (१/४) भाग ही स्वीकार करने का आशय यही है कि यह अनुपात १:४ ही है, इससे अधिक वा न्यून नहीं। यहाँ महर्षि का तात्पर्य केवल अधिकता दर्शाना नहीं, बल्कि स्पष्ट अनुपात बताना है। यहाँ इन्द्र के वायु के साथ दौड़ने और वायु के पास गिर जाने का तात्पर्य यह है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, जब धनंजय प्राण द्वारा ढोकर ले जाई जाती हैं, तब धनंजय की गति उन तरंगों से अधिक होने के कारण वे तरंगें धनंजय रश्मियों के साथ ऐसे चलती हैं, मानो वे धनंजय के द्वारा बलात् खींचकर ले जाई जा रही हों।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किसी कण से किसी क्वाण्टा का संयोग होता है, तब उस क्वाण्टा की ऊर्जा उस सम्पूर्ण कण के अन्दर व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार उसकी व्याप्ति उस कण की सीमा तक होती है परन्तु जब वह कण सूत्रात्मा वायु से घिरा होता है, तब उस सूत्रात्मा वायु की व्याप्ति एक भाग उस कण की सीमा के अन्दर और तीन भाग उस कण की परिधि के चारों ओर होती है। इस प्रकार सूत्रात्मा वायु की व्याप्ति क्वाण्टा की व्याप्ति से चार गुनी होती है। **उधर धनंजय प्राण की गति विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति की अपेक्षा चार गुनी अर्थात् लगभग १२ लाख कि.मी. प्रति सेकण्ड होती**
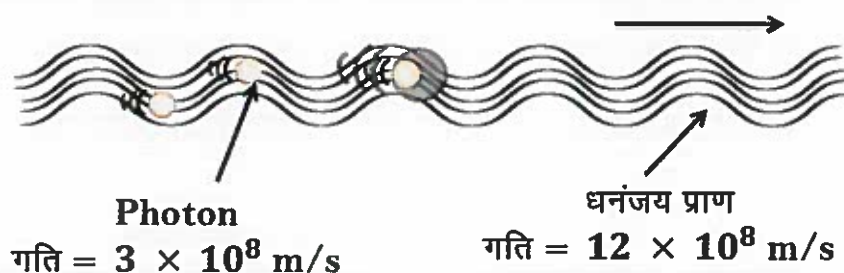
चित्र ९.१

Photon युक्त कण
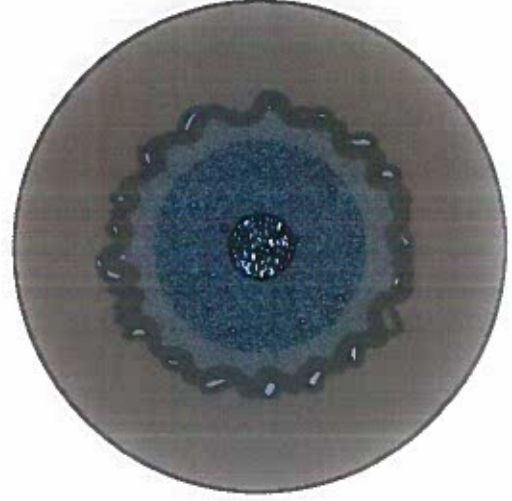
सूत्रात्मा वायु के एक भाग की
कण की सीमा के अन्दर व्याप्ति

चित्र ६.२

है। यहाँ व्याप्ति की दृष्टि से विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ तुलना करने पर सूत्रात्मा वायु का ग्रहण करना चाहिए और गति की तुलना करने पर धनंजय प्राण का ग्रहण करना चाहिए। सम्भव है कि सूत्रात्मा वायु की गति भी धनंजय प्राण के समान हो, परन्तु इसकी सम्भावना कम प्रतीत होती है। अति **तीव्रगामी धनंजय रश्मियों के साथ उनसे कम तीव्रगामी विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उनके पीछे-२ मानो घसीटती हुई चलती रहती हैं।।**

३. तौ सहैवेन्द्रवायू उदजयतां सह मित्रावरुणौ सहाश्विनौ, त एषामेते यथोज्जितं भक्षा इन्द्रवाय्वोः प्रथमोऽथ मित्रावरुणयोरथाश्विनोः।।
स एष इन्द्रतुरीयो ग्रहो गृह्यते यदैन्द्रवायवः।।
तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनूवाच 'नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः' इति।।
तस्माद्धाप्येतर्हि भरताः सत्वनां वित्तिं प्रयन्ति तुरीये हैव संग्रहीतारो वदन्तेऽमुनैवानूकाशेन यदद इन्द्रः सारथिरिव भूत्वोदजयत्।।१।।

{ऐन्द्रवायवः = वाक् च प्राणश्चैन्द्रवायवः (ऐ.२.२६), गायत्रो वा ऐन्द्रवायवः (तै.सं.७.२.८.१)। भक्षः = प्राणो वै भक्षः (श.४.२.१.२६), सेवनीय (म.द.य.भा.८.१२)। सत्वम् = प्राप्तं पदार्थम् (तु.म.द.य.भा.१६.२०), बल - सामर्थ्य (वामन आप्टे कोष), प्रकाशशीलं सत्वम् (योगदर्शन २.१८)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं इन्द्र तत्त्व आदि पदार्थ धनंजय प्राण के द्वारा वहन किये जाने के कारण उनके साथ-२ सोम तत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं किंवा सोम प्रधान पदार्थों को अपने नियन्त्रण में ले लेते हैं। उसके पश्चात् क्रमशः मित्रावरुण और अश्विनौ नामक पदार्थ भी सोम तत्त्व को प्राप्त करने में सफल होते हैं।।

वायु की अपेक्षा इन्द्र का जो चौथाई वल है, वह भी वस्तुतः इन्द्र और वायु दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है। यहाँ 'तुरीय' शब्द का अर्थ चौथाई भाग है। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं-

"यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयम्" (श.४.१.३.१४) यह बल गायत्री छन्द रश्मि रूप वाक् तत्त्व एवं प्राण नामक प्राथमिक प्राण का सम्मिलित रूप होता है, जिसको इन्द्र तत्त्व ग्रहण करता है। यहाँ आचार्य सायण ने तैत्तिरीय संहिता ६.४.७.४ को अपनी पाद टिप्पणी में उद्धृत करते हुए लिखा है- "तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते, तस्मात् सकृदिन्द्राय मध्यतो गृह्यते द्विर्वायवे"। हमारी दृष्टि में संहिताकार का तात्पर्य यह है कि इन्द्र तत्त्व दो कणों के मध्य इधर-उधर कम्पन करता हुआ प्रकट होता है किंवा अपने बल को प्रकट करता है। जिसके कारण उसी स्थान पर वाक् तत्त्व भी इतस्ततः स्पन्दित होते हुए उसे गति देता है, जिसके कारण उस मध्य क्षेत्र में इन्द्र तत्त्व एक साथ दो वायुओं को ग्रहण करता है, जिसमें एक वायु धनंजय प्राण तथा दूसरा गायत्री छन्द रश्मि है। ये दोनों ही इन्द्र के साथ मिलकर ऐन्द्रवायव कहलाते हैं।।

उपर्युक्त कण्डिका में, जो गायत्री छन्द रश्मि की चर्चा की गई है, वह वामदेव ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न इन्द्रवायू-देवताक और गायत्री छन्दस्क

शतेना॑ नो अ॒भिष्टि॑भिर्नि॒युत्वाँ॒ इन्द्र॑सारथिः। वायो॑ सु॒तस्य॑ तृम्पतम्।। (ऋ.४.४६.२)

के "नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः" इस एक पाद रूप गायत्री छन्दवत् प्रभाव वाली रश्मि किंवा याजुषी अनुष्टुप् छन्द रश्मि रूप इस पाद का ग्रहण करना चाहिए। गायत्री रूप होकर यह रश्मि इन्द्र को तेज और बल प्रदान करती है और याजुषी अनुष्टुप् रूप होकर यह इन्द्र तत्त्व को थामने का कार्य करती है किंवा इन्द्र तत्त्व के द्वारा यह विभिन्न कणों को थामने का कार्य करती है। इसलिए महर्षि यास्क अनुष्टुप् शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं - "अनुष्टुबनुष्टोभनात्" (नि.७.१२)। यही कथन दैवत ब्राह्मण ३.७ में भी आया है। इस छन्द रश्मि के अन्य प्रभाव से इन्द्र तत्त्व सूत्रात्मा और धनंजय वायु का सारथि बनकर उसे नियन्त्रण में ले लेता है और उसको अपने साथ जोड़ भी लेता है। महर्षि यास्क 'नियुतः' पद का निर्वचन करते हुए निरुक्त ५.२८ में लिखते हैं - "नियुतो नियमनाद्वा, नियोजनाद्वा"। हमने इसी मत को ग्रहण करके उपर्युक्त व्याख्या की है।।

{भरतः = प्रजापतिर्वै भरतः स हीदं सर्वं बिभर्ति (श.६.८.१.१४), अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति (कौ.ब्रा.३.२), प्राणो भरतः (ऐ.२.२४)। अनूकाशः = अनुप्रकाशः (तु.म.द.य.भा.२५.२)}

यहाँ महर्षि इस सृष्टि के अन्तर्गत विभिन्न कणों के संयोग की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इन्द्र तत्त्व जब सूत्रात्मा वायु को अपने नियन्त्रण में लेकर प्रकाशमान् होता है किंवा वह मरुद् रश्मियों को आकृष्ट करने में समर्थ होता है, उस ऐसी प्रक्रिया के ही कारण विभिन्न संयुक्त कण अपने अवयवभूत कणों का संग्रह करके गतिमान् और प्रकाशमान् होते हैं। इस समय भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्राण तत्त्वों से निर्मित आग्नेय कण बल और तेज को प्राप्त करके सोम प्रधान कणों को आकर्षित करने के लिए प्रकृष्ट रूप से गतिशील रहते हैं। उन दोनों प्रकार के कणों के मध्य जो बल उत्पन्न होता है, वह धनंजय प्राण के बल की अपेक्षा किंवा सूत्रात्मा वायु द्वारा किसी कण को आच्छादित करने वाले बल की अपेक्षा एक चौथाई भाग ही होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ दो आवेशित कणों के मध्य होने वाली आकर्षण प्रक्रिया, जिसको इस ग्रन्थ के खण्ड १.२ में भी दर्शाया गया है, की विशद व्याख्या की गई है। जैसा कि हमें अवगत है कि अग्नि प्रधान कण धनावेशित और सोम प्रधान कण ऋणावेशित होता है। धनावेशित कण से अति तीव्रगामी धनंजय प्राण रश्मियां और ऋणावेशित कण से सूक्ष्म मरुद् रश्मियां उत्सर्जित होकर एक-दूसरे की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। सूत्रात्मा वायु इन दोनों ही प्रकार के कणों को ढके रखता है परन्तु कणों की परिधि में इसकी सघनता अपेक्षाकृत अधिक होती है। **सूत्रात्मा वायु, धनंजय प्राण और मरुद् रश्मियों के मेल से ही फील्ड पार्टीकल्स उत्पन्न होते हैं। इनकी गति विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति के बराबर होती है। इस प्रक्रिया में धनंजय वायु सर्वप्रथम ऋणावेशित कण के पास पहुँचता है, उसके साथ-२ फील्ड पार्टीकल्स भी इस पर आरुढ़ होकर ऋणात्मक कणों की ओर बढ़ते हैं। उसके पश्चात् दोनों आवेशित कण परस्पर निकट आने लगते हैं।** उस स्थिति में दोनों ही कणों के बाहर और भीतर सतत प्रवहमान प्राण और अपान रश्मियां एक-दूसरे के निकट आती हैं। तदुपरान्त सबसे अन्त में वे दोनों

कण परस्पर निकटतम आकर एक-दूसरे से बंध जाते हैं। **इस बल के विषय में एक अति गम्भीर रहस्य यह है कि फील्ड पार्टीकल का प्रभावकारी विद्युत् चुम्बकीय बल अथवा प्रबल नाभिकीय बल अपनी-२ परिस्थितियों में धनंजय प्राण रश्मियों के प्रभावकारी बल के एक चौथाई होते हैं।** जब धनंजय प्राण, मरुद् रश्मियां एवं सूत्रात्मा वायु के मेल से फील्ड पार्टीकल्स की उत्पत्ति होती है तब सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक गायत्री छन्द रश्मि उस फील्ड पार्टीकल को बल और तेज प्रदान करती है और उसको अपने साथ संयुक्त भी कर लेती है और धनंजय प्राण रश्मि उसे गति प्रदान करती है। यह गायत्री छन्द रश्मि अनुष्टुप् छन्द रश्मि के समान ही उस फील्ड पार्टीकल को स्पन्दित करते हुए उसे सूत्रात्मा वायु रश्मि से ऐसे संयुक्त कर देती है मानो वे सूत्रात्मा वायु रश्मियों को अपने साथ नियन्त्रित करते हुए दोनों आवेशित कणों के मध्य स्थित आकाश तत्त्व में स्पन्दित होते हुए उन कणों के मध्य प्रवाहित होते रहते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि में दो कणों के मध्य आकर्षण की यही क्रिया हुआ करती है। इसी प्रकार बने संयुक्त कण इस सृष्टि में सर्वत्र विचरते रहते हैं। इसे निम्न चित्र द्वारा समझने का प्रयास करें।
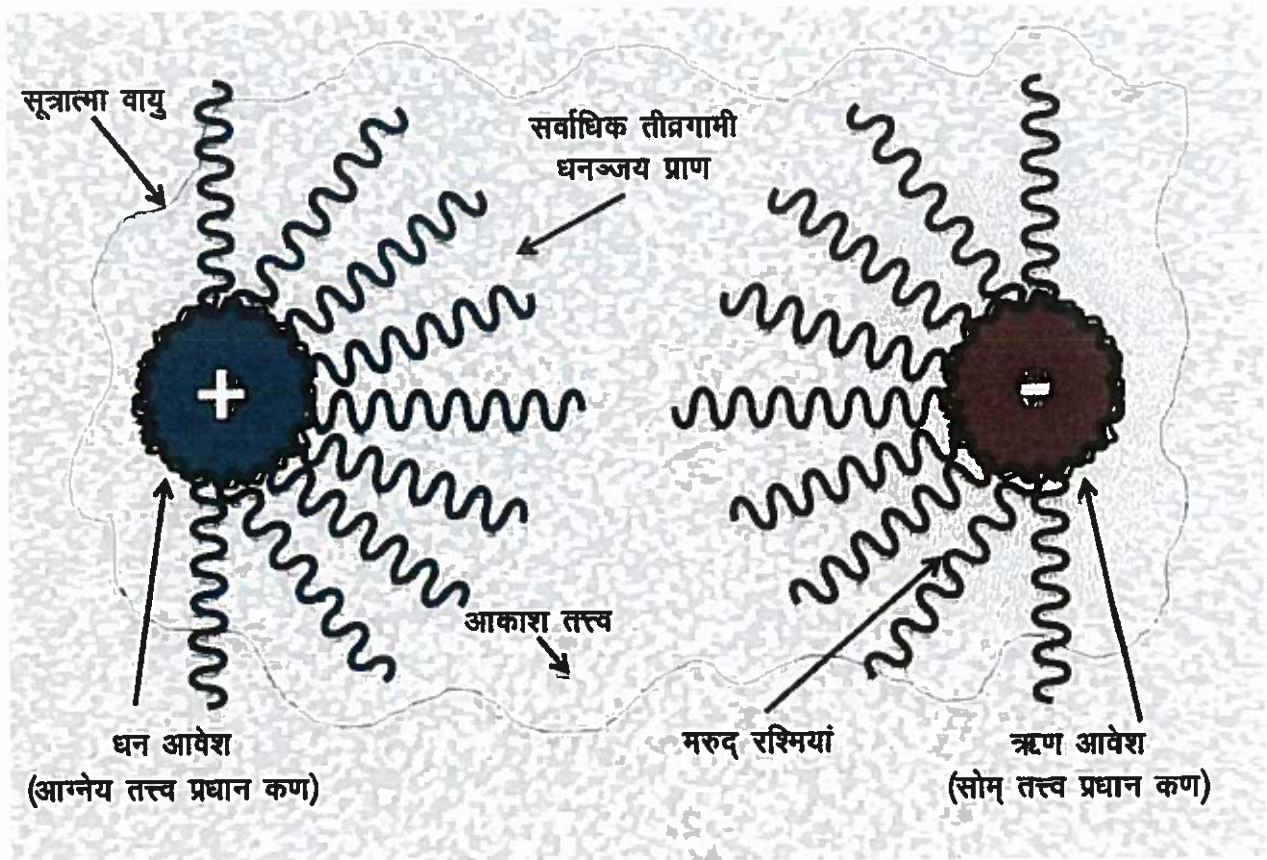
चित्र ९.३ परस्पर दूर स्थित दोनों कण

चित्र ९.४ दोनों कण निकट आते हुए

इति ९.१ समाप्तः
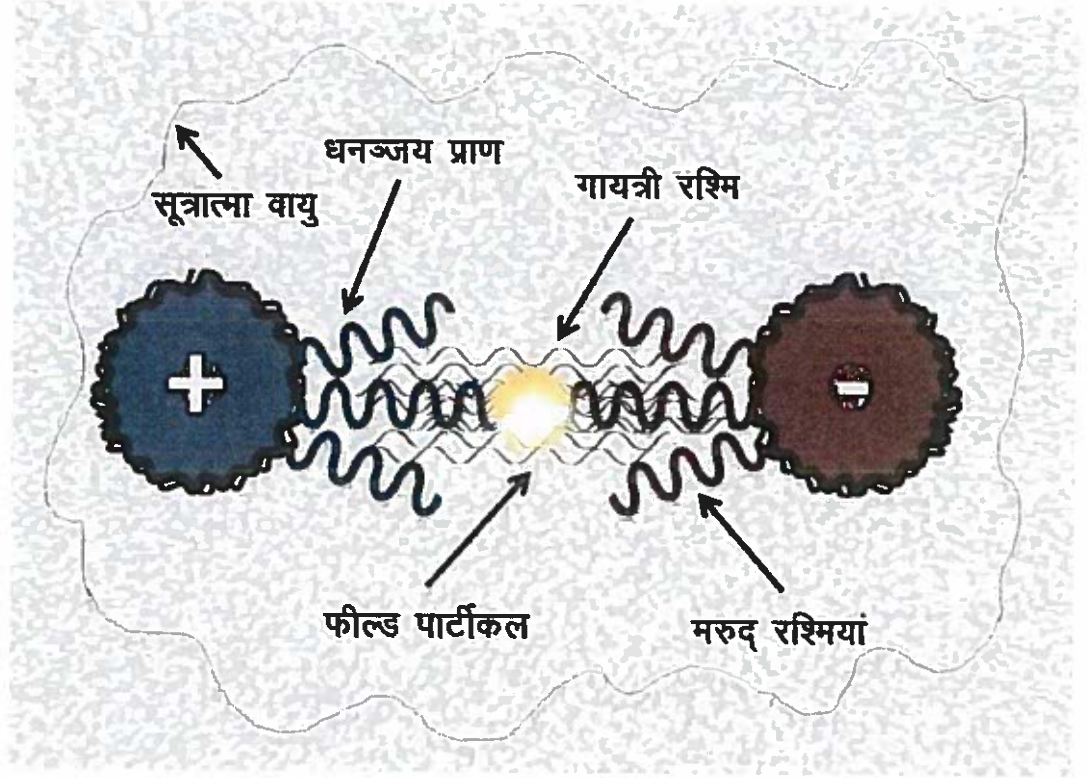
ॐ अथ ९.२ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. ते वा एते प्राणा एव यद्द्विदेवत्याः।।
वाक् च प्राणश्चैन्द्रवायवश्चक्षुश्च मनश्च मैत्रावरुणः श्रोत्रं चाऽऽत्मा चाऽऽश्विनः।।
तस्य हैतस्यैन्द्रवायवस्याप्येकेऽनुष्टुभौ पुरोनुवाक्ये कुर्वन्ति गायत्र्यौ याज्ये।।
वाक् च वा एष प्राणश्च ग्रहो यदैन्द्रवायवस्तदपि च्छदोभ्यां यथायथं कल्प्येते इति।।

{चक्षुः = चक्षुर्वै प्रतिष्ठा (श.१४.८.२.३), यच्चक्षुः स बृहस्पतिः (गो.उ.४.११), चक्षुरध्वर्युः (गो.उ.५.४), चक्षुरुष्णिक् (श.१०.३.१.१), त्रैष्टुभं चक्षुः (तां.२०.१६.५)। श्रोत्रम् = श्रोत्रं पङ्क्तिः (श.१०.३.१.१), श्रोत्रं वा अपां सन्धिः (श.७.५.२.५५), श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः (श.८.१.२.६)। आत्मा = आत्मा वै बृहती (ऐ.६.२८), आत्मा त्रिष्टुप् (श.६.२.१.२४)}

व्याख्यानम्- दो पदार्थों के मध्य जो वल कार्य करते हैं, वे सभी प्राण रूप ही होते हैं। इसका आशय यह है कि इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र जो भी वल कार्य कर रहा है, वह विभिन्न प्रकार के प्राणों के कारण ही कार्य करता है। ये प्राण विभिन्न प्रकार के होने से वल भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। पदार्थों के स्वरूप भेद होने के कारण उनके मध्य कार्यरत प्राण भेद ही हुआ करता है। इस विषय में महर्षि तित्तिर भी इसी मत को व्यक्त करते हुए कहते हैं- "प्राणा वा एते यद् द्विदेवत्याः" (तै.सं.६.४.६.३)।।

यहाँ तीन प्रकार के पदार्थों के युग्म के मध्य कार्य करने वाले प्राणों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इन्द्र और वायु के मध्य कार्यरत आकर्षण वल वाक् तत्त्व तथा प्राण नामक प्राथमिक प्राण के कारण होता है। जिसको हम पिछले खण्ड में विस्तार से पढ़ चुके हैं। यह वाक् तत्त्व पूर्वोक्त गायत्री छन्द रश्मि किंवा याजुषी अनुष्टुप् छन्द ही है। मैत्रावरुण युग्म अर्थात् प्राण और अपान किंवा प्राण और उदान के मध्य कार्य करने वाला वल मनस् तत्त्व रूप सर्वाधिक सूक्ष्म प्राण एवं चक्षु अर्थात् व्यापक रूप से सूक्ष्म कणों से लेकर विशालतम लोक-लोकान्तरों तक की रक्षा करने वाला वृहस्पति रूप सूत्रात्मा वायु का वल कार्य करता है। सूत्रात्मा वायु को चक्षु इस कारण कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक क्रिया के पीछे इसकी ही सूक्ष्म ज्योति कार्य करती है। प्राणापान और प्राणोदान के मध्य कुत्रचित् दैवी त्रिष्टुप् एवं दैवी उष्णिक् प्राणों का वल भी कार्य करता है। अव तीसरे युग्म की चर्चा करते हुए कहते हैं कि आश्विन युग्म अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित कणों के मध्य कार्य करने वाला वल श्रोत्र अर्थात् पंक्ति छन्द रश्मि और आत्मा अर्थात् वृहती एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को आवृत्त किए हुए सूत्रात्मा वायु के कारण उत्पन्न होता है। वृहती प्राण सव कणों एवं लोकों का आवरक प्राण है तथा यह सर्वत्र सवको व्याप्त करते हुए सतत गतिमान् होता है तथा पंक्ति नामक प्राण विभिन्न कणों की प्रक्रियाओं को सतत विस्तृत करता है और इसके लिए विभिन्न कणों के वीच अवकाश की मर्यादा को वनाये रखने में सहायक होता है। यदि दो कणों के वीच अवकाश न हो तो यज्ञ प्रक्रिया सम्भव ही नहीं। इस अवकाश प्रदान की सामर्थ्य से ही इसे श्रोत्र कहा है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि इसमें प्रतिकर्षण वल प्रधान होता है। संसार में प्रतिकर्षण वल के अभाव में अवकाश का अस्तित्त्व रहेगा ही नहीं। महर्षि याज्ञवल्क्य भी मन, वाक्, चक्षु आदि की प्राण संज्ञा करते हुए लिखते हैं - "पञ्चधा विहितो वाऽअयं शीर्षन्प्राणो मनो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम्......" (श.६.२.२.५)।।

कुछ विद्वानों का मत उद्धृत करते हुए महर्षि लिखते हैं कि उपर्युक्त ऐन्द्रवायव ग्रह अर्थात् इन्द्र और वायु के बीच में जो वल कार्य करता है, वह पुरोनुवाक्या संज्ञक {याज्या = अपानो याज्या (श. १४.६.१.१२)। पुरोनुवाक्या = प्राण एव पुरोनुवाक्या (श.१४.६.१.१२)। अपानः = ऐन्द्रोऽपानः (तै. सं.६.३.११.२), अर्वाङ्पानः (तै.सं.६.३.१.५)। प्राणः = प्राणो वै वायुः (तै.सं.२.१.१.२), ऊर्ध्वः खलु वै नाभ्यै प्राणः (तै.सं.६.३.१.५)} दो अनुष्टुप् छन्द रश्मियों तथा याज्या संज्ञक दो गायत्री छन्द रश्मियों के मेल से उत्पन्न होता है। इनमें अनुष्टुप् छन्द रश्मियां प्राण रूप होकर ऊर्ध्व भाग में और गायत्री छन्द रश्मियां अपान संज्ञक होकर अधर भाग में परस्पर संयुक्त रहती हैं। इस प्रकार पुरोनुवाक्या और याज्या के ये दो मिथुन इन्द्र और वायु के मध्य वल को उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः यह वल प्राण और वाक् तत्त्व का सम्मिलित रूप है। इसलिए कहा गया है- "वागनुष्टुप् (मै.३.६.५; ऐ.आ.१.१.१), गायत्री वै प्राणः (श.१.३.५.१५) प्राणो वै गायत्री (मै.२.४.४)"। इस प्रकार वाग् और प्राण तत्त्व अनुष्टुप् एवं गायत्री के प्रभाव को प्राप्त करके इन्द्र और वायु के मध्य वल को समर्थ करते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में दो पदार्थों के मध्य जो बल कार्य करता है, वह मूलतः प्राणों का ही बल होता है। इन प्राणों के भेद वा उनके मध्य व्यवस्था, क्रम आदि के भेद से बल भी भिन्न-२ प्रकार के होते हैं। धनंजय वा सूत्रात्मा वायु रूप रश्मियों तथा विभिन्न फील्ड पार्टीकल्स के मध्य जो बल कार्य करता है, वह पूर्वोक्त गायत्री छन्द रश्मि और प्राण रश्मि के मेल से उत्पन्न होता है। प्राण और अपान अथवा प्राण और उदान के मध्य कार्यरत बल मन और सूत्रात्मा वायु अथवा दैवी त्रिष्टुप् और दैवी उष्णिक् छन्द रश्मियों के मेल से उत्पन्न होता है। किसी क्वाण्टा तथा इलेक्ट्रॉन आदि के मध्य कार्यरत बल पंक्ति, बृहती व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को आवृत्त किए हुए सूत्रात्मा वायु के मेल से उत्पन्न होता है। गुरुत्व बल, जो दो अप्रकाशित, दो प्रकाशित वा एक अप्रकाशित कण व एक प्रकाशित कण के मध्य कार्य करता है, भी आश्विन बल के अन्तर्गत ही आता है। इलेक्ट्रॉनादि व क्वाण्टा के मध्य कार्यरत बल गुरुत्व बल के अन्तर्गत भी माना जा सकता है, साथ ही वैद्युत बल भी। इस प्रकार इसे दोनों कोटि में मानना सम्भव है पुनरपि गुरुत्व बल मानना अधिक उपयुक्त है।।

२. तत्तन्नाऽऽदृत्यं व्यृद्धं (व्यृद्धं) वा एतद् यज्ञे क्रियते यत्र पुरोनुवाक्या ज्यायसी याज्यायै, यत्र वै याज्या ज्यायसी तत्समृद्धमथो यत्र समे यस्यो तत्कामाय तथा कुर्यात् प्राणस्य च वाचश्चात्रैव तदुपाप्तम्।।
वायव्या पूर्वा पुरोनुवाक्यैन्द्रवायव्युत्तरैवं, याज्ययोः, सा या वायव्या तया प्राणं कल्पयति, वायुर्हि प्राणोऽथ यैन्द्रवायवी तस्यै यदैन्द्रं पदं तेन वाचं कल्पयति, वाग्ध्यैन्द्रयुपो तं काममाप्नोति यः प्राणे च वाचि च न यज्ञे विषमं करोति।।२।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त मत का प्रत्याख्यान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यह मत स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि जिस संयोज्य वल में पुरोनुवाक्या प्राण रूप छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या अर्थात् सूक्ष्म अवयभूत प्राणों की संख्या अपने अधर भाग में स्थिति याज्या संज्ञक अपान रूप छन्द रश्मियों में विद्यमान अक्षर रूप अवयवभूत प्राणों की संख्या से अधिक होती है, वह वल समृद्धि रहित अर्थात् दुर्वल हो जाता है। जव पुरोनुवाक्या छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या उनके अधर भाग में स्थित याज्या संज्ञक छन्द रश्मियों में विद्यमान अक्षरों की संख्या से कम अथवा समान होती है, तव उनसे उत्पन्न वल समृद्ध हुआ करते हैं। उस समय प्राण तत्त्व एवं वाक् तत्त्व अर्थात् पूर्वोक्त गायत्री छन्द रश्मि के मध्य पारस्परिक सूक्ष्म आकर्षण वल तत्काल प्राप्त होकर इन्द्र और वायु तत्त्व के मध्य प्रवल वल को उत्पन्न करता है। यहाँ पुरोनुवाक्या (प्राण) तथा याज्या (अपान) के अर्थ क्रमशः आकर्षण व प्रतिकर्षण वल भी हो सकते हैं। तव भाव यह होगा कि आकर्षण वल से प्रतिकर्षण वल अधिक अवयवों वाला वा समान होने पर ही यज्ञ समृद्ध होता है, विपरीत अवस्था में नहीं। प्राण और वाणी के मध्य का तात्पर्य है कि गायत्री व अनुष्टुप् प्राणों के मध्य जो वल कार्य करता है, वह तभी सम्यक् कार्य करता है, जव गायत्री नामक प्राण उपरिभाग तथा अनुष्टुप् प्राण अधर भाग में स्थित होता है। **यह कण्डिका**

अत्यन्त सूक्ष्म वैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन करती है। इस विषय पर व्यापक शोध की अवश्यकता है कि अवयवों (अक्षर) की संख्या बढ़ने के साथ बल की तीव्रता किस प्रकार घटती है?।।

{इन्दुः = उदकनाम (निघं.१.१२), यज्ञनाम (निघं.३.१७)। दिविष्ट = दिव्या संगतिः (तु.म.य.भा.२७.३०), प्रकाशित कान्तिः (तु.म.द.ऋ.भा.१.४८.६), आकाशमार्गः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१३६.४)। प्रयोभिः = तृप्तिकरैरन्नादिभिः पदार्थैः सह (म.द.ऋ.भा.१.२.४)}

ऊपरी कण्डिकाओं में दो पुरोनुवाक्या अर्थात् ऊपरी प्राणरूपी छन्द रश्मि तथा दो याज्या अर्थात् अधर प्राण (अपान) की चर्चा की गई है। यहाँ उन दोनों की विशेषता वा भेद दर्शाते हैं। पहली पुरोनुवाक्या अर्थात् ऊपरी प्राण रूप छन्द रश्मि वायुदेवताक होती है। आचार्य सायण ने वायुदेवताक और पिपीलिका-मध्या-निचृद्-गायत्री छन्दस्क एवं मधुच्छन्दा ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व के कारण गति और तेज प्राप्त करने वाले ऐसे सूक्ष्म प्राण, जो सोम तत्त्व के अन्दर व्याप्त रहता है, से उत्पन्न

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्।। (ऋ.१.२.१)

को प्रथम पुरोनुवाक्या कहा है। मधुच्छन्दा ऋषि प्राण के विषय में १.१६.५ में पढ़ें और इसके साथ संगत याज्या वामदेव ऋषि अर्थात् मनस तत्त्व से विशेष सम्पृक्त प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उत्पन्न वायुदेवताक एवं विराट् गायत्री छन्दस्क

अग्रं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु। त्वं हि पूर्वपा असि।। (ऋ.४.४६.१)

को माना है। महर्षि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में इसका देवता इन्द्रवायू माना है। इधर महर्षि ऐतरेय महीदास ने याज्या और पुरोनुवाक्या दोनों का देवता एक ही बताया है। इस कारण हमने इसका देवता वायु ही माना है। आचार्य सायण ने भी इसका देवता वायु ही माना है। प्रश्न यह अवश्य उठता है कि इन ऋचाओं को ही यहाँ पुरोनुवाक्या और याज्या क्यों माना गया है? जबकि इस कण्डिका में इन ऋचाओं का कोई संकेत नहीं है और न ही आचार्य सायण ने इसका कोई आर्ष प्रमाण दिया है। उन्होंने जिस भी परम्परा से ऐसा किया है, उसे हम यहाँ यथावत् स्वीकार कर रहे हैं।

इसी प्रकार इसी मधुच्छन्दा ऋषि प्राण से उत्पन्न इन्द्रवायुदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि।। (ऋ.१.२.४)

को द्वितीय पुरोनुवाक्या माना है तथा उपर्युक्त वामदेव ऋषि प्राण से उत्पन्न इन्द्रवायुदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क

शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायो सुतस्य तृम्पतम्।। (ऋ.४.४६.२)

छन्द रश्मि को इसके साथ संगत याज्या के रूप में स्वीकार किया है। यहाँ प्रथम पुरोनुवाक्या और याज्या के युग्म के छान्दस और दैवत प्रभाव से वायु अर्थात् धनंजय प्राण रश्मियां तेजस्वी और बलवती होती हैं। इसके साथ ही इनके अन्य प्रभाव से ये धनंजय रश्मियां आकर्षण करने योग्य सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों को व्याप्त करके पर्याप्त रूप से धारण कर लेती हैं। फिर दोनों संयुक्त गति प्राप्त करके संयुक्त हो जाती हैं। उसके पश्चात् वे दोनों आकाश तत्त्व के साथ संगत होकर आग्नेय और सौम्य दोनों कणों के मध्य प्राण तत्त्व के साथ मिलकर विचरती हैं। द्वितीय पुरोनुवाक्या और याज्या के युग्म का दैवत और छान्दस प्रभाव पूर्वानुसार ही होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन्द्र तत्त्व की समृद्धि होना इसका अतिरिक्त दैवत प्रभाव है। इस युग्म के अन्य प्रभाव से इन्द्र तत्त्व एवं वायु दोनों स्वयं से उत्पन्न तृप्तिकर संयोज्य कणों के साथ व्याप्त होकर दोनों कणों के संयोग को प्रकट करते हैं। उस समय इन्द्र तत्त्व सूत्रात्मा वायु को नियन्त्रित करके उत्पन्न सूक्ष्म कणों की प्रवहमान धाराओं के साथ दोनों कणों को तृप्त करता है। {उपो = समीपे (म.द.ऋ.भा.१.६१.१४)} महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं कि जो वायुदेवताक छन्द रश्मियां हैं, वे प्राण तत्त्व को सक्रिय व समर्थ बनाती हैं, क्योंकि वायु प्राण रूप ही

होता है और इन्द्रवायुदेवताक छन्द रश्मियां इन्द्र पद के द्वारा वाक् तत्त्व को समृद्ध बनाती हैं, क्योंकि वाक् तत्त्व का प्रभाव इन्द्र के समान भेदनशील और वज्र रूप होता है। इसलिए कहा है- "वज्र एव वाक् (ऐ.२.२१), वाग्घि शस्त्रम् (ऐ.३.४४)"। इन दोनों युग्मों के कारण वाक् तत्त्व और प्राण तत्त्व के मध्य ऐसा सूक्ष्म आकर्षण बल उत्पन्न होता है, जिसके कारण पूर्ववर्णित धनंजय प्राण, सूत्रात्मा वायु, मरुद् रश्मियां एवं इन गायत्री छन्द रश्मियों के सम्यग् योग से दो पदार्थों के मध्य संयोग बल विषमता को प्राप्त नहीं करता।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो आवेशित कणों के मध्य उपरिवर्णित बल कार्य करता है और उस समय पूर्वोक्त प्रकार से धनंजय प्राण, मरुद् रश्मियां एवं सूत्रात्मा वायु के योग से जो फील्ड पार्टीकल्स उत्पन्न होते हैं, उस प्रक्रिया में दो-२ छन्द रश्मियों के पृथक्-२ युग्मों की भी भूमिका होती है। इन युग्मों में जो दो छन्द रश्मियां होती हैं, वे दोनों ऊपर और नीचे परस्पर संयुक्त रहती हैं। उनके मध्य आकर्षण और प्रतिकर्षण दोनों ही बल कार्य करते हैं। इनमें से आकर्षण बल प्रतिकर्षण बल की अपेक्षा प्रबल होता है। इसी कारण दोनों कण परस्पर बंधे रहते हैं और प्रतिकर्षण बल भी विद्यमान होने के कारण वे दोनों कण परस्पर कभी पूर्ण रूप से संयुक्त नहीं होते, बल्कि उनके बीच में कुछ अवकाश सदैव अवश्य रहता है। इन दोनों छन्द रश्मियों के युग्म धनावेशित कणों में से उत्सर्जित होने वाली सूक्ष्म धनंजय रश्मियों को तेजस्वी और बलवान् बनाते हैं। फिर वे धनंजय रश्मियां ऋणावेशित कण से उत्सर्जित होने वाली मरुद् रश्मियों को आच्छादित करके संयुक्त गति को प्राप्त कर आकाश तत्त्व और प्राण रश्मियों के साथ विचरने लगती हैं। विचरने वाली इन संयुक्त रश्मियों से ही फील्ड पार्टीकल्स उत्पन्न होते हैं और उन फील्ड पार्टीकल्स की धाराएं उत्पन्न होकर दोनों कणों के मध्य विचरण करती हुई एक-दूसरे के निकट लाती हैं। वर्तमान विज्ञान फील्ड पार्टीकल्स की परिकल्पना तो प्रस्तुत करता है परन्तु उसे इस विषय में विशेष ज्ञान नहीं है। इस विषय में रिचर्ड पी. फाइनमेन का नाम प्रसिद्ध है। वे अपनी पुस्तक Lectures on physics के Volume 1 के पृष्ठ संख्या १७ पर लिखते हैं-

> "The existence of the positive charge, in some sense, distorts, or creates a 'condition' in space, so that when we put the negative charge in, it feels a force. This potentiality for producing a force is called an electric field."

यहाँ फाइनमेन धनावेशित कण के द्वारा आकाश तत्त्व में मरोड़ उत्पन्न करके एक ऐसी स्थिति बन जाने की चर्चा करते हैं, जो निकटवर्ती ऋणावेशित कण को प्रभावित करके अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होता है। वर्तमान विज्ञान के द्वारा विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र या बल का यही रूप आधुनिकतम माना जाता है। **धनावेशित कण आकाश तत्त्व में कैसे खिंचाव या मरोड़ उत्पन्न करता है अथवा कैसे इन बलों के मूल कारण माने जाने वाले फील्ड पार्टीकल्स उत्पन्न होते हैं और कैसे वे आकाश तत्त्व को प्रभावित करते हैं तथा कैसे व क्यों वे दोनों आवेशित कणों को आकर्षित व प्रतिकर्षित करते हैं? वेक्यूम एनर्जी क्या है? वह क्यों व कैसे फील्ड पार्टीकल्स को उत्पन्न करती है? इन प्रश्नों का कोई भी समाधान वर्तमान विज्ञान के पास नहीं है।** पाठक यहाँ अनुभव कर सकते हैं कि ऐतरेय के विज्ञान की बल की अवधारणा आधुनिक विज्ञान की बल की अवधारणा की अपेक्षा अत्यन्त गम्भीर और व्यापक है।।

ॐ इति ९.२ समाप्तः ॐ

ॐ अथ ९.३ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. प्राणा वै द्विदेवत्या एकपात्रा गृह्यन्ते, तस्मात् प्राणा एकनामानो द्विपात्रा हूयन्ते तस्मात् प्राणा द्वन्द्वम्।।
येनैवाध्वर्युर्यजुषा प्रयच्छति तेन होता प्रतिगृह्णाति।।

व्याख्यानम्- दो देव पदार्थों के मध्य जो पूर्वोक्त विभिन्न प्राण तत्त्व विद्यमान होते हैं अर्थात् जिन्हें वे दोनों देव पदार्थ ग्रहण करते हैं, वे एक पात्र में ही स्थिति होते हैं। इस कथन का तात्पर्य है कि पूर्वोक्त ऐन्द्रावायव, मैत्रावरुण तथा आश्विन देवयुग्मों के मध्य पृथक्-२ रूपेण पृथक्-२ जो-२ वाक्-प्राण आदि प्राणयुग्म कार्य करके बलों को उत्पन्न करते हैं, वे पृथक्-२ देवयुग्मों के बीच एक ही पात्र में रखे होते हैं। इसका तात्पर्य है कि भले ही उन प्राणों में प्राण तत्त्व, धनंजय, मरुद् रश्मियां, सूत्रात्मा वायु एवं गायत्र्यादि छन्द रश्मियां संयुक्तरूपेण कार्यरत रहती हों, परन्तु वे सभी एक ही क्षेत्र में बंधे हुए सुरक्षित रहती हैं। उनका सबका एक ऐसा संयुक्त क्षेत्र होता है, जो दो देव पदार्थों अर्थात् कण आदि के चारों ओर मर्यादित रहता है तथा उनका प्रभाव उन दो कणों पर ही पड़ता है, जिससे वे कण पूर्वोक्त प्रकारेण परस्पर आकर्षण वा प्रतिकर्षण बलों को अनुभव करते हैं। इन प्राण तत्त्वों में उपर्युक्त व पूर्वोक्त कई प्रकार के प्राण होते हैं, परन्तु उन सभी की प्राण संज्ञा ही होती है। जब उन दोनों कणों का संयोग होता है और उनके मध्य इन प्राणों तथा इनसे उत्पन्न पदार्थ विशेष का दोनों कणों के मध्य प्रवाह होता है, वह दो धाराओं के रूप में होता है। छन्द रश्मियां भी पुरोऽनुवाक्या व याज्या संज्ञक दो युग्मों के रूप में ही उन कणों के मध्य प्रवाहित होकर पृथक्-२ रूप से धनंजय, मरुदादि रश्मियों के साथ संगत होती हैं। इस कारण इन प्राणों का दो पात्रों में होमना कहा गया है। उधर पूर्वोक्त प्रकरण से ही हम अवगत हैं कि ये प्राण भी वाक् व प्राण आदि पृथक्-२ युग्मों के रूप में ही पृथक्-२ संयोज्य पदार्थों के मध्य उत्पन्न व सक्रिय होते हैं। इन युग्मों के विषय में पूर्वखण्ड में विशेष जानकारी कर सकते हैं। इस विषय में आचार्य सायण ने तैत्तिरीय संहिता ६.४.६.३ को उद्धृत करते हुए लिखा है- "ब्रह्मवादिनो वदन्ति, कस्मात् सत्यादेकपात्रा द्विदेवत्या गृह्यन्ते द्विपात्रा हूयन्त इति, यदेकपात्रा गृह्यन्ते तस्मादेकोऽन्तरतः प्राणो द्विपात्रा हूयन्ते तस्मा द्वौ द्वौ बहिष्ठात् प्राणाः।" संहिताकार का यह कथन हमारे उपर्युक्त व्याख्यान की ही पुष्टि करता है। यहाँ दो कणों (देवों) के मध्य में एक सूत्रात्मा वायु सामान्यरूपेण विचरता है। उधर दोनों कणों के मध्य बाहर से आने वाले अर्थात् दोनों कणों से उत्सर्जित धनंजय व प्राणतत्त्व का युग्म तथा मरुत् तथा अपान तत्त्व का युग्म उस सूत्रात्मा वायु में होमे जाते हैं। इसके साथ ही पुरोऽनुवाक्या व याज्या के दो युग्मों की भी संगति होती है। इस प्रकार प्राण युग्म रूप में ही होमे जाते हैं।।

{होता = होतारम् ह्वातारम् (निघं.७.१५), अग्निर्वै देवानां होता (ऐ.१.२८)। अध्वर्युः = वायुर्वा अध्वर्युः (गो.पू.४.५)} खण्ड २.२५ की अन्तिम कण्डिकाओं में एक गायत्री छन्द रश्मि किंवा याजुषी अनुष्टुप् छन्द रश्मि इन्द्रतत्त्व को थामने, उसे बल व तेज प्रदान करने का कार्य करती है तथा इसी छन्द रश्मि की सहायता से इन्द्रतत्त्व सूत्रात्मा वायु और धनंजय प्राण का सारथी बनता है। इसी कारण यहाँ महर्षि कहते हैं कि जिस याजुषी अनुष्टुप् रश्मि से वायु (सूत्रात्मा व धनंजय वायु) रूप अध्वर्यु अपना बल इन्द्र वा विद्युद् अग्नि रूप होता को देता है, उस बल को वह इन्द्र तत्त्व उसी याजुषी अनुष्टुप् छन्द रश्मि के द्वारा ग्रहण करता है अर्थात् इन्द्रतत्त्व उन सूत्रात्मा व धनंजय वायुओं को अपने साथ संयुक्त कर लेता है किंवा उन्हीं से इन्द्रतत्त्व का निर्माण होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो आवेशित कण परस्पर एक दूसरे को आकर्षित करते हैं, उस समय उन दोनों कणों के मध्य जो भी प्राण अर्थात् प्राण, धनंजय, सूत्रात्मा वायु, अपान गायत्र्यादि रश्मियां व मरुदादि रश्मियां कार्यरत होती हैं तथा इनके मेल से जो फील्ड पार्टीकल्स उत्पन्न होकर उन दोनों कणों के मध्य प्रवाहित होते हैं, वे सभी **प्राणादि पदार्थ व फील्ड पार्टीकल्स एक क्षेत्र विशेष में ही मर्यादित रहते हैं। यह क्षेत्र उन दोनों आवेशित कणों के मध्य तथा कुछ सीमा तक उनकी परिधियों को घेरे रहने वाला होता है। इस सम्पूर्ण पदार्थ का क्षेत्र एक होते हुए भी इनके प्रवाह का क्षेत्र इन विभिन्न प्राणों वा कणों के युग्म वा द्विधाराओं में विभाजित होता है।** इसका आशय है कि प्राणादि पदार्थ युग्मों में ही उस क्षेत्र में प्रवाहित होकर आकर्षण वा प्रतिकर्षण बल उत्पन्न करते हैं। **दोनों कणों के मध्य फील्ड पार्टीकल्स कैसे युग्म के रूप में प्रवाहित होते हैं, यह अन्वेषण का विषय है। क्या ये फील्ड पार्टीकल्स युग्म के रूप में प्रवाहित होते भी हैं वा नहीं? किंवा प्राणादि पदार्थ ही युग्म रूप में प्रवाहित होते हैं, यह आधुनिक पार्टीकल्स फिजिसिस्ट्स को जानने का प्रयास करना चाहिए।** उधर फील्ड पार्टीकल्स जिस छन्द रश्मि के द्वारा धनंजय, सूत्रात्मा व मरुदादि रश्मियों से बल व तेज आदि प्राप्त करते हैं, उसी छन्द रश्मि के द्वारा वे फील्ड पार्टीकल्स उन रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करने में समर्थ होते हैं। यहाँ एक अन्य रहस्योद्घाटन यह भी होता है कि प्राण, धनजंयादि का भण्डार धनावेश जिन मरुद्रश्मियों को ग्रहण करता है, उन्हीं रश्मियों को मरुद्रश्मियों का भण्डार ऋणावेश उत्सर्जित करता है, यह सम्भव है कि जो गायत्र्यादि रश्मियां उत्पन्न होती हैं, उनमें से लघु छन्द रश्मियां ही ये मरुत् हों।।

२. एष वसुः पुरूवसुरिह वसुः पुरूवसुर्मयिवसुः पुरूवसुर्वाक्पा वाचं मे पाहीत्यैन्द्रवायवं भक्षयतीति।।

उपहूता वाक्सह प्राणेनोप मां वाक्सह प्राणेन ह्वयतामुपहूता ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजा उप मामृषयो दैव्यासो ह्वयन्तां तनूपावानस्तन्वस्तपोजा इति।।

प्राणा वा ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजास्तानेव तदुपह्वयते।।

{पुरू = पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा सः (उ.को.१.२३), पुरुरिति बहुनाम (निघं.३.१), (पुरु को समास में दीर्घ होकर पुरु+वसुः = पुरूवसुः हो जाता है। देखें - उ.को.४.२३३ में 'पुरूरवा')। तपः = मनो वाव तपः (जै.ब्रा.३.३३४), तपो वा अग्निः (श.३.४.३.२)}

व्याख्यानम्- आग्नेय व सौम्य कणों के मध्य कार्यरत ऐन्द्रावायव बल वसु के समान है, इसका तात्पर्य है कि यह सबको बसाने वाला तथा सबके अन्दर बसने वाला है। यह बल वसु अर्थात् धनरूप भी है, इस कारण यह सबको तृप्त भी करने वाला है। यही बल पुरूवसु है, इसका तात्पर्य है कि यह प्रभूत मात्रा में सबको बसाने तथा स्वयं सबके अन्दर बसने वाला है। यही सबका पालक तथा सबको पूर्ण करने वाला है। यही सबको प्रचुरतया तृप्त करता है। 'इह' अर्थात् इस सृष्टि में इस समय सभी पदार्थों के अन्दर बस रहा है और सबको अपने अन्दर बसा भी रहा है। सृष्टि के प्रारम्भिक काल में भी इस बल का यह कर्म विद्यमान था। यहाँ 'इह' का तात्पर्य यहाँ 'इस स्थान पर' ग्रहण करने से तात्पर्य यह है कि इस प्रकार सभी स्थानों पर, जहाँ हम अनुभव करना चाहें, वहीं यह प्रभूत मात्रा में सभी पदार्थों के अन्दर व्याप्त है और सभी पदार्थ इस बल में व्याप्त हैं वा इसी के कारण विद्यमान हैं। यहाँ 'मयि' पद होता के लिए अभिहित है। महर्षि कहते हैं कि यह बल विद्युदग्निरूप होता के अन्दर भी प्रचुरता से व्याप्त है एवं उसको भी बसाने वाला है। इसका तात्पर्य है कि इस प्रकार का बल यदि इस सृष्टि में विद्यमान न हो, तो विद्युदग्नि का अस्तित्व भी नहीं रह सकेगा और न उसका गमनागमन ही सम्भव हो सकेगा। "वाक्पा वाचं मे पाहि" इस दैवी जगती अथवा याजुषी उष्णिक् छन्द रश्मि की सहायता से विद्युदग्नि इस ऐन्द्रावायव बल का भक्षण करता है अर्थात् इस बल को प्राप्त कर लेता है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से वाक् तत्त्व अर्थात् पूर्वोक्त गायत्री वा याजुषी अनुष्टुवादि रश्मियों से रक्षित वह विद्युदग्नि होता उस बल से सम्पन्न हो जाता है।।

वाक् तत्त्व अर्थात् मरुद्रश्मियां एवं गायत्री वा पूर्वोक्त याजुषी अनुष्टुवादि छन्द रश्मियां प्राण नामक प्राणतत्त्व व धनंजयादि प्राणों के साथ होता (अर्थात् आग्नेय वा सौम्य कणों के मध्य विचरने वाले होता) रूप कण के द्वारा आकर्षित की जाती हैं किंवा वह होतारूप कण, जिसे उपरि-काण्डिका में विद्युदग्नि रूप होता भी कहा गया है, का निर्माण भी वे वाक् व प्राणतत्त्व मिलकर करते हैं। इस होता रूप कण को ये वाग्रश्मियां व धनंजय-प्राणादि प्राण ही अपने निकट आकर्षित करते हैं। वही होतारूप कण इस सृष्टि में सर्वत्र विद्यमान दिव्य वायु (अंहकार तत्त्व) में विद्यमान प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों व अन्य ऋषि प्राणों को आकर्षित करता है। वे ऐसे ऋषिप्राण 'तनूपावान' अर्थात् अतीव व्याप्ति वाले सूत्रात्मा वायु वा मनस्तत्त्व में गति करते रहते हैं। ये ऋषिप्राण अति व्यापक क्षेत्र में व्याप्त होते हैं तथा उनका प्रवाह सतत व अव्यक्तवत् होता है तथा ये मनस्तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, साथ ही सबके अग्रणी नायक होते हैं। वे ऋषि प्राण भी उस होतारूप कण को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। आचार्य सायण ने इस कण्डिका की मंत्र संज्ञा की है। यह मंत्र तथा पूर्वकण्डिका में विद्यमान सात अक्षरों वाला मंत्र भी वेद संहिताओं में विद्यमान नहीं है। यह मंत्र ६२ अक्षरों वाला होने से स्वराड् ब्राह्मी पंक्ति छन्द वाला होगा। इसके कारण उपर्युक्त विद्युत् वल तीव्र व व्यापक होगा।।

उपर्युक्त ऋषि प्राण स्वरूप ही है। ये प्राण सूक्ष्म परन्तु तीव्र गन्ता होते हैं। ये ही दिव्य वायु अर्थात् मनस् वा अहंकार तत्त्व में स्थित तथा उसी के द्वारा उत्पन्न होते हैं। उस मंत्र के इस भाग के प्रभाव से होता रूप कण इन ऋषि प्राणों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ विद्युत् चुम्बकीय वल अथवा प्रबल नाभिकीय बल अर्थात् आवेशित कणों के मध्य कार्यरत बलों के विषय में पुनः कुछ स्पष्टीकरण करते हैं। यह बल इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्दर व्याप्त है तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बनाने, बसाने व संचालित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस बल के अभाव में सृष्टि क्षण भर में समाप्त हो जाए। इस बल के कारण ही विभिन्न अणु आदि पदार्थ सन्तुलित व गतिशील रहते हैं। सब काल तथा सर्वदेश में यह बल समानरूपेण अर्थात् समान सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है। इस बल के कारण ही फील्ड पार्टीकल्स का प्रभाव होता है तथा उन कणों का अस्तित्व ही इसी बल के कारण होता है। यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है कि **यह बल फील्ड पार्टीकल्स के कारण नहीं बल्कि इस धनंजय, मरुत् वा सूत्रात्मा वायु आदि की रश्मियों के इसी बल के कारण फील्ड पार्टीकल्स की उत्पत्ति होती है। उसके बाद फील्ड पार्टीकल्स एक रस्सी की भाँति आवेशित कणों को बांधे अवश्य रखते हैं।** जैसे दो व्यक्ति एक रस्सी के दो सिरों को दृढ़ता से पकड़े खड़े हों और इससे ही वे परस्पर बंधे हों, उस समय वे दोनों अपने बल से रस्सी के माध्यम से एक दूसरे से बंधे हैं, न कि रस्सी के स्वयं के बल से। रस्सी को उनकी मांसपेशियों के बल ने ही जकड़ रखा है। ठीक इसी प्रकार दोनों आवेशित कणों से उत्सर्जित पूर्वोक्त विभिन्न प्राणादि रश्मियां ही बल का मूल कारण हैं और वे रश्मियां ही फील्ड पार्टीकल्स रूपी रस्सी को न केवल जकड़ लेती हैं अपितु उन्हें उत्पन्न भी करती हैं, मानो दोनों व्यक्तियों ने ही रस्सी को बनाया भी हो। वे फील्ड पार्टीकल्स पूर्वोक्त गायत्री वा याजुषी अनुष्टुप् आदि रश्मियों के द्वारा ही उन बलों से संयुक्त हो जाते हैं, जिससे वे इतस्ततः प्रवाहित होने लगते हैं। वे धनंजयादि रश्मियां उन फील्ड पार्टीकल्स को अपनी ओर आकर्षित करती हैं और फील्ड पार्टीकल्स उन्हें अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उसी समय सम्पूर्ण अवकाश में व्याप्त अहंकार तत्त्व के अन्दर प्राणापानादि सूक्ष्म प्राण रश्मियां भी फील्ड पार्टीकल्स को अपनी ओर तथा फील्ड पार्टीकल्स उन प्राणादि सूक्ष्म रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान एक दैवी जगती तथा एक स्वराट् ब्राह्मी छन्द रश्मि की उत्पत्ति होकर इस पारस्परिक आकर्षण को सम्पादित करने में महती भूमिका निभाती हैं। ये सभी प्राणादि मनस्तत्त्व से उत्पन्न होते हैं।।

३. एष वसुर्विदद्वसुरिह वसुर्विदद्वसुर्मयि वसुर्विदद्वसुश्चक्षुष्पाश्चक्षुर्मे पाहीति मैत्रावरुणं भक्षयत्युपहूतं चक्षुः सह मनसोप मां चक्षुः सह मनसा ह्वयतामुपहूता ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजा उप मामृषयो दैव्यासो ह्वयन्तां तनूपावानस्तन्वस्तपोजा इति, प्राणा वा ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजास्तानेव तदुपह्वयते।।

{विदद्वसुः = वित्तधनः (नि.४.४), यज्ञो विदद्वसुः (तां.११.४.५), स्तोमो विदद्वसुः (जै.ब्रा.१.१५३), यज्ञोऽसुरेषु विदद्वसुः (तां.८.३.३), विदद्+वसुः (विदत् = विद्+शृ)।}

व्याख्यानम्- अब दूसरे प्रकार के बल मैत्रावरुण की चर्चा करते हैं। इस विषय में खण्ड २.२६ की द्वितीय कण्डिका भी द्रष्टव्य है। यह बल दो आवेशित कणों के मध्य नहीं किंवा उनके मध्य पूर्वोक्त प्राणों व विद्युत् होता के मध्य नहीं, बल्कि प्राथमिक प्राण व अपान एवं प्राण व उदान के मध्य कार्य करता है। यह बल भी सम्पूर्ण सृष्टि में बसा हुआ होकर सभी पदार्थों को अपनी शक्ति के कारण बसा रहा है। इसका तात्पर्य है कि इस बल के कारण ही सृष्टि का निर्माण भी होता है और संचालन-प्रलयन भी। इस कारण इसे वसु कहा है। इसे विदद्वसु भी कहा है, इसका तात्पर्य है कि जिसने सम्पूर्ण पदार्थ जगत् को व्याप्त कर लिया है किंवा सभी जड़ सत्तावानों में जो व्याप्त है तथा सभी वे सत्तावान् इसी के कारण सत्तावान् होते हैं। यह भी रश्मिरूप होता है अर्थात् प्राणापान व प्राणोदान के युग्मों में भी सूक्ष्म रश्मियों का संचरण हुआ करता है। खण्ड २.२६ में वर्णितानुसार ये सूक्ष्म रश्मियां मनस्तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु की होती हैं। यह बल असुर तत्त्वों के मध्य भी कार्य करता है अर्थात् असुर तत्त्व के निर्माण में भी इस बल की अनिवार्यता होती है। सृष्टि के आदि काल से अब तक सभी कालों व सभी देशों में इसकी सत्ता रहती है। ध्यातव्य है कि यह सत्ता प्राणापान एवं प्राणोदान की उत्पत्ति के साथ ही प्रारम्भ होती है, उसके पूर्व इसका अस्तित्त्व नहीं होता है। यहाँ 'मयि' पद प्राणापान वा प्राणोदान के मध्य उत्पन्न व्यान रूप होता के लिए प्रयुक्त है, यह बल व्यान तत्त्व के अन्दर विद्यमान होता है। यह उसी व्यान रूप होता के कारण ही सबमें बसा हुआ है और इसी बल के कारण ही व्यान तत्त्व भी सबका बासयिता है। यहाँ विद् धातु ज्ञानार्थक भी प्रयोक्तव्य है। **यहाँ एक गम्भीर विज्ञान है कि जहाँ जड़ व चेतन का परस्पर सम्पर्क होता है, तब ये मनोरश्मियां जहाँ प्राणापान व प्राणोदान के मध्य संयोग का कार्य करती हैं, वहीं ये सोचने विचारने का भी कार्य किसी चेतन के सम्पर्क में आने पर करती हैं। इसी कारण ये विदद्वसु कहलाती हैं** तथा यह बल भी विदद्वसु कहलाता है। **"चक्षुष्पाश्चक्षुर्मे पाहि"**, इस अष्टाक्षरा छन्द रश्मि, जो याजुषी अनुष्टुप् का रूप है, की सहायता से प्राण तथा अपान अथवा प्राण व उदान के युग्म इस बल को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार पूर्व कण्डिका में सप्ताक्षरा छन्द रश्मि की सहायता से दोनों आवेशित कणों के मध्य उत्पन्न कण बल को प्राप्त कर इतस्ततः गमन करता है, उसी प्रकार यहाँ भी क्रिया होती है। यहाँ प्राणापान अथवा प्राणोदान के मध्य उत्पन्न रश्मियां किस नवीन पदार्थ को उत्पन्न करती हैं, यह गम्भीर व विचारणीय विषय है। महर्षियों का कथन है- **"अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः"** (छां.उ.१.३.३) इससे प्रतीत होता है कि **प्राणापान के मध्य उत्पन्न रश्मियां, जो कि मनस्तत्त्व तथा चक्षु अर्थात् सूत्रात्मा वायु की होती हैं। देखें- खण्ड २.२६ वे ही सन्धिरूप व्यान प्राण को उत्पन्न करती हैं।** छान्दोग्य उपनिषत्कार उपर्युक्त संदर्भ में व्यान प्राण को वाक् रूप ही बतलाते हैं- **"यो व्यानः सा वाक्"** (छां.उ.१.३.३)। हमारे मत में प्राणोदान के मध्य भी व्यानप्राण का ही संचरण व उत्पत्ति होनी चाहिए। तब यह व्यानप्राण सूत्रात्मा वायु को मन के साथ अपनी ओर आकर्षित करता है और मन व सूत्रात्मा वायु दोनों उस व्यान प्राण को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वह व्यानप्राण सर्वत्र व्याप्त दिव्य वायु (अहंकार तत्त्व) में विद्यमान विभिन्न उप प्राण रूप ऋषियों, जो तनूपावान अर्थात् सर्वत्र विद्यमान मनस्तत्त्व व वाक् तत्त्व से उत्पन्न होते हैं तथा इन्हीं के अन्दर अव्याहत गति करते रहते हैं, को भी अपनी ओर आकर्षित करता है तथा ये सभी सूक्ष्म तत्त्व उस व्यान प्राण को अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। पूर्वकण्डिका के समान **"उपहूतं.......ऋषयो दैव्यासः - - - - तपोजा,"** ६५ अक्षरों वाले इस छन्द को आचार्य सायण ने मंत्र माना है। यह छन्द किसी वेद संहिता में उपलब्ध नहीं है। हमें यह छन्द ब्राह्मी निचृत्त्रिष्टुप् प्रतीत होता है, जो प्राण व अपान वा प्राण व उदान के मध्य बल को दृढ़ करता है। ऋषियों का प्राणत्व पूर्ववत् समझें। विशेष ज्ञान हेतु पूर्व कण्डिका देखें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व में हम दो विद्युदावेशित कणों के बीच कार्यरत बल की व्याख्या विस्तार से कर चुके हैं। अब हम इससे **सूक्ष्म बल, जो प्राण तथा उदान के मध्य तथा प्राण व अपान के मध्य कार्य करता है,** की चर्चा करते हैं। इस प्रकार का बल सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है तथा इसी के कारण सम्पूर्ण सृष्टि बनी व संचालित होती है। यह बल मन तथा सूत्रात्मा वायु की अति सूक्ष्म वा सूक्ष्मतम

रश्मियों के संयोग से उत्पन्न होता है। **इन रश्मियों से फील्ड पार्टीकल्स के स्थान पर व्यान प्राण रश्मियों की उत्पत्ति होती है,** जो प्राण व अपान अथवा प्राण व उदान को परस्पर बांधे रखने के लिए उनमें सतत संचरण करती रहती हैं। **मन की रश्मियां न केवल इन प्राणों को परस्पर संयुक्त करने में अपनी महती भूमिका का निर्वहन करती हैं अपितु चेतन तत्त्व जीवात्मा का सानिध्य प्राप्त करने पर ये सोचने-विचारने का भी कार्य करती हैं। ये रश्मियां ही इन्द्रियों को इस योग्य बनाती हैं कि वे मस्तिष्क की सूक्ष्म तंत्रिकाओं वा उनकी सूक्ष्म कोशिकाओं को प्रेरित करके मस्तिष्क की प्रत्येक गतिविधि को जन्म देतीं व संचालित करती हैं।** यह बल डार्क एनर्जी वा डार्क मैटर के अन्दर भी कार्य करता है अर्थात् उनके निर्माण में भी इस बल की अनिवार्य भूमिका होती है। सृष्टि उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वत्र यह बल कार्य करता रहता है। यह बल मूलतः मनस्तत्त्व का ही बल है, इस कारण यह उसमें ही व्याप्त रहता है। इसके साथ ही मन की सत्ता की सार्थकता भी इसी बल के कारण होती है। इस बल की उत्पत्ति के साथ ही एक याजुषी अनुष्टुप् छन्द रश्मि तथा एक ब्राह्मी निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति भी होती है, जिनके कारण यह बल व्यान प्राण को उत्पन्न करने में अपनी भूमिका निभाता है। **इस सूक्ष्म स्तर पर यह व्यान प्राण ही फील्ड पार्टीकल्स अर्थात् मीडियेटर की भूमिका निभाता है।** ध्यातव्य है कि **मनस्तत्त्व की रश्मियों का बल व्यान रश्मियों के बल की अपेक्षा चार गुना होता है,** जैसे कि खण्ड २.२५ की अन्तिम कण्डिका में हमने फील्ड पार्टीकल्स के बल से धनंजय रश्मियों का बल चार गुना बतलाया है।

४. एष वसुः संयद्वसुरिह वसुः संयद्वसुर्मयि वसुः संयद्वसुः श्रोत्रपाः श्रोत्रं मे पाहीत्याश्विनं भक्षयत्युपहूतं श्रोत्रं सहाऽऽत्मनोप मां श्रोत्रं सहाऽऽत्मना ह्वयतामुपहूता ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजा उप मामृषयो दैव्यासो ह्वयन्तां तनूपावानस्तन्वस्तपोजा इति प्राणा वा ऋषयो दैव्यासस्तनूपावानस्तन्वस्तपोजास्तानेव तदुपह्वयते॥

{संयत् = संगतिः (म.द.य.भा.१५.१८), संयत् संग्राम नाम (निघं.२.१७), संयच्छन्ति येन सः (तु.म.द.ऋ.भा.६.१६.२१), रात्रिर्वै संयच्छन्दः (श.८.५.२.५)। होता = पृथिवी होता (मै.१.६.१), इयं वै होता (तै.सं.३.२.६.६)। बृहती = प्राणा वै बृहत्यः (ऐ.३.१४)। त्रिष्टुप् = व्यानस्त्रिष्टुप् (मै.३.४.४)}

गुरुत्वाकर्षण बल का स्वरूप व उत्पत्ति

व्याख्यानम्- यह आश्विन बल भी इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है। जैसा कि हम खण्ड २.२६ में लिख चुके हैं कि **प्रकाशित व अप्रकाशित कणों के मध्य कार्यरत बल आश्विन कहलाता है।** इस बल की उत्पत्ति भी सृष्टि के प्रारम्भिक कुछ कालोपरान्त, जब इस प्रकार के कण किंवा तरंग व कणों की उत्पत्ति हो चुकी थी, ही हो जाती है तथा सृष्टिपर्यन्त विद्यमान रहता है। इस बल को संयद्वसु भी कहा है, इसका तात्पर्य है कि **इस बल के कारण प्रकाशित व अप्रकाशित कण परस्पर संघात को प्राप्त करके सहगमन करने लगते हैं। सृष्टि में विद्यमान एक रहस्यमय बल गुरुत्वाकर्षण बल इसी कोटि का बल है।** इसे संयद्वसु इस कारण गया है, क्योंकि पूर्वनिर्दिष्ट दोनों बलों का इसमें भी संघात रहता है। इसमें पंक्ति छन्दरश्मि तथा त्रिष्टुप् व बृहती छन्द रश्मियों को आवृत्त किए हुए सूत्रात्मा वायु का संघात होने से यह संयत् वसु कहलाता हैं अर्थात् जो कई छन्दरश्मियों के समूह में बसता है किंवा उनको अपने भीतर बसाता है। जब विभिन्न छन्द संघात को प्राप्त होते हैं किंवा परस्पर अति निकट आकर संयुक्त होते हैं, उस अवस्था को रात्रि भी कहा गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि यह अवस्था उस संघात की है, जहाँ त्रिष्टुवादि छन्द रश्मियों का रूप भी प्रकाशमय नहीं रहता। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि **गुरुत्वाकर्षण बल की रश्मियां अंधकारमयी होती हैं, साथ ही यह प्रकाशित व असुर तत्त्व आदि सभी में विद्यमान होता है।** यहाँ 'मयि' पद उस होता संज्ञक गुरुत्वबल के माध्यमिक

कण वा पदार्थ के लिए है, जो गुरुत्व सम्पन्न पदार्थों के मध्य विचरता व उत्पन्न होता है। यहाँ एक ओर पंक्ति छन्द रूपी श्रोत्र संज्ञक प्राणों का उत्सर्जन होता है, तो दूसरी ओर बृहती त्रिष्टुप् रूपी आत्मा को आवृत्त किए हुए सूत्रात्मा वायु का मेल होता है। **गुरुत्वबल में होता त्रिष्टुप् छन्दरश्मि ही होती है, जो पूर्व बल के व्यानप्राण की भांति दोनों आकर्षणीय पिण्डों को बांधे रखती है। यही दोनों में विचरती है।** बृहती रश्मियां प्राणापानादि के समान कार्य करती हैं। पंक्ति छन्द का भी प्रभाव बृहती छन्द ही दर्शा देता है। इसी कारण वेदवेत्ता महर्षि ने कहा- **"सर्वाणि छन्दांसि बृहतीमभिसंपन्नानि" (जै.ब्रा.१.३१६)** अर्थात् सभी छन्द बृहती छन्द से ही सम्पन्न हो जाते हैं। इस कारण पंक्ति व बृहती दोनों छन्द रश्मियां प्राणापान व प्राणोदान की भाँति व्यवहार करती हैं तथा उन्हें त्रिष्टुप् रूपी व्यान बांधे रहता है। यह **गुरुत्व बल त्रिष्टुप् छन्दों के अन्दर व्याप्त रहता है, जब वे सूत्रात्मा वायु से आच्छादित होते हैं।** त्रिष्टुप् बल भी इसी बल से सर्वत्र अपना प्रभाव दिखलाते हैं। इस समय अर्थात् दो पिण्डों वा कणों के मध्य गुरुत्वाकर्षण बल कार्य करने पर **"श्रोत्रपाः श्रोत्रं मे पाहि"**, इस अष्टाक्षरा याजुषी अनुष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। **इसी के कारण त्रिष्टुप् (सूत्रात्मावायुरावेष्टित) छन्द रश्मि सूत्रात्मा वायुरावेष्टित बृहती छन्द एवं पंक्ति छन्द रश्मि को अपनी ओर आकर्षित करती एवं इससे गुरुत्व बल की उत्पत्ति होती है।** इसी प्रकार पंक्ति व बृहती छन्द रश्मियां परस्पर संयुक्त होकर त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति करती हैं। ऐसा करने हेतु ५ बृहती तथा एक पंक्ति छन्द रश्मि मिलकर ५ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। उसके पश्चात् पंक्ति व बृहती छन्द रश्मियों का संयुक्त रूप उस त्रिष्टुप्, जो उपर्युक्त विशेष संयोग से ही उत्पन्न होती है, के द्वारा आकर्षित होने लगता है और वह त्रिष्टुप् उन दोनों के द्वारा आकर्षित होती है। ध्यातव्य है कि बृहती के साथ सूत्रात्मा वायु का आवेष्टन अवश्य होता है। यह त्रिष्टुप् छन्द रश्मि मनस्तत्त्व से उत्पन्न दिव्य वायु (अहंकार तत्त्व) में स्थित विभिन्न प्राणापानादि सूक्ष्म ऋषि प्राणों को भी अपने निकट आकर्षित करता है और वे सभी उस त्रिष्टुप् छन्द रश्मि, जो सूत्रात्मा वायु से आवेष्टित रहती है, को आकर्षित करते हैं। इस परस्पर आकर्षण के समय कण्डिका में दर्शायी गयी **"उपहूतं श्रोत्रं सह.....मामृषयो....तपोजा"** ६३ अक्षर वाली ब्राह्मी विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि भी उत्पन्न हो जाती है, जो उपर्युक्त आकर्षण बलों को और भी दृढ़ करती है। शेष पूर्ववत्। हाँ, यहाँ यह ध्यातव्य अवश्य है कि **त्रिष्टुप् छन्द रश्मि, जो गुरुत्वाकर्षण बल की वाहिका होती है, वह सूत्रात्मा वायु से आवेष्टित होने तथा पुनः ब्राह्मी विराट् त्रिष्टुप् से संगत होने से कुछ सम्पीडित अवश्य हो जाती है। इसका यही सम्पीडित रूप रहस्यमय है।** यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठ सकता है कि पूर्व बलों में आकर्षणीय दोनों पदार्थ असमान होते हैं जैसे धनावेशित व ऋणावेशित कण तथा प्राण व अपान वा उदान, परन्तु यहाँ दो पिण्ड समान भी हो सकते हैं तब उनसे असमान रश्मियाँ तो उत्सर्जित नहीं हो सकतीं, तब श्रोत्र व आत्मा का उत्सर्जन कैसे? इसके विषय में हमारा मत है कि ऐसी स्थिति में दोनों पिण्डों से बृहती व पंक्ति दोनों का ही उत्सर्जन होगा।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ वर्तमान वैज्ञानिकों के द्वारा अनेक प्रकार से परिभाषित, परीक्षित व अनेक प्रकार की तकनीकों का जन्मदाता होते हुए भी अति रहस्यमय बने हुए गुरुत्वाकर्षण बल के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस सृष्टि में जब दो पिण्ड, चाहे वे प्रकाशित हों वा अप्रकाशित, दृश्य पदार्थ के पिण्ड वा कण हों वा डार्क पदार्थ, यह बल सर्वत्र सदा ही कार्य करता है। दो कणों वा लोकों के मध्य परस्पर आकर्षण, इलेक्ट्रॉन्स आदि के द्वारा फोटोन्स का आकर्षण अथवा दो फोटोन्स के मध्य आकर्षण बल इसी के विविध रूप हैं। इतना अवश्य है कि इलेक्ट्रॉन्स व फोटोन्स के मध्य किंवा दो फोटोन्स के मध्य आकर्षण बल में गुरुत्व बल के साथ अन्य दो बलों का भी समावेश होता है। यद्यपि विभिन्न पिण्डों के मध्य गुरुत्व बल में भी पूर्वोक्त दोनों बलों का भी कुछ न कुछ समावेश अवश्यमेव होता है। इस बल में पंक्ति छन्द तथा सूत्रात्मा वायु से आवेष्टित बृहती व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की विशेष भूमिका रहती है। इसमें पंक्ति व बृहती का उत्सर्जन दोनों पिण्डों से होता है। ये दोनों सूत्रात्मा वायु से घिर कर त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति करती हैं। सूत्रात्मा वायु इन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को भी आवेष्टित कर लेता है। ये सभी रश्मियां भी मूलतः मनस्तत्त्व से उत्पन्न होती हैं। विभिन्न प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों का भी इनमें योगदान होता है। एक याजुषी अनुष्टुप् छन्द रश्मि तथा एक ब्राह्मी विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि भी उत्पन्न त्रिष्टुप् छन्द रश्मि को उपर्युक्त प्राणादि रश्मियों के प्रति आकर्षणशील बनाती हैं। **वर्तमान वैज्ञानिक जिस 'ग्रेवीटॉन' फील्ड पार्टीकल को गुरुत्व बल का वाहक कल्पित कर रहे हैं, वह**

वस्तुतः सूत्रात्मा वायु व विराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् से आवेष्टित व सम्पीडित कण है। वह इतना सम्पीडित भी नहीं है कि फोटोन के रूप में परिवर्तित हो गया हो। यही कारण है कि उसे अभी तक किसी भी प्रकार अनुभव में नहीं लाया जा सका है। यदि कभी ऐसी टेक्नोलॉजी विकसित हुयी, जो छन्द रश्मियों को नहीं, तो कम से कम कुछ सीमा तक सम्पीडित छन्द रश्मियों को अनुभव कर ले, तभी उस रहस्यमय ग्रेवीटॉन को अनुभव में लाना सम्भव होगा। हाँ, उच्च कोटि का प्राणविज्ञाता योगी अवश्य अनुभव कर सकता है।

प्रश्न- पूर्व बलों की उत्पत्ति दो असमान पदार्थों के मध्य होती है परन्तु यह बल समान व असमान सभी प्रकार के पिण्डों वा कणों के मध्य कार्यरत होता है। ऐसी स्थिति में यहाँ पूर्व बलों के समान दोनों पदार्थों से पृथक्-२ रश्मियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं, तब पंक्ति व बृहती दोनों के उत्सर्जन का उल्लेख क्यों है ?

समाधान- इस विषय में हमारा मत है कि जब दो पिण्डों के मध्य गुरुत्व बल उत्पन्न होता वा कार्य करता है, उस समय दोनों ही पिण्डों से पंक्ति व बृहती छन्द रश्मियां एक साथ समान रूप से उत्पन्न होकर सूत्रात्मा वायु आदि से मिलकर त्रिष्टुप् रूपी ग्रेवीटॉन को उत्पन्न करेंगी। जब फोटोन व इलेक्ट्रॉन के मध्य गुरुत्व बल काम करेगा, तब पूर्ववत् असमान रश्मियां उत्सर्जित होंगी। कदाचित् इलेक्ट्रॉन में से बृहती तथा फोटोन में से पंक्ति रश्मि उत्सर्जित होंगी किंवा इनकी प्रधानता वाले युग्म उत्सर्जित होंगे। यदि दो फोटोन्स के मध्य गुरुत्व बल कार्य करे, तब हमारे मत में दोनों से पंक्ति छन्द वा इनकी प्रधानता के साथ बृहती छन्द रश्मियां उत्सर्जित होती हैं।
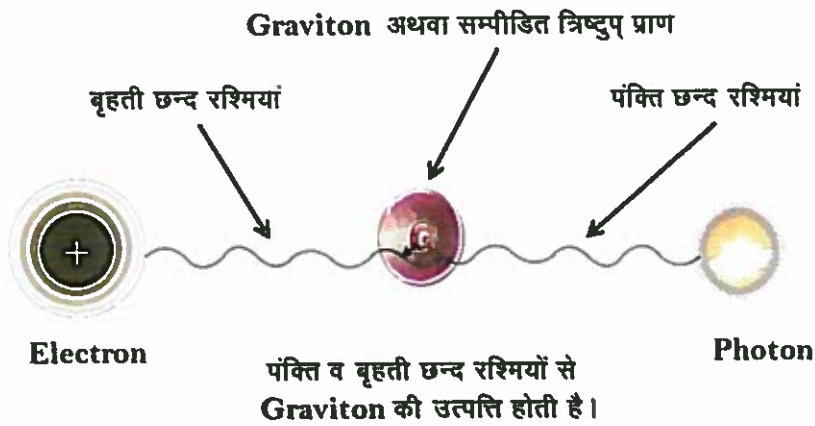
चित्र ९.५ बृहती तथा पंक्ति रश्मियों के मेल से त्रिष्टुप् प्राण (ग्रेवीटॉन) की उत्पत्ति
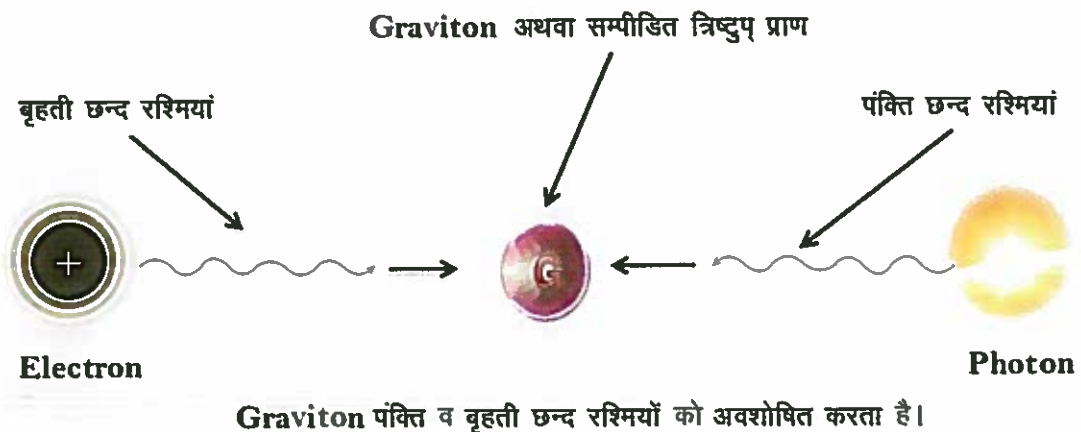
चित्र ९.६ ग्रेवीटॉन के द्वारा बृहती तथा पंक्ति रश्मियों का अपनी ओर आकर्षण

५. पुरस्तात् प्रत्यञ्चमैन्द्रवायवं भक्षयति तस्मात् पुरस्तात् प्राणापानौ, पुरस्तात् प्रत्यञ्चं मैत्रावरुणं भक्षयति, तस्मात् पुरस्ताच्चक्षुषी, सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति, तस्मान्मनुष्याश्च पशवश्च सर्वतो वाचं वदन्तीं शृण्वन्ति।।३।।

व्याख्यानम्– जब आग्नेय व सौम्य कण परस्पर निकट आते हैं, उस समय की कुछ शेष प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए महर्षि कहते हैं- जब दोनों कणों के मध्य ऐन्द्रवायव बल उत्पन्न होता है, उस समय दोनों कणों में से क्रमशः धनंजय प्राण एवं मरुद्रश्मियां उत्सर्जित होने लगती हैं। उनके व अन्य कुछ पूर्वोक्त रश्मियों के मेल से एक कण विशेष होता रूप में उत्पन्न हो जाता है। वह उस बल अर्थात् उन दोनों रश्मियों, जो उसकी ओर निरन्तर आती रहती हैं, को सर्वप्रथम अवशोषित करता किंवा उनसे वह प्राण अर्थात बल व गति से युक्त होता है। {प्राणो वै भक्षः (श.४.२.१.२६)} वह इन धनंजय तथा मरुद्रश्मियों का भक्षण कैसे करता है, इसे स्पष्ट करते हुए महर्षि कहते हैं कि इस प्रक्रिया से भी पूर्व **वह कण सर्वत्र विद्यमान प्राण व अपान रश्मियों को अवशोषित करता है, उसके पश्चात् ही उसमें धनंजयादि भक्षण का सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसके पश्चात् वह आग्नेय व सौम्य कणों के बीच प्रवाहित होने लगता है।** यहाँ इसका तात्पर्य यह भी है कि उन दोनों कणों का युग्म ऐन्द्रवायव बल को जब सर्वप्रथम प्राप्त करता है, तब वह सर्वप्रथम अपनी ओर आते हुए धनंजय प्राण रूपी प्राण तत्त्व को तथा मरुद्रश्मियों रूपी अपान तत्त्व को अवशोषित करता है। हम पूर्व में वायु को प्राण तथा इन्द्र को अपान कह चुके हैं। यहाँ मरुद्रश्मियां ही इन्द्र का रूप हैं। उधर प्राणापान के अवशोषित होने के साथ ही धनंजय व मरुद्रश्मियां स्वयं ही अवशोषित होने लगती हैं।

इसी प्रकार कहते हैं कि जब प्राण व अपान का युग्म मैत्रावरुण नामक पूर्वोक्त बल को प्राप्त करना चाहता है वा प्राप्त करता है, उस समय वह सर्वप्रथम चक्षुषी अर्थात् दोनों के बाहरी भाग में वर्तमान चक्षु रूपी सूत्रात्मा वायु को अवशोषित करता है, किंवा दोनों दैवी त्रिष्टुप् तथा दैवी उष्णिक् रश्मियां, जो उनके अन्दर से उत्सर्जित होती रहती हैं, को अवशोषित करता है। जैसा कि हम पूर्व में अवगत करा चुके हैं कि इस प्रकार के युग्म में प्राण व अपान क्रमशः मन तथा चक्षुरूपी सूत्रात्मा रश्मियों को उत्सर्जित करते हैं। इनसे व्यान प्राण की उत्पत्ति होती है, जो दोनों को जोड़ने वाला 'होता' होता है। यह व्यानरूप होता भी निरन्तर अपनी ओर प्रवहमान मनोरश्मियों व सूत्रात्मा वायुरश्मियों को अवशोषित करता है और ऐसा करने के पश्चात् ही वह प्राण व अपान अथवा प्राण व उदान के मध्य संचरित होता है, परन्तु इस प्रक्रिया के पूर्व ही अर्थात् मनोरश्मियों व सूत्रात्मा वायुरश्मियों को अवशोषित करने के पूर्व ही वह व्यान प्राण दैवी त्रिष्टुप् व दैवी उष्णिक् रश्मियों रूपी चक्षुओं को अवशोषित करता है।

इसके पश्चात् गुरुत्वाकर्षण बल रूपी आश्विन बल की चर्चा करते हुए कहते हैं। {मनुष्याः = मनुष्या वै विश्वेदेवाः (काठ.१६.१२), बहिः प्राणो वै मनुष्यः (तै.सं.६.१.१.४)। परिहारः = तिलांजलि देना, गुप्त रखना, दूर करना (आप्टे कोष)।} सब ओर से परिहार को प्राप्त आश्विन बल का भक्षण किया जाता है। यहाँ 'परिहार' **शब्द अतीव गम्भीर विज्ञान को उद्घाटित कर रहा है।** हमारे मत में पूर्व के दो बलों में जो विभिन्न रश्मियों आदि की उपर्युक्त विभिन्न क्रियाओं में कई छन्द रश्मियां पृथक् होकर सर्वत्र विचरती रहती हैं। उनमें से गुरुत्वाकर्षण बल उत्पन्न करने हेतु विभिन्न पिण्ड वा कण पूर्वोक्त पंक्ति व बृहती छन्द रश्मियों का अवशोषण करके वे पिण्ड वा कण उन्हें उत्सर्जित भी करते रहते हैं। फिर वे उत्सर्जित छन्द रश्मियां तथा उनके सर्वतः व्याप्त अन्य पंक्ति व बृहती छन्द रश्मियां परस्पर संयुक्त होकर गुरुत्वबल के उत्पादक त्रिष्टुप् प्राण को उत्पन्न करती हैं। यह त्रिष्टुप् प्राण रश्मि भी पूर्वोक्तानुसार इन पंक्ति व बृहती को अवशोषित करती रहती है। ऐसा करने के लिए वह सर्वतः छन्द रश्मियों को अवशोषित करती है, न कि केवल उन पिण्डों से उत्सर्जित सम्मुख दिशा से आती हुई रश्मियों को। इस प्रक्रिया में सभी देव अर्थात् विभिन्न प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण तत्त्व रूपी मनुष्य तथा विभिन्न छन्द व मरुत् रश्मियां, जो सब ओर से प्रकाशित वा क्रियाशील व गतिशील रहती हैं, उन्हें वे त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां ग्रहण करती रहती हैं। इनमें विशेष भूमिका पंक्ति व बृहती छन्द रश्मियों की होती है। शेष याजुषी अनुष्टुप् व ब्राह्मी विराट् की भूमिका से हम अवगत हैं, ही। उधर "सर्वाणि छन्दांसि बृहतीमभिसंपन्नानि" (जै.ब्रा.१.३१६) से स्पष्ट ही है कि बृहती के साथ सभी छन्द रश्मियों के

अवशोषण का कार्य हो जाता है। यहाँ **'शृण्वन्ति'** पद का अर्थ **'ग्रहण करते हैं'**, ही ग्राह्य है। **पूर्व दोनों प्रकार के बलों में होता रूपी कण व रश्मि केवल दो कणों के निकट आने पर उनमें से आमने सामने आने वाली रश्मियों का ही मिलन होकर पूर्वोक्तानुसार बलों की उत्पत्ति होती है, परन्तु यहाँ बलोत्पादिका रश्मियां सब ओर उत्सर्जित वा अवशोषित होती रहती हैं, इसी कारण गुरुत्व बल सबसे दुर्बल होता है।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ पूर्वोक्त तीनों बलों की और भी स्पष्ट व्याख्या करते हैं। उन बलों में से प्रथम बल अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय वा प्रबल नाभिकीय बल, जो दो आवेशित कणों के बीच उत्पन्न होता है, इस बल के भागरूप उन दोनों विद्युद् बलों की क्रिया विधि इस प्रकार है-

जब दो आवेशितत पदार्थ निकट आते हैं, तब उनमें से धनंजय प्राण रश्मियां व मरुद्रश्मियां उत्सर्जित होकर फील्ड पार्टीकल्स रूपी वर्चुअल फोटोन्स की उत्पत्ति होती है। ये फोटोन्स पहले प्राण व अपान नामक सूक्ष्म रश्मियों को अवशोषित करते हैं। तदुपरान्त ही वे धनंजय व मरुद् रश्मियों का अवशोषण करते हैं। वे प्राणापान भी उन धनंजयादि के साथ संगत हुए रहते हैं। धनंजय व मरुत् दोनों परस्पर आमने-सामने ही प्रवाहित होते हैं।
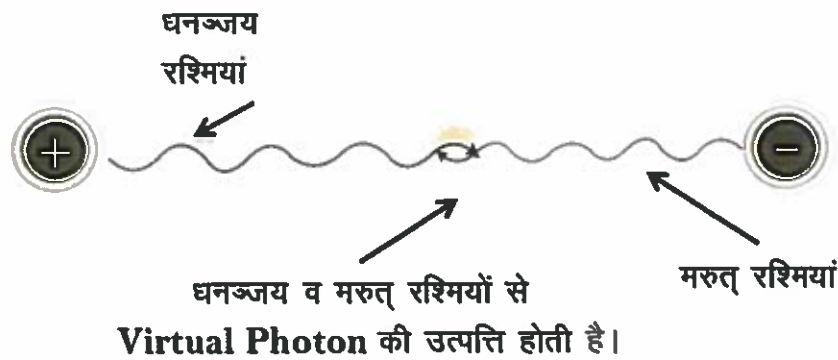
चित्र ६.७ धनंजयादि व मरुत् रश्मियों के द्वारा फील्ड पार्टीकल्स की उत्पत्ति
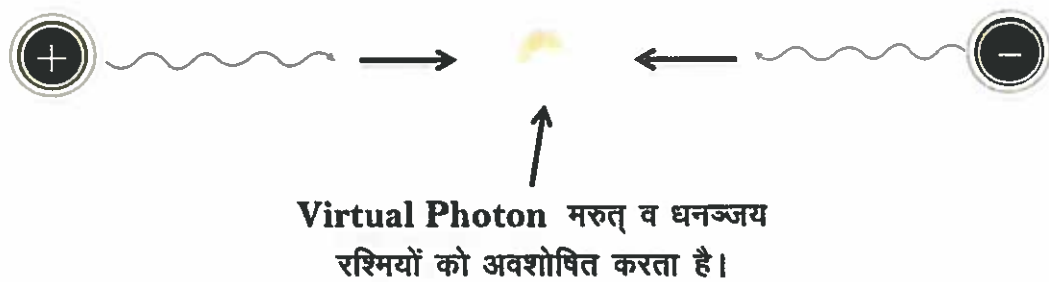
चित्र ६.८ फील्ड पार्टीकल्स के द्वारा धनंजयादि रश्मियों का अपनी ओर आकर्षण

द्वितीय बल, जो प्राण व अपान अथवा प्राण व उदान के बीच कार्य करता है, में पूर्वोक्तानुसार फील्ड पार्टीकल के स्थान पर व्यान प्राण ही उत्पन्न होकर यह कार्य करता है। यहाँ प्राण व अपान में से क्रमशः मन व सूत्रात्मा वायु रश्मियां किंवा दैवी उष्णिक् व दैवी त्रिष्टुप् रश्मियां परस्पर आमने-सामने उत्सर्जित होकर ही व्यान प्राण को उत्पन्न करती हैं। यह व्यान प्राण मन व सूत्रात्मा को अवशोषित करने के पूर्व ही दैवी उष्णिक् व दैवी त्रिष्टुप् प्राण रश्मियों का शोषण करता है, उसके पश्चात् ही मन व सूत्रात्मा वायु रश्मियों को अवशोषित करता है।
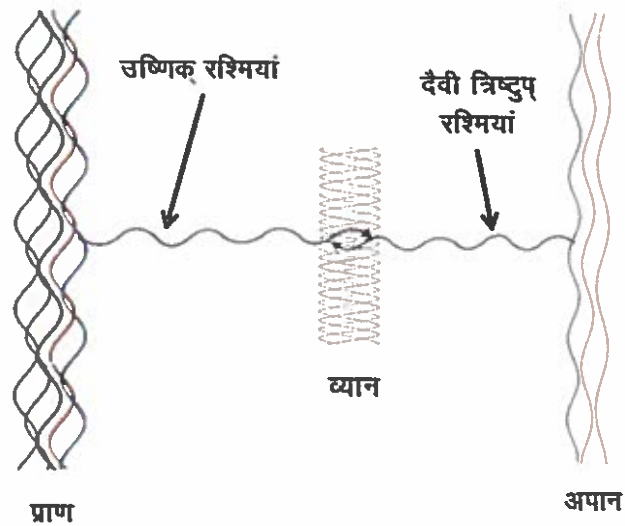
चित्र ९.९ दैवी उष्णिक् व दैवी त्रिष्टुप् रश्मियों के मेल से व्यान प्राण की उत्पत्ति
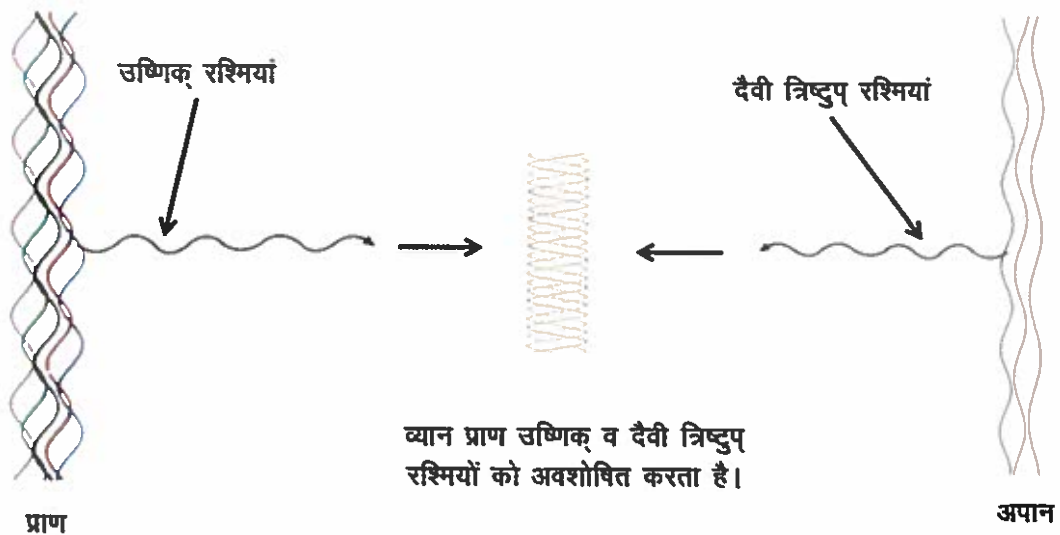
चित्र ९.१० व्यान प्राण के द्वारा दैवी उष्णिक् व दैवी त्रिष्टुप् प्राण रश्मियों का शोषण

तृतीय गुरुत्व बल इनसे विलक्षण है। इसका पूर्व दोनों बलों से एक विशेष भेद है। **पूर्व दोनों बलों की प्रक्रियाओं में शेष बची तथा वैसे भी सर्वत्र विद्यमान छन्द रश्मियां विशेषकर बृहती व पंक्ति छन्द रश्मियां विभिन्न पिण्डों वा कणों के द्वारा अवशोषित व उत्सर्जित होती रहती हैं। इन्हीं के संयोग से सूत्रात्मा वायु से सम्पीडित त्रिष्टुप् प्राण वर्तमान विज्ञान द्वारा नामित ग्रेवीटॉन की उत्पत्ति होती रहती है। ये ग्रेवीटॉन परस्पर निकटस्थ पिण्डों अथवा अन्यत्र प्रवहमान बृहती व पंक्ति छन्द रश्मियों को अवशोषित करते रहते हैं और इस कारण वे सर्वत्र प्रवाहित होकर गुरुत्वाकर्षण बल उत्पन्न करते रहते हैं। क्योंकि यहाँ ग्रेवीटॉन्स सब ओर अपनी व्याप्तता रखते हैं, इस कारण गुरुत्व ऊर्जा रिसती रहती है, जिससे गुरुत्व बल सभी बलों में सबसे दुर्बल परन्तु व्यापक होता है।** विद्युत् चुम्बकीय बल में वर्चुअल फोटोन धनंजयादि रश्मियों को सम्मुख दिशा से ही अवशोषित करता तथा उधर ही स्वयं प्रवाहित होता है, इस कारण यह बल गुरुत्व बल की भाँति रिसता नहीं है, जिससे यह उसकी अपेक्षा शक्तिशाली होता है। प्राणापान वा प्राणोदान के मध्य कार्यरत बल भी इसी प्रकार गुरुत्व बल की अपेक्षा शक्तिशाली होता है।
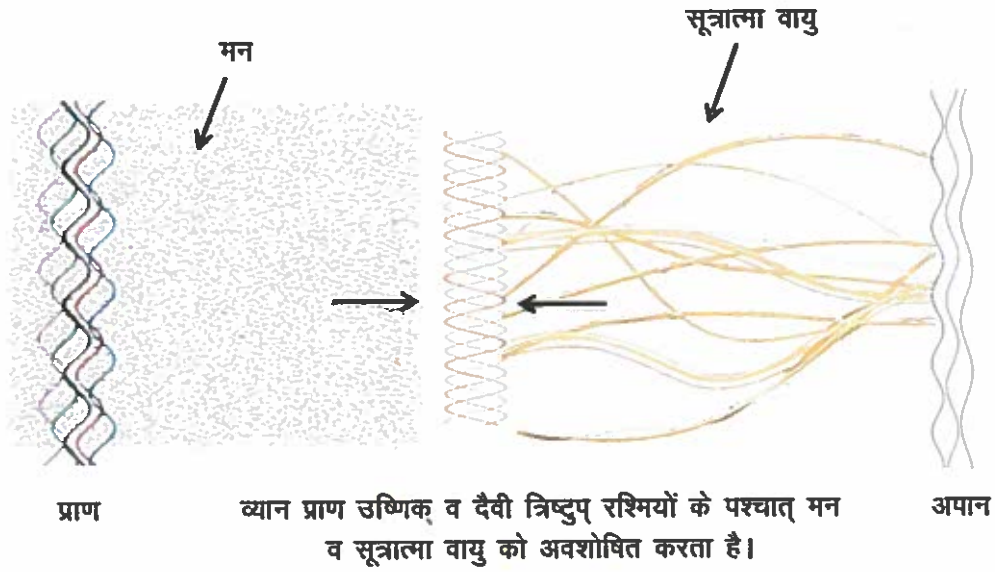
चित्र ६.११ व्यान प्राण के द्वारा मन व सूत्रात्मा वायु रश्मियों का शोषण
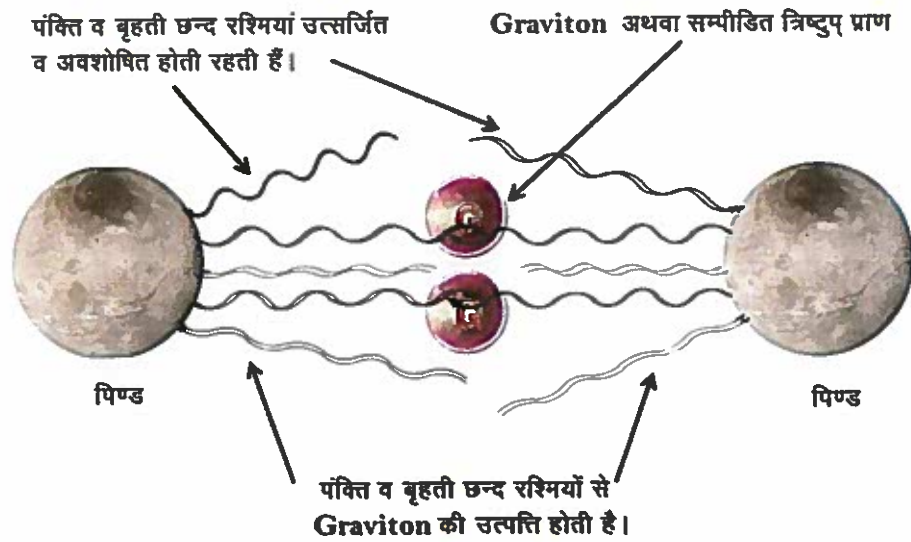
चित्र ६.१२ बृहती तथा पंक्ति रश्मियों के मेल से त्रिष्टुप् प्राण (ग्रेवीटॉन) की उत्पत्ति
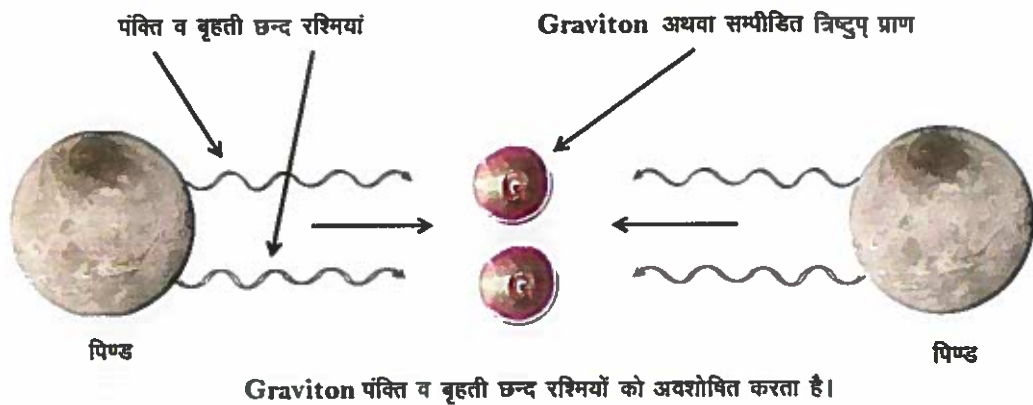
चित्र ६.१३ ग्रेवीटॉन के द्वारा बृहती तथा पंक्ति रश्मियों का अपनी ओर आकर्षण

❦ इति ९.३ समाप्तः ❧

अथ १.४ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. प्राणा वै द्विदेवत्या, अनवानं द्विदेवत्यान्यजेत् प्राणानां संतत्यै प्राणानामव्यवच्छेदाय।।
प्राणा वै द्विदेवत्याः, न द्विदेवत्यानामनुवषट्कुर्यात्।।
यद्द्विदेवत्यानामनुवषट् कुर्याद्, असंस्थितान् प्राणान् संस्थापयेत्, संस्था वा एषा यदनुवषट्कारो य एनं तत्र ब्रूयाद् असंस्थितान् प्राणान् समतिष्ठपत् प्राण एनं हास्यतीति शश्वत् तथा स्यात् तस्मान्न द्विदेवत्यानामनुवषट्कुर्यात्।।

{अनवानम् = अनु+अवानः (अवानः = अव+अनु+अच्), निरन्तर, अनवानं नाम आदित अन्तादनुच्छ्वासः (इति सायण भाष्य पाद टिप्पणी)}

विभिन्न बलों का प्रभाव क्षेत्र

व्याख्यानम्- जैसा कि हम पूर्व में वर्णन कर चुके हैं कि पूर्वोक्त दो देवताओं के मध्य जो बल कार्य करता है, वह प्राणों का ही रूप होता है किंवा उन प्राणों के कारण ही वह बल उत्पन्न होता है। वे प्राण एक सुरक्षित क्षेत्र में परस्पर संगत होते हुए उन दोनों कणों वा पदार्थों को अपने साथ संगत करते हैं। उन दोनों पदार्थों के मध्य प्राणों का प्रवाह सतत बना रहता है अर्थात् उसमें कोई व्यवधान नहीं आता। उन दोनों प्रकार के प्राणों से उत्पन्न पदार्थ विशेष, जो दोनों पदार्थों के मध्य सतत प्रवाहित होता है, उसकी गति भी व्यवधान रहित हुआ करती है। इसी के कारण उन दोनों पदार्थों के मध्य बल का प्रभाव सदा एकरस बना रहता है।।

{वषट्कारः = वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः (ऐ.३.८), देवपात्रं वा एतद् यद् वषट्कारः (ऐ.३.५), देवपात्रं वै वषट्कारः (गो.उ.३.१)}

उपर्युक्त जो प्राण रश्मियां जिन दो पदार्थों के मध्य प्रवाहित होकर बल उत्पन्न करती हैं, वे ही प्राण रश्मियां उन दोनों पदार्थों की रक्षिका वा पालिका भी होती हैं। यह हम पूर्व में जान ही चुके हैं कि किन-२ पदार्थ-युग्मों के मध्य कौन-कौनसी प्राण रश्मियां उत्पन्न हुआ करती हैं? वे प्राण रश्मियां ही वषट्कार रूप होती हैं, क्योंकि वे ही देवपात्र रूप बनकर उन पदार्थों के मध्य व्याप्त होकर उन्हें आधार प्रदान करती हैं। वे युग्म रूप प्राण रश्मियां परस्पर आगे-पीछे नहीं बल्कि एक साथ उत्सर्जित और संगत होती हैं।।

यदि उन देव पदार्थों के मध्य प्राण रश्मियों का उत्सर्जन एवं परस्पर संयोजन साथ-२ न होकर कुछ आगे-पीछे वा अन्तर से होता है, तो वे निरन्तर प्रवहमान प्राण रश्मियाँ अपने प्रवाह को खो देती हैं और इसके कारण उत्पन्न होने वाला वह पदार्थ, जो दोनों पदार्थों के मध्य सतत बल का संचरण करता है, उसकी गति और उत्पत्ति दोनों में विघ्न आ जाएगा। तदुपरान्त इसके कारण दोनों पदार्थों के मध्य कार्यरत बल अनियन्त्रित, अव्यवस्थित एवं व्यवधान युक्त हो जाएगा। ऐसा होने पर उस बल को मापना और जानना भी असंभव हो जाएगा। इसके साथ ही उस बल की समाप्ति भी हो जाएगी। इस सृष्टि में हम विभिन्न बलों को दो वर्गों में बांट सकते हैं। इनमें से प्रथम बल वे हैं, जिनका प्रभाव क्षेत्र अनन्त दूरी तक होता है और दूसरे बल वे हैं, जिनका प्रभाव क्षेत्र एक निश्चित सीमा में होता है। हमारे मत में जब प्राण रश्मियों के युग्म के संयोजन में कुछ व्यवधान वा अन्तराल आता है, तो बल का प्रभाव समाप्त हो जाता है। इस कारण उनमें अन्तराल नहीं आना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार के बलों की उत्पत्ति और कार्य विधि की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि विद्युत् चुम्बकीय बल एवं गुरुत्व बल आदि की उत्पत्ति एवं क्रियाशीलता के समय पूर्वोक्तानुसार जो-२ भी प्राण रश्मियां दोनों ओर से उत्सर्जित होकर मीडियेटर पार्टीकल वा प्राण आदि का निर्माण करती हैं, वे प्राण रश्मियां बिना व्यवधान के निरन्तर प्रवाहित होती हैं। जब वे रश्मियां परस्पर संगत होकर फील्ड पार्टीकल्स का निर्माण करती हैं, उस समय वे दोनों प्रकार की रश्मियां बिना किसी अन्तराल व अवकाश के संयुक्त होकर फील्ड पार्टीकल्स अथवा मीडियेटर प्राण तत्त्व को उत्पन्न करने में समर्थ हो पाती हैं। **गुरुत्वाकर्षण बल एवं विद्युत् चुम्बकीय बल को उत्पन्न करने वाली प्राण रश्मियां अनन्त दूरी तक चलते हुए भी अन्तराल को प्राप्त नहीं होती हैं। इस कारण वर्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित ग्रेवीटोन्स एवं वर्चुअल फोटोन्स अनन्त दूरी तक उत्पन्न होकर बल का संचरण करने में समर्थ होते हैं। उधर एटम्स के नाभिकों के चारों ओर एक ऐसा प्राण क्षेत्र विद्यमान होता है, जिसके निकट आकर दो क्वार्कों से उत्सर्जित होने वाली प्राण रश्मियां अपनी सामंजस्यता एवं संगति को खो देती हैं, जिससे मीडियेटर पार्टीकल ग्लुऑन्स का निर्माण नाभिक की सीमा के बाहर नहीं हो पाता और नाभिक के अन्दर ही उन प्राण रश्मियों की संगति की निरन्तरता बनी रहने से ग्लुऑन्स का निर्माण होता रहता है। इस कारण प्रबल नाभिकीय बल का प्रभाव केवल नाभिक के अन्दर ही होता है,** जबकि उपर्युक्त दोनों बल अनन्त दूरी तक प्रभावी होते हैं। इसी कारण नाभिकीय बल विद्युत् चुम्बकीय बल की अपेक्षा अधिक बलशाली भी होता है। गुरुत्व बल की दुर्बलता का कारण हम पूर्व में लिख ही चुके हैं। यहाँ प्राण रश्मियों का सामञ्जस्य प्रयोजनानुसार ईश्वर तत्त्व ही बनाता व नष्ट करता है।

चित्र ९.१४
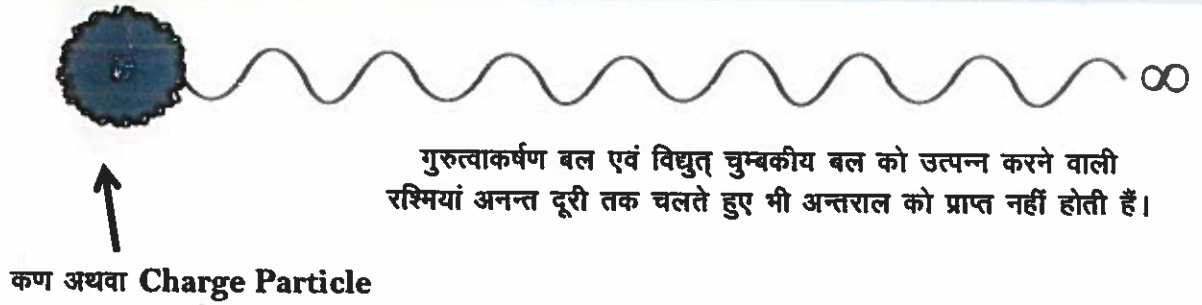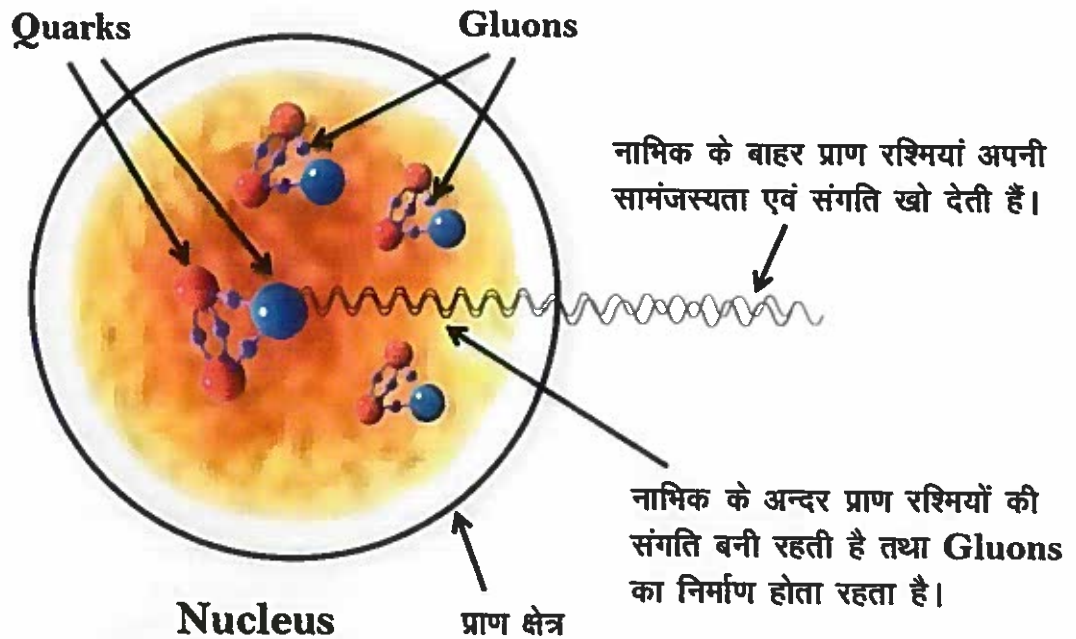
चित्र ९.१५ नाभिकीय बलों के प्रभाव क्षेत्र की न्यूनता का कारण

२. तदाहुर्द्विरागूर्य मैत्रावरुणो द्विः प्रेष्यति सकृदागूर्य होता द्विर्वषट्करोति; का होतुरागूरिति।।
प्राणा वै द्विदेवत्या आगूर्वज्रस्तद्यदत्र होताऽन्तरेणाऽऽगुरेताऽऽगुरा वज्रेण यजमानस्य प्राणान् वीयाद् य एनं तत्र ब्रूयादागुरा वज्रेण यजमानस्य प्राणान् व्यगात् प्राण एनं हास्यतीति शश्वत् तथा स्यात् तस्मात् तत्र होताऽऽन्तरेण नाऽऽगुरेत।।

{आगुः = आ+गुर्+क्विप् (गुर् = प्रयत्न करना, चोट पहुँचाना और जाना, इति आप्टे कोष)}

व्याख्यानम्- यहाँ प्रकारान्तर से महर्षि मैत्रावरुण अर्थात् प्राण और अपान के मध्य कार्यरत बल की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जब प्राण और अपान के मध्य खण्ड २.२६,२७ में वर्णितानुसार बल कार्य करता है, उस समय वह बल उत्पादक रश्मि युग्म अर्थात् मन रश्मियां और सूत्रात्मा वायु रश्मियां, जिनके कारण पूर्वोक्तानुसार जो त्रिष्टुप् अर्थात् व्यान रश्मियां उत्पन्न होती हैं, उन रश्मियों को प्रेरित करने के लिए दो वार प्रयत्न करती हैं। इस विषय में आश्वलायन श्रौतसूत्र ५.५.३ में कहा गया है- "होता यक्षद्वायुमग्रेगां होता यक्षदिन्द्रवायू अर्हन्तेति प्रैषावनवानम्"। इस सूत्र को आचार्य सायण ने दो भागों में विभक्त किया है - १. 'होता यक्षद्वायुमग्रेगाम्' २. 'होता यक्षदिन्द्रवायू अर्हन्तेति'। इन दो भागों को दो प्रैष मंत्रों की संज्ञा दी है। हमारे मत में द्वितीय भाग में 'अर्हन्तेति' के स्थान पर 'अर्हन्त' शब्द होना चाहिए। सूत्रकार ने इन दोनों को 'प्रैषो+अनवानम्' कहकर स्वयं सूत्र के दो भाग करके उन्हें अनवान अर्थात् मनोरश्मियां एवं सूत्रात्मा वायु को उचित रूप से संगत और संयोजित करने के लिए दो प्रैष अर्थात् प्रेरक मंत्र कहा है। इसका आशय यह है कि जब प्राण और अपान अथवा प्राण और उदान के मध्य सम्पर्क होता है, तब पूर्वोक्त प्रक्रिया के अन्तर्गत ही प्रथम ६ अक्षर युक्त प्राजापत्या भुरिक् गायत्री छन्द रश्मि तथा द्वितीय याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इनसे व्यान रश्मि को प्रेरित करके प्राणापान को संगत-सबल करके क्रमशः वायु अर्थात् मरुद् रश्मियां एवं इन्द्र अर्थात् धनंजय प्राण प्रभावित होते हैं। इसके साथ ही ये दोनों छन्द रश्मियां आग्नेय और सौम्य कण के बीच उत्पन्न 'होता' संज्ञक पूर्वोक्त कण को इन धनंजय और मरुद् रश्मियों के साथ संगत होने के लिए प्रेरित करती हैं। इससे यह प्रतीत हो रहा है कि मैत्रावरुण बल, जिसकी हम पूर्व में व्याख्या विस्तार से कर चुके हैं, पूर्वोक्त ऐन्द्रवायव किंवा अन्य किसी बल के साथ भी अवश्य संयुक्त होता है। यहाँ उसी मैत्रावरुण बल की रश्मियों के द्वारा इन दो छन्द रश्मियों के माध्यम से ऐन्द्रवायव बल को प्रेरित करने की चर्चा की गई है। इन रश्मियों के द्वारा दो वार ऐन्द्रवायव बल रश्मियों को प्रेरित किया जाता है। उस समय पूर्वोक्तानुसार वामदेव ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न इन्द्रवायुदेवताक और विराड् गायत्री छन्दस्क

अग्रं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु। त्वं हि पूर्वपा असि।। (ऋ.४.४६.१)

नामक याज्या की उत्पत्ति होती है। इस विषय में खण्ड २.२६ की अन्तिम कण्डिका भी देखें। इस याज्या, जिसे याज्ञिक लोग दो वार पढ़ने का विधान मानते हैं, की उत्पत्ति के पूर्व 'ये यजामहे' (वा.सं.१९.२४ -आचार्य सायण द्वारा उद्धृत) के पठन का विधान करते हैं। हमारी दृष्टि में इसका तात्पर्य यह है कि इस दैवी पंक्ति छन्द रश्मि की एक आवृत्ति होकर उपर्युक्त दो याज्या रश्मियों की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रश्न यह किया गया है कि इस एक दैवी पंक्ति छन्द रश्मि का सम्बन्ध दो याज्या छन्द रश्मियों के साथ कैसे होता है? क्योंकि पंक्ति छन्द रश्मि याज्या रश्मियों के प्रभाव को विस्तृत करती है, अतः उसकी आवृत्ति भी दो ही होनी चाहिए।।

इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि प्राण रश्मियां दोनों देव पदार्थों के मध्य पूर्वोक्तानुसार रमण करती हैं। उपर्युक्त प्रैष संज्ञक रश्मियाँ वज्र रूप होती हैं और "ये यजामहे" उन वज्र रूप रश्मियों को विस्तृत करती है। यदि "ये यजामहे" की उत्पत्ति दोनों याज्या छन्द रश्मियों के मध्य हो जाए, तो वे

वज्र रश्मियाँ अपने प्रभाव से याज्या रश्मियों को फैला करके अर्थात् उन्हें दुर्बल करके दोनों कणों के संगत होने की प्रक्रिया को रोक देंगी अर्थात् उनके बीच कार्यरत आकर्षण बल मैत्रावरुण बल से वियुक्त हो जाएगा और फिर दोनों कणों के मध्य उत्पन्न बल का संवाहक कण रूप होता न केवल प्राणापान से अपितु धनंजय एवं मरुद् रश्मियों तथा पूर्वोक्त याज्या और पुरोनुवाक्या संज्ञक छन्द रश्मियों से भी मुक्त हो जाएगा, जिसके कारण वह आकर्षण बल भी समाप्त हो जाएगा। इस कारण ही "ये यजामहे" दैवी पंक्ति छन्द रश्मि की उत्पत्ति एक बार ही होती है, वह भी दोनों याज्या रश्मियों के पूर्व में, न कि मध्य में।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो आवेशित कणों के मध्य आकर्षण की प्रक्रिया होती है, उस समय उनके मध्य पूर्वोक्तानुसार फील्ड पार्टीकल को उत्पन्न करने की प्रक्रिया में प्राणापान के मध्य कार्यरत बल भी अपनी अनिवार्य भूमिका निभाता है। इसके अन्तर्गत प्राणापान वा प्राणोदान की सन्धि रूप व्यान रश्मियों को प्रेरित करने के लिए मन और सूत्रात्मा वायु एक प्राजापत्या भुरिक् गायत्री छन्द रश्मि और द्वितीय याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि को उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण प्राणापान के मध्य सन्धि रूप व्यान प्राण प्रेरित होकर प्राणापान वा प्राणोदान के बन्धन को सुदृढ़ करता है। इसके फलस्वरूप विपरीत आवेश वाले कणों के मध्य मिडीयेटर वर्चुअल फोटोन्स को प्रेरित और उत्तेजित करके आकर्षण बल को सुदृढ़ करने में सहायता मिलती है। ध्यातव्य है कि प्राणापान वा प्राणोदान का बल दो पृथक्-२ दिशाओं से वर्चुअल फोटोन्स को प्रभावित करता है, परन्तु वर्चुअल फोटोन्स एक ही दिशा में एक ही प्रयत्न से गति करते हैं। ये उपर्युक्त गायत्री और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां अपना तीव्र प्रभाव दर्शाकर वर्चुअल फोटोन्स को प्रभावित करने वाली अन्य छन्द रश्मियों को तीव्रता प्रदान करती हैं। इनके साथ ही एक दैवी पंक्ति छन्द रश्मि इन सब रश्मियों के प्रभाव को विस्तृत करती है।।

३. अथो मनो वै यज्ञस्य मैत्रावरुणो, वाग्यज्ञस्य होता, मनसा वा इषिता वाग्वदति, यां ह्यन्यमना वाचं वदत्यसुर्या वै सा वागदेवजुष्टा तद्यदेवात्र मैत्रावरुणो द्विरागुरते सैव होतूरागूः।।४।।

व्याख्यानम्-प्राणापान वा प्राणोदान के मध्य जो पूर्वोक्त मैत्रावरुण संज्ञक आकर्षण बल कार्य करता है, उसमें उत्सर्जित मनोरश्मियां और सूत्रात्मा वायु में से मन ही मुख्यतया इस बल का कारण होता है। यह मन ही सब प्राणों का आधार और उपादान कारण है। इन प्राण युग्मों के मध्य जो पूर्वोक्त त्रिष्टुप् व्यान रूप बल की संवाहिका रश्मि उत्पन्न होती है, वह वाग् रूप होता के रूप में होती है अर्थात् वही वाग् रश्मि प्राणापान वा प्राणोदान के मध्य संचरित होकर बल का आदान-प्रदान करती है। यह बल रश्मि मुख्यतः मनस् तत्त्व से प्रेरित होकर ही गति करती है, तभी वह बल को सम्यग् रूप से सम्पादित कर पाती है। यदि ये व्यान रश्मियों रूपी त्रिष्टुप् छन्द मनोरश्मियों के साथ पूर्णतः संगत न हो पाए, तो प्राणापान और प्राणोदान रूपी रश्मियां असुर रश्मियों का रूप धारण कर लेती हैं और ऐसी असुर रश्मियाँ, जो अप्रकाशित रूप में होती हैं, ब्रह्माण्डस्थ देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थों से संगत न होकर विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं में बाधा उत्पन्न करती हैं। इस कारण पूर्वोक्त मैत्रावरुण बल अर्थात् मन एवं सूत्रात्मा वायु दो प्रकार का जो प्रयत्न करता है और इस रूप में जो पूर्वोक्त दो प्रैष छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, उसी से त्रिष्टुप् व्यान रूप वाग् रश्मि प्रभावित हो जाती है और पूर्वोक्त "ये यजामहे" की उत्पत्ति एक बार ही होकर न केवल व्यान प्राण अपितु पूर्वोक्त ऐन्द्रवायव बलों के संवाहक कणों को भी प्रेरित करती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- दो आवेशित कणों के मध्य कार्यरत आकर्षण वा प्रतिकर्षण बल की उत्पत्ति की प्रक्रिया में, जो प्राणापान वा प्राणोदान के मध्य कार्यरत बल का योगदान रहता है, उन बलों की उत्पत्ति में मनस् तत्त्व की सूक्ष्म रश्मियों का प्रमुख योगदान होता है। ये मनोरश्मियां प्राणापान और प्राणोदान के मध्य बल संवाहिका व्यान रश्मियों को प्रेरित करती हैं। फिर वे व्यान रश्मियां वर्चुअल फोटोन्स की उत्पत्ति में अपना योगदान देती हैं। ये व्यान रश्मियां मन से प्रेरित होकर उसी के साथ संगत भी होती

हैं। इस प्रक्रिया से ब्रह्माण्ड के समस्त दृश्य पदार्थ की उत्पत्ति और स्थिति होती है। **ब्रह्माण्ड में जहाँ और जब व्यान रश्मियां मनोरश्मियों के साथ पूर्णतः संगत नहीं होती, वहाँ प्राणापान वा प्राणोदान रश्मियां अप्रकाशित ऊर्जा का रूप धारण कर लेती हैं। यही डार्क एनर्जी का सूक्ष्म रूप है।**

ॐ इति ९.४ समाप्तः ॐ

ॐ अथ ९.५ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. प्राणा वा ऋतुयाजास्तद्यदृतुयाजैश्चरन्ति प्राणानेव तद्यजमाने दधति।।
षळ्ऋतुनेति यजन्ति, प्राणमेव तद् यजमाने दधति।।
चत्वार ऋतुभिरिति यजन्त्यपानमेव तद् यजमाने दधति।।
द्विर्ऋतुनेत्युपरिष्टाद् व्यानमेव तद् यजमाने दधति।।
स वा अयं प्राणस्त्रेधा विहितः प्राणोऽपानो व्यान इति तद् यदृतुन ऋतुभिर्ऋतुनेति यजन्ति प्राणानां संतत्यै प्राणानामव्यवच्छेदाय।।

{ऋतवः = द्वौ हि मासावृतुः (श.७.४.२.२६), ऋतवो वै प्रयाजाऽनुयाजाः (कौ.ब्रा.१.४), रश्मयः ऋतवः (मै.४.८.८), ऋतवो होत्राशंसिनः (कौ.ब्रा.२६.८), ऋच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यैस्ते (तु.म.द.ऋ.भा.१.१५.१०), तानि वाऽएतानि (भूर्भुवस्स्वरिति) पञ्चाक्षराणि, तान् पञ्चऽर्तूनकुरुत (प्रजापतिः) त इमे पञ्चर्तवः (श.११.१.६.५), पूषा षडक्षरया षड् ऋतून् उदजयत् (मै.१.११.१०), ऋतुग्रहैः प्रातःसवनमृतुमत् (मै.४.६.८), ऋतव उद्गीथः (ष.३.१)}

व्याख्यानम्- यहाँ ऋतु संज्ञक प्राण ऐसे सूक्ष्म प्राण हैं, जो पूर्वोक्त प्रातःसवन क्रिया अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति के प्रथम चरण में अहंकार वा मनस्तत्त्व रूप अति सूक्ष्म पदार्थ में सर्वप्रथम स्पन्दन के रूप में उत्पन्न करते हैं। शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि **'भूः', 'भुवः', 'स्वः' के एक-२ अक्षर की ऋतु संज्ञा होती है।** प्रश्न यह उठता है कि यहाँ चार अक्षरों को पांच अक्षर कैसे वताया गया है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि शास्त्रों में अनेकत्र 'स्वः' को 'सुवः' का ही रूप माना गया है। इसके लिए हम कुछ प्रमाण यहाँ उद्धृत करते हैं- "सुवरसि, सुवर्मे यच्छ, दिवं यच्छ (तै.सं.५.७.६.२), सुवरित्यसौ (द्यु) लोकः (तै.आ.७.५.१; तै.उ.१.५.१), सुवर्गाय वा एते लोकाय गृह्यन्ते यदृतुग्रहा (तै.सं.६.५.४.१)"। इनकी ऋतु संज्ञा इस कारण होती है, क्योंकि वे इस सृष्टि में वार-२ उत्पन्न होकर सवको व्याप्त करते रहते हैं। **ध्यातव्य है कि पूर्व में जो हमने ऋतु संज्ञक प्राणों का स्वरूप सूर्यादि लोकों के अन्तर्गत माना है, वह इस ऋतु प्राण स्वरूप से सर्वथा भिन्न और अति स्थूल है।**

यहाँ महर्षि प्राणापान आदि के स्वरूप और उत्पत्ति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इन ऐसी **सूक्ष्म ऋतु संज्ञक प्राण रश्मियों, जो एकाक्षरा वाक् के रूप में होती हैं, के यजन से प्राण, अपान एवं व्यान आदि प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति होती है।** जव ऐसी सूक्ष्म ऋतु रश्मियों की संगति होकर वे प्रवाह रूप में मनस् वा अहंकार तत्त्व में विचरण करती हैं, तव वे प्राणापान आदि के रूप में व्यवहार करती हैं। दो पदार्थों के मध्य पूर्ववर्णित आकर्षण आदि वलों में जो प्राणापानव्यान आदि का व्यवहार वतलाया गया है, उस विषय में भी महर्षि संकेत करते हुए कहते हैं कि इन ऐसी सूक्ष्म ऋतु रश्मियों की विभिन्न संगतियों के फलस्वरूप प्राणापान आदि को उन पदार्थों के मध्य धारण किया जाता है।।

यहाँ महर्षि सूक्ष्म ऋतु रश्मियों की संख्या ६ वतलाते हैं। उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि **छठी सूक्ष्म ऋतु रश्मि स्वयं "ओम्" एकाक्षरा वाक् है। यहाँ प्राण नामक प्राथमिक प्राण की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह प्राण ६ सूक्ष्म ऋतु रश्मियों से मिलकर बनता है।** यहाँ 'ऋतुना' में एकवचन है, इससे यह संकेत मिलता है कि इन ६ सूक्ष्म ऋतु रश्मियों की पृथक्-२ एक-२ करके आवृत्ति होती है। पुनः ये सभी ६ रश्मियां परस्पर संगत होकर किसी भी संयोज्य पदार्थ में प्राण नामक

प्राथमिक प्राण को धारण कराती हैं अर्थात् इन ६ रश्मियों के क्रमशः संगत होने से कोई भी पदार्थ प्राण को धारण करता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्राण रूपी प्राथमिक प्राण इन ऋतु रश्मियों की अपेक्षा स्थूल होता है। यहाँ 'इति' शब्द का अर्थ 'इव' अर्थात् समान ग्रहण करना चाहिए। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य १२.६४ में 'इति' शब्द का अर्थ 'इव' ही ग्रहण किया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि **प्राण तत्त्व को ६ ऋतु रश्मियों के समान मानना चाहिए।** यदि इस ग्रन्थ में सर्वत्र उपर्युक्त शैली को ही अपनाया जाए, तो यह भी सिद्ध होगा कि "षड्ऋतुना" यह दैवी पंक्ति छन्द रश्मि उत्पन्न होकर ऋतु रश्मियों को संगत करके प्राण तत्त्व को उत्पन्न करती है।।
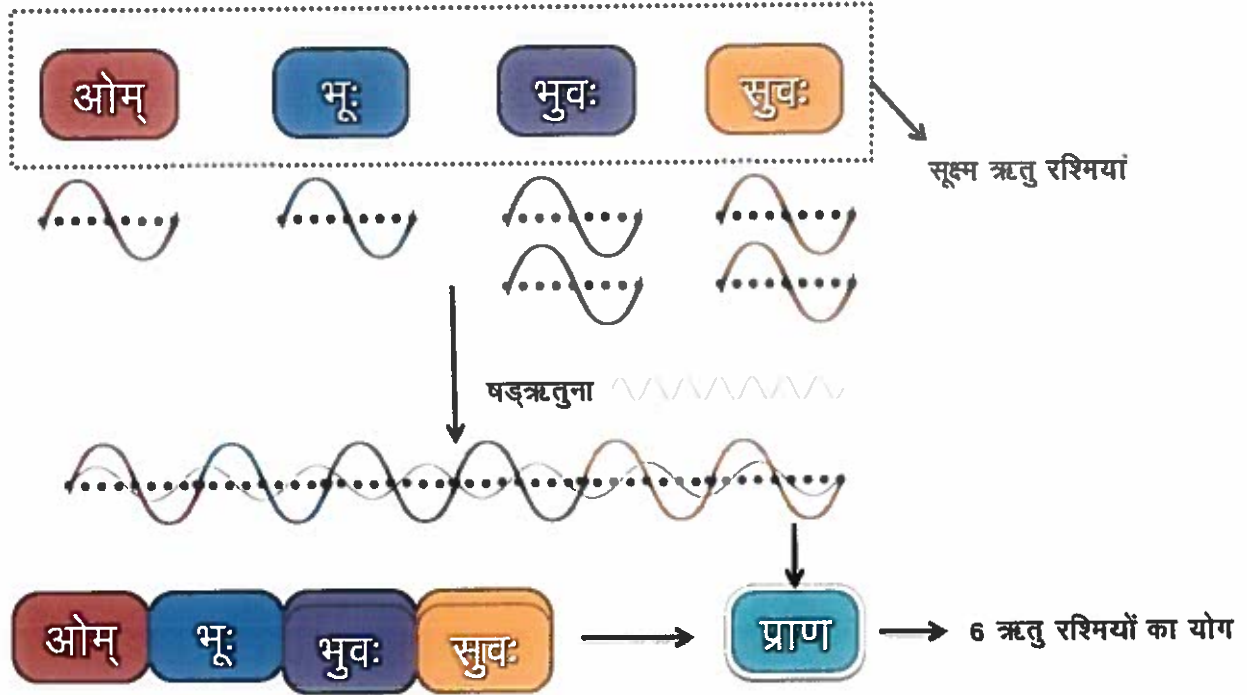
चित्र ६.१६ प्राण रश्मि के वनने की प्रक्रिया
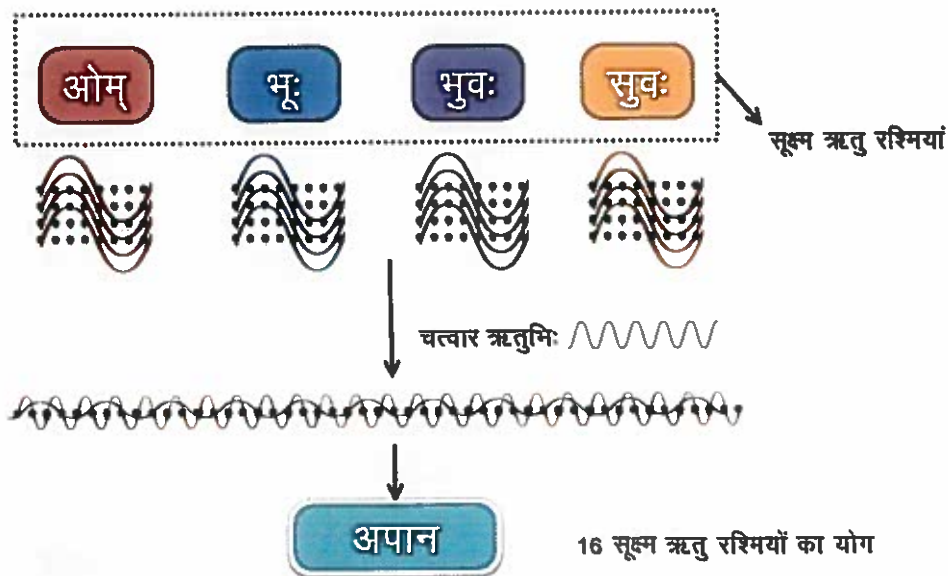
चित्र ६.१७ अपान रश्मि के वनने की प्रक्रिया

यहाँ अपान प्राण की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि "चत्वार ऋतुभिः" यह दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर **चार-२ सूक्ष्म ऋतु रश्मियों के चार संयुक्त रूपों को संगत करके अपान तत्त्व की उत्पत्ति करती है किंवा इन चार-२ ऋतु रश्मियों के चार**

संयुक्त रूप ही परस्पर संगत होकर किसी भी पदार्थ में अपान तत्त्व को उत्पन्न करके धारण कराते हैं। यहाँ "ऋतुभिः" वहुवचन में प्रयुक्त है, इसी से यह प्रतीत होता है कि एक साथ चार-२ ऋतु रश्मियों की उत्पत्ति होकर चार आवृत्ति हुआ करती हैं, जिससे कुल १६ ऋतु रश्मियों के योग से अपान तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि यहाँ कौनसी चार ऋतु रश्मियां उत्पन्न होती हैं? इस विषय में हमारा मत यह है **'ओम्', 'भूः', 'भुवः' और 'सुवः' में से एक 'ओम्' अक्षर को साथ लेकर अन्य से एक-२ अक्षर लेकर चतुरक्षरा वाग् रश्मि चार ऋतु संज्ञक रश्मियों का संयुक्त रूप ले सकती हैं। दूसरा विकल्प यह भी संभव है कि व्याहृतियों को एक-२ ऋतु रश्मि ही माना जाए, तब ओंकार सहित इनका संयुक्त रूप चार ऋतु रश्मियों का रूप ले सकता है।।**

यहाँ व्यान प्राण की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि **एक ऋतु संज्ञक रश्मि दो बार आवृत्त और फिर परस्पर संयुक्त होकर व्यान प्राण को उत्पन्न करती है।** यहाँ "ऋतुना" एक वचनान्त होने से दो भिन्न-२ ऋतु रश्मियां संगत होकर व्यान तत्त्व को उत्पन्न करें, ऐसा उचित प्रतीत नहीं होता। दो वार आवृत्त यह ऋतु रश्मि "द्विर्ऋतुना" इस दैवी वृहती छन्द रश्मि के उत्पन्न होकर प्रेरणा करने से परस्पर संगत होकर व्यान प्राण को उत्पन्न करती हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह ऋतु रश्मि कौनसी होती है? इसके उत्तर में **हमारा मत यह है कि ओम् रूपी ऋतु रश्मि ही दो बार संगत होकर व्यान प्राण का रूप धारण कर प्राण और अपान आदि में विचरण करते हुए उनको परस्पर संगत रखती है।।**
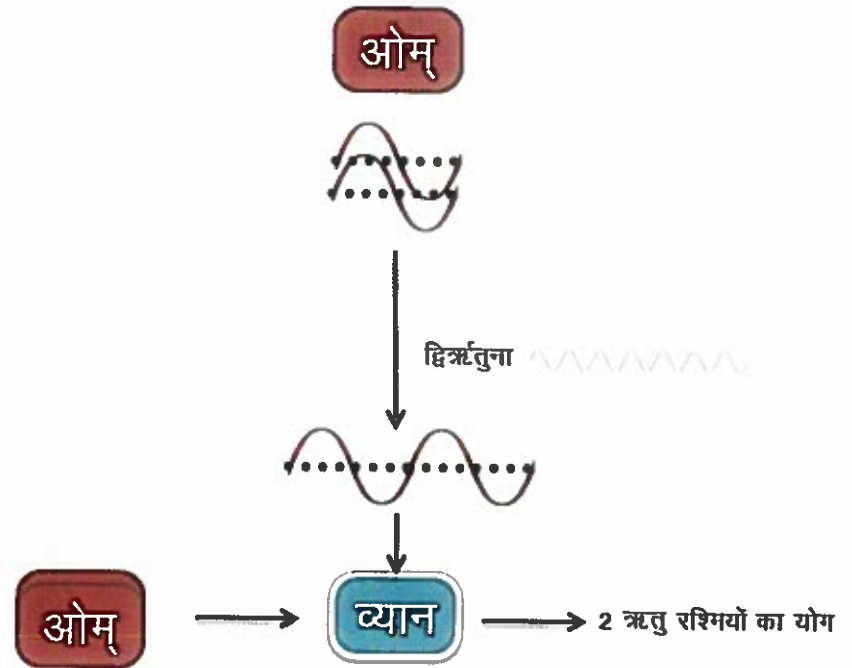
चित्र ६.१८ व्यान रश्मि के वनने की प्रक्रिया

प्राथमिक प्राण तत्त्व यद्यपि सूत्रात्मा वायु सहित कुल ग्यारह प्रकार के होते हैं, पुनरपि यहाँ मुख्य तीन प्रकार के प्राण, अपान और व्यान का ही ग्रहण करके उनकी उत्पत्ति की चर्चा की गई है। यहाँ महर्षि कहते हैं कि 'ऋतुना', 'ऋतुभिः' एवं पुनः 'ऋतुना' पदों से प्राण, अपान और व्यान की परस्पर संगति वनी रहती है। इस विषय में हमारा मत यह है कि सर्वप्रथम 'ओम्' अक्षर से ऋतु रश्मियों की उत्पत्ति एक-२ करके प्रारम्भ होने, पुनः चार ऋतु रश्मियों का संयोग भी 'ओम्' से ही प्रत्येक वार प्रारम्भ होने और अन्त में 'ओम्' ही की दो वार आवृत्ति होने से **यह 'ओम्' अक्षर रश्मि ही सबको परस्पर बांधे रखने में समर्थ होती है।** यह 'ओम्' अक्षर ही सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए कहा गया है- "एतद्ध (ओमिति) वा इदं सर्वमक्षरम् (जै.ब्रा.२.१०), ओमिति ब्रह्म, ओमितीदꣳ सर्वम् (तै.आ.७.८.१)"। सम्पूर्ण सृष्टि ओम् का ही विस्तार और प्रकाश है। इसलिए माण्डूक्योपनिषत्कार महर्षि अति सुन्दर लिखते हैं-

"ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति
सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।।" (माण्डू.उ.१)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राण, अपान एवं व्यान की उत्पत्ति और स्वरूप की चर्चा करते हैं - इस सृष्टि के प्रारम्भ काल में जव एक रस भरे हुए पदार्थ में एकाक्षरा वाग्रश्मियां fluctuations के रूप में उत्पन्न होती हैं, उस समय वे वाग्रश्मियां **"ओम्, भूः, भुवः, स्वः"** के एक-२ अक्षर रूप ही होती हैं।

इनमें से भी **"ओम्" वाग् रश्मि सबसे अधिक सूक्ष्म और व्यापक होती है। इन ६ अक्षर वाग् रश्मियों के एक-२ स्पन्दन का संयुक्त रूप ही प्राण नामक प्राथमिक प्राण को उत्पन्न करता है** और जब "ओम्" वाग् रश्मि अन्य तीन एकाक्षरा रश्मियों के साथ संयुक्त होकर चार बार आवृत्त होती है, तब वह १६ अक्षरों वाली रश्मियां **अपान प्राण** रूप होती हैं। जब **"ओम्"** रूपी अक्षर रश्मि दो बार आवृत्त होकर पुनः परस्पर संयुक्त होती है, तब **व्यान** नामक प्राथमिक प्राण को उत्पन्न करती है। वह ऐसा व्यान प्राण प्राणापान आदि सभी प्राथमिक प्राणों एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सतत संचरित होता रहता है। ध्यातव्य है कि अन्य प्राथमिक प्राणों की रचना भी इसी प्रकार एकाक्षरा वाग् रश्मियों के विविध संयोग से हुआ करती है। हाँ, इतना अवश्य है कि हर संयोग में **"ओम्"** वाग् रश्मि अवश्य संयुक्त रहती है।।

२. प्राणा वा ऋतुयाजा, नर्तुयाजानामनु वषट्कुर्यादसंस्थिता वा ऋतव एकैक एव।। यदृतुयाजानामनु वषट्कुर्यादसंस्थितानृतून् संस्थापयेत् संस्था वा एषा यदनुवषट्कारो य एनं तत्र ब्रूयादसंस्थितानृतून् समतिष्ठिपद् दुःषमं भविष्यतीति शश्वत् तथा स्यात् तस्मान्नर्तुयाजानामनु वषट्कुर्यात्।।५।।

व्याख्यानम्- जैसा कि हम पूर्व में अवगत हो चुके हैं कि विभिन्न प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति एकाक्षरा वाग् रश्मि रूप ऋतु प्राणों के विविध संयोगों से हुआ करती है। इन रश्मियों के संयोग के मध्य उनमें से किसी की अनुगामिनी वनकर कोई भी अन्य वषट्कार अर्थात् प्राण रश्मि उत्पन्न नहीं होती वल्कि वे एकाक्षरा ऋतु रश्मियां ही विना किसी अन्तराल के एक-२ करके परस्पर संयुक्त होती हैं। वे रश्मियां इस सृष्टि में सदैव अनवरत रूप से उत्पन्न होकर प्राथमिक प्राण रश्मियों को सदैव उत्पन्न करती रहती हैं।।

यदि दो ऋतु रश्मियों के मध्य किसी की भी अनुगामिनी वनकर कोई भी प्राण रश्मि उत्पन्न हो जाए, तो दोनों ऋतु रश्मियों के मध्य विराम आ जाएगा अर्थात् उन दोनों का संयोग समाप्त हो जाएगा। इसके कारण वे ऋतु रश्मियां जिन प्राण तत्त्वों को उत्पन्न करने में सक्षम थीं, ऐसा नहीं कर पाएंगी। इस प्रकार इस सृष्टि में प्राथमिक प्राणों के निर्माण की प्रक्रिया बाधित वा अव्यवस्थित हो जाएगी, जिससे समस्त सृष्टि प्रक्रिया ही अव्यवस्थित हो जाएगी। इस कारण ऋतु प्राण रश्मियों के मध्य अन्य किसी प्राण रश्मि की उत्पत्ति नहीं होती। सम्पूर्ण सृष्टि में ईश्वर की यह अतीव सुन्दर व्यवस्था है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति की प्रक्रिया में सूक्ष्म ऋतु रश्मियां बिना किसी अन्तराल के उत्पन्न और संयुक्त हुआ करती हैं। उन ऋतु रश्मियों के मध्य अन्य कोई रश्मि उत्पन्न होकर बाधा उत्पन्न नहीं कर सकती। यदि ऐसा हो जाए तो प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाएगी। **इस सम्पूर्ण सृष्टि में अनन्त रश्मियों की विद्यमानता के उपरान्त भी किसी व्यवधान का न होना सर्वनियन्ता चेतन तत्त्व का ही कार्य है।।**

इति ९.५ समाप्तः

ॐ अथ ९.९ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. प्राणा वै द्विदेवत्याः, पशव इळा, द्विदेवत्यान् भक्षयित्वेळामुपह्वयते, पशवो वा इळा पशूनेव तदुपह्वयते, पशून् यजमाने दधाति।।
तदाहुरवान्तरेळां पूर्वां प्राश्नीया३त्, होतृचमसं भक्षये३त्, इति। अवान्तरेळामेव पूर्वां प्राश्नीयाद्, अथ होतृचमसं भक्षयेत्।।

{इळा = इल्+अच्, लस्य डत्वम् इति आप्टे कोष (इल् = जाना, चलना - फिरना, फेंकना, भेजना - इति आप्टे; बिखेरना, उड़ाना, प्रेरणा करना - सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक)}

व्याख्यानम्- दो देव पदार्थों के मध्य पूर्वोक्त विविध प्राण बलों की चर्चा करते हुए पुनः महर्षि कहते हैं कि प्राण, अपान, व्यान आदि, जो दो पदार्थों के मध्य कार्यरत होते हैं, का अवशोषण दोनों पदार्थों के मध्य उत्पन्न बल के संवाहक कण वा प्राण रश्मि के द्वारा होता है। उसके पश्चात् बल का संवाहक वह कण वा प्राण इडा तत्त्व को अपनी ओर आकर्षित करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्राण वा कण दोनों पदार्थों के मध्य उत्पन्न विविध छन्द रश्मियों अथवा मरुद् रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करता है। फिर उन मरुद् और छन्द रश्मियों को उन दोनों पदार्थों के अन्दर धारण कराता है। यहाँ ये मरुद् वा छन्द रश्मियां इस प्रकार की गति करती हैं कि वे भी उस बल संवाहक कण वा प्राण को दोनों पदार्थों के मध्य निरन्तर संचरित होने के लिए प्रेरित करती हैं, जिससे वे दोनों पदार्थ परस्पर आकर्षित होकर बंधे रहते हैं।।

यहाँ विचारार्थ में दोनों स्थानों पर प्लुत का प्रयोग हुआ है। यहाँ महर्षि प्रश्न यह उठाते हैं कि पहले 'इडा' संज्ञक पूर्वोक्त मरुद् वा छन्द रश्मियों का अवशोषण होता है अथवा 'होतृचमस' का? यहाँ होतृचमस में षष्ठी तत्पुरुष न मानकर समानाधिकरण तत्पुरुष मानना चाहिए। यहाँ "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (पा.अ.२.१.५६)" से व्याघ्रादि के आकृतिगण होने से 'होतृचमसः' का अर्थात् चमस वा मेघ के समान जो होता है, उसे 'होतृचमस' कहेंगे। इससे यह प्रतीत हो रहा है कि बल के संवाहक कण वा प्राण स्वयं एक इकाई न होकर अति सूक्ष्म पदार्थों के संयोग रूप मेघ के समान होते हैं। इसलिए तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा- "मेघो हविर्धानं यज्ञस्य (तै.आ.२.१४.१)"। अब यहाँ उस प्रश्न पर विचार करते हैं कि वे दोनों पदार्थ, जिनके मध्य आकर्षण की प्रक्रिया हो रही है, वे पहले पूर्वोक्त मरुदादि रश्मियों का अवशोषण करते हैं अथवा उस मेघवत् बल संवाहक कण वा प्राण का? इसके उत्तर में महर्षि कहते हैं कि पहले मरुदादि रश्मियों का अवशोषण करते हैं, उसके पश्चात् उस मेघवत् बल संवाहक कण वा प्राण का। वस्तुतः उस कण वा प्राण को वे मरुदादि रश्मियां ही अपने साथ उन दोनों पदार्थों के निकट ले जाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- धनावेशित और ऋणावेशित कणों के मध्य जब पूर्वोक्त प्रकार से फील्ड पार्टीकल्स उत्पन्न होते हैं, तब वे उस उत्पन्न होने की प्रक्रिया में प्राण, अपान, व्यान आदि को अवशोषित करते हैं और इसके पश्चात् वे पार्टीकल्स ऋणावेशित कणों से उत्सर्जित मरुद्रश्मियों एवं अन्य उस समय उत्पन्न छन्द रश्मियों को अवशोषित करते हैं। फिर वे रश्मियां उन फील्ड पार्टीकल्स को धनावेशित और ऋणावेशित कणों के मध्य संचरित होने के लिए प्रेरित करती हैं। इस प्रकार वे दोनों आवेशित कण

मरुद् व छन्द रश्मियों को पहले आकर्षित करते हैं, उसके पश्चात् फील्ड पार्टीकल्स को। इससे यह प्रक्रिया सतत बनी रहने से दोनों कण परस्पर आकर्षित रहते हैं।

२. यद्वाव द्विदेवत्यान् पूर्वान् भक्षयति, तेनास्य सोमपीथः पूर्वो भक्षितो भवति, तस्मादवान्तरेळामेव पूर्वां प्राश्नीयात्, अथ होतृचमसं भक्षयेत्, तदुभयतोऽन्नाद्यं परिगृह्णाति सोमपीथाभ्यामन्नाद्यस्य परिगृहीत्यै।।
प्राणा वै द्विदेवत्यां, आत्मा होतृचमसो, द्विदेवत्यानां संस्रवान् होतृचमसे समवनयत्यात्मन्येव तद्धोता प्राणान् समवनयते सर्वायुः सर्वायुत्वाय।।
सर्वमायुरेति य एवं वेद।।६।।

व्याख्यानम्- दो पदार्थों के मध्य कार्यरत बलों में जो विभिन्न प्राणों के अवशोषण की चर्चा की गई है, उनमें से मरुद् और छन्द रश्मियों के पहले अवशोषित होने की चर्चा की गई है। उस विषय में महर्षि पुनः लिखते हैं कि मरुद् रश्मियों का प्रथम अवशोषित होना सोमपान करने के समान है। यह सोमपान सौम्य कणों को अवशोषित वा आकर्षित करने के समान है, जिससे आग्नेय कण द्वारा सौम्य कण के साथ आकर्षण बन्धन उत्पन्न होता है। इसी कारण पहले मरुद् वा छन्द रश्मियों का अवशोषण होता है, उसके पश्चात् मेघवत् बल संवाहक होता रूप कण का अवशोषण होता है। जिससे दोनों संयोज्य कणों (पदार्थों) को उन मरुद् रश्मियों के द्वारा अर्थात् उनके अवशोषण के द्वारा परस्पर आकर्षित किया जाता है।।

कणों के उपर्युक्त संयोग की व्यवस्था में होतृचमस अर्थात् मेघ रूप कण आत्मा के समान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह कण बल संचरण हेतु दोनों कणों के मध्य सतत प्रवाहित होता रहता है। इसका दूसरा आशय यह है कि बल उत्पन्न करने में इसकी प्रमुख भूमिका होती है। इसके बिना आकर्षण बल काम नहीं करेगा। उन आग्नेय और सौम्य कणों में से जो भी प्राण रश्मियां उत्सर्जित हुआ करती हैं, वे उस मेघवत् कण के अन्दर एकत्र होती रहती हैं अर्थात् उन्हीं रश्मियों से ही उस कण का निर्माण भी होता है। इन रश्मियों के द्वारा ही वह मेघवत् कण निरन्तर शक्ति को प्राप्त करता रहता है और इसी शक्ति के कारण ही उस कण का अस्तित्त्व भी बना रहता है। उस कण में यह शक्ति संचरण अविराम होता रहता है। ऐसी स्थिति बनने पर आग्नेय और सौम्य कणों आदि का संयोग सुदीर्घ काल तक बना रहता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो विपरीत आवेशित कणों में परस्पर आकर्षण होता है, तब फील्ड पार्टीकल्स को वहन करने वाली मरुद् रश्मियां आकाश तत्त्व को प्रभावित करके ऋणावेशित कण को धनावेशित कण से मिलाने में सहयोग करती हैं अर्थात् वह दोनों आवेशित कणों के मध्य स्थित आकाश तत्त्व को distort करके दोनों आवेशित कणों को परस्पर निकट लाती हैं। इन मरुद् रश्मियों के द्वारा संवहित फील्ड पार्टीकल्स दोनों आवेशित कणों के मध्य सतत संचरित होते रहते हैं। **उन फील्ड पार्टीकल्स में दोनों आवेशित कणों से उत्सर्जित होने वाली पूर्वोक्त रश्मियां एवं अन्य छन्दादि रश्मियां निरन्तर स्रवित होती रहती हैं, जिससे वे फील्ड पार्टीकल्स सतत ऊर्जावान् होकर आकर्षण बलों को बनाये रखते हैं।** प्रतिकर्षण बलों के विषय में पाठक खण्ड १.२ को दृष्टिगत रखकर वर्तमान अध्याय में दिये बल के स्वरूप को यथावत् समझकर स्वयं जान सकते हैं।।

ॐ इति ९.६ समाप्तः ॐ

ॐ अथ १.७ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. देवा वै यदेव यज्ञेऽकुर्वंस्तदसुरा अकुर्वंस्ते समावद्वीर्या एवाऽऽसन्न व्यावर्तन्त, ततो वै देवा एतं तूष्णींशंसमपश्यंस्तमेषामसुरा नान्ववायंस्तूष्णींसारो वा एष यत्तूष्णींशंसः।।

{तूष्णीम् = यदा वै तूष्णीमास्ते प्राणमेव वागप्येति (जै.ब्रा.२.५०)। तूष्णींशंसः = षडक्षरस्तूष्णींशंसः (जै.ब्रा.१.१६६), (शंस स्तुतौ = संसूचित करना, आवृत्ति करना, चोट मारना - आप्टे कोष)। सारम् = दृढ़भागमिव (म.द.ऋ.भा.३.५३.१६)। वाक् = एकाक्षरा वै वाक् (तां.४.३.३), योषा हि वाक् (श.१.४.४.४)}

व्याख्यानम्- सृष्टि प्रक्रिया के एक नये चरण का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि प्रारम्भिक काल में देव पदार्थ(प्राथमिक प्राण) का जब परस्पर संगतीकरण प्रारम्भ हुआ, तब उसी प्रकार असुर तत्त्व में भी परस्पर संगतीकरण प्रारम्भ हो गया। इससे दोनों प्रकार के पदार्थ शक्तिशाली होते गए। उस समय वे दोनों प्रकार के पदार्थ परस्पर मिश्रित रूप में विद्यमान थे। इस कारण वह असुर पदार्थ देव पदार्थ (प्राथमिक प्राण) की क्रिया में बाधक बनने लगा था किंवा बाधक बन सकता था। उस समय देव पदार्थ ने सर्वत्र व्याप्त तूष्णींशंस प्राण रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। यहाँ तूष्णींशंस का तात्पर्य जैमिनीय ब्राह्मण के प्रमाण से ६ अक्षरों वाली वाग् रश्मियों का समुदाय प्रतीत होता है। हमारे मत में ये ६ रश्मियां खण्ड २.२६ में दर्शायी हुई 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'सुवः' रूपी सूक्ष्म ऋतु रश्मियां ही हो सकती हैं। ये रश्मियां देव पदार्थ के साथ संयुक्त होकर उसे शक्तिशाली बना देती हैं। उधर असुर पदार्थ इन रश्मियों को आकर्षित करने में अक्षम रहता है। ये ६ सूक्ष्म ऋतु रश्मियां ही तूष्णींसार के समान है। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि में संचालित असंख्य प्रक्रियाओं की ये ६ सूक्ष्म रश्मियां सार रूप हैं। यहाँ एक गम्भीर विज्ञान का विवेचन किया गया है, वह इस प्रकार है-

तूष्णींशंस के संयुक्त होने का तात्पर्य यह है कि उन देव पदार्थों अर्थात् प्राथमिक प्राणों में एकाक्षरा वाक्, जो हमारे मत में 'ओम्' रूप वाग् रश्मि है, व्याप्त हो जाती है और अन्य उपर्युक्त सूक्ष्म रश्मियां उन प्राथमिक प्राणों के अन्दर तो व्याप्त नहीं होती परन्तु उन सबके मध्य अन्तराल में विचरण करती हुई बाहर से बल प्रदान अवश्य करती रहती हैं। ये वाग् रश्मियां योषा रूप होकर वृषा रूप प्राणों से सदैव संयुक्त रहती हैं। इस कारण इस सृष्टि की समस्त प्रक्रियाओं में प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों को असुर तत्त्व कभी भी बाधित नहीं कर सकता। जहाँ कहीं भी देव पदार्थ के असुर तत्त्व द्वारा बाधित होने की चर्चा आती है, वहाँ वह देव पदार्थ प्राथमिक प्राणों की अपेक्षा स्थूल होता है। जब कभी भी इस स्थूल देव पदार्थ पर असुर पदार्थ का आक्रमण होता है और उससे वह देव पदार्थ विखण्डित वा प्रक्षेपित होता है, तब भी यह विखण्डन की प्रक्रिया प्राथमिक प्राणों के स्तर पर जाकर पूर्ण रूप से रुक जाती है। इसका कारण केवल यह तूष्णींशंस नामक ६ सूक्ष्म वाग् रश्मियों का प्राथमिक प्राणों के साथ मेल हो जाना ही है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भिक काल में प्राणापानादि पदार्थ के साथ ही डार्क पदार्थ की भी उत्पत्ति हुई। उस समय ये दोनों परस्पर मिश्रित ही थे अर्थात् दोनों में परस्पर पृथक्पन नहीं था। इसके साथ ही वे दोनों संगतीकरण की प्रक्रिया की ओर बढ़ने लगे, जिससे दोनों का रूप शक्तिशाली होने लगा। इससे डार्क पदार्थ वा ऊर्जा द्वारा दृश्य पदार्थ के रूप में विद्यमान संयोज्य प्राणापानादि प्रधान पदार्थ की क्रियाओं में बाधा आने लगी किंवा बाधा की आशंका उत्पन्न हो गयी। उस समय इस सृष्टि

में व्याप्त वा विद्यमान **'ओम्,' 'भूः,'....** आदि पूर्वोक्त छः एकाक्षरा वाग् रश्मियों को प्राणापानादि ने आकृष्ट किया। उनमें से **'ओम्' वाग् रश्मि प्राणापानादि के अन्दर व्याप्त हो जाती है तथा अन्य पांच वाग्रश्मियां बाहर से उन्हें प्रभावित करके ऐसा सामर्थ्य प्रदान करती हैं, जिससे प्राथमिक प्राणों को डार्क एनर्जी से कभी कोई बाधा उत्पन्न नहीं हो पाती।** सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में डार्क एनर्जी का जो भी प्रभाव होता है, वह प्राणापानादि से स्थूल रूप वाले पदार्थ पर ही होता है। प्राणापानादि पर डार्क एनर्जी का प्रभाव सर्वथा रुक जाता है। ऐसा प्रभाव इन वाग् रश्मियों के कारण ही होता है।
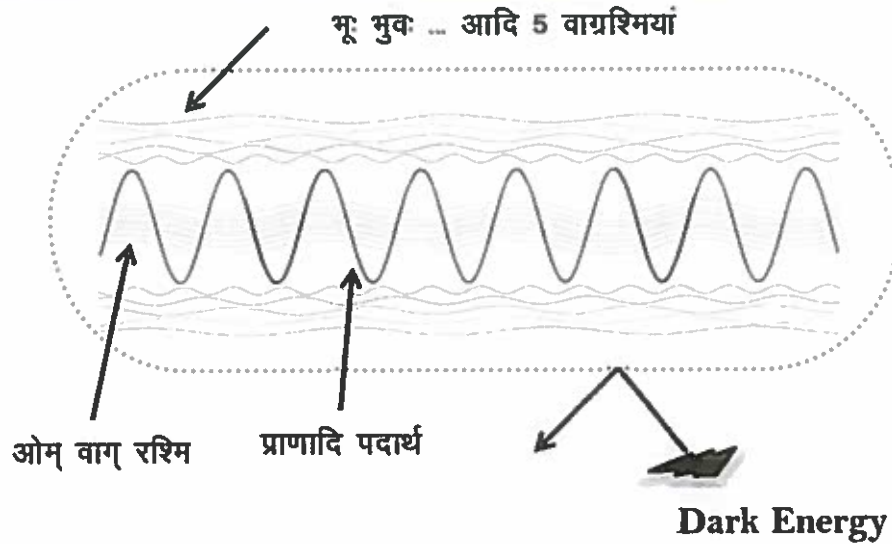
चित्र ६.१६ प्राण रश्मियों की डार्क एनर्जी से सुरक्षा

२. देवा वै यं यमेव वज्रमसुरेभ्य उदयच्छंस्तं तमेषामसुराः प्रत्यबुध्यन्त, ततो वै देवा एतं तूष्णींशंसं वज्रमपश्यंस्तमेभ्य उदयच्छंस्तमेषामसुरा न प्रत्यबुध्यन्त, तमेभ्यः प्राहरंस्तेनैनानप्रतिबुद्धेनाघ्नंस्ततो वै देवा अभवन् पराऽसुराः।। भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् पाप्मा भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- इस सृष्टि में असुर तत्त्व के प्रहार के निवारण के लिए अनेक तेजस्वी रश्मियों का प्रयोग हुआ करता है, "वज्रस्त्रिष्टुप्" (मै.३.२.१०), "वज्रो वा उष्णिहः" (जै.ब्रा.१.२०६), "एन्द्रो वै वज्रः" (मै.२.५.११) आदि इसके अनेकों प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध हैं। सृष्टि के पूर्वोक्त चरण में अनेक वज्र रूप रश्मियों का प्रयोग देव पदार्थ ने असुर पदार्थ के आक्रमण को विफल करने के लिए किया, परन्तु हर वार असुर ने उसके प्रतिकार की क्षमता प्राप्त कर ली। उसके उपरान्त प्राणापानादि देव पदार्थ ने उपर्युक्त तूष्णींशंस रश्मियों को आकर्षित किया परन्तु उन रश्मियों को असुर तत्त्व आकर्षित नहीं कर सके और न ही उनका प्रतिकार कर सके। उन ऐसी रश्मियों के द्वारा ही प्राणापानादि देव पदार्थ ने असुर तत्त्व के हिंसक प्रहारों को निष्प्रभावी किया। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि जव उष्णिक्, त्रिष्टुप् आदि वज्र रूप रश्मियों के द्वारा असुर तत्त्व को निष्प्रभावी नहीं किया जा सकता है, तो फिर इन रश्मियों को वज्र कहा ही क्यों जाता है और फिर इस शास्त्र के साथ अनेक शास्त्रों में इन्हीं रश्मियों के द्वारा असुर पदार्थ के प्रहार को निरस्त करने का वर्णन क्यों किया गया है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि उपर्युक्त **तूष्णींशंस नामक रश्मियों के प्राणापानादि से संयुक्त होने के उपरान्त ही सभी वज्र रश्मियां प्रभावकारी होती हैं अन्यथा कोई भी वज्र रश्मि असुर तत्त्व के निवारण में समर्थ नहीं हो सकती।** इसलिए यहाँ **तूष्णींशंस नामक मूल वज्र रश्मियों** की ही चर्चा की गई है।।

इस प्रकार की स्थिति वनने पर सभी देव पदार्थ विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाओं के उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं और विभिन्न वाधक असुर रश्मि आदि पदार्थ पराभव को प्राप्त होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में डार्क एनर्जी के हानिकारक प्रभाव को नियन्त्रित वा नष्ट करने के लिए अनेक तीक्ष्ण रश्मियां विद्यमान होती हैं, परन्तु वे सभी रश्मियां उपर्युक्त **'ओम्'** आदि सूक्ष्म वाग् रश्मियों के सहयोग के बिना डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करने में समर्थ नहीं हो सकती। ये **'ओम्'** आदि सूक्ष्म रश्मियां सबसे प्राथमिक और सूक्ष्म वज्र रूप रश्मियां होती हैं, जो हर वज्र रूप रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं।।

३. ते वै देवा विजिितिनो मन्यमाना यज्ञमतन्वत, तमेषामसुरा अभ्यायन् यज्ञवेशसमेषां करिष्याम इति, तान् समन्तमेवोदारान् परियत्तानुदपश्यंस्तेऽब्रुवन्, संस्थापयामेमं यज्ञं यज्ञं नोऽसुरा मा वधिषुरिति तथेति, तं तूष्णींशंसे संस्थापयन्, भूरग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरित्याज्यप्रउगे संस्थापयन्निन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्र इति निष्केवल्यमरुत्वतीये संस्थापयन्, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्य इति वैश्वदेवाग्निमारुते संस्थापयंस्तमेवं तूष्णींशंसे संस्थापयंस्तमेवं तूष्णींशंसे संस्थाप्य तेनारिष्टेनोदृचमाश्नुवत।।

{प्रउगः = प्राणाः प्रउगम् (कौ.ब्रा.१४.४), आतिच्छन्दसः प्रउगः (कौ.ब्रा.२३.६), प्रयोगाऽर्हम् (म.द.य.भा.१५.११)। उदारः = उत्+ऋ गतौ धातोरण् प्रत्ययः, य उत्कृष्टं परीक्ष्य ऋच्छति ददाति (म.द.य.भा.१२.२२)। संस्थापय+नम् = (सम्+स्था = परस्पर निकटवर्ती होना, समाप्त हो जाना, स्थापित करना, नियन्त्रण में रखना, मार डालना - आप्टेकोष)। निष्केवल्यम् = निरन्तरं केवलं स्वरूपं यस्मिँस्तत्र साधुम् (म.द.य.भा.१५.१३), आत्मा यजमानस्य निष्केवल्यम् (ऐ.८.२)। सूर्यः = प्राणादिसमूहो वायुगणः (म.द.य.भा.३.६)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर वे दीप्तियुक्त हुए प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण असुर तत्त्व के सूक्ष्मतम स्वरूप को दूर वा नियन्त्रित करके सृजन प्रक्रिया का विस्तार करने लगते हैं अर्थात् वे परस्पर संगत होकर नाना पदार्थों के निर्माण में प्रवृत्त होते हैं। उस समय दूर हटाया किंवा नियन्त्रित किया हुआ असुर पदार्थ उस देव पदार्थ को चारों ओर से घेर लेता है और फिर उनमें हो रही संयोगादि प्रक्रिया को बाधित करने का प्रयास करता है। {वेशसम् = विघातमिति सायणः} एतदर्थ वह असुर पदार्थ उस देव पदार्थ के ऊपर बार-२ उठता हुआ आघात करने के लिए देव पदार्थ की ओर बढ़ने का प्रयास करता है। यह प्रक्रिया सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में इसी प्रकार होने लगती है। इससे प्रभावित होते हुए भी प्राथमिक प्राण रूपी देव पदार्थ अपने सृजन कर्म को सर्वत्र संचालित करने के लिए उस असुर पदार्थ को नियन्त्रित करने का प्रयास करता है और साथ ही वह इस प्रक्रिया को त्वरित गति से सम्पादित करने के लिए पूर्वोक्त तूष्णींशंस सूक्ष्म वाग् रश्मियों को असुर तत्त्व पर प्रक्षेपित करता है, जिससे वह असुर तत्त्व नियन्त्रित होने लगता है। इस प्रक्रिया को विस्तार देते हुए महर्षि लिखते हैं-

पूर्वोक्त षडक्षर रूप तूष्णींशंस सूक्ष्म वाग् रश्मियाँ देव पदार्थ में व्याप्त हो ही जाती हैं, इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की तूष्णींशंस रश्मियां भी उत्पन्न होती हैं। यहाँ महर्षि आश्वलायन लिखते हैं- "भूरग्निर्ज्योतिरग्नो३म्। इन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्रो३म्। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्यो३मिति त्रिपदस्तूष्णींशंसः। यद्यु वै षट्पदः पूर्वैर्ज्योतिः शब्दैरग्रेऽवस्येत्।।" (आश्व.श्रौ.५.६.११)

महर्षि ऐतरेय महीदास ने इन्हीं वचनों को अपनी कण्डिका में उद्धृत किया है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त षडक्षर रूप तूष्णींशंस वाग् रश्मियां प्राणापानादि देव पदार्थ में व्याप्त होकर असुर तत्त्व के सूक्ष्मतम प्रभाव को सूक्ष्मतम स्तर पर जाकर अवश्य नियन्त्रित कर लेती हैं, परन्तु असुर पदार्थ के बार-२ और व्यापक होने वाले प्रभाव को नष्ट वा नियन्त्रित करने में वे सूक्ष्म रश्मियां सक्षम नहीं हो पाती। उस समय महर्षि आश्वलायनोक्त ये नवीन तूष्णींशंस रश्मियां उन्हीं प्राथमिक प्राणों से उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियां तीन चरणों में उत्पन्न होती हैं-

"भूरग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः" यह ६ अक्षर युक्त आर्षी बृहती छन्द के एक पाद रूपी रश्मि, जो सम्पूर्ण बृहती छन्द के समान प्रभावकारिणी होती है, उत्पन्न होती है। इस रश्मि को याजुषी बृहती भी मान सकते हैं। यह प्राणापानादि देव पदार्थ को परिधि रूप में घेरकर उसकी असुर पदार्थ के प्रहार से रक्षा करती है। यह रश्मि उस देव पदार्थ को और भी तेजस्वी बनाकर सृजन कर्म के योग्य सामर्थ्य प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करने के लिए **प्रउगों अर्थात् विभिन्न शक्तिशाली छन्द रश्मियों** को उत्पन्न करके उनमें स्थापित करती है। यह रश्मि प्राण नामक प्राण तत्त्व को विशेष सक्रिय व सतेज करने में विशेष सहायता करती है। तदनन्तर-

"इन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्रः" यह दशाक्षरी याजुषी पंक्ति रश्मि उत्पन्न होती है। इसके प्रभाव से पूर्वोक्त क्रिया विस्तृत होती है। इससे अपान तत्त्व विशेष सक्रिय और सतेज होता है और ऐसा होकर समस्त इन्द्र तत्त्व अर्थात् महाबलवान् वायु, जो कि प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों के रूप में वाक् तत्त्व से संयुक्त हुआ सर्वत्र विचरण करता हुआ व्याप्त होता है, ज्योतिर्मय होने लगता है। वह ऐसा समस्त पदार्थ निरन्तर गतिशील होता हुआ सूक्ष्म वाग् रश्मि रूप मरुतों में स्थित होने लगता है। उस समय सम्पूर्ण वायु रूप पदार्थ के पूर्वी भाग एवं मध्य केन्द्रीय भाग में सर्वप्रथम तेजस्विता आदि गुण उत्पन्न होते हैं और वह वायु तत्त्व निरन्तर अव्याहत गति से सर्वत्र विचरण करने लगता है। इसी को निष्केवल्य अवस्था कहा जाता है। यहाँ एक ब्राह्मणकार तत्त्ववेत्ता ऋषि का कहना है- "निष्केवल्यं बह्वचो देवताः प्राच्यः शस्यन्ते बह्वच ऊर्ध्वाः, अथैतदिन्द्रस्यैव निष्केवल्यं तन्निष्केवल्यस्य निष्केवल्यत्वम्।" (कौ.ब्रा.१५.४)। तदनन्तर-

"सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्य", इस नवाक्षरी याजुषी बृहती छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। जिसके कारण व्यान नामक प्राण तत्त्व विशेष सक्रिय और सतेज होता है। यह छन्द रश्मि उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियों के मध्य व्याप्त होकर प्राण और अपान के मध्य व्यान तत्त्व को विशेष स्थापित करने में सहयोग करती है। इसके कारण सम्पूर्ण प्राण समूह ज्योतिर्मय एवं सूक्ष्म विद्युद् युक्त होकर विभिन्न सूक्ष्म मरुद् **रश्मियों में व्याप्त होता है। इन तीनों ही छन्द रश्मियों की तूष्णींशंस संज्ञा इस कारण है, क्योंकि यह उत्पन्न होकर गुप्त रूप से प्राणादि तत्त्वों में व्याप्त हो जाती हैं और फिर उन्हें तेजस्वी और सक्रिय बनाती हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त षडक्षर रूप तूष्णींशंस वाग् रश्मियों से प्रारम्भ हुआ सर्ग यज्ञ इन तीन छन्द रश्मियों के साथ मिलकर समस्त असुर पदार्थ के बाधक प्रभाव को दूर करके विभिन्न सृजन कर्मों को निर्विघ्न सम्पादित करने** लगता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त **'ओम्', 'भूः', 'भुवः'** आदि सूक्ष्म वाग् रश्मियों के द्वारा सुरक्षित प्राणादि पदार्थों में जब परस्पर संयोग होने लगता है, तब एक बार पुनः डार्क एनर्जी इस प्रक्रिया में विघ्न डालने लगती है। वह एनर्जी बार-२ इस पदार्थ की ओर गति करती हुई सृजन कर्मों को बाधित करती है। उस समय प्राणापानादि प्राण तत्त्वों के द्वारा तीन छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियां गुप्त रूप से प्राणादि पदार्थ को तेजस्वी और सक्रिय बनाती हैं। विशेषकर प्राण, अपान और व्यान विशेष सक्रिय होकर अन्य सभी सूक्ष्म प्राणों को सक्रिय करके सूक्ष्म विद्युत् को उत्पन्न करते हैं। तदनन्तर वह सूक्ष्म विद्युत् सूक्ष्म मरुद् रश्मियों से संयुक्त होकर डार्क एनर्जी के बाधक प्रभाव को नष्ट वा नियन्त्रित करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि **उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पदार्थ चक्रवत् घूर्णन कर रहा होता है और उस पदार्थ के पूर्वी तथा केन्द्रीय भाग में विद्युत् की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है। उसके पश्चात् सम्पूर्ण पदार्थ में यह प्रवाह चलने लगता है।**

४. स तदा वाव यज्ञः संतिष्ठते यदा होता तूष्णींशंसं शंसति।।

स य एनं शस्ते तूष्णींशंस उप वा वदेदनु वा व्याहरेत् तं ब्रूयादेष एवैतामार्तिमारिष्यति प्रातर्वाव वयमद्येमं शस्ते तूष्णींशंसे संस्थापयामस्तं यथा गृहानितं कर्मणाऽनुसमियादेवमेवैनमिदमनुसमिम इति स ह वाव तामार्तिमृच्छति य एवं विद्वान् संशस्ते तूष्णींशंस उप वां वदत्यनु वा व्याहरति, तस्मादेवं विद्वान् संशस्ते तूष्णींशंसे नोपवदेन्नानुव्याहरेत्।।७।।

व्याख्यानम्- जब प्राथमिक प्राणादि पदार्थ रूप होता पूर्वोक्त तूष्णींशंस नामक वाग् रश्मियों को प्रकाशित वा उत्पन्न करते हैं, उसके पश्चात् ही सृष्टियज्ञ सम्यक् स्थायित्व को प्राप्त कर पाता है, इसके पूर्व नहीं। यद्यपि क्रियाएं इसके पूर्व भी चलती रहती हैं परन्तु उनमें असुर पदार्थ द्वारा बार-२ बाधा अवश्य आती रहती है।।

जब पूर्वोक्त तूष्णींशंस नामक विविध वाग् रश्मियां देव पदार्थ में व्याप्त होकर उनके सृजन कर्म को निरापद करती हैं, उस समय भी यदि असुर पदार्थ उस देव पदार्थ के निकट पहुंचने का प्रयत्न करता है अथवा अनु+व्याहरति अर्थात् उस देव पदार्थ के निकट पहुंचकर विशेष रूप से आक्रामक होकर उनका हरण करने का प्रयास करता है, तब प्राणादि देव पदार्थ तूष्णींशंस नामक रश्मियों से युक्त होने के कारण किसी भी अनिष्ट को प्राप्त नहीं होते, बल्कि वह असुर पदार्थ ही उस प्राणादि देव पदार्थ के द्वारा पराभव को प्राप्त होता है। ऐसा इस कारण होता है कि समस्त देव पदार्थ उसी समय अर्थात् उस असुर पदार्थ के आक्रमण के पूर्व ही प्रातः = प्र+अत सातत्यगमने अर्थात् अत्यन्त तीव्र गति से तूष्णींशंस नामक रक्षिका रश्मियों से तत्काल युक्त हो जाते हैं। यह प्रक्रिया कैसे होती है? इसको समझाते हुए महर्षि कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में घर आये हितैषी अतिथि को सम्यक् सत्कार के द्वारा अनुसम्+इयात् अर्थात् अनुकूल रीति से सभी गृहवासी सम्यक् एकत्र होकर अपने सेवा आदि कर्मों से अपने अनुकूल बना लेते हैं, उसी प्रकार प्राणापानादि देव पदार्थ तूष्णींशंस नामक रश्मियों को अपने निकट आने पर उन्हें अपने अनुकूल बनाकर असुर तत्त्व से लड़ने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं। इसको हम दूसरी प्रकार से समझने का प्रयास करते हैं- जिस प्रकार घरों में आये हुए किन्हीं शत्रुओं को अनुकूल रीति से सम्यक् संगठित होकर सभी गृहवासी अपने कर्म अर्थात् पराक्रम पूर्ण क्रिया से वश में कर लेते हैं किंवा उसे नष्ट भी कर सकते हैं, उसी प्रकार तूष्णींशंस रश्मियों से सुरक्षित प्राणादि देव पदार्थों के मध्य जब असुर पदार्थ प्रविष्ट हो जाता है अथवा होने का यत्न करता है, तब वह देव पदार्थ उस असुर पदार्थ को सब ओर से घेरकर नियन्त्रित वा दूर कर देता है। इस कारण देव पदार्थ के तूष्णींशंस विधि से तेजस्वी और बलवान् होने के उपरान्त भी यदि असुर पदार्थ उसे बाधित वा नष्ट करने का प्रयत्न करता है तो वह असुर पदार्थ स्वयं ही नष्ट हो जाता है, न कि देव पदार्थ। इस कारण समस्त ब्रह्माण्ड में ऐसे देव पदार्थ के निकट असुर पदार्थ नहीं आता अथवा उसे बाधित नहीं कर पाता।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त वाग् रश्मियों से युक्त प्राणापानादि पदार्थ कभी भी डार्क एनर्जी के किसी भी प्रहार से क्षति को प्राप्त नहीं हो पाते। यदि कभी ब्रह्माण्ड में ऐसा होने की स्थिति बनती है, तो प्राणादि पदार्थ डार्क एनर्जी को घेरकर उसे नष्ट कर देते हैं अथवा उसे नियन्त्रित करके दूर फेंक देते हैं और इसके पश्चात् विद्युद् युक्त प्राणापानादि पदार्थ सूक्ष्म सृजन क्रियाओं को निर्विघ्न सम्पादित करने लगते हैं। यह प्रक्रिया अत्यन्त तीव्र गति से होती है।
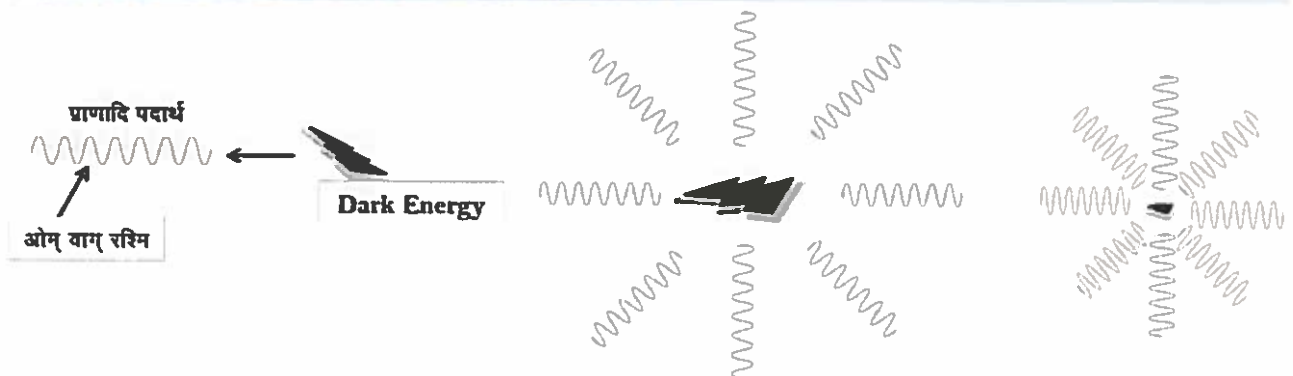
चित्र ६.२० प्राणादि रश्मियों द्वारा अप्रकाशित ऊर्जा पर नियन्त्रण

इति ९.७ समाप्तः

अथ ९.८ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. चक्षूंषि वा एतानि सवनानां यत्तूष्णींशंसो भूरग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिति प्रातःसवनस्य चक्षुषी, इन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्र इति माध्यन्दिनस्य सवनस्य चक्षुषी, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्य इति तृतीयसवनस्य चक्षुषी।।
चक्षुष्मद्भिः सवनै राध्नोति, चक्षुष्मद्भिः सवनैः स्वर्गं लोकमेति, य एवं वेद।।

{चक्षुः = त्रिवृद् वै चक्षुः शुक्लं कृष्णं लोहितमिति (कौ.ब्रा.३.५), (शुक्लम् = तद् यच्छुक्लं तद् वाचो रूपम् - जै.उ.१.८.१.८), कृष्णम् = कर्षति विलिखति येन ज्योतिः समूहेन तम् (म.द.ऋ.भा.१.५८.४), अग्निना छिन्नो वायुनाऽकर्षितो यज्ञः (म.द.य.भा.२.१), कृष्णगुणविशिष्टः (म.द.य.भा.२४.३०)। लोहितम् = रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च (भ्वा.) धातोः 'रुहेरश्च लो वा' (उ.को.३.६४)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त तूष्णींशंस नामक प्रक्रिया और वाग् रश्मियां सृष्टि प्रक्रिया के विभिन्न चरणों, यथा- प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन की चक्षु के समान है। जिस प्रकार शरीर में विद्यमान सभी ज्ञानेन्द्रियों में चक्षु इन्द्रिय द्वारा ही संसार का ज्ञान और व्यवहार सर्वाधिक होता है, उसी प्रकार इस सृष्टि में सर्वाधिक व्यवहार इसी तूष्णींशंस क्रिया वा पूर्वोक्त वाग् रश्मियों द्वारा ही होता है। वस्तुतः सृष्टि का मूल भी यही है, जिसकी चर्चा अगली कण्डिकाओं में की जाएगी। पूर्व में हम सृष्टि के तीन सवनों के विषय में जान चुके हैं, पुनरपि ज्ञातव्य है कि प्रातःसवन **अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया का प्रथम चरण गायत्री छन्द प्रधान होता है, माध्यन्दिन अर्थात् द्वितीय चरण त्रिष्टुप् व बृहती प्रधान तथा तृतीय (सायम्) सवन जगती छन्द प्रधान होता है।** इन तीनों ही सवनों की विभिन्न क्रियाओं के लिए तूष्णींशंस रश्मियां अनिवार्य भूमिका निभाती हैं। उपर्युक्त कौषीतकि ब्राह्मण के प्रमाण के अनुसार चक्षु के भी तीन रूप है। तदनुसार **सृष्टि के प्रथम चरण में वाक् तत्त्व के स्वाभाविक और शुद्ध शुक्ल वर्ण की इस ब्रह्माण्ड में प्रधानता रहती है,** उस समय "भूरग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः" वाग् रश्मि तूष्णींशंस रूप में असुर तत्त्व को पराभूत करके सृजन प्रक्रिया को प्रकाशित करने में अपनी अनिवार्य भूमिका पूर्वोक्तानुसार निभाती हैं। इस समय प्राण नामक प्राथमिक तत्त्व एवं गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता भी रहती है। तदुपरान्त सृष्टि प्रक्रिया के द्वितीय चरण (माध्यन्दिन) में "इन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्रः" वाग् रश्मि तूष्णींशंस रूप धारण करके त्रिष्टुप् और बृहती छन्द रश्मि प्रधान सम्पूर्ण पदार्थ जगत् को कृष्ण चक्षु रूप प्रदान करती है। इसका तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म विद्युद् युक्त प्राथमिक प्राणों से सम्पन्न दिव्य वायु एक ऐसे ज्योति समूह से युक्त होता है, जो तीव्र आकर्षण, छेदन और भेदन आदि गुणों से युक्त होकर सम्पूर्ण पदार्थ में विशेष हलचल उत्पन्न कर देता है। **इस समय ब्रह्माण्ड के पदार्थ का वर्ण बृहती छन्द की प्रधानता से कृष्ण और त्रिष्टुप् छन्द की प्रधानता से रक्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय ब्रह्माण्ड के पदार्थ का रंग शुक्ल के स्थान पर कुछ-२ रक्तिम आभा लिये कृष्ण वर्ण होता है।** इस समय अपान तत्त्व की विशेष सक्रियता उत्पन्न होकर त्रैष्टुभ एवं वार्हत क्षेत्रों का निर्माण होता है और इसी समय विभिन्न प्रकार के तीक्ष्ण विद्युदादि वल उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर "सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्यः" वाग् रश्मि उत्पन्न होकर सृष्टि प्रक्रिया के तृतीय चरण को प्रकाशित करती है। जिसमें व्यान तत्त्व की प्रधानता प्राणापानादि सभी प्राण तत्त्वों को परस्पर वांध कर किंवा समन्वित करके जगती प्रधान क्षेत्रों के निर्माण में सहयोग करती है। यह वाग् रश्मि लोहित चक्षु का कार्य करती है। इसका तात्पर्य यह है कि इस चरण में विभिन्न प्रकार के तत्त्वों का निर्माण अति शीघ्रता से होता है। छन्द शास्त्र के प्रणेता आचार्य पिंगल के अनुसार **जगती छन्द का वर्ण गौर होने तथा यहाँ लोहित रूप दर्शाये जाने से यह प्रतीत होता**

है कि उस समय इस ब्रह्माण्ड के पदार्थ का रंग लालिमा लिये हुए गोरापन से युक्त होता है। यहाँ सृष्टि के तीनों चरणों में तूष्णींशंस नामक रश्मियों की चर्चा से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि असुर तत्त्व का आक्रमण दृश्य पदार्थ पर कभी भी होना सम्भावित है, जिसके बाधक रूप के निवारण हेतु ही उपर्युक्त तीनों वाग् रश्मियां अपने-२ काल में दृश्य पदार्थ को संरक्षित रखती हैं। इस कण्डिका में चक्षुषी इस द्विवचनान्त प्रयोग का तात्पर्य इस प्रकार है- तीनों सवनों में उत्पन्न वाग् रश्मियां क्रमशः दो-२ भागों में विभक्त होकर ही प्रकाशित होती हैं, यथा- प्रथम रश्मि 'भूरग्निर्ज्योतिः-ज्योतिरग्निः', द्वितीय रश्मि 'इन्द्रो ज्योतिः-भुवो ज्योतिरिन्द्रः' एवं तृतीय रश्मि 'सूर्यो ज्योतिः-ज्योतिः स्वः सूर्यः', के रूप में प्रकाशित होती है। इस प्रकार एक-२ रश्मि दो-२ चक्षुओं का कार्य करती है। आचार्य सायण ने भी अपनी याज्ञिक शैली में इसी प्रकार विभाग किया है।।

जब ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की स्थिति बनती है, उस समय ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ उपर्युक्त चक्षु रूप तीनों वाग् रश्मियों से युक्त होकर सृष्टि प्रक्रिया के तीनों चरणों को संसिद्ध वा समृद्ध करता है और इन्हीं वाग् रश्मियों और सृष्टि के तीनों चरणों के द्वारा वह पदार्थ स्वर्गलोक अर्थात् अन्तिम परिणति को प्राप्त होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया के विभिन्न चरणों में हो रही क्रियाओं को बाधित करने के लिए डार्क एनर्जी का प्रबल प्रतिकर्षण बल कभी भी दृश्य पदार्थ पर प्रहार कर सकता है। इस कारण इस ब्रह्माण्ड में सदैव ही पूर्वोक्त वाग् रश्मियां विद्यमान रहती हैं, जो डार्क एनर्जी के बाधक प्रतिकर्षण बल को मर्यादित वा नष्ट करने में अपनी भूमिका सदैव निभाती रहती हैं। **सृष्टि के प्रथम चरण में प्राण नामक प्राथमिक प्राण एवं गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता वाला पदार्थ शुक्ल दीप्ति से युक्त होता है। सृष्टि के द्वितीय चरण में अपान तत्त्व, त्रिष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मियों से युक्त पदार्थ लालिमायुक्त काले वर्ण से युक्त होता है। सृष्टि के तृतीय चरण में व्यान तत्त्व एवं जगती छन्द की प्रधानता वाला पदार्थ लालिमायुक्त गोरे रंग से युक्त होता है।।**

चित्र ६.२१ सृष्टि प्रक्रिया के विभिन्न चरण

२. चक्षुर्वा एतद् यज्ञस्य यत् तूष्णींशंस, एका सती व्याहृतिर्द्वेधोच्यते, तस्मादेकं सच्चक्षुर्द्वेधा।।
मूलं वा एतद् यज्ञस्य यत्तूष्णींशंसो यं कामयेतानायतनवान् स्यादिति नास्य यज्ञे तूष्णींशंसं शंसेदुन्मूलमेव तद्यज्ञं पराभवन् तमनु पराभवति।।
तद् वा आहुः शंसेदेवापि वैतदृत्विजेऽहितं यद्धोता तूष्णींशंसं न शंसत्यृत्विजि हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितो यज्ञे यजमानः तस्माच्छंस्तव्यः, शंस्तव्यः।।८।।

व्याख्यानम्- सम्पूर्ण सृष्टियज्ञ में पूर्वोक्त तूष्णींशंस वागू रश्मियां किस प्रकार चक्षु रूप हैं, यह हम पूर्व में बतला चुके हैं। यहाँ महर्षि **'चक्षुषी'** इस द्विवचनान्त पद पर व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि सब ओर से विशेष रूप से असुर तत्त्व का हरण करने वाली व्याहृति रूप तीनों वागू रश्मियां भूरादि व्याहृतियों से युक्त दो भागों में प्रकाशित होती हैं। इसी कारण पूर्व कण्डिका में एक-२ वागू रश्मि को दो-२ रश्मियों रूप चक्षु युग्म के रूप में दर्शाया गया है।।

पूर्वोक्त तूष्णींशंस प्रक्रिया समस्त सृष्टियज्ञ का मूल रूप है। **'मूल'** शब्द का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं- "मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा" (नि.६.३), {मुष स्तेये = उठा लेना, अपहरण करना, छिपाना, ढक लेना, लपेटना, आगे बढ़ जाना, चोट पहुंचाना, नष्ट करना - आप्टे कोष। मुह वैचित्ये = अस्त-व्यस्त करना, उद्विग्न होना, मोहित करना, जड़ करना - आप्टे कोष} इस निर्वचन से तूष्णींशंस रश्मियों के विलक्षण विज्ञान का उद्घाटन होता है। यहाँ **'मोचनाद्वा'** इस बात का संकेत करता है कि ये वागू रश्मियां असुर तत्त्व का आक्रमण होने पर देव पदार्थ को उससे छुड़ाने का कार्य करती हैं। यह छुड़ाने की प्रक्रिया कैसे होती है? इसको अगले दो निर्वचन स्पष्ट करते हैं। यहाँ **'मोषणाद्वा'** इस बात की ओर संकेत करता है कि जब असुर तत्त्व का देव पदार्थ पर प्रहार होता है, तब ये वागू रश्मियां पहले असुर तत्त्व पर प्रहार करके उसके बाधक प्रभाव को नष्ट करती हैं, फिर वे देव पदार्थ को चारों ओर से आच्छादित करके उसे उठाकर संयोग प्रक्रिया की ओर आगे बढ़ जाती हैं। इन वागू रश्मियों का असुर तत्त्व पर कैसा आक्रमण होता है और उसका उस असुर तत्त्व पर क्या प्रभाव होता है? इस विज्ञान को **'मोहनाद्वा'** से स्पष्ट जाना जा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि इन तूष्णींशंस वागू रश्मियों के प्रहार के समय वे रश्मियां अति उद्विग्न अवस्था में होती हैं और फिर अपने आक्रमण से तीव्र बलयुक्त असुर तत्त्व को बलहीन करके अस्त-व्यस्त कर देती हैं। इस कारण समस्त देव पदार्थ की असुर पदार्थ से सदैव और सर्वत्र रक्षा करने के कारण ये वागू रश्मियां सृष्टियज्ञ का मूल कहलाती हैं। **जिस समय सर्वनियन्ता चेतन परमात्मा सृष्टियज्ञ के विस्तार को समेट कर प्रलय करने की कामना करता है, उस समय इन तूष्णींशंस नामक वागू रश्मियों की उत्पत्ति बन्द हो जाती है। जिससे सृष्टियज्ञ के मूल का ही उच्छेद हो जाता है। इसके कारण वह सृष्टियज्ञ पराभव को प्राप्त होता है। इसके पश्चात् शनैः-२ सृष्टियज्ञ के विविध अंग देव आदि पदार्थ असुर तत्त्व के प्रहार से नष्ट हो जाते वा बिखर जाते हैं।।**

इस कारण कहते हैं कि तूष्णींशंस नामक रश्मियों की विद्यमानता और सक्रियता सृष्टि काल तक अवश्य बनी रहती है क्योंकि इनके बिना प्राणापानादि प्राथमिक प्राण रूप ऋत्विजों का धारण और पोषण सम्भव नहीं है। यदि इन रश्मियों की उत्पत्ति के प्रेरक मन और वाक् रूप होता इन रश्मियों को उत्पन्न करने की प्रेरणा न करें, तो समस्त सूक्ष्म वा स्थूल संयोज्य पदार्थ अपनी संयोज्यता को कदापि धारण नहीं रख सकता और विभिन्न प्रकार के कण वा लोक अपने केन्द्र में स्थित विविध बलों के भण्डार प्राण तत्त्वों एवं उनके बाहर स्थित विभिन्न प्राणों के आश्रय को खो देते हैं। इस सृष्टि का सम्पूर्ण यज्ञ सूक्ष्मतर स्तर पर जाकर प्राणापानादि ऋत्विजों में ही प्रतिष्ठित होता है और उस सृष्टियज्ञ में सभी संयोज्य पदार्थ सदैव प्रतिष्ठित रहते हैं। इस कारण इन सबकी प्रतिष्ठा के लिए तूष्णींशंस नामक रश्मियों की उत्पत्ति और सक्रियता अति आवश्यक है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त वागू रश्मियों का डार्क एनर्जी के साथ कैसा युद्ध होता है? उसका प्रकार निम्नानुसार है- जब किसी दृश्य पदार्थ पर डार्क एनर्जी का प्रहार होता है और उस प्रहार से आक्रान्त होकर दृश्य पदार्थ अपने सृजन धर्म को खोने लगता है, उस समय पूर्वोक्त वागू रश्मियां उस डार्क एनर्जी पर प्रहार करती हैं और यह प्रहार अत्यन्त वेग के साथ होता है। इस प्रहार से डार्क एनर्जी बलहीन होकर अस्त-व्यस्त हो जाती है, जिसके कारण दृश्य पदार्थ उस डार्क एनर्जी के प्रभाव से मुक्त होकर वागू रश्मियों से आच्छादित हो जाता है। इन रश्मियों से आच्छादित वह दृश्य पदार्थ डार्क एनर्जी से सुरक्षित होकर सृजन कर्मों को संचालित करने में सक्षम हो जाता है। जब सृष्टि का प्रलय काल होता है, तब इन वागू रश्मियों की उत्पत्ति बन्द हो जाती है, जिसके कारण डार्क एनर्जी प्रबल होकर सभी पदार्थों को बिखेर देती है। ये वागू रश्मियां ही इस समस्त सृष्टि में सभी सृजन कर्मों का आधार रूप हैं।।

❀ इति ९.८ समाप्तः ❀

❀ इति नवमोऽध्यायः समाप्तः ❀

दशमोऽध्यायः

10

प्राणापानादि पदार्थों का
परस्पर संगमन और संपीडन
Photon
सूत्रात्मा वायु
"होता मनुर्वृतः"
"प्रणीर्यज्ञानाम्"
निविद् रश्मियां
धनंजय प्राण
तीव्र गति
युक्त Photon

।। ओ३म् ।।
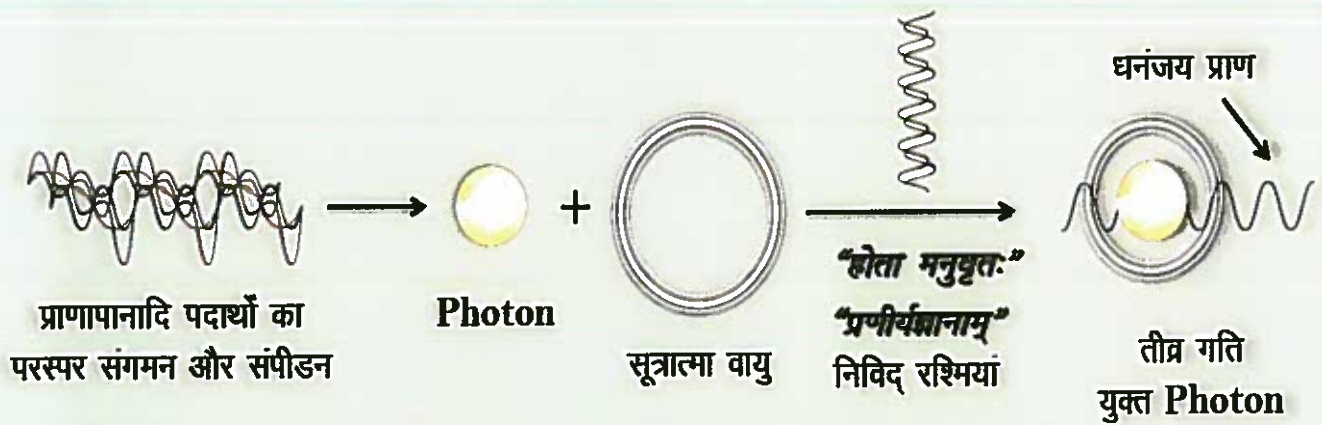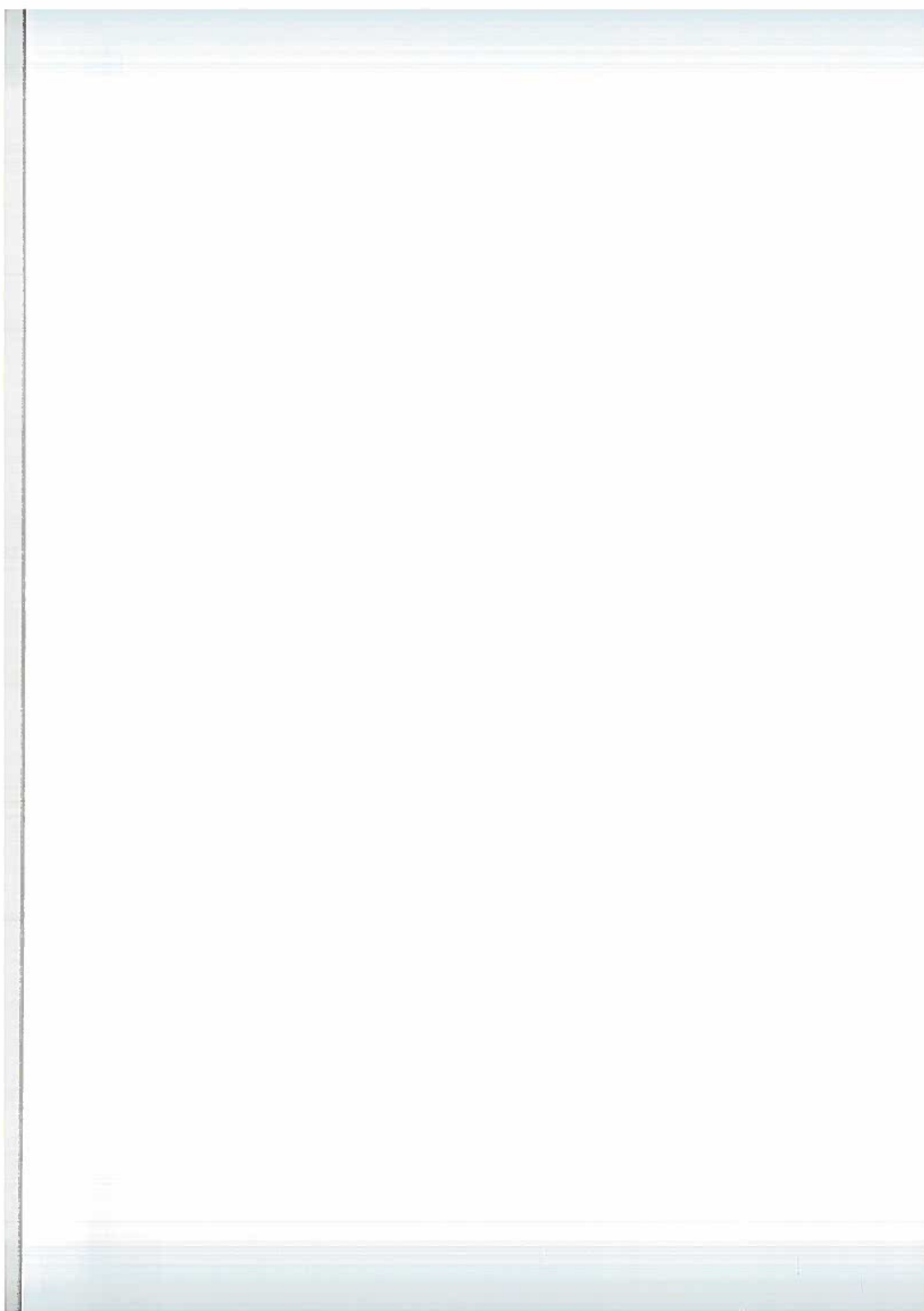
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

अनुक्रमणिका

१०.१ ब्रह्म-आहाव-क्षत्र-निविद्-विट्-सूक्त, असुर तत्त्व नियन्त्रक रश्मियों की उत्पत्ति प्रक्रिया एवं उनका क्रिया विज्ञान, सृष्टि प्रक्रिया में संयोग-वियोग, उत्पत्ति-विनाश, तीव्रता-मन्दता, तेजस्विता-तेजहीनता आदि उतार-चढ़ावों का क्रिया विज्ञान। प्रजापति-तप-वाक्, निविद्, १२ निविद् रश्मियों की उत्पत्ति का क्रम (महत् तत्त्व से प्रारम्भ करके), मनु-निविद्-ऋषि, १२ निविद् रश्मियों के पश्चात् व्यवहारिक आकाश तत्त्व, ध्वनि के पश्यन्ती रूप, अन्त में वर्तमान विज्ञान के मूल कणों की उत्पत्ति। 534

१०.२ देव-मनुष्य-अग्नि-इहलोक, १२ निविद् रश्मियों की उत्पत्ति एवं विस्तार। 540

१०.३ स्त्री-पुमान्-उक्थमुख-प्रजा-पशु, पूर्वोक्त विट् सूक्त अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति की प्रक्रिया और उनसे विभिन्न कणों और तरंगों की उत्पत्ति का विज्ञान, इस कार्य में १२ निविद् रश्मियों की भूमिका। 546

१०.४ भिन्न-२ स्थानों पर चलता हुआ देवासुर संग्राम, आग्नीध्र, पूर्वोक्त निविदादि रश्मियों द्वारा असुर तत्त्व निवारण। सदस्य-अग्नि-राक्षस-आज्य-आग्नीध्र, पूर्वोक्त देवासुर संग्राम की व्याख्या। होत्रम्-ओज-बल-सहस्-सत्तम-अच्छावाक- प्रातःसवन, देवासुर संग्राम का विज्ञान, असुर तत्त्व नियन्त्रक ६० रश्मियां। होत्रक-सदस्-अच्छावाक-अहीन, विभिन्न मूल कणों एवं लोकों के निर्माण की प्रक्रिया एवं असुर निवारण। 549

१०.५ देवरथ-रश्मि-आज्य-प्रउग-पवमान-मनुष्य-रथ, विभिन्न कणों के संयोग में सर्वप्रथम ६ गायत्री रश्मियों की उत्पत्ति एवं दैवी गायत्री रश्मियों के द्वारा इनको सक्रिय करना। स्तोत्र-शस्त्र-पावमानी-होता-आज्य, गायत्री और अनुष्टुप् एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें व प्राणादि रश्मियों में समानता, समस्त बल और गति का मूल प्राणादि वायु। इन्द्राग्नी-दुरोण-दाशुष, असुर तत्त्व प्रहार और उसके निवारण का क्रिया विज्ञान, विद्युदावेशित कणों की उत्पत्ति में उच्च ऊष्मा की अनिवार्यता। वसु आदि ३३ देव, अक्षरभाज-उक्थमुख-देवपात्र-याज्या- शस्त्र-आज्य-होता, गायत्री से जगती तक एवं अतिच्छन्द का अष्टवसु रूप, विट् सूक्त की ७ अनुष्टुप् रश्मियों की ११ प्रकार से आवृति, रुद्र रूप और १२ निविद् रश्मियां 557

आदित्य रूप, मन एवं वाक् की सर्वव्यापकता। द्वितीय तूष्णीशंसं रश्मियां, विद्युत् और ऊष्मा का अति निकट सम्बन्ध, मीडिएटर फोटोन्स, वर्चुअल इलेक्ट्रॉन एवं वर्चुअल पॉजिट्रॉन का सम्बन्ध।

१०.६ होतृजप-रेत-उपांशु-आहाव-शस्त्र, विभिन्न रश्मियों के संयोग में आहाव संज्ञक रश्मि के संयोग से पूर्व मन, सूत्रात्मा वायु एवं प्राणापानादि रश्मियों का योगदान। चतुष्पाद-द्विपाद-रेत, दो पाद और चार पाद वाली रश्मियों के संयोग की पृथक्-२ प्रक्रिया। पिता-मातरिश्वा-रेत-छिद्र-कवि-अनूचान,एकाक्षरा वाग् रश्मियों का वीज रूप मनस् तत्त्व, ध्वनि उत्पत्ति का वीज एकाक्षरा वाग् रश्मि, एकाक्षरा रश्मियों की गति व मार्ग। सोम-विश्ववित्-वृहस्पति-उक्थमद- ब्रह्म-क्षत्र-स्तुत-शस्त्र, वाक् और मन के संयोग के दृश्य और अदृश्य दोनों पदार्थों की उत्पत्ति। वाक्-विश्व-आयु-प्राण-रेत-योनि-प्रजापति-कः, वाक्, प्राण और मन का जल और लहरों के समान विज्ञान। 565

१०.७ तूष्णीशंसं -रेत-उपांशु, सूक्ष्म एवं स्थूल रश्मियों के संगम का विज्ञान। षट्पद तूष्णीशंस-षड्विध पुरुष-षंडग आत्मा- पुरोरुक्-रेत, तूष्णींशंस (दोनों चरणों वाली) रश्मियों के छः-छः चरणों का विज्ञान, पुनः निविद् रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् वर्तमान मूलकणों की उत्पत्ति। द्वादशपदा पुरोरुक्-मास-संवत्सर-प्रजापति-पशु-जातवेद, १२ निविद् रश्मियां ही मास रश्मियां, इनसे मनस्तत्त्व के संयोग से मूलकणों की उत्पत्ति। तृतीय सवन-जातवेद-आज्य-आत्मसंस्कृति, प्राण व वाक् के संयोग से ही विविध सृष्टि की उत्पत्ति। 573

१०.८ प्राण-प्र, प्र से प्रकृष्ट गति। मन-दीदाय-प्रथम दीप्ति मन। शर्म-वाक्-वीति, मनस् तत्त्व में स्पन्दन ही वाक्, आहाव रश्मि के प्राणापान के संयोग से ही प्राणापान की सक्रियता। विप्र-अपान-यन्ता-प्राण, सभी छन्द रश्मियों वा कणों के मध्य अवकाश की अनिवार्यता, अपान के कारण अवकाश। ऋतावा-रोदसी- चक्षु, वज्र रूप किरणों की अविचलितता और उनकी प्रहार प्रक्रिया। सहस्र-तोक-पुष्टि-प्रति-याज्या-लक्ष्मी-पुण्या, सभी रश्मियों का संधानक सूत्रात्मा वायु, विभिन्न छन्द रश्मियों से मूल कणों की उत्पत्ति। 578

१०.६ षट्पद-तूष्णीशंस-षड्ऋतु-पुरोरुक्, असुर तत्त्व निवारक रश्मियों के दो प्रकार, असुर तत्त्व के भी दो प्रकार, विभिन्न रश्मियों के संयोजन, धारण और सशक्तीकरण में निविद् मास रश्मियों का योगदान। अन्तरिक्ष-प्र-दीदाय, आकाश तत्त्व की उत्पत्ति और व्यापकता, अदृश्य दीप्ति की उत्पत्ति। शर्म-वीति-व्रह्म- चन्द्रमा, विद्युत् चुम्वकीय तरंगों की उत्पत्ति, अणु और परमाणुओं की उत्पत्ति में विद्युत् चुम्वकीय तरंगों 585

का योगदान, आकाश तत्त्व की उत्पत्ति और स्वरूप। विप्र-वायु-द्यावापृथिवी-रोदसी, वायु का स्वरूप, विभिन्न मूल कणों का नियामक और उत्पादक वायु, अपान एवं असुर तत्त्व का प्रतिकर्षण वल एक आवश्यकता, शव्द की सर्वव्यापकता संवत्सर-सहस्र-तोक- समस्त-वृष्टि-याज्या विद्युत् प्रकाश व ऊष्मा की व्यापकता, देवासुर संग्राम की निरन्तरता।

ॐ अथ १०.१ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. ब्रह्म वा आहावः, क्षत्रं निविद्धिट्सूक्तमाह्यतेऽथ निविदं दधाति, ब्रह्मण्येव तत्क्षत्रमनुनियुनक्ति, निविदं शस्त्वा सूक्तं शंसति, क्षत्रं वै निविद्धिट्सूक्तं क्षत्र एव तद्विशमनुनियुनक्ति।।

{आहावः = समन्तात् स्पर्धनीयः (तु.म.द.ऋ.भा.६.७.२), आहाव आह्वानाद् (नि.५.२६), वागाहावः (ऐ.४.२१)। ब्रह्म = वाक् (जै.ब्रा.१.८२), मनो ब्रह्म (गो.पू.२.११), व्यानो मे ब्रह्म (ष.२.७), अथामूर्तं (ब्रह्मणो रूपम्) वायुश्चान्तरिक्षं च (श.१४.५.३.४), प्राणापानौ ब्रह्म (गो.पू.२.११), विद्युद् ह्येव ब्रह्म (श.१४.८.७.१), ब्रह्म वै गायत्री (मै.४.७.३; ऐ.आ.१.१.१), ब्रह्म प्रातःसवनम् (जै.ब्रा.१.२६३), ब्रह्मैता व्याहृतयः (तै.सं.१.६.१०.२)। क्षत्रम् = क्षत्रं वै त्रिष्टुप् (कौ.ब्रा.७.१०), क्षत्रं बृहती (जै.ब्रा.२.१४२), क्षत्रं माध्यन्दिनं सवनम् (कौ.ब्रा.१६.४), क्षत्रस्येव प्रकाशो भवति (जै.ब्रा.१.२४३), क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् (श.१३.२.२.१७), क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स (म.द.य.भा.५.२७), ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रं सोमः (कौ.ब्रा.९.५), क्षत्रं वाऽइन्द्रः (कौ.ब्रा.१२.८)। निविदः = वाङ्नाम (निघं.१.११), नितरां विदन्ति याभिस्ता वाचः (म.द.ऋ.भा.४.१८.७), चक्षुर्निवित् (जै.उ.३.१.४.३), प्राणा वै निविदः (कौ.ब्रा.१५.३)। विट् = यज्ञो वै विट् (श.१४.३.१.६), अन्नं वै विशः (श.४.३.३.१२), अनिरुक्तेव हि विट् (श.६.३.१.१५), विड् वै जगती (जै.ब्रा.१.२६३), विट् तृतीयसवनम् (कौ.ब्रा.१६.४)। सूक्तम् = यजमानो हि सूक्तम् (ऐ.६.६), गृहा सूक्तम् (ऐ.३.२३), द्यौस्सूक्तम् (जै.उ.३.१.४.२)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त तूष्णींशंस प्रक्रिया के विषय में कुछ अन्य रहस्यों का उद्घाटन करते हुए महर्षि कहते हैं कि 'ब्रह्म वा आहावः'। इस विषय में महर्षि आश्वलायन लिखते लिखते हैं- "शोंसावोमित्युच्चैराहूय तूष्णींशंसं शंसेदुपांशु सप्रणवमसंतन्वन्। एष आहावः प्रातःसवने शस्त्रादिषु।" (आश्व.श्रौ.५.९.१-२) इसका तात्पर्य यह है कि जब पूर्वोक्त तूष्णींशंस वागु रश्मियां उत्पन्न होने वाली होती हैं, उस समय किंवा उसके ठीक पूर्व अव्यक्त 'ओम्' रूप सूक्ष्म वागु रश्मि को सम्यक् विस्तृत किया जाता है। "शोंसावोम्" इस वागु रश्मि को तीव्रता से आकृष्ट करके फिर तूष्णींशंस वागु रश्मियों की उत्पत्ति होती है। यह वागु रश्मि भी 'ओम्' वागु रश्मि से युक्त होती है। सृष्टि प्रक्रिया के प्रातःसवन रूप प्रथम चरण में यह वागु रश्मि 'आहावः' अर्थात् समस्त देव पदार्थ के आह्वान वा आकर्षण के रूप में होती है। यह विस्तृत 'ओम्' वागु रश्मि 'शोंसावोम्' का ही अन्तिम भाग है। यह 'शोंसावोम्' वागु रश्मि मनस् तत्त्व के द्वारा ही उत्पन्न होती है। यह वागु रश्मि सब ओर से देव पदार्थ के द्वारा आकर्षित की जाती है और उस आकर्षण के प्रभाव से वे प्राथमिक प्राण मनस् तत्त्व की प्रेरणा से पूर्वोक्त तूष्णींशंस रश्मियों को उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। मनस् तत्त्व दैवी गायत्री छन्द रश्मियों के संयोग से इस वागु रश्मि को उत्पन्न करता है। इसलिए मन के समान इस रश्मि को भी ब्रह्म कहा जाता है, क्योंकि **यह रश्मि सर्वप्रथम दैवी गायत्री छन्द 'ओम्' के संयोग के रूप में उत्पन्न होती है और अत्यन्त तीव्र गति से अकस्मात् उत्पन्न होती है। इस कारण भी इसे ब्रह्म कहते हैं।** इसके पश्चात् महर्षि आगे लिखते हैं- 'क्षत्रं निवित्'। यहाँ आचार्य सायण भाष्य में निविदध्याय को पाद टिप्पणी में उद्धृत करते हुए लिखा है- "अग्निर्देवेद्धः। अग्निर्मन्विद्धः। अग्निः सुषमित्। होता देववृतः। होता मनुवृतः। प्रणीर्यज्ञानाम्। रथीरध्वराणाम्। अतूर्तो

होता। तूर्णिर्हव्यवाट्। आ देवो देवान् वक्षत्। यक्षदग्निर्देवो देवान्। सो अध्वरा करति जातवेदाः" (निविद.१.१-१२)। ये १२ पद वाग् रश्मियों का ही रूप हैं। जिन पर विशेष व्याख्यान महर्षि ने अगले खण्ड में किया है। इन रश्मियों को निवित् **इस कारण कहते हैं, क्योंकि इन रश्मियों के सहयोग से सम्पूर्ण देव पदार्थ तूष्णींशंस रश्मियों को पूर्णरूप से अपने अन्दर धारण कर लेते हैं।** ये रश्मियां पूर्वोक्त आहाव रश्मियों के पश्चात् उत्पन्न होने से माध्यन्दिन सवन का रूप होती हैं, इस कारण इन्हें क्षत्र कहा जाता है। इन निविद् रश्मियों में ६ निचृद् दैवी त्रिष्टुप् किंवा भुरिक् दैवी वृहती, ३ दैवी त्रिष्टुप्, १ याजुषी उष्णिक्, १ निचृद् याजुषी वृहती और १ याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि है। इस कारण त्रिष्टुप् और वृहती छन्द रश्मिमय होने से भी निविद् रश्मियां माध्यन्दिन सवन तथा क्षत्र संज्ञक होती हैं। ये रश्मियां तीव्र वल और तेज से युक्त होने के कारण भेदक शक्तिसम्पन्न और प्रकाशमयी होती हैं। इन रश्मियों के कारण विभिन्न पदार्थ सुन्दर और तेजस्वी दिखलाई पड़ते हैं तथा ये रश्मियां ही आगामी क्रियाओं का गर्भ रूप होती है। इसी कारण महर्षि अन्यत्र कहते हैं- "गर्भा वा एत उक्थानां यन्निविदः..... पेशा वा एत उक्थानां यन्निविदः" (ऐ.३.१०)। अव आगे महर्षि कहते हैं- 'विट् सूक्तम्' यहाँ आचार्य सायण ने 'सूक्तम्' पद से ऋग्वेद ३.१३ सूक्त का ग्रहण किया है। महर्षि आश्वलायन के वचन "उत्तमेन पदेन प्र वो देवायेत्याज्यमुपसंतनुयात्।" (आश्व.श्रौ.५.६.१५) से भी इसी सूक्त के ग्रहण का संकेत मिलता है। ऋषभो वैश्वामित्र ऋषि अर्थात् पूर्वोक्त दैवी छन्द रश्मियों से उत्पन्न विशेष तेजस्वी और शक्तिशाली प्राण विशेष से यह सात छन्द रश्मियों वाला अग्निदेवताक ऋग्वेद ३.१३ सूक्त उत्पन्न होता है। इनके दैवत प्रभाव से पूर्वोत्पन्न अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है। शेष प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार है-

(१) प्र वो॑ दे॒वाया॒ग्नये॒ बर्हि॑ष्ठमर्चास्मै। गम॑द्दे॒वेभि॒रा स नो॒ यजि॑ष्ठो ब॒र्हिरा स॑दत्।। (ऋ.३.१३.१)
इसका छन्द भुरिगुष्णिक् होने से उष्णता, प्रकाश एवं स्नेहन गुण की वृद्धि होती है। ये रश्मियां देव पदार्थों को चारों ओर से आच्छादित कर लेती हैं। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ अतिशय संगमनीय होकर इस अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाते हैं।

(२) ऋ॒तावा॒ यस्य॒ रोद॑सी॒ दक्षं॒ सच॑न्त ऊ॒तयः॑। ह॒विष्म॑न्तस्तमीळते॒ तं स॑नि॒ष्यन्तोऽव॑से।। (ऋ.३.१३.२)
इसका छन्द निचृदनुष्टुप् होने से यह भेदन शक्तियुक्त तेज को समृद्ध करती है। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्राणों के मार्गों का विभाजन वा शोधन होकर प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थों को संरक्षित क्षेत्रों में सम्वद्ध करते हुए यजनशील वनाया जाता है, जिसके कारण वे सभी पदार्थ सुरक्षित मार्गों पर गमन करते हुए एक-दूसरे से संयुक्त वा वियुक्त होते रहते हैं।

(३) स य॒न्ता विप्र॑ एषां॒ स य॒ज्ञाना॒मथा॒ हि षः। अ॒ग्निं तं वो॑ दुवस्यत॒ दाता॒ यो वनि॑ता म॒घम्।। (ऋ.३.१३.३) इसका छन्द पूर्वोक्त होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न संगमनीय व्यवहारों के देने और लेने वाला नियन्त्रक सूत्रात्मा वायु अग्नि और इन्द्र तत्त्व का सेवन करके सर्ग यज्ञ को समृद्ध करता है।

(४) स नः॒ शर्मा॑णि वी॒तये॒ऽग्निर्य॑च्छतु॒ शन्त॑मा। यतो॑ नः प्रु॒ष्णव॒द्वसु॑ दि॒वि क्षि॒तिभ्यो॑ अ॒प्स्वा।। (ऋ.३.१३.४) इसका छन्द विराडनुष्टुप् होने से यह तेज और वल को विशेष समृद्ध करती है। इसके अन्य प्रभाव से वह सूत्रात्मा वायु सवका अग्रणी होकर विभिन्न पदार्थों को गति और संयोज्यतादि गुण प्रदान करने के लिए प्रकाशित और अप्रकाशित कणों वा लोकों एवं विभिन्न प्राणादि पदार्थों में सव ओर से व्याप्त होकर उन्हें अपने नियन्त्रण में रखता है।

(५) दी॒दि॒वांस॒मपू॑र्व्यं॒ वस्वी॑भिरस्य धी॒तिभिः॑। ऋक्वा॑णो अ॒ग्निमि॑न्धते॒ होता॑रं वि॒श्पतिं॑ वि॒शाम्।। (ऋ.३.१३.५)
इसका छन्द निचृदनुष्टुप् होने से छान्दस प्रभाव तृतीय रश्मि के समान समझें। इसके अन्य प्रभाव से इस सृष्टि में विभिन्न छन्द रश्मियों से युक्त धारण करने और वसाने वाले गुणों के साथ देदीप्यमान अग्नि तत्त्व विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को प्रकाशित करता है।

(६) उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः। शं नः शोचा मरुद् वृधोऽ ग्ने सहस्रसातमः।। (ऋ.३.१३.६)
इसका छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से पूर्वोक्त आहाव अर्थात् ब्रह्म संज्ञक रश्मियां विभिन्न प्राणादि पदार्थों में प्रकाश को समृद्ध करने वाले, विभिन्न मरुद् रश्मियों को समृद्ध करने वाले एवं विभिन्न पदार्थों के असंख्य विभाग करने वाले अग्नि तत्त्व को मर्यादित ढंग से प्रकाशित करती हैं।

(७) नू नो रास्व सहस्रवत्तोकवत्पुष्टिमद्वसु। द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम्।। (ऋ.३.१३.७)
इसका छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से {तोकम् = तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु (चुरा.) धातोः संज्ञायां घः प्रत्ययः (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री), तोकं तुद्यतेः (नि.१०.७)। सहस्रवत् = (सहस्रम् = सहस्वत् - नि.३.१०; पशवः सहस्रम् - तां.१६.१०.१२)} वलों से युक्त विभिन्न मरुद् रश्मियों वाले, विभिन्न परमाणुओं का मंथन करने वाले, उन्हें वल और पराक्रम से पुष्ट करने वाले, विद्युद् और प्रकाशयुक्त तथा कभी क्षीण न होने वाले अग्नि तत्त्व की सर्वत्र वृद्धि वा व्याप्ति होती है।

इन तीनों में सर्वप्रथम आहाव ब्रह्म रश्मियां उत्पन्न होती हैं। उसके पश्चात् निविद्-क्षत्र रश्मियां उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर ये निविद रश्मियां आहाव नामक रश्मियों में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान त्रिष्टुप् और बृहती छन्द रश्मियां, जो क्षत्ररूप होती हैं तथा जिनका सवन माध्यन्दिन होता है, वे प्रातःसवनस्थ ब्रह्मरूप गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा धारण कर ली जाती हैं। इसी कारण महर्षि अन्यत्र लिखते हैं- "ता उ गायत्र्यो गायत्र्यो वा एतस्य त्र्यहस्य मध्यन्दिनं वहन्ति। तद्वैतच्छन्दो वहति यस्मिन्निविद्धीयते, तस्माद् गायत्रीषु निविदं दधाति।" (ऐ.५.४)

निविद् रश्मियों के उत्पन्न व धारण होने के पश्चात् उपर्युक्त सूक्त की ७ छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जो कि विड्-रूप होती हैं। ये सातों रश्मियां क्षत्ररूप १२ निविद रश्मियों में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। इस प्रकार सभी रश्मियां ब्रह्मरूप गायत्री एवं आहाव संज्ञक वाग् रश्मियों के अन्दर प्रतिष्ठित हो जाती हैं और ये गायत्री रश्मियां ही सवसे अग्रणी और सवको **वहन** करने वाली होती हैं। ये ही सवकी प्रेरक शक्तियां भी हैं। इसी कारण अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा है- "गायत्री वै छन्दसामग्रं ज्यैष्ठ्यम् (जै.ब्रा.२.२२७), गायत्री वै प्रातःसवनं वहति, गायत्री माध्यन्दिनं सवनं, गायत्री तृतीयसवनम्" (जै.ब्रा. १.२८६)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- डार्क एनर्जी के प्रबल प्रतिकर्षक और बाधक प्रभाव को नियन्त्रित वा नष्ट करने के लिए जो पूर्वोक्त वाग् रश्मियां उत्पन्न हुआ करती हैं, उसकी उत्पत्ति प्रक्रिया निम्नानुसार है-

पूर्वोक्त वाग् रश्मियों के उत्पन्न होने के पूर्व ओंकारयुक्त तीन दैवी गायत्री छन्द रश्मियों का संयुक्त रूप सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। हमारे मत में **'ओम्', 'भूः', 'भुवः'** आदि सूक्ष्म छन्द रश्मियां इसके पूर्व उत्पन्न हो चुकी होती हैं। उनके पश्चात् ही यह संयुक्त रश्मि उत्पन्न होकर समस्त प्राथमिक प्राण रूप देव पदार्थ को उत्तेजित व आकर्षित करती है और इसके प्रभाव से वे प्राणादि देव पदार्थ असुर तत्त्व नियन्त्रक अन्य वाग् रश्मियों को मनस् तत्त्व की प्रेरणा से उत्पन्न करते हैं। इसके पश्चात् १२ प्रकार की दैवी व याजुषी त्रिष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। ये पूर्वोत्पन्न गायत्री छन्द रश्मियों में समाहित हो जाती हैं। ये अति तेजस्वी और बलवान् होती हैं, जो डार्क एनर्जी के अनिष्ट प्रभाव को दूर करने में विशेष सहयोग करती हैं। इन रश्मियों के सक्रिय होने के पश्चात् ही विभिन्न सूक्ष्म कणों का निर्माण प्रारम्भ होता है। ये उन कणों के निर्माण की बीज रूप होती हैं। इसके पश्चात् कुछ अनुष्टुप् रश्मियां उत्पन्न होकर इस ब्रह्माण्ड में ऊष्मा और प्रकाश की वृद्धि के साथ-२ छेदन, भेदन और संयोजन गुणों को समृद्ध करती हैं, जिसके कारण विभिन्न प्रकार के कण परस्पर संयुक्त होकर नाना प्रकार के तत्त्वों का निर्माण करने लगते हैं। इस समय ब्रह्माण्ड में स्थित सम्पूर्ण पदार्थ तप्त और दीप्तियुक्त होने लगता है। यहाँ जो भी सूक्ष्म व पूर्वोत्पन्न रश्मियां होती हैं, वे अपने से स्थूल व पश्चात् उत्पन्न हुई रश्मियों को अपने अन्दर धारण करके उनको वहन करने वाली होती हैं।।

२. यं कामयेत क्षत्रेणैनं व्यर्धयानीति, मध्य एतस्यै निविदः सूक्तं शंसेत्, क्षत्रं वै निविद्विट्सूक्तं क्षत्रेणैवैनं तद्व्यर्धयति।।

यं कामयेत विशैनं व्यर्धयानीति, मध्य एतस्य सूक्तस्य निविदं शंसेत्, क्षत्रं वै निविद्विट्सूक्तं विशैवैनं तद्व्यर्धयति।।
यमु कामयेत सर्वमेवास्य यथापूर्वमृजुक्लृप्तं स्यादित्याह्वयेताथ निविदं दध्यादथ सूक्तं शंसेत्, सो सर्वस्य क्लृप्तिः।।

व्याख्यानम्- जब प्रजापति परमात्मा यह कामना करता है कि प्रलय का क्रम प्रारम्भ किया जाए अथवा किन्हीं स्थानों पर बलों की तीक्ष्णता को कम किया जाए, जिससे संयोग आदि की प्रक्रिया बन्द हो सके अथवा सम्यग् रूप धारण कर सके अथवा उसमें अल्प विराम आवश्यक हो, उस समय पूर्वोक्त निविद् रश्मियों की उत्पत्ति के मध्य में पूर्वोक्त विट् संज्ञक सूक्त रूपी ७ रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। जैसा कि हम अवगत हैं कि निविद् संज्ञक रश्मियां तीव्र छेदन-भेदन क्षमता से युक्त होती हैं और विट् संज्ञक सूक्त रश्मियां विभिन्न कणों का निर्माण करने वाली, साथ ही अपने अन्दर सभी वाग् एवं प्राणादि रश्मियों को बसाने वाली होती हैं। जब निविद् रश्मियों के मध्य ये रश्मियां सहसा प्रकट हो जाती हैं, तब निविद् रश्मियों की तीक्ष्णता समाप्त हो जाती है। यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय प्रतीत होती है कि विट् संज्ञक रश्मियों एवं उनसे निर्मित विविध पदार्थ कणों को तीव्र निविद् रश्मियों से पृथक् करने की बात यहाँ कही गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि प्रक्रिया के सामान्य क्रम में निवित् के पश्चात् विड् रश्मियों का प्रादुर्भाव होता है। इसके विपरीत स्थिति बनने पर वे निविद् रश्मियां स्वयं बल और तेज से हीन होकर विभिन्न पदार्थ कणों को भी निर्बल और तेजहीन कर देती हैं।।

जब इस बात की आवश्यकता होती है कि ब्रह्माण्डस्थ विविध कण अपना प्रजा रूप खोकर सूक्ष्म अवस्था में परिवर्तित हो जाएं, उस समय उपर्युक्त विट् संज्ञक सूक्त रश्मियों के मध्य सहसा ही निविद् रश्मियां उत्पन्न हो उठती हैं। ये निविद् रश्मियां तीव्र छेदन-भेदन गुणों से युक्त होने के कारण विट् संज्ञक पदार्थ कणों वा रश्मियों को तोड़कर बिखेर देती हैं। उपर्युक्त स्थिति से यहाँ भेद यह है कि ऊपर विभिन्न कण बल और तेज से वियुक्त हुए थे और यहाँ वे कण ही बिखर कर सूक्ष्म रूप में परिवर्तित हो गये हैं।।

जब सृष्टि प्रक्रिया का सम्यक् संचालन करना होता है अथवा सामान्य परिस्थिति में विभिन्न रश्मियों की उत्पत्ति का वही क्रम रहता है, जो हम प्रथम कण्डिका में लिख चुके हैं अर्थात् पहले आहाव रश्मियां, फिर निविद् रश्मियां और अन्त में पूर्वोक्त सूक्त रश्मियां। इस क्रम से सभी रश्मियां समर्थ होकर सृष्टि प्रक्रिया को सम्यक् संचालित करने में सक्षम होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि प्रक्रिया में संयोग-वियोग, उत्पत्ति-विनाश, तीव्रता-मन्दता, तेजस्विता-तेजहीनता का प्रवाह और क्रम सतत बना रहता है। केवल एक ही प्रकार की क्रिया से सृष्टि का निर्माण और संचालन संभव नहीं है। हाँ, प्रलयकाल में ये क्रियायें बन्द होकर पूर्ण और निरपेक्ष निष्क्रियता विद्यमान होती है। जब सृष्टि में विभिन्न कणों की तीव्रता को मन्द वा बन्द करना आवश्यक होता है, तब उस तीव्रता की कारणरूप पूर्वोक्त त्रिष्टुबादि रश्मियों के मध्य सहसा ही पूर्वोक्त अनुष्टुबादि सात छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे ब्रह्माण्डस्थ विभिन्न कणों की तीव्रता सहसा कम हो जाती है। जब इस बात की आवश्यकता होती है कि ब्रह्माण्ड के स्थूल कण सूक्ष्म रूप में परिवर्तित हो जाएं, तब उपर्युक्त सात अनुष्टुबादि रश्मियों के मध्य सहसा ही तीक्ष्ण और बलवती १२ प्रकार की पूर्वोक्त निविद् रश्मियां प्रकट होकर पदार्थ कणों को विदीर्ण कर सूक्ष्म रूप में परिवर्तित कर देती हैं। जब सृष्टि प्रक्रिया सामान्य चल रही होती है, तब इन रश्मियों की उत्पत्ति का क्रम पूर्वोक्तानुसार ही रहता है।।

३. प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस, सोऽकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति, स तपोऽतप्यत, स वाचमयच्छत्, स संवत्सरस्य परस्ताद् व्याहरद् द्वादशकृत्वो द्वादश पदा वा एषा निविदेतां वाव तां निविदं व्याहरत् तां सर्वाणि भूतान्यन्व-सृज्यन्त।।

{पदम् = पद्यते गम्यते यत्तत् (परमाण्वादिरूपम्) (म.द.य.भा.५.१५), प्राप्तुमर्हम् (स्थानम्) (म.द.य.भा.६.५), पशवः पदम् (मै.३.७.७), सर्वत्र प्राप्तमन्तरिक्षम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.२२.१४),। तपः = सन्तापो गुणः (म.द.य.भा.१४.२३), ज्वलतो नामधेयम् (निघं.१.१७), तपो वा अग्निः (श.३.४.३.२), तपो दीक्षा (श.३.४.३.२), मनो वाव तपः (जै.ब्रा.३.३३४)। संवत्सरः = संवत्सरो यज्ञः (श.११.२.७.१), प्राणो वै संवत्सरः (तां.५.१०.३), वाक् संवत्सरः (तां.१०.१२.७), संवत्सरो हि वज्रः (श.३.४.४.१५), द्वादश वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः (श.२.२.३.२७), ऋतवः संवत्सरः (तै.ब्रा.३.८.८.१)।}

व्याख्यानम्- यहाँ निविद् संज्ञक रश्मियों के महत्व एवं उनकी उत्पत्ति के विषय में प्रकारान्तर से महर्षि लिखते हैं कि सर्वप्रथम प्रजापति परमात्मा एकमात्र जागृत अवस्था में विद्यमान था। सृष्टि का समस्त मूल उपादन प्रसुप्त एवं मूल कारण रूप में सर्वथा निष्क्रिय होकर वर्तमान था, तब उस परमात्मा ने कामना की कि उपादान पदार्थ से विभिन्न रूपें की रचना करूँ। यहाँ 'प्रजापति' शब्द का अर्थ मूल उपादान प्रकृति रूप पदार्थ भी लिया जा सकता है, तब भाव यह होगा कि सर्वप्रथम मूल उपादान प्रकृति, जो अमृत तथा अपरिमित थी, एकरस होकर सर्वत्र पूर्ण निष्क्रियता के साथ व्याप्त थी। उसकी त्रिगुण-अवस्था का व्यवहार उस समय वर्त्तमान नहीं था। उस समय परमात्म-चेतना की प्रेरणा से वह प्रकृति रूप पदार्थ अपने त्रिगुणों को धारण करना प्रारम्भ करता है। इस धारणारम्भ को ही 'दीक्षा' और 'दीक्षा' को ही 'तप' कहा जाता है। उधर 'तप' शब्द का अर्थ प्राणों का व्यवहार वा प्राकट्य भी है। जैसा कि हम अवगत हैं कि मनस् तत्त्व सबसे सूक्ष्म प्राण है, तब महर्षि का कथन यह है कि सर्वप्रथम उस मूल पदार्थ से मुख्यतः मनस् तत्त्व उत्पन्न होकर ऐश्वर्यवान् अर्थात् प्रभावशाली हो उठता है। यहाँ "अतप्यत" पद में "तप ऐश्वर्ये" धातु विद्यमान है, जिससे यह सिद्ध है कि यह मनस् तत्त्व ही सर्वप्रथम सबका नियन्ता और वृषा रूप होता हुआ उत्पन्न होता है। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "वृषा हि मनः" (श.१.४.४.३)।

इस मनस् तत्त्व की उत्पत्ति के पश्चात् परमात्म-चेतना द्वारा वाक् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसलिए तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा- "मनो वै पूर्वमथ वाक्" (जै.ब्रा.१.१२८)। वाक् तत्त्व की उत्पत्ति मनस् तत्व वा अहंकार तत्व में किस प्रकार स्पन्दन के रूप में होती है? यह हम पूर्व में प्रातःसवन क्रिया के स्वरूप में वर्णन कर चुके हैं। इन स्पन्दन रूप वाक् तत्त्व को मनस् तत्त्व द्वारा धारण कर लिया जाता है। इसी कारण कहा है- "मनसा हि वाग् धृता" (तै.सं.६.१.७.२)। इन्हीं मन और वाक् के मिथुन से यज्ञरूप प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति होती है और इनकी उत्पत्ति के पश्चात् १२ प्रकार की पद रूप रश्मियां उत्पन्न होती हैं। यहाँ 'पद' शब्द का प्रयोग यह संकेत देता है कि आकाश तत्व की वास्तविक उत्पत्ति इसी समय होती है और ये सभी पद रश्मियां मरुद् रूप होती हैं। कदाचित् ये १२ रश्मियां संधानकारिणी मास रश्मियों का ही रूप होती हैं और इन्हीं रश्मियों को ही पूर्ववर्णित निविद् रश्मियां कहते हैं। इन निविद् रश्मियों के उत्पन्न होने के साथ ही विभिन्न प्रकार के कणों वा तरंगों का निर्माण प्रारम्भ होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त १२ दैवी त्रिष्टुबादि रश्मियां की उत्पत्ति के विषय में प्रकारान्तर से चर्चा करते हैं कि सर्वप्रथम सर्वथा शान्त, निष्क्रिय, एकरस अवस्था वाले मूल पदार्थ में विक्षोभ करके एक नियन्त्रक और नियामक सबसे सूक्ष्म प्राण महत् तत्त्व पुनः मनस् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। किञ्चिद् भेद से अहंकार तत्त्व भी इन दोनों का किंवा इनका मध्य रूप है। यह पदार्थ भी सर्वत्र व्याप्त प्रायः एकरसवत् होता है। फिर इसी में उस चेतना द्वारा सूक्ष्म fluctuations होते-२ १२ प्रकार के तेजस्वी एवं विशेष बलयुक्त fluctuations उत्पन्न होते हैं और इनकी उत्पत्ति के साथ ही अन्य अनेक छन्द रश्मियां तथा आधुनिक विज्ञान द्वारा जाने गए मूल रूप कण व तरंगादि पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं।।

४. तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनूवाच 'स पूर्वया निविदा कव्यताऽऽयोरिमाः प्रजा अजनयत् मनूनाम्' इति।।
तद् यदेतां पुरस्तात् सूक्तस्य निविदं दधाति, प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।१।।

{कुत्सः = वज्रनाम (निघं.२.२०), कुत्स एतत् कृन्ततेर्ऋषिः कुत्सो भवति, कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवोऽथाप्यस्य वधकर्मैव भवति (नि.३.११)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त निविद् रश्मियों की उत्पत्ति के समय आङ्गिरस कुत्स ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न ऐसा प्राण विशेष, जो अपनी शक्ति से विभिन्न रश्मियों को काटने और छिन्न-भिन्न करने का सामर्थ्य रखता था, उत्पन्न होता है और फिर इस प्राण से ''द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा'' देवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्।। (ऋ.१.९६.२)

रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से विभिन्न वलों और पदार्थों को देने वाले विद्युत् तत्त्व अपने तीव्र तेज और वल के साथ समृद्ध होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से मनस् तत्त्व एवं प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों के अन्दर उत्पन्न निविद् रश्मियों के द्वारा 'कव्यता' अर्थात् वाग् व्यवहार जिसमें होता है, उस आकाश तत्त्व की उत्पत्ति होती है और खण्ड २.३२ में वर्णित विशेष रूप से वसाने वाली चक्षु रूप रश्मियां अपने तेज से सम्पूर्ण वलों और प्राणादि पदार्थों को धारण करती हैं।।

जव मन और वाग् रूप होता की प्रेरणा से प्राथमिक प्राणादि पदार्थ पूर्वोक्त विट् संज्ञक सूक्त रूप रश्मियों से पूर्व ही इन निविद् रश्मियों की उत्पत्ति होती है, तव सृजन प्रकियाएं तीव्रता से समृद्ध होती हैं। जव इस प्रकार की स्थिति इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होती है, तव अनेक प्रकार की मरुद् व छन्द रश्मियों एवं अन्य विविध पदार्थों की उत्पत्ति प्रकृष्ट वेग से होती है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त १२ संधानक रश्मियों की उत्पत्ति के समय इस ब्रह्माण्ड में छेदन-भेदन शक्ति से सम्पन्न एक रश्मि विशेष की उत्पत्ति होती है। इसी समय आकाश तत्त्व की भी उत्पत्ति होती है और उस सम्पूर्ण आकाश में ध्वनि के पश्यन्ती रूप की उत्पत्ति होकर उसके पश्चात् ही वर्तमान विज्ञान द्वारा जाने गए विविध मूलकणों की उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।।

इति १०.१ समाप्तः

ॐ अथ १०.२ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अग्निर्देवेद्ध इति शंसत्यसौ वा अग्निर्देवेद्ध एतं हि देवा इन्धत एतमेव तदेतस्मिँल्लोक आयातयति।।
अग्निर्मन्विद्ध इति शंसत्ययं वा अग्निर्मन्विद्ध इमं हि मनुष्या इन्धतेऽग्निमेव तदस्मिँल्लोक आयातयति।।

{मनुष्यः = अच्छन्ना इव हि प्रत्यक्षं निरुक्ता इव मनुष्याः (जै.ब्रा.१.२७४), बहिः प्राणो वै मनुष्यः (तै.सं.६.१.१.४), मनुष्या यजुष्मत्यः (श.१०.५.४.१), व्यानेन मनुष्यान् (दाधार) (तै.सं.१.७.२.१), मेधाविनाम (निघं.३.१५)}

व्याख्यानम्– यहाँ महर्षि पूर्व खण्ड में वर्णित १२ प्रकार की निविद् रश्मियों, जिनको हमने मास रश्मियां भी माना है, की क्रमशः व्याख्या करते हैं–

"अग्निर्देवेद्धः" यह प्रथम निविद् रश्मि है, जो पूर्वोक्त आहाव रश्मि के तत्काल पश्चात् उत्पन्न होती है। यह रश्मि मन और वाक् तत्व रूप होता की प्रेरणा से प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों के द्वारा उत्पन्न होती है और इन्हीं के द्वारा तेजस्वी और विशेष सक्रिय भी होती है। इस रश्मि के प्रभाव से इस ब्रह्माण्ड में प्राथमिक प्राण तेजस्वी और सब ओर विस्तृत होते हैं। यद्यपि प्राण तत्व कभी निष्क्रिय नहीं होता पुनरपि इस रश्मि के संयोग से प्राण तत्त्व विस्तृत तथा तीक्ष्ण अवश्य होता है। जैसा कि हम जानते हैं कि प्राण तत्त्व वाक् तत्व के साथ मिथुन रूप होकर ही समस्त क्रियाओं का सम्पादन करता है। यहाँ यह निविद् रश्मि वायु रूप होकर प्राथमिक प्राणों के साथ मिथुन करके उनको मानो प्रज्ज्वलित करती है। यहाँ **'असौ'** पद से दूरस्थ वा परोक्ष प्राणों को ही अग्नि रूप समझना चाहिए।।

इसके पश्चात् **"अग्निर्मन्विद्धः"** इस द्वितीय निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह रश्मि पूर्ववत् मन और वायु रूप होता की प्रेरणा से मनुष्य नामक प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती है। **यह मनुष्य एक ऐसा प्राण है, जो विभिन्न पदार्थों के बाहरी भाग में परिधि रूप होकर विशेष रूप से विचरता है।** यह प्राण वाक् तत्त्व द्वारा व्यान प्राण के सहयोग से धारण किया जाता है। यह ध्यातव्य है कि यह वाक् तत्त्व मनस् तत्त्व के साथ मिथुन रूप में समझना चाहिए। यह प्राण जिस पदार्थ को आच्छादित करता है, उससे सृष्टि काल में कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता और **यही प्राण किसी पदार्थ की सक्रियता और तेजस्विता का निश्चित और प्रत्यक्ष कारण होता है। यही प्राण संयोगादि प्रक्रियाओं में सर्वप्रथम स्पष्ट भूमिका निभाता है।** हमारी दृष्टि में यहाँ सूत्रात्मा वायु को ही मनुष्य कहा गया है, क्योंकि सूत्रात्मा वायु में ये सभी गुण घटते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि **इस निविद् रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से होती है।** इस सूत्रात्मा वायु के मेल से यह निविद् रश्मि तेजस्वी होते हुए सर्वत्र फैलकर सभी प्राणादि पदार्थों को तेजस्वी बनाती है। यहाँ **'अयम्'** पद से सूत्रात्मा वायु के निकटस्थ प्राणापानादि को अग्नि रूप समझना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– पूर्वोक्त १२ संधानक रश्मियों में प्रथम दोनों रश्मियां निचृद् दैवी त्रिष्टुप् होती हैं साथ ही ये पंक्ति छन्द रश्मियों का भी रूप होती हैं। इनमें से प्रथम रश्मि मन और वाक् तत्व की प्रेरणा से प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों से उत्पन्न होती है और इसके उत्पन्न होने से प्राणादि तत्व तीक्ष्ण और विस्तृत होते हैं। द्वितीय रश्मि सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न होकर फिर उसी के साथ संयुक्त होकर

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैल जाती है। इसके प्रभाव से प्राणादि पदार्थ परस्पर संयुक्त होने के गुण से संयुक्त होने लगते हैं।।

२. अग्निः सुषमिदिति शंसति वायुर्वा अग्निः सुषमिद् वायुर्हि स्वयमात्मानं समिन्धे स्वयमिदं सर्वं यदिदं किंच वायुमेव तदन्तरिक्षलोक आयातयति।।
होता देववृत इति शंसत्यसौ वै होता देववृत एष हि सर्वतो देवैर्वृत एतमेव तदेतस्मिँल्लोक आयातयति।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त "अग्निः सुषमित्" इस तृतीय निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह रश्मि भी पूर्ववत् मनस्तत्व एवं वाक् तत्त्व की प्रेरणा से उत्पन्न होती है। इसके प्रभाव से अग्नि तत्व सर्वथा सम्यग्रूपेण प्रकाशित होने लगता है। वस्तुतः वायु ही अग्निरूप है। यहाँ प्राणादि पदार्थों को ही वायु कहा गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैले प्राण तत्त्व सतत गमन करने के कारण वायु कहलाते हैं। इसलिए महर्षि अपने ऐतरेय आरण्यक २.३.३ में लिखते हैं- "स एष वायुः पञ्चविधः प्राणाऽपानो व्यान उदानः समानः"। उधर ताण्ड्य ब्राह्मण १८.८.७ के अनुसार "वागु वै वायुः" तथा शतपथ ब्राह्मण में वायु को "निकायश्छन्दः" (श.८.५.२.५) कहा है। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न वाग् रश्मियों तथा प्राणादि पदार्थों का सम्मिश्रण ही वायु कहलाता है। ये प्राण ही अग्नितत्त्व में परिवर्तित हो जाते हैं। यह कैसे होता है, इसको स्पष्ट करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यह ऐसा वायु ही स्वयं को प्रज्ज्वलित करता है। वस्तुतः सतत गमन करती हुई वायु रश्मियां ही संपीडित होकर संघनित कणों वा तरंगों का रूप धारण कर लेती हैं। इस विषय में महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में लिखा है-

स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः। आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति।।१३।।
तस्मिन् वायवम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः। प्रादुरभूदूर्ध्व शिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः।१४।।
(महाभारत शां.प., मोक्षपर्व अध्याय १८३.१३-१४)

अर्थात् उस आकाश रूपी महासमुद्र के सम्पीडित होने से उत्पन्न वायु वेग के साथ सम्पूर्ण आकाश में विचरने लगा और कहीं भी शान्त न हुआ वल्कि उसका क्षोभ बढ़ता ही गया।।१३।।

उस अति वेगवान् वायु व आकाश तत्त्व के संघर्षण से महाबलवान् तथा महान् प्रकाशमान् अग्नितत्त्व ऊर्ध्व दिशा की ओर से प्रकट हुआ। यहाँ ऊर्ध्व दिशा का तात्पर्य उस दिशा से है, जो वायु की उत्पत्ति की दिशा के विपरीत होती है। उस महातेजस्वी अग्नि महाभूत की उत्पत्ति होने से सम्पूर्ण आकाश में छाया हुआ अन्धकार समाप्त हो गया। सम्पूर्ण आकाश तेज से जगमगा उठा।।१४।।

इस निविद् रश्मि के प्रभाव से उस समय विद्यमान सम्पूर्ण वायु तत्त्व सम्पीडित होकर चमकते अग्नि का रूप धारण करते हुए समस्त अन्तरिक्ष में फैल जाता है।।

तदुपरान्त "होता देववृतः" इस चतुर्थ निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'होता' पद अग्नि तत्त्व के परमाणुओं के लिए प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है। इसलिए महर्षि अन्यत्र कहते हैं- "अग्निर्वै देवानां होता" (ऐ.१.२८)। उधर एक अन्य ऋषि का कहना है- "असौ वै होता योऽसौ तपति" (गो. उ.६.६)। ये अग्नि के परमाणु देव अर्थात् प्राथमिक प्राणों के द्वारा वरण किये गए होते हैं अर्थात् वे प्राथमिक प्राण अग्नि के परमाणुओं को सब ओर से आच्छादित कर लेते हैं। इस निविद् रश्मि के प्रभाव से प्राणों से आच्छादित अग्नि के परमाणु सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में फैलने लगते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त एक दैवी पंक्ति छन्द अथवा दैवी निचृद् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि तथा एक दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। उस समय ब्रह्माण्ड में विद्यमान प्राण एवं वाग् रश्मियों का मिश्रित रूप वायु तत्व आकाश तत्व से आवृत्त होकर सम्पीडित होने लगता है। फिर वह सम्पीडित वायु संघनित होकर चमकने लगता है। यही सम्पीडित और देदीप्यमान कण ही विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का फोटोन कहलाता है। इन रश्मियों के प्रभाव से सम्पूर्ण अन्तरिक्ष प्रकाशित हो उठता है। ये फोटोन्स प्राणापानादि सूक्ष्म रश्मियों से आच्छादित होकर सर्वत्र फैलने लगते हैं।।

३. होता मनुवृत इति शंसत्ययं वा अग्निर्होता मनुवृतोऽयं हि सर्वतो मनुष्यैर्वृतोऽग्निमेव तदस्मिँल्लोक आयातयति।।
प्रणीर्यज्ञानामिति शंसति, वायुर्वै प्रणीर्यज्ञानां यदा हि प्राणित्यथ यज्ञोऽथाग्निहोत्रं वायुमेव तदन्तरिक्षलोक आयातयति।।

{अग्निहोत्रम् = अग्निहोत्रं वैश्वदेवमुच्यते (काठ.६.५), अग्निहोत्रं दशहोता (काठ.६.१३), अन्नं वा अग्निहोत्रम् (जै.ब्रा.१.६), गौर्वा अग्निहोत्रम् (तै.सं.२.१.६.३), तस्मादाहुः प्राणोऽग्निहोत्रमिति (जै.ब्रा.१.२०), प्रजननं वा एतद् यदग्निहोत्रम्, अग्निः प्रजनयिता (काठ. ६.७)}

व्याख्यानम्– तदुपरान्त "होता मनुवृतः" इस पांचवीं निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'होता' अग्नि तत्त्व को ही कहा गया है। इस अग्नि तत्त्व के परमाणु मनु = मनुष्य अर्थात् सूत्रात्मा वायु से भी आच्छादित होते हैं। सूत्रात्मा वायु परिधि रूप में इन परमाणुओं को घेरे रहता है साथ ही वह सूत्रात्मा वायु उन परमाणुओं के परितः संचरित भी होता रहता है। इस निविद् रश्मि के प्रभाव से सूत्रात्मा वायु अग्नि के परमाणुओं को सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में फैलाने लगता है।।

तदुपरान्त "प्रणीर्यज्ञानाम्" इस छठी निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न संयोगादि व्यवहारों को प्रकृष्ट रूप से वहन करने वाला तत्त्व वायु ही होता है अर्थात् प्राथमिक प्राण और विभिन्न वागू रश्मियों का मिश्रण ही इस व्यवहार का वाहक होता है। जब ये प्राणादि पदार्थ विभिन्न दिशाओं में गमन करते हैं, तब वे परस्पर संगत होने प्रारम्भ होते हैं और इनकी संगति से ही अग्निहोत्र क्रिया प्रारम्भ होती है। इस क्रिया में प्राणापानादि दसों प्राण वायु रश्मियों के साथ वैश्वदेव रूप होकर तरंगों के रूप में विस्तृत क्षेत्र में गमन करने लगते हैं। ये प्राण ही परस्पर अन्न और प्राण अर्थात् भक्ष्य और भक्षक का रूप बनकर नाना सृजन कर्मों को सम्पादित करने लगते हैं। इस रश्मि के प्रभाव से ये सभी क्रियाएं सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में विस्तृत होने लगती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– तदुपरान्त एक दैवी त्रिष्टुप् तथा एक निचृद् दैवी त्रिष्टुप् अथवा दैवी पंक्ति छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इनके प्रभाव से सूत्रात्मा वायु विभिन्न फोटोन्स को परिधि रूप में घेरकर एक मर्यादित रूप प्रदान करते हैं। जब प्राणापानादि पदार्थ विस्तृत क्षेत्र में गमन करने लगते हैं अर्थात् उनकी गति सीमित क्षेत्र में कम्पन करने तक ही सीमित नहीं रहती, उसी समय वे परस्पर संगत और संपीडित होकर फोटोन्स का रूप धारण करते हैं। फिर वे फोटोन्स सूत्रात्मा वायु से आवृत होते हुए धनंजय प्राण रश्मियों के द्वारा अत्यन्त तीव्र गति प्राप्त करके सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में गमन करने लगते हैं, जिससे सम्पूर्ण अन्तरिक्ष प्रकाशित हो उठता है।।
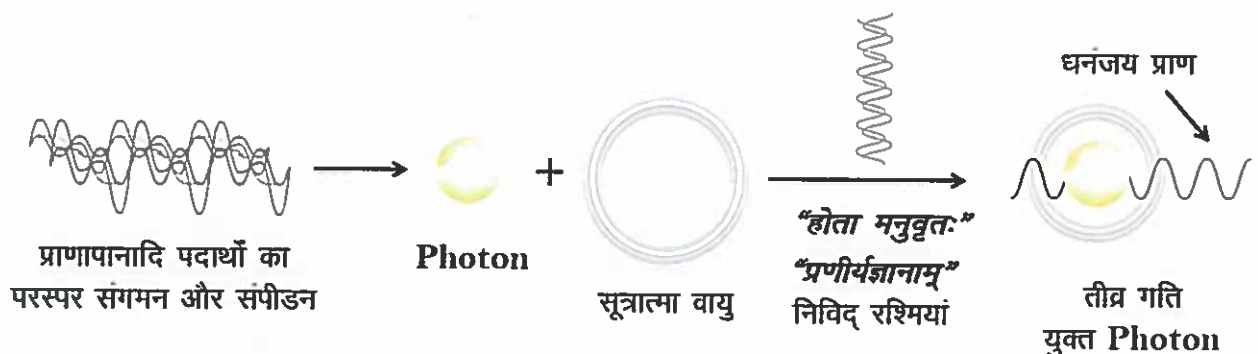
चित्र १०.१ फोटोन की उत्पत्ति और तीव्र गति का कारण

४. रथीरध्वराणामिति शंसत्यसौ वै रथीरध्वराणामेष हि यथैतच्चरति रथीरिवैतमेव तदेतस्मिँल्लोक आयातयति।।
अतूर्तो होतेति शंसत्ययं वा अग्निरतूर्तो होतेमं ह न कश्चन तिर्यञ्चं तरत्यग्निमेव तदस्मिँल्लोक आयातयति।।

{अतूर्तः = अहिंसितः (म.द.ऋ.भा.१.१२६.१), अतूर्ण इति वाऽत्वरमाण इति वा (नि.६.१०)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त "रथीरध्वराणाम्" इस सातवीं निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्राणादि प्राथमिक प्राण ही रथी हैं, जो अत्यन्त रमणीय गमन वाले होकर विभिन्न प्रकार के अहिंसित संगत कर्मों को वहन करते हैं। इनकी पारस्परिक क्रियाएं निर्बाध रूप से सम्पादित होती हुई विविध प्रकार के पदार्थों का निर्माण करती हैं। यहाँ 'रथी' शब्द का प्रयोग इस कारण किया है कि जिस प्रकार कोई कुशल रथी योद्धा विविध आक्रमणों को नियन्त्रित वा विफल करते हुए अपने साथ विविध सामग्री वा सैनिकों को सुरक्षित ले जाने में सक्षम होता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त वागू रश्मियों से युक्त किंवा इन निविद् रश्मियों से युक्त वायु तत्त्व विभिन्न प्रकार की संयोगादि क्रियाओं एवं संयोज्य पदार्थों को सुरक्षित व समृद्ध करता रहता है। इस रश्मि के प्रभाव से वह पूर्वोक्त वायु जब इस अन्तरिक्ष में गमन करता है, तब सब ओर विभिन्न प्रकार की संयोगादि क्रियाएं विस्तृत होने लगती हैं। इस विषय में महर्षि तित्तिर का कथन है- "रथीरध्वराणामित्याह एष हि देवरथः" (तै.सं.२.५.६.२) इसका आशय यह है कि रथी रूप प्राणापानादि रश्मियां विभिन्न देव परमाणुओं का वहन करने वाली होती हैं।।

तदुपरान्त "अतूर्तो होता" इस आठवीं निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह अग्नि तत्त्व अतूर्त होता है। यहाँ इसके दो आशय हैं-

१. अग्नि तत्त्व का अर्थ प्राण तत्त्व ग्रहण करने पर {ते वाऽएते प्राणा एव यद् अग्नयः (श.२.२.२.१८)} यह सिद्ध होता है कि सामान्यतया अधिकांश प्राणों की गति स्थिर होती है एवं वह असुरादि तत्वों के द्वारा हिंसित भी नहीं होती है।

२. अग्नि तत्त्व का अर्थ अग्नि के परमाणु ग्रहण करने पर यह सिद्ध होता है कि अग्नि के परमाणु भी विना धनंजय वायु के योग के अतितीव्रगामी नहीं होते हैं परन्तु धनंजय वायु के योग से अग्नि के परमाणु अत्यन्त तीव्रगामी होते हैं। परन्तु अत्यन्त तीव्रगामी होते हुए भी उनकी गति **अत्वरमाणा अर्थात् बढ़ न सकने वाली होती है। इसका अर्थ यह है कि वे ऐसे अग्नि के परमाणु सदैव एक समान गति से चलते हैं।**

इन अग्नि परमाणुओं की गति इतनी तीव्र होती है कि ब्रह्माण्ड का कोई भी पदार्थ इनका अतिक्रमण नहीं कर सकता, सिवाय धनंजय प्राण के। जिसके विषय में हम खण्ड २.२५ में लिख चुके हैं। इस रश्मि के प्रभाव से अग्नि के परमाणु ऐसी ही गति को प्राप्त करके सब ओर गमन करने लगते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त एक दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि तथा एक दैवी निचृद् त्रिष्टुप् अथवा दैवी पंक्ति छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इस समय प्राणापानादि पदार्थ इन रश्मियों से युक्त होकर सब ओर निर्बाध गति करते हुए भाँति-भाँति के संयोगों को जन्म देते हैं। **इन प्राणों तथा ऊर्जा की गति बहुत तीव्र अर्थात् प्रकाश वेग के बराबर नहीं होती है, परन्तु जब ऊर्जा धनंजय प्राण के साथ संयुक्त होकर क्वाण्टाज् के रूप में गमन करती है, तब इसकी गति धनंजय प्राण को छोड़कर ब्रह्माण्ड में सभी पदार्थों से अधिक एवं सदैव अपरिवर्तनीय होती है।** डार्क एनर्जी आदि का भी प्राथमिक प्राणों और विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। महान् वैज्ञानिक सर अल्बर्ट आइंस्टीन का मत कि प्रकाश की गति निर्वात में सदैव ही ३ लाख किमी. प्रति सैकण्ड होती है, की पुष्टि इस कण्डिका से होती है। यहाँ प्राण रश्मियों की गति की स्थिरता भी सिद्ध होती है।।

५. तूर्णिर्हव्यवाळिति शंसति, वायुर्वै तूर्णिर्हव्यवाड्, वायुर्हीदं सर्वं सद्यस्तरति यदिदं किंच; वायुर्देवेभ्यो हव्यं वहति, वायुमेव तदन्तरिक्षलोक आयातयति।।
आ देवो देवान् वक्षदिति शंसत्यसौ वै देवो देवानावहत्येतमेव तदेतस्मिँल्लोके (क) आयातयति।।

{तूर्णिः = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५), तूर्णिः कर्म (नि.७.२७), सर्वह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तूर्णिर्हव्यवाडिति (श.१.४.२.१२)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त "तूर्णिर्हव्यवाट्" इस नवमी निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ वायु ही तूर्णि और हव्यवाट् है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण भी अत्यन्त तीव्रगामी होते हैं, परन्तु इनकी गति अग्नि के परमाणुओं से कुछ कम होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि **धनंजय प्राण की गति इस ब्रह्माण्ड में सर्वाधिक होती है।** इनको तूर्णि इस कारण कहा है कि इस ब्रह्माण्ड की समस्त क्रियाएं इस वायु के कारण ही होती है। इसी कारण महर्षि दयानन्द अपने यजुर्वेद भाष्य १.१ में वायु के विषय में लिखते हैं- "सर्वक्रियाप्राप्तिहेतुः स्पर्शगुणः भौतिकः प्राणादिः"। यह वायु तत्त्व असुरादि बाधक तत्त्वों से सदैव मुक्त रहने के कारण भी तूर्णि कहलाता है। इस कारण ही यह सदैव क्रियाशील रहता है। यह वायु ही शुद्ध रूप में अथवा अग्नि के रूप में परिवर्तित होकर सभी संयोज्य पदार्थों का वाहक होने से हव्यवाट् कहलाता है। इस कारण **यह वायु ही इस ब्रह्माण्ड में समस्त पदार्थों को गति और बल प्रदान करता है।** यह वायु ही विभिन्न तेजस्वी लोकों के निर्माण के लिए आवश्यक पदार्थों को उन तक पहुँचाता है। इस रश्मि के प्रभाव से वायु ही समस्त पदार्थों को अन्तरिक्ष में इधर से उधर गमन कराता है।।

तदुपरान्त "आ देवो देवान् वक्षत्" इस दशमी निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ द्युलोक ही देव कहलाता है। ये द्युलोक ही विभिन्न प्रकार के प्राणों को भली प्रकार वहन अर्थात् धारण करते हैं और ये लोक इन्हीं प्राण तत्त्वों के कारण ही जीवित भी रहते हैं और उनका सम्पूर्ण उपयोग करते हुए पूर्णतया अपने अधिकार में भी रखते हैं। (आ+वह् प्रापणे = वहन करना, कब्जे में रखना, प्रयोग करना आदि-आप्टेकोष) उधर इसका अन्य तात्पर्य यह है कि देव अर्थात् मन एवं वाक् तत्त्व प्राणापानादि समस्त देवों को वहन वा धारण करते हैं और वे ही इनका उपयोग करके विभिन्न तेजस्वी लोकों का निर्माण करते हैं। इस रश्मि के प्रभाव से ये सभी प्रक्रियाएं सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में विस्तृत होने लगती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इसके पश्चात् एक निचृद् दैवी त्रिष्टुप् अथवा दैवी पंक्ति छन्द रश्मि एवं एक दैवी भुरिक् त्रिष्टुप् अथवा दैवी जगती छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इनके कारण प्राणापानादि पदार्थ विभिन्न सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को लेकर सर्वत्र गमन करने लगते हैं। ये प्राणादि पदार्थ डार्क एनर्जी के तीव्र प्रतिकर्षण बल से प्रभावित हुए बिना विभिन्न नेब्यूलादि के निर्माण हेतु पदार्थों का संचय करना प्रारम्भ करते हैं। इन नेब्यूलादि के निर्माण क्षेत्रों में प्राणादि पदार्थ सघन रूप धारण करते जाते हैं। इनके सघन रूप धारण करने से ही निकटवर्ती प्राणादि पदार्थों का संचय होकर विभिन्न कण आदि अपेक्षाकृत स्थूल पदार्थों का संचय होने लगता है।।

६. यक्षदग्निर्देवो देवानिति शंसत्ययं वा अग्निर्देवो देवान् यजत्यग्निमेव तदस्मिँल्लोक आयातयति।।
सो अध्वरा करति जातवेदा इति शंसति, वायुर्वै जातवेदा, वायुर्हीदं सर्वं करोति यदिदं किंच, वायुमेव तदन्तरिक्षलोक आयातयति।।२।।

{(यक्षि = यज (नि.६.१३)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त **"यक्षदग्निर्देवो देवान्"** इस ग्यारहवीं निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ **"यक्षत"** पद का अर्थ स्वयं महर्षि ने **"यजत्"** ही किया है। यहाँ **'अयम्'** पद प्रत्यक्ष देदीप्यमान अग्नि के लिए प्रयुक्त है। यह अग्नि भी विभिन्न प्रकार के प्राणादि पदार्थों के संयोग और उपयोग से समृद्ध होता है। यह विभिन्न प्राणादि पदार्थ रूप देवों को विभिन्न तेजस्वी लोकों के निर्माण हेतु उनमें संगत करता है। इस निविद् रश्मि के प्रभाव से यह प्रकिया विस्तृत होती जाती है।।

तदुपरान्त **"सो अध्वरा करति जातवेदाः"** इस बारहवीं निविद् रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ वायु ही **जातवेदा** कहलाता है, क्योंकि यह उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थ के अन्दर विद्यमान होता है। यह प्राणापानादि सभी मरुतों और छन्द रश्मियों को व्याप्त व इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक प्रकार की क्रिया को सम्पन्न करता है, क्योंकि वह हर पदार्थ के अन्दर सदैव विद्यमान किये रहता है। इसलिए कहा है- **"यज्जातः पशूनविन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्"** (मै.१.८.२)। यह वायु तत्त्व रहता है। इस रश्मि के प्रभाव से यह ऐसा वायु ब्रह्माण्ड में विभिन्न क्रियाओं को विस्तृत करने लगता है।।

नोट- इन १२ कण्डिकाओं में से ८ कण्डिकाओं में **"असौ"** अथवा **"अयम्"** पद का प्रयोग क्रमशः हुआ है। इससे एक अन्य तात्पर्य यह भी प्रतीत होता है कि **"असौ"** पद युक्त कण्डिका में वर्णित निविद् रश्मि का प्रभाव अपेक्षाकृत गुप्त वा परोक्ष एवं **'अयम्'** पद युक्त निविद् रश्मि का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है। इनका विविध पदार्थों से संयोग भी इसी प्रकार हुआ करता है।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त एक दैवी भुरिग् जगती किंवा निचृद् याजुषी बृहती छन्द रश्मि तथा एक याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इनके कारण विभिन्न संयुक्त कण निर्मित होकर उनके वैद्युत एवं गुरुत्वीय आकर्षण बल के द्वारा आकर्षित होकर वे पदार्थ कॉस्मिक धूल आदि का निर्माण करने लगते हैं। ऐसा करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्राणादि पदार्थ विभिन्न कणों वा तरंगों को सक्रिय करते रहते हैं। **यहाँ ऊर्जा के दो रूप भी दर्शाये गये हैं। एक रूप वह है, जो विकिरण के द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड में सदैव गमन करता रहता है। इस प्रकार की ऊर्जा के भण्डार विभिन्न तारे आदि लोक होते हैं। दूसरी ऊर्जा वह है, जो अणुओं और परमाणुओं के अन्दर अवशोषित होकर विद्यमान रहती है। इस ऊर्जा के कारण ही अनेक भौतिक, रासायनिक, भूगर्भीय, खगोलीय एवं जैविक क्रियाएं सम्पन्न हुआ करती हैं।** यह ऊर्जा तारों के अतिरिक्त सभी अप्रकाशित लोकों आदि में भी सदैव विद्यमान रहती है। **वस्तुतः ऊर्जा एक ही है, परन्तु परिस्थिति विशेष के अनुसार उसके ये भेद किए गये हैं।।**

ॐ इति १०.२ समाप्तः ॐ

अथ १०.३ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. प्र वो देवायाग्नय इत्यनुष्टुभः।।
प्रथमे पदे विहरति तस्मात् स्त्र्युरू विहरति।।
समस्यत्युत्तरे पदे, तस्मात् पुमानूरू समस्यति तन्मिथुनं मिथुनमेव तदुक्थमुखे करोति, प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।

{स्त्री = स्त्यायति शब्दयति गुणान् गृह्णाति वा सा स्त्री (उ.को.४.१६७), (गुणः = रस्सी, आवृति - आप्टेकोष), (स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः (भ्वा.) धातोः स्त्यायतेर्ड्रट् उ.को.४.१६७ सूत्रेण ड्रट्, ततः स्त्रियां ङीप्), अवीर्या वै स्त्री (श.२.५.२.३६), यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवति, अग्नेस्तद्रूपम् (ऐ.आ.२.३.७), स्त्री सावित्री (जै.उ.४.१२.१.१७)। उरू = बहुनाम (निघं.३.१), बहाच्छादनं स्वीकरणं वा (म.द.य.भा.४.२७), सक्थ्यावनुष्टुभः (श.८.६.२.६)। समस्यति = (सम्+अस् = मिलना, एकत्र करना, जोड़ना - आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि खण्ड २.३३ मे वर्णित विट् सञ्ज्ञक सूक्त (ऋ.३.१३) के विषय में पुनः कुछ चर्चा करते हुए कहते हैं कि जब अनुष्टुप् छन्दस्क

प्र वों देवायाग्नये बर्हिष्ठमर्चास्मै। गमद्देवेभिरा स नो यजिष्ठो बर्हिरा संदत्।। (ऋ.३.१३.१)

इत्यादि सूक्त की उत्पत्ति होती है, तब कुछ विशेष क्रियाएं हुआ करती हैं। इस सूक्त का विस्तृत वर्णन पूर्व में हम कर चुके हैं। अन्य विशेष यहाँ लिखते हैं। इस सूक्त की रश्मियाँ अनुष्टुप् छन्दस्क होने से पूर्वोत्पन्न निविद् रश्मियों के साथ-२ गमन करती हुई उन्हें थाम लेती हैं अर्थात् उनके साथ मिलकर विभिन्न पदार्थ कणों का निर्माण करने लगती हैं।।

जब ये अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, तब उनके सभी पाद परस्पर दूर-२ स्थित हुए उत्पन्न होते हैं, मानो वे अन्तरिक्ष रूपी पद में पृथक्-२ उत्पन्न होकर किसी शक्ति के द्वारा पकड़े हुए हों अथवा ऐसा प्रतीत होता है कि उन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति पादशः होती है। उस समय स्त्री अर्थात न्यून तेज और बल से युक्त प्राणादि पदार्थ किंवा विभिन्न सूक्ष्म कण अपनी ऊरू अर्थात् इन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के पादों के आवरण वा आच्छादन को अपने से दूर ही रखकर पकड़े रहते हैं अर्थात् उन छन्द रश्मियों की अवयवभूत पाद रश्मियां प्राणादि पदार्थों वा कणों से इस प्रकार संयुक्त रहती हैं कि न तो वे पूर्ण रूप से संयुक्त रहती हैं और न सर्वथा पृथक् होती वा नष्ट होती हैं। उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ध्वनि गूँजने लगती है और विभिन्न प्राणादि पदार्थ वा कण उन वाग् रश्मियों से दूर रहते हुए भी ऐसे जुड़े होते हैं, मानो वे किसी अव्यक्त रस्सी से जुड़े हुए हों और ऐसे जुड़े रहकर ही सूक्ष्म कम्पन करते हुए बार-२ आवृत्त होकर संघात की ओर उन्मुख होने लगते हैं। यहाँ "प्रथमे पदे" का अर्थ प्रारम्भिक चरण में अन्तरिक्ष रूपी पद में, ऐसा किया गया है। यहाँ एक विकल्प यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त छन्द राशमियों की उत्पत्ति पादशः न मान कर समग्र ऋचाओं के रूप में मान कर पुनः उस प्रत्येक रश्मि को उपर्युक्त व्यवस्था में एक पाद के स्थान पर एक सम्पूर्ण ऋग्रश्मि का ग्रहण करें। वे सभी ऋग्रश्मियाँ विभिन्न प्राणादि रश्मियों वा कणों आदि से उपर्युक्तवत् सम्बद्ध रहती हैं। एक तृतीय पक्ष यह कि 'प्रथमे पदे' को "प्रथमं पदम्" का द्वितीया विभक्ति द्विवचन मानें, तब

प्रत्येक ऋचा के प्रथम व द्वितीय पद को परस्पर पृथक्-२ रहते हुए उत्पन्न मानें तथा शेष पद सामान्यावस्था में उत्पन्न मानें। ऐसी स्थिति में उन रश्मियों का विभिन्न प्राणों तथा कणों से सम्बन्ध द्वितीय विकल्प के संयुक्त आलोक में देखना होगा।।

इसके पश्चात् अन्तरिक्ष में उपर्युक्त अनुष्टुप् छन्द रश्मियां, जो उपर्युक्त तीनों प्रकार की व्यवस्थाओं के अनुरूप विद्यमान हो सकती हैं, उनके एकत्रीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह प्रक्रिया पुमान् अर्थात् वे तेजस्वी पदार्थ, जो पूर्वोक्त निविद् रश्मियों से युक्त होकर तेजस्वी और बलवान् हो चुके होते हैं, के द्वारा प्रारम्भ की जाती है। वे प्राण अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की उपर्युक्त बिखरी हुई अवस्था को समाप्त करके उन्हें अपने साथ मिलाने लगते हैं, जिसके कारण हीनबल और तेज वाले पूर्वोक्त स्त्री रूप प्राणादि पदार्थ आकर्षित होकर इन तेजस्वी प्राणादि पदार्थों के साथ संयुक्त होने लगते हैं। इसके कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में बिखरी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का जाल ऐसे ही एकत्र होने लगता है, मानो लोक में रज्जुओं से बने जाल को खींचकर एकत्र किया जाता है। इस एकत्रीकरण से समस्त ब्रह्माण्ड में विपरीत स्वभाव वाले पदार्थों के युग्म बनने प्रारम्भ हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से समस्त पदार्थ जगत् प्राण और अन्न के स्वरूप में परिवर्तित वा प्रतीत होने लगता है, जिसके कारण वे सब परस्पर भक्षक और भक्ष्य रूप धारण करके नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने लगते हैं।।

जब ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है, उस समय विभिन्न प्रकार के प्राणापानादि प्राण, मरुद् रश्मियां, छन्द रश्मियां एवं अन्य उत्पन्न विभिन्न प्रकार के पदार्थ संयुक्त होकर नाना तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **तदनन्तर ७ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जो पूर्वोक्त १२ सूक्ष्म रश्मियों के साथ संयुक्त होकर विभिन्न संयोगादि कर्मों को सम्पादित करती हैं। ये छन्द रश्मियां पूर्वोक्त १२ रश्मियों से असंयुक्त पदार्थ (कण वा तरंगों) से कुछ पृथक् रहते हुए संयुक्त होती हैं। उसके पश्चात् जो प्राणादि पदार्थ वा कण पूर्वोक्त १२ प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों से संयुक्त होकर अधिक ऊर्जावान् हो जाते हैं, दूर-२ स्थित छन्द रश्मियों एवं उनके साथ संयुक्त प्राणादि पदार्थ वा कणों को आकर्षित करने लगते हैं। उस समय ब्रह्माण्ड में दोनों प्रकार के पदार्थों के आकर्षण की तीव्र प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जिससे नये-२ तत्वों (कणों व तरंगों) का निर्माण होने लगता है। उस समय इन कणों वा तरंगों एवं विभिन्न छन्द रश्मि आदि पदार्थों के घात और प्रतिघातों से इस ब्रह्माण्ड में अव्यक्त ध्वनियाँ गूँजने लगती हैं।।**

२. प्र वो देवायाग्नय इत्येवानुष्टुभः प्रथमे पदे विहरति वज्रमेव तत्परोवरीयांसं करोति, समस्यत्येवोत्तरे पदे, आरम्भणतो वै वज्रस्याणिमाऽथो दण्डस्याथो परशोर्वज्रमेव तत्प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै।।३।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त सातों अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के विशेष प्रभाव को दर्शाते हुए महर्षि कहते हैं कि जब प्रथम चरण में उन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के पद, पाद अथवा समग्र ऋचा रूप रश्मियाँ दूर-२ अवस्थित होती हैं, उस समय विभिन्न प्राणापानादि पदार्थ अथवा कणों का अनुष्टुप् रश्मियुक्त बाहरी भाग स्थूल एवं विस्तृत होने के साथ-२ वज्रतुल्य तेजस्वी और बलयुक्त होता है। इस प्रकार इन रश्मियों से आच्छादित विभिन्न प्राणादि पदार्थ वा कण भले ही हीनबल वा तेज वाले हों, परन्तु उनकी आच्छादक अनुष्टुप् रश्मियां तेजस्वी विस्तार वाली होती हैं। उसके पश्चात् तेजस्वी और बलवान् प्राणादि पदार्थ वा कण जब उन आवरक और बिखरी हुई अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को एकत्र करते हैं, तब उन रश्मियों का प्रारम्भिक भाग सूक्ष्म और तीक्ष्ण होकर दण्ड वा फरसे के समान हो जाता है। साथ ही उसकी तीक्ष्णता अत्यन्त बढ़ जाती है, जिससे वे रश्मियां तीक्ष्ण वज्र रूप होकर घातक असुर तत्व को नष्ट करने में समर्थ होती हैं। यहाँ वे ही असुर रश्मियां नष्ट होती हैं, जो पूर्वोक्त स्त्री और पुमान् संज्ञक पदार्थों के संयोग में अपने तीव्र प्रक्षेपक और प्रतिकर्षक बल के कारण बाधा डालती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब उपर्युक्त ७ अनुष्टुप् छन्द रश्मियां पृथक्-२ स्थित होकर परन्तु अव्यक्त बंधन से बंधे हुए होती हैं, उस समय भी ये तीक्ष्ण और तेजयुक्त होती हैं और जब पूर्वोक्त १२ रश्मियों से युक्त पदार्थ इन्हें एकत्र करने लगता है, उस समय ये अत्यन्त तीक्ष्ण विकिरणों में परिवर्तित हो जाती हैं। ये ऐसे तीक्ष्ण विकिरण डार्क एनर्जी के उस प्रभाव को नष्ट कर देते हैं, जो विभिन्न पदार्थों के संयोग में बाधा डालता है।

इति १०.3 समाप्तः

अथ १०.४ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त, ते वै देवाः सद एवाऽऽयतनमकुर्वत, तान् सदसोऽजयंस्त आग्नीध्रं संप्रापद्यन्त, ते ततो न पराजयन्त, तस्मादाग्नीध्र उपवसन्ति, न सदस्याग्नीध्रे ह्यधारयन्त यदाग्नीध्रेऽधारयन्त तदाग्नीध्रस्याऽऽग्नीध्रत्वम्।।

{सदः = स्थित्यर्हमासनम् (म.द.ऋ.भा.३.२४.३), छेद्यं वस्तु (म.द.ऋ.भा.५.६१.२), ऐन्द्रं हि सदः (श.३.६.१.२२), सदसी द्यावापृथिवीनाम् (निघं.३.३०), प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत्सदः (तां.६.४.११)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए महर्षि लिखते हैं कि जब इस ब्रह्माण्ड में पूर्वोक्त प्रक्रिया से प्रकाशमय पदार्थ उत्पन्न हो जाता है, उस समय पूर्वोक्त रश्मियों के द्वारा असुर तत्व का नियन्त्रण भी हो जाता है। पुनरपि देवासुर संग्राम समय-२ पर यत्र-तत्र चलता रहता है। उसी संग्राम की चर्चा करते हुए महर्षि लिखते हैं कि विभिन्न लोकों में देव पदार्थ और असुर पदार्थ के मध्य संघर्ष होने लगा, उस समय सम्पूर्ण देव पदार्थ द्यौ और पृथिवी का रूप धारण करके इस ब्रह्माण्ड में फैल गया। यह द्यौ और पृथिवी के रूप में विद्यमान पदार्थ ही सृष्टियज्ञरूप प्रजापति के उदर के समान है, क्योंकि इन्हीं स्थानों में विभिन्न पदार्थों को विदीर्ण करके नाना नवीन पदार्थों का निर्माण हो सकता है। उस समय यह पदार्थ कुछ सीमा तक स्थिरता लिये हुए साथ में विद्युद्युक्त भी होता है। उस अवस्था में असुर पदार्थ उस देव पदार्थ पर भारी आक्रमण करके उसे अपने नियन्त्रण में ले लेता है अथवा दूर प्रक्षिप्त करने का प्रयास करता है, जिससे उस पदार्थ में भारी हलचल और विक्षोभ होने लगता है। इसके उपरान्त उस विक्षुब्ध परन्तु दुर्वल द्यौ पदार्थ का संयोग पूर्वोक्त निविद् एवं विट् सञ्ज्ञक सूक्त रश्मियों से पूर्वोक्तानुसार होने लगता है। इसके फलस्वरूप उस देव पदार्थ में अग्नि और वायु तत्त्व अति तीव्रता से प्रदीप्त होने लगते हैं, जिससे उस पदार्थ की अवस्था तीव्र विद्युत् तेज और ऊष्मा को धारण करने वाली हो जाती है और वह पदार्थ तीव्र रूप से तप्त हो उठता है। इस प्रक्रिया के निर्माण में पूर्वोक्त तूष्णींशंस रश्मियों का भी अनिवार्य योगदान रहता है। उस समय असुर तत्त्व उस द्यौ पदार्थ को नियन्त्रित नहीं कर पाता, क्योंकि उस अवस्था में अग्नि तत्त्व को विशेष रूप से धारण किया जाता है। इस कारण उस अवस्था को 'आग्नीध्र' कहते हैं। यह अवस्था पृथिवी, द्यौ एवं अन्तरिक्ष इन तीनों लोकों की रहती है। इस कारण ये लोक भी 'आग्नीध्र' कहलाते हैं। हम जिस अवस्था का यहाँ वर्णन कर रहे हैं, उस समय द्यौ व पृथिवी लोकों का स्पष्टतः निर्माण नहीं हुआ होता है। इस कारण उस समय समस्त देव पदार्थ अन्तरिक्ष लोक रूपी आग्नीध्र में ही स्थित हो जाता है। इसका तात्पर्य यह भी है कि वह पदार्थ स्थिरता, दुर्वलता आदि का त्याग करके तीव्र गतिशीलता, अत्यन्त तीक्ष्ण वलशीलता एवं तेजस्विता से युक्त आग्नीध्र अवस्था को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उस अवस्था में उस सम्पूर्ण देव पदार्थ को धारण किया जाता है। इसलिए उस अवस्था को भी 'आग्नीध्र' कहते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ दृश्य पदार्थ और डार्क एनर्जी के संग्राम की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जब दृश्य पदार्थ, जो ऊर्जा अथवा द्रव्य दोनों के ही रूप में विद्यमान होता है और जिससे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होने वाली होती है, उस पर डार्क एनर्जी का प्रहार होता है। उस समय उस दृश्य पदार्थ में ऊर्जा की मात्रा बहुत कम होती है। इस कारण वह डार्क एनर्जी के प्रहार से अस्त-व्यस्त हो जाता है। उस समय पूर्वोक्त छन्द रश्मियां प्रकट होकर उस अस्त-व्यस्त दृश्य पदार्थ को तीक्ष्ण वल

प्रदान करके अत्यन्त ऊर्जावान् बना देती है और वह ऊर्जावान् पदार्थ ऊष्मा और तीक्ष्ण प्रकाश से युक्त होकर डार्क एनर्जी के आक्रामक प्रभाव को नष्ट करके सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में विचरण करने लगता है।।

२. तेषां वै देवानामसुराः सदस्यानग्नीन्निर्वापयांचक्रुस्ते देवा आग्नीध्रादेव सदस्यानग्नीन् विहरन्त तैरसुररक्षांस्यपाघ्नत तथैवैतद् यजमाना आग्नीध्रादेव सदस्यानग्नीन् विहरन्त्यसुररक्षांस्येव तदपघ्नते।।
ते वै प्रातराज्यैरेवाऽऽजयन्त आयन् यदाज्यैरेवाऽऽजयन्त आयंस्तदाज्यानामाज्य-त्वम्।।

{वप बीजसन्ताने - (वपन्तु = विस्तारयन्तु - म.द.ऋ.भा.२.३३.११; छिन्दन्तु - म.द.य. भा.१६.५२), (निर्+वप् = छितराना, निर्वापणम् = निर्+वप्+णिच्+ल्युट् = ठंडा करना, विश्रांति करना, विनाश}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त घटना की व्याख्या करते हुए महर्षि कहते हैं कि जब द्यु व पृथिवी रूप पदार्थ की विद्युदग्नि पर असुरतत्त्व ने प्रहार किया, तब वह विद्युदग्नि मंद वा बंद पड़ गई किंवा वह सर्वत्र बिखर जाने से दुर्बल हो गई। इसके पश्चात् वे प्राणापानादि देव पदार्थ आग्नीध्र अर्थात् विद्युत् एवं ऊष्मा को धारण करने वा इन्हें उत्पन्न करने वाली पूर्वोक्त निविद् व सूक्त रश्मियों के द्वारा उन द्यु व पृथिवी रूप दुर्बल पदार्थों, जो असुर तत्त्व के प्रहार से बिखर कर क्षीणप्रायः हो गए थे, को विशेषरूपेण आकृष्ट करना प्रारम्भ किया। इसके साथ उस आक्रान्त पदार्थ की दुर्बलता, गति की न्यूनता को दूर करना प्रारम्भ कर दिया। निविद् रश्मियों व पूर्वोक्त सूक्त रश्मियों के इस प्रहार व एतज्जन्य क्रियाओं से असुरतत्त्व नष्ट वा नियान्त्रित हो गया। यह घटना सृष्टि की पूर्वावस्था में घटी थी। महर्षि कहते हैं कि असुर तत्त्व के बाधक प्रभाव को नष्ट वा नियंत्रित करने की यही प्रक्रिया वर्तमान में भी हुआ करती है। **जब कोई भी संयोज्य कण सदस् रूप होकर अर्थात् हीनबल व न्यून गतिवाला होकर संयोग करने का प्रयास करता है, तब असुर तत्त्व के द्वारा उसे बाधित कर दिये जाने की पूर्ण आशंका रहती है।** उस समय पूर्वोक्त निविद् व सूक्त रश्मियां ही उस कण को दुर्बलता व गतिहीनता से परे हटाकर तीव्र बल व गति प्रदान करती हैं, जिससे असुर तत्त्व का प्रभाव समाप्त हो जाता है। इसी बात को तैत्तिरीय संहिता ६.३.१.१ में कहा गया है- "देवा वै यज्ञं पराऽजयन्त तमाग्नीध्रात् पुनरपा (या) जयन्नेतद्वै यज्ञस्यापराजितं यदाग्नीध्रं यदाग्नीध्राद्धिष्णियान् विहरति यदेव यज्ञस्यापराजितं तत एवैनं पुनस्तनुते"। यहाँ 'सदस्यानग्नीन्' के स्थान पर 'धिष्णीयान्' पद प्रयुक्त हुआ है। ये धिष्णियां ऐसी अग्नियां हैं, जो असुर तत्त्व का घर होती हैं, क्योंकि कहा गया है- "भ्रातृव्यायतनं धिष्ण्याः" (मै.३.३.२)। आग्नीध्र संज्ञक निविद् एवं सूक्त रश्मियाँ उन ऐसी असुर तत्त्व की आधार वा गृहरूप धिष्णि अग्नियों को दूर ले जाती हैं अर्थात् परे हटा देती हैं।।

प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि की सर्वप्रथम अवस्था, जिसे हम पूर्व में व्याख्यात कर चुके हैं, उस समय के कुछ कालोपरान्त, जबकि असुर तत्त्व का जन्म हो चुका था, उस असुर तत्त्व ने देव पदार्थ पर आक्रमण कर दिया। उस समय उस देव पदार्थ, जो प्राणापानादि प्राथमिक प्राण व विभिन्न छन्द रश्मियों का ही मिश्रित रूप था, ने आज्य के द्वारा ही असुर तत्त्व पर विजय पायी थी। यहाँ आज्य का अर्थ वाक् तत्त्व है। हमारे मत में सर्वाधिक सूक्ष्म वज्र रश्मियां दैवी गायत्री रश्मियां ही वाक् कहाती हैं। इसी कारण ताण्ड्य ब्राह्मण ४.३.३ में कहा है- "एकाक्षरा वै वाक्"। इधर महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं- "वज्र एव वाक्" (ऐ.२.२१)। जैसा कि हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं कि तूष्णींशंस रश्मियां वज्र रूप ही होती हैं और उनमें भी एकाक्षरा वज्र रश्मियां सबसे सूक्ष्म तूष्णींशंस का रूप होती हैं। इनके अतिरिक्त २.३२.१ में वर्णित भूरग्निर्ज्योति......" आदि रश्मियां भी तूष्णींशंस कहाती हैं। इन रश्मियों के द्वारा ही सर्वप्रथम और सबसे सूक्ष्म असुर तत्त्व को नियन्त्रित करके प्राणादि देव पदार्थ सब ओर व्याप्त होते हैं। **इन रश्मियों को आज्य इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये रश्मियां स्वयं ही सब**

ओर फैलती हुई असुर तत्त्व को प्रक्षिप्त करके समस्त देव पदार्थ का नेतृत्व करती हैं। उन ऐसी क्षेपणशील रश्मियों के द्वारा ही असुर पदार्थ पर विजय पायी जाती है। इन तूष्णींशंस छन्द रश्मियों के साथ-२ खण्ड २.३३ में वर्णित १२ निविद् एवं आहाव रश्मियां भी आज्य कहलाती हैं। इन रश्मियों के विषय में खण्ड २.३४ भी द्रष्टव्य है। ये रश्मियां भी देव पदार्थ पर आक्रमण करके उसे दूर फेंकने में सक्षम होती हैं। यही उन रश्मियों का "आज्यत्व" है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रक्रिया को पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब न्यून ऊर्जा वाले पदार्थ पर डार्क एनर्जी का प्रहार होता है, उस समय वह पदार्थ दूर-२ बिखरकर और भी दुर्बल हो जाता है। उस समय पूर्वोक्त विभिन्न वाग् रश्मियां उस दुर्बल और बिखरे हुए पदार्थ को आकर्षित करती हैं, जिससे वह पदार्थ अतीव ऊर्जा सम्पन्न होकर डार्क एनर्जी के प्रभाव को नियन्त्रित कर लेता है। समस्त सृष्टि में दुर्बल कणों का संयोग भी डार्क एनर्जी के प्रहार के कारण सम्भव नहीं हो पाता। ऐसी प्रत्येक परिस्थिति में ये वाग् रश्मियां ही उन दुर्बल कणों को सबल और सतेज बनाकर डार्क एनर्जी के प्रभाव को दूर कर देती हैं। तदुपरान्त ही वे कण सृजन प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भिक चरणों में जब असुर तत्व का सूक्ष्मतम रूप उत्पन्न होता है, तब उसके दुष्प्रभाव को एकाक्षरा वाग् रश्मियां ही नष्ट करती हैं, जो कि दैवी गायत्री छन्द रश्मियां कहलाती हैं।।

३. तासां वै होत्राणामायतीनामाजयन्तीनामच्छावाकीयाऽहीयत, तस्यामिन्द्राग्नी अध्यास्तामिन्द्राग्नी वै देवानामोजिष्ठौ बलिष्ठौ सहिष्ठौ सत्तमौ पारयिष्णुतमौ तस्मादैन्द्राग्नमच्छावाकः प्रातःसवने शंसतीन्द्राग्नी हि तस्यामध्यास्ताम्।।

{अच्छावाकः = मिथुनं वा अच्छावाकः (श.४.३.१.३), ऐन्द्राग्नोऽच्छावाकः (श.३.६.२.१३), वीर्यवान्वा एष बह्वृचो यदच्छावाकः (गो.उ.५.१५), अच्छ्+वच्+घञ्। होत्रम् = हूयत इति होत्रम् होमः (उ.को.४.१६६), रश्मयो वाव होत्राः ऋतवो वाव होत्राः (गो.उ.६.६), अङ्गानि वाव होत्राः (गो.उ.६.६), होत्रा वाङ्नाम (निघं.१.११) होत्रा यज्ञनाम (निघं.३.१७)। अहीयत = (ओहाक् त्यागे = त्यागना, कमजोर होना, क्षीण होना - आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- यहाँ 'होत्रम्' पद उन वाग् रश्मियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो नाना प्रकार के संयोगादि कर्मों में प्रमुख भूमिका निभाती हैं, क्योंकि **ये रश्मियां अच्छी प्रकार से व्यवस्थित क्रमानुसार प्रकाशित होती हैं, इस कारण वे ही अच्छावाक भी कहलाती हैं।** इनकी चर्चा हम विस्तार से करते चले आ रहे है। ये ही रश्मियां कैसे असुर तत्त्व को दूर करती हैं? यह हम लिख ही चुके हैं। ये रश्मियां विभिन्न प्राणों के साथ मिथुन करके तेजस्विनी होकर ही अपने कार्य कर पाती हैं। जब ये रश्मियां दूर-२ तक फैल जाती हैं, तो ये विरल होकर दुर्बल होती जाती हैं, जिसके कारण ये असुर तत्वों को नियन्त्रित करने में असमर्थ होती चली जाती हैं। इस कारण विभिन्न प्राणों से उनके मिथुन टूटने लगते हैं। ऐसी स्थिति में इन्द्र और अग्नि तत्व की संवर्धक रश्मियां अकस्मात् उत्पन्न होती हैं, जो इन दुर्बल हुई वाग् रश्मियों के ऊपर आच्छादित हो जाती हैं। इन इन्द्र और अग्नि तत्त्व का सम्मिलित रूप सभी देव पदार्थों में अधिक ओजस्वी होता है। {ओजः = ओजतेर्वा उब्जतेर्वा (नि.६.८), (उब्ज आर्जवे = दबाना, सीधा करना, भींचना - आप्टेकोष; ओज शक्तौ), उदकनाम (निघं.१.१२), बलनाम (निघं.२.९), वज्रो वा ऽओजः (श.८.४.१.२०), ओजो मरुतः (मै.४.७.८) ओजो वै भान्तः (तै.सं.५.३.३.२)} इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्र और अग्नि का सम्मिलित रूप अत्यन्त बलवान्, प्रकाशमान् एवं विभिन्न मरुद रश्मियों से युक्त होता है। ये रश्मियां असुर तत्त्व आदि पर अपनी वर्षा करके उसे अपने बल से सम्पीडित करके पराभूत करने में सक्षम होती हैं। ये सर्वाधिक बलवती होती हैं। इनका बल विभिन्न पदार्थों का धारक और पोषक होता है। इसलिए महर्षि यास्क "बलम्" पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं- "बलं कस्मात्, बलं भरं भवति, बिभर्तेः" (नि.३.९)। निघण्टु १.१० में इसे 'मेघ' नाम में पढ़ा गया है। उधर निघण्टु १.१२. में कहा गया है- "सहः उदकनाम", इसके साथ ही "सहः बलनाम" (निघं.२.१७)।

इससे प्रतीत होता है कि 'सहः' और 'बल' दोनों में अति सूक्ष्म भेद है, जहाँ 'बल' मेघ रूप है, वहीं 'सहः' उदक अर्थात् जल रूप है। इससे सिद्ध है कि 'बल' स्थूल रूप है और 'सहः' उसका सूक्ष्म रूप है। 'बलम्' शब्द "बल प्राणने धान्यावरोधे च" धातु से निष्पन्न होता है। इस धातु के तीन अर्थ पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने धातु कोष में दिये हैं- १. जीना, जीते रहना २. धान्य संचय करना ३. द्रव्य को रोकना।

कोषकार आप्टे ने 'चोट पहुँचाना, मार डालना' भी अर्थ दिया है। उधर 'सहस्' शब्द "सह मर्षणे" धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- 'सहन करना और शक्तिमान् होना'। आप्टे ने अपने कोष में "वहन करना, सहारा देना, धकेलना, जीतना" आदि अर्थ भी दिये हैं। इस प्रकार **जो बल विभिन्न पदार्थों को संचित करने और रोकने में सक्षम होकर विभिन्न पदार्थों को जीवन देता हुआ तथा आवश्यक होने पर बाधक पदार्थों का भेदन करता हुआ विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करता है, उसे 'बल' नाम से ही जाना जाता है और जो बल विभिन्न दबावों को किंवा प्रतिकूल बलों को सहन करता हुआ और धकेलता हुआ जीत लेता है, उस बल को 'सहस्' कहते हैं।** इन दोनों बलों के इस सूक्ष्म भेद के कारण ही "बलिष्ठौ" और "सहिष्ठौ" दो पृथक्-२ पदों का प्रयोग किया गया है।

इन इन्द्र और अग्नि का सम्मिलित रूप "सत्तमौ" भी कहा गया है। इस "सत्तमौ" पद का अर्थ करते हुए आचार्य सायण ने अपने भाष्य में लिखा है- "सत्तमावतिशयेन सन्तौ सन्मार्गवर्तिनावनुग्रहीताराावित्यर्थः", इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि और इन्द्र दोनों तत्त्व समस्त सृष्टि काल तक ठहरने वाले, सम्यक् मार्गों पर गमन करने वाले और विभिन्न कणों को अपने साथ ले जाने वाले होते हैं और ऐसा करने के कारण ही वे विभिन्न बाधक पदार्थों से पार लगाने वाले तत्त्वों में सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं। इस कारण अच्छी प्रकार प्रकाशित अत्यन्त तीव्र गति से उत्पन्न होने वाली अच्छावाक संज्ञक ६ रश्मियों की उत्पत्ति होती है। आचार्य सायण ने "इन्द्राग्नी आगतं सुतमिन्द्राग्नी अपसस्परि तोशा वृत्रहणा हुव इति तिस्र इहेन्द्राग्नी उपेयं वामस्य मन्मन इति नव। इन्द्राग्नी आगतं सुतमिति याज्या।" (आश्व.श्रौ.५.१०.२८) के संकेतानुसार इन ६ रश्मियों के रूप में **विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् से उत्पन्न इन्द्राग्नी-देवताक**

इन्द्रा॑ग्नी आ ग॑तं सु॒तं गी॒र्भिर्नभो॒ वरे॑ण्यम्। अ॒स्य पा॑तं धि॒येषि॒ता।।१।।
इन्द्रा॑ग्नी जरि॒तुः सचा॑ य॒ज्ञो जिगा॑ति चेत॑नः। अ॒या पा॑तमि॒मं सु॒तम्।।२।।
इन्द्र॑म॒ग्निं क॑वि॒च्छदा॑ य॒ज्ञस्य॑ जू॒त्या वृ॑णे। ता सोम॑स्ये॒ह तृ॑म्पताम्।।३।।
तो॒शा वृ॑त्र॒हणा॑ हुवे स॒जित्वा॒नाप॑राजिता। इ॒न्द्रा॒ग्नी वा॑ज॒सात॑मा।।४।।
प्र वा॑मर्चन्त्यु॒क्थिनो॑ नीथा॒विदो॑ जरि॒तार॑ः। इन्द्रा॑ग्नी इष आ वृ॑णे।।५।।
इन्द्रा॑ग्नी नव॒तिं पुरो॑ दा॒सप॑त्नीरधूनुतम्। सा॒कमेके॑न कर्म॑णा।।६।।
इन्द्रा॑ग्नी अप॑स॒स्पर्युप प्र य॑न्ति धी॒तय॑ः। ऋ॒तस्य॑ प॒थ्या॒३ अनु॑।।७।।
इन्द्रा॑ग्नी तवि॒षाणि॑ वां स॒धस्था॑नि॒ प्रयां॑सि च। यु॒वोर॒प्तूर्यं॑ हि॒तम्।।८।।
इन्द्रा॑ग्नी रोच॒ना दि॒वः परि॒ वाजे॑षु भूषथः। तद्वां॑ चेति॒ प्र वी॒र्य॑म्।।९।।

इत्यादि ऋग्वेद ३.१२ सूक्त का ग्रहण किया है। इनके दैवत प्रभाव से उपर्युक्त प्रभाव वाले इन्द्र और अग्नि तत्त्व समृद्ध होते हैं। इनके अन्य प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार हैं-

(१) इसका छन्द निचृद् गायत्री होने से भेदक तेज और बल उत्पन्न होता है। यह सूक्ष्म वाग् रश्मियों के द्वारा आकर्षक बल से युक्त होकर विभिन्न पदार्थों को अपने साथ बांधता हुआ उनकी संयोगादि क्रियाओं की रक्षा करता है। यहाँ "नभः" शब्द "णह बंधने" धातु से निष्पन्न होता है। 'नभते वधकर्मा' (निघं.२.१९) के अनुसार इस रश्मि से असुर तत्व के विनाश में भी सहयोग मिलता है।

(२) {अया = एति जानाति सर्वा विद्या यया प्रज्ञया तया (म.द.ऋ.भा.१.८७.४)} इसका छन्द गायत्री होने से पूर्वोक्त प्रभाव को ही कुछ दुर्बल रूप में उत्पन्न करती है। यह रश्मि {चेतनः = (चित्तम् = अन्तःकरणस्य स्मरणात्मिकां वृत्तिम् - म.द.ऋ.भा.१.१७०.१; प्रज्ञानाम - निघं.३.९; मनो वै चित्तम् -

मै.४.२.६)} सभी क्रियाओं के प्रेरक, सभी संयोगों के जनक मनस् तत्त्व से विशेष संयुक्त होकर उत्पन्न हुए सभी पदार्थों को तीव्रता से प्रकाशित करके रक्षा करती है।

(३) इसका छन्द निचृद् गायत्री होने से छान्दस प्रभाव प्रथम रश्मि के समान होता है। इससे इन्द्र और अग्नि तत्त्व सूत्रात्मा वायु से आच्छादित होकर अति वेगवान् हो जाते हैं, जिसके कारण संगत होती हुई विभिन्न मरुत् और छन्द रश्मियां विभिन्न सृजन क्रियाओं को तृप्त करती हैं।

(४) इसका छन्द गायत्री होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। {तोषा = वर्धकौ विज्ञातारौ (म.द.ऋ.भा. ३.१२.४)} इसके प्रभाव से इन्द्र और अग्नि तत्त्व विभिन्न पदार्थों की वृद्धि करने और उन्हें प्रकाशित करने वाले होकर असुर तत्त्व को नियन्त्रित करते हैं। जो पदार्थ असुर तत्त्व के बाधक प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं, उन्हें ये अपराजित कर देते हैं, साथ ही विभिन्न पदार्थों में विभिन्न छन्द रश्मियों का सम्यक् विभाजन करते हैं।

(५) इसका छन्द निचृद् गायत्री होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके प्रभाव से इन्द्र और विद्युत् अन्न संज्ञक पदार्थों को सम्यग् रूप से प्राप्त करके, उन्हें वाग् रूप छन्द रश्मियों से विशेष रूप से आच्छादित करके, उन्हें विशेष प्रकाशित करते हैं।

(६) इसका छन्द गायत्री होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके प्रभाव से दासपत्नी अर्थात् {दासपत्नीः = ये दस्यन्त्युपक्षिण्वन्ति शत्रून् ते दासास्तेषां पत्नीरिव वर्त्तमानाः किरणाः (म.द.ऋ.भा.३.१२.६)} असुर तत्व की रश्मियों को दूर फैंकने वाली तथा संयोज्य कणों का पालन करने वाली ६० रश्मियां एक जैसे कर्म से युक्त होकर असुर को कँपाती हुई दूर फैंक देती हैं । वे ६० रश्मियां इस प्रकार हैं-
(१) ६ सूक्ष्मतम तूष्णींशंस रश्मियां-ओम्, भूः, भुवः, सुवः, के ६ प्रकार।
(२) खण्ड २.३१ में वर्णित "भूरग्निर्ज्योतिः......." आदि ३ तूष्णींशंस रश्मियां।
(३) "शोंसावोम्" यह आहाव संज्ञक एक १ रश्मि ।
(४) १२ पूर्वोक्त निविद् रश्मियां।
(५) पूर्वोक्त ७ विद् सूक्तस्थ रश्मियां।
(६) ९ इस सूक्त (ऋ.३.१२) की रश्मियां।
ये कुल मिलाकर ३८ रश्मियाँ होती हैं। हमारे मत में अन्य ५२ रश्मियां वे हैं, जो आचार्य पिंगल प्रणीत छन्द शास्त्र की हलायुध भट्ट विरचित मृतसंजीवनी आख्या नामक वृत्ति के संशोधक पं. केदारनाथ और वासुदेव शर्मा ने छन्दों के भेद के रूप में पृष्ठ १०-११ पर दर्शायी हैं, जो निम्नानुसार हैं-

अक्षर	गायत्री	छन्द प्रकार
१	दैवी	-
२	"	भुरिक्
३	"	स्वराट्
४	याजुषी	विराट्
५	"	निचृत्
६	"	प्राजापत्या विराट्
७	"	भुरिक्, (प्राजापत्या) निचृत्
८	प्राजापत्या	याजुषी विराट्
९	"	भुरिक्

१०	”	स्वराट्, साम्नी विराट्
११	साम्नी	निचृत्
१२	”	–
१३	आर्ची	–
१४	”	भुरिक्
१५	”	स्वराट्
१६	पादनिचृत्	–
१७	आर्षी	विराट्
१८	”	निचृत्
१६	”	–
२०	”	भुरिक्
२१	”	स्वराट्
२२	ब्राह्मी	विराट्
२३	”	निचृत
२४	”	–
२५	”	भुरिक्
२६	”	स्वराट्

ये कुल मिलाकर २६ छन्द रश्मियां होती है। इन विद्वानों ने ५ प्रकार की गायत्री रश्मियां और बतलाई हैं, जो आसुरी वर्ग से सम्बद्ध हैं। इस कारण हमारे मत में इन ५ छन्द रश्मियों का उपयोग आसुरी तत्त्व के निवारण वा नियन्त्रण में नहीं हो सकता। इसी शैली से अति तेज और बल से सम्पन्न २६ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां भी आसुरी तत्त्व के निवारण में काम आती हैं। जिनके लिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- "वज्रो वै त्रिष्टुप्" (श.७.४.२.२४ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)। यह सर्वविदित ही है कि असुर तत्त्व की नियन्त्रक रश्मियां वज्र ही कहलाती हैं। अन्यत्र तत्ववेत्ता ऋषियों ने कहा- "वज्र एव वाक्" (ऐ.२.२१), "वाग्घि वज्रः" (ऐ.४.१)। हम वाक् तत्त्व से गायत्री छन्द रश्मियों का ग्रहण करते हैं, क्योंकि यही आर्षमत है। इसलिए कहा गया है "गायत्री वाक्" (मै.४.३.१), "वाग्वै गायत्री" (काठ. २३.५)।

इस प्रकार कुल ५२ प्रकार की छन्द रश्मियां एवं पूर्वोक्त ३८ प्रकार की रश्मियां, ये सब मिलाकर ६० प्रकार की रश्मियां ही दासपत्नी कहलाती हैं, जो असुर तत्त्व को कम्पायमान करके दूर हटाने में समर्थ होती है। इस ऋचा में इनका उल्लेख होने से यह संकेत अवश्य मिलता है कि इस छन्द रश्मि का सम्बन्ध अन्य ८६ छन्द रश्मियों से विशेष होता है।

(७) इसका छन्द यवमध्या विराड् गायत्री होने से इसका प्रभाव पूर्वरश्मि से कुछ अधिक तेजस्वी होता है। इसके अन्य प्रभाव से इन्द्र और अग्नि तत्त्व विभिन्न प्राणों के क्रियाशील पथ को प्राप्त करके सब ओर से धारण-शक्तिसम्पन्न होते हैं।

(८) इसका छन्द निचृद् गायत्री होने से प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से इन्द्र और अग्नि तत्त्व साथ-२ संयुक्त होकर विशेष आकर्षकबलपूर्वक शीघ्रता से सब पदार्थों का धारण करने वाले होते हैं।

(६) इसका छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् समझें। इससे इन्द्र और अग्नि तत्त्व सब ओर से प्रकाशमान् होकर विभिन्न संयोज्य कणों को बल और पराक्रम से युक्त करते हैं।

इस प्रकार इन ६ रश्मियों में इन्द्र और अग्नि तत्त्व पूर्णतः व्याप्त हो जाता है और इन रश्मियों का तीव्र पराक्रमी समूह ही अच्छावाक शस्त्र अर्थात् विकिरण समूह कहा जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब पूर्वोक्तानुसार विभिन्न वाग् रश्मियां डार्क एनर्जी को निष्प्रभावी करके विभिन्न सृजन कर्मों को विस्तृत करने लगती हैं, उसके कुछ कालोपरान्त वे वाग् रश्मियां शनैः-२ विरल होकर दुर्बल होने लगती हैं। इसके कारण विभिन्न संयुक्त कणादि पदार्थ टूटने लगते हैं। ऐसी स्थिति में विद्युत् और ऊष्मा से सम्पन्न तीव्र रश्मियां अकस्मात् उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियां विभिन्न पदार्थों को ताड़ित करके समुचित मार्गों पर गमन कराने में सहयोग करती हैं। इसके साथ ही ये प्रकाश को उत्पन्न करने वाली और डार्क एनर्जी को भेदने वाली होती हैं। ये रश्मियां विभिन्न संयोज्य कणों वा तरंगों को धारण करने वाली, संचित करने वाली, रोकने वाली, वहन करने वाली, धकेलने वाली और नियन्त्रित करने वाली होती हैं। ये किरणें किसी भी विरोधी बल को सहन करने वाली भी होती हैं। इन रश्मियों के प्रभाव से विभिन्न प्रकार के कण वा तरंगें परस्पर पुनः संयुक्त होने लगती हैं, ये रश्मियाँ मनस् तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु से संयुक्त होकर सृजन क्रियाओं को तीव्रता प्रदान करती हैं। ये रश्मियाँ विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों का समुचित ढंग से संयोजन और वियोजन करती हैं। ये रश्मियां संयोज्य पदार्थों को आच्छादित करके उन्हें अधिक ऊर्जावान् बना देती हैं। इन रश्मियों के साथ पूर्वोक्त डार्क एनर्जी को भेदने वाली अनेक प्रकार की रश्मियाँ परस्पर सम्बद्ध होकर उस एनर्जी को कम्पायमान कर देती हैं। इस प्रकार की रश्मियों की संख्या कुल ६० होती है, जो सब मिलकर डार्क एनर्जी पर प्रहार करती हैं। इससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्युत्, ऊष्मा एवं प्रकाश आदि में भारी वृद्धि होती है। आकर्षण बल की प्रधानता और प्रतिकर्षण बल की गौणता हो जाती है।।

४. तस्मादु पुरस्ताद् अन्ये होत्रकाः सदः प्रसर्पन्ति पश्चाऽच्छावाकः पश्चेव हि हीनोऽनुसंजिगमिषति।।
तस्माद् यो ब्राह्मणो बह्वृचो वीर्यवान् स्यात् सोऽस्याच्छावाकीयां कुर्यात् तेनैव साऽहीना भवति।।४।।

व्याख्यानम्- विभिन्न संयोजक वाग् रश्मियां जिनका कि वर्णन हम पूर्व में कर चुके हैं, सर्वप्रथम क्रमानुसार पृथिवी और द्यु आदि लोकों की ओर गमन करती हैं अर्थात् उनके निर्माण में सर्वप्रथम अपनी भूमिका निभाती हैं। इसके पश्चात् उपर्युक्त अच्छावाक नामक रश्मियाँ उत्पन्न होकर अपने पूर्वोक्त प्रभावों से पृथिवी और द्युलोक आदि के निर्माण में सहायक होती हैं। क्योंकि विभिन्न क्रियाओं के चलते विभिन्न प्रकार के पदार्थ हीनबल हो जाते हैं, इस कारण उनको पुनः बलवान् और सक्रिय बनाने हेतु असुर तत्त्व निवारक विभिन्न रश्मियों को एकत्र करने के लिए ये अच्छावाक रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इन अच्छावाक रश्मियों के साथ संयुक्त होकर हीनबल पदार्थ भी बलवान् होकर पृथिवी और द्युलोक आदि के निर्माण में भाग लेने लगते हैं। इसका एक अन्य आशय यह भी है कि द्यु और पृथिवी लोकों के निर्माण के समय भी उनके केन्द्रीय भाग की ओर गमन करने वाली रश्मियों में अच्छावाक नामक रश्मियां सबसे अन्त में ही गमन करती हैं।।

इस कारण जो ब्राह्मण अर्थात् विद्युत् और तेजयुक्त कण अनेक प्रकार की ऋग् रूप तरंगों से युक्त होकर तीव्र बलसम्पन्न बनते हैं, वे इन अच्छावाक रश्मियों को धारण करके अग्नि और इन्द्र तत्त्व से सम्पन्न अवश्य होते हैं, क्योंकि ऐसा होकर उन पदार्थों के बल क्षीण नहीं हो पाते।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न फोटोन्स एवं द्रव्य कण बनने की प्रक्रिया, साथ ही स्वयं प्रकाशित तारे आदि लोक एवं अप्रकाशित लोकों के निर्माण की प्रक्रिया में सबसे पहले सूक्ष्म वाग् रश्मियां, फिर क्रमशः पूर्वोक्त अनेक रश्मियां उत्पन्न होते-२ अन्त में ६ गायत्री रश्मियों की उत्पत्ति होती है। ये रश्मियाँ डार्क

एनर्जी से विदीर्ण हुए पदार्थों को बलसम्पन्न करके संचित करती हैं। ये रश्मियाँ ही अन्य विविध रश्मियों को संगत वा संगठित करके अत्यन्त तीव्र बल से डार्क एनर्जी के प्रबल प्रतिकर्षण बल को दूर करके विभिन्न कणों एवं लोकों के निर्माण में सहायक होती हैं। इन रश्मियों से युक्त कण वा तरंगों का बल क्षीण नहीं होता, जिसके कारण लोकों के निर्माण की प्रक्रिया डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करते हुए सतत चलती रहती है।

इति १०.४ समाप्तः

अथ १०.५ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. देवरथो वा एष यद्यज्ञस्तस्यैतावन्तरौ रश्मी यदाज्यप्रउगे तद्यदाज्येन पवमानमनुशंसति प्रउगेणाऽऽज्यं देवरथस्यैव तदन्तरौ रश्मी विहरत्यलोभाय।।
तामनु कृतिं मनुष्यरथस्यैवान्तरौ रश्मी विहरन्त्यलोभाय।।
नास्य देवरथो लुभ्यति न मनुष्यरथो य एवं वेद।।

{देवरथः = देवरथो वा अग्नयः (कौ.ब्रा.५.१०), इयं (पृथिवी) वै देवरथः (तां.७.७.१४)। रथः = रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा रसतेर्वा (नि.९.११), (रप व्यक्तायां वाचि, रस आस्वादनस्नेहनयोः)}

व्याख्यानम्- यह सृष्टि रूपी यज्ञ देवरथ के समान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस सृष्टियज्ञ में प्राथमिक प्राण रूपी देव पदार्थ किंवा अन्य तेजस्वी रश्मि आदि पदार्थ भाँति-२ की गतियों से रमण करते हुए, सूक्ष्म ध्वनियां उत्पन्न करते हुए, परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित वा प्रतिकर्षित करते हुए अवस्थित होते हैं। इन पदार्थों की ऐसी अवस्था प्रकाशित और अप्रकाशित कणों वा लोकों में सदैव विद्यमान रहती है। इस देवरथ रूपी सृष्टि में 'आज्य' और 'प्रउग' नामक रश्मियां दो आभ्यान्तर नियन्त्रक रश्मियों के समान होती हैं, जो सृष्टि प्रक्रियाओं की गति को नियन्त्रित करती हैं। **आज्य नामक रश्मियां वे सूक्ष्म और तेजस्वी रश्मियां हैं, जो सूक्ष्मतम तूष्णींशंस संज्ञक गायत्री एवं खण्ड २.३२ में वर्णित तूष्णींशंस छन्द रश्मियों के रूप में विद्यमान होती हैं। इसके अतिरिक्त निविद् एवं आहव रश्मियां भी आज्य कहलाती हैं।** ये ही रश्मियां असुर पदार्थ को सूक्ष्मतम स्तर पर जाकर नष्ट वा नियन्त्रित करने में समर्थ होती हैं। इनके विषय में विशेष जानकारी के लिए पूर्व खण्ड देखें।

दूसरी नियन्त्रक रश्मियां 'प्रउग' कहलाती हैं। ये 'प्रउग' नामक रश्मियां वे रश्मियाँ हैं, जो प्राणापानादि प्राथमिक प्राण के रूप में अथवा बड़ी-२ छन्द रश्मियों (अतिच्छन्द) के रूप में विद्यमान होती हैं। इनके विषय में विशेष जानकारी हेतु खण्ड २.३१ देखें। यहाँ इन दोनों रश्मियों के लिये "अन्तरौ" विशेषण यह संकेत दे रहा है कि 'प्रउग' का तात्पर्य प्राणापानादि सूक्ष्म रश्मियां ही यहाँ अधिक उपयुक्त है। इसके कारण 'प्रउग' और 'आज्य' दोनों ही प्रकार की रश्मियां लगभग सूक्ष्मतम रूप वाली होकर सभी पदार्थों के अन्दर तक व्याप्त होकर उन्हें नियन्त्रित कर सकती हैं। यहाँ 'रश्मि' शब्द 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से निष्पन्न होता है, इसका तात्पर्य जहाँ नियन्त्रक रस्सी भी है, वहाँ उस रस्सी की व्याप्तता भी सिद्ध होती है। इस प्रकार ये दोनों प्रकार की सूक्ष्म रश्मियां सब पदार्थों के अन्दर व्याप्त होकर उनका नियमन करती हैं। इसलिए महर्षि यास्क ने लिखा है- "रश्मिः = यमनात्" (नि. २.१५)। इस सृष्टि में जब विभिन्न सृजन कर्म होते हैं, उस समय संयोग प्रकिया की मुखरूप बहिष्पवमान संज्ञक ९ गायत्री साम रश्मियाँ, जो प्रत्येक पदार्थ को सब ओर से आवृत्त करती हैं, उत्पन्न होती हैं। इन रश्मियों के विषय में खण्ड २.२२ विशेषतः द्रष्टव्य है। ये रश्मियां गायत्री संज्ञक रश्मियां होती हैं और इन्हीं बहिष्पवमान संज्ञक रश्मियों को यहाँ पवमान कहा गया है। इन रश्मियों को आज्य संज्ञक सूक्ष्मतम तूष्णींशंस रश्मियों के द्वारा प्रकाशित किया जाता है। यहाँ 'अनु' उपसर्ग अनुकूलता और वीप्सा एवं अनुक्रम अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि ये सूक्ष्म आज्य रश्मियां पवमान संज्ञक गायत्री रश्मियों की उत्पत्ति के तुरन्त पश्चात् उनके द्वारा संयोगादि की प्रक्रिया को बार-२ और क्रमबद्ध विधि से सम्पन्न करने के लिए उत्पन्न होती हैं और इसी प्रकार इन आज्य रश्मियों को अनुकूलता से बार-२ क्रमपूर्वक असुर तत्त्व का नियन्त्रण करने के लिए 'प्रउग' अर्थात् प्राणापानादि प्राथमिक प्राण तत्काल सक्रिय हो उठते हैं। इन क्रियाओं से वे दोनों प्रकार की रश्मियाँ पूर्वोक्त रज्जु

के समान कार्य करने लगती हैं। इन रज्जुओं का नियन्त्रक मनस् तत्त्व होता है, जो उन दोनों प्रकार की रश्मियों को नियन्त्रित करके संयोग प्रक्रिया को सम्यक् संचालित करता है और इस प्रक्रिया में किसी प्रकार की अस्त-व्यस्तता नहीं आ पाती। यहाँ प्रयुक्त 'लोभ' शब्द "लुभ विमोहने" धातु से निष्पन्न होता है।।

इस उपर्युक्त देवरथ की भाँति मनुष्यरथ में भी दो रज्जू होती हैं। **यहाँ 'मनुष्य' का तात्पर्य सूत्रात्मा वायु समझना चाहिए।** इसके लिए खण्ड २.३४ द्रष्टव्य है। जैसा कि हम जानते हैं कि सूत्रात्मा वायु प्रत्येक पदार्थ को परिधि रूप में घेरे रहता है। यह वायु भी उसी प्रकार व्यवहार करता है, जिस प्रकार उपर्युक्त प्रकरण में वहिष्पवमान गायत्री रश्मियाँ व्यवहार करती हैं और उसी प्रकार सूत्रात्मा वायु का सम्बन्ध तूष्णींशंस एवं निविदादि रश्मियों और प्राणापानादि रश्मियों के साथ होता है। इनके सूत्रात्मा वायु के साथ सम्यक् मेल से संयोगादि प्रक्रियाएं निर्बाध और व्यवस्थित ढंग से होती हैं। इस प्रकार की स्थिति बनने पर प्राणापानादि की गति और सूत्रात्मा वायु की गति व्यवस्थित रहकर संयोगादि कर्मों को व्यवस्थित रूप प्रदान करती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किन्हीं कणों का परस्पर संयोग होता है, उस समय सर्वप्रथम ६ गायत्री रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जो उन कणों को चारों ओर से आच्छादित कर लेती हैं। वे रश्मियां ही कणों के संयोग के समय प्राणादि पदार्थों के आवागमन को प्रेरित करके मार्ग बनाती हैं। इन रश्मियों को दैवी गायत्री वागू रश्मियों के द्वारा बार-२ अनुकूलता से अकस्मात् जाग्रत अर्थात् सक्रिय किया जाता है और इन दैवी गायत्री वागू रश्मियों को प्राणापानादि सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा इसी प्रकार सक्रिय और जाग्रत किया जाता है। ये दोनों ही प्रकार की प्रेरक रश्मियां संयोज्य पदार्थों के अन्दर व्याप्त होकर उनकी संयोजन क्रिया को नियन्त्रित करती हैं, साथ ही ये डार्क एनर्जी द्वारा उत्पन्न बाधक प्रतिकर्षण बल को भी नियन्त्रित करती हैं। उधर प्रत्येक कण वा तरंग सूत्रात्मा वायु संज्ञक सूक्ष्म प्राण से भी आवृत होते हैं। उनका भी दैवी गायत्री रश्मियों और प्राणापान आदि रश्मियों के साथ उपर्युक्त गायत्री रश्मियों जैसा ही सम्बन्ध रहता है। इन सबके पारस्परिक सम्बन्ध से विभिन्न कणों के सयोग में कोई भी अव्यवस्था नहीं फैल पाती।

२. तदाहुर्यथा वाव स्तोत्रमेवं शस्त्रं पावमानीषु सामगाः स्तुवत आग्नेयं होताऽऽज्यं शंसति कथमस्य पावमान्योऽनुशस्ता भवन्तीति।।
यो वा अग्निः स पवमानः।।
तदप्येतदृषिणोक्तम् 'अग्निर्ऋषिः पवमानः' इति।।
एवमु हास्याऽऽग्नेयीभिरेव प्रतिपद्यमानस्य पावमान्योऽनुशस्ता भवन्ति।।

{स्तोत्रम् = क्षत्रं वै स्तोत्रम् (ष.१.४), आत्मा वै स्तोत्रम् (श.५.२.२.२०), बृहस्पतिः स्तोत्रम् (मै.४.१३.८)। शस्त्रम् = वाग्घि शस्त्रम् (ऐ.३.४४), प्रजा शस्त्रम् (श.५.२.२.२०), विट् शस्त्रम् (जै.ब्रा.२.४६)।}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कुछ अन्य विद्वानों के उस मत, जिसे स्वयं महर्षि भी स्वीकार करते हैं, को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार से अथवा ज्यों ही स्तोत्र प्रकाशित होता है, उसी प्रकार से अथवा त्यों ही शस्त्र भी प्रकाशित होता है। **यहाँ २.३३ में वर्णित १२ प्रकार की निविद् वा मास रश्मियों का नाम ही 'स्तोत्र' है, क्योंकि ये रश्मियां भेदक शक्तिसम्पन्न और सतत गमन करने वाली होती हैं।** उधर उसी खण्ड व कण्डिका में वर्णित **विट् संज्ञक सूक्त रश्मियाँ ही 'शस्त्र' कहलाती हैं।** यहाँ 'स्तोत्र' को आत्मा तथा बृहस्पति कहने का तात्पर्य यह भी प्रतीत होता है कि सूत्रात्मा वायु को भी 'स्तोत्र' कहते हैं। जैसा कि हमें पूर्वविदित है कि निविद् रश्मियां एवं सूत्रात्मा वायु शस्त्र संज्ञक सूक्त रश्मियों से पूर्व उत्पन्न होते हैं। इसी कारण महर्षि आश्वलायन ने अपने श्रौतसूत्र ५.१०.१ में लिखा है-

"स्तोत्रमग्रे शस्त्रात्"। इन दोनों की विशेष जानकारी हेतु खण्ड २.३३ द्रष्टव्य है। यहाँ एक अन्य पक्ष प्रस्तुत करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं- "ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति" (नि.१३.७)। यहाँ संकेत मिलता है कि ऋ.३.१३ विट् संज्ञक सूक्त की ६ रश्मियाँ शस्त्र कहलाती हैं और सामवेद उत्तरार्चिक के प्रथम अध्याय की- "उपास्मै गायता...." इत्यादि ६ वहिष्पवमान संज्ञक रश्मियाँ स्तोत्र कहलाती हैं, जिनके विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं। इस प्रकार ये ६ गायत्री साम रश्मियां भी निविद् संज्ञक १२ रश्मियों के समान स्तोत्र वा क्षत्र रूप होती हैं। इन्हीं को यहाँ महर्षि ने "पावमानी" कहा है। आचार्य सायण ने भी इन्हीं रश्मियों का ग्रहण किया है। जब सामगा अर्थात् इन साम गायत्री रश्मियों को उत्पन्न करने वाला मनस् तत्त्व इनको प्रकाशित करता है एवं इन रश्मियों के अन्दर कूर्म नामक प्राण विभिन्न देदीप्यमान रश्मियों को उत्पन्न करता है, {अर्चिः सामानि (श.१०.५.१.५)} उस समय वाग् रूप होता अग्निदेवताक पूर्वोक्त विट् संज्ञक ऋ.३.१३ सूक्त रश्मियों को उत्पन्न करता है। इन रश्मियों को भी यहाँ आज्य कहा है। इन रश्मियों को आज्य इस कारण कहा है, क्योंकि इन रश्मियों के ऊपर ही निविद् रश्मियों का प्रक्षेपण होता है किंवा इन रश्मियों का वहिष्पवमान साम गायत्री रश्मियों के ऊपर प्रक्षेपण होता है और ये रश्मियां संदीप्त तेज से युक्त भी होती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठाया गया है कि अग्निदेवताक छन्द रश्मियां पवमानदेवताक रश्मियों के साथ कैसे संगत होती है? इसका उत्तर देते हुए महर्षि स्वयं लिखते हैं कि अग्नि और पवमान दोनों एक ही हैं। पवमान शब्द का अर्थ है- "गति और शोधन करने वाले"। उधर 'अग्नि' शब्द का अर्थ भी "गति करने वाला" सर्वविदित है और इसके शोधक गुण को लेकर महर्षि दयानन्द अपने यजुर्वेद भाष्य १.१२ के भावार्थ में लिखते हैं- "अग्निना छिन्नाः पृथक् पृथक् परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति ते शुद्धा भवन्ति"। उधर एक अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा- "अग्निर्वाव पवित्रम्" (तै.ब्रा.३.३.७.१०)। उधर दोनों के छन्दों को देखें, तो एक का छन्द गायत्री है और दूसरे का अनुष्टुप्। गायत्री और अनुष्टुप् छन्दों के सम्बन्धों को दर्शाते हुए कौ.ब्रा.१०.५ में लिखा है- "गायत्री वै सा यानुष्टुप्"। इससे भी सिद्ध होता है कि दोनों ही सूक्त न केवल दैवत प्रभाव से अपितु छान्दस प्रभाव से भी समान प्रभाव वाले हैं। इस कारण उनके परस्पर सामञ्जस्य में कोई बाधा नहीं आती।।+।।

अग्नि और पवमान दोनों की साम्यता दर्शाते हुए (खण्ड २.२२ में वर्णित) शतं वैखानसा ऋषि प्राण से उत्पन्न अग्निदेवताक

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्।। (ऋ.९.६६.२०)

ऋचा में भी अग्नि और पवमान दोनों को ही एक बताया गया है।।

इस प्रकार अग्निदेवताक सूक्तगत छन्द रश्मियों से आरम्भ होने वाली क्रियाएं पवमानदेवताक सूक्तगत रश्मियों से होने वाली क्रियाओं के पूर्णतः अनुकूल हो जाती हैं। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "सोमो वै पवमानः" (श.२.२.३.२२)। सोम और अग्नि का परस्पर सामंजस्य सर्वविदित ही है। समस्त सृष्टि अग्नि और सोम के मिथुन से ही उत्पन्न होती है। इस कारण इन दोनों प्रकार की रश्मियों का परस्पर सामंजस्य न केवल यहाँ है, अपितु समस्त सृष्टि में देखा जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में गायत्री और अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का प्रभाव लगभग एक जैसा होता है। इस कारण इनका परस्पर सामंजस्य भी समस्त सृष्टि में देखा जाता है। उधर विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें और प्राणादि वायु रश्मियाँ भी एक जैसा प्रभाव दर्शाती हैं। ये दोनों ही विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके शुद्ध और सूक्ष्म रूप में परिवर्तित कर सकती हैं और ये विभिन्न पदार्थों से टकराकर उन्हें बल और गति भी प्रदान करती हैं। **इस सृष्टि में जो भी बल और गति विद्यमान है, वह ऊर्जा तथा प्राणादि वायु तत्त्व के कारण ही सम्भव होती है और इन्हीं के कारण ही सभी संयोग-वियोग की क्रियाएं सम्पन्न हो रही हैं।** इस प्रकार इन दोनों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।।

३. तदाहुर्यथा वाव स्तोत्रमेवं शस्त्रं गायत्रीषु सामगाः स्तुवत आनुष्टुभं होताऽऽज्यं शंसति, कथमस्य गायत्र्योऽनुशस्ता भवन्तीति।।

संपदेति ब्रूयात्।।
सप्तैता अनुष्टुभस्तास्त्रिः प्रथमया त्रिरुत्तमयैकादश भवन्ति विराड्याज्या द्वादशी, न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्यां, ताः षोळश गायत्र्यो भवन्ति।।
एवमु हास्यानुष्टुब्भिरेव प्रतिपद्यमानस्य गायत्र्योऽनुशस्ता भवन्ति।।

व्याख्यानम्- जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि ज्यों ही स्तोत्र संज्ञक वाग् रश्मियों की उत्पत्ति होती है, उसी समय शस्त्र संज्ञक रश्मियों की भी उत्पत्ति होती है। इन दोनों प्रकार की रश्मियों के विषय में पूर्व में हम लिख चुके हैं। अब महर्षि कहते हैं कि पूर्वोक्त "सामगा" अर्थात् साम गायत्री रश्मियों की उत्पत्ति करने वाला पदार्थ 'पवमान' संज्ञक गायत्री रश्मियों के रूप में उन रश्मियों को उत्पन्न करता है और पूर्वोक्त 'होता' संज्ञक पदार्थ 'आज्य' रूप रश्मियों को अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के रूप में उत्पन्न करता है। यद्यपि महर्षि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में इस सूक्त की प्रथम ऋचा का छन्द भुरिगुष्णिक् माना है, परन्तु हम यहाँ ग्रन्थकार महर्षि ऐतरेय महीदास के अनुसार सभी ७ ऋचाओं का छन्द अनुष्टुप् ही स्वीकार करते हैं। तब पूर्व की भाँति प्रश्न यह उठता है कि गायत्री और अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में परस्पर अनुकूलन और सामंजस्य कैसे होता है? (इस विषय में विशेष जानकारी के लिए इसी खण्ड की पूर्व कण्डिकाओं को देखें।) इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि ये दोनों छन्द संपत् होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये दोनों छन्द एक जैसी गतियों को प्राप्त करके परस्पर सहगमन करते हैं। इस कारण इनके प्रभाव भी लगभग समान होते हैं। इसी कारण आर्ष ग्रन्थों में कहा गया है- "वागनुष्टुप् सर्वाणि छन्दांसि" (तै.ब्रा.१.७.५.५) और "गायत्री वाव सर्वाणि छन्दासि" (तां.८.४.४) इन दोनों वाक्यों से दोनों छन्दों की समानता स्पष्ट दिखाई दे रही है। अब अन्य प्रमाण देखें- "वागनुष्टुप्" (मै.३.६.५), उधर "वाग् वै गायत्री" (क.३६.२) यहाँ भी दोनों की समानता स्पष्ट दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त इस विषय में पूर्व कण्डिका भी देखें।।+।।

गायत्री और अनुष्टुप् छन्दों के सामंजस्य को दर्शाते हुए महर्षि पुनः लिखते हैं कि पूर्वोक्त विट् संज्ञक जो ७ रश्मियां हैं, उनमें से प्रथम और अन्तिम छन्द रश्मि की एक साथ तीन-२ आवृत्ति होती है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह अनुष्टुप् छन्द रश्मियां हो जाती हैं। इसके साथ-२ विश्वामित्र ऋषि अर्थात् एकाक्षरा वाग् रश्मियों से अग्निदेवताक एवं भुरिगनुष्टुप् छन्द रश्मि

अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे सुतावतो यज्ञमिहोप यातम्। अमर्धन्ता सोमपेयाय देवा।। (ऋ.३.२५.४)

की उत्पत्ति होती है। इसको महर्षि ऐतरेय महीदास विराट् छन्दस्क मानते हैं। इसका कारण यह है कि अनेक शास्त्रों में ३३ अक्षरों वाले छन्द को विराट् संज्ञा दी गई है, जैसे "त्रयस्त्रिंशदक्षरा वै विराट् (कौ.ब्रा.१४.२), (श.३.५.१.८), सा विराट् त्रयस्त्रिंशदक्षरा भवति" (ऐ.२.३७)। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि तत्व विशेष रूप से सबल और सतेज होता है। वह अग्नि तत्त्व इन्द्र तत्त्व से सम्पन्न होकर विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियों से संयुक्त होने के लिए विभिन्न मार्गों वा स्थानों में व्याप्त होने लगता है।

महर्षि लिखते हैं कि एक या दो अक्षरों से छन्द के स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं होता। इसी कारण विभिन्न छन्दों के भुरिक्, निचृद्, स्वराट् और विराट् आदि सूक्ष्म भेद वाले अनेक रूप होते हुए भी मूल छन्द अपरिवर्तित रहता है। यहाँ यह विराट् संज्ञक (भुरिगनुष्टुप्) छन्द रश्मि को याज्या कहा है। इससे संकेत मिलता है कि यह छन्द रश्मि योषा रूप होकर ११ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त रहती है। इस प्रकार कुल १२ अनुष्टुप् छन्द रश्मियां होने से कुल अक्षरों की संख्या लगभग ३८४ होती है, जो १६ गायत्री छन्द रश्मियों के अक्षरों के लगभग समान होती है। यहाँ आचार्य सायण ने- "उक्थं वाचि घोषाय त्वेति शस्त्वा जपेत्। अग्न इन्द्रश्च दाशुषोदुरोण इति याज्या" (आश्व.श्रौ.५.६.२६) के सन्दर्भ में ही उपर्युक्त १२वीं विराट् छन्द ऋचा का ग्रहण किया है।।

इस प्रकार उपर्युक्त अनुष्टुप् और गायत्री संज्ञक छन्द रश्मियां परस्पर समन्वित और अनुकूल होकर नाना कार्यों को सम्पन्न करने में एक-दूसरे की पूरक और सहायक होती हैं।।

वैज्ञनिक भाष्यसार- पूर्वोक्त विषय की ही यहाँ पुनः पुष्टि की गई है। शेष विशेष नहीं।।

४. अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे इत्याग्नेन्द्र्या यजति।। न वा एताविन्द्राग्नी सन्तौ व्यजयेतामाग्नेन्द्रौ वा एतौ सन्तौ व्यजयेतां तद्यदाग्नेन्द्र्या यजति विजित्या एव।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि पुनः पूर्वोत्पन्न विराट् छन्दस्क (भुरिगनुष्टुप्) ऋचा के यजन की चर्चा करते हैं। इस विषय में हम पूर्व व्याख्यान में ही लिख चुके हैं। इस ३३ अक्षर वाली ऋचा का पूर्वोक्त ११ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ किस प्रकार संयोग रहता है, इसको यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है पुनरपि हमारा मत है कि इसके ३३ अक्षर के ३-३ अक्षर पृथक्-२ एक-२ दैवी अनुष्टुप् का रूप धारण करके ११ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त हो जाते हैं और दूसरा विकल्प यह प्रतीत होता है कि यह याज्या रश्मि ११ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ अथवा पृथक्-२ वार आवृत होकर सभी ११ अनुष्टुप् रश्मियों के साथ संयुक्त होती है।।

इस ऋचा में 'इन्द्राग्नी' पद न होकर 'अग्न इन्द्रश्च' पद है। जिसको महर्षि ने 'आग्नेन्द्री' का रूप माना है अर्थात् दोनों को प्रथमा विभक्ति का रूप मानकर "आग्नेन्द्री" इस समस्त पद का प्रयोग किया है। उधर महर्षि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में "अग्ने" इस सम्बोधनवाची और "इन्द्रः" इस प्रथमा विभक्ति का ग्रहण किया है। हम यहाँ अपने व्याख्यान में इस ग्रन्थ के आधार पर ही 'आग्नेन्द्री' इस समस्त पद का ग्रहण करेंगे। यहाँ महर्षि लिखते हैं कि इस ऋचा का देवता 'इन्द्राग्नी' न होकर 'आग्नेन्द्री' है। ध्यातव्य है कि महर्षि दयानन्द ने इसका देवता अग्नि माना है। यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि देव पदार्थ ने इन्द्राग्नी के द्वारा असुर पदार्थ पर विजय प्राप्त नहीं की थी वा करता है, वल्कि आग्नेन्द्री द्वारा विजय प्राप्त करता है। इसका आशय यह है कि जव असुर तत्त्व का देव पदार्थ पर प्रहार होता है, तव इन्द्र और अग्नि तत्त्व दोनों ही क्षीण हो जाते हैं और फिर जिस समय असुर पदार्थ को नियन्त्रित करने के लिए विभिन्न तेजस्वी रश्मियों की उत्पत्ति होती है, तव पहले अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति होती है और उसके पश्चात् इन्द्र तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् ही वह पदार्थ अपने पूर्व रूप और सामर्थ्य को प्राप्त कर पाता है। इस कारण इस छन्द रश्मि का देवता 'आग्नेन्द्री' माना है। इसके अतिरिक्त हमारे मत में यह भी एक तथ्य प्रतीत होता है कि यह आग्नेन्द्री देवता वाली छन्द रश्मि अग्निदेवताक अनुष्टुप् छन्दस्क ११ रश्मियों के साथ संयुक्त होती है। इस कारण भी इसमें अग्नि तत्त्व की प्रधानता आवश्यक प्रतीत होती है। कदाचित् इस प्रधानता के आधार पर ही महर्षि दयानन्द ने इसका देवता अग्नि माना है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किसी दृश्य पदार्थ पर डार्क एनर्जी आदि का प्रहार होता है, तब न केवल उसके प्रबल प्रतिकर्षण बल से वह पदार्थ दूर फैल जाता है, अपितु उसकी उष्णता एवं विद्युदावेशित कणों की मात्रा भी कम हो जाती है। इसके पश्चात् जव पूर्व में अनेकत्र वर्णित तेजस्वी रश्मियों का उस बिखरे हुए पदार्थ पर प्रहार होता है, तव उस पदार्थ में सर्वप्रथम ऊष्मा और प्रकाश की मात्रा बढ़ने लगती है। उसके पश्चात् विद्युदावेशित कणों की संख्या भी बढ़ने लगती है। इससे **ऐसा संकेत मिल रहा है कि विद्युदावेशित कणों की उत्पत्ति के लिए उच्च ऊष्मा की आवश्यकता होती है। निम्न ऊष्मा में विद्युदावेश की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।।**

५. सा विराट् त्रयस्त्रिंशदक्षरा भवति, त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः, अष्टौ वसवः, एकादश रुद्रा, द्वादशाऽऽदित्याः, प्रजापतिश्च, वषट्कारश्च, तत्प्रथम उक्थमुखे देवता

अक्षरभाजः करोत्यक्षरमक्षरमेव तद्देवता अनुप्रपिबन्ति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति।। तदाहुर्यथा वाव शस्त्रमेवं याज्याऽऽग्नेयं होताऽऽज्यं शंसत्यथ कस्मादाग्नेन्द्र्या यजतीति।।

{वसवः = प्राणा वै वसवः (तै.ब्रा.३.२.३.३), प्रजा वै पशवो वसु (तै.सं.५.२.४.४), रुद्राः = वृत्रहणा पुरन्दरा (काठ.संक.६२.२), घोरो वै रुद्रः (कौ.ब्रा.१६.७), रुद्रेभ्यो रुरून् (आलभते) (मै.३.१४.६), (रुरू रौद्रः - मै.३.१४.२०), रुद्रो वै देवानां क्षोदिष्ठः (क.३७.४), (क्षोदिष्ठः = क्षुदिर् संपेशणे = कुचलना, पीसना, उत्तेजित करना - आप्टेकोष, क्षोदति गतिकर्मा - निघं.२.१४)। वषट्कारः = यद् वाचः क्रूरं तेन वषट्करोति (तै.सं.३.४.८.५), वाग् वै वषट्कारः (श.१.७.२.२१)।}

व्याख्यानम्– विराट् छन्द रश्मि में ३३ अक्षर होते हैं और ३३ ही देवता हुआ करते हैं। खण्ड २.१८ में हमने ३३ देवताओं की विस्तृत चर्चा की है। यहाँ हम अन्य प्रकार से ३३ देवों की चर्चा करते हैं। महर्षि यास्क "देव" पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं- "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः सा देवता होतारं ह्वातारम्" (नि.७.१५)। इसका आशय यह है कि जो पदार्थ दानशील अर्थात् संगमनीय, दीप्तियुक्त, प्रकाशक एवं आकर्षणादि बलों से युक्त होते हैं, वे देव पदार्थ कहलाते हैं। ये पदार्थ प्राणरूप ही होते हैं। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा- "तस्मात् प्राणा देवाः" (श.७.५.१.२१)। इधर एक अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा- "वागिति सर्वे देवाः" (जै.उ.१.२.२.२)। इस कारण स्पष्ट है कि सभी देव प्राण रूप और वाग् रूप ही होते हैं।

इन देवों में आठ देव **वसु** कहलाते हैं। पूर्व में हम पृथिवी आदि आठ वसुओं की चर्चा कर चुके हैं, परन्तु यहाँ विभिन्न छन्द रश्मियों, यथा- **गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती के अतिरिक्त अतिच्छन्द को आठ वसु कहते हैं, ऐसा हमारा मत है।** सभी छन्द रश्मियां प्राण और वाक् का ही रूप है, उस कारण ये देव कहलाती हैं। "प्रजा वै पशवो वसु" भी यही संकेत करता है और यह हम जानते ही हैं कि "पशवो वै छन्दांसि" (श.७.५.२.४२)। ये सभी छन्द रश्मियां समस्त सृष्टि के पदार्थों को बसाने वाली वा बनाने वाली हैं तथा ये रश्मियां सृष्टि के सब पदार्थों में बसी हुई हैं। इस कारण भी ये वसु कहलाती हैं।

११ प्रकार के प्राण रुद्र कहलाते हैं। हमारी दृष्टि में यहाँ रुद्र संज्ञक प्राणों का आशय इसी खण्ड में वर्णित ७ अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ (विट् संज्ञक सूक्त), जो प्रथम और अन्तिम की ३-३ आवृत्ति के साथ उत्पन्न होकर एक विराट् संज्ञक छन्द रश्मि से मिलकर अति तेजस्विनी हो जाती हैं, ही रुद्र संज्ञक देव कहलाती हैं। जैसा कि हम अवगत हैं कि इन रश्मियों के उत्पन्न होने के पश्चात् ही देव पदार्थ असुर पदार्थ को नियन्त्रित करने योग्य होता है। इससे स्पष्ट है कि उस समय पदार्थ घोर रूप धारण करके शक्तिशाली हो जाता है। उधर महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं- "क्षत्रं वा अनुष्टुप्" (ऐ.आ.१.१.३), "वृषा वै त्रिष्टुप् योषानुष्टुप्" (ऐ.आ.१.३.५)। इससे सिद्ध होता है कि विराट् संज्ञक छन्द रश्मियों से युक्त अनुष्टुप् छन्द रश्मियां क्षत्र का रूप भी होती हैं और ये रश्मियां त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की रक्षिका भी होती हैं। कदाचित् इसी आशय को पुष्ट करते हुए अन्य वेदवेत्ताओं ने कहा- "क्षत्रं वै त्रिष्टुप्" (कौ.ब्रा.७.१०), "क्षत्रं बृहती" (जै.ब्रा.२.१४२)। इस कारण यह सिद्ध होता है कि इन परिस्थितियों में ये अनुष्टुप् छन्द रश्मियां तीव्र तेज बल और व्यापकता से युक्त बृहती और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के समान व्यवहार करती हैं। उधर अन्य महर्षि कहते हैं- "त्रिष्टुब् रुद्राणां पत्नी" (गो.उ.२.६), "रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्" (कौ.ब्रा.१६.१)। इससे भी इन रश्मियों की रुद्रता सिद्ध होती है।

१२ प्रकार के देव आदित्य कहलाते हैं। हमारी दृष्टि में पूर्वोक्त १२ प्रकार की निविद्, जिन्हें हमने मास रश्मियाँ भी माना है, आदित्य कहलाती हैं। मनस् तत्त्व, प्रजापति एवं एकाक्षरा वाग् रश्मि वषट्कार कहलाती हैं। इस प्रकार ये कुल मिलाकर ३३ देव कहलाते हैं।

{उक्थम् = विडुक्थानि (तां.१८.८.६), ऐन्द्राग्नानि ह्युक्थानि (श.४.२.५.१४), उक्थमिति बह्वृचाः एष हीदं सर्वमुत्थापयति (श.१०.५.२.२०)}

अब महर्षि कहते हैं कि इन छन्द रश्मियों के विविध छन्द रश्मियों से युक्त होकर अग्नि और इन्द्र तत्त्व को समृद्ध करने के लिए तथा उनको प्राण और अन्न दोनों का स्वरूप प्रदान करने के लिए 'अक्षरभाज' रूप प्रदान किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अक्षर तत्त्व को उनका आधार बनाया जाता है। इसके दो आशय हमें प्रतीत होते हैं-
(१) एकाक्षरा वाग् रश्मिरूप तूर्ष्णींशंस रश्मियों को इन सबका आधार बनाया जाता है। इसी कारण कहा है- "अक्षरं वाङ्नाम" (निघं.१.११)।
(२) पूर्वोक्त विराट् छन्द रश्मि (भुरिगनुष्टुप्) को अन्य रश्मियों का आश्रय प्रदान किया जाता है। सम्भवतः इसी कारण कहा गया है- "विराजो वा एतद्रूपं यदक्षरम्" (तां.८.६.१४)। ये दोनों प्रकार की अक्षर रश्मियां सृष्टि प्रक्रिया की समस्त न्यूनताओं को ढक देती हैं अर्थात् पूर्ण कर देती हैं। इसी कारण कहा है- "अक्षरणैव यज्ञस्य छिद्रमपिदधाति" (तां.८.६.१३)। इनमें से प्रथम अक्षर अर्थात् एकाक्षरा वाग् रश्मियों के सहयोग से पूर्वोक्त सभी छन्द रश्मियां विराट् छन्द रश्मिरूप अक्षर का अनुगमन करते हुए उसका अवशोषण करती हैं। इस प्रकार इन अक्षररूप अपने आधार के द्वारा ही सभी ३३ देव पदार्थ तृप्त होते हैं।।

यहाँ महर्षि लिखते हैं कि जैसी शस्त्र रूप रश्मियां होती हैं, वैसी ही उसकी याज्या रूप विराड् रश्मि भी होती है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि ज्यों ही शस्त्र रूप विड् रश्मियां उत्पन्न होती हैं, त्यों ही याज्या संज्ञक विड् रश्मि भी उत्पन्न होती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब ऋषभो वैश्वामित्र ऋषि प्राण रूपी होता पूर्वोक्त विट् संज्ञक आज्य रश्मियों को उत्पन्न करता है और उनका देवता अग्नि होता है, तब उनसे संयुक्त होने वाली विराट् संज्ञक छन्द रश्मि रूप याज्या आग्नेन्द्री-देवताक क्यों होती है? इनमें परस्पर सामंजस्य कैसे होता है?।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्राण तत्त्व परस्पर संगमनीय दीप्तियुक्त, प्रकाशक और आकर्षण बल आदि से युक्त होते हैं। विभिन्न वाग् रश्मियां भी प्राण रूप होती हैं। ये रश्मियां ही समस्त सृष्टि में बसी हुई हैं अथवा समस्त सृष्टि इन्हीं में बसी हुई है और इनसे ही बनी हुई है। इस प्रकार की बसाने वाली रश्मियों की संख्या मुख्यतः ८ है, जो गायत्री आदि छन्द रश्मियों के रूप में है। जो छन्द रश्मियां भेदक बलसम्पन्न और सृष्टि में क्षोभ उत्पन्न करने वाली होती हैं, उनकी संख्या मुख्यतः ११ है। ये रश्मियां डार्क एनर्जी के साथ संघर्ष करने में विशेष भूमिका निभाती हैं। पूर्वोक्त १२ प्रकार की निवित् किंवा मास रश्मियां एवं मन तथा वाक् तत्त्व कुल मिलाकर ३३ रश्मि रूप पदार्थ इस समस्त सृष्टि का निर्माण करते हैं। वे पदार्थ इस समस्त सृष्टि में व्याप्त भी हैं। सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाओं के लिए समस्त दृश्य पदार्थ सूक्ष्म वाग् रश्मियों एवं मनस् तत्त्व पर आश्रित होता है। ये दोनों ही समस्त सृष्टि की सृजन प्रक्रियाओं को पूर्णता प्रदान करते हैं। **'ओम्' रूप वाग् रश्मि इस सृष्टि की समस्त सृजन और विध्वंस प्रक्रियाओं का मूल आधार है।** इस वाग् रश्मि का साक्षात् सम्बन्ध एक ओर अहंकार तत्त्व, मूल प्रकृति और सर्वनियन्ता चेतन तत्त्व परमात्मा तक होता है, वहीं दूसरी ओर मनस् तत्त्व से लेकर सृष्टि के विशालतम लोकों तक व्याप्त होता है।।

६. या वा आग्नेन्द्रयैन्द्राग्नी वै सा सेन्द्राग्नमेतदुक्थं ग्रहेण च तूर्ष्णींशंसेन च।। 'इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता' इत्यैन्द्राग्नमध्वर्युर्ग्रहं गृह्णाति, 'भूरग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्रः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्यः' इति होता तूर्ष्णींशंसं शंसति तद्यथैव शस्त्रमेवं याज्या।।५।।

व्याख्यानम्- जिस विराड् रश्मि रूप याज्या का देवता "आग्नेन्द्री" है, वह "इन्द्राग्नी" की भाँति भी व्यवहार करता है, क्योंकि कुछ परिस्थितियों में प्रदीप्त अग्नि इन्द्र रूप हो जाता है, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा- "एष वाऽइन्द्रो य एष (सूर्यः) तपति" (श.२.३.४.१२), "अथ यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति। उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति तर्हि हैष (अग्निः) भवतीन्द्रः" (श.२.३.२.११)। इसलिए 'आग्नेन्द्री' और 'इन्द्राग्नी' दोनों के प्रभाव में विशेष भेद नहीं होता। अन्यत्र भी ऋषियों ने कहा है-

"इन्द्राग्नी वा इदँ सर्वम्" (श.४.२.२.१४), "इन्द्राग्नी सर्वा देवताः" (काठ.३४.१)। इसके अतिरिक्त महर्षि एक अन्य हेतु देते हुए कहते हैं कि विभिन्न प्रकार के अन्न और प्राण संज्ञक पदार्थों किंवा अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों का प्रकाशन तूष्णींशंस रश्मियों एवं विभिन्न पदार्थों के ग्रहण करने वाले प्राणापानादि पदार्थों के द्वारा ही होता है। इन रश्मियों के देवता अग्नि और इन्द्र दोनों ही होते हैं। इस कारण से अग्नि एवं इन्द्र अथवा इन्द्र व अग्नि दोनों का संयुक्त रूप समान प्रभाव वाला ही होता है। उधर अगली कण्डिका में आचार्य सायण ने खण्ड २.३६ में अच्छावाक संज्ञक सूक्त ऋग्वेद ३.१२ को 'ग्रह' कहा है, विशेषकर इसकी प्रथमा ऋचा को। यह सूक्त विश्वामित्र अर्थात् वाग्रश्मियों से उत्पन्न होता है। इसमें विविध गायत्री छन्द हैं, जिनकी कुल सख्या नौ है।।

जैसा कि हम पूर्व कण्डिका के व्याख्यान में लिख चुके हैं कि निम्न छन्द रश्मि ग्रह रूप है।

इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता।। (ऋ.३.१२.१)

यह इन्द्राग्नी-देवताक एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क होने से इन्द्र और अग्नि दोनों तत्त्वों को तीक्ष्ण तेज और वलों से युक्त करती है। अन्य प्रभाव खण्ड २.३६ में देखें। इस ऋचा वा सम्पूर्ण सूक्त के प्रभाव से समस्त प्रकाशित वा अप्रकाशित पदार्थ विशेष वल प्राप्त करते हैं। यहाँ 'अध्वर्यु' पद 'अश्विनौ' अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि कहा गया है- "आश्विनौ वाऽध्वर्यु" (काठ.२८.५), उधर अन्य आर्ष मत इस प्रकार है- "वायुर्वा अध्वर्युः" (गो.पू.४.५), "वह्निरध्वर्युः" (तै.ब्रा.१.१.६.१०)। इससे स्पष्ट होता है कि इस छन्द रश्मि वा सूक्त के द्वारा पहले वायु अर्थात् प्राणापानादि पदार्थ विशेष वल प्राप्त करते हैं, उसके वाद अग्नि तत्त्व और सवसे अन्त में इन दोनों के कार्य रूप अप्रकाशित व प्रकाशित सभी प्रकार के पदार्थों को विशेष वल प्राप्त होता है। इसके साथ ही "भूरग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि..." नामक तूष्णींशंस रश्मियां प्रकाशित होती हैं। जिनके विषय में हम २.३२.१ में लिख चुके हैं। ये रश्मियां वाग् रूप होता से अर्थात् एकाक्षरा वाग् रश्मि से उत्पन्न होती हैं। इन रश्मियों से भी अग्नि और इन्द्र दोनों तत्त्व ज्योतिर्मय होते हैं। यहाँ ये तूष्णींशंस रश्मियां याज्या तथा उपर्युक्त "इन्द्राग्नी आ गतं...." आदि रश्मि शस्त्र संज्ञक हैं, ऐसा हमारा मत है। इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि यहाँ शस्त्र और याज्या संज्ञक रश्मियां दोनों समान प्रभाव वाली होने से अनुकूल और समन्वित रहती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में विद्युत् और ऊष्मा दोनों का अति निकट सम्बन्ध है। डार्क एनर्जी के साथ संघर्ष में इन दोनों का ही सम्मिलित योगदान रहता है। कभी ऊष्माप्रधान पदार्थ डार्क एनर्जी से संघर्ष करने में अग्रणी होता है, तो कहीं विद्युदावेश प्रधान पदार्थ अग्रणी होता है। इन दोनों ही का इतना निकट सम्बन्ध होता है कि इन्हें कभी भी पृथक् करना असम्भव जैसा होता है। **विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के फोटोन्स जहाँ प्रकाश और ऊष्मा का रूप होते हैं, वहीं वे विद्युत् का भी रूप होते हैं।** वर्तमान विज्ञान वर्चुअल फोटोन्स को वर्चुअल इलेक्ट्रॉन और पॉजिट्रॉन का संयुक्त रूप मानता ही है, इससे हमें कुछ सत्यता प्रतीत होती है।।

॥ इति १०.५ समाप्तः ॥

ॐ अथ १०.६ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. होतृजपं जपति रेतस्तत्सिञ्चति।।
उपांशु जपत्युपांश्विव वै रेतसः सिक्तिः।।
पुराऽऽहावाज्जपति यद्वै किंचोर्ध्वमाहावाच्छस्त्रस्यैव तत्।।

{जपः = ब्रह्म वै जपः (कौ.ब्रा.३.७)। रेतः = त्रिवृद्धिरेतः (तां.८.७.१४), रेतः सोमः (काठ.३७.५; श.३.३.२.१), वागु हि रेतः (श.१.५.२.७), एतद् रेतः यदाज्यम् (तै.ब्रा.१.१.६.४), प्राणो हि रेतसां विकर्त्ता (श.१३.३.८.१)। उपांशुः = अनिरुक्तं वा ऽउपांशुः (श.१.३.५.१०), यज्ञमुखं वा ऽउपांशु (श.५.२.४.१७), उपगता अंशवो यत्र स उपांशुर्जपः (म.द.य.भा.१८.१६), (अंशवः = अꣳशुर्वै नाम ग्रहः स प्रजापतिः - श.४.१.१.२), (पशवोऽꣳशवः - काठ.२६.२), (प्राणा वा अꣳशवः - तै.सं.६.४.४.४), मनो ह वाऽअꣳशुः (श.११.५.६.२), व्याप्तिमान् (तु.म.द.य.भा.१८.१६), किरणः (म.द.ऋ.भा.५.४३.४)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकरण को ही कुछ प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब उपर्युक्त वाग् रूप होता किंवा अन्यत्र कहीं भी सक्रिय होता रूप पदार्थ अपने ब्रह्मत्व का विस्तार करता है और इसके लिए वह मन, सूत्रात्मा वायु, प्राणापान किंवा विविध तूष्णींशंस रश्मियों आदि के साथ संगत होकर अपने बल आदि का विस्तार करता है, उस समय वह पदार्थ आज्य रूप एकाक्षरा दैवी रश्मियों किंवा प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों वा मरुद् रश्मियों का ही सिंचन विभिन्न पदार्थों के ऊपर करता है। ऐसा करके वह होता रूप पदार्थ सिंचित पदार्थों में बल और तेज आदि का बीजवपन करके उनको सक्रियता प्रदान करता है। उनका वह बल और तेज सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण नामक त्रिगुणों से युक्त होता है। सतोगुण के कारण प्रकाशशीलता, रजोगुण के कारण क्रियाशीलता और तमोगुण के कारण स्थितिशीलता की उत्पत्ति सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में हुआ करती है।।

यहाँ महर्षि प्रारम्भिक और सूक्ष्म स्तर पर इन गुणों के विस्तार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह प्रक्रिया समूचे पदार्थ में अव्यक्त भाव से होती है। यह अति सूक्ष्म स्पन्दनों के रूप में अति सूक्ष्म आकर्षण, धारण आदि बलों के साथ संयोग आदि गुणों का उदय होते हुए उत्पन्न होती है। इस प्रक्रिया में स्पन्दन होने की प्रक्रिया इस प्रकार है-

जब कोई होता नामक पूर्वोक्त पदार्थ अन्य पदार्थों में अपना तेज आदि सिञ्चित करता है, उस समय पृथक्-२ परिस्थितियों में एवं भिन्न-२ स्तरों पर मनस् तत्त्व, एकाक्षरा वाग् रश्मियां, प्राणापानादि पदार्थ अथवा मरुद् रश्मियां अपनी सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा विभिन्न पदार्थों के सूक्ष्मतम अवयवों को व्याप्त करके उन्हें स्पन्दित करती हैं और उनके स्पन्दन से ही इन पदार्थों का सूक्ष्मांश विभिन्न बलों व तेज का बीज रूप बनकर अव्यक्त रूप से उन पदार्थों में प्रवाहित हो जाता है। जिससे वे पदार्थ भी अपेक्षाकृत तेज और बल से अधिक सम्पन्न होकर सक्रिय हो उठते हैं। इस प्रकार की जप प्रकिया का काल बतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि वह क्रिया खण्ड २.३३ में वर्णित आहाव संज्ञक रश्मियों की उत्पत्ति के ठीक पूर्व होती है। इस विषय में महर्षि आश्वलायन अपने श्रौतसूत्र (५.९.१) में लिखते हैं-

"जपित्वाऽनभिहिंकृत्य शोंसावोमित्युच्चैराहूय तूष्णींशंसं शंसेदुपांशु सप्रणवमसंतन्वन्"।

{हिंकारः = (हिङ्कृत्य) तदेतद् यज्ञस्याग्रे गेयं यद्धिङ्कारः (गो.उ.३.६), रश्मय एव हिङ्कारः (जै.उ.१.११.१.६), अहोरात्राणि हिङ्कारः (ष.३.१), हिङ्कारो वै गायत्रस्य प्रतिहारः (तां.७.१.४), (प्रतिहारः = द्वारपाल, दरवाजा - आप्टेकोष)}

इसका आशय यह है कि उपर्युक्त जप प्रक्रिया अर्थात् मनस् तत्त्व प्राणापानादि के प्रवहण की प्रक्रिया **'शोंसावोम्'** नामक आहाव रश्मि, जिसके विषय में खण्ड २.३३ में विशेष लिख चुके हैं, के उत्पन्न होने से पूर्व ही होती है और इन दोनों प्रक्रियाओं के मध्य इनको लक्ष्य करके हिंकार रश्मि उत्पन्न नहीं होती। यहाँ हमें हिंकार रश्मि के विषय में विशेष परिज्ञान होना चाहिए। **'हिम्'** यह एक प्रकार की दैवी गायत्री छन्द रश्मि है, जो विभिन्न गायत्री छन्द रश्मियों का विशेष द्वार रूप है। हमारे मत में एकाक्षरा छन्द रश्मियों में कदाचित् यह द्वार रूप न हो, परन्तु अन्य गायत्री छन्द रश्मियों तथा गायत्री के समान प्रभाव दिखाने वाली अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का प्रवेश द्वार यह अवश्य है। इस रश्मि का प्रभाव अहोरात्र अर्थात् प्राणापान के समान होता है अथवा यह प्राणापान के साथ मिलकर संयुक्त प्रभाव दर्शाती है। इसके विषय में पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है। इसके प्रभाव से गायत्री एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मियां अधिक तेजस्विनी होती हैं, जिससे वे परस्पर संयोग करके सृजन कर्मों को अच्छी प्रकार सम्पादित करती हैं। इसी कारण **'हिम्'** रश्मि को वृषा रूप कहते हुए लिखा है- **"वृषा हिङ्कारः"** (गो.पू.३.२३)। इस प्रकरण में आहाव संज्ञक रश्मि दैवी अनुष्टुप् रूप है, जिसके साथ **'हिम्'** रश्मि संयुक्त हो सकती थी, परन्तु इसके निषेध के लिए ही **महर्षि आश्वलायन** ने **"अनभिहिङ्कृत्य"** लिखा है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकरण और प्रक्रिया में हिंकार रश्मि की कोई आवश्यकता नहीं होती, परन्तु इस निषेध से यह भी प्रमाणित होता है कि अन्यत्र इस रश्मि का योग प्रायः हुआ करता है। इसके आगे **महर्षि ऐतरेय महीदास** लिखते हैं कि आहाव छन्द रश्मि के पश्चात् जो भी रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, वे शस्त्र रूप ही होती हैं। इसका आशय यह है कि वे रश्मियां चाहे निवित् संज्ञक हों अथवा विट् सूक्त संज्ञक, सभी वाग् एवं प्रजा रूप होने से तथा छेदन सामर्थ्ययुक्त होने से शस्त्र रूप कहलाती है। इसलिए कहा है- **"प्रजा शस्त्रम् (श.५.२.२.२०), वाग् हि शस्त्रम् (ऐ.३.४४), (शस्त्रं) तद् यदेनच्छ्वति तस्माच्छस्त्रं नाम"** (श.४.३.२.३)।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब कोई भी छन्द आदि रश्मियां दूसरी रश्मि आदि पदार्थों पर आघात करके अथवा उनके साथ संयुक्त होकर उन्हें सक्रिय करती हैं, उस समय वे मन, सूत्रात्मा वायु, प्राणापान एवं पूर्वोक्त अनेक प्रकार की डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करने वाली रश्मियों के साथ संगत होती हैं। इसके पश्चात् इन संगत हुए अति सूक्ष्म पदार्थों से और भी सूक्ष्म रश्मियां संगमनीय पदार्थों के साथ संयुक्त रहने वाली ऐसी ही सूक्ष्म रश्मियों के साथ मिलकर उन पदार्थों को स्पन्दित करने लगती हैं। इन स्पन्दनों से एक-दूसरे का सूक्ष्म तेज परस्पर एक-दूसरे में संचरित होकर विशेषकर संगमनीय परन्तु कुछ दुर्बल पदार्थों में संचरित होकर तेजस्विता और सक्रियता बढ़ने लगती है। इस प्रकार विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं का बीजारोपण होता है। इस प्रकार की क्रिया की उत्पत्ति खण्ड २.३३ में वर्णित दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मि के उत्पन्न होने के ठीक पूर्व होती है।।

२. पराञ्चं चतुष्पद्यासीनमभ्याह्वयते, तस्मात् पराञ्चो भूत्वा चतुष्पादो रेतः सिञ्चन्ति।।
सम्यङ्द्विपाद् भवति, तस्मात् सम्यञ्चो भूत्वा द्विपादो रेतः सिञ्चन्ति।।

{चतुष्पात् = चतुष्पादः पशवः (गो.उ.१.४), चतुष्पादाः पशवः (तां.३.८.३), चतुष्टया वै पशवोऽथो चतुष्पादः (कौ.ब्रा.१६.३)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त निविद् रश्मियों में से अन्तिम तीन निविद् रश्मियां **"आ देवो देवान् वक्षत्"**, **"यज्ञदग्निर्देवो देवान्"** एवं **"सो अध्वरा करति जातवेदाः"** तथा विट्सूक्त संज्ञक जो सभी चतुष्पदा हैं, ये कुल मिलाकर १० चतुष्पदा छन्द रश्मियां हैं। ये सभी चतुष्पदा रश्मियां आहाव संज्ञक **'शोंसावोम्'** छन्द

रश्मि से पराङ्मुख होकर गति करती हैं। पुनरपि आहाव संज्ञक रश्मि उन्हें सब ओर से आकर्षित करती है और इस प्रकार पराङ्मुख होकर चलने वाली इन चतुष्पदा रश्मियों में अपना तेज और बल उपर्युक्त वर्णितानुसार संचरित करती है। यहाँ 'चतुष्पत्' पद में द्वितीया अर्थ में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त प्रमाणों में पशुओं को चतुष्पात् कहा है। यहाँ 'पशु' शब्द का अर्थ लोक विख्यात गाय आदि प्राणी नहीं है। हमारी इस दृढ़ता का आधार यह है कि इसका अर्थ लोक विख्यात गो आदि प्राणी करके न तो इस कण्डिका का आशय स्पष्ट हो सकता है और न ही अन्य आर्ष वचन- "सोमष्चतुरक्षरया चतुष्पदः पशूनुदजयत्" (मै.१.११.१०) को ही समझा जा सकता है।।

उपर्युक्त परिस्थिति के विपरीत पूर्वोक्त १२ निविद् रश्मियों में से दो-२ पादों वाली प्रथम ६ निविद् रश्मियां आहाव संज्ञक रश्मि के साथ संगत होकर चला करती हैं। इस कारण साथ-२ चलते हुए आहाव संज्ञक रश्मि उन द्विपात् निविद् संज्ञक रश्मियों में अपना तेज व बल सहजता से संचरित करती हैं। इस संचरण की प्रक्रिया भी उपर्युक्तानुसार ही समझनी चाहिए। इस बल व तेज के संचरण का फल भी पूर्वोक्तानुसार ही समझना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में जब दो पाद वाली छन्द रश्मियों के बीच आकर्षण वा प्रतिकर्षण बल कार्य करता है अथवा वे दो पाद वाली छन्द रश्मियां किसी अन्य सूक्ष्म रश्मि के द्वारा बल और तेज प्राप्त करती हैं, तब उनका पारस्परिक संयोग निकटता से तथा आमने-सामने से होता है। उधर चार पाद वाली रश्मियों को कोई सूक्ष्म और तेजस्वनी रश्मि पीछे की दिशा से किंवा दूर स्थित होकर भी अपना बल और तेज प्रदान करती है। यही दोनों प्रक्रियाओं में भेद है।।

३. पिता मातरिश्वेत्याह, प्राणो वै पिता, प्राणो मातरिश्वा, प्राणो रेतो रेतस्तत्सिञ्चति।।
अच्छिद्रा पदाऽधा इ(दि)ति रेतो वा अच्छिद्रमतो ह्यच्छिद्रः संभवति।।
अच्छिद्रोक्था कवयः शंसन्निति ये वा अनूचानास्ते कवयस्त इदमच्छिद्रं रेतः प्रजनयन्नित्येव तदाह।।

{मातरिश्वा = मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याशु अनितीति वा (नि.७.२६)। कवयः = असौ वाऽदित्यः कविः (श.६.७.२.४), ये वा अनूचानास्ते कवयः (ऐ.२.२), एते वै कवयो यदृषयः (श.१.४.२.८), कविः क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा (नि.१२.१३), मेधाविनाम (निघं.३.१५), (कु शब्दे = ध्वनि करना, भिन-भिनाना एवं गुंजन करना - आप्टेकोष; चलना और उत्पन्न करना - पं.भगवदत्त रिसर्च स्कॉलर निरुक्त भाष्य)। अनूचानः = अनु+वच्+कान (आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- महर्षि आश्वलायन का इस सम्बन्ध में वचन है- "पिता मातरिश्वा छिद्रापदाधादच्छिद्रोक्था कवयः शंसन्" (आश्व.श्रौ.५.६.१)। हमें यह वचन कुछ छन्द रश्मियों का सम्मिलित रूप प्रतीत होता है। पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनन्तर "पिता मातरिश्वा" यह दैवी पंक्ति छन्द रश्मि अथवा निचृत् दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त जप संज्ञक प्रक्रिया से होती है। यहाँ 'पिता' एवं 'मातरिश्वा' दोनों ही प्राण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पिता उन ऋतु संज्ञक प्राणों का नाम है, जो 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'सुवः' के एक-२ अक्षर रूप होते हैं। जैसा कि हम खण्ड २.२६ में लिख चुके हैं। यहाँ 'मातरिश्वा' पद हमारी दृष्टि में उन सभी छन्द रश्मियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो विशाल अन्तरिक्ष में सर्वत्र तीव्र वेग से गमन करती रहती हैं। ये छन्द रश्मियां पितर अर्थात् इन ऋतु संज्ञक रश्मियों के लिए योषा रूप होती हैं, जिनमें वे ऋतु संज्ञक एकाक्षरा वाग् रश्मियां अपने तेज और बल का सेचन वा संचरण करती हैं। यह तेज और बल भी उन सूक्ष्म रश्मियों का सार रूप प्राण तत्त्व ही है। हमारे मत में यह सार रूप प्राण तत्त्व अहंकार वा मनस् तत्त्व रूप में होता है। इसी सूक्ष्म पदार्थ का विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं में

संचरण हुआ करता है। यहाँ **'पिता'** शब्द का अर्थ प्राणापान आदि विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों का ग्रहण करना अधिक उचित प्रतीत होता है।।

तदनन्तर **"अच्छिद्रा पदाऽधात्"** इस दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। उपर्युक्त संचरित प्राण एवं सर्वत्र ही जो प्राण तत्त्व विद्यमान होते हैं, वे अच्छिद्र होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इसको मानवीय शक्तियों के द्वारा किसी भी प्रकार विखण्डित नहीं किया जा सकता। जो सूक्ष्म वल और तेज रूप मन वा अहंकार आदि तत्त्व होते हैं, वे भी अखण्ड और अच्छेद्य होते हैं तथा ये सभी प्राण रश्मियां इसी रूप में ही उत्पन्न होती हैं। यद्यपि सृष्टि में इनका छेदन-भेदन संयोजन और वियोजन होता ही रहता है, क्योंकि विना ऐसा हुए सृष्टि प्रक्रिया कदापि संभव नहीं है। इस प्रकार **ये पदार्थ सृष्टि नियन्ता चेतन परमात्म तत्त्व के द्वारा विभक्त वा संयुक्त होने योग्य है, परन्तु किसी भी मानव तकनीक के लिए सभी प्राण तत्त्व एकरस और निरन्तर व्यापक होते हैं। इनकी सूक्ष्म रश्मियों को पृथक्-२ पहचानना कदापि सम्भव नहीं है।** इस छन्द रश्मि के प्रभाव से ऐसे निरन्तर व्यापक और अच्छेद्य प्राण तत्त्व अपने सापेक्ष विभिन्न प्राण तत्त्वों के द्वारा इस अन्तरिक्ष में धारण किये जाते हैं। इस प्रकरण में जिन प्राणों की चर्चा विशेषकर की गई है, यहाँ उन्हीं का धारण समझना चाहिए।।

तदुपरान्त **"अच्छिद्रोक्था कवयः शंसन्"** इस याजुषी बृहती किंवा निचृद् याजुषी पंक्ति छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यहाँ हम **"अनूचान"** पद पर अपने ढंग से विचार करते हैं। हमने पूर्व में अनेकत्र **"वाग् वै भर्गः"** (श.१२.३.४.१०) के आलोक में **"वच्"** धातु का अर्थ तेजस्वी वा तीक्ष्ण होना किया है। यदि कुछ वैयाकरण शतपथ के इस वचन में **"वाक्"** पद को **"वच परिभाषणे"** धातु से निष्पन्न न मानकर **"वटि प्रकाशने"** आदि किसी अन्य धातु से मानें, तव हमारी दृष्टि में **'वच् परिभाषणे'** से निष्पन्न पदों की व्युत्पत्ति भी **'वटि प्रकाशने'** से मानी जा सकती है। तव **'अनूचान'** का अर्थ होगा- **'किसी के पश्चात् अथवा साथ-२ प्रकाशित वा सक्रिय होने वाला अथवा साथ-२ बलयुक्त होने वा बलयुक्त करने वाला'**। यहाँ **'कवि'** शब्द उस अखण्डनीय पदार्थ का नाम है, जो गति और शब्द करते हुए ही उत्पन्न होता है और यही अक्षर पदार्थ अन्य प्राण रश्मि आदि पदार्थों का अनुसंगी होकर उन्हें तेजस्वी वनाता रहता है। उसकी गति मधुमक्खियों की भांति भिनभिनाने जैसी हुआ करती है। इसका तात्पर्य यह है कि इसकी गति दूर तक नहीं होती। यह ध्यातव्य है कि हम इसकी गति को किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष देख वा अनुभव नहीं कर सकते। वैसे यह पृथक्-२ परमाणु रूप में सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त होता है। हमारी दृष्टि में यह पदार्थ एकाक्षरा रूप सूक्ष्मतम वाग् रश्मियों एवं प्राणापानादि प्राथमिक प्राण के रूप में ही होता है। यह स्वयं भी अच्छिद्र अर्थात् एकरस और व्यापक होता है और यह जिन तेजस्वी प्राण रश्मियों को उत्पन्न करता है, वे भी इसी प्रकार एकरस और व्यापक होती हैं। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से ऐसी ये सभी सूक्ष्मतम और अपेक्षाकृत स्थूल छन्द रश्मियों, जिनकी कि हम पूर्व प्रकरणों में चर्चा करते रहे हैं, भी एकरस व्यापक होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रकाशित और विस्तृत होती रहती हैं, साथ ही उनकी अपनी-अपनी परोक्ष मर्यादाएं भी निर्मित होती रहती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार के छन्द रश्मि आदि प्राणों में एकाक्षरा वाग् रश्मि रूपी प्राण रश्मियां अपने सार रूप तेज का संचरण करके उन्हें सतत सक्रिय और सबल बनाए रखती हैं। यह सार रूप तेज मनस् तत्त्व रूप में होता है। इसका संचरण हर क्रिया और प्रतिक्रिया में अवश्य होता है।** विभिन्न प्रकार के प्राण तत्त्व किसी भी मानवीय तकनीक की दृष्टि में सदैव एकरस, अखण्ड और व्यापक प्रभाव वाले होते हैं। इनको किसी भी प्रकार से detect नहीं किया जा सकता और न इनको पृथक्-२ पहचाना जा सकता है। एकाक्षरा वाग् रश्मियां वाक् तत्त्व का सबसे सूक्ष्म रूप होती हैं और ये ही रश्मियां ध्वनि उत्पत्ति का मूल बीज रूप होती हैं। **इनकी गति मक्खियों के भिनभिनाने के समान होने के कारण इनके प्रत्येक अवयव की गति एक सरल रेखीय दिशा में सुदूरगामी नहीं होती,** किन्तु ये असंख्य मात्रा में होने के कारण सर्वत्र व्याप्त होती हैं। ध्यातव्य है कि इनकी गति और मार्गों को भी कभी detect नहीं किया जा सकता। इन रश्मियों एवं प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों के व्यवहार में अधिक भेद नहीं होता। ये दोनों ही एकरस व्याप्त होकर विभिन्न रश्मियों को विस्तृत, प्रकाशित एवं सक्रिय करते रहते हैं।।

४. सोमो विश्वविन्नीथा निनेषद् बृहस्पतिरुक्थामदानि शंसिषदिति, ब्रह्म वै बृहस्पतिः, क्षत्रं सोम, स्तुतशस्त्राणि नीथानि चोक्थामदानि च दैवेन चैवैतद्ब्रह्मणा प्रसूतो दैवेन च क्षत्रेणोक्थानि शंसति।।
एतौ ह वा अस्य सर्वस्य प्रसवस्येशाते यदिदं किंच।।
तद्यदेताभ्यामप्रसूतः करोत्यकृतं तदकृतमकरिति वै निन्दन्ति।।
कृतमस्य कृतं भवति नास्याकृतं कृतं भवति य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- इस विषय में महर्षि आश्वलायन ने कहा है- "सोमो विश्वविन्नीथा निनेषद्बृहस्पतिरुक्थामदानि शंसिषद्वागायुर्विश्वायुर्विश्वमायुः क इदं शंसिष्यति स इदं शंसिष्यति" (आश्व. श्री.५.६.१)। पूर्व प्रसंग में ही इस स्वराट् त्रिष्टुप् किंवा विराड् जगती छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, जिसके पूर्वार्द्ध पर यहाँ विचार किया गया है। इसके प्रभाव से सर्वत्र विद्यमान सोम तत्त्व 'नीथा' अर्थात् वहन करने वा आकर्षित करने योग्य उक्थ संज्ञक पदार्थों को आकर्षित करता है। हमारी दृष्टि में यहाँ सोम तत्त्व सूक्ष्म एकाक्षरा वाग् रश्मियों को ही कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता ६.१.६.७ में कहा गया है- "पशवो वै सोमः"। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है- "रसः सोमः" (श.७.३.१.३)। इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि ऐसे रसरूप छन्द वा मरुद रश्मियां, जो सभी देव पदार्थों की उत्पत्ति का कारण बनती हैं, सोम का सूक्ष्मतम भाग कहलाती हैं। इसलिए कहा है- "सर्वदेवत्यो वै सोमः" (काठ.२७.१), "सोमं यजति रेत एव तद् दधाति" (तै.सं.२.६.१०.३)। "रेतः सोमः" (कौ.ब्रा.१३.७)। ये सूक्ष्म रश्मियां ही उक्थ संज्ञक रश्मियों को आकर्षित करके उन्हें अपने बल और तेज से सिंचित करती हैं। **यहाँ उक्थ संज्ञक रश्मियां विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक छन्द रश्मियों एवं अन्य प्राणादि पदार्थों का ही नाम है।** इससे सिद्ध हुआ कि **सूक्ष्म वाक् ही स्थूल वाक् के बल और तेज का मूल कारण होती है।** यहाँ 'बृहस्पति' शब्द ब्रह्म का वाचक और 'ब्रह्म' शब्द मनस् का वाचक है। इसी कारण कौषीतकि ब्राह्मण १७.७ में कहा है- "मन एव ब्रह्म"। अन्य भी अनेक आर्ष वचन इसकी पुष्टि करते हैं- "मनो ब्रह्म (तै.आ.१०.६४.१), मनो वै सम्राट् परम ब्रह्म (श.१४.६.१०.१५)"।

ध्यातव्य है कि अनेकत्र वाक् तत्त्व को भी ब्रह्म कहा है, जैसे- "वाग् वै ब्रह्म" (ऐ.६.३)। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ मनस् तत्व रूप सूक्ष्मतम प्राण तत्त्व को 'बृहस्पति' कहा है, वहीं इससे उत्पन्न खण्ड २.३३ में वर्णित आहाव संज्ञक "शोंसावोम्" छन्द रश्मि को भी 'बृहस्पति' वा 'ब्रह्म' कहा जाता है। यहाँ सोम को 'क्षत्र' कहा है। यह 'क्षत्र' पूर्वोक्त निविद् रश्मियों का ही रूप है। जिनके विषय में विशेष जानकारी के लिए खण्ड २.३३ और २.३४ देखें। ये निविद् रश्मियाँ वाग् रश्मियों का ही स्थूल रूप हैं। हमने ऊपर एकाक्षरा वाग् रश्मियों को सोम का सूक्ष्मतम रूप माना है। उन्हीं वाग् रश्मियों की प्रेरणा से प्राणापान के द्वारा इन निविद् रश्मियों की उत्पत्ति होने के कारण इन रश्मियों को भी सोम कहा जाता है। यहाँ महर्षि कहते हैं कि 'बृहस्पति' मद अर्थात पूर्वोक्त तृप्तिकारी स्तोत्र एवं शस्त्र संज्ञक रश्मियों को प्रकाशित वा सक्रिय करता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'शोंसावोम्' नामक आहाव रश्मि ही पूर्वोक्त स्तोत्र एवं शस्त्र संज्ञक रश्मियों को सक्रिय करती है। इन दोनों प्रकार की रश्मियों के विशेष ज्ञान के लिए पूर्व खण्ड द्रष्टव्य है। इन रश्मियों का विशेषण 'मद' इस कारण दिया है, क्योंकि ये रश्मियां विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को तृप्त करती हैं। इस "सोमो विश्वविन्नीथा...." नामक छन्द रश्मि के प्रभाव से मन रूपी देव पदार्थ से उत्पन्न आहाव संज्ञक ब्रह्म रश्मि, वाक् तत्त्व एवं प्राणापानादि के संयुक्त मेल से उत्पन्न निविद् रश्मियों से विभिन्न प्रकार के अन्न और प्राण संज्ञक पदार्थ सक्रिय होते हैं। यह छन्द रश्मि त्रिष्टुप् छन्द का अर्ध भाग होने के कारण इस प्रक्रिया को तेजस्विता और सबलता मिलती है। यहाँ ब्रह्म और क्षत्र संज्ञक दोनों पदार्थों का "दैव" विशेषण दिया है। इससे यह संकेत मिलता है कि ये प्रक्रियाएं किंवा इस छन्द रश्मि के द्वारा प्रभावित प्रक्रियाएं केवल प्रकाशित पदार्थ में ही सम्पन्न होती हैं, असुर पदार्थ में नहीं।।

उपर्युक्त दोनों सोम और बृहस्पति अर्थात् क्षत्र एवं ब्रह्म नामक पदार्थ इस सृष्टि में हो रही सभी क्रियाओं के स्वामी अर्थात् नियन्त्रक होते हैं। इस प्रकार ये दोनों पदार्थ सभी क्रियाओं के न केवल उत्पत्तिकर्ता होते हैं, बल्कि नियन्ता भी होते हैं।।

सृष्टि में जो भी पदार्थ मन और वाक् तत्त्व के मिथुन से प्रेरित व नियन्त्रित नहीं होते, वे किसी भी प्रकार की ऐसी संयोगादि क्रियाएं करने में सक्षम नहीं होते, जो सृष्टि प्रक्रिया को विस्तार देकर लोक-लोकान्तरों में परिवर्तित कर सकें। वे आकर्षण और धारण इन दो वलों को प्राप्त न करके केवल प्रतिकर्षण वल से युक्त होते हैं। इस कारण वे सर्वत्र ही देव पदार्थ के द्वारा तिरस्कृत किये जाते रहते हैं।।

जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है अर्थात् जब सृष्टि के विभिन्न पदार्थ मन और वाक् तत्त्व की प्रेरणा को धारण करके कोई कार्य करते हैं, तो वे कार्य सृजन प्रक्रिया को प्रसूत वा धारण करने वाले होते हैं। मन और वाक् तत्त्व से प्रेरित और नियन्त्रित क्रियाएं कभी अकृत वा असफल नहीं होतीं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **वाक् और मनस् तत्त्व** के संयोग से ही सृष्टि के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, **उनमें से कुछ पदार्थ इन्हीं दोनों से प्रेरित और नियन्त्रित भी रहते हैं। ऐसे पदार्थ ही दृश्य पदार्थ का रूप धारण करके विभिन्न लोक-लोकान्तरों, गैलेक्सियों आदि का निर्माण करते हैं। दूसरी ओर जो पदार्थ मन और वाक् से उत्पन्न अवश्य होते हैं, परन्तु वे उनसे प्रेरित और नियन्त्रित नहीं रहते हैं। वे पदार्थ डार्क एनर्जी व डार्क मैटर का रूप धारण कर लेते हैं।** इस प्रकार के पदार्थों में आकर्षण और धारण बल अति न्यून और प्रतिकर्षण बल अतिप्रबल रहता है, जबकि दृश्य पदार्थ में इससे विपरीत स्थिति होती है।।

५. वागायुर्विश्वायुर्विश्वमायुरित्याह प्राणो वा आयुः प्राणो रेतो वाग्योनिर्योनिं तदुपसंधाय रेतः सिञ्चति।। क इदं शंसिष्यति स इदं शंसिष्यतीत्याह प्रजापतिर्वै कः प्रजापतिः प्रजनयिष्यतीत्येव तदाह।।६।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त "वागायुर्...." इस याजुषी पंक्ति छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसे भी उपर्युक्त आश्वलायन श्रौतसूत्र के उद्धरण से उद्धृत किया है। इस पर व्याख्यान करते हुए महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि प्राण ही आयु है। 'आयु' शब्द का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द अपने ऋग्वेद भाष्य १.५३.१० में लिखते हैं- "य एति प्राप्नोति" अर्थात् जो गमन करते हुए सबमें व्याप्त होता है, वह प्राण कहलाता है। यह प्राण तत्त्व ही प्रत्येक क्रिया को गति और बल प्रदान करने वाला है। यह प्राण ही रेत अर्थात् बल रूप है, जो वाग्रूप योषा में प्रक्षिप्त किया जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य इस विषय में कहते हैं- "योषा हि वाक्" (श.१.४.४.४) इधर 'रेतः' शब्द का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "रीयते स्रवतीति रेतः" (उ.को.४.२०३)। इधर महर्षि याज्ञवल्क्य का कहना है- "रेत आज्यम्" (श.१.३.१.१८)। इससे सिद्ध होता है कि वाग्रूप योनि में स्रवित वा प्रक्षिप्त होने वाला पदार्थ ही सूक्ष्म प्राण कहलाता है और यह संचरण भी नये पदार्थों की उत्पत्ति के लिए ही होता है। इसी कारण कहा है- "रेतो वै प्रजातिः" (श.१४.६.२.६)। **यहाँ वाक् तत्त्व को योनि कहने का आशय यह है कि सभी पदार्थ इसी में उत्पन्न होते हैं और इसी में से संचरित होकर अर्थात् इसी के विभिन्न रूपों को प्राप्त करके नवीन तत्त्वों को जन्म देते हैं। वे तत्त्व इसी वाक् तत्त्व को अपना मार्ग बनाकर गमनागमन करते हैं।** इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न प्राण तत्त्व वाक् तत्व के अन्दर अपने बलों का सिंचन करके विभिन्न पदार्थों के निर्माण के लिए गर्भ का स्थापन करते हैं।।

तदुपरान्त "क इदं शंसिष्यति...." इस साम्नी उष्णिक् अथवा स्वराट् याजुषी जगती छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसको भी आश्वलायन के उपर्युक्त सूत्र से ही उद्धृत किया गया है। यहाँ महर्षि कहते हैं कि प्रजापति अर्थात् मनस् तत्व एवं वाक् तत्त्व ही "कः" है। अन्यत्र भी इन्हीं को "कः" कहा गया है, यथा- "प्रजापतिर्वै कः" (तै.सं.१.६.८.५; मै.१.१०.१०; कौ.ब्रा.५.४; तां.७.८.३) जैसा कि हम जानते हैं कि ये दोनों तत्त्व भी प्राण रूप ही होते हैं। इन दोनों के मिथुन से जो पदार्थ उत्पन्न

होता है, वह भी संयोज्यता के गुण से सम्पन्न होने के कारण अन्य पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में वाक् तत्त्व और प्राण तत्त्व दो प्रकार के पदार्थ हैं। हमारी दृष्टि में ये दोनों प्रकार के पदार्थ सापेक्ष होते हैं। दोनों की अपनी अलग-२ गतियाँ होती हैं। यहाँ हम इसको एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं-

"एक तालाब में स्थिर पानी भरा है। उसमें कोई लहर नहीं है, परन्तु उस पानी में भी अपनी एक गति है। उसके सभी अणुओं की भी अपनी-२ गतियाँ हैं। इन गतियों को **'ब्राउनियन'** गति कहते हैं। जब किसी बाहरी कारण से उस पानी में लहरें उत्पन्न की जाती हैं, तब उन लहरों की गति पानी के अन्दर विद्यमान गतियों से भिन्न होती है। ये लहरें भी जल से निर्मित होती हैं, परन्तु लहरों के अन्दर जो जल होता है उसकी गति भी लहरों की गति से भिन्न होती है। जल लहरों को ऊर्जा प्रदान करता है और वे लहरें जितनी ऊर्जा प्राप्त करती हैं, उतना ही बड़ा प्रभाव अन्य किसी पदार्थ पर डालती हैं। उस प्रभाव से विनाशकारी सुनामी आदि भी आ सकती है और विद्युत् आदि का भी निर्माण किया जा सकता है। बिना लहर वाले पानी से ऐसे प्रभाव दिखाई देना सम्भव नहीं।" इस उदाहरण में **जल पुरुष रूप है, लहर स्त्री रूप है और सुनामी आदि प्रभाव संतान रूप है।** इस प्रकार ही **जो पदार्थ अहंकार तत्त्व एवं मनस् तत्त्व अथवा प्राणापानादि प्राणों का सम्मिश्रण वायु रूप में विद्यमान होता है, वह प्राण रूप कहा जाता है और यह पुरुष रूप होता है। जब तक इसमें विक्षोभ उत्पन्न नहीं होता, तब तक इससे किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जब इसमें परमात्म चेतना द्वारा विक्षोभ उत्पन्न किया जाता है, उस समय इसमें वाक् तत्व अर्थात् छन्द रूप लहरें उत्पन्न होने लगती हैं। ये लहरें भी प्राण तत्त्व के रूप में ही उसी प्रकार होती हैं, जिस प्रकार जल की लहरें जल रूप ही होती हैं। जिस प्रकार जल की लहरें जल से ऊर्जा ग्रहण करती हैं, उसी प्रकार छन्द (वाक्) रूपी लहरें मन, प्राण आदि के द्वारा बल को ग्रहण करती हैं। यहाँ मन, प्राण आदि पदार्थ पुरुष रूप है और वायु रूप पदार्थ स्त्री रूप है। फिर इनसे होने वाली संयोग-वियोग आदि की क्षमता का उत्पन्न होना संतान रूप है।** इन दोनों के मेल के बिना सृष्टि की कोई भी प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकती। **कभी-२ प्राण तत्त्व किसी के लिए वाक् बन जाता है और वाक् तत्त्व किसी के लिए प्राण तत्त्व का रूप धारण कर लेता है। जैसे पानी की किसी लहर में एक छोटी लहर उत्पन्न की जा सकती है, उस समय उस छोटी लहर के सापेक्ष बड़ी लहर तालाब का कार्य करती है, उसी प्रकार इस प्रकार इस सृष्टि में बड़ी छन्द रश्मियां छोटी छन्द रश्मियों के लिए प्राण तत्त्व के समान व्यवहार करती हैं।** इस प्रकार इनका परस्पर सम्बन्ध सृष्टि में विभिन्न सृजन कर्मों को सम्पादित करता है। वे मन वा प्राण तत्त्व सभी सूक्ष्म वा स्थूल छन्द रश्मियों के लिए प्राण वा पुरुष रूप ही होते हैं। उनमें ही ये छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर दोनों के योग से अन्य अनेक छन्द रश्मियाँ तथा विभिन्न प्रकार के कण और तरंगें उत्पन्न हुआ करती हैं।।

चित्र १०.२ एक बड़ी लहर में से छोटी लहर की उत्पत्ति

❧ इति १०.६ समाप्तः ❧

ॐ अथ १०.७ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. आहूय तूष्णींशंसं शंसति, रेतस्तत्सिक्तं विकरोति सिक्तिर्वा अग्रेऽथ विकृतिः।। उपांशु तूष्णींशंसं शंसत्युपांश्विव वै रेतसः सिक्तिः।। तिर इव तूष्णींशंसं शंसति, तिर इव वै रेतांसि विक्रियन्ते।।

व्याख्यानम्- यहाँ पूर्वोक्त तूष्णींशंस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए पुनः लिखते हैं कि आहाव रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् ये तूष्णींशंस रश्मियां उत्पन्न हुआ करती हैं। हम इस बात का संकेत खण्ड २.३३ में भी कर चुके हैं। पूर्व खण्ड में जो होतृजप की चर्चा की गई है और उस क्रिया को बीजवपन के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसी विषय में यहाँ कहते हैं कि तेज और बलों का वह सेचन, जो तूष्णींशंस रश्मियों की उत्पत्ति के पूर्व ही होता है, वह तूष्णींशंस रश्मियों के द्वारा विकार को प्राप्त होता है। इसका आशय यह है कि वे तूष्णींशंस रश्मियां, जिन रश्मि आदि पदार्थों से क्रिया करती हैं, वे उनसे अनेक प्रकार के परिवर्तन करके नवीन तत्त्वों का निर्माण करती हैं।।

ये तूष्णींशंस रश्मियां किस प्रकार उत्पन्न होकर क्रिया करती हैं, यह बतलाते हुए महर्षि लिखते हैं कि यह क्रिया भी होतृजप क्रिया के समान उपांशु रूप से ही होती है। इस उपांशु प्रक्रिया को पूर्व खण्ड में होतृजप क्रिया के प्रकरण के समान समझें।।

{तिरः = अन्तर्धाने (म.द.ऋ.भा.१.४६.६), तिरः सत इति प्राप्तस्य, तिरस्तीर्णं भवति सतः संसृतं भवति(नि.३.२०)} ये तूष्णींशंस रश्मियां "तिरः" अर्थात् इस प्रकार क्रिया करती हैं कि उनका किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता अर्थात् वे गुप्त रूप से क्रियाएं करती हैं। इसके साथ ही उनकी क्रियाएं अत्यन्त विस्तृत होती हुई सब पदार्थों में व्याप्त हो जाती हैं। यहाँ सब पदार्थों से तात्पर्य उन पदार्थों से है, जिनके साथ उन रश्मियों की क्रिया होने वाली होती है। पूर्वोक्त होतृजप नामक बीजवपन की विकृतियाँ अर्थात् उनसे हुए विभिन्न परिवर्तन एवं तूष्णींशंस रश्मियों से उत्पन्न हुए परिवर्तन भी इसी प्रकार गुप्त रूप से तथा अति व्याप्ति लिए हुए होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म रश्मियां अपनी अपेक्षा स्थूल रश्मियों से संगत होकर उन्हें अपना बल वा तेज प्रदान करती हैं। तब उनकी यह क्रिया सूक्ष्म स्पन्दनों के रूप में विभिन्न प्रकार के बलों के उदय के साथ हुआ करती है। यह क्रिया अत्यन्त गुप्त व अव्यक्त भाव से उन रश्मियों के अन्दर विभिन्न प्रकार के परिवर्तन करती है। इस विषय में विशेष जानकारी के लिए पूर्व खण्ड की प्रथम तीन कण्डिकाएं देखें।।

२. षट्पदं तूष्णींशंसं शंसति, षड्विधो वै पुरुषः षळङ्ग आत्मानमेव तत्षड्विधं षळङ्गं विकरोति।। तूष्णींशंसं शस्त्वा पुरोरुचं शंसति, रेतस्तद्विकृतं प्रजनयति विकृतिर्वा अग्रेऽथ जातिः।। उच्चैः पुरोरुचं शंसत्युच्चैरेवैनं तत्प्रजनयति।।

{पुरुषः = पुरुषो वै यज्ञः (जै.उ.४.२.२.१; कौ.ब्रा.१७.७), स यत् पूर्वो ऽस्मात् सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुषः (श.१४.४.२.२)। पुरोरुक् = पुरोरुग्वै वाक् (कौ.ब्रा.

१४.५), वीर्यं वै पुरोरुक् (श.४.४.२.११), अथ वै पुरोरुगात्मैव (कौ.ब्रा.१४.४), अथ वै पुरोरुक् प्राण एव (कौ.ब्रा.१४.४), प्राक् प्रसृता दीप्तिः (म.द.य.भा.२०.३६)। उच्चैः = उच्चितं भवति (नि.४.२४), उच्चीयते वर्ध्यतेऽसौ उच्चैः (उ.को.५.१२)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त तूष्णींशंस रश्मियां ६ प्रकार की होने से उस प्रक्रिया के भी ६ चरण होते हैं। ६ रश्मियां इस प्रकार हैं- 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'सुवः' आदि के ६ अक्षर सूक्ष्मतम रश्मियां हैं। "भूरग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः" आदि तीन रश्मियां, जो चक्षु रूप होकर दो-२ भागों में विभक्त होती हुई उत्पन्न होती हैं, तब वे ६ प्रकार की रश्मियां हो जाती हैं। इनकी विशेष जानकारी के लिए २.३२.१ देखें। इस प्रकार ये ६-६ रश्मियां दो चरणों में क्रमशः उत्पन्न और सक्रिय होती हैं। हमारे मत में इन रश्मियों के पृथक्-२ उपचरण भी हुआ करते हैं। इस प्रकार प्राथमिक तूष्णींशंस रश्मियों के ६ चरण और द्वितीयक रश्मियों के भी ६ चरण होते हैं। यहाँ प्राथमिक चरणों की ही चर्चा की गई है।

प्राथमिक रश्मियां सर्वप्रथम असुर पदार्थ के सूक्ष्मतम रूप, जो सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, को नष्ट किया करती हैं। इसके कारण सूक्ष्मतम पदार्थों में संयोग-वियोग का व्यवहार लगभग प्राथमिक स्तर पर प्रारम्भ हो जाता है। इन ६ रश्मियों की भी उत्पत्ति "ओम्" से प्रारम्भ होकर क्रमशः होती है। इस प्रकार इस स्तर की सृजन प्रकिया ६ प्रकार की रश्मियों से सम्पन्न होने के कारण ६ प्रकार की होती है। इन ६ प्रकार की क्रियाओं को ही यहाँ पुरुष कहा गया है, क्योंकि यह पुरुष रूप सृजन कर्म ही सर्वप्रथम पाप्मा अर्थात् असुर पदार्थ को नष्ट करता है और यह कर्म ही स्वयं को इन रश्मियों के द्वारा ६ अंगों वाला बनाता है। यहाँ आचार्य सायण ने तैत्तिरीय संहिता ५.६.६.१-२ को उद्धृत करते हुए लिखा है- "षोढा विहितो वै पुरुष आत्मा च शिरश्चत्वार्यङ्गानि"। हमारी दृष्टि में पूर्वोक्त सूक्ष्मतम तूष्णींशंस रश्मियों में से "ओम्" सूक्ष्मतम रश्मि आत्मा के समान है, क्योंकि यह रश्मि सभी रश्मियों में सर्वदा व्याप्त रहती है। इसी कारण तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा- "ओंकारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः" (गो.पू.१.२६)। 'भूः' सर्ग यज्ञ रूपी पुरुष के शिर के समान है। शरीर में आत्मा के पश्चात् शिर का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वही सम्पूर्ण शरीर की गतिविधियों का संचालक व प्रेरक है। इसलिए इस 'भूः' रूप शिर के लिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा- "भूरिति वै प्रजापतिः" (श.२.१.४.१३)। शिर रूप यह रश्मि ही अन्य चार रश्मियों को गति प्रदान करती है। इसी कारण कहा है- "भूरिति वै प्राणः" (तै.आ.७.५.३)। यह रश्मि अन्य चार रश्मियों से पहले उत्पन्न होती है। इसी कारण कहा है- "प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत्" (जै.ब्रा.१.१०१)। "भुवः" अपान रूप है, इसलिए कहा है- "भुव इत्यपानः" (तै.आ.७.५.३)। यह 'भुवः' रश्मि रूप अपान दो अक्षरों से युक्त होने से दो हाथों के समान है। जिस प्रकार हाथ ग्रहण-प्रतिग्रहण का कार्य करते हैं, उसी प्रकार के स्वरूप का संकेत करते हुए कहा गया है- "अपान आहवनीयः" (जै.ब्रा.१.६१)। उधर तैत्तिरीय संहिता २.५.२.४ में कहा है- "प्राणो वै दक्षोऽपानः क्रतुः" अर्थात् शिर रूपी प्राण चतुरता अर्थात् विवेक रूप है और हाथों रूपी अपान कर्म रूप है। जिस प्रकार व्यक्ति के दोनों हाथ परस्पर जुड़े होते हैं, उसी प्रकार 'भुवः' रूप रश्मि के दोनों अक्षर रूप हाथ परस्पर मिलकर ही कार्य करते हैं। "सुवः" नामक रश्मि व्यान रूप है, इसलिए कहा है- "सुवरि (ति) व्यानः" (तै.आ.७.५.३)। व्यान के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् १.३.३ में कहा है- "अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः"। इसका अर्थ है कि व्यान रश्मियाँ ही प्राण और अपान दोनों को ही सम्यग्रूपेण धारण करती हैं। यह भी दो अक्षरों से युक्त होने से यज्ञ रूप पुरुष के दो पैरों के समान है। जिस प्रकार शरीर में पैर ही सबको सतत गमन कराते हैं, उसी प्रकार ये व्यान रूप रश्मियां भी सर्वदा सम्पूर्ण रूप से क्रीड़ा करती रहती हैं। जिस प्रकार शरीर में दोनों पैर परस्पर जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार "सुव" में दोनों अक्षर सदैव परस्पर जुड़े रहते हैं। इस प्रकार यह सृष्टियज्ञ ६ अंगों वाला होता है। यह यज्ञ स्वयं ही इन रश्मियों को छः चरणों वाला बनाता है। उन छः चरणों के द्वारा ही वह छः प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न वा प्रकट करता है अर्थात् वह पदार्थ में छः प्रकार के विकार उत्पन्न करता है। यहाँ आचार्य सायण ने षडंग के रूप में "भुरग्निर्ज्योतिः. ..." आदि द्वितीय चरण की ही चर्चा की है, प्रथम चरण की नहीं। सायण ने पूर्वोद्धृत आश्वलायन श्रौतसूत्र ५.६.११ में "षट्पदः" को देखकर ही यह कल्पना की है। यहाँ महर्षि आश्वलायन ने 'पुरुष' पद का प्रयोग नहीं किया है। हमारे पूर्व उद्धृत पुरुष के स्वरूप में जो सर्वप्रथम सूक्ष्मतम असुर तत्व के विनाश की चर्चा है, वह स्थिति इस द्वितीय चरण में उत्पन्न नहीं होगी। हाँ, द्वितीयक प्रक्रिया में यह

अवश्य सम्भव होगा। जहाँ सबसे पूर्व असुर तत्त्व दूर करने का आशय यह ग्रहण किया जाएगा कि किसी भी संयोग आदि प्रक्रिया के लिए सर्वप्रथम सदैव ही यह आवश्यक होता है कि असुर तत्त्व की वाधा को दूर किया जाए। इस अर्थ को ग्रहण करके "भूरग्निर्ज्योतिः...." आदि ६ रश्मियों को ६ अंगों के रूप में ग्रहण किया जाएगा। यहाँ "भूरग्निर्ज्योतिः" इस सर्ग यज्ञ पुरुष के आत्मा के समान है। इससे सिद्ध होता है कि यह रश्मि अन्य पांचों रश्मियों के अन्दर सतत गमन करती रहती है और "ज्योतिरग्निः" यह द्वितीय रश्मि अन्य चारों रश्मियों के शिर के समान होकर उनको नियन्त्रित रखती है। इसमें अग्नि और ज्योति पद होने से अग्रणी ज्योति के रूप में शिर के समान कार्य करेगी और उधर पूर्व रश्मि में इन पदों के साथ "भूः" भी सम्मिलित है। इसका तात्पर्य यह है कि शिर रूपी रश्मि की भी प्राण रूप यह रश्मि है। इसलिए इसको आत्मा ही कहा जा सकता है। अगली दो रश्मियों में इन्द्र और ज्योति दोनों का सम्मिलित रूप है। 'इन्द्र' पद वलपति के रूप में सर्वविदित है। कोई भी प्राणी वल के सभी कार्य हाथों से ही करता है। इस कारण ये दोनों रश्मियां हस्त रूप हैं। इन दोनों के बीच में 'भुवः' पद भी विद्यमान है, जिसके हस्त रूप प्रभाव को हम पूर्व में ही लिख चुके हैं। इसके पश्चात् "सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः...." इत्यादि दो रश्मियां हैं। यहाँ 'सूर्य' पद का अर्थ है "यः सरति गच्छति सः"। शरीर में पैर ही गमन करने के साधन होते हैं। उधर इन रश्मियों के बीच में विद्यमान "स्वः" पद का संवंध पैरों से कैसे होता है? यह हम दर्शा ही चुके हैं। इस कारण ये दोनों रश्मियां सर्ग यज्ञ के पैरों के समान हैं। ध्यातव्य है कि इन सभी में 'ज्योतिः' पद विद्यमान है। इसका तात्पर्य यह है कि ये सभी रश्मियां विशेष दीप्तियुक्त होती हैं।।

इन रश्मियों के उत्पन्न होने के पश्चात् पुरोरुक् रश्मियों का उदय होता है। आचार्य सायण ने निविद् रश्मियों को ही पुरोरुक् ऋचाएं मानकर उनके पाठ का विधान किया है। हम यहाँ अपनी आधिदैविक शैली में कहना चाहेंगे कि ये रश्मियां वाक् और प्राण की मिथुन रूप तेजस्विनी और वलवती ऐसी रश्मियां हैं, जो पूर्वोक्त विट्सूक्त संज्ञक रश्मियों की उत्पत्ति के पूर्व ही सम्पूर्ण पदार्थ में फैलकर उसे दीप्तिमय कर देती हैं। वे रश्मियां पूर्वोक्त ६ प्रकार के चरणों में हो रही प्रक्रियाओं को प्रभावित करके उनमें विकार उत्पन्न करती हैं अर्थात् पदार्थों का स्वरूप परिवर्तित होने लगता है और इस परिवर्तन के पश्चात् अनेक प्रकार के नये पदार्थ जन्म लेते हैं।।

ये निविद् रश्मियां उत्कृष्ट रूप से पूर्व विद्यमान दीप्तियों को चुन-चुनकर एकत्र करके अन्य अधिक तीव्र दीप्तियों से युक्त पदार्थों को जन्म देती हैं। यह क्रिया भी तीव्रता से सम्पादित होती हुई, कदाचित् उच्च ध्वनियों को भी उत्पन्न करती है और इसके साथ ही वे रश्मियां स्वयं भी उच्च वेग से वर्धमान और दीप्तिमान् होती जाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- डार्क एनर्जी के प्रारम्भिक प्रहारों को निष्प्रभावी करने के लिए सबसे प्रथम चरण में एकाक्षरा वाग् रश्मियों का उदय होता है, जो क्रमशः ६ उप चरणों में ६ प्रकार की क्रियाओं को उत्पन्न करती हैं। इस क्रिया में क्रियाओं का क्रम भंग नहीं हो सकता। इन ६ क्रियाओं से ६ प्रकार के विकारों का भी जन्म होता है। ये सभी विकार अति सूक्ष्म पदार्थ के रूप हैं, जिनकी वर्तमान विज्ञान के किसी भी मूल कण से तुलना नहीं हो सकती। इन ६ रश्मियों में से प्रथम "ओम्" रश्मि अन्य ५ रश्मियों के साथ व्याप्त होती है। इसी के कारण अन्य रश्मियां, यहाँ तक कि सम्पूर्ण सृष्टि भी सूक्ष्मतम स्तर पर प्रेरित और सक्रिय होती है। अगली "भूः" रश्मि आगामी ४ रश्मियों, जो २-२ रश्मियों का संयुक्त रूप होती है, को नियन्त्रित करने वाली होती है। "भुवः" रश्मि दो रश्मियों का संयुक्त रूप होकर धारण और आकर्षण वल रूप होती है। "सुवः" रश्मि भी दो सूक्ष्म रश्मियों का सम्मिलित रूप होकर गमनागमन के गुण से विशेष युक्त होती है। इसके अगले चरण में इनकी अपेक्षा ६ स्थूल रश्मियां इन्हीं गुणों से युक्त होती हैं। इनके विषय में विस्तार से जानने के लिए व्याख्यान अवश्य पढ़ें। ये ६ प्रकार की रश्मियाँ भी पदार्थ के द्वितीय चरण के ६ प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करती हैं। इन पदार्थों में भी वर्तमान विज्ञान का कोई मूल कण होने की सम्भावना हमें नहीं दिखाई देती है। इसके पश्चात् १२ प्रकार की ऐसी रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जो ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण पदार्थ में फैलकर उसे दीप्तिमय तथा अधिक सक्रिय वना देती हैं। **उस समय ब्रह्माण्ड में विभिन्न पदार्थों का तीव्र संघर्षण होने से विविध ध्वनियाँ उत्पन्न होकर वर्तमान विज्ञान के मूल कणों के उत्पन्न होने की प्रक्रिया को उत्पन्न करती हैं।।**

३. द्वादशपदां पुरोरुचं शंसति, द्वादश वै मासाः संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, सोऽस्य सर्वस्य प्रजनयिता, स योऽस्य सर्वस्य प्रजनयिता, स एवैनं तत्प्रजया पशुभिः प्रजनयति प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।
जातवेदस्यां पुरोरुचं शंसति जातवेदोन्यङ्गाम्।।

{जातवेदः = यज्जातः पशूनविन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् (मै.१.८.२)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त पुरोरुक् रश्मियां १२ चरणों में उत्पन्न होकर १२ ही होती हैं। इन रश्मियों के विषय में हम निविद् रश्मियों के व्याख्यान में लिख चुके हैं। यह भी हम बतला चुके हैं कि वे पुरोरुक् रश्मियां ही निविद् रश्मियां हैं। हमने उन रश्मियों के प्रकरण में अपना यह मत भी व्यक्त किया था कि ये निविद् रश्मियां ही मास रश्मियां हैं। हमारी इस बात की पुष्टि इस कण्डिका से भी होती है। ये १२ मास रश्मियां मिलकर ही सृष्टियज्ञ संचालन के लिए आवश्यक बल प्राप्त करती हैं। यहाँ सृष्टियज्ञ को ही संवत्सर कहा है। इसकी पुष्टि में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "संवत्सरो यज्ञः" (श.११.२.७.१)। इन रश्मियों के द्वारा ही आदान-प्रदान अर्थात् आकर्षण-विकर्षण की क्रियाएं होती हैं। इसलिए कहा है- "संवत्सरो वै होता" (कौ.ब्रा.२९.८)। यह संवत्सर अर्थात संयोग-वियोग आदि की क्रियाएं प्रजापति कहलाती हैं, क्योंकि ये क्रियाएं ही इस सृष्टि के सभी पदार्थों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। उधर प्रजापति रूप मन और वाक् तत्त्व भी संवत्सर कहलाते हैं, जैसा कि अन्यत्र भी कहा है- "वाक् संवत्सरः" (तां.१०.१२.७)। मन को प्रजापति के रूप में हम जानते ही हैं। इस कारण मन भी संवत्सर कहलाता है। वस्तुतः निविद् रश्मियां तो वाग्रूप ही होती हैं और ये मन और वाक् सभी क्रियाओं के जनक होते हैं। इनका मिथुन इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार की मरुद् व छन्द रश्मियों तथा प्रजा अर्थात् विट् संज्ञक सूक्त रश्मियों एवं अन्य पदार्थों को उत्पन्न करके किंवा उनको उत्पन्न करने के साथ-२ सृष्टि के विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार जब ये निविद् आदि रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, उस समय यह सृष्टियज्ञ विट् संज्ञक रश्मियों सहित उपर्युक्त अनेक रश्मियों के साथ बढ़ने लगता है।। +।।

उन निविद् रश्मियों में अन्तिम रश्मि "सो अध्वरा करति जातवेदा" होती है। जैसा कि हम जानते हैं कि ये निविद् रश्मियां ही पुरोरुक् रश्मियां कहलाती हैं। इस अन्तिम रश्मि में "जातवेदा" पद न्यंग के समान कार्य करता है। {अंग = क्षिप्रनाम अङ्गितमेवाञ्चितं भवति (नि.५.१७), अंगानि वै विश्वानि धामानि (श.३.३.४.१४), वैश्वदैव्यानि ह्यङ्गानि (ऐ.३.२)} इसका तात्पर्य यह है कि जातवेदा पद रूप रश्मि सभी स्थानों एवं सभी प्रकाशित पदार्थों में अतिशीघ्रता से सभी निविद् रश्मियों को फैलने में सहयोग करती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- मन और सूक्ष्मतम वाग् रश्मियां पूर्वोक्त सन्धानकारिणी मास रश्मियों, जो अति दीप्तिमयी भी होती हैं, का अन्य रश्मियों से संयोग करके विभिन्न प्रकार की मरुद् एवं छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। इसके उपरान्त विभिन्न प्रकार के कण व तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं। अन्तिम निविद् रश्मि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को अतिशीघ्रता से फैलाने में सहयोग करती है।।

४. तदाहुर्यत् तृतीयसवनमेव जातवेदस आयतनम्, अथ कस्मात् प्रातःसवने जातवेदस्यां पुरोरुचं शंसतीति।।
प्राणो वै जातवेदाः, स हि जातानां वेद, यावतां वै स जातानां वेद ते भवन्ति येषामु न वेद किमु ते स्युर्यो वा आज्य आत्मसंस्कृतिं वेद तत्सुविदितम्।।७।।

{तृतीयसवनम् = मद्वद्धि तृतीयसवनम् (कौ.ब्रा.१६.१)। प्रातःसवनम् = पीतवद्वै प्रातःसवनम् (ऐ.४.४)}

व्याख्यानम्- यदि कोई विद्वान् यह प्रश्न करे कि जातवेद पदयुक्त छन्द रश्मियां तृतीय सवन का विस्तार होती हैं अर्थात् तृतीय सवन के अन्दर किंवा तृतीय सवन के रूप में उत्पन्न वा विद्यमान होती हैं (यह हम पूर्व से ही अवगत हैं कि तृतीय सवन सृष्टि उत्पत्ति के अन्तिम चरण को कहते हैं), तव उपर्युक्त प्रकरण में प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि के प्राथमिक चरण में क्यों उत्पन्न होती है? ध्यातव्य है कि सृष्टि का तृतीय चरण मद्वत् अर्थात् प्रवल आकर्षणादि वलों से युक्त एवं अति विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होता है। उस समय जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। इधर प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि का प्राथमिक चरण लगभग पीतवत् होता है अर्थात् उस समय की अवस्था अति क्षोभयुक्त नहीं होती, वल्कि कुछ-२ संतृप्त जैसी मानी जा सकती है। यह अवस्था गायत्री छन्द प्रधान होती है। तव इस अवस्था में वह जातवेदयुक्त रश्मियां कैसे उत्पन्न होती हैं? इसका उत्तर देते हुए महर्षि अग्रिम कण्डिका में कहते हैं।।

प्राण ही जातवेद है, जो तृतीयसवन अर्थात् जगती प्रधान अवस्था में जातवेदयुक्त रश्मियों की उत्पत्ति की वात कही गई है, वहाँ 'जातवेद' पद का अर्थ विशेषतः अग्नि तत्त्व है, जिसका अवशोषण व उत्सर्जन उस अवस्था में अधिक होता है। परन्तु यहाँ जातवेद प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये प्राण तत्त्व समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों के अन्दर सदैव विद्यमान रहते हैं। जिन-२ उत्पन्न पदार्थों में वे प्राण तत्त्व विद्यमान होते हैं, इस सृष्टि में उन्हीं की सत्ता रहती है। वस्तुतः इन प्राण तत्वों एवं मरुद् वा छन्द रश्मि रूप वाक् तत्त्व के संयोग से ही किसी भी पदार्थ का निर्माण होता है। जव तक वागु रश्मियों के साथ प्राण तत्त्व का मेल नहीं होगा किंवा उनकी विद्यमानता नहीं होगी, तव तक किन्हीं भी प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति का होना संभव नहीं है। इन दोनों के मेल से इस सृष्टि का पदार्थ आज्य रूप होता है अर्थात् उसमें संदीप्त तेज और प्रक्षेपण आकर्षण धर्मों की उत्पत्ति होती है। पूर्वोक्त आज्य संज्ञक रश्मियां भी उसी समय उत्पन्न होती हैं। उस अवस्था में आत्म-संस्कृति अर्थात् सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में निरन्तर व्याप्त एवं वहुत वुद्धिपूर्वक विभिन्न पदार्थों में परिवर्तित हुई अवस्था को, जो तत्ववेता जान लेता है, वही महाज्ञानी होता है अर्थात् उस अवस्था को जानने वाला महाप्राज्ञ व्यक्ति ही सृष्टि के गम्भीर रहस्यों को समझ सकता है, दूसरा नहीं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सभी पदार्थों के अन्दर प्राण व वाक् रश्मियों का संयुक्त रूप विद्यमान होता है। विना इनके मेल के किसी भी तरंग वा कण का निर्माण नहीं हो सकता। इन दोनों के मेल से विभिन्न प्रकार के बल, गति, प्रकाश व ऊष्मा आदि उत्पन्न होते हैं। **यह सम्पूर्ण संरचना अति बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से हुई है। जो वैज्ञानिक, योगी इस सृष्टि की परिवर्तित होती हुई विभिन्न अवस्थाओं तथा उनके क्रम व कारण-कार्य के सिद्धान्त को भली प्रकार से जानता है, वही महाज्ञानी होता है अर्थात् वही सृष्टि के रहस्यों का ज्ञाता हो सकता है, अन्य नहीं।।**

इति १०.७ समाप्तः

अथ १०.८ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. प्र वो देवायाग्नय इति शंसति, प्राणो वै प्र, प्राणं हीमानि सर्वाणि भूतान्यनु प्रयन्ति, प्राणमेव तत्संभावयति प्राणं संस्कुरुते।।

व्याख्यानम्- हम पूर्व में विट् सूक्त संज्ञक (ऋ.३.१३) रश्मियों की चर्चा अनेकत्र कर चुके हैं तथा इनके स्वरूप व प्रभाव की चर्चा खण्ड २.३३ में विस्तार से कर चुके हैं। यहाँ पुनः उन्हीं रश्मियों की चर्चा प्रकारान्तर से करते हुए कहते हैं- जब उस सूक्त की प्रथम छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। वह रश्मि है- "प्र वो देवायाग्नय....."। इसमें सर्वप्रथम 'प्र' पद है। इस विषय में महर्षि कहते हैं कि प्राण ही 'प्र' है। हमारे मत में 'प्र' यह एकाक्षरा वाग्रश्मि है और यह वाग्रश्मि प्राण नामक प्राण रश्मि रूप ही है। प्राण व वाक् की विशेष परिस्थितियों में समानता अनेक शास्त्रों ने बतलायी है। यथा- "प्राणो वै वाक्" (मै.३.२.८), "वाक् प्राणः" (मै.४.६.४), "वाग्वा अक्षरम्। तस्यै प्राण एवांशुः" (जै.ब्रा.१.११५), "वाचस्सत्यं यत् प्राणः" (जै.ब्रा.२.४२५)। इस प्रकार वाक् तथा प्राण नामक प्राण तत्त्व की समानता अनेकत्र सिद्ध होती है। इस प्राण नामक प्राथमिक प्राण के विषय में महर्षि पुनः आगे लिखते हैं कि यह प्राण तत्त्व ही सभी उत्पन्न पदार्थों के साथ संगत होकर उनमें प्रकृष्टरूपेण गति प्रदान करता है तथा इस हेतु वह उन पदार्थों के अन्दर अच्छी प्रकार व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार इस 'प्र' पद से युक्त इस रश्मि के प्रभाव से प्राण नामक प्राण अच्छी प्रकार प्रकट होता है और इससे ही प्राण सम्यक् प्रकार से क्रियाशील होकर नाना कर्मों को सम्पादित करता है। यह वाग्रश्मि उस प्राण तत्त्व को अच्छी प्रकार धारण करती है।

२.२६.१ में ग्रन्थकार ने प्राण नामक प्राण तत्त्व को षडक्षर माना है और वे अक्षर हैं- 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'सुवः'। इधर केवल 'प्र' अक्षर को प्राण नामक प्राण तत्त्व कहा गया है। सामान्य दृष्टि से देखने पर ग्रन्थकार का यह अन्तर्विरोध प्रतीत होता है। हमारे मत में यह अन्तर्विरोध नहीं बल्कि **छन्द विज्ञान का एक अत्यन्त गूढ रहस्य है**। यदि अक्षरों के आधार पर ही छन्दों का स्वरूप व शक्तियों की तुलना की जाए, तो प्रत्येक समान अक्षर वाले छन्द प्राणों का समान प्रभाव ही दृष्टिगोचर होवे, परन्तु ऐसा होता नहीं है। इस सृष्टि में किंवा वेद संहिताओं में अनेक गायत्री-त्रिष्टुप् आदि ऋचाएं विद्यमान हैं, जो समान अक्षर वाली होते हुए भी अपना पृथक्-२ स्वरूप व प्रभाव दर्शाती हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तब समान अक्षरों वाली अनेक छन्द रश्मियों के स्थान पर एक छन्द रश्मि के बार-२ आवृत्त होने से सृष्टि रचना हो जाती और वेद संहिताओं में भी भिन्न-२ छन्द वाली मात्र एक-२ ऋचा ही विद्यमान होती, परन्तु ऐसा है नहीं। इससे सिद्ध है कि सृष्टि प्रक्रियाओं में न केवल अक्षरों की संख्या के भेद से स्वरूप व प्रभाव भेद होता है अपितु अक्षरों के स्वरूप के कारण भी यह भेद होता है। उदाहरण के लिए "ओम्" एकाक्षरा रश्मि इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान अन्य किसी भी एकाक्षरा रश्मि की अपेक्षा सूक्ष्मतम और सर्वव्यापक है। इसके पश्चात् 'भूः', 'भुवः', 'सुवः' सूक्ष्मतर एवं व्यापकतर रश्मियां हैं। इन्हें विभिन्न देवों की पत्नियाँ अर्थात् रक्षिका शक्तियाँ कहा गया है। ऐसा प्रभाव 'ओम्' के अतिरिक्त अन्य किसी भी एकाक्षरा रश्मि में विद्यमान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अक्षर साम्य होने के उपरान्त भी भिन्न-२ छन्द रश्मियों का प्रभाव व स्वरूप भिन्न-२ होता है। इसी प्रकार २.२६.१ में जो ६ अक्षर का संयुक्त रूप प्राण नामक प्राण तत्त्व को कहा गया है, वही नामक प्राण तत्त्व 'प्र' नामक एकाक्षरा छन्द रश्मि का भी रूप होता है और दोनों का प्रभाव समान ही होता है। हमारे मत में 'ओम्' अक्षर रश्मि 'प्र' रश्मि अथवा किसी भी रश्मि के साथ अवश्य ही संयुक्त रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जिन छन्द रश्मियों में 'प्र' पद रूप सूक्ष्म अवयव रूप वाक् रश्मि विद्यमान होती है, वह छन्द रश्मि प्राण नामक सूक्ष्म प्राण को तीव्रता से प्रकट करके धारण करती है, इससे प्राण तत्त्व

सब पदार्थों के साथ प्रकृष्टता से गति करते हुए व्याप्त हो जाता है। इससे ही प्राण तत्त्व सब पदार्थों के द्वारा सम्यक् प्रकार से धारण किया जाता व विशेषरूपेण सक्रिय किया जाता है।।

२. 'दीदिवांसमपूर्व्यम्' इति शंसति मनो वै दीदाय, मनसो हि न किंचन पूर्वमस्ति, मन एव तत्संभावयति मनः संस्कुरुते।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त छन्द रश्मि के उपरान्त

दीदिवांसमपूर्व्यं वस्वीभिरस्य धीतिभिः।
ऋक्वाणो अग्निमिन्धते होतारं विश्पतिं विशाम्।। (ऋ.३.१३.५)

की उत्पत्ति होती है। इसके प्रभावादि के विषय में २.३३.१ विशेष द्रष्टव्य है। यद्यपि यह ऋचा सूक्त की पांचवीं ऋचा है परन्तु इसकी उत्पत्ति द्वितीय के रूप में अर्थात् उत्पत्ति क्रम में यह द्वितीय ऋचा है। इस छन्द रश्मि का अन्य विशेष प्रभाव यहाँ बतलाते हैं कि इस ऋचा में जो 'दीदिवांसम्' व 'अपूर्व्यम्' पद हैं, वे मनस्तत्त्व के लिए प्रयुक्त हैं। {दीदयतिर्ज्वलतिकर्मा (निघं.१.१६)} इससे सिद्ध है कि इस सृष्टि में मनस्तत्त्व ही सर्वप्रथम प्रकाशित होने वाला सूक्ष्मतम पदार्थ है। इससे पूर्व सम्पूर्ण पदार्थ अर्थात् अहंकार आदि अन्धकारयुक्त ही होते हैं। वैसे इस ग्रन्थ में अहंकार, महत् तत्त्व एवं मनस्तत्त्व में प्रायः समानता समझनी चाहिए। इन सभी को ही इस ग्रन्थ में 'प्रजापति' नाम से सम्बोधित किया गया है। यद्यपि 'मनः' पद का भी अनेकत्र प्रयोग है किन्तु अहंकार अथवा महत् तत्त्व का प्रयोग नहीं है। हाँ, मनस्तत्त्व की दीप्ति मानव नेत्रों वा किसी तकनीक द्वारा देखने योग्य नहीं होती। यहाँ "मनसो हि न किंचन पूर्वमस्ति" का तात्पर्य यही है कि मन से पूर्व कोई भी पदार्थ न तो दीप्तियुक्त होता है और न ही विशेष सक्रिय व गतिशील होता है। इस छन्द रश्मि से मनस्तत्त्व अधिक प्रभावी हो उठता है तथा वह सम्यक् प्रकार से क्रियाशील भी हो उठता है। इस विषय में महर्षि तित्तिर एवं महर्षि आश्वलायन का भी कथन है-
"मनसा वाऽग्रे संकल्पयत्यथ वाचा व्याहरति" (तै.सं.२.२.११.५; ५.१.३.३),
"अनुब्राह्मणं वाऽऽनुपूर्व्यम्" (आश्व.श्रौ.५.६.१३) ये प्रमाण सायणभाष्य से उद्धृत हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि की उत्पत्ति गाढ़ अन्धकारयुक्त अवस्था से प्रारम्भ होती है। उसके उपरान्त सर्वप्रथम जब सूक्ष्मतम दीप्ति उत्पन्न होती है, वह मनस्तत्त्व के रूप में होती है। इससे पूर्व कहीं कोई दीप्ति उत्पन्न वा विद्यमान नहीं होती। इसके साथ ही सृष्टि का सर्वप्रथम विशेष गतिशील व क्रियाशील तत्त्व भी मनस्तत्त्व ही होता है। अहंकार तत्त्व में विशेष गति व क्रिया नहीं होती अर्थात् बहुत क्षीण होती है। इतना अवश्य है कि मनस्तत्त्व की दीप्ति को किसी भी भौतिक तकनीक से देखना असम्भव है।।

३. 'स नः शर्माणि वीतये' इति शंसति, वाग् वै शर्म, तस्माद् वाचाऽनुवदन्तमाह शर्मवदास्मा आयंसीति, वाचमेव तत्संभावयति वाचं संस्कुरुते।।

{शर्म = गृहनाम (निघं.३.४), शृणातीति शर्म (उ.को.४.१४६)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त

स नः शर्माणि वीतयेऽग्निर्यच्छतु शन्तमा।
यतो नः प्रुष्णवद्वसु दिवि क्षितिभ्यो अप्स्वा।। (ऋ.३.१३.४)

की उत्पत्ति होती है। यह ऋचा संहिता में इस सूक्त की चौथी ऋचा है, परन्तु उत्पत्ति क्रम में यह तृतीया ऋचा है। इसका विशेष प्रभाव २.३३.१ में देखें। यहाँ पुनः कुछ अन्य प्रभाव की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इस ऋचा में जो 'शर्माणि' पद विद्यमान है, वह वाक् तत्त्व के लिए है। यह वाक् तत्त्व ही 'शर्म' है, इसका तात्पर्य है कि वाक् तत्त्व ही अपनी प्रारम्भिक तीक्ष्णता के कारण विभिन्न क्रियाओं को मनस्तत्त्व के साथ मिलकर सम्पादित करता है। इस प्रकार यह वाक् तत्त्व ही विभिन्न क्रियाओं का आश्रय वा निवास स्थल है। सभी प्रकार की क्रियाएं इसके ही आश्रय से हुआ करती हैं। {आयांसि = आङ् पूर्वक 'यम उपरमे' इत्यस्य धातोश्छान्दसं रूपम् -इति सायणाचार्यः। आस्मा इत्याकारश्चच्छान्दसः (सायणाचार्य)} इस कारण मानो वाक् तत्त्व के साथ उसके अनुकूल गतिशील मनस्तत्त्व कहता है- "मैंने छेदनादि गुणों से युक्त तथा विभिन्न क्रियाओं को आश्रय देने वाला गुण वाक् तत्त्व के लिए सब ओर से प्रदान किया वा थामे रखा है।" इस छन्द रश्मि के द्वारा वाक् तत्व सम्यग्रूपेण उदित होकर सक्रिय वा प्रखर हो उठता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सर्वप्रथम दीप्ति वाला मनस्तत्व वाक् तत्व के साथ संयुक्त होता है। इसका आशय है कि मनस्तत्व में fluctuations उत्पन्न होने लगते हैं। इन fluctuations के उत्पन्न होते ही यह मनस्तत्त्व विभिन्न प्रकार के बल, तेज व क्रियाओं से युक्त हो जाता है। इसके पश्चात् ऐसे अनेक प्रकार के fluctuations छन्द रश्मियों में उत्पन्न होकर आकर्षण छेदन, भेदन, दीपन आदि गुणों को उत्पन्न करते हैं।।

४. 'उत नो ब्रह्मन्नविष' इति शंसति, श्रोत्रं वै ब्रह्म, श्रोत्रेण हि ब्रह्मशृणोति, श्रोत्रे ब्रह्म प्रतिष्ठितं, श्रोत्रमेव तत्संभावयति, श्रोत्रं संस्कुरुते।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त

उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः।
शं नः शोचा मरुद् वृधोऽ ग्ने सहस्रसातमः। (ऋ.३.१३.६)

ऋचा चौथे क्रम में उत्पन्न होती है। इसके विषय में, २.३३.१ द्रष्टव्य है, पुनरपि यहाँ कुछ विशेष लिखते हैं। यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ श्रोत्र है। जैसा कि हम २.३३.१ में लिख चुके हैं कि 'आहाव' संज्ञक 'शोंसावोम्' रश्मियाँ ही ब्रह्म स्वरूप है। इस कारण ये रश्मियां ही श्रोत्ररूप हैं। ये रश्मियां ही विभिन्न प्रकार के आपः अर्थात् प्राणापानादि को धारण करने वाली तथा उनके मध्य सन्धानकरूप भी होती है। इसलिए कहा है- 'श्रोत्रं वा अपां सन्धिः' (श.७.५.२.५५) इस रश्मि के द्वारा ही अथवा इसके साथ संयुक्त होकर ही प्राणापानादि तत्त्व गमन करते वा सक्रिय होते हैं किंवा वे प्राण तत्त्व मन व वाक् रश्मियों के अनुवर्ती होकर नाना क्रियाएं सम्पादित करते हैं। इन 'शोंसावोम्' **रश्मियों में ही ब्रह्म अर्थात् मन व वाक् तत्त्व प्रतिष्ठित होते हैं किंवा प्राणापानादि रूपी ब्रह्म इन्हीं रश्मियों में प्रतिष्ठित होते हैं।** इसका तात्पर्य है कि वे इन्हीं रश्मियों के साथ मिलकर ही व्यापक विस्तार को पाकर बल व तेज को विशेषतया अर्जित करते हैं। इस ऋचा अर्थात छन्द रश्मि के प्रभाव से ये आहाव संज्ञक रश्मियां सम्यग्रूपेण उत्पन्न, समर्थ व सक्रिय होती हैं। इसके ही कारण वे विशेष बलवती होकर नाना तत्त्वों को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति से युक्त होती हैं। यहाँ यह भी आशय है कि **आहाव संज्ञक रश्मि ही प्राथमिक प्राणों के मध्य अवकाश रूप भी होती है। इसके कारण ही सूक्ष्म प्राणों के मध्य अवकाश होता है। इसके कारण ही विभिन्न प्राण परस्पर सम्पर्क में आ जाते हैं और जुड़ाव अनुभव करते हैं।** इस छन्द रश्मि के कारण आकाश तत्त्व भी समृद्ध व विस्तृत होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राणापानादि प्राथमिक प्राण रश्मियों का संयोग जब दैवी अनुष्टुप् वाक् तत्त्व (आहाव संज्ञक) से होता है, तभी वे विशेष सक्रिय होकर सृजन प्रक्रिया योग्य हो पाते हैं। **बल व**

सूक्ष्मतम ऊर्जा के रूप में वे तभी पतिवर्तित होकर वर्तमान विज्ञान द्वारा ज्ञेय मूल तत्त्वों के निर्माण का बीजारोपण व अंकुरण कर पाते हैं।।

५. 'स यन्ता विप्र एषाम्' इति शंसत्यपानो वै यन्ताऽपानेन ह्ययं यतः प्राणो न पराङ्भवत्यपानमेव तत्संभावयत्यपानं संस्कुरुते।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त

स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः।
अग्निं तं वो दुवस्यत दाता यो वनिता मघम्।। (ऋ.३.१३.३)

की उत्पत्ति पांचवें क्रम में होती है। इसमें 'यन्ता' पद अपान प्राण के लिए प्रयुक्त हुआ है। इससे प्रमाणित होता है कि **अपान नामक प्राण सबको अपने नियन्त्रण में रखकर उनके मध्य एक उचित अवकाश बनाए रखता है।** तव स्पष्ट ही यह अपान उपर्युक्त आहाव संज्ञक रश्मियों से निकटता से संयुक्त होता है। इस अपान प्राण से नियन्त्रित प्राण नामक प्राण तत्त्व उससे दूर पराङ्मुख होकर नहीं जाता अर्थात् अपान तत्त्व प्राण तत्त्व को थामे रखता है। इसी को अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि ने भी कहा है- "अपानेन वै प्राणो धृतः" (मै.४.५.६), "यन्तेत्यपानम् (असृजत्)" (तै.सं.५.३.६.२)। इस अनुष्टुप् ऋग्रश्मि के प्रभाव को पूर्णतः २.३३.१ में देखें। यहाँ विशेष यह ज्ञातव्य है कि इस छन्द में 'यन्ता' पद से अपानतत्त्व सम्यग्रूपेण प्रकट होता है और फिर वह संस्कृत अर्थात् अच्छी प्रकार से विभिन्न प्राणादि पदार्थों के द्वारा धारण किया जाता किंवा यह प्राणादि पदार्थों को सम्यग्रूपेण धारण करके अति सक्रिय हो उठता है। यह अपने प्रभाव से विभिन्न सूक्ष्म से स्थूल पदार्थों तक में विद्यमान विभिन्न सन्धिस्थलों को वनाए रखता है अर्थात् उनके मध्य उचित दूरी वनाए रखता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में कोई भी सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम पदार्थ तक परस्पर कभी सर्वथा स्पर्श नहीं कर सकते। प्राण व छन्द रश्मियां, विभिन्न तरंगें, वर्तमान विज्ञान द्वारा जाने वा कल्पित किये गए मूल कण सदैव परस्पर पृथक् ही रहते हैं, भले ही उनका परस्पर संलयन कर दिया जाए। **एक सूक्ष्म अवकाश उनके मध्य सदैव रहता है। यह अवकाश अपान प्राण के कारण रहता है।** अपान प्राण ही अन्य सभी सूक्ष्म प्राणों को धारण व पृथक्-२ किए रहता है। यदि अपान प्राण द्वारा यह पृथक्पन न रहे, तो सभी प्राण वा छन्द रश्मियां अथवा विभिन्न तरंगें वा वर्तमान विज्ञान द्वारा कल्पित वा खोजे गए मूल कण, सभी मिलकर एक हो जाएं, जिससे सृष्टि का अस्तित्त्व ही मिट जाए। परस्पर किसी भी संयोग-वियोग प्रक्रिया के लिए दो पदार्थों के मध्य कुछ न कुछ अवकाश व वैशिष्ट्य अवश्य ही होना चाहिए, अन्यथा गमनागमनादि क्रियाएं नहीं हो सकती।।

६.'ऋतावा यस्य रोदसी' इति शंसति, चक्षुर्वा ऋतं, तस्माद् यतरो विवदमानयोराहाहमनुष्ठ्या चक्षुषाऽदर्शमिति तस्य श्रद्दधति, चक्षुरेव तत्संभावयति चक्षुः संस्कुरुते।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त

ऋतावा यस्य रोदसी दक्षं सचन्त ऊतयः।
हविष्मन्तस्तमीळते तं सनिष्यन्तोऽवसे।। (ऋ.३.१३.२)

की उत्पत्ति छठे क्रम से होती है। इसके लिए २.३३.१ द्रष्टव्य है, पुनरपि कुछ विशेष लिखते हैं। यहाँ 'चक्षु' को ही ऋत कहा है। यहाँ २.३३.१ में "भूरग्निर्ज्योतिः...." आदि तूष्णींशंस रश्मियां ही चक्षु हैं। {ऋतम् = उदकनाम (निघं.१.१२), प्रत्यृतं भवति (नि.२.२५), अव्यामिचारि (म.द.य.मा.११.४७)} इन

रश्मियों को ऋत इस कारण कहा है कि ये अव्याभिचारि अर्थात् सतत नियमित रहते हुए तथा बिना भ्रान्त हुए असुर तत्त्व को लक्ष्य करके उस पर अपना सिंचन करके उसे नियन्त्रित करती हैं। इस छन्द रश्मि का 'ऋतावा' पद इन चक्षु रूप रश्मियों का सम्यग् विभाजन करने में सहायक होता है। {श्रत् = (श्रद्धा = आपश्श्रद्धा - काठ.३१.३)} यहाँ महर्षि कहते हैं कि जब दो ऐसे गतिशील पदार्थों, जिनकी दिशा परस्पर विपरीत हों अथवा भिन्न-२ हों, उनमें से जो पदार्थ (प्राणादि तत्त्व) उपर्युक्त चक्षुरूप तूष्णींशंस रश्मियों के द्वारा आकृष्ट कर लिए जाते हैं और ऐसा करने के लिए वे उन रश्मियों के अनुकूल संगत होते हैं, उस पदार्थ को विभिन्न प्राणतत्त्व धारण करके उनके मार्गों को अनुकूल बना देते हैं। उनके द्वारा अनुकूलता से विविध कर्म होने लगते हैं। इस अनुष्टुप् छन्द रश्मि के द्वारा ये तूष्णींशंस रश्मियां सम्यग्रूपेण प्रभावकारिणी हो उठती हैं, विशेषकर 'ऋतावा' पद के ही प्रभाव से ही। इसके कारण वे रश्मियां अच्छी प्रकार से विभिन्न पदार्थों द्वारा धारण कर ली जाती हैं, जिससे वे रश्मियां व पदार्थ दोनों ही सम्यक् क्रियाशील हो उठते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- दृश्य पदार्थ को डार्क एनर्जी के प्रहार से मुक्त करने वाली रश्मियां अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई कभी पथभ्रष्ट व अनियमित नहीं होती हैं। उनका प्रहार डार्क एनर्जी पर इस प्रकार हुआ करता है, मानो उनकी सूक्ष्म रश्मियां डार्क एनर्जी और उससे प्रभावित दृश्य पदार्थ पर अपनी वर्षा कर रही हों। जो कण डार्क एनर्जी के प्रभाव से इधर-उधर भटक रहे हों, उन पर ये रश्मियां अपनी वृष्टि करके उन्हें आकर्षित करती हैं, जिससे वे पदार्थ विभिन्न प्राणों को अच्छी प्रकार धारण करके परस्पर संगत होने लगते हैं।।

७. 'नू नो रास्व सहस्रवत् तोकवत् पुष्टिमद् वसु' इत्युत्तमया परिदधात्यात्मा वै समस्तः सहस्रवांस्तोकवान् पुष्टिमानात्मानमेव तत्समस्तं संभावयत्यात्मानं समस्तं संस्कुरुते।।
याज्यया यजति, प्रत्तिर्वै याज्या, पुण्यैव लक्ष्मीः पुण्यामेव तल्लक्ष्मीं संभावयति पुण्यां लक्ष्मीं संस्कुरुते।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त

नू नो॑ रास्व स॒हस्र॑वत्तो॒कव॑त्पुष्टि॒मद्वसु॑। द्यु॒मद॑ग्ने सु॒वीर्यं॒ वर्षि॑ष्ठ॒मनु॑पक्षितम्।। (ऋ.३.१३.७)

की उत्पत्ति होती है। जैसा कि हम पूर्व में पढ़ चुके हैं कि यह छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों को चारों ओर से आच्छादित कर लेती है। इसका स्वरूप और प्रभाव २.३३.१ में देखें। कुछ विशेष प्रभाव बतलाते हुए यहाँ कहते हैं- {आत्मा = यावति वै द्यावापृथिवी तावानात्मा (ऐ.आ.१.३.८), आत्मा यजमानः (कौ. ब्रा.१७.७)} "आत्मा वै समस्तः" इसका एक आशय यह है कि सूत्रात्मा वायु उस समय सभी प्रकार के पदार्थों में व्याप्त हो जाता है। वह सभी प्रकार की रश्मियों को परस्पर एक दूसरे से जोड़ने में सहायक होता है। इसका दूसरा आशय यह है कि उस समय सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाशित और अप्रकाशित रूप में परिवर्तित हो जाता है। वह सम्पूर्ण पदार्थ विभिन्न बलों से युक्त, विभिन्न प्रकार के उत्पन्न पदार्थों एवं सृजन और पोषण धर्मों से युक्त होकर सम्यग्रूपेण प्रभावशाली हो उठता है और वह समस्त पदार्थ सम्यग्रूपेण सभी प्रकार की क्रियाएं करने में सक्षम होता है।।

{लक्ष्मीः = लाभाद्वा लक्षणाद्वा (लप्स्यनाद्वा) लाञ्छनाद्वा, लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणो लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः (नि.४.६) (लक्ष दर्शनांकनयोः = देखना, चिह्न करना, विवेचन करना, लगे संगे = संयोग होना, स्पर्श होना- सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक), (लाञ्छन = सीमांत-आप्टे)} तदुपरान्त,

अग्न॒ इन्द्र॑श्च दा॒शुषो॑ दुरो॒णे सु॒ताव॑तो य॒ज्ञमि॒होप॑ यातम्। अम॑र्धन्ता सोम॒पेया॑य देवा।। (ऋ.३.२५.४)

इस याज्या संज्ञक छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके स्वरूप आदि के विषय में २.३७.३ द्रष्टव्य है। जहाँ हम लिख चुके हैं कि यह छन्द रश्मि पूर्वोक्त विट् सूक्त संज्ञक छन्द रश्मियों से याज्या अर्थात् योषा रूप में संयुक्त होती है। यहाँ महर्षि अन्य विशेष लिखते हैं- याज्या प्रत्ति रूप है। यहाँ 'प्रत्ति' शब्द का अर्थ प्रदानरूप अर्थात् देने वाली है। इस विषय में एक अन्य ऋषि ने कहा- "वैनं पुरोऽनुवाक्यया दत्ते प्र यच्छति याज्यया प्रति" (तै.सं.२.६.२.५)। इन दोनों प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि यह याज्या संज्ञक रश्मि अपनी कुछ अक्षर रूप रश्मियों को पूर्वोक्त ११ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को प्रदान करती है, जिससे वे रश्मियां और भी अधिक तेजस्विनी हो जाती हैं। इस विषय में हम पूर्व में विशेष लिख चुके हैं। यह याज्या संज्ञक रश्मि पुण्या लक्ष्मी के समान होती है अर्थात् इस रश्मि के कारण इसके साथ संयुक्त पूर्वोक्त ११ रश्मियां शुद्ध वा स्पष्ट होकर गमन करने लगती हैं। {पुण्यम् = पवते पवित्रा भवति येन तत् (उ.को.५.१५)} यह रश्मि उन ११ रश्मियों को लक्ष्य करके उनमें करके व्याप्त हो जाती है। यह रश्मि उन ११ रश्मियों के साथ संयुक्त होकर उनको इतस्ततः अपने मार्गों से भटकने नहीं देती तथा उनको विभिन्न पदार्थों से संयुक्त होने के लिए प्रकृष्ट रूप से प्रेरित करती है। उपर्युक्त उद्धरण में महर्षि यास्क ने 'लज्' धातु को 'अश्लाघा' अर्थ में माना है। पं.युधिष्ठिर मीमांसक ने 'लज' धातु के अर्थ 'चमकना, ढांकना' भी किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह याज्या रश्मि उन ११ रश्मियों को आच्छादित करके प्रकाशमान वनाती है। यहाँ महर्षि यास्क के 'अश्लाघाकर्मणः' को 'श्लाघृ कत्थने' से निष्पन्न मानकर इन रश्मियों को हमने भटकने न देने वाली माना है, क्योंकि 'श्लाघृ कत्थने' **का एक अर्थ 'फुसलाना' भी पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने ग्रहण किया है।** इस याज्या रश्मि के प्रभाव से इस प्रकार की पुण्या लक्ष्मी अर्थात् उपर्युक्त प्रभाव अच्छी प्रकार समृद्ध होते हैं और वे सभी रश्मियां स्पष्ट देदीप्यमान होती हुई अनेक प्रकार की क्रियाओं को अच्छी प्रकार सम्पादित करने लगती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं में कार्यरत विभिन्न रश्मियों को सूत्रात्मा वायु व्याप्त करके उन्हें जोड़े रखता है। उन विभिन्न प्राण वा छन्द रश्मियों से ही सभी प्रकाशित-अप्रकाशित पदार्थ अर्थात् विभिन्न कण और तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो अनेक प्रकार के वलों से युक्त होती हैं। विशेष जानकारी के लिए व्याख्यान भाग द्रष्टव्य है।।

८. स एवं विद्वांश्छन्दोमयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति य एवं वेद।।
यो वै तद् वेद यथा छन्दोमयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति तत्सुविदितम्।।
इत्यध्यात्ममथाधिदैवतम्।।८।।

व्याख्यानम्- इस खण्ड में वतलायी हुई विभिन्न स्थितियां जव अपने सम्यग्रूप में उत्पन्न हो जाती हैं, उस समय यह अन्तरिक्ष विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों, देवता अर्थात् प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों, {प्राणा वै देवताः (मै.२.३.५)} ब्रह्म अर्थात् आहाव संज्ञक रश्मियों, अमृत अर्थात् आदित्य अर्थात मास वा निविद् संज्ञक रश्मियों {आदित्योऽमृतम् (श.१०.२.६.१६)} से पूर्णतः युक्त होकर सभी प्रकार के दिव्य पदार्थों से परिपूर्ण हो जाता है। इसके साथ ही फिर इस सृष्टि में अनेक प्रकार के पदार्थ सम्यग्रूपेण उत्पन्न होने लगते हैं।।

इन सभी प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति की इस क्रमवद्ध व्यवस्था को जो विद्वान् जानता है, वही महाविज्ञानी कहलाता है। इस खण्ड में {आत्मा = आत्मा पशुः (तै.सं.६.३.७.३)} आत्मा सम्वन्धी अर्थात् विभिन्न छन्दों से सम्वन्धित क्रियाओं का विशेष वर्णन किया गया है। अगले खण्ड में आधिदैवत अर्थात् प्रकाशित लोक-लोकान्तर को लक्षित करके विभिन्न क्रियाओं का विवेचन किया गया है। पूर्व खण्ड में वर्णित क्रियाओं के द्वारा लोक-लोकान्तरों का निर्माण नहीं हो पाया है। उसमें छन्दों के अतिरिक्त विभिन्न प्राणापानादि सूक्ष्म रश्मियों से सम्वन्धित विवेचन प्रधानता से है। "आत्मा" शब्द का अर्थ करते हुए मैत्रायणी संहिता ३.७.२ में कहा है- "आत्मा वै प्रयाजाः, प्रयाजाऽनुयाजाः"। इससे सिद्ध है कि

यहाँ विवेचन कुछ सूक्ष्म तत्त्वों का हुआ है, जबकि अगले खण्ड में अपेक्षाकृत अधिक स्थूल और प्रकाशित तत्त्वों का विवेचन होगा।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विशेष नहीं।

इति १०.८ समाप्तः

ॐ अथ १०.९ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. षट्पदं तूष्णींशंसं शंसति, षड्वा ऋतव, ऋतूनेव तत्कल्पयत्यृतूनप्येति।। द्वादशपदां पुरोरुचं शंसति, द्वादश वै मासा मासानेव तत्कल्पयति मासानप्येति।।

व्याख्यानम्- २.३६.२ में हमने षट् पद तूष्णींशंस रश्मियों से "भूरग्निर्ज्योतिः...." आदि तीन रश्मियों को विभक्त करके उनके ६ भागों का ग्रहण किया है। यहाँ उसके स्थान पर षट् पद से 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'सुवः', इन ६ प्राथमिक तूष्णींशंस रश्मियों का ग्रहण करेंगे। हम २.२६.१ में 'भूः', 'भुवः', 'सुवः' को 'ऋतुयाजा' नामक पद के व्याख्यान में ५ ऋतु रश्मियों के रूप में ग्रहण किया है। इसी हेतु से हम तूष्णींशंस रश्मियों को भी ६ ऋतु रश्मियों के रूप में यहाँ ग्रहण करेंगे। इनको 'ऋतु' इस कारण कहते हैं क्योंकि ये असुर तत्त्व के निवारणार्थ क्रमशः वारी-२ से उत्पन्न होकर असुर तत्व से प्रभावित पदार्थ में व्याप्त होती रहती हैं। यहाँ हमें यह भी प्रतीत होता है कि २.३६.२ में वर्णित "भूरग्निर्ज्योतिः. ..." इन रश्मियों को भी यहाँ 'ऋतु' कहा है, क्योंकि ये रश्मियां भी क्रमशः उत्पन्न होकर अपना पूर्वोक्त कार्य करती हैं। सूक्ष्म तूष्णींशंस रश्मियों के द्वारा ही द्वितीयक तूष्णींशंस रश्मियां समृद्ध और समर्थ होती है और एकाक्षरा सूक्ष्म तूष्णींशंस रश्मियां द्वितीयक तूष्णींशंस रश्मियों में व्याप्त हो जाती हैं।।

{मासाः = मासा वै वाजाः (तै.सं.२.५.७.४), मासा हवींषि (श.११.२.७.३)} खण्ड २.३४ में वर्णित १२ निविद् अर्थात् पुरोरुक् रश्मियों की चर्चा प्रकारान्तर से करते हुए लिखते हैं कि ये १२ रश्मियां १२ मास रश्मियों के रूप में जानी जाती हैं। इन मास रश्मियों के नाम महर्षि तित्तिर ने इस प्रकार दिये हैं- "मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्च इति" (तै.सं.१.४.१४.१)। इन रश्मियों के द्वारा विभिन्न रश्मि आदि पदार्थ एक-दूसरे से जुड़कर परस्पर एक-दूसरे को धारण करने लगते हैं। इन रश्मियों के प्रभाव से यह प्रक्रिया सतत समर्थ होने लगती है और इसका कारण बताते हुए महर्षि लिखते हैं कि ये दीप्तिमयी रश्मियां वाज संज्ञक मास रश्मियों में व्याप्त हो जाती हैं। यहाँ 'वाज' शब्द का अर्थ विभिन्न प्रकार की मरुद्, छन्द एवं प्राणापानादि रश्मियां हैं, जो अति तीव्रगामी होती हैं। इसी कारण तत्त्ववेत्ता महर्षियों ने कहा- "आदित्यो वाजी" (तै.ब्रा.१.३.६.४), "छन्दांसि वै वाजिनः" (गो.उ.१.२०), "पशवो वै वाजिनः" (गो.उ.१.२०)। यहाँ कौषीतकि ब्राह्मण ५.२ का वचन "ऋतवो वै वाजिनः" यह सिद्ध करता है कि ये मास रश्मियां उपर्युक्त ऋतु रश्मियों में भी व्याप्त होती हैं। इसी कारण अनेकत्र दो मासों से एक ऋतु रश्मि बनने का वर्णन मिलता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जैसा कि हम पूर्व में भी लिख चुके हैं कि डार्क एनर्जी का निवारण करने वाली रश्मियां दो प्रकार की होती हैं। वे क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होती हैं। इनमें से सूक्ष्मतर रश्मियां अपने से स्थूल रश्मियों में व्याप्त होकर उन्हें डार्क एनर्जी के नियन्त्रण में और भी समर्थ बनाती हैं। हम पूर्व में यह भी लिख चुके हैं कि डार्क एनर्जी भी सूक्ष्म और स्थूल दो रूपों वाली होती है और स्थूल के अन्दर सूक्ष्म एनर्जी व्याप्त होती है। १२ प्रकार की विभिन्न पूर्वोक्त मास रश्मियां अन्य रश्मियों को जोड़ने, उन्हें धारण करने और विभिन्न बलों से युक्त करने में सहयोग करती हैं।।

२. 'प्र वो देवायाग्नये' इति शंसत्यन्तरिक्षं वै प्रान्तरिक्षं हीमानि सर्वाणि भूतान्यनुप्रयन्त्यन्तरिक्षमेव तत्कल्पयत्यन्तरिक्षमप्येति।।

'दीदिवांसमपूर्व्यमिति' शंसत्यसौ वै दीदाय योऽसौ तपत्येतस्माद्धि न किंचन पूर्वमस्त्येतमेव तत्कल्पयत्येतमप्येति।।

व्याख्यानम्-

प्र वो॑ दे॒वाया॒ग्नये॒ बर्हि॑ष्ठमर्चास्मै।
गम॑द्दे॒वेभि॒रा स नो॒ यजि॑ष्ठो ब॒र्हिरा स॑दत्।। (ऋ.३.१३.१)

को पुनः व्याख्यात करते हुए ऋषि कहते हैं कि इसमें 'प्र' पद अन्तरिक्ष स्वरूप है। संसार के सभी उत्पन्न पदार्थ इस अन्तरिक्ष के साथ ही संगत होकर उसी में गमन करते हैं। उधर महर्षि कणाद लिखते हैं "निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्।।" (वै.द.२.१.२०)। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न पदार्थों का गमनागमन अन्तरिक्ष में ही होता है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से आकाश तत्त्व सामर्थ्यवान् होता है अर्थात् विभिन्न रश्मियों के मध्य यह आकाश तत्व व्यापक होता जाता है और विभिन्न पदार्थों को धारण करने की उसकी क्षमता बढ़ती जाती है। पूर्व खण्ड में 'प्र' पद को प्राण तत्त्ववाची कहा था। इससे यह भी प्रतीत होता है कि **प्राण तत्त्व का आकाश तत्त्व से कोई स्पष्ट सम्बन्ध अवश्य है। जिसके कारण प्राण तत्त्व के समर्थ होने पर आकाश तत्त्व भी समर्थ होने लगता है।** सभी पंच महाभूतों में आकाश तत्त्व ही सबसे सूक्ष्म और सबसे व्यापक है। सभी महाभूत इसी में व्याप्त होकर इसी के द्वारा धारण किये जाते हैं।।

दी॒दि॒वांस॒मपू॑र्व्यं॒ वस्वी॑भिरस्य धी॒तिभिः॑।
ऋक्वा॑णो अ॒ग्निमि॑न्धते॒ होता॑रं वि॒श्पतिं॑ वि॒शाम्।। (ऋ.३.१३.५)

को पुनः व्याख्यात करते हुए महर्षि कहते हैं कि इससे 'दीदाय' पद 'असौ' अर्थात् आदित्य रश्मियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये रश्मियां समस्त अन्तरिक्ष में प्रकाशित होती हैं। {तपः = (तप सन्तापे, तप ऐश्वर्ये, तप दाहे)} साथ ही ये रश्मियां नियन्त्रक सामर्थ्य और ऊष्मा से युक्त भी होती हैं। इनकी उत्पत्ति से पूर्व पदार्थ में जो दीप्ति विद्यमान थी, वह मानव तकनीक से देखने के अयोग्य थी, जबकि यहाँ उत्पन्न रश्मियां मानव तकनीक से अनुभवगम्य होती हैं। इस कारण इन रश्मियों के उत्पन्न होने के साथ ही सृष्टि का समस्त पदार्थ दृश्य पदार्थ का रूप धारण कर लेता है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से इस प्रकार की रश्मियां समृद्ध और व्यापक होती हैं तथा यह रश्मि इस सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ में व्याप्त हो जाती है, जिससे वह पदार्थ सतत देदीप्यमान होता रहता है।।

पूर्व खण्ड में 'दीदाय' पद से मनस् तत्व का ग्रहण किया है। इससे प्रतीत होता है कि अन्तरिक्ष में व्याप्त विभिन्न प्रकार की आदित्य रश्मियों में मनस् तत्व की कुछ अधिक प्रधानता होती है और इस तत्व के कारण ही प्रकाश, ऊष्मा, बल आदि की प्रधानता होती है। इसी कारण कहा है- "मन एव सविता" (गो.पू.१.३३), "मनो ह वाव तपः" (जै.ब्रा.३.३३४) "मनो देवः"(गो.पू.२.१० - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त **भुरिगुष्णिक छन्द रश्मि में विद्यमान प्राण नामक प्राण तत्त्व से आकाश तत्व की उत्पत्ति होती है।** इस रश्मि के प्रभाव से विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के मध्य आकाश तत्त्व विस्तृत होता जाता है, जिसके कारण विभिन्न रश्मियों की गति और सक्रियता बढ़ती है। ये रश्मियां भी उस आकाश तत्त्व में व्याप्त होती हैं। उपर्युक्त अनुष्टुप् छन्द रश्मि के द्वारा अनेक प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिनके कारण इस ब्रह्माण्ड में दृश्य प्रकाश और अवरक्त तरंगों की बहुलता होने से सम्पूर्ण आकाश ऊष्मा और प्रकाश से युक्त हो जाता है। इसके पूर्व ब्रह्माण्ड में उत्पन्न सभी तरंगें शीतल और अदृश्य ही होती हैं। यद्यपि उनमें विभिन्न दीप्तियाँ विद्यमान होती हैं, परन्तु वे मानव नेत्रों के लिए अगम्य ही होती हैं।।

३. 'स नः शर्माणि वीतये' इति शंसत्यग्निर्वै शर्माण्यन्नाद्यानि यच्छत्यग्निमेव तत्कल्पयत्यग्निमप्येति।।
'उत नो ब्रह्मन्नविष' इति शंसति, चन्द्रमा वै ब्रह्म चन्द्रमसमेव तत्कल्पयति चन्द्रमसमप्येति।।

{चन्द्रमा = हिरण्यनाम (निघं.१.२), चन्द्रं हिरण्यम् (तै.ब्रा.१.७.६.३), चन्द्रमाश्चायन् द्रमति, चन्द्रो माता, चान्द्रं मानमस्येति वा। चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः। चन्दन मित्यप्यस्य भवति। चारु द्रमति, चिरं द्रमति, चमेर्वा पूर्वम् (नि.११.५)। (चायृ पूजा निशामनयोः = निरीक्षण करना, द्रम गतौ = इधर-उधर भागना, चदि आह्लादने दीप्तौ च = चमकना - आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर

स नः शर्माणि वीतयेऽ ग्निर्यच्छतु शन्तमा।
यतो नः प्रुष्णवद्वसु दिवि क्षितिभ्यो अप्स्वा।।४।। (ऋ.३.१३.४)

को पुनः व्याख्यात करते हुए लिखते हैं कि **अग्नि ही शर्म** है। इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि तत्त्व ही विभिन्न प्रकार के पदार्थों का गृह रूप है अर्थात् इसी में सभी पदार्थ समाये हुए रहते हैं। विभिन्न प्रकार की छन्द वा मरुद् रश्मियां एवं प्राणापानादि पदार्थ सभी संघात के रूप में अग्नि तत्त्व के अन्दर विद्यमान रहते हैं। **पूर्व में वाक् तत्व को शर्म कहा था। इससे यह सिद्ध होता है कि वाक् तत्व अर्थात् विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियां ही अग्नि तत्त्व में परिवर्तित हुआ करती हैं।** वे छन्द रश्मियां ही विभिन्न पदार्थों को ले जाने में अग्रणी रहा करती हैं। इनका अग्नि रूप विभिन्न प्रकार के संयोज्य पदार्थों अर्थात् संयोग करके विभिन्न विकारों को प्राप्त होने योग्य परमाणुओं को स्वरूप प्रदान करता है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अग्नि तत्त्व समृद्ध और समर्थ होता है। ये छन्द रश्मियां उस अग्नि तत्त्व के अन्दर व्याप्त होकर उसे सतत सक्रिय करती रहती है।।

तदनन्तर

उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः।
शं नः शोचा मरुद् वृधोऽ ग्ने सहस्रसातमः।। (ऋ.३.१३.६)

को पुनः व्याख्यान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यहाँ **'ब्रह्म'** चन्द्रमा ही है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व में हमने **'ब्रह्म'** शब्द का अर्थ आहाव संज्ञक **'शोंसावोम्'** छन्द रश्मि माना था और उसी को विभिन्न रश्मियों के मध्य अवकाश में भरा हुआ भी माना था, वह आहाव रश्मि यहाँ चन्द्रमा स्वरूप बताई गई है। चन्द्रमा मास नामक प्राणों का निर्माता होता है। यह हम पूर्व में भी लिख चुके हैं कि **'आहाव'** संज्ञक रश्मियों के पश्चात् ही **मास** अर्थात् **निविद्** रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इसी बात की पुष्टि यहाँ निरुक्त के उपर्युक्त प्रमाण से हो रही है, जहाँ चन्द्र को माता कहा है। पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य में **"माता"** शब्द का अर्थ **"निर्माता मासों का"** ही किया है। यह अच्छी प्रकार इधर-उधर भागता-दौड़ता और साथ-२ दीप्तिमान् एवं आकर्षणादि बलों से युक्त होता है। इसकी गति शोभनीय और चिरकाल तक रहने वाली होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्व में आहाव संज्ञक रश्मियों को श्रोत्र रूप कहकर इसे **"अपां सन्धिः" विशेषण युक्त** आकाश रूप माना था। इससे सिद्ध होता है कि वे आहाव रश्मियां देदीप्यमान आकाश के रूप में प्रकट होती हैं और वे रश्मियां एक साथ सर्वत्र अकस्मात् ही प्रकट नहीं होती हैं, बल्कि स्थान-२ पर आकाश रूप में अवकाश के अन्दर प्रकट होती हैं। उनके प्रकट होने की इस प्रक्रिया से ऐसा प्रतीत होता है, मानो चन्द्रमा के समान सुन्दर आभा लिये वह आकाश तत्त्व ही अवकाश रूप आकाश में विभिन्न पदार्थों के मध्य सुन्दरता से इधर-उधर दौड़ रहा हो। इस रश्मि के प्रभाव से यह प्रक्रिया समृद्ध और समर्थ होती है और ये छन्द रश्मियां इन सब पदार्थों में व्याप्त हो जाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियां आकाश तत्व से सम्पीडित होकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का रूप धारण करती हैं। ये तरंगें ही विभिन्न प्रकार के एटम्स और मोलिक्यूल्स को तोड़-फोड़कर विभिन्न प्रकार के अन्य एटम्स और मोलिक्यूल्स का निर्माण करने में सहायक होती हैं। **सबका धारक आकाश तत्त्व दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मि रूप ही होता है,** वर्तमान वैज्ञानिक जिस आकाश को curve होने वाला मानते हैं, वह आकाश इन्हीं रश्मियों के रूप में होता है। इसकी उत्पत्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अकस्मात् एक साथ नहीं होती, वल्कि स्थान-२ एवं समय-२ पर होती रहती है। उत्पन्न होते समय **यह आकाश तत्त्व चन्द्रमा की दीप्ति के समान दीप्तियुक्त रश्मियों के साथ इधर-उधर प्रकट होता रहता है,** जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ऐसी दीप्तियां यत्र-तत्र शोभित होती रहती है। हमारे मत में यह दीप्ति प्राणियों के लिये दृश्य नहीं हो सकती।।

४. 'स यन्ता विप्र एषाम्' इति शंसति, वायुर्वै यन्ता, वायुना हीदं यतमन्तरिक्षं न समृच्छति, वायुमेव तत्कल्पयति वायुमप्येति।।
'ऋतावा यस्य रोदसी' इति शंसति, द्यावापृथिवी वै रोदसी, द्यावापृथिवी एव तत्कल्पयति द्यावापृथिवी अप्येति।।

व्याख्यानम्-

स यन्ता विप्रं एषां स यज्ञानामथा हि षः।
अग्निं तं वो दुवस्यत दाता यो वनिता मघम्।। (ऋ.३.१३.३)

का पुनः व्याख्यान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि वायु ही यन्ता है अर्थात् वायु ही सवको नियन्त्रण में करने वाला है। पूर्व में महर्षि ने अपान तत्त्व को यन्ता कहा है। इससे स्पष्ट है कि अपान तत्व का वायु तत्त्व से निकट सम्बन्ध है। वस्तुतः अपान तत्त्व भी वायु तत्त्व का ही एक भाग है। महर्षि दयानन्द अपने यजुर्वेद भाष्य ६.१६ में 'वायु' शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं- "वाति जानाति सूचयति सदसत् पदार्थानिति वा वायुः"। महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "वायुर्वै रेतसां विकर्त्ता" (श.१३.३.८.१)। महर्षि यास्क लिखते हैं- "वायुः सोमस्य रक्षिता" (नि.११.५)। जैसा कि हम जानते हैं कि अपान प्राण प्रतिकर्षण वल प्रधान है। यह विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को नितान्त संयुक्त नहीं होने देता अर्थात् उनके मध्य एक मर्यादित दूरी अवश्य रहती है। वायु तत्त्व में यह अपान प्राण भी अवस्थित होता है, परन्तु यहाँ वायु को अपान प्राण के ही एक पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है किंवा यह भी सम्भव है कि प्राणापानादि सभी प्राथमिक प्राणों एवं विभिन्न छन्द रश्मियों के समुच्चय को वायु कहा हो, क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "वायुर्वै निकायश्छन्दः" (श.८.५.२.५)। यह ऐसा वायु किंवा केवल अपान तत्त्व विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के मध्य प्रवाहित होता हुआ सूचना-संवेदनाएं देता रहता है। स्पर्श की क्रिया भी सूचना-संवेदना रूप ही होती है। इसलिए महर्षि कणाद ने कहा है- "स्पर्शवान् वायुः" (वै.द.२.१.४)। 'वायु' शब्द "वा गतिगन्धनयोः" धातु से निष्पन्न होता है। यहाँ 'गन्धन' शब्द 'चोट मारना और संसूचन करना', अर्थों में ही प्रयुक्त है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि किसी भी पदार्थ को ऐसे वायु तत्त्व के कारण ही किसी अन्य पदार्थ की विद्यमानता वा अविद्यमानता, गतिशीलता वा स्थितिशीलता, आकर्षण वा प्रतिकर्षण आदि वलों का अनुभव होता है। यह वायु ही विभिन्न वल और तेजों का वपन करता एवं उनमें विभिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न करके सभी पदार्थों की उत्पत्ति, रक्षा, गतिशीलता एवं वलशीलता का हेतु वनता है। इसी वायु ने सृष्टि के सभी पदार्थों को नियन्त्रित किया हुआ है। इसी कारण सभी परमाणु पूर्णरूपेण कभी संयुक्त न होकर कुछ दूरी पर वंधे रहकर नियन्त्रित रहते हैं। इस छन्द रश्मि के द्वारा वायु तत्त्व विशेष समृद्ध व समर्थ होता है। इसके साथ ही यह छन्द रश्मि वायु में सर्वत्र व्याप्त होकर और भी प्रक्रिया करती है।।

तदनन्तर

"ऋतावा यस्य रोदसी दक्षं सचन्त ऊतयः।
हविष्मन्तस्तमीळते तं संनिष्यन्तोऽवसे।। (ऋ.३.१३.२)

पर पुनः व्याख्यान कहते हुए महर्षि लिखते हैं कि द्यावापृथिवी ही रोदसी है अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार के पदार्थ रोदसी कहलाते हैं। ये दोनों प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते समय ध्वनि भी उत्पन्न करते हैं। इसी कारण तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है- "यदरोदीत् (प्रजापतिः) तदनयोः (द्यावापृथिव्यो) रोदस्त्वम्" (तै.ब्रा.२.२.६.४)। इस छन्द के प्रभाव से द्यावापृथिवी अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थ किंवा विद्युत् और अन्तरिक्ष, दोनों ही समृद्ध और समर्थ होते हैं। यह छन्द रश्मि इन पदार्थों में व्याप्त होकर ही उन्हें सक्रिय करती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों एवं विभिन्न छन्द आदि रश्मियों का संयुक्त रूप वायु कहलाता है। यह वायु तत्त्व ही सभी प्रकार के बलों, गतियों आदि का प्रधान कारण है। इस वायु तत्त्व के द्वारा ही विभिन्न प्रकार की रश्मियां एवं वर्तमान विज्ञान द्वारा जाने गये विभिन्न मूल कण परस्पर एक-दूसरे के प्रति आकर्षण आदि संवेदनाओं को अनुभव करते हैं और इसी के द्वारा ही वे सभी नियन्त्रित भी होते हैं। इस वायु के एक अंश अपान प्राण के द्वारा विभिन्न प्रकार के कण वा तरंगें प्रतिकर्षण बल का अनुभव करके परस्पर एक मर्यादित दूरी बनाये रखकर नियन्त्रित रहते हैं। यदि यह अपान तत्त्व एवं डार्क एनर्जी न हो, तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सहसा ही पूर्ण संकुचित होकर वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित ब्लेक हॉल अथवा MECO से भी अधिक ठोस पदार्थ में परिवर्तित हो जाए और इसका आकर्षण बल भी कल्पनातीत स्तर का होवे। **इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न विभिन्न कण वा तरंगें, यहाँ तक भी आकाश तत्त्व भी किसी न किसी प्रकार की ध्वनि तरंगों से अवश्य युक्त होते हैं।**

५. 'नू नो रास्व सहस्रवत्तोकवत् पुष्टिमद् वसु' इत्युत्तमया परिदधाति संवत्सरो वै समस्तः सहस्रवांस्तोकवान् पुष्टिमान् संवत्सरमेव तत्समस्तं कल्पयति, संवत्सरं समस्तमप्येति।।
याज्यया यजति, वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति, विद्युतमेव तत्कल्पयति विद्युतमप्येति।।
स एवं विद्वानेतन्मयो देवतामयो भवति, भवति।।६।।

व्याख्यानम्- तदनन्तर

नू नो रास्व सहस्रवत्तोकवत्पुष्टिमद्वसु। द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम्।। (ऋ.३.१३.७)

पूर्वोक्त ६ छन्द रश्मियों को आच्छादित करके धारण कर लेती है। यहाँ इसी पर पुनः व्याख्यान करते हुए महर्षि कहते हैं कि संवत्सर ही समस्त है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व में जो आत्मा को समस्त कहा गया है, उस आत्मा और संवत्सर में निकट संबंध है। आत्मा के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "अन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳह्यन्तरिक्षं मा हिꣳसीः इत्यात्मानं यच्छात्मानं दृꣳहात्मानं मा हिंसीरित्येतत्" (श.८.३.१.६)। इधर पुनः महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "संवत्सरो यज्ञः" (श.११.२.७.१)। इससे सिद्ध होता है कि 'आत्मा' शब्द अन्तरिक्षवाची भी है और पूर्व में हमने 'आत्मा' शब्द से सूत्रात्मा वायु का ग्रहण किया था। इन सभी प्रकरणों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि "समस्तः" पद इन सबके लिए प्रयुक्त है। समस्त अन्तरिक्ष में सूत्रात्मा वायु के साथ विभिन्न प्रकार की सृजन प्रकियाएं सतत चलती रहती हैं। अन्तरिक्ष वा आकाश तत्त्व का कोई भी भाग इन क्रियाओं से रिक्त नहीं है। इस रश्मि के द्वारा सम्पूर्ण आकाश में होने वाली सृजन क्रियाएं विभिन्न प्रकार के बलों से युक्त और पोषित होकर विभिन्न प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। यह रश्मि अन्तरिक्ष में व्याप्त सभी संयोज्य पदार्थों में पूर्णतः व्याप्त होती है।।

पूर्वोक्त

"अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे सुतावतो यज्ञमिहोप यातम्।
अमर्धन्ता सोमपेयाय देवा।। (ऋ.३.२५.४)

इस याज्या संज्ञक ऋचा को पुनः व्याख्यात करते हुए महर्षि लिखते हैं कि वृष्टि ही याज्या है और विद्युत् ही याज्या है। महर्षि दयानन्द सरस्वती "वृष्टिः" शब्द का अर्थ करते हुए ऋग्वेद भाष्य १.१५२.७ में लिखते हैं- "वुष्टानां शक्तिबन्धिका शक्तिः" उधर तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०.९.१ में कहा है- "वृष्टिः (प्रजापतिः) तम् (पाप्मानम्) अवृश्चत् यदवृश्चत तस्माद वृष्टिः"। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यह छन्द रश्मि संगमनीय विद्युत् की वृष्टि करने वाली होती है और उसकी वृष्टि इस सामर्थ्य से युक्त होती है कि वह असुर तत्त्वों को नियन्त्रित वा नष्ट करके संयोगादि प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ हो सके। इस विद्युत् की वृष्टि से ही विभिन्न प्रकार के संयोज्य पदार्थ सम्यग्रूपेण उत्पन्न होते हैं। यह याज्या संज्ञक छन्द रश्मि विद्युत् में व्याप्त होकर उसे समृद्ध और समर्थ बनाती है।।

जब इस प्रकार की विभिन्न रश्मियां उत्पन्न होकर इस ब्रह्माण्ड में सक्रिय हो उठती हैं और नाना पदार्थों का निर्माण हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशमय हो उठता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में जो भी पदार्थ सूक्ष्म वा स्थूल अवस्था में विद्यमान हैं, उन सबमें विभिन्न प्रकार के बल और तज्जन्य गतिशीलता भी विद्यमान है। इस कारण सम्पूर्ण पदार्थ में, विशेषकर दृश्य पदार्थ में संयोग-वियोग आदि की प्रक्रिया सदैव होती रहती है। इन सभी पदार्थों में विद्युत्, प्रकाश, ऊष्मा आदि भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं। दृश्य पदार्थ का डार्क एनर्जी और डार्क मैटर के साथ सदैव संघर्ष चलता रहता है और विद्युत्, ऊष्मा आदि से युक्त तीव्र तरंगों के द्वारा डार्क एनर्जी पर नियन्त्रण करके दृश्य पदार्थ विभिन्न सृजन प्रकियाओं को सम्यग्रूपेण सम्पादित करने में समर्थ होता है।

ॐ इति १०.९ समाप्तः ॐ

ॐ इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॐ

इति ऐतरेयब्राह्मणे द्वितीयपञ्चिका समाप्ता ।।२।।

इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण की द्वितीय पञ्चिका की हिन्दी पूर्ण हुई।।२।।

इति परब्रह्मणः सच्चिदानन्देश्वरस्याऽनुपमकृपाभाजेन, प्रखर वेदोद्धारकस्य परिव्राजकाचार्यप्रवरस्य श्रीमन्महर्षिदयानन्दसरस्वतिनः प्रबलार्यानुयायिवंशप्रवर्त्तकस्य भारतवर्षस्योत्तरप्रदेशस्थ-हाथरसमण्डलान्तर्गतस्य ऐंहनग्रामाभिजनस्य सिसोदिया-कुल-वैजपायेणगोत्रोत्पन्नस्य तत्रभवतः श्रीमतो देवीसिंहस्य प्रपौत्रेण, श्रीघनश्यामसिंहस्य पौत्रेण श्रीमतोः ओम्वतीदेवीन्द्रपालसिंहयोस्तनूजेन वीरप्रसवितुर्राजस्थानप्रान्तस्य जालोरमण्डलान्तर्गत-प्रकाण्डगणितज्ञ-ब्रह्मगुप्त-महाकविमाघजन्मभूर्भीनमाल-निकटस्थभागलभीमग्रामस्थ श्रीवैदिकस्वस्तिपन्थान्यास-संस्थापकेन (वेद-विज्ञान-मन्दिर-वास्तव्येन) आचार्याऽग्निव्रतनैष्ठिकेन विरचित-वैज्ञानिकभाष्यसारसमेतैतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदविज्ञान-आलोकस्य) द्वितीया पञ्चिका समाप्यते।

।। ओ३म् ।।

अथ तृतीयपञ्चिका

ओ३म्। भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

११. एकादशोऽध्यायः — 595

इसमें प्रउग शस्त्र, वषट्कार-अनुवषट्कार, प्रैष, पुरोरुक्, वेदि, निविद्, ग्रह आदि के रूप में नौ प्रकार के वल, ऊर्जा व द्रव्यमान दोनों का एक मूलकारण प्राण तत्त्व, फील्ड पार्टिकल्स का स्वरूप, नाभिकीय क्रियाएं, द्रव्य व ऊर्जा का प्राणतत्त्व में रूपान्तरण, कणों व तरंगों की उत्पत्ति, प्रलयारम्भ, सुपरनोवा विस्फोट आदि का विज्ञान वर्णित है।

१२. द्वादशोऽध्यायः — 665

इसमें मरुत्वतीय-निष्केवल्य शस्त्र, आहाव-प्रतिगर इन्द्र, धाय्या, स्तोत्रिय, अनुरूप, साम प्रगाथ आदि के रूप में छन्द रश्मि निर्माण, डार्क पदार्थ-डार्क एनर्जी की उत्पत्ति, कॉस्मिक मेघों से तारों का निर्माण, मूलकणों का निर्माण, प्रलय प्रक्रिया, विद्युत् चुम्वकीय तरंग, ऋक्, साम रश्मियों का स्वरूप व उत्पत्ति आदि का विज्ञान वर्णित है।

१३. त्रयोदशोऽध्यायः — 737

इसमें वैश्वदेव, आग्निमारुत-शस्त्र, छन्दों द्वारा सोमानयन, सवनत्रय, ऋभु, अग्नि, सोम, विष्णु, आदित्य, भृगु, अंगिरस, वृहस्पति, वैश्वानर, मरुत्, प्रजापति व उसकी कन्या की कथा के रूप में विभिन्न छन्द रश्मियों का विज्ञान, सूक्ष्म कणों की संरचना व स्वरूप, इन कणों, तरंगों एवं आकाश की उत्पत्ति व स्वरूप, गुरुत्व वल एवं विद्युत् चुम्वकीय वल का स्वरूप, तारों का स्वरूप व संरचना, कॉस्मिक मेघों का निर्माण, सृष्टि के पांच पदार्थ, चेतन तत्त्व, द्रव्य-ऊर्जा-प्राण तत्त्व का पारस्परिक विनिमय, विग वैंग से समानता, असमानता, आकाश का संकुचन, स्ट्रिंग थ्योरी के कुछ संकेत आदि विज्ञानों का वर्णन।

१४. चतुर्दशोऽध्यायः 827

अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र, चतुष्टोम, ज्योतिष्टोम के रूप में डार्क एनर्जी, मूल कण, एटमिक न्यूक्लियस, मूलकण, एटम व नाभिक एवं तारों के केन्द्र, प्राण रश्मियों का स्वरूप, विद्युत् की उत्पत्ति, तारों का विज्ञान, दृश्य वा डार्क पदार्थ संघर्ष आदि का विशेष विवेचन है।

१५. पञ्चदशोऽध्यायः 863

इसमें देवयाग का प्रत्यावर्तन, ऋत्विज्, देविका, उक्थ, सायंसवन, होत्रक आदि के रूप में तारों की संरचना व उनमें सम्भावित विकृतियां, छन्द रश्मियों की कार्यप्रणाली, कॉस्मिक मेघों में भारी विक्षोभ आदि का विज्ञान वर्णित है।

एकादशोऽध्यायः

वैदिक विज्ञान

आधुनिक विज्ञान

।। ओ३म् ।।
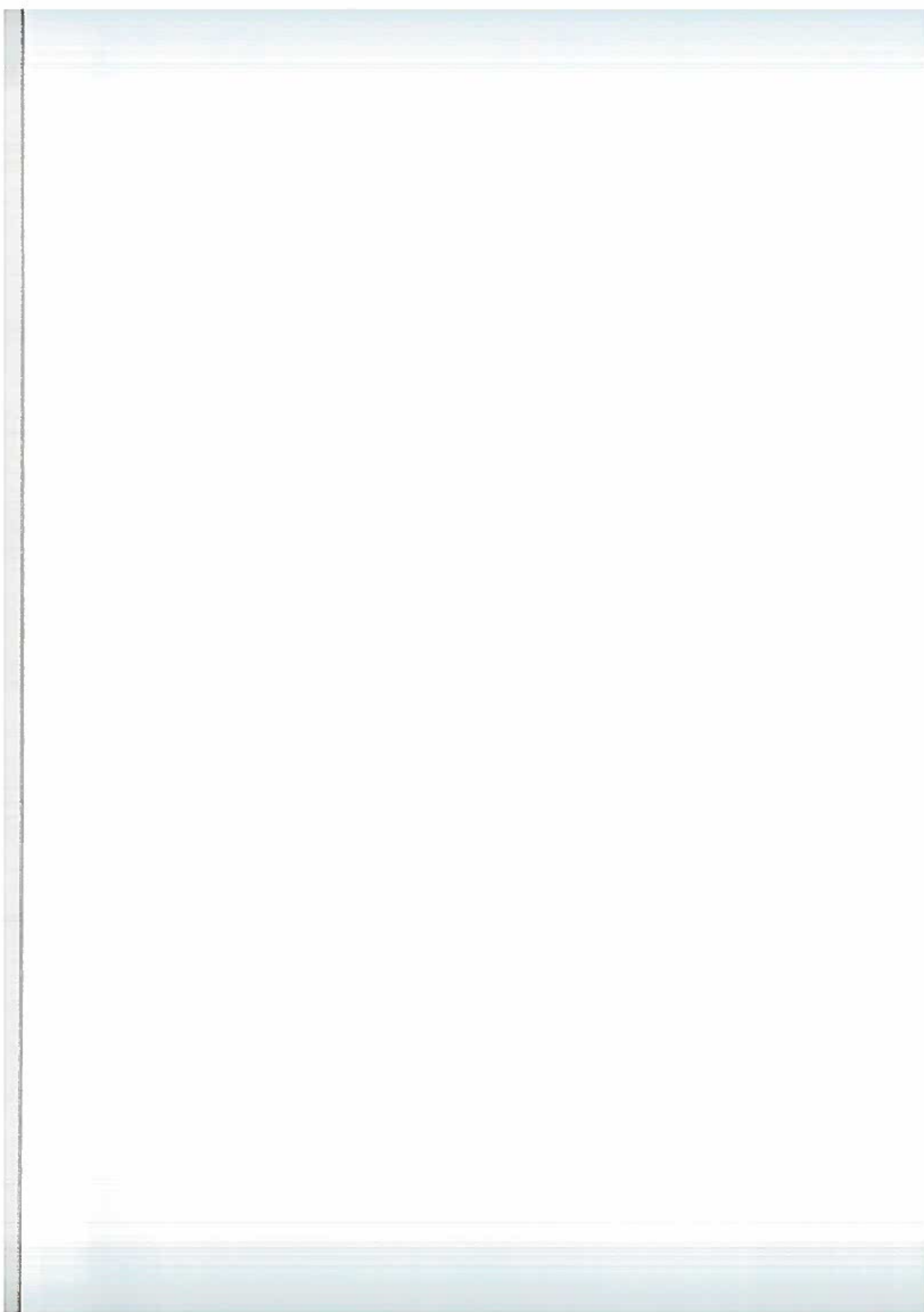
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

अनुक्रमणिका

११.१ ग्रहोक्थ-प्रउग-प्रातर्ग्रह-वहिष्पवमान-स्तोम-हिंकार, सृष्टि में अन्तर्याम आदि ६ प्रकार के बल और उनका ६ गायत्री रश्मियों से विशेष संबंध। आवेशित कणों के आकर्षण व प्रतिकर्षण का विज्ञान। ऐन्द्रवायव-मैत्रावरुण, विद्युदावेशित कणों के मध्य एवं प्राणापान आदि युग्मों के मध्य कार्यरत बल का विज्ञान। आश्विन-ऐन्द्र-शुक्र-मन्थी, कणों व तरंगों के मध्य कार्यरत बल का विज्ञान, इसमें गायत्री छन्द रश्मियों की भूमिका, मन और वाक् से अदृश्य दीप्ति की उत्पत्ति। वैश्वदेव-आग्रयण-सारस्वत, 'ओम्' रश्मि की सर्वत्र अनिवार्यता, विद्युत् और व्यान तत्त्व का आच्छादन बल और गति का कारण, गायत्री रश्मियों के द्वारा सबका प्रेरण। 600

११.२ अन्नाद्य-प्रउग-गृह, प्रत्येक क्रिया के पीछे पूर्वोक्त ६ बलों में से किसी न किसी की अनिवार्यता, कण और तरंगों का एक ही मूल उपादान, रश्मियों की कणों की अपेक्षा प्रथम उत्पत्ति। वायु-प्राण-रेत-पुरुष, प्राणादि पदार्थों की गति का स्वरूप और विज्ञान। ऐन्द्रवायव-प्राण-अपान, फील्ड पार्टिकल्स की उत्पत्ति में प्राणापान और गायत्री रश्मियों की भूमिका। मैत्रावरुण-चक्षु-पुरुष, प्राणोदान वा प्राणापान के मध्य कार्यरत बल का विज्ञान, इसमें गायत्री, मन, वाक् एवं व्यान की भूमिका। आश्विन-कुमार-श्रोत्र, इलेक्ट्रॉन अथवा नाभिक से विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के उत्सर्जन वा अवशोषण का विज्ञान। ऐन्द्र-ग्रीवा -शिर-वीर्य, इलेक्ट्रॉन वा नाभिक के साथ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के उत्सर्जन वा अवशोषण का गम्भीर विज्ञान। वैश्वदेव-कुमार-पश्च-अंग, पुनः पूर्वोक्त विज्ञान का विस्तार सारस्वत-जघन्या-वाक्, पूर्वोक्त विज्ञान का विस्तार, ऊर्जा की अविनाशिता एवं पारस्परिक परिवर्तन। 611

११.३ प्रउग, सप्तशीर्ष, प्राण, सप्तदेवता, सात प्रकार के गायत्री छन्द रश्मिसमूह, प्राणापान आदि के परिवर्तित रूप, इनसे ही पूर्वोक्त ६ बलों की उत्पत्ति। यजमान-पाप-भद्र, गायत्री रश्मियों के द्वारा ही विनाश की प्रक्रिया, प्रलय की प्रक्रिया का विज्ञान। चक्षु-मैत्रावरुण-श्रोत्र-वीर्य-ऐन्द्र, प्राणापान वा क्वाण्टा-इलेक्ट्रॉन वा क्वाण्टा के उत्सर्जन व अवशोषण के मध्य कार्यरत बल के विनाश का विज्ञान। वैश्वदेव-अंग-वाक्-सारस्वत-आत्मा, ऊर्जा के विनाश का विज्ञान। 619

११.४ स्तोत्र-शस्त्र-सामगा-होता-अग्नि, ऊर्जा का द्रव्य और प्राणादि तत्त्व में परिवर्तन का विज्ञान, दुर्वल बलों में ऊर्जा व द्रव्य के संरक्षण-नियम भंग होने के कारण का विज्ञान। अग्नि-प्रवान्-वायव्य-इन्द्रवायू-मैत्रावरुण-घोर-वारुण-अरणि-अश्विनौ-ऐन्द्र-वैश्वदेव-सारस्वत-स्तोत्रिय, अग्नि के विभिन्न रूप एवं स्तर और उनका विज्ञान, छन्द रश्मियों के सम्पीडन से अग्नि की उत्पत्ति, विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्वकीय तरंगें, सूक्ष्म से लेकर तीव्र ज्वालामय एवं विद्युन्मय अग्नि। 623

११.५ देवपात्र-वषट्कार-अश्व-अनुवषट्कार, वौषट् एवं गायत्री रश्मियों के द्वारा विभिन्न छन्द रश्मियों का समन्वयन और तीक्ष्णीकरण। धिष्णियां-सोम-वीहि, सात प्रकार की विभिन्न तरंगें। असंस्थित सोम, चंचल अनियन्त्रित मन्द गति वाले शीतल सोम का पुनः सक्रिय होना। 631

११.६ वज्र-वषट्कार-षट्-ऋतु, असुर तत्त्व निवारण और संयोग प्रक्रिया के संवर्धन में ऋतु रश्मियों की भूमिका। हिरण्यदन्-आप-सत्य-द्यौ, स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम पदार्थों का आधार-आधेय सम्वन्ध। वौषट्, एकाक्षरा ऋतु रश्मियों व प्राणापानादि किंवा मास आदि रश्मियों के संयोग से असुर तत्त्व निवारण। 635

११.७ वषट्कार-वज्र-धामच्छद्-रिक्त-वलि-भ्रातृव्य, असुर तत्त्व निवारण में वज्र की कार्य प्रणाली। प्रलयारम्भ किंवा सुपरनोवा विस्फोट आदि में असुर तत्त्व की भूमिका। पाप-भद्र-ईजान, सृष्टि प्रक्रिया में असुर तत्त्व का यथावत् उपयोग। श्रेय-वषट्कार, असुर तत्त्व निवारक रश्मियों द्वारा आकर्षण वल उत्पन्न करने की क्रियाविधि। 639

११.८ पूर्वोक्त किरणों की क्रियाविधि, वषट्कार-वज्र-मृत्यु, पूर्वोक्त किरणों की क्रियाविधि एवं उन किरणों की अति तीव्रता का दुष्परिणाम। मन-व्यान-ओज-सहस्-वषट्कार-तनु-धाम, असुर निवारक रश्मियों को संतुलित तीव्रता प्रदान करने वाली छन्द रश्मियां। प्राणापान-वषट्कार-वाक्-आयु, पूर्वोक्त विषय। 644

११.९ यज्ञ का देवों से पलायन, प्रैष, असुर तत्त्व निवारक विभिन्न छन्द रश्मियों एवं प्राणापान आदि को उत्तेजित करने वाली १२ प्रकार की छन्द रश्मियां। पुरोरुक्-वेदी, सात पुरोरुक् रश्मियों के द्वारा वायु रश्मियों की गति पर प्रभाव, तीव्रता बढ़ने के साथ गति की विविधताओं में वृद्धि। ग्रह-निवित् की परिभाषा। ज्याय-साधीय-प्रैष, निविद् रश्मियों की व्यापकता। 647

११.१० गर्भ-उक्थ-निविद्-प्रातःसवन-मध्यन्दिन-तृतीयसवन-पेश, वर्तमान विज्ञान के मूल कणों के निर्माण की प्रक्रिया। निविद् रश्मियों का कार्य व व्यवस्थापन। 653

११.११ सौर्य-तीनों सवन-आदित्य, मूल कण बनने की पूर्वोक्त प्रक्रिया में निविद् का स्वरूप। पच्छ-अश्व-निविद्-देव, सृष्टि की सम्पूर्ण प्रक्रियायें परमात्मा के नियमों के अनुसार संचालित। निविद्-छिद्र-पापीयान्, निविद् रश्मियों की उत्पत्ति में निरन्तरता। निविद्-पद-यज्ञ-मुग्ध-यजमान-प्रमायुक, निविद् रश्मियों की पृथक्ता परन्तु अति सामीप्यता। ब्रह्म-क्षत्र, विद्युदावेशित कणों के मध्य निविद् रश्मियों की क्रिया-विधि। निविद्-निविद्धान्-स्तोत्र-तृतीयसवन-गर्भ, मूल कण के निर्माण में निविद् रश्मियों की क्रियाविधि, सूक्त-निविद्-वास्तु, विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ निविद् रश्मियों के संयोग की क्रियाविधि। निविद्-तन्तु-मन-नाराशंस-प्रजा, भ्रष्ट रश्मियों को व्यवस्थित करने में गायत्री रश्मियों की भूमिका। 657

अथ ११.१ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. ग्रहोक्थं वा एतद् यत्प्रउगं, नव प्रातर्ग्रहा गृह्यन्ते नवभिर्बहिष्पवमाने स्तुवते, स्तुते स्तोमे दशमं गृह्णाति, हिंकार इतरासां दशमः, सो सा सम्मा।।

व्याख्यानम्- विभिन्न प्रकार के प्राथमिक प्राणादि पदार्थ, छन्द रश्मियां और अतिच्छन्द रश्मियां, जो सक्रिय होकर सृष्टि प्रक्रिया में भाग लेने में समर्थ होती हैं, वे प्रउग संज्ञक रश्मियां उक्थ अर्थात् विभिन्न प्रकार के प्राण और अन्न संज्ञक पदार्थों का बल होती हैं अर्थात् ये रश्मियां ही चेतन तत्त्व परमात्मा की प्रेरणा से संचालित होकर विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करती हैं। यहाँ 'ग्रह' शब्द इस बात का सूचक प्रतीत होता है कि यहाँ विशेषकर आकर्षण बल की ही चर्चा की गई है। "ग्रहोक्थं" का एक आशय यह भी प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों रूपी वाक् तत्त्व को ही प्रउग कहा गया है, जैसा कि कहा गया है- "वागुक्थम्" (ष.१.५), "पशव उक्थानि" (ऐ.४.१)। उधर तैत्तिरीय ब्राह्मण १.८.७.२ के कथन "प्रजा वा उक्थानि" से यह स्पष्ट होता है कि **प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ के आकर्षण बल को ग्रहोक्थ एवं प्रउग कहा गया है**। अब महर्षि कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ अर्थात् प्रातःसवन में अति शीघ्रता से उत्पन्न होने वाले 'प्रातर्ग्रह' **नामक बल ६ प्रकार के होते हैं**। इस विषय में आचार्य सायण ने लिखा है- "प्रातःसवन ऐन्द्रवायवमैत्रावरुणादयो धाराग्रहा नवसंख्याका गृह्यन्ते। ग्रहीता चाध्वर्युः"। इसके साथ ही वे आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १२.१३.५ को उद्धृत करते हुए लिखते हैं- "धाराया अन्तर्यामं गृह्णाति। सर्वांश्चातो ग्रहानाध्रुवात्"। यहाँ "अन्तर्याम" से लेकर 'ध्रुव' तक ६ धारा ग्रहों की गणना आचार्य सायण ने इस प्रकार की है- "अन्तर्यामः, ऐन्द्रवायवः, मैत्रावरुणः, आश्विनः, शुक्रः, मन्थी, आग्रयणः, उक्थ्यः, ध्रुवश्चेति नव धाराग्रहाः"। ये ग्रह अर्थात् बल इस ब्रह्माण्ड में धाराओं के रूप में सतत गमन करते रहते हैं अर्थात् ये उत्पन्न होकर तुरन्त शान्त नहीं होते। इस कारण इन्हें धारा ग्रह कहते हैं। अब हम इनमें से प्रत्येक ग्रह अर्थात् बल पर क्रमशः विचार करते हैं-

(१) अन्तर्यामः - {अन्तर्यामोऽपान एव (कौ.ब्रा.१२.४), उदान एवान्तर्यामः (श.४.१.१.१), पशवो वा अन्तर्यामः (काठ.२८.७)।} प्राण जो किसी पदार्थ के अन्दर गमन करता हुआ व्याप्त होता है, वह और उसका बल अन्तर्याम कहलाता है। उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि **उदान और अपान का संयुक्त बल अन्तर्याम कहलाता है।** इनमें से उदान प्राण ऊपर और अपान प्राण नीचे संयुक्त होकर किसी पदार्थ के मध्य भाग में संचरित होते रहते हैं। विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियां भी इसी क्षेत्र में संचरित होती हैं। **इन सबका संयुक्त बल अन्तर्याम कहलाता है।**

(२) ऐन्द्रवायवः - यह बल इन्द्र अर्थात् विद्युदग्नि, गायत्री रश्मियों एवं धनंजय प्राण के मेल से उत्पन्न होता है। यह बल, तेज और गति दोनों की उत्पत्ति, सक्रियता एवं तीव्रता का कारण होता है। इस विषय में विशेष परिज्ञान के लिए २.२५.३ व २.२६.१ द्रष्टव्य हैं।

(३) मैत्रावरुणः - प्राण व अपान एवं प्राण और उदान दोनों के मध्य जो बल कार्य करता है और उन दोनों को साथ-२ जोड़े रखता है, वह मैत्रावरुण कहलाता है। **यह बल मन और सूत्रात्मा वायु किंवा दैवी छन्द रश्मियों से उत्पन्न होता है।** यह बल अति सूक्ष्म तथा अन्य बलों का प्रतिष्ठापक है। यह अति वेगवान् और विभिन्न आकर्षणादि बलों का कारण भी है। इसके अतिरिक्त विशेष जानकारी के लिए २.२६.१ द्रष्टव्य है।

(४) आश्विनः - **यह बल प्रकाशित और अप्रकाशित कणों के मध्य कार्य करता है।** यह सबको गतिमान

करने, संयोगादि प्रक्रियाओं का सतत विस्तार करने, विभिन्न पदार्थों के मध्य एक मर्यादित दूरी बनाये रखने एवं विभिन्न कण आदि पदार्थों की मर्यादा निश्चित करने में सहायक होता है। **यह बल पंक्ति, बृहती वा त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के मेल से उत्पन्न होता है।** इस विषय में विशेष जानकारी के लिए २.२६.१ द्रष्टव्य है।

(५) शुक्रः - {अत्ता वै शुक्रः (श.५.४.४.२०), शुक्रः सोमः (तां.६.६.६), तेजो वै शुक्रो ब्रह्मवर्चसम् (मै.४.६.३), त्रिष्टुप् शुक्रः (मै.४.८.८), आशुकारी (म.द.ऋ.भा.६.१६.३४), पवित्रः पवित्रकारको वा (म.द.य.भा.४.२४), शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (नि.८.११), ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम् (ऐ.७.१२)।} इस बल का सोम रूप होना यह दर्शाता है कि इसकी उत्पत्ति सूक्ष्म छन्द रश्मियों अर्थात् मरुद् रश्मियों से होती है। इससे स्पष्ट है कि दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से ही इसकी उत्पत्ति होती है। **यह अत्यन्त शीघ्रकारी, विभिन्न परमाणुओं को अपने में समेटने वाला, उनमें आकर्षणादि बल एवं तेज उत्पन्न करने वाला है।** यह बल विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके उनको पवित्र रूप प्रदान करता है अर्थात् विभिन्न प्रकार की तन्मात्राओं एवं विभिन्न बृहत् छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(६) मन्थीः - {अत्तैव शुक्रऽआद्यो मन्थी (श.४.२.१.३), मथितुं शीलः (म.द.य.भा.१८.१६), मन्थी सक्तुश्रीः (तै.सं.४.४.६.१), (सक्तवः = सच्यन्ते समवेताः क्रियन्ते ते सक्तवः - उ.को.१.६६; सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य विकसितो भवति - नि.४.६; देवानां वा ऽएतद् रूपं यत्सक्तवः - श.१३.२.१.३), चन्द्रमा एव मन्थी (श.४.२.१.१), (चन्द्रमा = चन्द्रमा उदानः - जै.उ.४.११.१.६; चन्द्रमा गायत्रस्य ज्योतिः - जै.ब्रा.१.२६२; चन्द्रमा मनः - ऐ.आ.२.१.५)।}

यह बल भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है, जो उपर्युक्त शुक्र बल के क्रियाशील होने के पूर्व कार्य करता है। यह दैवी गायत्री छन्द रश्मियों एवं उदान रश्मियों से मिलकर एवं मनस् तत्त्व के साथ संगत होने से उत्पन्न होता है। यह विभिन्न प्रकार के प्राथमिक प्राणों रूपी देव पदार्थों को आश्रय देता है। ये सभी देव पदार्थ परस्पर साथ-२ जुड़कर सर्वत्र विकसित होते अर्थात् फैलते रहते हैं। यह बल उनका विलोडन करता है।

(७) आग्रयणः - {आत्मा वा आग्रयणः (श.४.२.२.५), जागतो वा आग्रयणः (तै.सं.७.२.८.१), पिता वा आग्रयणः, पुत्रा ग्रहाः (काठ.२७.६), वाग्वा आग्रयणः (तै.सं.७.२.८.४), प्रजापतिर्वा आग्रयणः (काठ.२७.६), (जागतम् = जगज्जानाति येन तत् - म.द.य.भा.१२.५)}

यह बल मन और दैवी जगती छन्द रूप वाग् रश्मियों से उत्पन्न होता है। यह बल सतत गति करता हुआ सर्वाधिक विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होकर सभी बलों के आगे-२ गमन करता है। इसलिए महर्षि यास्क ने कहा है- "जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिर्वा। जल्गल्यमानोऽसृजत्। इति च ब्राह्मणम्।" (नि.७.१३)। यहाँ 'जल्गल्यमान' का अर्थ करते हुए पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर लिखते हैं कि क्षीण होते हुए अर्थात् सामग्री समाप्त करते हुए प्रजापति ने इसे रचा। आचार्य दुर्ग ने 'जल्गल्यमान' शब्द को "ग्लै हर्षक्षये" धातु से निष्पन्न माना है। इसका आशय हमें यह प्रतीत होता है कि जहाँ अन्य छन्द रश्मियों की व्याप्ति वा विद्यमानता नहीं होती है, उस क्षीण और अतृप्त विरल पदार्थ में भी इसकी व्याप्ति होती है। यह बल विभिन्न पदार्थों के अवशोषण व उत्सर्जन में अपनी विशेष भूमिका निभाता है।

(८) उक्थ्यः - यह उस बल का नाम है, जो विभिन्न प्रकार की छन्द एवं मरुद् रश्मियों के मध्य कार्य करता है। इसी बल के कारण विभिन्न छन्द रश्मियों के अक्षर, पद एवं पाद आदि अवयव रूप रश्मियां परस्पर संयुक्त रहती हैं। इस कारण यह बल अति श्रेष्ठ माना जाता है। इसी कारण कहा है- "उक्थ्यं प्रशस्यनाम" (निघं.३.८)।

(९) ध्रुवः - {अहर्वै ध्रुवम् (जै.ब्रा.३.५८), आयुर्ध्रुवः (मै.४.५.६)। (आयुः = आयुर्वा एष यद् वायुः - ऐ.आ.२.४.३; आयुर्वै परमः कामः - काठ.३७.१६)। (कामः = मनसि वै सर्वे कामाः श्रिताः - ऐ.आ.१.३.२; छन्दांसि वै सर्वे कामाः - जै.ब्रा.१.३३२)}

दिव्य वायु किंवा मनस् तत्त्व के अन्दर विद्यमान सबसे सूक्ष्म बल ध्रुव कहलाता है। इसका ही कुछ अंश मैत्रावरुण अर्थात् प्राणापान आदि विभिन्न प्राणों में रहता है। तीव्र वेगवान् और सामर्थ्य वाले

प्राणों से उत्पन्न होकर भी यह वल एक ही स्थान पर किंवा विभिन्न परमाणुओं के आस-पास उन्हें प्रेरित करता हुआ अन्य प्राणों को उन परमाणुओं में प्रवाहित करता है, जिससे वे सभी प्राण अपना-२ कार्य करते रह सकते हैं। यह बल निश्चल भाव से रहते हुए भी अन्य सभी बलों को सर्वत्र प्रेरित करता है, क्योंकि दिव्य वायु भी सर्वत्र व्याप्त होकर अत्यन्त मन्द गतियुक्त ही होता है। इस कारण उसमें विद्यमान यह बल भी स्थिर होकर ही अपना कार्य करता है। यद्यपि शास्त्रों में प्रायः मन को तीव्रतम गति वाला कहा गया है तथापि उसका यह बल ध्रुव कैसे कहा गया है? इस विषय में हमारा यह मत है कि यद्यपि मन की गति अत्यन्त तीव्र होती है, तथापि उसकी सूक्ष्म रश्मियां, जो दूसरे प्राणों को प्रभावित करती हैं, उनकी गति अति मन्द एवं अति संकुचित क्षेत्र में ही होती है। इसी कारण इनके बल को ध्रुव भी कहा गया है। यहाँ मन की तीव्रतम गति का आशय यह समझना चाहिए कि प्रारम्भ में मनस्तत्त्व के अन्दर 'ओम्' रश्मि द्वारा सक्रियता की गति तीव्रतम होती है।

इस प्रकार ये कुल मिलाकर ६ बल प्रातर्ग्रह कहलाते हैं अर्थात् ये प्रातःसवन किंवा सृष्टि के प्रथम चरण में अकस्मात् तीव्रता से उत्पन्न होते हैं।

इसके साथ ही २.२२.१ में वर्णित बहिष्पवमान सूक्तस्थ (साम.उ.१.१.१-६) ६ गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा विभिन्न पदार्थों, विशेषकर संयोज्य कणों के बाहरी भाग में ऐसी बल रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जो उनकी संयोग प्रक्रिया में महती भूमिका निभाती हैं। इसलिए कहा है- ''शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् बहिष्पवमानम्'' (जै.ब्रा.१.२६७)। ये रश्मियां प्रातःसवन के उपर्युक्त ६ बलों के सृजित होते-२ उत्पन्न होती हैं, जिसके कारण इन दोनों में विशेष व निकट सम्बन्ध भी होता है। इसी कारण तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा- ''प्रजापतिर्ह वा एतत् प्रातःसवने प्रजाः प्रजनयंस्तिष्ठति यदेतद् बहिष्पवमानम्'' (जै.ब्रा.१.३१२)। अर्थात् मनस् तत्त्व रूपी प्रजापति किंवा वाक् और मनस् तत्त्व का मिथुन रूप प्रजापति प्रातःसवन के बलों को उत्पन्न करता हुआ बहिष्पवमान नामक रश्मियों को उत्पन्न करने का अनुष्ठान करता है किंवा उन्हें उत्पन्न करता है। ध्यातव्य है कि 'स्था' धातु का एक अर्थ 'अनुष्ठान करना' (आप्टेकोष) भी होता है। जब ये ६ गायत्री रश्मियां उत्पन्न वा प्रकाशित होती हैं, उस समय एक दसवाँ बल भी विद्यमान होता है। वह 'हिम्' बल रूपी सूक्ष्म रश्मि है, जो इन ६ गायत्री छन्द रश्मियों में से प्रत्येक दो के मध्य उत्पन्न होकर उन्हें परस्पर जोड़ती है, जबकि मूलतः बहिष्पवमान संज्ञक गायत्री रश्मियां ६ ही होती हैं। इस प्रकार प्रातःसवन के ६ बलों का इन ६ रश्मियों के साथ साम्य स्थापित होता है।

यहाँ ''सम्मा'' शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है- ''सम्मेत्यत्र द्वितीयो मकारश्छान्दसः। तस्मिन्नपगते सति समा तुल्येत्युक्तं भवति।'' यही हमारे उपर्युक्त कथन का प्रयोजन है।।

अब उपर्युक्त प्रउग संज्ञक बलों का क्रमशः वर्णन अगली कण्डिकाओं में करते हैं।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में ६ बल अकस्मात् और तीव्रता से उत्पन्न होते हैं। वे बल इस प्रकार हैं-

(१) अन्तर्यामः - यह बल विभिन्न कणों वा तरंगों के मध्य भाग में सतत संचरित होने वाली सूक्ष्म रश्मियों के रूप में होता है। वर्तमान विज्ञान द्वारा माने जाने वाले मूल कणों के भीतर यह बल सूक्ष्म रश्मियों के रूप में विद्यमान होता है, जो उन कणों को सक्रिय करने और उन्हें इस रूप में बने रहने को प्रेरित करता है।

(२) ऐन्द्रवायवः - यह बल तेज और गति दोनों की उत्पत्ति, सक्रियता एवं तीव्रता का कारण रूप होकर दो आवेशित कणों के मध्य कार्य करता है।

(३) मैत्रावरुणः - प्राणापान एवं प्राणोदान युग्मों के मध्य संयुक्त प्राणों को जोड़ने के लिए यह बल उत्तरदायी होता है। यह बल अत्यन्त सूक्ष्म रूप होकर विभिन्न प्रकार के बलों में विद्यमान होता है। यह अति वेगवान् पदार्थों के भी बल का कारण है।

(४) आश्विनः - यह बल विभिन्न कणों और तरंगों के मध्य कार्यरत बल तथा विभिन्न सूक्ष्म कणों के मध्य अति निकट स्तर पर एक सूक्ष्म प्रतिकर्षण बल के रूप में भी होता है। इसके कारण दो सूक्ष्म कणों के मध्य एक मर्यादित अवकाश अवश्य होता है, जिसके कारण ब्रह्माण्ड के कोई भी सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थ परस्पर पूर्णतया स्पर्श नहीं कर सकते। इसके साथ ही गुरुत्वाकर्षण बल भी आश्विन बल कहलाता है।

(५) **शुक्रः** – इस बल की रश्मियां तीव्र भेदन सामर्थ्य से युक्त होती हैं अर्थात् अति उच्च ऊर्जा वाले पदार्थों में यह बल विद्यमान होता है, जो विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके उन्हें शुद्ध करता है।
(६) **मन्थीः** – यह बल पूर्वोक्त शुक्र बल से पहले उत्पन्न होकर पदार्थ के सूक्ष्म स्तर पर जाकर उसमें हलचल पैदा करता है।
(७) **आग्रयणः** – ब्रह्माण्ड में यह बल सबसे अधिक विस्तृत क्षेत्र में विद्यमान होता है। ऊर्जा के अवशोषण और उत्सर्जन में भी यही बल अपनी भूमिका निभाता है।
(८) **उक्थ्यः** – यह बल प्रत्येक छन्द रश्मि, जो स्वयं बल स्वरूप होती हैं, को भी संघात रूप प्रदान करने में अर्थात् उनको रश्मि रूप प्रदान करने में सहायक होता है। यह बहुत सूक्ष्म बल है।
(९) **ध्रुवः** – इस बल की रश्मियां दूर तक गमन न करके निकटस्थ बल रश्मियों को परस्पर संयुक्त करने के लिए अति मन्द गति से एवं अति संकुचित क्षेत्र में प्रयास करती हैं।

इन ९ बल रश्मियों का ९ गायत्री छन्द रश्मियों से विशेष और निकट सम्बन्ध होता है। ये ९ गायत्री छन्द रश्मियां विभिन्न मूल कणों के चारों ओर स्पन्दित होती हुई इन ९ बल रश्मियों से यथायोग्य सम्पर्क करके संयोग और वियोग की प्रक्रिया में विशेष भूमिका निभाती हैं।

२. वायव्यं शंसति, तेन वायव्य उक्थवान्।।

{पृंचतीः (पृची संपर्के)। उरूची = उरूपपदे अंचु गतिपूजनयोः (भ्वा.) धातोः 'ऋत्विग्.' (पा. अ.३.२.५.९), सूत्रेण क्विन्। 'अच' इत्यकारलोपो ङीपि। 'चौ' इति पूर्वस्य दीर्घः (वे.को. - आ. राजवीर शास्त्री)}

व्याख्यानम्- विभिन्न प्रउग बल रश्मियां तृच छन्द रश्मियों का रूप होती हैं, जिनमें से प्रथम तृच से मधुच्छन्दा ऋषि (जिसके परिज्ञान के लिए १.१६.५ देखें) से उत्पन्न वायुदेवताक

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्।।१।।
वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः। सुतसोमा अहर्विदः।।२।।
वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे। उरूची सोमपीतये।।३।। (ऋ.१.२.१-३)

का ग्रहण किया जाता है। इसका प्रभाव निम्नानुसार होता है-

(१) इसके दैवत प्रभाव से वायु तत्त्व समृद्ध और सक्रिय होता है। हमारी दृष्टि में यहाँ वायु तत्त्व से मुख्यतः धनंजय प्राण का ग्रहण है। इसका कारण जानने के लिए २.२५.२ व २.२६.२ द्रष्टव्य है। इसका छन्द पिपीलिका मध्या निचृद् गायत्री होने से बल और तेज की तीक्ष्णता बढ़ती है। इसके अन्य प्रभाव से वह धनंजय प्राण दो कणों के मध्य आकाश तत्त्व में व्याप्त होकर दूसरे सोम प्रधान कण से उत्सर्जित मरुद् रश्मियों को सुन्दरता से क्रमबद्ध करते हुए अपनी ओर आकर्षित करता है। इसके साथ ही धनंजय वायु उन मरुद् रश्मियों के द्वारा आकर्षित होते हुए आकाश तत्त्व की रक्षा करता हुआ उसे गति देता है, जिससे आकाश तत्त्व संकुचित होकर आग्नेय और सौम्य, दोनों प्रकार के कणों को मिलाने में सहायक होता है। इस विषय में खण्ड १.२.३ भी द्रष्टव्य है।

(२) इसका दैवत व छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् है। इसके अन्य प्रभाव से वह धनंजय वायु प्राण नामक प्राण तत्त्व एवं उक्थ अर्थात् सूक्ष्म वाग् रश्मियों के साथ संगत होकर मरुद् रश्मियों को प्रेरित करने एवं सक्रिय करने वाले सूत्रात्मा वायु को उन्हें परस्पर संगत होने के लिए प्रेरित करता है, जिससे वे दोनों कण निकट आने में सहयोग पाते हैं।

(३) इसका दैवत प्रभाव उपर्युक्तवत् एवं छान्दस प्रभाव कुछ मन्द होता है। इसके अन्य प्रभाव से सूक्ष्म वाग् रश्मियां प्रकृष्ट रूप से आकाश तत्त्व को अपने साथ बाँधती हुई और उसे गति देती हुई मरुद्

रश्मियों का अवशोषण करने के लिए धनंजय प्राण के साथ मिलकर आकर्षण व धारण बल को प्रदान करने के लिए दोनों कणों के मध्य व्याप्त हो जाती हैं।

इन तीनों छन्द रश्मियों से धनंजय वायु का बल समृद्ध होता है। यद्यपि पूर्वोक्त ६ बल रूप ग्रहों में वायव्य ग्रह नाम से विद्यमान नहीं है। यह वस्तुतः 'ऐन्द्रवायवः' बल का एक भाग है, जो इन छन्द रश्मियों से समृद्ध होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ दो आवेशित कणों के मध्य आकर्षण व प्रतिकर्षण बल की प्रक्रिया, जिसे हम पूर्व में भी व्याख्यात कर चुके हैं, के विषय में कुछ विशेष लिखते हैं-

जब धनावेशित और ऋणावेशित कणों को निकट लाया जाता है, उस समय ऋणावेशित कण से उत्सर्जित मरुद् रश्मियां आकाश तत्त्व को अपने साथ सम्बद्ध करने लगती हैं। उधर धनावेशित कण से उत्सर्जित धनंजय रश्मियां तीन गायत्री छन्द रश्मियों से प्रेरित होकर मरुद् रश्मियों की गति और दिशा को अपनी ओर मोड़ती हुई आकाश तत्त्व को अपनी ओर आकर्षित करने लगती हैं। उधर प्राण-नामक प्राण तत्त्व भी धनंजय आदि के साथ संगत होकर आकाश तत्त्व के अन्दर व्याप्त सूत्रात्मा वायु को भी अपनी ओर खींचता हुआ दोनों कणों के मध्य स्थित आकाश तत्त्व को बांधता एवं संकुचित करता हुआ दोनों कणों को निकट ले आता है। प्रतिकर्षण बल की प्रक्रिया को इसी सिद्धान्त के आधार पर खण्ड १.२.३ को दृष्टिगत रखते हुए समझें।।

३. ऐन्द्रवायवं शंसति, तेनैन्द्रवायव उक्थवान्।। मैत्रावरुणं शंसति, तेन मैत्रावरुण उक्थवान्।।

{प्रयोभिः = कमनीयैर्लक्षणैः (म.द.य.भा.७.८), तृप्तिकरैरन्नादिभिः पदार्थैः सह (म.द.ऋ. भा.१.२.४)। मंक्षु = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५)। निष्कृतम् = यद् वै निष्कृतं तत्संस्कृतम् (ऐ. आ.१.१.४)। घृताची = रात्रिनाम (निघं.१.७), स्रुग् घृताची (श.८.६.१.१६), वाग्वै धीर्घृताची (ऐ.आ.१.१.४)। रिशादसः = रिशान् दोषान् शत्रूंश्चादन्ति हिंसन्ति तान् (म.द.य.भा.३. ४४)। तुविजातः = बहुजातः (नि.१२.३६), बलादिगुणैः प्रसिद्धः (म.द.ऋ.भा.२.२७.१)}

व्याख्यानम्- यहाँ द्वितीय तृच रूपी प्रउग बल की चर्चा करते हैं। इस तृच की उत्पत्ति पूर्ववत् मधुच्छन्दा ऋषि प्राण से होती है। इसका देवता इन्द्रवायू होने से इन्द्र तत्त्व तथा धनंजय प्राण समृद्ध होते हैं। ये तृच रश्मियां

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि।।४।।
वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू। तावा यातमुप द्रवत्।।५।।
वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्। मक्ष्वि१त्था धिया नरा।।६।। (ऋ.१.२.४-६)

है। इनके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) इसका छन्द गायत्री होने से इन्द्र तत्त्व एवं धनंजय प्राण दोनों का तेज और बल समृद्ध होता है। {इन्दुः = उदकनाम (निघं.१.१२), यज्ञनाम (निघं.३.१७), सोमो वै राजेन्दुः (ऐ.१.२६), इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा (नि.१०.४१)। उशन्ति = प्रकाशन्ते कामयन्ते (म.द.ऋ.भा.१.२.४), साक्षात्कर्तुं प्रयतन्ते (म.द.य.भा.७. ८)} इसके अन्य प्रभाव से इन्द्र तत्त्व एवं धनंजय वायु, दोनों ही अपने आकर्षण बल के साथ सुता अर्थात् मरुद् रश्मियों को व्याप्त कर लेते हैं। इसके साथ ही वे दोनों आग्नेय और सौम्य कणों के मध्य व्याप्त मरुद् रश्मियों व धनंजय प्राण को संगत करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

(२) इसका छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् है। इसके अन्य प्रभाव से वे धनंजय प्राण और इन्द्र तत्त्व {चेतथः = चेतयतः प्रकाशयित्वा धारयित्वा च संज्ञापयतः (म.द.ऋ.भा.१.२.५)। वाजिनीवसू = उषोवत्

प्रकाशवेगयोर्वसतः (म.द.ऋ.भा.१.२.५), वाजिनीत्युषसो नामसु पठितम् (निघं.१.८)। द्रवत् = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५)} प्रकाश और वेग से युक्त होकर मरुद् रश्मियों को प्रकाशित वा धारण करके अति शीघ्रता से उनमें व्याप्त होकर संगत करते हैं और उनकी दिशा को अपनी ओर मोड़ लेते हैं। यहाँ "चेतथ" के अर्थ में विद्यमान "संज्ञापयत" पद में सम् पूर्वक 'ज्ञा' धातु का प्रयोग है। आप्टेकोष में इसके अर्थ "मेल-जोल से रहना, परस्पर सहमत होना, पहचानना" आदि हैं। तदनुकूल भावों का ग्रहण करके ही हमने उपर्युक्त व्याख्यान किया है।

(३) इसका छान्दस प्रभाव पूर्वोक्त की अपेक्षा तीव्र होता है, क्योंकि इसका छन्द निचृद् गायत्री है। इसके अन्य प्रभाव से धनंजय प्राण और इन्द्र तत्व {इत्था = अमुत्र (नि.४.२५)} उन दोनों कणों के मध्य पूर्वोक्त प्रकार के प्रभावों को उत्पन्न करके सौम्य कण से नर अर्थात् मरुद् रश्मियों को मानो निचोड़ते हैं। इसके पश्चात् वे सब ओर से उनमें व्याप्त होकर विभिन्न क्रियाओं से, जिनका कि वर्णन हम पूर्व में अनेकत्र कर चुके हैं, उन मरुद् रश्मियों को संस्कृत करते हैं अर्थात् उनको सम्यक् क्रियाशील कर देते हैं, जिससे दोनों कणों के मध्य आकर्षण बल उत्पन्न हो सके। इन तीनों रश्मियों के प्रभाव से धनंजय वायु, मरुद् रश्मियां तथा दोनों कणों के मध्य उत्पन्न होने वाले बल-क्षेत्र-कण समृद्ध होते हैं।।

इसके उपरान्त पूर्वोक्त मधुच्छन्दा ऋषि प्राण से उत्पन्न मित्रावरुणदेवताक एव गायत्री छन्दस्क तृतीय तृच

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता।।७।।
ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे।।८।।
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम्।।९।। (ऋ.१.२.७-९)

रूप प्रउग का वर्णन करते हैं। इनको दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राण और अपान तत्त्व तेजस्वी और बलवान् होते हैं। अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) प्राण नामक प्राण तत्त्व और वरुण अर्थात् अपान तत्त्व बाधक असुर तत्त्व को नष्ट करने वाले पावक बल को प्राप्त करते हैं अर्थात् शोधक बल के साथ दोनों परस्पर संगत होते हैं। इसके कारण वे दोनों प्राणापान विभिन्न दीप्ति और क्रियाओं से युक्त किरणों को सिद्ध करते हैं।

(२) {ऋतम् = मनो वा ऋतम् (जै.उ.३.६.८.५), ओमित्येतदेवाक्षरमृतम् (जै.उ.३.६.८.५)} मनस् तत्त्व एवं 'ओम्' दैवी छन्द रश्मि के साथ संगत होकर प्राण और अपान तत्त्व ऋतम् अर्थात् ब्रह्म = बल को बढ़ाते हुए परस्पर संगत होते हैं। 'ऋतम्' का अर्थ उदक भी है। इससे संकेत मिलता है कि जब प्राण और अपान तत्त्व दोनों परस्पर संगत होते हैं, तब वे अपनी सूक्ष्म रश्मियों से एक-दूसरे को सींचते हैं। **यद्यपि प्राण और अपान दोनों ही सूक्ष्म रश्मि रूप ही होते हैं, पुनरपि उन रश्मियों से भी और भी सूक्ष्मतर रश्मियां उत्सर्जित होती रहती हैं। वे रश्मियां मनस् तत्त्व एवं सूक्ष्म वाक् तत्त्व की ही होती हैं। इन रश्मियों के द्वारा ही प्राण और अपान दोनों परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श करते हैं और बांधते हैं।** महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद भाष्य १.३६.३ में 'स्पृशन्ति' का अर्थ 'सम्बध्नन्ति' किया है। इस प्रकार परस्पर बंधे हुए प्राण और अपान तत्त्व संयोगादि की व्यापक क्रियाओं को व्याप्त अर्थात् सम्पादित करते हैं।

(३) वे प्राणापान क्रान्तदर्शी अर्थात् अदृश्य होकर अति विस्तृत पदार्थ जगत् में सर्वत्र प्रसिद्ध वा प्रादुर्भूत होते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि के विस्तृत पदार्थ ही प्राणापान का निवास होते हैं। सृष्टि में होने वाली सभी क्रियाओं, विभिन्न तन्मात्राओं एवं प्राणों में बल को धारण करते हैं। इस प्रकार इन तीनों रश्मियों के द्वारा प्राण और अपान, दोनों ही समृद्ध होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं- दो विद्युदावेशित कणों, विशेषकर विपरीत आवेशित कणों के बीच १.२.३ में वर्णितानुसार उत्पन्न फील्ड पार्टीकल्स एवं धनंजय प्राण,

दोनों मिलकर ऋणावेशित कणों से उत्सर्जित मरुद् रश्मियों में व्याप्त होने लगते हैं। इससे वे परस्पर निकट आने लगते हैं। ऋणावेशित कण से उत्सर्जित होने वाली मरुद् रश्मियां धनावेशित कण की ओर केन्द्रित होकर प्रवाहित होने लगती हैं। **धनंजय वायु के द्वारा धनावेशित कण ऋणावेशित कणों में से मरुद् रश्मियों को उत्सर्जित करने हेतु प्रेरित करता तथा उन्हें विशेष क्रियाशील बनाता है।** इस कारण पूर्वोक्त क्रियाएं तीव्र व तीव्रतर होती हैं। प्राण और अपान तत्त्वों के बीच कार्यरत अति सूक्ष्म बल मन एवं सूक्ष्मतम वाक् तत्त्व के योग से उत्पन्न होता है। यह सूक्ष्म बल डार्क एनर्जी के सूक्ष्म प्रभावों को नष्ट करके विभिन्न क्रियाओं और पदार्थों को शुद्ध रूप प्रदान करता है, जिसके कारण विभिन्न कण और तरंगें उत्तम प्रकार से क्रियाशील होती हैं। यह बल जहाँ अत्यन्त सूक्ष्म है, वहीं अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में भी सभी सृजन क्रियाओं को व्याप्त करने में समर्थ होता है। प्राण और अपान तत्त्व सब जगत् में व्याप्त होकर भी अदृश्य रहते हैं। इसके साथ ही ये दोनों प्राण विभिन्न प्रकार के कणों वा तरंगों को बल प्रदान करते हैं।।

४. आश्विनं शंसति, तेनाऽऽश्विन उक्थवान्।। ऐन्द्रं शंसति, तेन शुक्रामन्थिना उक्थवन्तौ।।

{पाणिः = किरणसमूहो व्यवहारः (तु.म.द.य.भा.१.१६)। शुभम् = उदकनाम (निघं.१.१२), संग्रामम् (म.द.ऋ.भा.५.५७.२), (शुभ दीप्तौ+क = चमकीला)। चनः = अन्ननाम (नि.६.१६)। चनस्येतम् = चनस् शब्दाद् 'उपमानादाचारे' (पा.अ.३.१.१०), सूत्रेण क्यच्, ततो लोट् (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री)। पुरुभुजा = पुरूणि बहूनि भुंजि भोक्तव्यानि वस्तूनि याभ्यां, तौ (म.द.ऋ.भा.१.३.१), प्राणा वै भुजः (श.७.५.१.२१)। दंसः = कर्मनाम (निघं.२.१)। शवीरा = वेगवती (तु.म.द.ऋ.भा.१.३.२)। धिष्ण्या = धृष्णोति प्रगल्भो भवतीति धिष्ण्यः (उ.को.४.१०८), धिष्ण्यः धिष्णाभवः (नि.८.३)। (धिष्णा = द्यावापृथिवीनाम - निघं.३.३०), वाङ्नाम (निघं.१.११), धृष्णोति कार्येषु यया सा अग्निर्ज्वालाप्रेरिता वाक् (तु.म.द.ऋ.भा.१.२२.१०)। दस्रा = दस्रौ दर्शनीयौ (नि.६.२६)। युवाकुः = सुसंयोजकः (म.द.ऋ.भा.७.६०.३) (यु+आकुक्)। वृक्तबर्हिषः = वृक्तं विदीर्णीकृतं हुतपदार्थैरन्तरिक्षं यैस्त ऋत्विजः (म.द.ऋ.भा.५.३५.६), वृक्तबर्हिष ऋत्विङ्नाम (निघं.३.१८), (वृक्तम् = वृजी वर्जने (अदा.) धातोः क्तः; बर्हिष् = बर्हिः अन्तरिक्षनाम - निघं.१.३.; उदकनाम - निघं.१.१२)। नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४)}

व्याख्यानम्- अब आश्विन संज्ञक चतुर्थ तृच रूपी प्रउग का वर्णन करते हैं। यह तृच पूर्वोक्त मधुच्छन्दा ऋषि और अश्विनौ-देवताक

अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत्पाणी शुभस्पती। पुरुभुजा चनस्यतम्।।१।।
अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया। धिष्ण्या वनतं गिरः।।२।।
दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः। आ यातं रुद्रवर्तनी।।३।। (ऋ.१.३.१-३)

तीन ऋचाओं के रूप में उत्पन्न होती हैं। इसके दैवत प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित, दोनों ही प्रकार के पदार्थ सक्रिय और समृद्ध होते हैं। इसके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) इसका छन्द गायत्री होने से प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के पदार्थ तेजस्वी और सबल होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से ये दोनों पदार्थ अति शीघ्रगामिनी, दीप्तिमयी, उदक के समान अपने बलों का सेचन करने हारी रश्मियों को व्यापक रूप से अवशोषित करने वाले होते हैं। ये रश्मियां सूक्ष्म और व्यापक प्राणों के रूप में विद्यमान होती हैं। ये विभिन्न यजन क्रियाओं का सम्पादन करने वाली बल रूप

होती हैं। प्रकाशित और अप्रकाशित, दोनों ही प्रकार के पदार्थ इनका अन्न के समान सेवन करते हैं। इनके कारण ही वे अपनी सभी क्रियाओं को सम्पादित कर पाते हैं।

(२) इसका छन्द निचृद् गायत्री होने से छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् परन्तु कुछ तीक्ष्ण होता है। इसके अन्य प्रभाव से इस सृष्टि में व्यापक कर्मों को करने वाले अति शीघ्रगामी प्रगल्भ बलों से युक्त वाक् तत्त्व से सम्पन्न वे प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार के सूक्ष्म पदार्थ अत्यन्त वेगवान् कर्मों को करने वाली वायु रश्मियों का अच्छी प्रकार सेवन करते हैं अर्थात् इस गायत्री छन्द रश्मि के प्रभाव से ये दोनों प्रकार के पदार्थ अन्तरिक्ष में व्याप्त विभिन्न छन्द रश्मियों का सम्यक् विभाग करके उचित सेवन करते हैं।

(३) इसका छन्द गायत्री होने से प्रभाव प्रथम ऋचा के समान समझें। इसके अन्य प्रभाव से वे प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों पदार्थ सोम तत्त्व से निर्मित होते हैं। वे विभिन्न कर्मों का संयोजन करने वाले और अन्तरिक्ष में विभिन्न प्रकार के प्राणों को रोककर उनको सुसंगत करने वाले पूर्वोक्त विट् संज्ञक रश्मिरूपी रुद्र प्राणों (देखें २.२३.१) के मार्गों पर गमन करते हुए सब ओर व्याप्त हो जाते हैं।

इन तीनों छन्द रश्मियों के प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थों के मध्य कार्य करने वाला बल समृद्ध वा प्राणवान् होता है।।

तदुपरान्त ऐन्द्र संज्ञक पूर्वोक्त मधुच्छन्दा ऋषि प्राण से उत्पन्न इन्द्रदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क पंचम तृच

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः।।४।।

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रंजूतः सुतावंतः। उप ब्रह्माणि वाघतः।।५।।

इन्द्रा याहि तूतुंजान उप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दंधिष्व नश्चनः।।६।। (ऋ.१.३.४-६)

{अण्वीभिः = कारणैः प्रकाशावयवैः किरणैरङ्गुलिभिर्वा (म.द.ऋ.भा.१.३.४)। तना = धननाम (निघं.२.१०)। वाघतः = ऋत्विङ्नाम (निघं.३.१८)। तूतुजानः = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५)}
रूप प्रउग का वर्णन करते है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तेजस्वी और बलवान् होता है। इनके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) हमारी दृष्टि में यहाँ इन्द्र पद मनस् तत्त्व से प्रेरित सूक्ष्म वायु रश्मियों अर्थात् मरुद् रश्मियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिए कहा है- "वागिन्द्रः" (श.८.७.२.६), यन्मनः स इन्द्रः (गो.उ.४.११), "इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः" (गो.उ.१.२३), "इन्द्रो वै मरुतस्सान्तपनः" (गो.उ.१.२३)। इन प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि जब ये रश्मियां अति तेजस्विनी हो जाती हैं, उस समय वे इन्द्र कहलाती हैं। ऐसी रश्मियां अनेक आश्चर्यजनक दीप्तियों से युक्त होकर सर्वत्र व्याप्त होने लगती हैं। ये अपनी कारणभूत रश्मियों के द्वारा विभिन्न विस्तृत पदार्थों को शुद्ध करती हैं। ये रश्मियां ही संसार के उत्पन्न पदार्थों को जीवन देती हैं किंवा उन्हें परस्पर संगत होने के लिए बल प्रदान करती हैं।

(२) वे ऐसी इन्द्र रश्मियां अपने कर्मों से सबमें व्याप्त होती हैं। वे विप्र अर्थात् विभिन्न ऋषि संज्ञक प्राणों के द्वारा किंवा इस छन्द रश्मि के कारणरूप मधुच्छन्दा ऋषि प्राण के द्वारा गतिमान् होती हुई विभिन्न उत्पन्न पदार्थों के साथ संगत होती हैं। वे रश्मियां 'वाघतः' अर्थात् एकाक्षरा ऋतु रश्मियों को संगत करती हुई सूत्रात्मा वायु एवं प्राणापान से भी व्याप्त होती हैं।

(३) विभिन्न वेग और बलों से युक्त शीघ्रगामिनी पूर्वोक्त इन्द्र रश्मियां विभिन्न उत्पन्न पदार्थों में सूत्रात्मा वायु और प्राणापान आदि को निकटता से धारण कराती हैं। यहाँ 'नः' सर्वनाम पद विभिन्न प्रकार के पदार्थों के लिए प्रयुक्त है, जो मानो अन्नरूप किंवा संयोज्यरूप होकर उन इन्द्र रश्मियों को अपने धारण हेतु बुलाते हैं अर्थात् जिस प्रकार इन्द्र रश्मियां विभिन्न पदार्थों को आकर्षित करती हैं, उसी प्रकार विभिन्न पदार्थ भी उनको आकर्षित करते हैं।

इन तीनों छन्द रश्मियों के प्रभाव से **शुक्र** और **मन्थी** दोनों बल सक्रिय होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इलेक्ट्रॉन व फोटोन्स आदि कणों व तरंगों के मध्य कार्यरत बल के विषय में लिखते हैं- विभिन्न गायत्री छन्द रश्मियां इन दोनों प्रकार के पदार्थों को सतेज और सबल बनाती हैं। इसके प्रभाव से ये दोनों पदार्थ सूक्ष्म प्राण रश्मियों का शोषण करने में अति सक्रिय और सबल होते हैं। जो रश्मियां उनके आकर्षण में उपयोगी होती हैं, उनका गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा विभाग करके अवशोषित कर लेते हैं। जिसके कारण उन दोनों पदार्थों में परस्पर आकर्षण बल उत्पन्न होता है। इन्हीं बलों के कारण वे दोनों पदार्थ अपने मार्गों का निर्धारण करने में भी सहयोग पाते हैं।

मन और सूक्ष्म वाग् रश्मियां परस्पर मिलकर आश्चर्यजनक परन्तु अदृश्य दीप्तियों को युक्त करती हैं और ये ही संसार के सब पदार्थों को जीवन देती हैं। ये रश्मियां प्रत्येक पदार्थ को उत्पन्न भी करती हैं और आकर्षित भी। इसके साथ ही संसार के विभिन्न पदार्थ भी इनको आकर्षित करते हैं। ये ही सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में हलचल प्रारम्भ करती हैं। ये विभिन्न पदार्थों का शोधन भी करती हैं।।

५. वैश्वदेवं शंसति, तेनाऽऽग्रयण उक्थवान्।।
सारस्वतं शंसति।।
न सारस्वतो ग्रहोऽस्ति।।
वाक् तु सरस्वती, ये तु के च वाचा ग्रहा गृह्यन्ते, तेऽस्य सर्वे शस्तोक्थाः।।
उक्थिनो भवन्ति य एवं वेद।।१।।

{चर्षणीधृतः = (चर्षणीः = प्रकाशान् - म.द.ऋ.भा.४.७.४; प्राणान् - म.द.ऋ.भा.५.८६.२; चर्षणिः चायिता आदित्यः - नि.५.२४)। दाश्वांसः = दत्तवन्तः (नि.१२.४०), यजमानो वै दाश्वान् (श.२.३.४.३८)। अप्तुरः = योऽपः प्राणान् जलानि वा तोरयति प्रेरयति सः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२७.११), अप्स्वन्तरिक्षे त्वरन्ति ते (म.द.ऋ.भा.१.११८.४)। स्वसरम् = अहर्नाम (निघं.१.९), गृहनाम (निघं.३.४)। अस्रिधः = क्षयार्थस्य नञ्पूर्वकस्य स्रिधेः क्विबन्तस्य रूपम् (म.द.ऋ.भा.१.३.९)। एहिमायासः = आ समन्ताच्चेष्टायां प्रज्ञा येषान्ते (म.द.ऋ.भा.१.३.९), (माया = प्रज्ञापिका विद्युत् - तु.म.द.य.भा.१३.४४; मात्यन्तर्भवतीति माया - उ.को.४.११०)। उस्रा = रश्मिनाम (निघं.१.५)। वह्नयः = वह्नयो वोढारः (नि.८.३)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त वैश्वदेव संज्ञक पूर्वोक्त **मधुच्छन्दा ऋषि** प्राण से उत्पन्न विश्वेदेवादेवताक एवं गायत्री छन्दस्क छठी तृच

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑ देवास॒ आ ग॑त। दा॒श्वांसो॑ दा॒शुषः॑ सु॒तम्।।७।।
विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒प्तुरः॑ सु॒तमा ग॑न्त॒ तूर्ण॑यः। उ॒स्राइ॑व॒ स्वस॑राणि।।८।।
विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒स्रिध॑ एहि॑मायासो अ॒द्रुहः॑। मेधं॑ जुषन्त॒ वह्न॑यः।।९।। (ऋ.१.३.७-९)

रूप प्रउग का वर्णन करते हैं। इस तृच का दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। अन्य निम्नानुसार है-

(१) सभी दिव्य पदार्थ, जो विभिन्न प्रकार के प्रकाशमय प्राणों को धारण करते हैं, वे **'ओम्'** दैवी छन्द रश्मि रूप सूक्ष्मतम वाक् तत्त्व से रक्षित, गतिशील एवं कान्तिमय होकर सब ओर व्याप्त हो जाते हैं। वे परस्पर एक-दूसरे के प्रति आकर्षण का भाव लेकर संयोगादि की प्रक्रियाओं को गति प्रदान करते हैं। वे पदार्थ विभिन्न रश्मियों को उत्सर्जित करने वाले दूसरे पदार्थों के प्रति व्याप्त वा विस्तृत होते रहते

हैं।

(२) वे पूर्वोक्त पदार्थ विभिन्न प्राण और कर्मों को शीघ्रता से प्रेरणा करने वाले और अन्तरिक्ष में अतिशीघ्र गमन करने वाले सृष्टि में विद्यमान सभी पदार्थों को व्याप्त कर लेते हैं। वे पदार्थ रश्मियों के समान अहोरूप होकर सर्वत्र शीघ्र गमन करने वाले होते हैं। साथ ही वे पदार्थ 'स्वः' अर्थात् विद्युत् और व्यान प्राण के द्वारा आच्छादित होते हैं।

(३) उपर्युक्त प्रकार के पदार्थ क्रिया और वल के अक्षय भंडार होते हैं। उनमें विद्यमान सूक्ष्म विद्युत् सव ओर से विभिन्न चेष्टाओं को उत्पन्न करती है। वे पदार्थ अद्रुह कहलाते हैं, क्योंकि उन पर वाधक असुर तत्त्व कोई प्रभाव नहीं डाल पाते। वे तत्त्व परस्पर एक-दूसरे का सेवन करते हुए विभिन्न सृजन कर्मों को वहन करते हैं अर्थात् उन्हें सम्पादित करते हैं।

इन तीनों छन्द रश्मियों के प्रभाव से पूर्वोक्त आग्रयण बल सक्रिय और समर्थ होता है।।

{सूनृता = उषोनाम (निघं.१.८), अन्ननाम (निघं.२.७), वाङ्नाम (निघं.१.११)। अर्णः = उदकनाम (निघं.१.१२), शब्दसमुद्रम् (म.द.ऋ.भा.१.३.१२), मतिः = प्रजा वै मतयः (तै.आ.५.६.८)।}

तदुपरान्त सारस्वत संज्ञक पूर्वोक्त मधुच्छन्दा ऋषि प्राण से उत्पन्न सरस्वतीदेवताक सातवीं तृच

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः।।१०।।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।।११।।

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।।१२।। (ऋ.१.३.१०-१२)

रूप प्रउग का वर्णन करते हैं। इनके देवत प्रभाव से विभिन्न वाग् रश्मियां सक्रिय होती हैं। अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) इसका छन्द गायत्री होने से इन रश्मियों के तेज और वल में वृद्धि होती है। विभिन्न वाग् रश्मियां सवको गति देने हारी एवं उनको शुद्ध करने वाली होती हैं। ये विभिन्न वलों से युक्त होकर विभिन्न प्रकार की गतियों और दीप्तियों से युक्त होती हैं। इन क्रियाओं से ही वे सवको वसाने वाली एवं स्वयं सवमें व्याप्त होकर सभी प्रकार के सृजन कर्मों को प्रकाशित करती हैं।

(२) ये वाग् रश्मियां अन्य वाग् रश्मियों और उत्पन्न हुए विभिन्न संयोज्य पदार्थों एवं विभिन्न प्रकार की दीप्तियों से युक्त किरणों को उत्तेजित व प्रेरित करती हैं, जिसके कारण वे रश्मियां विभिन्न प्रकार के सृजन कर्मों को धारण करती हैं।

(३) विभिन्न वाग् रश्मियां अन्य रश्मियों के भंडार को प्रज्ञा अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं प्राणापान के माध्यम से जगाती अर्थात् प्रेरित करती हैं। यहाँ 'केतु' प्रज्ञावाचक है। इसलिए महर्षि यास्क ने कहा- "केतुं प्रज्ञानम्" (नि.१२.७)। उधर महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं- "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ.आ.२.६.१)। उधर महर्षि यास्क फिर लिखते हैं- "केतवः रश्मयः" (नि.१२.१५)। यह वात हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं कि 'ब्रह्म' शब्द प्राणापान एवं सूत्रात्मा वायु का भी वाचक है। वे रश्मियां इस सृष्टि के सभी कर्मों को एवं सवके धारक विभिन्न प्राणों को विशेषरूप से प्रकाशित करती हैं।।

यहाँ महर्षि लिखते हैं कि विभिन्न प्रकार की सारस्वतदेवताक तीनों छन्द रश्मियों से पूर्वोक्त ६ वल रूप ग्रहों में से कोई एक ही समृद्ध नहीं होता अर्थात् ये रश्मियां किसी ग्रह (वल) विशेष से सम्वद्ध नहीं होती, वल्कि ये सम्पूर्ण वाक् तत्त्व से सम्वद्ध होती हैं। इस कारण से जव वाग् रश्मियों द्वारा वल के उत्पन्न होने की चर्चा आती है, तव उसमें उपर्युक्त सभी वलों का ग्रहण हो जाता है। सभी वाग् रश्मियां प्राण एवं अन्न दोनों ही प्रकार के पदार्थों को सक्रिय और सतेज करती हैं। जव ये रश्मियां सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं, तव पूर्वोक्त सभी ६ प्रकार के वल समृद्ध हो जाते हैं।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के सभी सूक्ष्मतम पदार्थ **'ओम्'** रूपी सूक्ष्म वाग् रश्मि से अनिवार्यतः संयुक्त होते हैं और इस रश्मि के कारण ही उनमें सूक्ष्मतम बल और गति विद्यमान होती है। साथ ही वे पदार्थ विद्युत् और व्यान प्राण के द्वारा भी आच्छादित होकर अन्य प्राणों से संयोग करके तीव्र बल और गति को प्राप्त होते हैं। ये पदार्थ डार्क एनर्जी के द्वारा कभी बाधित न होकर विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को आगे बढ़ाते रहते हैं। इनके बलों को कुछ गायत्री छन्द रश्मियां और भी प्रेरित करती रहती हैं।

जो गायत्री छन्द रश्मियां सभी वाग् रश्मियों को प्रेरित करती हैं, वे सभी प्रकार के बलों को भी समृद्ध करती हैं। उन बलों के समृद्ध होने से सभी प्रकार की क्रियाएं तीव्र होतीं अर्थात् सभी प्रकार की ऊर्जा में वृद्धि होती है।।

ॐ इति ११.१ समाप्तः ॐ

ॐ अथ ११.२ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अन्नाद्यं वा एतेनावरुन्धे यत्प्रउगमन्याऽन्या देवता प्रउगे शस्यतेऽन्यदन्यदुक्थं प्रउगे क्रियते।।
अन्यदन्यदस्यान्नाद्यं गृहेषु भ्रियते य एवं वेद।।

{अन्नाद्यम् = वाग्वा अन्नाद्यम् (काठ.संक.५.७ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत), गौर्वै कृत्स्नमन्नाद्यम् (जै.ब्रा.१.१७८), आपो वा अन्नाद्यम् (काठ.संक.४६.७ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)}

व्याख्यानम्- पूर्व खण्ड में जो प्रउगों का वर्णन किया गया है, उनके विषय में महर्षि पुनः लिखते हैं- ये प्रउग रूपी पूर्वोक्त वल अन्नाद्य अर्थात् विभिन्न प्रकार की वाग्ररश्मियों, किरणों, विभिन्न अन्य प्राणों तथा विभिन्न सूक्ष्म तन्मात्राओं को रोकते हैं, अर्थात् उन पर नियन्त्रण करते हैं। इन प्रउग रूपी वलों में विभिन्न प्रकार के देव पदार्थ अर्थात् प्राणादि पदार्थ प्रकाशित वा सक्रिय होते हैं। अनेक प्रकार के भिन्न-२ उक्थ अर्थात् प्राण व अन्न संज्ञक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उनमें से भी अनेक प्राणादि पदार्थ प्रउग अर्थात् वलों का भी रूप धारण कर लेते हैं। जव इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् जव विभिन्न प्रकार के प्रउग संज्ञक पूर्वोक्त वलों की उत्पत्ति हो जाती है, उस समय {गृहाः = गृहाः सूक्तम् (ऐ.३.२३)} विभिन्न सूक्तरूप रश्मि-समूहों द्वारा विभिन्न प्राण व तन्मात्रादि पदार्थ धारण किए जाते हैं। वे पदार्थ क्रमवद्ध भी किए जाते हैं, जिससे उचित क्रियाएं सम्पन्न हो सकें।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में विभिन्न कण व तरंगें, जो भी पदार्थ विद्यमान हैं, वे परस्पर जो भी क्रियाएं करते हैं, उनके पीछे कोई न कोई बल कार्य करता है। यहाँ बल से तात्पर्य पूर्व खण्ड में व्याख्यात ६ प्रकार के बलों से है, जो सृष्टि के प्रारम्भिक काल में ही उत्पन्न हो जाते हैं। ये बल ही सभी सूक्ष्म पदार्थों पर नियन्त्रण रखते हैं, उन्हें मार्ग प्रदान करते व उनका परस्पर संयोग व वियोग

वैदिक विज्ञान

आधुनिक विज्ञान

चित्र ११.१ सृष्टि के मुख्य वल

कराकर स्थूलतर पदार्थों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।।

२. एतद्ध वै यजमानस्याध्यात्मतममिवोक्थं यत्प्रउगं, तस्मादेनेनैतदुपेक्ष्यतममिवेत्याहुरेतेन ह्येनं होता संस्करोतीति।।

व्याख्यानम्– अब महर्षि पूर्वोक्त प्रउग संज्ञक, बलों के विषय में पुनः लिखते हैं कि जो ये पूर्वोक्त ६ प्रउग संज्ञक बल हैं, वे यजमान अर्थात् संयोज्य पदार्थों अथवा संयोगादि प्रक्रिया के अध्यात्मतम उक्थ के समान होते हैं। इसका तात्पर्य है कि वे बल उस यज्ञ प्रक्रिया अर्थात् संयोगादि प्रक्रिया के निकटतम विद्यमान वा कार्यरत होते हैं। वे बल किंवा उनकी उत्पादिका विभिन्न प्राणादि रश्मियां सभी प्रकार के संयोज्य पदार्थों के लिए प्राण व अन्न दोनों प्रकार से कार्य करती हैं। इसके साथ ही ये संयोगादि प्रक्रिया के निकटतम होती हैं। अन्य विभिन्न रश्मियां इनके पश्चात् उपयोगी होती हैं। इसी कारण विद्वान् कहते हैं कि ये प्रउग संज्ञक रश्मियां सर्गप्रक्रिया के लिए अत्यन्त ईक्षणीय अर्थात् आवश्यक हैं। इन्हीं बलों के द्वारा ही विभिन्न प्रकार के होता अर्थात् जिनका हम अनेकत्र प्रसंग-२ में पृथक्-२ वर्णन कर चुके हैं, वे विभिन्न प्रकार के प्राणादि पदार्थ संस्कृत होते हैं। इसका तात्पर्य है कि वे सम्यग्रूपेण विभिन्न धारण करने योग्य पदार्थों को धारण करने लगते हैं अर्थात् उनकी कार्यशीलता बढ़ने लगती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– पूर्वोक्त ६ प्रकार के बल किसी भी संयोग-वियोग प्रक्रिया का प्रमुखतम व निकटतम भाग हैं। **बल रश्मियां एवं अन्य कण व तरंगें मूलतः एक ही पदार्थ का कार्यरूप हैं।** वर्तमान विज्ञान भी अब इस बात को स्वीकारने लगा है। **जब भी सृष्टि-उत्पत्ति का प्रारम्भ होता है, उस समय सर्वप्रथम बल की ही उत्पत्ति होती है।** इसके पश्चात् ही उस बल से विभिन्न प्रकार की क्रियाएं, गतियां आदि उत्पन्न होने लगती हैं। फिर इनके कारण ही विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों को रोकना, नियन्त्रित करना, गतिहीन को गति व गतिशील को स्थैर्य प्रदान करना पृथक्-२ स्तर पर पृथक्-२ प्रकार के बलों द्वारा ही सम्भव हो पाता है।।

३. वायव्यं शंसति; तस्मादाहुर्वायुः प्राणः, प्राणो रेतो, रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः संभवतीति, यद्वायव्यं शंसति, प्राणमेवास्य तत्संस्करोति।।

व्याख्यानम्– पूर्व खण्ड में जो वायव्य तृच की उत्पत्ति व प्रभाव की चर्चा की गई है, उसी विषय को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो वायव्य तृचरूप छन्द रश्मियां हैं, वे प्राणरूप ही होती हैं। प्राण तत्त्व रेतः स्वरूप होता है। 'रेत' शब्द 'रि गतौ' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ ऐसी गति से है, जो सामान्य हिलना-जुलना, रिसना, टपकना जैसे स्वरूप वाली होती है। वस्तुतः **गति का प्रारम्भ इसी रूप में होता है।** सृष्टि के उपादान कारण में कुछ ऐसी ही हलचल होती है। उसके पश्चात् ही गति तीव्र व तीव्रतर होती जाती है। यह हिलना-जुलना आदि गतियां इस ब्रह्माण्ड में एक स्थान पर नहीं, बल्कि सर्वत्र लगभग एक साथ उत्पन्न होती हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन ऋचाओं के उत्पन्न होने के पूर्व गति ही नहीं थी। ऐसा नहीं है, बल्कि इन ऋचाओं के प्रभाव से गति विशेष सक्रिय हुई थी। सृष्टियज्ञ रूपी पुरुष के उत्पन्न होने के पूर्व ही इस प्रकार की गतियों का प्रादुर्भाव होता है। ये गतियां व इनमें उत्पादक बल ही सृष्टि रूपी पुरुष के बीज हैं। पूर्व में हमने इस तृच के प्रभाव से धनंजय प्राण का सक्रिय होना लिखा है, जबकि यहाँ प्राण की चर्चा है। इस विषय में हमारा मत है कि धनंजय प्राण एक उपप्राण है, जो व्यान नामक प्राण का सहायक है। उधर व्यान तत्त्व प्राण व अपान दोनों का सन्धिरूप है। इस तृच के प्रभाव से धनंजय तत्त्व के सक्रिय होने से व्यानतत्त्व स्वयमेव सक्रिय होता है और इसके सक्रिय होने से प्राणापान दोनों ही सक्रिय होते हैं। शास्त्रों में केवल 'प्राण' शब्द का उल्लेख हो, तो प्रथम तो उससे प्राण नामक प्राण, द्वितीय प्राणापानव्यान तथा अन्त में सभी प्राणों का ग्रहण करणीय है, तदनुसार यहाँ प्राण से प्राणनामक प्राण का ही ग्रहण करना चाहिए। हमारा एक मत यह भी है कि इस तृच से धनंजय के साथ साक्षात् प्राणनामक प्राण का भी ग्रहण करना चाहिए। "प्राणमेवास्य तत्संस्करोति" का आशय यह भी है कि इस तृच की रश्मियों को प्राणनामक प्राणतत्त्व

के द्वारा संस्कृत अर्थात् सक्रिय व व्यवस्थित किया जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में **प्राणों की गति रिसना, टपकना वा हलचल होने के रूप में होती है। इस प्रकार की गतियां ही प्राथमिक होती हैं, अन्य तीव्र व तीव्रतर बाद में उत्पन्न होती हैं।** कुछ गायत्री छन्द रश्मियों के प्रभाव से भी इसी प्रकार की गतियां उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार की सूक्ष्म गतियों व इनके उत्पादक बलों की सत्ता समस्त सृष्टि में सदा ही रहती है। प्रत्येक तीव्र-तीव्रतर गतियों व बलों के कार्य करते हुए भी उनके मूल में सूक्ष्म गतियां व बल भी सदैव विद्यमान रहते हैं। **वस्तुतः वे ही सृष्टि का बीजरूप हैं।।**

४. ऐन्द्रवायवं शंसति; यत्र वाव प्राणस्तदपानो, यदैन्द्रवायवं शंसति प्राणापानावेवास्य तत्संस्करोति।।

व्याख्यानम्- अब पूर्वखण्ड में वर्णित ऐन्द्रवायव तृच की पुनः प्रकारान्तर से चर्चा करते हैं। जहाँ प्राण नामक प्राणतत्त्व विद्यमान होता है, वहाँ अपान तत्त्व भी उसके साथ संयुक्त होता है। इसी कारण कहा है- "प्राणापानौ संचरतः" (तै.सं.५.२.१०.६), "व्यानेन वा इमौ प्राणापानौ विधृतौ" (काठ.२७.२; क.४२.२१) हमने पूर्व में तृच के प्रभाव से धनंजय वायु तथा मरुद्रश्मियों के सक्रिय व समृद्ध होने की चर्चा की है। यहाँ महर्षि कहते हैं कि इस तृच के प्रभाव से जो धनंजय व मरुद्रश्मियां समृद्ध होती हैं, उसका कारण यह है कि इस तृच के प्रभाव से दो कणों के मध्य कार्यरत ये बलोत्पादक रश्मियां प्राणापान में संस्कृत होती हैं, इसका आशय यह है कि वे धनंजय प्राण व मरुद्रश्मियां प्राणापान के साथ संयुक्त होकर अच्छी प्रकार से सुसंगत होने के लिए परस्पर एक-दूसरे को धारण करने लगती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- दो आवेशित कणों के मध्य जो धनंजय व मरुद्रश्मियों तथा एतज्जन्य फील्ड पार्टीकल्स के कार्य व उत्पत्ति की जो चर्चा हम अनेकत्र कर चुके हैं, उसी संदर्भ में कुछ विशेष यह है कि एक गायत्री रश्मि इन सबको प्राण व अपान नामक रश्मियों से आच्छादित करके अच्छी प्रकार क्रियाशील तथा परस्पर संगत करती है। इस कारण ही फील्ड पार्टीकल्स उत्पन्न होते व आकर्षण वा प्रतिकर्षण बलों को उत्पन्न करने में पूर्वोक्तानुसार सहभागी बनते हैं। ये प्राण व अपान परस्पर सदैव संयुक्त रहकर ही गति करते हैं।।

५. मैत्रावरुणं शंसति; तस्मादाहुश्चक्षुः पुरुषस्य प्रथमं संभवतः संभवतीति यन्मैत्रावरुणं शंसति चक्षुरेवास्य तत्संस्करोति।।

व्याख्यानम्- {चक्षुः = यच्चक्षुः स बृहस्पतिः (गो.उ.४.११), (बृहस्पतिः = बृहतां पालकः सूत्रात्मा - म.द.य.भा.३६.६, बृहतां पालको महत्तत्वः - तु.म.द.य.भा.२५.४.)} अब पूर्वखण्डवर्णित मैत्रावरुण तृच पर विशेष लिखते हैं। **सृष्टि यज्ञरूपी पुरुष की उत्पत्ति में चक्षु अर्थात् महत्तत्व सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। इसके साथ ही प्राणापानादि में से सूत्रात्मा वायु भी प्रथम उत्पन्न होता है,** उसके पश्चात् आगे की सृष्टि प्रक्रिया उत्पन्न होती है। यद्यपि महत्तत्व व सूत्रात्मा वायु, दोनों ही उत्पत्ति-प्रक्रिया के ही अंग हैं, इसी कारण कहा है कि पुरुष (सृष्टि-यज्ञ) के उत्पन्न होते-२ ही चक्षु रूप महत्तत्व व सूत्रात्मा वायु उत्पन्न होते हैं। पूर्व में हमने इस तृच के प्रभाव से प्राणापान के मध्य कार्यरत बल के सक्रिय व समृद्ध होने की चर्चा की है। यहाँ उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि जब इस तृच की उत्पत्ति होती है, तब ये तीनों रश्मियां प्राण व अपान के मध्य कार्यरत बल किंवा प्राणपान वा प्राणोदान युग्म को चक्षु अर्थात् उन युग्मों के बीच कार्यरत सूत्रात्मा वायु तथा महत्तत्व नहीं बल्कि मनस्तत्त्व के द्वारा संस्कृत करने में सहायक होती है। इसका प्रकार यह है कि इस तृच के प्रभाव से मनस्तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु प्राणापान वा प्राणोदान को सम्यग्रूपेण धारण व सक्रिय कर देते हैं। इनकी सक्रियता से इन दोनों के मध्य कार्यरत व्यानप्राण भी सक्रिय होकर उन दोनों के धारण करने में अधिक समर्थ हो जाता है, जिसके कारण उन दोनों के मध्य कार्यरत बल सुदृढ़ होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राण व अपान तथा प्राण व उदान के मध्य जो आकर्षण बल कार्य करता है, उसे गायत्री रश्मियां बढ़ाने में सहयोग करती हैं। उसकी प्रक्रिया यह है कि गायत्री रश्मियां मन व सूत्रात्मा वायु को प्रेरित करके व्यान तत्व को सक्रिय करती हैं। फिर वह व्यान तत्त्व प्राण व अपान तथा प्राण व उदान के मध्य बल को सुदृढ़ करता है।।
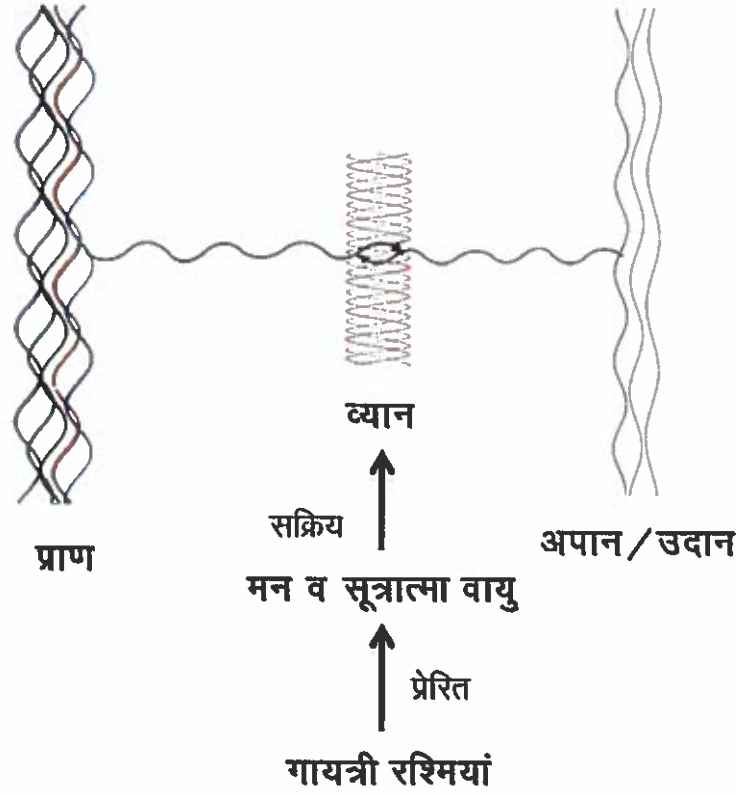
चित्र ११.२ प्राण-अपान के मध्य आकर्षण बल का क्रिया-विज्ञान

६. आश्विनं शंसति, तस्मात् कुमारं जातं संवदन्त उप वै शुश्रूषते नि वै ध्यायतीति, यदाश्विनं शंसति श्रोत्रमेवास्य तत्संस्करोति।।

{कुमारः = अति चपलो वेगवान् (तु.म.द.य.भा.१७.४८), तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि कुमारो नवमः (श.६.१.३.१८)। उप+श्रु = जाना (आप्टेकोष)। 'ध्या' धातु का अर्थ- प्रकाशन करना (देखें- निरुक्त - पं.छाजूराम शास्त्री भाष्य - पृष्ठ ५६६ दध्यङ् के निर्वचन में)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त आश्विन वल की प्रकारान्तर से चर्चा करते हैं। यह वल प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों के मध्य कार्य करता है, यह हम लिख ही चुके हैं। इसके कारण जव अति चपल वेगवान् कुमार अग्नि क्रीड़ा करता हुआ उत्पन्न होता है, उस समय आश्विन वल रश्मियां (तत्सम्वन्धी गायत्र्यादि रश्मियां) प्रकाशित व गति करती हुई, उस अग्नि में व्याप्त हो जाती हैं। इसके कारण वह अग्नि गतिशील व प्रकाशित हो उठता है। वह चंचलता वा अस्त व्यस्त गति का त्याग करके एक दिशा में तीव्रतया गति करने लगता है। जव आश्विन वल रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, तव वे उस गतिशील व प्रकाशित अग्नि को श्रोत्र अर्थात् आकाशतत्त्व के साथ संयुक्त व धारण करा देती हैं। इसके साथ ही वह अग्नि आकाश तत्त्व में सुदूर तक गतिमान वना रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किसी इलेक्ट्रॉन अथवा नाभिक से कोई विद्युत् चुम्बकीय क्वाण्टा उत्सर्जित होता है, उस समय वह क्वाण्टा अति चपल क्रीडा करता हुआ होता है। उसकी गति व दिशा क्या हो? यह अनिश्चित होता है। उस समय कुछ गायत्री रश्मियां उसके साथ संयुक्त होकर, साथ ही धनंजय प्राण को साथ लेकर उस फोटोन को तत्काल ही आकाश तत्त्व से संयुक्त करते हुए अति तीव्र गति (३ लाख किमी/से.) प्रदान कर देती हैं। उसके उपरान्त वह फोटोन ब्रह्माण्ड की सुदूर वा अनन्त यात्रा पर निकल जाता है। ज्ञातव्य है कि जब फोटोन इलेक्ट्रॉन आदि के साथ संयुक्त होता है, उस समय वह इलेक्ट्रॉन की गति व ऊर्जा में अपनी गति व ऊर्जा का लय कर देता है। जब वह इलेक्ट्रॉन किसी गतिशील फोटोन को ग्रहण करता है, उस समय भी उपर्युक्त गायत्री रश्मियां उसके साथ संयुक्त होकर उसे इलेक्ट्रॉन के चतुर्दिक् विद्यमान आकाश तत्त्व के साथ संगत कर देती हैं, जिससे वह इलेक्ट्रॉन के निकट आ जाता है और फिर उसकी गति व दिशा चपल व अस्त व्यस्त हो जाती है। इसके उपरान्त वह उस इलेक्ट्रॉन के द्वारा शोषित कर लिया जाता है।।
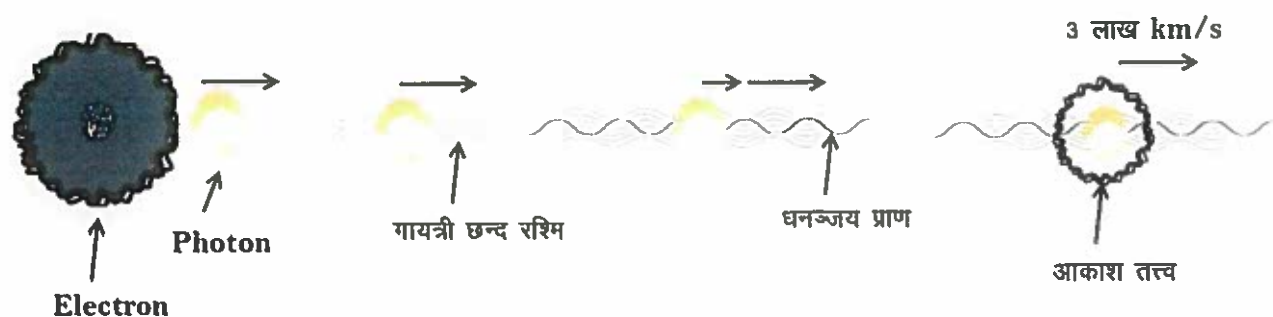
चित्र ११.३ इलेक्ट्रॉन द्वारा ऊर्जा उत्सर्जन

७. ऐन्द्रं शंसति; तस्मात् कुमारं जातं संवदन्ते प्रतिधारयति वै ग्रीवा अथो शिर इति; यदैन्द्रं शंसति वीर्यमेवास्य तत्संस्करोति।।

व्याख्यानम्- अब पूर्वोक्त ऐन्द्र सूक्त, जो शुक्र व मन्थी बलों को सक्रिय करता है, की चर्चा पुनः करते हैं। जब पूर्वोक्त उत्पन्न कुमार नामक अति चपल अग्नि किसी पदार्थ से पृथक् वा संयुक्त होता है, उस समय ऐन्द्री गायत्री तृच रश्मियां उससे उपर्युक्त आश्विन तृच रश्मियों के साथ-२ संयुक्त हो जाती हैं। उस समय वे रश्मियां ग्रीवा का रूप धारण कर लेती हैं, जैसा कि हम १.५.३ में बतला चुके हैं। ग्रीवानुमा आकार को धारण करती हुई रश्मियां उस तत्त्व रूपी शिर में समा जाती हैं। जो पदार्थ अग्नि तत्त्व का आश्रय होता है, वही शिर कहलाता है। इसी कारण वेदवेत्ता महर्षि ने कहा है- "शिरो वै हविर्धानम्" (मै.३.८.८; ४.५.६) अर्थात् जो हवियों को धारण करता है, वह शिर कहलाता है। इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा- "श्रीः वै शिरः" (श.१.४.५.५) यह ग्रीवारूप भाग संयोग व वियोग प्रक्रिया का उपसद अर्थात् वेदी है। उस भाग में ही मास, ऋतु व प्राथमिक प्राण रश्मियां भी प्रचुरतया विद्यमान व सक्रिय होती हैं। इसी कारण ऋषि भगवन्तों का कथन है- "मासा उपसदः (श.१०.२.५.६), ऋतव उपसदः (श.१०.२.५.७), अहोरात्राणि वाऽउपसदः (श.१०.२.५.४), ग्रीवा उपसदः (मै.३.७.६)" हम मासादि रश्मियों का प्रभाव व स्वरूप पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। ये इन्द्रदेवताक तीन गायत्री छन्द रश्मियां इस अग्नि व अन्य संयोज्य वा वियोज्य पदार्थ के तेज व बल को संस्कृत करती हैं अर्थात् उसे प्रकृष्ट स्वरूप प्रदान करती है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि शुक्र व मन्थी बलों की चर्चा करते-२ अग्नि तत्त्व व अन्य तत्त्व के मध्य उत्सर्जन व अवशोषण का प्रसंग कहाँ से आ गया? यह तो आश्विन बल के साथ संगति लगती है। इस विषय में हमारा मत है कि आश्विन बलों को समृद्ध करने में भी शुक्र व मन्थी बलों की भूमिका होती है, इस कारण उनका आश्विन से निकट व अनिवार्य सम्बन्ध है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब कोई क्वाण्टा किसी इलेक्ट्रॉन व नाभिक आदि से उत्सर्जित वा संयुक्त होता है, उस समय उपर्युक्त के साथ-२ तीन अन्य गायत्री रश्मियां भी उसके साथ संयुक्त हो जाती हैं। उस समय क्वाण्टा व इलेक्ट्रॉनादि के मध्य ये रश्मियां गर्दन जैसी आकृति का निर्माण करती हैं अर्थात् आकाश तत्त्व संकुचित होकर चित्रानुसार आकृति बना लेता है। उस आकृति वाले क्षेत्र में अनेक सूक्ष्म रश्मियां उपस्थित हो जाती हैं, जो डार्क एनर्जी के प्रतिरोधी वा प्रतिकर्षक प्रभाव को नियन्त्रित कर लेती हैं। ये गायत्री रश्मियां इलेक्ट्रॉनादि व क्वाण्टाज् को ऐसा बल प्रदान करती हैं, जिससे वे परस्पर संयुक्त वा वियुक्त होने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकें। इसके पश्चात् ग्रीवानुमा आकृति मिट कर वह संयोग वा वियोग सम्पन्न हो जाता है।।

चित्र ११.४ संयोजन प्रक्रिया

उत्तेजित इलेक्ट्रॉन
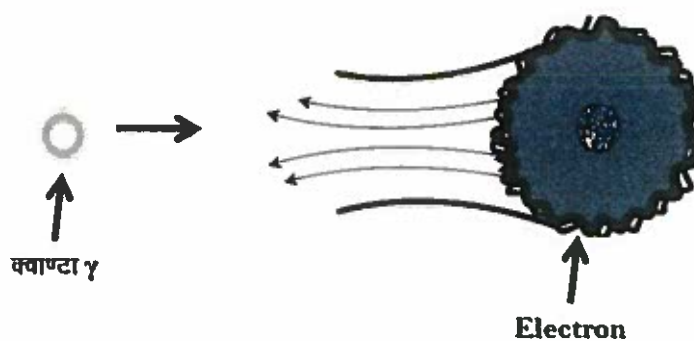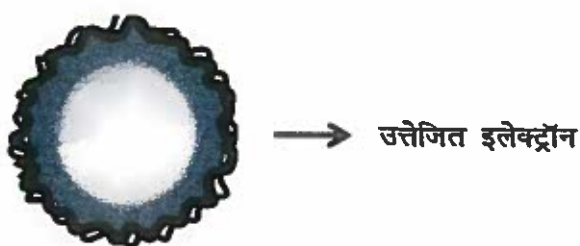
प्रथम चरण
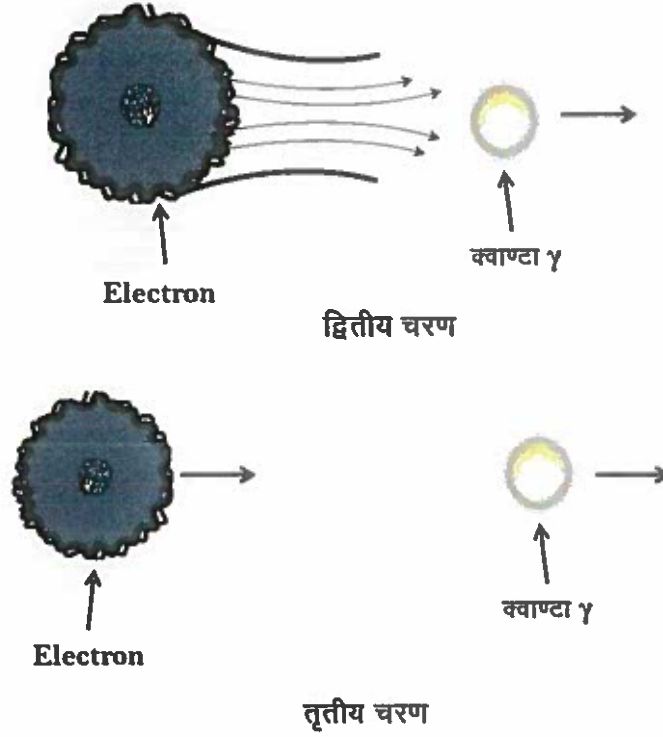
चित्र ११.५ वियोजन प्रक्रिया

८. वैश्वदेवं शंसति, तस्मात् कुमारो जातः पश्चेव प्रचरति वैश्वदेवानि ह्यङ्गानि यद्वैश्वदेवं शंसत्यङ्गान्येवास्य तत्संस्करोति।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त पूर्वोक्त वैश्वदेव सूक्त, जो आग्रयण वल (ग्रह) को सक्रिय करता है, की चर्चा करते हैं। इस सूक्त रूप रश्मियों के उत्पन्न होने पर वह अग्नि, जो किसी पदार्थ से संयुक्त वा वियुक्त होने वाला होता है, पूर्व दो कण्डिकाओं में वतलायी गई प्रक्रिया के पूर्ण होने के उपरान्त ही गति आरम्भ करता है। उस अग्नितत्त्व में सभी प्रकार के देव निवास करते हैं, मानो वे सभी उसके अगंभूत होकर उसे क्षिप्रगामी {अंगेति क्षिप्रनाम, अङ्कितमेवांचितं भवति (नि.५.१७)} वनाते हैं। इसके साथ ही वे देव पदार्थ उससे पूर्णतः संयुक्त हो जाते हैं। जव ये वैश्वदेव सूक्त रश्मियां उत्पन्न होती हैं, तव वे उस अग्नि तत्त्व को इन देव पदार्थों के द्वारा संस्कृत करती हैं अर्थात् उसे सामर्थ्यवान् वनाती हुई सम्यग् मार्ग पर चलाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किसी इलेक्ट्रॉन वा नाभिक के परस्पर संयोग वा वियोग की पूर्वोक्त क्रिया हो रही होती है और उसमें जो आकाशतत्त्व ग्रीवानुमा निर्मित अर्थात् संकुचित हो जाता है, उस समय ही ये गायत्री रश्मियां अनेक प्राणरश्मियों को उस क्वाण्टा से जोड़ देती हैं, जिससे डार्क एनर्जी के प्रतिरोध को वे नियन्त्रित कर सकें। इन रश्मियों की प्रक्रिया पूर्ण होने के पश्चात् ही क्वाण्टा अपनी गति प्राप्त कर पाता है, इसके पूर्व नहीं।।

९. सारस्वतं शंसति, तस्मात् कुमारं जातं जघन्या वागाविशति, वाग्घि सरस्वती, यत्सारस्वतं शंसति वाचमेवास्य तत्संस्करोति।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त पूर्वोक्त सारस्वत सूक्त रश्मियों की उत्पत्ति की चर्चा करते हैं- जव ये रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, उसके पश्चात् वे उस अग्नि तत्त्व से संयुक्त हो जाती हैं अथवा जव अग्नि का

परमाणु अन्य किसी परमाणु से संयुक्त होता है, तो वे रश्मियां उस संयुक्तरूप वाले परमाणु से संयुक्त हो जाती हैं। उस समय उस उत्पन्न अग्नि तत्त्व में मानो जघन्या अर्थात् हिंसक गति प्रदान करने वाली वाग्रश्मियां प्रविष्ट हो जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि ये तीनों गायत्री रश्मियां भेदक शक्ति को उत्पन्न करती हैं। हम पूर्व खण्ड में लिख चुके हैं कि ये रश्मियां अन्य सभी वलोत्पादिका रश्मियों को सक्रिय करती हैं। इसी कारण सब वाग्रश्मियां मिलकर जघन्य वाक् तत्त्व का रूप हो जाती हैं। इसके कारण वह अग्नि तत्त्व तीव्र व भेदक शक्ति व गति से युक्त हो जाता है। यह वाक् तत्त्व ही सरस्वती है। इसका आशय यह है कि सभी वाग्रश्मियां सूक्ष्म दैवी वाग्रश्मियों से ही निर्मित व उनका ही संयुक्त रूप होती हैं। इस सूक्त रूप रश्मिसमूह के उत्पन्न होने पर अग्नितत्त्व विभिन्न वाग्रश्मियों के द्वारा संस्कृत होता है अर्थात् उन सभी के प्रभाव और भी स्पष्ट व समृद्ध होने लगते हैं। वह उन सभी रश्मियों को सम्यग्रूपेण धारण कर लेता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब कोई क्वाण्टा किसी इलेक्ट्रॉन आदि से उत्सर्जित होता है, उस समय पूर्वोक्त क्रियाओं के चलते व्याख्यान भाग में वर्णित तीन गायत्री रश्मियों से ही वे सभी रश्मियां पूर्ण सक्रिय होती हैं। इसके कारण ही फोटोन्स अपनी तीव्रगति को प्राप्त कर पाते हैं। इसी प्रकार जब कोई क्वाण्टा किसी इलेक्ट्रॉन आदि से संयुक्त होने के लिए उसके निकट आता है, उस समय पूर्वोक्त सभी रश्मियां इन तीन गायत्री रश्मियों के कारण ही सक्रिय होती हैं। इसके कारण क्वाण्टा एवं इलेक्ट्रॉन आदि संयुक्त होने पर उस पूर्वोक्त ग्रीवानुमा क्षेत्र में भारी हलचल-विक्षोभ उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् वे इलेक्ट्रॉन आदि भी विक्षुब्ध हो उठते हैं। इस विक्षोभ के पीछे इन तीन गायत्री रश्मियों की महती भूमिका होती है।।

१०. एष वै जातो जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः, सर्वेभ्य उक्थेभ्यः, सर्वेभ्यश्छन्दोभ्यः, सर्वेभ्यः प्रउगेभ्यः, सर्वेभ्यः सवनेभ्यो य एवं वेद, यस्य चैवं विदुष एतच्छंसन्ति।।२।।

व्याख्यानम्- जब इस प्रकार की स्थिति बनती है तथा इस सृष्टि में उपर्युक्त प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक देव पदार्थ जब उत्पन्न हो जाते हैं, उस समय अग्नि तत्त्व बार-२ उत्पन्न होता रहता है। सभी दिव्य पदार्थों, सभी प्रकार के उक्थ अर्थात् बहु ऋचा रूपी छन्द समूहों अथवा विभिन्न प्राण व अन्न संज्ञक पदार्थों, सभी छन्द रश्मियों, पूर्वोक्त सभी प्रउगों (बलों) एवं सृष्टि के सभी सवनों अर्थात् चरणों से अग्नि तत्त्व उत्पन्न होता रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि के उत्पन्न होने की केवल पूर्वोक्त प्रक्रिया ही नहीं है, अपितु अनेक स्तरों पर अनेक उपादानों से अग्नि की उत्पत्ति समय-२ पर होती रहती है। उपर्युक्त अग्नि का उत्सर्जन वा अवशोषण भी सतत व्यापक प्रक्रिया है। जब से अग्नि तत्त्व का प्रथम आविर्भाव हुआ है, तभी से उसका संयोग-वियोग सतत चलता आया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विद्युत् चुम्बकीय तंरगों की उत्पत्ति अनेक चरणों में सर्वत्र पृथक्-२ पदार्थों से होती है। जब ये तरगें प्रथम बार उत्पन्न होती हैं, तभी से विभिन्न सूक्ष्म कणों द्वारा इनके उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया भी उपर्युक्तानुसार चलती आयी है। **सूर्यादि तारों में उत्पन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें भी कोई नवीन उत्पादन नहीं है, बल्कि ऊर्जा अक्षय ही होती है, जो भांति-२ रूपों में परिवर्तित होती रहती है।** इन परिवर्तनों को ही हम ऊर्जा की उत्पत्ति व विनाश नाम दे देते हैं। हाँ, यह बात पृथक् है कि **वैदिक विज्ञान वर्तमान में ऊर्जा नाम से अभिहित पदार्थ की भी वायु तत्व के सम्पीडन से उत्पत्ति मानता है।।**

इति ११.२ समाप्तः

अथ ११.३ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. प्राणानां वा एतदुक्थं यत्प्रउगं, सप्त देवताः शंसति, सप्त वै शीर्षन् प्राणाः, शीर्षन्नेव तत्प्राणान्दधाति।।

व्याख्यानम्- पूर्व खण्डों में जिन प्रउग संज्ञक वलों की चर्चा की गयी है, उनके विषय में पुनः लिखते हैं कि ये प्रउग संज्ञक बल रश्मियां प्राणापानादि तत्त्वों की ही कार्यरूप हैं। यहाँ उक्थ शब्द कार्य अर्थात् अपत्य का वाचक है। इसी कारण एक तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा है- "प्रजा वा उक्थानि" (तै.ब्रा.१.८.७.२), "विड्डुक्थानि" (तां.१८.८.६) इसका तात्पर्य है कि इन प्रउग वलों व इनकी रश्मियों में प्राणापानादि का वल ही प्रविष्ट रहता है। पूर्वोक्त सात देवता (वायव्यादि) वाली गायत्री तृच रश्मियां ही इन्हें प्रकाशित करती हैं। जो मुख्य प्राण होते हैं, उनकी संख्या भी सात है- प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, धनंजय व सूत्रात्मा अथवा मन, वाक् व प्राणापानादि पांच प्राण। उधर छन्दरश्मिरूप प्राण भी सात ही होते हैं- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती। ये सात प्रकार के प्रउग रश्मिसमूह इन सातों प्रकार के प्राणों व छन्दरूप प्राणों से किसी भी पदार्थ को संयुक्त करते हैं, अर्थात् इनका परस्पर पूर्ण समन्वय होता है। ये प्रउग संज्ञक रश्मियां कुछ प्राणों के लिए प्राणरूप तो कुछ के लिए अन्नरूप होती हैं। इस प्रकार का सम्बन्ध सभी प्राणों को परस्पर बांधता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त जो भी सात प्रकार के गायत्री छन्द रश्मिसमूह हैं, वे प्राणापानादि के ही परिवर्तित व स्थूलरूप होते हैं। इन्हीं के कारण पूर्वोक्त ६ प्रकार के विभिन्न बलों की उत्पत्ति होती है। सातों प्रकार की छन्द रश्मियां, जो ब्रह्माण्ड में सर्वत्र उत्पन्न व व्याप्त होती रहती हैं, वे भी इन्हीं बल रश्मियों के साथ संगत होती रहती हैं। सबका परस्पर समन्वय व सम्बन्ध सदा बना रहता है।।

२. किं स यजमानस्य पापभद्रमाद्रियेतेति ह स्माऽऽह योऽस्य होता स्याद् इत्यत्रैवैनं यथा कामयेत तथा कुर्यात्।।

{भद्रम् = भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयम् भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा (नि.४.१०), श्रीर्वै भद्रम् (जै.ब्रा.३.१७२)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि एक प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं कि क्या पूर्वोक्त प्रउग संज्ञक तृच रश्मिसमूह सर्गयज्ञरूप यजमान किंवा संगत होते विभिन्न पदार्थों को वाधक तत्त्वों से संगत करके किंवा उनसे रक्षा न करके वाधित होने देने के लिए विवश कर सकता है और क्या सृष्टि यज्ञ को भद्रता अर्थात् अनुकूलता, जिस हेतु से सृष्टि के पदार्थ गतिशील रहते हैं, के साथ संलग्न कर सकता है? {आ+दृ = संलग्न करना, रखवाली करना (आप्टेकोष)} उन संयोज्य पदार्थों की सृजन प्रक्रिया की रक्षा कर सकता है किंवा उन्हें आधार प्रदान कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वयं महर्षि कहते हैं- हाँ, यह वात सत्य है कि अत्र अर्थात् इस सृष्टि यज्ञ में यदि परमात्म चेतन-सत्ता चाहे, तो इन्हीं प्रउग रूप तृच रश्मियों से दोनों ही प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न कर सकती है और ऐसा करती भी है। जब प्रलय काल निकट आता है, तब वह परमात्मा इन्हीं प्रउग रश्मियों के विकृत रूप के द्वारा सृजन प्रक्रियाओं को वाधित करके पदार्थों का विखण्डन व विलय करने लगता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में संयोग-वियोग, सृजन-विनाश, जन्म-मरण का द्वन्द्व सदैव चलता है। ये सभी क्रियाएं क्रमशः सृष्टि व प्रलय का ही लघु रूप हैं, जो चक्र की भांति सदैव चलती रहती हैं। पूर्व में भी हम दो कणों के आकर्षण की प्रक्रिया को समझाते हुए प्रतिकर्षण बल की प्रक्रिया को भी संकेत रूप में समझाते आ रहे हैं। एक समय ऐसा भी आता है, जब विनाश की प्रक्रिया की प्रधानता रहती है, विशेषकर केवल विनाश की प्रक्रिया ही चलती है। आकर्षण बल का क्षय और प्रतिकर्षण बल का ही साम्राज्य रहता है। उधर जब सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ ही होता है, उस समय आकर्षण बल का ही अस्तित्व होता है, प्रतिकर्षण बल का उदय कुछ काल के पश्चात् होता है। उपर्युक्त गायत्री रश्मिसमूहों से जो आकर्षण व सृजन कर्म की विवेचना की गयी है, वे ही रश्मियां कुछ विकृति के साथ विनाश कर्मों को भी उत्पन्न करती हैं। **एक सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व परमात्मा अपने प्रयोजनानुसार दोनों प्रकार का कार्य समयानुसार चलाते हुए सृष्टि-प्रलय के चक्र को किंवा सृष्टि काल में भी संयोग-वियोग के चक्र को चलाता रहता है।।**
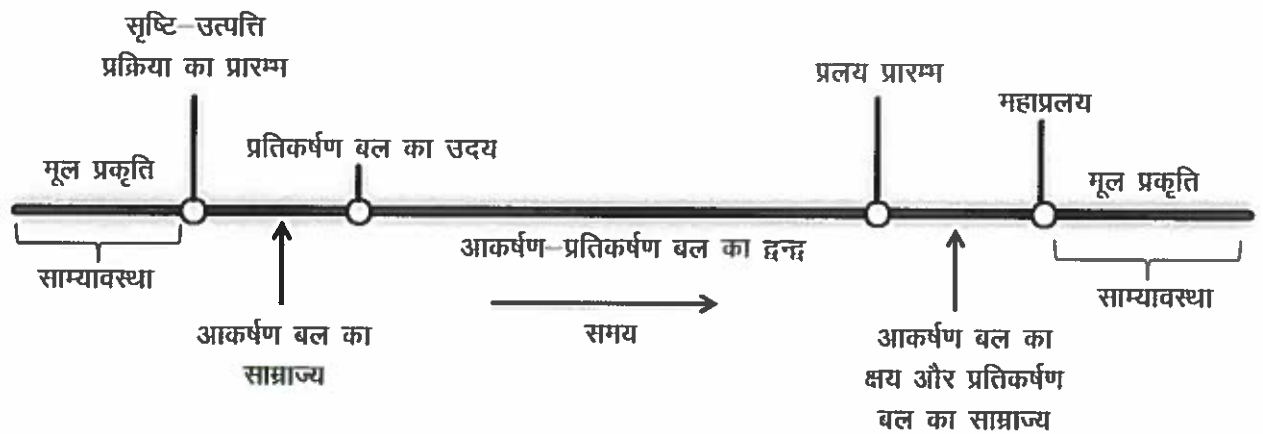
चित्र ११.६ सृष्टि-प्रलय क्रम

३. यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्धयानीति, वायव्यमस्य लुब्धं शंसेद्, ऋचं वा पदं वाऽतीयात्, तेनैव तल्लुब्धं प्राणेनैवेनं तद् व्यर्धयति।।
यं कामयेत प्राणापानाभ्यामेनं व्यर्धयानीत्यैन्द्रवायवमस्य लुब्धं शंसेद्, ऋचं वा पदं वाऽतीयात्, तेनैव तल्लुब्धं, प्राणापानाभ्यामेवैनं तद् व्यर्धयति।।

व्याख्यानम्- जब संयोज्य कणों को प्राण नामक प्राण तत्त्व किंवा धनंजय प्राण से विहीन करके संयोग प्रक्रिया को बाधित करना होता है, उस समय पूर्व खण्डों में वर्णित वायव्य तृच रश्मियों को भ्रान्त किया जाता है। उस भ्रान्ति का प्रकार यह है कि या तो उन तीनों छन्द रश्मियों में से एक ऋग् रश्मि अथवा किसी एक पद रूप रश्मि का अतिक्रमण करके उत्पन्न किया जाता है अर्थात् बीच-२ में ऋचा वा पद का विघ्न उत्पन्न किया जाता है, उसमें रिक्तता उत्पन्न कर दी जाती है। इस व्यवधान वा अस्त-व्यस्तता से सम्पूर्ण तृच रश्मियों में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। फलतः उन रश्मियों का जो पूर्वोक्त प्रभाव दर्शाया था, वह उत्पन्न नहीं हो पाता है, जिसके कारण इससे उत्पन्न होने वाला बल भी उत्पन्न नहीं हो पाता है। इस तृच के प्रभाव को पूर्व में देखा जा सकता है। यहाँ उसके अभाव की चर्चा है।।

जब प्राण व अपान तत्त्वों से विहीन करके धनंजय व मरुद्रश्मियों को अस्त-व्यस्त करना हो, तब पूर्वोक्त ऐन्द्रवायव तृच को एक ऋचा वा पद रूप अवयव से रिक्त वा बाधित कर दिया जाता है। इसके कारण सम्पूर्ण तृच रूप रश्मिसमूह भ्रान्त होकर अपना प्रभाव खो देता है और आग्नेय व सौम्य कणों के मध्य कार्य करने वाला बल समाप्त हो जाता है किंवा उत्पन्न ही नहीं हो पाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में सृजन-विनाश का चक्र सदैव चलता रहता है। विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं को डार्क एनर्जी अपने प्रबल प्रतिकर्षण बल के द्वारा बाधित करने का प्रयास करती है। इस बाधा को दूर करने के लिए पूर्वोक्त अनेक रश्मियों की उत्पत्ति सदैव होती रहती है। जब प्रलय काल आता है, तब इन रश्मियों में सृजेता परमात्मा द्वारा बाधा उत्पन्न कर दी जाती है। उन्हें अव्यवस्थित वा यत्र-तत्र रिक्तता के साथ उत्पन्न किया जाता है, जिसके कारण उनके संयोजक प्रभाव भ्रष्ट हो जाते हैं। इस कारण वे डार्क एनर्जी के बाधक प्रभाव को नहीं रोक पाते। इसके कारण आवेशित कणों के मध्य आकर्षण बल समाप्त हो जाते हैं अथवा हम कह सकते हैं कि आवेश भी समाप्त किंवा वे neutral हो जाते हैं। विद्युत् आवेश जिन रश्मियों के कारण उत्पन्न होते हैं और जिनकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं, वे अपना प्रभाव खो देती हैं। इससे विभिन्न पदार्थों का सृजन कर्म समाप्त होकर विनाश क्रम उत्पन्न हो जाता है। आवेशित कणों के मध्य बल समाप्ति के लिए उन रश्मियों को बाधित किया जाता है, जो उसके उत्पादन में सहायक होती है।।

४. यं कामयेत चक्षुषैनं व्यर्धयानीति, मैत्रावरुणमस्य लुब्धं शंसेद्, ऋचं वा पदं वाऽतीयात्, तेनैव तल्लुब्धं, चक्षुषैवेनं तद् व्यर्धयति।।
यं कामयेत श्रोत्रेणैनं व्यर्धयानीत्याश्विनमस्य लुब्धं शंसेद्, ऋचं वा पदं वाऽतीयात्, तेनैव तल्लुब्धं, श्रोत्रेणैवेनं तद् व्यर्धयति।।
यं कामयेत वीर्येणैनं व्यर्धयानीत्यैन्द्रमस्य लुब्धं शंसेद्, ऋचं वा पदं वाऽतीयात् तेनैव तल्लुब्धं, वीर्येणैवेनं तद् व्यर्धयति।।

व्याख्यानम्- जब प्राण व अपान अथवा प्राण व उदान के मध्य कार्यरत सूक्ष्म बल को नष्ट वा समाप्त करना हो, तब पूर्वोक्त इन बलों की उत्पादिका मैत्रावरुण तृच रश्मियों को उपर्युक्तवत् अस्त-व्यस्त किया जाता है। इसके कारण प्राण व अपान अथवा प्राण व उदान के मध्य कार्यरत सूत्रात्मा वायु तथा मनस्तत्त्व निष्क्रिय वा भ्रान्त हो जाते हैं। वे तृच रश्मियां स्वयं भ्रान्त होकर अपने पूर्वोक्त प्रभाव को खो देती हैं, जिससे प्राण व अपान अथवा प्राण व उदान के मध्य सूत्रात्मा वायु व मनस्तत्त्व का व्यवहार बलोत्पादक नहीं रह पाता है, जिससे आकर्षण बल समाप्त हो जाता है।।

जब प्रकाशित व अप्रकाशित कणों के मध्य आकर्षण बल को समाप्त करना हो, तब उन दोनों के मध्य विद्यमान आकाश तत्त्व को वियुक्त कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया को सम्पन्न करने हेतु पूर्वोक्त आश्विन संज्ञक तृच को उपर्युक्तवत् अव्यवस्थित कर दिया जाता है। ऐसा होने पर उन रश्मियों का जो भी प्रभाव होता है, वह नहीं हो पाता है। इसके कारण आकाश तत्त्व दो संयोज्य कणों (प्रकाशित व अप्रकाशित) के मध्य से पृथक् हो जाता है, जिसके कारण वे कण पृथक् हो जाते हैं। अन्य भी जो भी आश्विन बल कहे गये, वे भी निष्क्रिय हो जाते हैं।।

जब पूर्वोक्त शुक्र व मन्थी बलों को समाप्त करना हो, तब उन बलों की उत्पादिका ऐन्द्र तृच रश्मियों को भ्रान्त वा अस्तव्यस्त कर दिया जाता है। इस अस्त-व्यस्तता का रूप उपर्युक्तवत् समझें। इन रश्मियों के अस्त-व्यस्त वा खण्ड-२ होने से उनका पूर्वोक्त प्रभाव समाप्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप शुक्र व मन्थी बलों, किंवा जिन तत्त्वों के मध्य ये बल कार्य करते हैं, उनका तेज व बल नष्ट हो जाता है अर्थात् वे बल ही समाप्त हो जाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब प्राणापान आदि के मध्य कार्यरत बल समाप्त करना होता है, तब उन बलों की उत्पादिका पूर्वोक्त गायत्री रश्मियों को खण्ड-२ करके मन व सूत्रात्मा वायु का प्राणापानादि से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है। जब किसी क्वाण्टा व इलेक्ट्रॉनादि के मध्य आकर्षण बल किंवा विभिन्न कणों के मध्य मर्यादित दूरी रखने वाला बल समाप्त करना हो, तो उन बलों की उत्पादिका गायत्री रश्मियों को खण्ड-२ करके उन कणों के मध्य विद्यमान आकाश तत्त्व को पृथक् कर दिया जाता है। जब किसी क्वाण्टा के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया को रोकना वा समाप्त करना हो, तब उनसे

सम्बन्धित गायत्री रश्मियों को खण्ड-२ कर दिया जाता है। इसके कारण विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का उत्सर्जन, अवशोषण वा गमन-आगमन की प्रक्रिया समाप्त होकर ब्रह्माण्ड में अन्धकारमयी अवस्था उत्पन्न हो जाती है।।

५. यं कामयेताङ्गैरेनं व्यर्धयानीति, वैश्वदेवमस्य लुब्धं शंसेद्, ऋचं वा पदं वाऽतीयात्, तेनैव तल्लुब्धमङ्गैरेवैनं तद् व्यर्धयति।।
यं कामयेत वाचैनं व्यर्धयानीति, सारस्वतमस्य लुब्धं शंसेद्, ऋचं वा पदं वाऽतीयात्, तेनैव तल्लुब्धं, वाचैवैनं तद् व्यर्धयति।।
यमु कामयेत सर्वैरेनमङ्गैः सर्वेणाऽऽत्मना समर्धयानीत्येतदेवास्य यथापूर्वमृजुक्लृप्तं शंसेत्, सर्वैरेवैनं तदङ्गैः सर्वेणाऽऽत्मना समर्धयति।।
सर्वैरङ्गैः सर्वेणाऽऽत्मना समृध्यते य एवं वेद।।३।।

व्याख्यानम्- जब पूर्वखण्डोक्त अग्नि तत्त्व को उसके अङ्गभूत विभिन्न देव अर्थात् प्राणादि पदार्थों से वियुक्त करना होता है, तब पूर्वोक्त वैश्वदेव तृच रश्मियों को पूर्ववत् खण्ड-२ करके अस्त-व्यस्त कर दिया जाता है। इन रश्मियों के खण्ड-२ होने पर उनका प्रभाव समाप्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप अग्नि तत्व का प्राणादि देव पदार्थों से वियोग हो जाता है, फिर अग्नि का वह गमन कर्म रुक जाता है।।

जब पूर्वखण्डोक्त अग्नि के परमाणुओं का अतितीव्र व भेदक शक्तिसम्पन्न गमन बंद करना होता है, उस समय इस कर्म की प्रेरक सारस्वत तृच रश्मियों को उपर्युक्तवत् खण्ड-२ कर दिया जाता है। इसके कारण उनका पूर्वोक्त प्रभाव भी समाप्त हो जाता है। ऐसा होने पर अग्नि के परमाणु मन्द गति से ही स्पन्दन कर पाते हैं। उनका तेज समाप्तप्रायः हो जाता है।।

जब इन सभी क्रियाओं अर्थात् बलों को इन सभी अंगों तथा आत्मा अर्थात् सर्गप्रक्रिया रूपी यजमान को समृद्ध करना होता है, उसे सातत्य प्रदान करना होता है, उस समय पूर्वखण्डोक्तानुसार सभी तृच रश्मियों को उत्पन्न किया जाता है। उन्हें यथाविध समृद्ध किया जाता है, तब वे सभी रश्मियां परस्पर संगत समन्वित होती हुई सम्पूर्ण सृष्टि को समृद्ध करके सातत्य प्रदान करती हैं। सभी परमाणु यथाविध संगत होते रहते हैं।।

इस प्रकार की सम्यक् स्थिति बनने पर सम्पूर्ण सृष्टि समृद्ध व सतेज होती है। इससे विघ्न नहीं आ पाते, साथ ही इससे निरन्तरता भी बनी रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब ऊर्जा के विकिरण रूप को समाप्त करना होता है, उस समय पूर्वखण्डोक्त गायत्री रश्मियों को खण्ड-२ करके विभिन्न प्राणों का उन क्वाण्टाज् के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है। जब इनकी शक्ति (आवृत्ति) को कम करना होता है, उस समय इनकी प्रेरक गायत्री रश्मियों को खण्ड-२ कर दिया जाता है। जब सृष्टि प्रक्रिया को यथावत् प्रवृत्त रखना होता है, उस समय पूर्वखण्डोक्तानुसार सभी प्रक्रियाएं यथावत् प्रवृत्त रखी जाती हैं। **यह सब योजना व प्रयोजनानुसार चलाना चेतन परमात्म-तत्त्व का ही कार्य है।।**

इति ११.३ समाप्तः

अथ ११.४ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. तदाहुर्यथा वाव स्तोत्रमेवं शस्त्रमाग्नेयीषु सामगा स्तुवते वायव्यया होता प्रतिपद्यते, कथमस्याऽऽग्नेय्योऽनुशस्ता भवन्तीति।।
अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यदेता देवताः।।

व्याख्यानम्- २.३७.२-३ में महर्षि ने जिस शस्त्र व स्तोत्र की चर्चा की थी, हम अब उससे भिन्न शस्त्र व स्तोत्र की चर्चा करते हैं। यहाँ आचार्य सायण ने ताण्ड्य ब्राह्मण के वचन "अग्न आयाहि वीतय आनो मित्रावरुणायाहि सुषमाहित इन्द्रग्नी आगत ँ४ सुतमिति राथन्तरमेव तद्रूपन्निर्द्योतयति स्तोमः।।" (११.२.३) को आधार मानकर (साम.उ.१.२.१-४), इन चार तृचों को स्तोत्र माना है। यहाँ सायण ने

वायवा याहि वीतये जुषाणो हव्यदातये। पिबा सुतस्यान्धसो अभि प्रयः।।५।। (ऋ.५.५१.५)

इस ऋचा को वायव्य मानकर इसी को शस्त्र के रूप में ग्रहण किया है। इसे प्रउग भी कहा है। हम इससे सहमत हैं।
सर्वप्रथम स्तोत्रसंज्ञक तृचों पर क्रमशः विचार करते हैं। इनमें से

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि।।१।।
तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य।।२।।
स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्यम्।।३।। (साम.६६०-६६२)

की चर्चा करते हैं। इसका देवता अग्नि तथा छन्द गायत्री है। यह भरद्वाज ऋषि अर्थात् प्राणनामक प्राणतत्व से उत्पन्न होती है। यहाँ प्राण ही भरद्वाज है। इस विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास अन्यत्र लिखते हैं- "एष उ एव बिभ्रद्वाजः प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्ति यद् बिभर्ति तस्माद् भरद्वाजस् तस्माद् भरद्वाज इत्याचक्षत एतम् (प्राणम्) एव सन्तम्" (ऐ.आ.२.२.२)। इस तृच के दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तेजस्वी व बलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार हैं-

(१) वह अग्नि तत्त्व होता रूप होकर प्रकाशित होता हुआ अन्तरिक्ष में सब ओर व्याप्त होता है। वह विभिन्न हविरूप पदार्थों को देने तथा उन्हें गतिशील बनाकर सब ओर फैलाकर प्रकाशित करने हेतु पूर्णरूपेण सक्रिय होता है। नि-पूर्वक 'सद्लृ' धातु के अर्थ पं.युधिष्ठिर मीमांसक ने ऊपर या भीतर बैठना, खड़ा रहना, पालन करना तथा संभालना किए हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'नि सत्सि' के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न पदार्थों के अन्दर व्याप्त होकर किंवा उनके परमाणुओं के ऊपर आच्छादित होकर उन्हें संभालता, उनकी रक्षा में सन्नद्ध रहता है।

(२) वह अग्नि सभी प्रकार की संयोग-वियोगादि प्रक्रियाओं का दाता, वह विभिन्न देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थों तथा सभी प्राणों व छन्दादि रश्मियों के अन्दर भी विद्यमान होता है। इसका आशय यह भी है कि यह अग्नि विभिन्न प्राणों व छन्दादि रश्मियों के द्वारा त्यागा अर्थात् उत्पन्न करके छोड़ा गया होता है। यहाँ 'मानुषः' का अर्थ विभिन्न छन्दादि रश्मियां है, इसी कारण कहा गया है- "पशवो मानुषाः" (क.४१.६)। यहाँ 'हितः' पद 'ओहाक् त्यागे' से निष्पन्न मानना चाहिए।

(३) वह अग्नि तत्त्व, जो दिव्यतायुक्त अतिव्यापक क्षेत्र में फैलकर सम्यग्रूपेण तीक्ष्ण तेजयुक्त 'नः' अर्थात् विभिन्न परमाणुओं को व्यापक स्तर पर गतिशीलता प्राप्त कराता है। यहाँ 'श्रवाय्यम्' में 'श्रु' धातु का गत्यर्थक प्रयोग है। वह अग्नि सभी परमाणुओं को विविध रूपों में वसाता है एवं उनमें वह स्वयं भी वसता है।

अव विश्वामित्र जमदग्निर्वा ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व किंवा ज्वाला-युक्त अग्नि किंवा चक्षु अर्थात् पूर्वोक्त चक्षुरूपी तूष्णींशंस रश्मियों (देखें २.३२.२) अथवा सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न मैत्रावरुणदेवताक तथा गायत्री छन्दस्क

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू।।१।।
उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथः। द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता।।२।।
गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम्। पातं सोममृतावृधा।।३।। (साम.६६३-६६५)

तृच की चर्चा करते हैं। यहाँ जमदग्नि के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः" (श.८.१.२.३) चक्षु का अर्थ सूत्रात्मा वायु कैसे होता है? यह जानने हेतु २.२६.१ देखें। उधर 'जमत्' पद को 'ज्वलित' अर्थ में ग्रहण करके निघण्टुकार निघं.१.१७ में लिखते हैं "जमत् ज्वलतो नाम" इस तृच के छान्दस व दैवत प्रभाव से प्राणापान किंवा प्राणोदान तेजस्वी व वल-क्रियावान् विशेपरूपेण होते हैं। इनके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) {गव्यूतिम् = मार्गम् (म.द.ऋ.भा.५.६६.३), रजांसि = (रजसः = अन्तरिक्षलोकस्य - नि.१२.७), ज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते लोका रजांस्युच्यन्ते (नि.४.१६)} वे प्राणापान एवं प्राणोदान, जो श्रेष्ठ कर्मों के कर्ता हैं, अपने संदीप्त तेज तथा विज्ञात मार्गों वा गतियों के द्वारा विभिन्न लोकों वा परमाणुओं के मार्गों को सव ओर से सींचते हैं।

(२) {महना = महत्वेन (नि.१०.१०)। द्राघिष्ठाभिः = अत्यन्तदीर्घाभिः पुरुषार्थयुक्ताभिः क्रियाभिः (म.द.ऋ.भा.३.६२.१७)} वे प्राणापान वा प्राणोदान अपनी व्यापक तेजस्विता, विभिन्न पदार्थों का संयोजक गुण वढ़ाने वाले तथा स्वयं भी संयोजक गुणसम्पन्न, पवित्र कर्मों से युक्त, अपने वल की व्यापकता से अत्यन्त विस्तृत कर्मकारक क्रियाओं के साथ सक्रिय होते हैं।

(३) वे प्रकाशित होते हुए सूत्रात्मा वायु किंवा उपर्युक्त तूष्णींशंस रश्मियों के साथ संगत होकर ऋतम् {अग्निर्वा ऋतम् (तै.ब्रा.२.१.११.१)} अर्थात् अग्नि तत्त्व के कारणभूत वायु व आकाशतत्त्व में सम्यक् प्रकार से स्थित होते हैं। वे ऐसे प्राणापान तथा प्राणोदान अग्नितत्त्व को वढ़ाने वाले तथा विभिन्न सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों को अवशोषित करने वाले होते हैं।

तदनन्तर इरिमिढ़ ऋषि अर्थात् वह सूक्ष्मप्राणविशेष, जो अपनी प्रेरक रश्मियों का सतत सेचन करता रहता है, से इन्द्रदेवताक व गायत्री-छन्दस्क

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम।।१।।
आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु।।२।।
ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे।।३।। (साम.६६६-६६८)

तृच की चर्चा करते हैं। यहाँ {इरी = प्रेरकः (म.द.ऋ.भा.५.८७.३)।} "इरिमिढः" में 'इरि' 'इरी' का छान्दस रूप तथा 'मिढ' 'मिह' सेचने से निष्पन्न है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तेज व वल से विशेषयुक्त होता है। अन्य प्रभाव निम्नानुसार है-

(१) वह इन्द्र तत्व मरुद् रश्मियों को सव ओर से अवशोषित करता हुआ व्याप्त होता है। वह अन्तरिक्ष में व्याप्त विभिन्न पदार्थों वा छन्दरश्मियों में भी अच्छी प्रकार सव ओर से व्याप्त हो जाता है। {पशवो वै बर्हिः (ऐ.२.४), अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), प्रजा वै बर्हिः (कौ.ब्रा.५.७)।}

(२) विभिन्न प्रकार की रश्मियों रूपी केश वाला इन्द्रतत्व प्राणापानरूप ब्रह्म से युक्त आकर्षक रश्मियों को प्राप्त होकर विभिन्न प्रकार के बलों को अपने में धारण करता है।

(३) वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न मरुद् रश्मियों से युक्त विभिन्न पदार्थों को अपने साथ संयुक्त करके किंवा उनके साथ संयुक्त होकर विभिन्न बलों से युक्त होता है। वह इन्द्र तत्त्व उन सोम रश्मियों का रक्षक व अवशोषक भी होता है।

तदनन्तर विश्वामित्रो गाथिन ऋषि अर्थात् {गाथिन् = गाथ्+इनि (आप्टेकोष), (गाथः = अपरिमितम् - तु.म.द.ऋ.भा.७.६०.७; विलोडनम् - म.द.ऋ.भा.१.६१.११)।} अपरिमित क्षेत्र में व्याप्त, सबके विलोडनकर्ता मनस्तत्त्व से उत्पन्न वाक् तत्त्व से इन्द्राग्नी-देवताक व गायत्री-छन्दस्क

इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता।।१।।
इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः। अया पातमिमं सुतम्।।२।।
इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे। ता सोमस्येह तृम्पताम्।।३।। (साम.६६९-६७१)

तृच की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से इन्द्र व अग्नि तत्त्व तेजस्वी व बलवान् होते हैं। इसके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) आकाश में हो रही अनेक क्रियाओं के प्रेरक इन्द्र व अग्नि तत्व विभिन्न छन्द रश्मियों से उत्पन्न व प्रेरित विभिन्न पदार्थों किंवा सृष्टि यज्ञ की रक्षा हेतु सर्वतः व्याप्त होते हैं।

(२) {चेतनः = प्रकाशकः इति मे मतम्। इसलिए ही महर्षि ने ऋग्वेद १.१०.२ के भाष्य में चेतति का अर्थ प्रकाशयति भी किया है} वे इन्द्र व अग्नि तत्त्व सर्गयज्ञ के प्रकाशक हैं। वे अपने प्रकाशक प्राणतत्त्व के संगत होने से उत्पन्न होते है। {अया = अनया (इदं सर्वनाम्नस्तृतीयैकवचने रूपम्, पृषोदरादिना नकारस्य लोपः - वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री)} इस संगति के द्वारा वे इन्द्राग्नी सभी उत्पन्न पदार्थों में व्याप्त हो जाते हैं, किंवा वे उन पदार्थों को अपने अन्दर व्याप्त कर लेते हैं।

(३) वे इन्द्र व अग्नितत्त्व कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी सूर्यादि लोकों किंवा विभिन्न ऋषिरूप प्राथमिक प्राणादि पदार्थों को आच्छादित करते किंवा उनसे आच्छादित होते हैं। इसके साथ ही वे सूर्यादि लोकों को बल प्रदान करते, किंवा विभिन्न प्राणों के द्वारा बल प्राप्त करते हैं। यहाँ 'कविच्छदा' मे 'छदि' अपवारणे तथा 'छदिर' ऊर्जने धातु का प्रयोग है। वे ऐसे इन्द्र व अग्नि तत्त्व सर्गयज्ञ को गति देने के लिए विभिन्न मरुद् व छन्द रश्मियों के द्वारा तृप्त किये जाते हैं।

इस प्रकार ये कुल बारह गायत्री छन्द रश्मियां स्तोत्ररूप हैं। इसके उपरान्त शस्त्र संज्ञक छन्द रश्मियों की चर्चा करते हैं। यह छन्द रश्मि स्वस्ति आत्रेय ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न अच्छी गति वाले प्राण विशेष से वायुदेवताक एवं निचृदुष्णिक छन्दस्क

वायवा याहि वीतये जुषाणो हव्यदातये। पिबा सुतस्यान्धसो अभि प्रयः।।५।। (ऋ.५.५१.५)

है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से वायु तत्त्व तीव्र रूप से सबको आच्छादित करता किंवा उष्णता से युक्त होता जाता है। इसके अन्य प्रभाव से {प्रयः = अन्ननाम (निघं.२.७), उदकनाम (निघं.१.१२)} वायु तत्त्व संयोज्य कणों को गति प्रदान करने के लिए सब ओर से उन कणों में व्याप्त होता है। वह वायु उत्पन्न हुए विभिन्न संयोज्य कणों को अवशोषित करके किंवा उनके द्वारा अवशोषित होकर उन्हें प्रकृष्ट गति व बल प्रदान करता है। इसके पश्चात् अगली ऋचा, जो वायुदेवताक तथा निचृत् उष्णिक् छन्दस्क

इन्द्रश्च वायवेषां सुतानां पीतिमर्हथः। तान् जुषेथामरेपसावभि प्रयः।।६।। (ऋ.५.५१.६)

की उत्पत्ति होती है, इसका दैवत व छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् होता है। इसका अन्य प्रभाव इस प्रकार है- वायु व इन्द्र, दोनों तत्त्व विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को अवशोषित करने लगते हैं। {अरेपसौ =

पापाचरणरहितौ (तु.म.द.ऋ.भा.४.१०.६)} वे दोनों ही पदार्थ असुर तत्त्व की बाधा से मुक्त होकर विभिन्न तत्त्वों का सेवन करते हैं। तदुपरान्त इस तृच की अन्तिम ऋचा

सुता इन्द्राय वायवे सोमासो दध्याशिरः। निम्नं न यन्ति सिन्धवोऽभि प्रयः।।७।। (ऋ.५.५१.७)

वायुदेवताक व विराडुष्णिक् छन्दस्क होने से प्रभाव पूर्ववत्, परन्तु तेज की कुछ अधिकता होती है। इसके अन्य प्रभाव से जैसे नदियां स्वतः ही नीचे की ओर वहती हैं, उसी प्रकार विभिन्न उत्पन्न पदार्थरूपी सोमवायु और इन्द्र तत्त्वों की ओर सव ओर से गमन करते हैं। यहाँ उपर्युक्त गायत्री छन्दस्क वारह साम रश्मियों के द्वारा प्रकाशन का कर्म विशेषतः होता है तथा वायव्य रश्मि द्वारा उस कर्म को गति प्रदान की जाती है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कैसे वायुदेवताक रश्मियों का तृच रूप इन वारह रश्मियों के साथ समन्वय होता है? महर्षि ऐतरेय महीदास इन सभी वारह रश्मियों को अग्निदेवताक मानते हैं, जवकि हमने इनमें सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित श्री पं. तुलसीराम स्वामी भाष्य के आधार पर विभिन्न देवताओं का होना ऊपर लिखा है। कदाचित् इन वारह रश्मियों के प्रभाव, जिसमें अग्नि तत्त्व की समृद्धि की ही प्रधानता है, को दृष्टिगत रखकर इन्हें आग्नेयी कहा है और ऐसा करना उचित ही है। अव अगली कण्डिका में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं।।

उपर्युक्त सातों तृचों की कुल इक्कीस छन्द रश्मियां अग्नि तत्त्व को ही विस्तृत करती हैं; भले ही उनका कोई भी देवता क्यों न हो। उनका दैवत व छान्दस प्रभाव, साथ ही अन्य सभी प्रभाव मिलकर अग्नि तत्त्व को ही समृद्ध करते हैं। इस कारण इन सवकी परस्पर संगति है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का विभिन्न प्रकार के वायु तत्त्वों अर्थात् प्राणादि पदार्थों के साथ निकट सम्बन्ध होता है। वायु वा प्राणादि पदार्थ ही सम्पीडित होकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अर्थात् ऊर्जा को उत्पन्न करते हैं। वर्तमान विज्ञान वायु वा प्राणादि पदार्थों के स्वरूप को अपनी तकनीक द्वारा अनुभव नहीं कर सकता। **ऊर्जा व द्रव्यमान का संरक्षण जहाँ भंग होता दिखाई देता है, वहाँ दोनों के वायु = प्राण तत्त्व में परिवर्तित होने का परिणाम मानना चाहिए।** weak interaction force में ऊर्जा द्रव्यमान संरक्षण का सिद्धान्त भंग होता है। उसका कारण वर्तमान वैज्ञानिकों को समझ में नहीं आ रहा। वे vacuum energy की कल्पना करते हैं तथा उसी में वे विभिन्न मीडियेटर पार्टीकल्स के निर्माण व विनाश की कल्पना भी करते हैं, परन्तु vacuum energy के स्वरूप का उन्हें कुछ भी ज्ञान अभी तक तो नहीं है। **हमारा मत है कि कथित vacuum energy वायु तत्त्व का ही रूप है। जब इसके सम्पीडन से क्वाण्टा वा कणों का निर्माण होता है, तब द्रव्यमान व ऊर्जा का संरक्षण सिद्धान्त भंग होता प्रतीत होता है। वस्तुतः वायु तत्त्व व ऊर्जा एक-दूसरे में परिवर्तनीय होने से मूलतः एक ही हैं तथा एक ही मूल उपादान कारण से उत्पन्न व उसी में लय होते हैं।** प्रायः जहाँ-२ वायु है, वहाँ-२ ऊर्जा भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त भी इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक प्रकार के कण व तरंग आदि सभी में किसी न किसी मात्रा में ऊर्जा अवश्य विद्यमान होती है अर्थात् ऊर्जाविहीन किसी पदार्थ का इस सृष्टि में होना सम्भव नहीं है। कुछ पदार्थ ऊर्जा के रूपान्तरण से द्रव्यादि में परिवर्तित हुए हैं, तो कुछ पदार्थ (वायु आदि) ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हुए हैं। इस प्रकार ऊर्जा की सबके साथ संगति है।
अव महर्षि ऊष्मा उत्पन्न होने के विभिन्न स्तरों की क्रमशः चर्चा करते हैं।
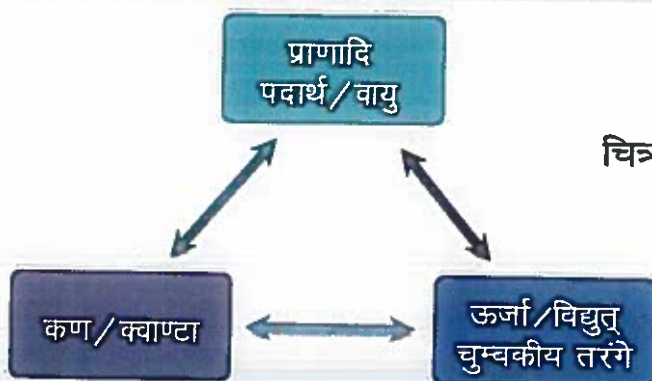
चित्र ११.७ सूक्ष्म पदार्थों का पारस्परिक रूपांतरण

२. स यदग्निः प्रवानिव दहति; तदस्य वायव्यं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति।। अथ यद्द्वैधमिव कृत्वा दहति, द्वौ वा इन्द्रवायू, तदस्यैन्द्रवायवं रूपं, तदस्य येनानुशंसति।।

{प्र = अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.२.४१), प्राणो वै प्र (ऐ.२.४०), अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्षं वा अन्तर्यामः (मै.४.५.६; काठ.२७.२)। प्रवान् = प्रकर्षवान् (सायणभाष्य)}

व्याख्यानम्- जब अग्नि प्रकृष्ट रूप में जलता है। उस समय उसमें पूर्वोक्त वायव्य सूक्त रश्मियों की प्रधानता रहती है। उस समय आकाश व प्राण तत्त्व मिलकर अन्तर्याम बलों की भाँति विभिन्न अणुओं में विचरण करते हैं। यहाँ यह भी कह सकते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में जहाँ और जब वायव्य रश्मियों की प्रधानता हो जाती है, उस समय अग्नि तत्त्व भी तीव्र होने लगता है।।

जब इस ब्रह्माण्ड में अग्नि दो प्रकार के पदार्थों के कारण निर्मित होता है, किंवा जब अग्नि दो रूपों को धारण करता हुआ प्रदीप्त हो उठता है, उस समय उस स्थान पर पूर्वोक्त इन्द्रवायुदेवताक सूक्त रश्मियों की ही प्रधानता रहती है। उस अग्नि की उत्पत्ति ऐन्द्रवायव बलों से होती है। जब और जहाँ ब्रह्माण्ड में ऐन्द्रवायव रश्मियां प्रचुरतया उत्पन्न होती हैं, उस समय इस प्रकार का अग्नि उत्पन्न होता है। इसमें ऐन्द्रवायव बल प्रधान होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब ब्रह्माण्ड में ऊष्मा उत्पन्न होकर विभिन्न अणुओं को गर्म कर रही होती है, संचालन विधि से जब ऊष्मा संचरित होती है, उस समय वह ऊर्जा परमाणु व अणुओं के मध्य सूक्ष्म गति से विचरण करती है। उस प्रक्रिया में व्याख्यान भाग में वर्णित गायत्री रश्मियां प्रधान रूप से उत्पन्न होती हैं। उन्हीं रश्मियों के कारण ऊष्मा का यह रूप वा कार्य प्रकट होता है। जब कोई फोटोन किसी परमाणु वा अणु में अवशोषित होकर उसकी गति व ताप की वृद्धि करता है, वह अग्नि इस श्रेणी का कहलाता है। इस समय ऐन्द्रवायव बल की प्रधानता होती है।।

जब विद्युत् धन व ऋणावेशित कणों अर्थात् कण व प्रतिकणों के मिलने से ऊर्जा उत्पन्न होती है, उस समय व्याख्यान भाग में वर्णित रश्मियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वे रश्मियां ही कण व प्रतिकणों को मिलाने का कार्य सम्पादित करती हैं। जब ब्रह्माण्ड में इन रश्मियों की अधिकता होती है, उस समय विभिन्न कण व प्रतिकण मिलकर ऊर्जा उत्पन्न करने लगते हैं। जब विभिन्न फोटोन्स टूटकर विभिन्न कण व प्रतिकणों को उत्पन्न करते हैं, उस समय भी इन रश्मियों की भूमिका होती है, परन्तु विपरीत।।

३. अथ यदुच्च ह्रष्यति नि च ह्रष्यति तदस्य मैत्रावरुणं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति।। स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपं, तं यद्घोरसंस्पर्शं सन्तं मित्रकृत्येवोपासते, तदस्य मैत्रं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति।।

{घोरः = विद्युद्‌योगेन भयंकरः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६७.४), यो हन्ति सः (म.द.ऋ.भा.७.२८.२)। वारुणः = यल्लोहितं (ज्योतिः) तद् वारुणम् (मै.१.८.६; काठ.६.७), वारुणमश्वम् (श.६.२.१.५)। मैत्रः = यन्न लोहितं न सुवर्णं (ज्योतिः) तन्मैत्रम् (मै.१.८.६), यच्च शीतं तेन मैत्रः यत् तप्तं तेन वारुणम् (मै.४.५.८), वरुण्यं वा ऽएतद्यन्मथितम् अथैतन्मैत्रं यत्स्वयमुदितम् (श.५.३.२.६)। मित्रः = अनुष्टुब् मित्रस्य (पत्नी) (मै.१.६.२), मित्रो नवाक्षरया बृहतीमुदजयच्चतुर्धा ह्येतस्या नवनवाक्षराणि (मै.१.११.१०)। वरुणः = विराड् वरुणस्य पत्नी (गो.उ.२.६), छन्दांसि वै वरुणस्य पाशाः (मै.२.३.३)}

व्याख्यानम्- इस ब्रह्माण्ड में जब अग्नि तत्व उत्कर्ष व अपकर्ष को प्राप्त होता है, वहाँ पूर्वोक्त मैत्रावरुण सूक्त रश्मियों की प्रधानता होती है। इनके कारण ही अग्नि का उतार-चढ़ाव होता रहता है। सर्वत्र सर्वथा अग्नि का समान रूप कभी नहीं रहता। यहाँ आचार्य सायण ने भट्टभास्कर को उद्धृत करते हुए **'निहर्षः'** का अर्थ **'नीचत्वम्'** ग्रहण किया है। तदनुसार ही हमने उपर्युक्त अर्थों का ग्रहण किया है।।

जब अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त लाल व सुन्दर रंगों की अत्यन्त तीव्रगामी ज्वालाओं को लिए हुए होता है, वह **वारुण अग्नि** कहलाता है। उस समय वह अग्नि विद्युत् के साथ मिश्रित होकर अति भयंकर होता है। इसके अन्दर विध्वंसक क्रियाएं चलती रहती हैं। इसका ताप उच्च होता है। इसके अन्दर गायत्री आदि सभी छन्द रश्मियां, विराड्रूप में विशेषकर विद्यमान होती हैं। यह अग्नि मंथन क्रिया से उत्पन्न होता है। पूर्व में तारों की उत्पत्ति में हम अग्निमंथन की चर्चा कर चुके हैं। उधर जब अग्नि लाल व सुनहरे रंग का नहीं होता तथा जिसका ताप न्यून होता है, वह **मैत्र नामक अग्नि** कहलाता है। इधर इस कण्डिका में **महर्षि ऐतरेय महीदास** घोर-भयंकर व तप्त अग्नि को **मैत्र रूप** में भी वर्णित कर रहे हैं। इस घोर व सुन्दर रंगों से परिपूर्ण अग्नि अपने निकटस्थ पदार्थों को अपने पाश में बांध कर दहन करके अनेक तत्त्वों का निर्माण करता है, इस कारण **यह वारुण अग्नि ही मैत्र कहलाता है**। इस प्रकार मैत्र अग्नि के दो रूप सिद्ध होते हैं। **न्यून ताप वाले अग्नि में अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। इनमें से मैत्र अग्नि में प्राण तत्त्व की तथा वारुण अग्नि में प्राण के साथ अपान, उदान व व्यान की भी प्रधानता होती है**। ये दोनों प्रकार के अग्नि पूर्वोक्त मैत्रावरुण रश्मियों से ही समृद्ध एवं उत्पन्न होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- व्याख्यान में वर्णित छन्दरश्मियों से उत्पन्न अग्नि उतार-चढ़ाव वाला होता है। इस सृष्टि में सर्वत्र सदा समान ताप नहीं होता। सूर्यादि तारों का अत्यन्त उच्च ताप वाला अग्नि तथा इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त ठंडा विकिरण, ये मूलतः एक ही हैं। अति तीव्र घोर जलता अग्नि अपने आस पास विद्यमान विभिन्न पदार्थों को जलाकर नवीन तत्त्वों का निर्माण करता है। अति तीव्र अग्नि नाभिकीय संलयन के द्वारा ही उत्पन्न होता है और जो अग्नि संलयन से उत्पन्न न होकर अन्य विधि से इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होता है, वह अति तीव्र नहीं होता है। **मंद अग्नि में अनुष्टुप् रश्मियां तथा तीव्र अग्नि में गायत्री, त्रिष्टुप् आदि सभी छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं**। तीव्र अग्नि में विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र व विद्युत् आयनों की अति प्रबलता होती है, जबकि मंद अग्नि में ऐसा नहीं होता। इस समय मैत्रावरुण बल की सक्रियता विशेष होती है।।

४. अथ यदेनं द्वाभ्यां बाहुभ्यां द्वाभ्यामरणीभ्यां मन्थन्ति, द्वौ वा अश्विनौ, तदस्याऽऽश्विनं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति।।
अथ यदुच्चैर्घोषस्तनयन् बबबा कुर्वन्निव दहति, यस्माद् भूतानि विजन्ते, तदस्यैन्द्रं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति।।

{अरणी = देवरथो वा अरण्ये (कौ.ब्रा.२.६), अरो वै विष्णुस्तस्य वा एषा पत्नी यदरणी (काठ.संक.२१.२.३ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत), उपर्य्यधस्थौ साधनौ (तु.म.द.ऋ.भा.३.२९.२)}

व्याख्यानम्- जब अग्नि के पूर्वोक्त मैत्रावरुण प्राणापान अथवा प्राणोदान रूपी बाहु अर्थात् ऊपर व नीचे की दिशा में संयुक्त इन प्राणों के बल विभिन्न तेजस्वी शक्तिशाली पदार्थों का मन्थन करते हैं, उस समय तारों व अति विशाल नेव्यूलाओं में लाल व अन्य सुन्दर रंग की ज्वालाओं से युक्त व कम उष्ण विकिरण वा पदार्थ अति विक्षुब्ध हो जाते हैं। उनमें भारी हलचल वा विलोडन क्रिया प्रारम्भ हो

जाती है। उस समय सब ओर तीव्रगामी लपटें सबको ढकने लगती हैं। **यह ऊष्मा का आश्विन रूप है।** उस समय पूर्वोक्त आश्विन सूक्त रश्मियों की प्रधानता होती है एवं उन्हीं किरणों के द्वारा ज्वालाओं से युक्त वह ऐसा अग्नि उत्पन्न होता है। उस समय प्रकाशित व अप्रकाशित कणों में परस्पर संयोग-वियोग व्यापक स्तर पर होता है। इस अग्नि में भी प्राणापान व प्राणोदानों के युग्म अति सक्रिय होते हैं। इस अवस्था में पंक्ति छन्द भी प्रचुरता से विद्यमान होता है। इसी कारण कहा है- "श्रोत्रं वा आश्विनः" (काठ.२७.५; क.४२.५)। हम अनेकत्र श्रोत्रम् का सम्बन्ध पंक्ति छन्द रश्मियों से बतला चुके हैं। इसमें आश्विन बल की प्रमुखता रहती है।।

जब अग्नि उच्च ध्वनि उत्पन्न करके जलने लगती है, उस समय **'बबबा-बबबा'** की ध्वनि अत्युच्च घोष (गर्जन) के साथ तीव्रता से होने लगती है। उस समय समस्त उत्पन्न पदार्थ उस भंयकर अग्नि के कारण कम्पायमान हो उठते हैं, **वह अग्नि का ऐन्द्र रूप है।** इस समय पूर्वोक्त ऐन्द्र सूक्त रश्मियों की प्रधानता होती है। साथ ही इन्हीं रश्मियों के कारण अग्नि का यह रूप उत्पन्न होता है। इस समय भी विभिन्न अप्रकाशित व प्रकाशित पदार्थों का परस्पर संयोग **वियोग तीव्रता से** होता है। **यह अग्नि भी उपर्युक्त आश्विन अग्नि का ही तीव्र रूप है। इससे शुक्र व मन्थी बल प्रधान होते हैं।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न तारों वा नेब्यूलाओं के अन्दर जब व्याख्यान भाग में वर्णित छन्द रश्मियों की प्रधानता हो जाती है, उस समय नाभिकीय संलयन की क्रिया तीव्रता से होने लगती है। उस समय तारों के ऊपरी भाग में अत्यन्त लाल व अन्य कई प्रकार के सुन्दर रंगों की ज्वालाएं उठने लगती हैं। अत्यन्त उच्च घोष के साथ 'बबबा' की ध्वनि उत्पन्न होती रहती है। ऊर्जा का उत्सर्जन व अवशोषण तीव्रता से होने लगता है। भारी हलचल विलोडन, क्षोभ उत्पन्न होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो सम्पूर्ण तारे में भयंकर अग्नि का उबाल आ रहा हो। विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों की तीव्रता व गति भी बहुत बढ़ जाती है। इस समय आश्विन, शुक्र व मन्थी बल प्रधानता से सक्रिय रहते हैं।।

५. अथ यदेनमेकं सन्तं बहुधा विहरन्ति, तदस्य वैश्वदेवं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति।।
अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति, तदस्य सारस्वतं रूपं, तदस्य तेनानुशंसति।।

व्याख्यानम्- वस्तुतः अग्नितत्त्व एक ही होता है। वह एक होता हुआ भी विभिन्न कारणों से विभिन्न प्रकार का होकर इस सृष्टि में भाँति-२ का व्यवहार करता है। वह अनेक रूपों में प्रकट होकर मानो नाना क्रीड़ा करता है। **यह अग्नि का वैश्वदेव रूप है।** इसमें विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। इस अग्नि के रूपों में यह परिवर्तन पूर्वोक्त वैश्वदेव सूक्त रश्मियों के प्रभाव से होता है और उस परिवर्तन की क्रिया में इन्हीं रश्मियों की प्रधानता होती है। **इस अग्नि के विभिन्न रूपों का प्रथम प्रादुर्भाव पूर्वोक्त आग्रयण बल से होता है,** जो उसके पश्चात् विभिन्न स्तरों से गुजरता रहकर नाना रूप दिखाता है।।

जब अग्नि पूर्वोक्त 'बबबा' ध्वनि के साथ जलने के उपरान्त और भी तीव्र ध्वनि व तेज के साथ तीव्रतया जलने लगता है। इसका ताप और भी तीव्र व तीव्रतम हो जाता है। उस समय इस अग्नि का रंग श्वेत हो जाता है। इसी कारण कहा है "तद्यच्छुक्लं तद्वाचो रूपम्" (जै.उ.१.८.१.८) इसका आशय है कि इस समय अर्थात् पूर्वोक्त **सारस्वत रश्मियों की प्रधानता के कारण अग्नि तीव्रतम तापयुक्त होकर उच्च ध्वनि के साथ शुक्ल वर्ण वाला होकर जलने लगता है।** यह अग्नि का सारस्वत रूप है। **इस समय उपर्युक्त सभी बलों का भी तीव्ररूप होता है।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- वस्तुतः विद्युत् चुम्बकीय तरंगें मूलतः एक ही होती हैं, **किन्तु विभिन्न बलों व उनकी उत्पादिका विभिन्न रश्मियों के प्रभाव से उन तरंगों की आवृत्ति परिवर्तित होती रहती है, जिसके**

कारण वे तरंगें विभिन्न प्रकार की होती हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा जाने गये इनके विभिन्न रूप हैं, जैसे- रेडियो तरंगें, अवरक्त तरंगें, दृश्य प्रकाश तरंगें, पराबैंगनी तरंगें, क्ष-तरंगें एवं गामा तरंगें। इन छः प्रकार का विभाजन भी विभिन्न छन्द रश्मियों के कारण ऊर्जा की आवृत्ति में सतत वृद्धि होने के कारण होता है। दृश्य प्रकाश में सात रंगों की तरंगें भी इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं। यहाँ भी कुल सात रूपों वाली तरंगों की ही चर्चा है। वस्तुतः **आवृत्ति के भेद से ऊर्जा के सहस्रों विभाग भी किए जा सकते हैं। उन सबके पीछे विभिन्न छन्द रश्मियों का ही खेल है। श्वेत वर्ण सर्वाधिक उच्च ताप पर उत्पन्न होता है, जिसमें अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों की भूमिका होती है।।**

६. एवमु हास्य वायव्ययैव प्रतिपद्यमानस्य तृचेन तृचेनैवैताभिर्देवताभिः स्तोत्रियोऽनुशस्तो भवति।।
'विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः' इति वैश्वदेवमुक्थं शस्त्वा वैश्वदेव्या यजति, यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति।।४।।

व्याख्यानम्- इस प्रकार वायव्य तृच से प्रारम्भ होकर सारस्वत तृच पर्यन्त विशेषकर शस्त्र वा ग्रहरूप वैश्वदेव तृच पर्यन्त विभिन्न रश्मियां इस खण्ड की प्रथम कण्डिका के व्याख्यान में वर्णित स्तोत्र संज्ञक "अग्न आ याहि वीतये......." रश्मियों के साथ पूर्णतः संगत व समन्वित होकर विभिन्न चरणों में विभिन्न प्रकार के अग्नि को उत्पन्न करती हैं। सभी प्रकार की स्तोत्र रश्मियों को प्रथम कण्डिका में ही समझें। अगली कण्डिकाओं में वर्णित विभिन्न प्रकार की वल रश्मियों के साथ इन सवकी संगति होना अनिवार्य है।।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में काण्वो मेधातिथि ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विश्वेदेवादेवताक व गायत्री छन्दस्क

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः।।१०।। (ऋ.१.१४.१०)

छन्द रश्मि याज्या अर्थात् योषारूप में सभी वायव्यादि तृच रश्मियों के साथ संयुक्त होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से सभी वल तेजस्वी व तीक्ष्ण हो जाते हैं। इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि इन्द्रतत्त्व व वायुतत्त्व के साथ संयुक्त होकर अन्य प्राणापानादि पूर्वोक्त सभी देव पदार्थों के साथ सोम अर्थात् विभिन्न मरुद् रश्मियों के मार्गों व वलों का पान करता है अर्थात् उन्हें अपने अन्दर समेट लेता है। इस छन्दरश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त वैश्वदेव संज्ञक तृच रश्मिसमूह की उत्पत्ति के तत्काल पश्चात् होती है। इसके उत्पन्न होने पर पूर्वोक्त सभी वायव्यादि तृच वा वल पुष्ट होते हैं। इस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति में इस रश्मि की व्यापक व आधारभूत भूमिका होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस खण्ड में वर्णित ऊर्जा के विभिन्न रूप विभिन्न छन्द रश्मि व प्राणादि पदार्थों के मिश्रित रूप वायु के सम्पीडन से ही उत्पन्न होते हैं। इसमें सम्पीडन के विभिन्न स्तरों के कारण ही ऊर्जा किंवा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के विभिन्न रूप होते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध समन्वय सतत बना रहता है। विभिन्न रश्मियों को व्याख्यान के अन्तिम भाग में वर्णित गायत्री छन्द रश्मि सदा समन्वित रखने में सहयोग करती हैं। इसके बिना ऊर्जा की इन विभिन्न अवस्थाओं का उत्पन्न होना असम्भव है। इस खण्ड में वर्णित सभी आग्नेय (ऊर्जा के) रूप इसके बिना अस्तित्त्व में नहीं आ सकते हैं।।

इति ११.४ समाप्तः

अथ ११.५ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. देवपात्रं वा एतद् यद् वषट्कारो वषट्करोति, देवपात्रेणैव तद्देवतास्तर्पयति।। अनुवषट्करोति, तद् यथाऽदोऽश्वान् वा गा वा पुनरभ्याकारं तर्पयन्त्येवमेवैतद्देवताः पुनरभ्याकारं तर्पयन्ति यदनुवषट्करोति।।

{अद = अद्+क्विप्, अच् वा+सु अर्थात् निगलने वाला (आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- जो वषट्कार संज्ञक रश्मियां होती हैं, वे देवपात्र का रूप होती हैं। यहाँ वषट्कार कौन सी रश्मियां हैं, इस विषय में अगले खण्ड की अन्तिम कण्डिका द्रष्टव्य है। वे रश्मियां विभिन्न प्रकार के देव परमाणुओं अर्थात् प्रकाशित परमाणुओं की पात्ररूपा होती हैं। यहाँ 'पात्र' शब्द ध्यान रखने योग्य है। यह गम्भीर अर्थ का द्योतक है। जिस प्रकार कोई पदार्थ किसी पदार्थ को आकार, आधार, सुरक्षा तीनों एक साथ प्रदान करता है, इसी प्रकार **ये वषट्कार रश्मियां भी विभिन्न प्रकाशित पदार्थों को चारों ओर से आवृत्त करके उन्हें आधार व आकार प्रदान करने के साथ ही सुरक्षा भी प्रदान करती हैं।** इसी कारण पूर्वखण्डोक्त याज्या संज्ञक छन्द रश्मि के उत्पन्न व क्रियाशील होने के उपरान्त वषट्कार संज्ञक रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जो अग्नि के परमाणुओं को सब ओर से आच्छादित करके उन्हें तृप्त करती हैं। यहाँ तृप्त होने का अर्थ प्रचुरता से प्रज्वलित होना मानना चाहिए। यहाँ 'तर्पयति' पद 'तृप संदीपने' धातु से निष्पन्न है और आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग छान्दस है, ऐसा हमारा मत है। इस प्रकार वषट्कार से अग्नितत्त्व और भी प्रखर व सुरक्षित हो उठता है।।

उपर्युक्त वषट्कार क्रिया अर्थात् उपर्युक्त वषट्कार संज्ञक रश्मियों के उत्पन्न होने के उपरान्त तत्काल ही अनुवषट्कार क्रिया होती है। अनुवषट्कार के विषय में महर्षि आश्वलायन लिखते हैं- 'अग्ने वीहीत्यनुवषट्कारः' (आश्व.श्रौ.५.१३.६) यहाँ 'अग्ने वीही' से वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से अग्निदेवताक तथा आर्च्युष्णिक छन्दस्क

अग्ने॑ वी॒हि ह॒विषा॒ यक्षि॑ दे॒वान्त्स्व॑ध्व॒रा कृ॑णुहि जातवेदः।।३।। (ऋ.७.१७.३)

ऋचा का ग्रहण करना चाहिए। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व समृद्ध तथा तीव्र उष्ण होता है। इसके अन्य प्रभाव से उस समय अर्थात् पूर्वखण्ड के वर्णनानुसार अग्नि विभिन्न हवियों अर्थात् मास रश्मियों को प्राप्त होकर विभिन्न प्रकाशित पदार्थों के साथ संगत होकर सर्गयज्ञ को तीव्रता से संचालित करते हैं। अगली कण्डिकाओं में "सोमस्याग्ने वीहीति" से अनुवषट्कार का विधान किया है। कदाचित् ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचा में 'सोमस्य' जोड़कर नवीन ऋचा का ग्रहण होना चाहिए। तब इसका छन्द स्वराड् गायत्री होगा। प्रभाव लगभग समान ही होगा। हाँ, अग्नितत्त्व सोम में व्याप्त होता जाएगा। अनुवषट्कार के विषय में १.२२.३ भी द्रष्टव्य है। अब महर्षि कहते हैं कि जैसे सबको निगलने वाली पूर्वोक्त याज्या छन्द रश्मि अर्थात् पूर्वोक्त विभिन्न तृच संज्ञक रश्मियों में व्याप्त होकर योषारूप धारण करके सभी रश्मियों के तेज व बल को धारण करके वह पूर्वोक्त याज्या गायत्री रश्मि विभिन्न अश्व अर्थात् श्वेतवर्ण आग्नेय लोकों व उनकी गौ रूप रश्मियों को बार-२ चारों ओर से आकार देती है किंवा उन्हें सब ओर से धारण करती है, {अश्वः = अग्निर्वा अश्वः श्वेतः (श.३.६.२.५)} साथ ही उन्हें तृप्त करती अर्थात् और भी अधिक चमकाती है, वैसे ही यह अनुवषट्कार छन्द रश्मि पूर्वोक्त विभिन्न तृचों के देवताओं अर्थात् उन देवता वाली तृचों को बार-२ सब ओर से आच्छादित, धारण व

समन्वित करके और भी तृप्त करती अर्थात् चमकाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ऊर्जा के पूर्वोक्त विभिन्न रूपों के उत्पन्न होने पर **'वौषट्'** नामक रश्मियां, जिनके विषय में अगले खण्ड की अन्तिम कण्डिका द्रष्टव्य है, पूर्व की सभी तरंगों को आच्छादित कर लेती हैं। ये रश्मियां विभिन्न क्वाण्टाज् को आच्छादित करके उनकी आवृत्ति को बढ़ाकर उन्हें कुछ तीक्ष्ण बनाती हैं, किंवा उनको आच्छादित करके उन्हें सुरक्षित आधार व आकार प्रदान करती हैं। इसके तत्काल पश्चात् एक गायत्री रश्मि उत्पन्न होकर विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को उत्पन्न करने वाली विभिन्न छन्द रश्मियों को बार-२ चारों ओर से धारण करके उन्हें और भी तेजस्वी बनाने में सहयोग करती हैं। इसके साथ ही यह रश्मि अन्य सभी रश्मियों को समन्वित करती है। इससे वे तरंगें बार-२ उत्पन्न होती रहती हैं।।

२. इमानेवाग्नीनुपासत इत्याहुर्धिष्ण्यान्, अथ कस्मात् पूर्वस्मिन्नेव जुह्वति, पूर्वस्मिन् वषट्कुर्वन्तीति।।
यदेव सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट्करोति तेन धिष्ण्यान् प्रीणाति।।

{धिष्ण्यः = धृष्णोति प्रगल्भो भवतीति (उ.को.४.१०८) (ञिधृषा प्रागल्भ्ये, धिष शब्दे), अग्नेरेतास्तन्वो यद् धिष्ण्याः (मै.४.६.६), धिषणा भवः (नि.८.३), (धिषणा = वाङ्नाम - निघं.१.११; द्यावापृथिवीनाम - निघं.३.३०), प्राणा वा एते यद् धिष्णियाः (तै.सं.६.३.१.५)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कहते हैं कि उपर्युक्त उत्पन्न अग्नि को धिष्णियों के रूप में स्थापित किया जाता है। इसका आशय है कि जो अग्नि के विविध रूप उत्पन्न हुए थे, उन्हें द्यावापृथिवी के रूप में अर्थात् तेजस्वी पृथिव्यादि अप्रकाशित कणों वा लोकों के रूप में स्थापित किया जाता है। ये दोनों प्रकार के लोक ही अग्नि तत्त्व का शरीर हैं। इन लोकों का आधार भी विभिन्न धिषणा अर्थात् वाग् रश्मियां ही होती हैं। महान् तत्ववेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य धिष्णियों के प्रकार बताते हुए लिखते हैं- एतानि (स्वानःभ्राजः, अङ्घारिः, बम्भारिः हस्तः, सुहस्तः, कृशानुः) वै धिष्ण्यानां नामानि (श.३.३.३.११) इसका आशय है कि प्रकाशित व अप्रकाशित कण, जो कि अग्नि तत्त्व का आधार किंवा वेदी के समान होते हैं, वे कुल सात प्रकार के लक्षणों से युक्त सात ही प्रकार के होते हैं। वे प्रकार निम्नानुसार हैं-

(१) स्वानः - {शब्दायमानः (म.द.ऋ.भा.५.१०.५)} यह शब्द 'स्वन' शब्दे धातु से निष्पन्न होता है, इस प्रकार के कण ध्वनि उत्पन्न करते रहते हैं। यद्यपि ध्वनि सर्वत्र उत्पन्न होती है, परन्तु कुछ कण वा लोक विशेषरूप से ध्वनि उत्पन्न करते हैं।

(२) भ्राजः - जो कण वा लोक विशेषरूपेण चमकते हैं, वे इस श्रेणी में आते हैं।

(३) अङ्घारिः - {अङ्घस्य कुटिलगामिनः शत्रुः (तु.म.द.य.भा.५.३२), अघि गत्याक्षेपे (भ्वा.), ततः पचाद्यच् प्रत्ययेऽङ्घः तस्यारिः (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री), (अरिः = प्रापकः - म.द.ऋ.भा.१.१५०.१, ऋच्छति प्राप्नोति परपदार्थानिति - उ.को.४.१४०)} वे कण वा लोक कुटिल टेढ़ी-मेढ़ी गति से युक्त होते हैं तथा वे प्रबल आकर्षण बल से युक्त होकर अपने आस पास के पदार्थों को अपने अन्दर समेट लेते हैं। इसके अतिरिक्त वे कण वा लोक, जो कुटिल वा टेढ़ी-मेढ़ी गतियों वाले कणों वा लोकों को आकर्षित करके उनको सम्यग् गति प्रदान करने में सहायक होते हैं अथवा उन्हें विदीर्ण करके नष्ट कर देते हैं।

(४) बम्भारिः - {बन्धस्याऽरिः अत्र वर्णव्यत्ययेन धस्य भः (म.द.य.भा.५.३२), अङ्घारिरसि बम्भारिः (मै.१.२.१२)} वे कण वा लोक, जो सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व गति करते हैं, साथ ही अपने सम्पर्क से अन्य वक्रगति वाले कणों वा लोकों को भी ऋजु गति प्रदान करने में सहायक होते हैं।

(५) हस्तः - {हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने (नि.१.७)} वे कण वा लोक, जो आकर्षण-प्रतिकर्षण रूप वलों से युक्त होकर शीघ्र ही किसी कण वा लोक का नाश वा उसे प्राप्त करने में सक्षम होते हैं।
(६) सुहस्तः - जिनमें आकर्षण व प्रतिकर्षण वल तीव्र होने से अति सक्रिय होता है, वे सुहस्त कहलाते हैं।

(७) कृशानुः - वे कण, जो अति भेदक शक्तिसम्पन्न होकर विभिन्न कणों वा लोकों को तोड़ने-फोड़ने में विशेष समर्थ होते हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि का अग्नि तत्त्व इन्हीं सात पदार्थों में विशेषरूपेण प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ महर्षि यह प्रश्न उठाते हैं कि पूर्ववर्णित विभिन्न छन्दादि रश्मियों को तत्तत् पदार्थों में ही आहुत किया जाता है और उन्हीं रश्मियों में पूर्वोक्त वषट्कार भी किया जाता है। इन धिष्णियों रूपी पदार्थों में न तो उन ऋग्रश्मियों को संगत किया जाता है और न ही उनमें वषट्कार की क्रिया होती है, तव इन धिष्णिय संज्ञक पदार्थों की उस अग्नि तत्त्व के साथ संगति व समन्वय कैसे हो पाता है? इसका उत्तर देते हुए अगली कण्डिका में लिखते हैं।।

जव पूर्वोक्त "सोमस्याग्ने वीहि" ऋग्रश्मि से अनुवषट्कार की पूर्वोक्तानुसार क्रिया होती है, उस समय उसके ही प्रभाव से धिष्णिय संज्ञक पदार्थ भी तृप्त हो जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि यह रश्मि पूर्वोक्त विभिन्न रश्मियों व वषट्कार रश्मि सवके साथ संगत व समन्वित होकर सभी सातों धिष्णियसंज्ञक पदार्थों को भी सवके साथ संगत व समन्वित कर देती है, जिसके कारण अग्नि तत्त्व का इन पदार्थों से संगतीकरण सम्पन्न होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में जो भी ऊर्जा विद्यमान है, वह कणों व तरंगों के विभिन्न रूपों में विद्यमान है। इन कणों व तरंगों के भी मुख्य सात प्रकार हैं-
(१) वे कण, जो गति करते हुए विशेषरूप ध्वनि से उत्पन्न करते हैं। यद्यपि ध्वनि तरंगें सर्वत्र विद्यमान होती हैं परन्तु इस प्रकार के कणों में विशेषरूप से विद्यमान होती हैं।
(२) विशेष प्रकार के चमकीले कण अर्थात् विभिन्न दृश्यप्रकाश तरंगें।
(३) प्रवल आकर्षण शक्ति वाले कण, जिनकी गति कुटिल होती है।
(४) जो विना किसी से प्रभावित हुए तीव्र गति करते हैं। वर्तमान विज्ञान का न्यूट्रिनो कण इस श्रेणी का हो सकता है।
(५) वे कण जो अपने आकर्षण व प्रतिकर्षण वल के कारण विभिन्न कणों का भेदन व धारण करने में समर्थ होते हैं।
(६) इस श्रेणी के कणों की भेदन व धारण सामर्थ्य प्रवलतर होती है।
(७) इस श्रेणी के कण अति भेदक शक्तिसम्पन्न होकर विभिन्न अणुओं व परमाणुओं को तोड़ने में विशेष समर्थ होते हैं। गामा किरणें इस श्रेणी में आ सकती हैं।

इस ब्रह्माण्ड में इन सातों प्रकार के कणों की प्रधानता के आधार पर सात प्रकार के ही आकाशीय पिण्ड भी माने जा सकते हैं। पूर्वोक्त छन्द रश्मियां इन सभी कणों व लोकों को भी सदैव तृप्त करती रहती हैं।।

३. असंस्थितान् सोमान् भक्षयन्तीत्याहुर्येषां नानुवषट्करोति, को नु सोमस्य स्विष्टकृद्भाग इति।।
यद्वाव 'सोमस्याग्ने वीहि' इत्यनुवषट्करोति, तेनैव संस्थितान् सोमान् भक्षयन्ति, स उ एव सोमस्य स्विष्टकृद्भागो वषट्करोति।।५।।

{भक्षः = प्राणो वै भक्षः (श.४.२.१.२६)। स्विष्टकृत् = अग्निर्हि स्विष्टकृत् (श.१.५.३.२३), तपः स्विष्टकृत् (श.११.२.७.१८), प्रतिष्ठा वै स्विष्टकृत् (ऐ.२.१०; कौ.ब्रा.३.८)। संस्थितान् = (सम्+स्था = परस्पर निकटवर्ती होना, निश्चेष्ट पड़े रहना, नियंत्रण में रखना

- आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- इस ब्रह्माण्ड में सोम पदार्थ अर्थात् विभिन्न मरुद्रश्मियों का कुछ भाग ऐसा भी रह जाता है, जो उपर्युक्त अनुवषट्कार रश्मियों से युक्त नहीं होता, वे सोम रश्मियां दूर-२ बिखरी हुई चंचल व अनियन्त्रित अवस्था में विद्यमान रहती हैं। इस कारण वे रश्मियां परस्पर संगत वा अग्नि तत्त्व द्वारा अवशोषित होकर सर्ग प्रक्रिया में भाग नहीं ले पातीं, तब प्रश्न यह है कि ऐसी सोम रश्मियों को कैसे भक्षणीय अर्थात् प्राण वा बलयुक्त करके परस्पर संगत होने वा अग्नि के द्वारा अवशोषित करने योग्य बनाया जाता है? इसके साथ ही यह भी प्रश्न है कि सोम रश्मियों का कौन सा भाग अग्नि वा तप से युक्त हो जाता है? अर्थात् कौन सा सोम तत्त्व अग्नि में परिवर्तित हो जाता है?।।

इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि पूर्वोक्त **'सोमस्याग्ने वीहि'** ऋग्रश्मि के अनुवषट्कार से ही वह दूर-२ स्थित व अनियन्त्रित चंचल सोम तत्त्व को निकट व नियंत्रण में लाया जाता है। इसी के कारण वह पदार्थ परस्पर संगत होकर अग्नि तत्त्व द्वारा अवशोष्य भी हो जाता है। इसके कारण ही वह सोम पदार्थ सम्पीडित होकर अग्नि का रूप भी धारण करके तपयुक्त हो जाता है। इस कारण पहले वषट्कार पुनः अनुवषट्कार की पूर्वोक्त क्रियाएं होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में जो भी पदार्थ अति सूक्ष्म व शीतल अवस्था में बिखरा रहता है, जिसकी गति चंचल व अनियन्त्रित परन्तु मन्द होती है, वह सृष्टि निर्माण में काम नहीं आता है। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त विभिन्न रश्मियों के प्रहार से इस पदार्थ की रश्मियां तीव्र गति व बल को प्राप्त करके ऊष्मायुक्त होती हैं, फिर ये परस्पर सम्पीडित होकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का रूप धारण करती हैं। इसके उपरान्त वे रश्मियां कालान्तर में विभिन्न मूलकणों को निर्मित करने में सक्षम होती हैं।।

इति ११.५ समाप्तः

ॐ अथ ११.६ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. वज्रो वा एष यद्वषट्कारो यं द्विष्यात् तं ध्यायेद् वषट्करिष्यंस्तस्मिन्नेव तं वज्रमास्थापयति।।
षळिति वषट्करोति, षड्वा ऋतव ऋतूनेव तत्कल्पयत्यृतून् प्रतिष्ठापयत्यृतून् वै प्रतितिष्ठत इदं सर्वमनु प्रतितिष्ठति यदिदं किंच।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त जो वषट्कार रश्मियां हैं तथा जिसके स्वरूप का वर्णन इसी खण्ड की अन्तिम कण्डिका में है, वे वज्र रूप होती हैं। इसका तात्पर्य है कि वे रश्मियां अति तीक्ष्ण तेजस्वी एवं विभिन्न पदार्थों को रोकने वा नियन्त्रित करने में समर्थ होती हैं। जो रश्मियां वा परमाणु प्रतिकर्षण वल से युक्त होते हैं तथा इसी कारण जव वे दूर भाग रहे होते हैं किंवा जो असुर आदि पदार्थ प्रतिकर्षण वल से अन्य संयोज्य पदार्थों को प्रक्षिप्त करते हैं, उन्हें दूर-२ हटाते हैं, उनकी संयोग प्रक्रिया में वाधा डालते हैं, उनको लक्ष्य करके वषट्कार क्रिया होती है। इसका तात्पर्य यह है कि वषट्कार संज्ञक तीव्र रश्मियों का उस प्रतिकर्षक असुरादि तत्त्व पर प्रहार किया जाता है। उस प्रहार के कारण वे वज्र रूप किरणें उस असुर पदार्थ किंवा दूर भागते हुए पदार्थ को सव ओर से अपने अधिकार में ले लेती हैं और फिर उसे सर्ग प्रक्रिया में वाधक के स्थान पर साधक वना लेती हैं।।

वषट्कार रश्मियों में 'षट्' पद विद्यमान है। इस पद के प्रभाव से यह रश्मि षड् ऋतु संज्ञक रश्मियों को सक्रिय व समर्थ करती हैं, क्योंकि वे ऋतु रश्मियां भी छः ही होती हैं। इस कारण 'षट्' से इन छः ऋतुरश्मियों का ही ग्रहण होता है। 'षट्' पद का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं- "षट् पुनः सहतेः (नि.४.२७) **यहाँ यह निर्वचन ऋतुरश्मियों के प्रभाव के विषय में महत्वपूर्ण वैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन करता है।** वह यह कि ये छः ऋतु रश्मियां, जिनकी चर्चा हम असुर तत्त्व निवारक सूक्ष्मतम रश्मियों, जो 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'सुवः' इन ६ अक्षरों के रूप होती हैं, के रूप में कर चुके हैं, अपना प्रहार असुर तत्त्व के सूक्ष्मतम रूप पर किंवा दूर जाते हुए सूक्ष्म सोमतत्त्व पर वार-२ करती हैं। इनका प्रहार एक वार अकस्मात् नहीं होता वल्कि ये इस प्रकार वार-२ प्रहार करती हैं, जैसे कोई व्यक्ति हथौड़े से वार-२ चोट मार कर किसी धातु को पतला कर रहा हो। ऐसे स्वभाव की ये रश्मियां वषट्कार के 'षट्' पद से और भी अधिक सक्रिय होती हैं। वे मानो उस दूर भागते हुए सोम पदार्थ में किंवा असुर पदार्थ में प्रतिष्ठित वा व्याप्त हो जाती हैं। जव ऐसा हो जाता है, तव जो भी सगंतीकरण की प्रक्रिया चल रही थी और असुर तत्त्व उसे वाधित कर रहा था, वह प्रक्रिया असुर तत्त्व को दवाने के पश्चात् पुनः प्रतिष्ठित होने लगती है। जो सोम पदार्थ दूर भाग रहा था, वह भी इन ऋतु रश्मियों के वार-२ प्रहार से संयोगादि प्रक्रियाओं को प्रतिष्ठित करने लगता है। इस प्रकार जहाँ-२ भी सर्गयज्ञ वाधित होता है अथवा कोई पदार्थ इससे पृथक् रहता है, वह सव ऋतु रश्मियों के कारण सर्गयज्ञ में भाग लेने मे समर्थ होने लगता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में जहाँ-२ डार्क एनर्जी के प्रभाव से विभिन्न संयोग प्रक्रिया में बाधा आती है अथवा कुछ सूक्ष्म रश्मियां सृष्टि प्रक्रिया में भाग न लेकर दूर-२ भागती रहती हैं, इन दोनों ही परिस्थितियों में पूर्वोक्त सूक्ष्मतम ऋतु रश्मियां उत्पन्न होकर बाधक डार्क एनर्जी पर बार-२ तीव्र प्रहार करती हैं, जिससे विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं में डार्क एनर्जी की बाधा समाप्त हो जाती है और डार्क एनर्जी दूर चली जाती है। इस प्रकार जो सूक्ष्म रश्मियां सृष्टि प्रक्रिया से पृथक् होकर दूर भाग रही होती हैं, उन पर भी ये ऋतु रश्मियां बार-२ प्रहार करके उन्हें इतनी ऊर्जा प्रदान करती हैं

कि वे परस्पर संगत होकर विभिन्न मूलकणों का निर्माण कर सकें। उसके पश्चात् वे मूलकण परस्पर संगत होकर विभिन्न एटम्स आदि का निर्माण कर सकें। इस प्रकार इन सूक्ष्म रश्मियों की इस सृष्टि निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यह भूमिका सदैव सृष्टि संचालनादि प्रक्रियाओं में भी रहती है।।

२. प्रतितिष्ठति य एवं वेद, तदु ह स्माऽऽह हिरण्यदन् बैदः, एतानि वा एतेन षट् प्रतिष्ठापयति, द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठिता, अन्तरिक्षं पृथिव्याम्, पृथिव्यप्स्वापः सत्ये, सत्यं ब्रह्मणि, ब्रह्म तपसीत्येता एव तत्प्रतिष्ठाः प्रतितिष्ठन्तीरिदं सर्वमनु प्रतितिष्ठति यदिदं किंच, प्रतितिष्ठति य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- इस सृष्टि प्रक्रिया में जो पदार्थ इस प्रकार ऋतुरश्मियों का आश्रय लेता है, वह सृष्टि प्रक्रिया में प्रतिष्ठित होता है अर्थात् दृढ़ता से भाग लेता है। उसकी क्रियाएं किसी बाधक पदार्थ से बाधित नहीं होती। ऐसा ही किंवा इसी कारण महर्षि बिद के पुत्र वा पौत्र महर्षि हिरण्यदन ने कहा है। ध्यातव्य है कि **यहाँ 'बैद' तथा 'हिरण्यदन्' पद यौगिक नहीं हैं बल्कि ये ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसी प्रकार का मानव इतिहास मिलता है,** न कि **विस्तार से कोई इतिहास। किसी महर्षि का मत उल्लेख करने मात्र तक ही हमने इस ब्राह्मण ग्रन्थ में इतिहास पाया है। इस कारण ब्राह्मण ग्रन्थों को नित्य इतिहास अर्थात् सृष्टि विज्ञान का ही ग्रन्थ समझना चाहिए। जैसे आधुनिक विज्ञान के ग्रन्थों में कोई मानव इतिहास नहीं है बल्कि कहीं-२ किसी वैज्ञानिक का नाम उसके मतोल्लेख के साथ मिलता है, उसी प्रकार की स्थिति ब्राह्मण ग्रन्थों की है।**

समस्त सृष्टि को मुख्यतः छः भागों में विभक्त किया जा सकता है। वे सभी छः पदार्थ ऋतुरश्मियों पर ही आश्रित हैं अर्थात् उन रश्मियों के कारण ही अस्तित्त्व में आते हैं और उन्हीं में प्रतिष्ठित रहते हुए विभिन्न सृजन कर्म कर पाते हैं। ये छः पदार्थ और उनका आधार आधेय सम्बन्ध निम्नानुसार है-

द्यौ अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित है। इसका तात्पर्य यह है कि विद्युदग्नि आकाश तत्त्व में ही स्थित होता है और उसी में गमन आगमन किया करता है। इसी कारण अन्तरिक्ष को आग्नीध्र भी कहते हैं। हम इस 'आग्नीध्र' शब्द का प्रयोग इस ग्रन्थ में अनेकत्र कर चुके हैं। निघण्टुकार ने अन्तरिक्ष को उदक नामों में भी पढ़ा है। (देखें - निघं.१.१२)। उदक का तात्पर्य है भिगोने वाला, सींचने वाला। विद्युदग्नि भी अपनी रश्मियों से सतत सबको मानो सींचता रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण आकाश तत्व ही मानो विद्युदग्निमय हो जाता है। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- "अन्तरिक्षं मरीचयः" (ऐ.आ.२.४.१) हमारे मत में इसके अतिरिक्त यहाँ अन्तरिक्ष का तात्पर्य अन्तरिक्षस्थ विभिन्न लोक लोकान्तर भी हैं, जो विद्युदग्नि को धारण करते हैं। कदाचित् यहाँ इसी रूप में अन्तरिक्ष का ग्रहण है। इस ऐसे **अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा पृथिवी में है। यहाँ पृथिवी से तात्पर्य पृथिव्यादि लोक होना युक्तिसंगत नहीं है। इस कारण पृथिवी का तात्पर्य सभी अप्रकाशित पदार्थ किंवा कण मात्र पृथिवी कहलायेगा। उधर असुर पदार्थ में से कणीय पदार्थ भी पृथिवी के अन्तर्गत आयेगा।** तब सिद्ध हुआ कि आकाश तत्त्व सभी कणों, लोकों एवं असुर पदार्थ के कणों पर आश्रित होता है। इसका आशय है कि ये सभी पदार्थ आकाश तत्त्व को अपने चारों ओर समेटे रहते हैं। इसके साथ ही अन्तरिक्ष का अर्थ विभिन्न लोक ग्रहण करें, तो सिद्ध हुआ कि **विभिन्न लोक असुर पदार्थ के स्थूल भाग पर आश्रित होते हैं अर्थात् वह असुर पदार्थ सभी लोकों को धारण करता है।** यह पदार्थ अप्रकाशित होता है। अब आगे महर्षि कहते हैं कि ऐसा असुर पदार्थ अप् अर्थात् विभिन्न प्रकार की मरुद् व छन्द रश्मियों पर आश्रित होता है। इसी कारण महर्षि ने अन्यत्र कहा है- पशवो वा एते यदापः (ऐ.१.८), आपो वै मरुतः (ऐ.६.३०)। अब ये **छन्द व मरुद्रश्मियां** किस पर आश्रित रहती है, इसका उत्तर देते हैं कि सत्य में प्रतिष्ठित होती हैं। यहाँ 'सत्य' शब्द का अर्थ चक्षु है। यहाँ चक्षु उन्हीं तूष्णींशंस रश्मियों का नाम है, जिसकी हम २.३२.२ में चर्चा कर चुके हैं। इसी कारण तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा- 'चक्षुर्वै सत्यम्' (तै.ब्रा.३.३.५.२), सत्यं यच्चक्षुः (गो.उ.२.२३)। इधर ये **रश्मियां ब्रह्म पर आश्रित होती हैं। यहाँ ब्रह्म का अर्थ प्राणापान ग्रहण करना चाहिए।** फिर अन्तिम आधार बताते हुए कि ये प्राणापान तप पर आश्रित होते हैं। तप के विषय में कहा है- "मनो ह वाव तपः" (जै.ब्रा.२.३३४)। इस प्रकार सभी कुछ मन रूपी तप पर ही

आश्रित होता है। इस मनस्तत्त्व में ही सभी प्राणादि पदार्थ आश्रित हैं। इस सृष्टि की सभी सृजन वा विसर्जन क्रियाएं इस मनस्तत्त्व में ही प्रतिष्ठित होती हैं। कोई भी जड़ क्रियावान् पदार्थ इस तत्त्व से बाहर नहीं है। जब इस प्रकार आधार-आधेय सम्बन्ध स्थापित, समन्वित व सक्रिय हो जाता है, तब सम्पूर्ण सृष्टि सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ इस सृष्टि को आधार-आधेय सम्बन्ध के रूप में छः प्रमुख भागों में बांटा गया है। उन सभी में सूक्ष्म ऋतु एकाक्षरा छन्द रश्मियों का समन्वय अनिवार्य है। सृष्टि की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अर्थात् ऊर्जा आकाश तत्त्व तथा इसमें विद्यमान प्रत्येक लोक-लोकान्तर व कणों आदि में आश्रित होती है। ये कण वा लोक लोकान्तर वर्तमान विज्ञान द्वारा कल्पित डार्क मैटर पर आश्रित हैं। यह डार्क मैटर विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियों पर आश्रित है। ये मरुद् रश्मियां डार्क मैटर की नियन्त्रक कुछ रश्मियों पर आश्रित हैं। वे ऐसी रश्मियां प्राणापान रश्मियों पर आश्रित हैं तथा प्राणापान रश्मियां मनस्तत्त्व पर आश्रित हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण सृष्टि का जड़ पदार्थ सूक्ष्मतम सक्रिय तत्त्व मन पर ही आश्रित है। यह मनस्तत्त्व ही सृष्टि के सभी सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक सभी पदार्थों को बांधे हुए है और वही सबका प्रेरक व नियामक है। इन सबके बीच एकाक्षरा छन्द रश्मियां सतत व्याप्त होकर विचरण करती रहती हैं। उनके बिना सृष्टि का कोई भी कार्य होना सम्भव नहीं है।।
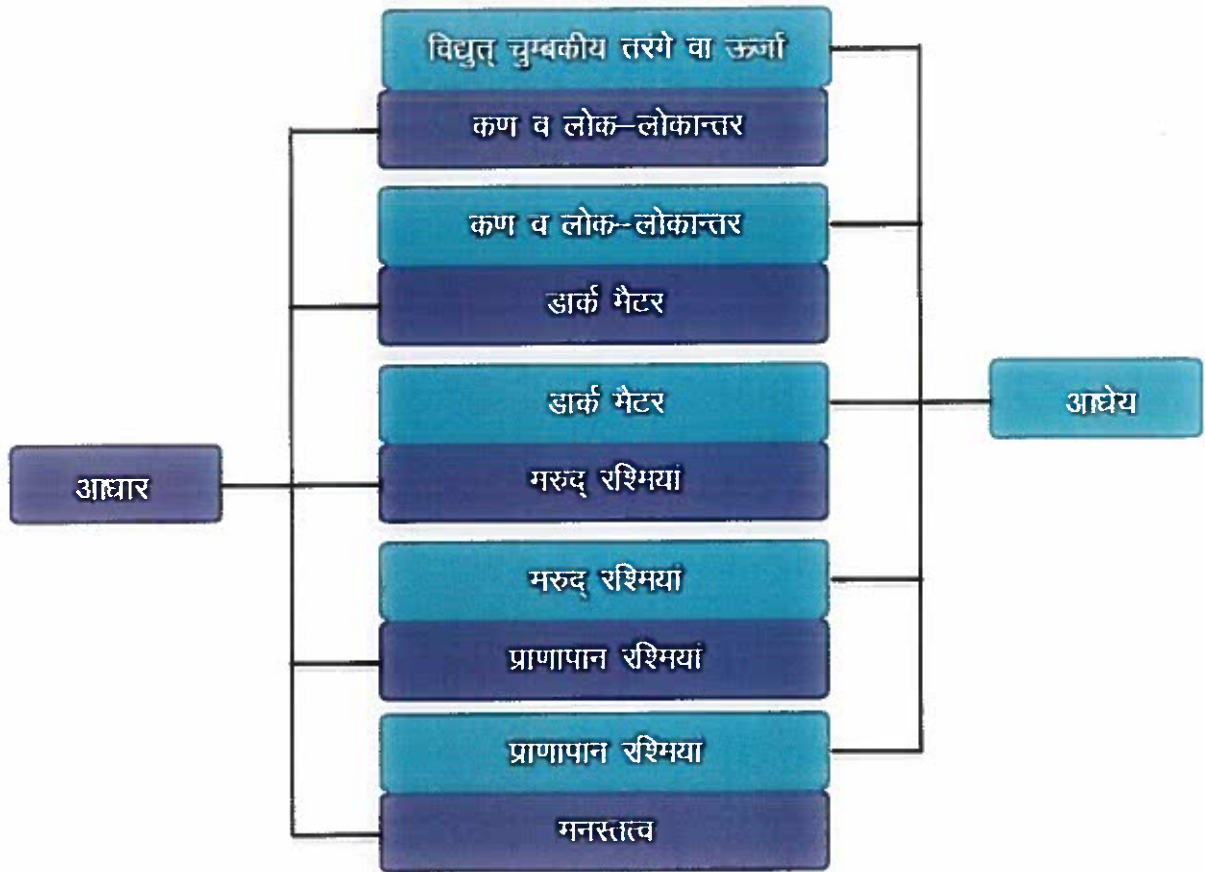
चित्र ११.८ आधार-आधेय सम्बन्ध के रूप में सृष्टि के छः प्रमुख भाग

३. वौषळिति वषट्करोत्यसौ वाव वावृतवः षळेतमेव तदृतुष्वादधात्यृतुषु प्रतिष्ठापयति, यादृगिव वै देवेभ्यः करोति तादृगिवास्मै देवाः कुर्वन्ति।।६।।

व्याख्यानम्- इस विषय में महर्षि आश्वलायन भी कहते हैं- "वौ३षळिति वषट्कारः" (आश्व.श्रौ.१.५.

१५)। यहाँ आचार्य सायण ने **'वौ'** शब्द को निपातन से **'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु'** धातु से निष्पन्न माना है। **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने **'वौ'** शब्द को आदित्य का वाचक कहा है। यहाँ आदित्य शब्द प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों किंवा पूर्वोक्त निविद् संज्ञक मास रश्मियों का वाचक है। **'षट्'** पद छः पूर्वोक्त सूक्ष्मतम तूष्णींशंस नामक एकाक्षरा ऋतु रश्मियों का वाचक है। इस प्रकार **'वौषट्'** पद रश्मि अर्थात् वषट्कार क्रिया से ये मास वा प्राथमिक प्राण रश्मियां इन सूक्ष्मतम एकाक्षरा ऋतु रश्मियों में स्थापित वा प्रतिष्ठित हो जाती हैं। इस कारण वे सब मिलकर तेजस्वी किरणों का रूप धारण कर लेती हैं। इसके कारण इन पदार्थों का जैसा प्रयोजन विभिन्न देवों के लिए होता है, वैसा ही ये प्रयोजन सिद्ध करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सूक्ष्म एकाक्षरा रश्मियां, जो डार्क एनर्जी को सूक्ष्मतम स्तर पर नष्ट करने में समर्थ होती हैं, प्राणापान आदि रश्मियों वा मास रश्मियों के साथ मिलकर ऐसे तीक्ष्ण व तेजस्वी विकिरणों को उत्पन्न करती हैं, जो अनेकत्र डार्क एनर्जी के व्यापक व स्थूल प्रभावों को नष्ट करने में सक्षम होते हैं। इन विकिरणों का सृष्टि की अनेक प्रक्रियाओं में अपना विशिष्ट महत्व है। जब जहाँ डार्क एनर्जी का जैसा भी अवरोध प्रस्तुत होता है, ये विकिरण उसे दूर करने में तदनुसार ही क्रियाशील हो उठते हैं।।

इति ११.६ समाप्तः

ॐ अथ ११.७ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. त्रयो वै वषट्कारा वज्रो धामच्छद् रिक्तः।।
स यमेवोच्चैर्बलि वषट्करोति स वज्रः।।
तं तं प्रहरति, द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै; तस्मात् स भ्रातृव्यवता वषट्कृत्यः।।

{बलिः = वलते संवृणोतीति बलिः (उ.को.४.११६) यहाँ वकार को वकार रूप छान्दस है।}

व्याख्यानम्– पूर्वोक्त वषट्कार संज्ञक तेजस्वी रश्मियां तीन प्रकार की होती हैं। १. वज्र, २. धामच्छद् और ३. रिक्त। इन तीनों प्रकार की रश्मियों के स्वरूप का वर्णन आगे करते हैं।।

जो वषट्कार रश्मियां किसी पदार्थ को उत्कृष्ट रूप से चारों ओर से ढक लेतीं, छुपा लेतीं वा नियन्त्रित करने में सक्षम होती हैं, उनका समूह वज्र कहलाता है। वज्र के विषय में महर्षि यास्क लिखते हैं- "वर्जयतीति सतः" (नि.३.११) यह शब्द वज्र गतौ धातु से 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र. - उ.को.२.२९ सूत्र से रन् प्रत्यय करके सिद्ध होता है। इस सूत्र का भाष्य करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "वजति प्राप्नोति प्राप्यते वा स वज्रः"। इससे सिद्ध है कि जो वषट्कार रश्मियां वाधक असुर पदार्थ किंवा दूर जाते पदार्थों पर उच्च वेग से गिरकर उन्हें सब ओर से ढककर उनमें व्याप्त हो जाती हैं और फिर उस असुर को नियन्त्रित कर लेती हैं, वे वज्र कहलाती हैं। यह शब्द 'वृजी वर्जने' धातु से भी निपातित है। इस कारण भी रोकने व नियन्त्रित करने वाला तेजस्वी पूर्वोक्त रश्मिसमूह वज्र कहलाता है। इस शास्त्र में जहाँ-२ वज्र रूप किरणों की चर्चा है, वहाँ-२ इसी प्रकार की किरणों का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ आचार्य सायण ने 'बलि' का अर्थ करते हुए षड्गुरुशिष्य को उद्धृत करते हुए लिखा है- "बलि बलवत्, अतिस्फुटम्" इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियां अतिवलवती तथा अत्यन्त अकस्मात् रूप से उत्पन्न होकर अपने लक्ष्य पर झपट पड़ती हैं और झपटते ही उसे नियन्त्रित कर लेती हैं।।

जिन पदार्थों को, जो भी असुरादि पदार्थ सृजन कर्मों से रोकता है, वाधित करता है, उसकी हिंसा करता है, उस-२ बाधक पदार्थ को नष्ट करने के लिए वे पदार्थ उस-२ बाधक पदार्थ के ऊपर उपर्युक्त वज्र नामक वषट्कार रश्मियों का तीव्र प्रहार करते हैं। जब तक ये वाधक पदार्थ उपस्थित नहीं होते, तब तक वज्र रश्मिप्रहार की आवश्यकता ही नहीं होती, परन्तु ज्यों ही यह पदार्थ बाधा उपस्थित करता है, तत्काल ही वज्र रश्मियां सहसैव प्रकट होकर उसे नियन्त्रित वा नष्ट कर देती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– डार्क एनर्जी के प्रहार को नष्ट वा नियन्त्रित करने वाली वज्र रूप रश्मियां अति तीव्र बल व वेग से सहसा ही प्रकट होकर डार्क एनर्जी पर भारी प्रहार करती हैं। वे उन रश्मियों को चारों ओर से घेर कर ढक लेती हैं। फिर वे उनमें प्रविष्ट होकर उस असुर को नियन्त्रित वा नष्ट कर देती हैं। सृष्टि में जहाँ-२ संयोगादि प्रक्रियाओं में बाधा आती है, तहाँ-२ तब-२ ये तीव्र रश्मियां सहसा प्रकट होकर बाधक डार्क एनर्जी पर प्रहार करके उसे दूर वा नियन्त्रित कर देती हैं। इससे सृजन क्रियाएं सम्यग्रूपेण सम्पन्न होती रहती हैं।।

२. अथ यः समः संततोऽनिर्हाणर्चः स धामच्छत्।।

तं तं प्रजाश्च पशवश्चानूपतिष्ठन्ते, तस्मात् स प्रजाकामेन पशुकामेन वषट्कृत्यः।।

व्याख्यानम्- जब वषट्कार तेजस्वी रश्मियां समानरूपेण फैलकर विभिन्न संयोज्य परमाणुओं को अच्छी प्रकार आच्छादित कर देती हैं। वे इस क्रिया में अच्छी प्रकार व्याप्त हो जाती हैं तथा किसी भी पूर्वोक्त ऋग् रश्मि को कोई क्षति नहीं पहुचातीं, वह वषट्कार **'धामच्छत्'** कहलाता है। जैसा कि हम जानते हैं कि किसी भी परमाणु के परितः अनेक प्रकार की छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। पूर्व प्रकरण में भी अग्नि के विभिन्न रूपों की उत्पत्ति के समय नाना छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, ऐसा वर्णित है। उन्हीं रश्मियों में से किसी की भी कोई हानि न होने को ही यहाँ **'अनिर्हाणर्चः'** से व्यक्त किया है। इससे यह बात स्वयमेव सिद्ध हो जाती है कि पूर्व वज्र रूप वषट्कार रश्मियों के तीव्र व अत्यन्त अकस्मात् प्रहार से कुछ छन्द रश्मियों की हानि भी हो जाती है। यदि ऐसा न होता, तो यहाँ हानि न होने की चर्चा करने का प्रयोजन ही नहीं था। ये रश्मियां वज्र रश्मियों की भांति सहसा नहीं बल्कि सहजतया फैलती हुई एवं कुछ निर्बलरूप में उत्पन्न होती हैं। जब ये संयोज्य परमाणुओं को आच्छादित कर लेती हैं, उस समय वे परमाणु असुर तत्त्वादि के प्रहार से सुरक्षित हो जाते हैं।।

ऐसा **धामच्छद्** रश्मि पुंज जिन-२ परमाणुओं को आच्छादित कर लेता है, वे-वे परमाणु विभिन्न प्रकार की छन्दादि रश्मियों से युक्त होकर विभिन्न प्रकार के संयोग करके नाना तत्त्वों का निर्माण करने लगते हैं। इस कारण विभिन्न तत्त्वों को उत्पन्न करने की कामना और एतदर्थ विभिन्न मरुद् वा छन्द रश्मियों की कामना वाले परमाणु इस प्रकार की वषट्कार संज्ञक रश्मियों को धारण करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- कुछ रश्मियां ऐसी होती हैं, जो असुरतत्त्व की बाधा से युक्त होने की सम्भावना वाले परमाणुओं को सब ओर से ढक लेती हैं, जिसके कारण उन परमाणुओं का अन्य छन्दादि रश्मियों के प्रति आकर्षण का भाव समृद्ध होकर संयोग वियोग की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। इन रश्मियों के धारण के कारण अन्य सभी रश्मियां भी सुरक्षित बनी रहती हैं। ये रश्मियां अति तीव्र नहीं होती, बल्कि सन्तुलित बल व वेग से विभिन्न परमाणुओं में व्याप्त होकर उन्हें ढाँप लेती हैं। इनके कारण उन परमाणुओं के विविध कर्म सुरक्षित ढंग से होते रहते हैं।।

३. अथ येनैव षळवराध्नोति, स रिक्तः।।
रिणक्त्यात्मानं, रिणक्ति यजमानं, पापीयान् वषट्कर्ता भवति, पापीयान् यस्मै वषट्करोति, तस्मात् तस्याऽऽशां नेयात्।।

{अव = निवारणे (म.द.ऋ.भा.४.१.४), पृथक्करणे (म.द.ऋ.भा.१.२४.१३), अवेति विनिग्रहार्थीयः (नि.१.३)। (विनिग्रहः = नियन्त्रण में करना, पारस्परिक विरोध - आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- इस प्रकार की वषट् क्रिया के द्वारा **षट्** अर्थात् पूर्वोक्त छः सूक्ष्म ऋतुरश्मियां विभिन्न कर्मों से पृथक् हो जाती हैं। वे सूक्ष्मतम असुर तत्त्व के नाश के अपने स्वाभाविक कर्म से विरत वा विरुद्ध हो जाती हैं, इस प्रकार की वषट् क्रिया **रिक्त** कहलाती है।।

इस प्रक्रिया का स्वरूप व परिणाम बतलाते हुए महर्षि कहते हैं- इस क्रिया से असुर तत्त्व विनाशक वा नियन्त्रक रश्मियां स्वयं रिक्त अर्थात् खाली हो जाती हैं। जो संयोज्य कण इस प्रकार की रश्मियों के द्वारा असुरादि तत्त्वों को नष्ट वा नियन्त्रित करके विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाओं को सम्पन्न करते हैं, वे इन बाधानिवारक रश्मियों से रिक्त हो जाते हैं। इसके कारण वे सुरक्षाहीन व शक्तिहीन हो जाते हैं। फलस्वरूप वषट्कर्ता विभिन्न संयोज्य कण असुरादि तत्त्वों से युक्त हो जाते हैं। विभिन्न आच्छादक छन्दरश्मियां भी इस असुरादि पदार्थ से युक्त हो जाती हैं, जिससे वे रश्मियां भी पृथक् हो जाती हैं। जिस दूसरे संयोज्य कण से संयोग हेतु वषट् क्रिया की जाती है, वह कण भी असुर पदार्थ से युक्त हो जाता है। इसके कारण उन कणों की परस्पर आशा अर्थात् एक-दूसरे के प्रति संयोग की

इच्छा ही समाप्त हो जाती है, जिससे वे बिखर जाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में जब प्रलय काल आता है अथवा किसी क्षेत्र विशेष में प्रबल व व्यापक विनाश की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, तब कुछ रश्मियां ऐसी उत्पन्न होती हैं, जो विभिन्न कणों के चारों ओर विद्यमान विभिन्न छन्दादि रश्मियों के आवरण को नष्ट वा पृथक् कर देती हैं। डार्क एनर्जी के अत्यधिक प्रक्षेपक वा प्रतिकर्षक बल को जो रश्मियां नियन्त्रित वा नष्ट करके विभिन्न प्रकार की संयोगादि प्रक्रिया को सम्पन्न करने में सहायक बनती हैं, उन्हें भी ये रश्मियां नष्ट वा पृथक् कर देती हैं। इसके कारण सभी कण वा तरंगें असुरक्षित होकर डार्क एनर्जी के प्रहार से खण्ड-२ होने लगती हैं। विभिन्न परमाणुओं वा मूलकणों का आकर्षण बल निष्प्रभावी हो जाता है, जिससे भी सभी प्रकार के संयुक्त कण वा लोक बिखरने लगते हैं और शनैः-२ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मूल साम्यावस्था के रूप में विलीन हो जाता है अथवा कहीं क्षेत्रीय स्तर पर खण्ड प्रलय जैसी स्थिति बन जाती है। सुपरनोवा आदि के विस्फोट के समय भी अल्पकाल के लिए इन्हीं रश्मियों का ताण्डव रहता है। ये रश्मियां अत्यन्त विध्वंसक होती हैं।।
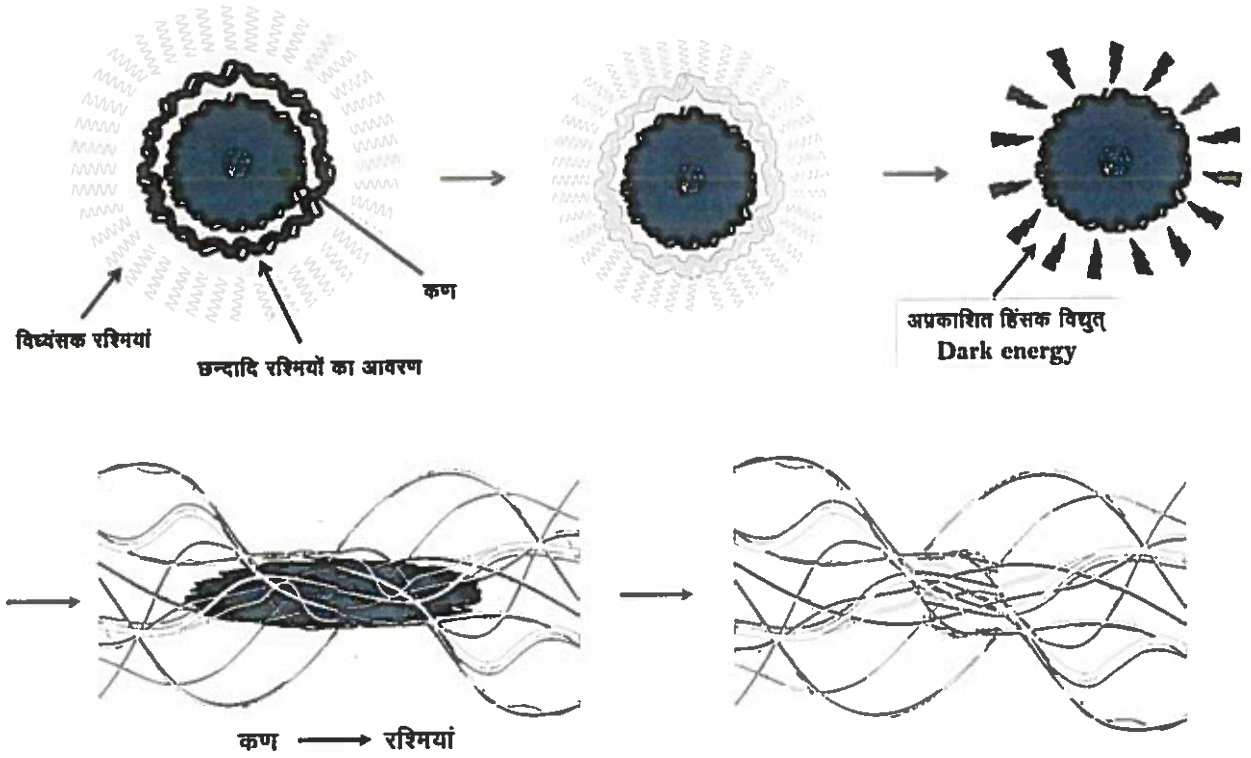
चित्र ११.६ कणों के प्रलय की प्रक्रिया

४. किं स यजमानस्य पापभद्रमाद्रियेतेति ह स्माऽऽह योऽस्य होता स्यादित्यत्रैवैनं यथा कामयेत तथा कुर्यात्।।
यं कामयेत यथैवानीजानोऽभूत्, तथैवेजानः स्यादिति,-यथैवास्य ऋचं ब्रूयात् तथैवास्य वषट्कुर्यात्, सदृशमेवैनं तत्करोति।।
यं कामयेत पापीयान् स्यादित्युच्चैस्तरामस्य ऋचमुक्त्वा शनैस्तरां वषट्कुर्यात् पापीयांसमेवैनं तत्करोति।।

{भद्रम् = श्रीर्वै भद्रम् (जै.ब्रा.३.१७२), अन्नं वै भद्रम् (तै.ब्रा.१.३.३.६), भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयम् भूतानामभिद्रवणीयम् भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा (नि.४.१०)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि प्रश्न उपस्थित करते हैं कि मन व वाग्रूप होता किंवा सर्वतोमहान् होता परमात्म तत्त्व क्या सम्पूर्ण सृष्टि को अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान विभिन्न संयोज्य कणों को पाप अर्थात् असुर तत्त्व से ग्रस्त कर सकता है अथवा भद्र अर्थात् उन्हें विभिन्न प्राणों का आश्रय प्रदान करके उसकी संयोज्यता बनाए रखकर उन्हें सृष्टि प्रक्रिया का आधार बनाए रख सकता है? इसका आशय यह कि क्या होता प्रयोजनानुसार इन दोनों ही स्थितियों को उत्पन्न कर सकता है? इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं-

हाँ, वह **परमात्मा मन एवं वाक् तत्त्वों को अपने प्रयोजनानुकूल प्रेरित करके इस सृष्टि में जैसा चाहता है, वैसा ही कर सकता है। सृष्टि के सभी कर्म सप्रयोजन हैं। निष्प्रयोजन कुछ भी नहीं है। यह बात अलग है कि उन सभी प्रयोजनों को मानव समझ सके वा न समझ सके।** जब आवश्यक होता है, तब विभिन्न पदार्थों के आकर्षणादि बलों की विद्यमानता व सक्रियता रहती है। असुर तत्त्वों की संहारक रश्मियां संयोगादि प्रक्रिया की बाधा को दूर करने के लिए उत्पन्न होती रहती हैं। उपर्युक्त **वज्र व धामच्छद् रश्मियां सक्रिय रहती हैं और जब प्रलय ही प्रयोजन होवे, तो 'रिक्त' रूप वषट्क्रिया होने लगती है।।**

{ईजानः = यजू धातोः छन्दसि लिट् (पा.अ.३.२.१०५), सूत्रेण 'लिटः कानज्वा' (पा.अ.३.२.१०६) सूत्रेण कानचि सम्प्रसारणे द्वित्वे च रूपम्}

जब इस सृष्टि में यह कामना होती है कि संयोज्य कणों की संयोग प्रक्रिया को असंयोगवत् कर दिया जाए अर्थात् उस प्रक्रिया को मध्य में ही रोक दिया जाए, उस समय जो छन्द रश्मियां संयोग प्रक्रिया को सम्पादित करती हैं, वे जिस तीव्रता से उत्पन्न होती हैं, उसी तीव्रता से वज्र एवं धामच्छद संज्ञक वषट्क्रिया भी होती है। यहाँ संयोजी छन्द रश्मियों का तात्पर्य पूर्वोक्त याज्या संज्ञक विभिन्न रश्मियों से है। ये रश्मियां भिन्न-२ परिस्थिति व प्रक्रिया में भिन्न-२ होती हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया अर्थात् वज्र एवं धामच्छत् वषट्क्रिया और याज्या रश्मियों के तुल्य तीव्रपन से संयोग प्रक्रिया बन्द हो जाती है। जो कण जिस सीमा तक संयुक्त हो चुके होते हैं, उनका संयोग समाप्त नहीं होता है बल्कि उसके आगे और संयोग रुक जाता है। यह सृष्टि की प्रत्येक संयोग प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। यदि ऐसा नहीं होता, तो संयोग प्रक्रिया अविराम चलती रहती और उसमें विराम वा वियोग कभी होता ही नहीं। ऐसा होने पर सृष्टि में किसी पदार्थ का भी निर्माण नहीं हो पाता बल्कि सब कुछ सतत संयोग के कारण समस्त सृष्टि एवं विशाल पिण्ड में परिवर्तित हो जाती।।

जब प्रलय का समय आता है किंवा पूर्वोक्त महाविस्फोट-विध्वंस होते हैं, उस समय परमात्मा की प्रेरणा से मनस्तत्त्व एवं वाक्तत्त्व विभिन्न परमाणुओं को असुर तत्त्व से युक्त कर देते हैं और असुरतत्व निवारक रश्मियों को प्रभावी नहीं होने देते हैं। इस कारण सभी पदार्थ बिखरने लगते हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न करने के लिए पूर्वोक्त याज्या रश्मियां अत्युच्च तीव्रता से उत्पन्न होती हैं परन्तु वज्ररूप वषट्क्रियाएं अति मन्द गति से उत्पन्न होती हैं। इसके कारण असुरतत्त्व हावी हो जाता है, इससे सभी संयोग क्रियाएं बन्द होने के साथ सभी संयोग-बन्धन भी असुर तत्त्व के प्रभाव से बिखरने लगते हैं। यदि यही प्रक्रिया चलती रहे, तो धीरे-२ पूर्णतः बिखर जाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- डार्क एनर्जी का उपयोग इस सृष्टि में परमात्म-चेतना द्वारा प्रयोजनानुसार लिया जाया करता है। जब किसी संयुक्त पदार्थ को विखण्डित करना अथवा सम्पूर्ण सृष्टि का प्रलय करना हो, तो डार्क एनर्जी को प्रभावी बना दिया जाता है तथा उसकी निवारक विभिन्न रश्मियां या तो मन्द पड़ जाती हैं अथवा समाप्त हो जाती हैं। जब सृष्टि प्रक्रिया आरम्भ होती है, उस समय डार्क एनर्जी को सर्वथा मन्द तथा आकर्षण बल सम्पन्न रश्मियों को प्रभावी बना दिया जाता है। सृष्टि में जब सामान्य संयोगादि कर्म होते हैं, उस समय डार्क एनर्जी को भी समुचित रीति से उपयोग में लिया जाता है। जब कोई दो वा अधिक कण संयुक्त हो रहे हों, तब संयोग की प्रयोजनता सिद्ध होने पर आगे उसी अणु में और परमाणु आदि पदार्थ संयुक्त न हो सकें, इसके लिए डार्क एनर्जी व इसकी नियन्त्रक रश्मियों में सामंजस्य बिठाया जाता है, जिसके कारण अणुओं का स्वरूप यथावत् बना रहता है। जब अणुओं वा लोक लोकान्तर में भारी विखण्डन करना हो, तो डार्क एनर्जी को बलवती तथा उसकी

नियन्त्रक रश्मियों को मंद वा समाप्त कर दिया जाता है, जिसके कारण सर्वत्र विखण्डन की क्रिया चल पड़ती है।।

५. यं कामयेत श्रेयान् स्यादिति शनैस्तरामस्य ऋचमुक्त्वोच्चैस्तरां वषट्कुर्याच्छ्रिय एवैनं तच्छ्रियामादधाति।।
संततमृचा वषट्कृत्यं संतत्यै।।
संधीयते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।७।।

{श्रीः = अथ यत् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः (श.६.१.१.४), श्रीर्वै पशवः श्रीः शक्वर्यः (तां.१३.२.२), (शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः तद् यद् आभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते - नि.१.८), वज्रः शक्वर्यः (तां.१२.१३.१४), श्रीर्वै वरुणः (कौ.ब्रा.१८.६), श्रीर्वै पिलिप्पिला (श.१३.२.६.१६), श्रीर्वै बृहती (कौ.ब्रा.२८.७; ऐ. आ.१.१.३)।}

व्याख्यानम्- जब इस बात की आवश्यकता होती है कि विभिन्न कणों को श्री से युक्त किया जाये, उस समय पूर्वोक्त विभिन्न याज्यासंज्ञक रश्मियों को कम तीव्रता से तथा असुर तत्त्व निवारक वज्र व धामच्छद् वज्र रूप वषट् क्रिया को तीव्रता से उत्पन्न किया जाता है। इसके कारण विभिन्न परमाणु आदि पदार्थ श्रीयुक्त होकर असुर तत्त्व की बाधा से निवृत्त हो जाते हैं। यहाँ **'श्री'** का अर्थ समझना आवश्यक है। **'श्री' प्राणों का ही रूप है, विशेषकर वे प्राण, जो शक्तिशाली होकर वज्र रूप वषट्क्रिया को सम्पन्न करते हैं।** इसके कारण वे असुर तत्त्व की हिंसक बाधा को नियन्त्रित वा नष्ट करने में सक्षम होते हैं। इसके साथ ही ये प्राण बृहती वा वरुण रूप धारण करके व्यान प्राण से संयुक्त होकर विभिन्न संयोग क्रियाओं को अपने बन्धन बल से सम्पन्न करने में सहयोगी बनते हैं। **इनका आवरण ही बन्धक बल उत्पन्न करता है।** यह आवरण कणों के चारों ओर एकरस होता है।।

सर्ग प्रक्रिया के सातत्य के लिए विभिन्न याज्या तथा वषट्क्रिया का इस प्रकार उत्पत्ति क्रम सतत चलता रहता है। इस प्रकार की स्थिति बनने पर सम्पूर्ण सृष्टि में विभिन्न छन्द व मरुद् रश्मियों के विविधप्रकारेण क्रियाशील होते रहने से विविध तत्त्वों का निर्माण भी सतत चलता रहता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब सृष्टि संचालन वा निर्माण हो रहा होता है, उस समय आकर्षण बल की प्रधानता वाली रश्मियां प्रबल होती हैं तथा प्रतिकर्षण बल की प्रधानता वाली डार्क एनर्जी दुर्बल होती है। आकर्षण बल प्रधानता वाली रश्मियां न केवल डार्क एनर्जी के प्रबल प्रतिकर्षण बल को समाप्त वा नियन्त्रित करती हैं, अपितु वे विभिन्न परमाणु वा अणुओं के ऊपर अपना एक आवरण भी बना लेती हैं। यह आवरण उन संयुक्त कणों को बाधक रश्मियों के दुष्प्रभाव से सुरक्षित रखता है। यह आवरण किसी भी कण के चारों ओर एकरस अर्थात् समान तीव्रता का होता है। सृष्टि के सतत क्रियाशील रहने हेतु विभिन्न आकर्षक व प्रतिकर्षक बलों का क्रम व शक्ति समुचित रीति से कार्य करते हैं।।

॥ इति ११.७ समाप्तः ॥

अथ ११.८ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां ध्यायेद् वषट्करिष्यन् साक्षादेव तद्देवतां प्रीणाति, प्रत्यक्षाद् देवतां यजति।।

व्याख्यानम्- जिस किसी पदार्थ के निर्माण के लिए विभिन्न रश्मिरूप छवियों को आकर्षित किया जाता है, उस-२ पदार्थ वा उसके निर्माण में सक्रिय कणों को लक्ष्य करके पूर्वोक्त वषट्क्रियाएं होती हैं। इसके कारण वह संयोग क्रिया तृप्त वा परिपूर्ण व निर्बाध होती है। इस प्रक्रिया से सभी संयोज्य कणों के आकर्षण बल पूर्ण सक्रिय व तेजस्वी होते हैं, जिससे यजन क्रिया सम्पन्न होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो वा दो से अधिक कणों का संयोग होता है, तब जो पूर्वोक्त डार्क एनर्जी प्रतिरोधक वा नियन्त्रक किरणें उत्पन्न होती हैं, उनका लक्ष्य उन संयुक्त होने वाले कणों में से सबसे अधिक द्रव्यमान किंवा आकर्षण बलयुक्त कण होता है। वे किरणें उस कण को डार्क एनर्जी आदि की बाधा से मुक्त करके संयुक्त होने के लिए उसकी ओर अग्रसर छोटे कणों को निर्बाधरूपेण मार्ग वा परिस्थिति प्रदान करती हैं।।

२. वज्रो वै वषट्कारः, स एष प्रहृतोऽशान्तो दीदाय, तस्य हैतस्य न सर्व इव शान्तिं वेद, न प्रतिष्ठां, तस्माद्धाप्येतर्हि भूयानिव मृत्युः, तस्य हैषैव शान्तिरेषा प्रतिष्ठा, वागित्येव, तस्माद् वषट्कृत्य वषट्कृत्य वागित्यनुमन्त्रयेत, स एनं शान्तो न हिनस्ति।।

व्याख्यानम्- जैसा कि पूर्वविदित है, वषट्क्रिया वज्ररूप होती है। उस वज्र अर्थात् उस रश्मिसमूह का प्रहार अत्यन्त तीव्र, अशान्त अर्थात् अनियन्त्रित एवं उग्रतेज से प्रदीप्त हुआ करता है। वे किरणें इतनी तेज होती हैं कि उनको नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। वे उत्पन्न भी अकस्मात् तथा अति तीव्र वेग से ही होती हैं। इस कारण जिन पदार्थों की ओर लक्ष्य करके ये किरणें प्रक्षिप्त होती हैं, वे असुरादि तत्त्वों को नियन्त्रण में लेने के लिए उस वज्ररूप किरण समूह को अपने अनुकूल नियन्त्रित नहीं कर पाती हैं और न उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए आवरण के रूप में प्रतिष्ठित कर पाती हैं। वस्तुतः वे पदार्थ उन वज्ररूप रश्मियों के तीक्ष्ण बल वेग को सहन ही नहीं कर पाते हैं। इस कारण से इस ब्रह्माण्ड में कितने ही स्थानों पर कितने ही लोक आज भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अनेकत्र विध्वंसक क्रियाएं इसी कारण घटती रहती हैं। इस विनाशक क्रिया के पीछे वज्र किरणों की तीक्ष्णता ही है। जो किरणें विध्वंसक असुर पदार्थों के विनाश के लिए उत्पन्न होती हैं, वे असुर तत्त्व को तो नष्ट वा नियन्त्रित कर देती हैं परन्तु इसके साथ ही वे उन पदार्थों को भी नष्ट कर देती हैं, जिनकी रक्षा हेतु वे उत्पन्न हुई थीं। इस कारण इन वज्ररूप किरणों को नियन्त्रित रखना भी अनिवार्य होता है। इस नियन्त्रण के लिए वषट्क्रिया के होते-२ "वागोजः सह......." वाग्रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसकी चर्चा इस खण्ड की अन्तिम द्वितीय कण्डिका "वाक् च वै प्राणापानौ......" में की गई है, इसी कारण उसके विषय में वहीं देखें। इस वाग् रश्मि के प्रभाव से वह वज्ररूप किरण समूह नियन्त्रित रहता है तथा असुर पदार्थ को नियन्त्रित वा नष्ट अवश्य करता है परन्तु संयोज्य अणुओं का भेदन नहीं करता।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जो किरणें डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करके सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं को

निरापद बनाती हैं, वे किरणें अकस्मात् अति तीव्र वेग से उत्पन्न होती हैं। इसके साथ ही अत्यन्त तीक्ष्ण व तीव्र ऊष्मायुक्त भेदकशक्ति सम्पन्न होती हैं। इस कारण वे जहाँ डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करने का सामर्थ्य रखती हैं, वहीं ये किरणें विभिन्न अणुओं एवं इनसे निर्मित बड़े-२ लोकों को भी विदीर्ण करने में समर्थ होती हैं। इस ब्रह्माण्ड में अनेक तारों आदि के विनाश के पीछे अनेकत्र इन किरणों की भी भूमिका होती है। अन्य अनेक प्रकार की विनाश क्रियाओं में भी इनकी भूमिका होती है। यदि सर्वत्र ये किरणें इसी प्रकार अनियन्त्रित रहें, तो सृष्टि रचना ही सम्भव नहीं हो सके और बनी हुई सृष्टि का शीघ्र ही विध्वंस हो जाए। इस कारण एक भुरिग् याजुषी जगती अथवा साम्नी भुरिग् गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न होकर इन किरणों को नियन्त्रित करती है। इसके कारण नियन्त्रित वे किरणें डार्क एनर्जी को तो नियन्त्रित वा नष्ट कर सकती हैं, परन्तु संयोज्य कणों को क्षति नहीं पहुचातीं, जिसके कारण सृजन प्रक्रिया यथावत् चलती रहती है।।

३. वषट्कार मा मां प्रमृक्षो, माऽहं त्वां प्रमृक्षं, बृहता मन उपह्वये, व्यानेन शरीरं, प्रतिष्ठाऽसि, प्रतिष्ठां गच्छ, प्रतिष्ठां मा गमयेति, वषट्कारमनुमन्त्रयेत।।
तदु ह स्माऽऽह दीर्घमेतत् सदप्रम्वोजः सह ओजः।।
इत्येव वषट्कारमनुमन्त्रयेत।।

{प्रमृक्षः = (मृजूष् शुद्धौ, मृक्ष संघाते), प्रकृष्टतया सिंच (म.द.ऋ.भा.४.३०.१३) (प्र+मृषु सेचने)।}

व्याख्यानम्- यहाँ किसी अन्य ऋषि का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वज्र रूप वषट्कार रश्मियों को नियन्त्रित करने हेतु इस कण्डिका में वर्णित **"वषट्कार मा मां प्रमृक्षो....... मा गमय"** इस ४६ अक्षर वाले स्वराड् त्रिष्टुप छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने अन्य रश्मि की उत्पत्ति की बात इस खण्ड की अन्तिम कण्डिका में कही है। इसके छान्दस प्रभाव से तीव्र तेज व बल उत्पन्न होता है। इसके पदों के प्रभाव से वषट्कार रश्मियां संयोज्य कणों को अपने तेज व बलों से सींचती हैं, उनके साथ संघात करती हैं, उन्हें असुर तत्त्व से मुक्त कर शुद्ध करती हैं। वे रश्मियां न तो वज्र रश्मियों को नष्ट करती हैं और न वज्र रश्मियां ही उन्हें नष्ट करती हैं। वे कण व्यापक मन के साथ उन रश्मियों को आकर्षित करते हैं तथा व्यान तत्त्व के साथ मिलकर उन रश्मियों में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस रश्मि के द्वारा वे कण प्रकाशित हो उठते हैं, जिसके कारण वज्ररूप किरणों का तेज उन्हें नष्ट नहीं कर पाता।।

अब एक-दूसरे ऋषि का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त छन्द रश्मि दीर्घ है। इसका तात्पर्य है कि यह छन्द रश्मि अधिक फैल जाती है, इसके कारण वज्ररूप किरणों को नियन्त्रित करने में समर्थ नहीं होती हैं। इस कारण इसके स्थान पर **'ओजः सह ओजः'** इस ऋग्रश्मि के द्वारा ही वज्ररूप रश्मियों को नियन्त्रित किया जाता है। इस कारण वषट्कार वज्र रश्मियों के तत्काल पश्चात् इन छः अक्षर वाली छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह दैवी त्रिष्टुप् होने से बलवती व तेजस्विनी होती है, जो वज्र को नियन्त्रित करने में समर्थ होती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ दो ऋषियों का मत देते हुए कहा है कि डार्क एनर्जी की नियन्त्रक रश्मियों की तीक्ष्णता को मर्यादित करने हेतु एक स्वराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। वहीं दूसरे ऋषि का मानना है कि दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि ही इस कार्य के लिए उपयुक्त है।।

४. ओजश्च ह वै सहश्च वषट्कारस्य प्रियतमे तन्वौ।।
प्रियेणैवैनं तद्धाम्ना समर्धयति।।
प्रियेण धाम्ना समृध्यते य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- ओज के विषय में महर्षि यास्क कहते हैं- 'ओज ओजतेर्वा उब्जतेर्वा। (नि.६.८) (उब्ज आर्जवे) उपर्युक्त दैवी त्रिष्टुप् ऋचा में विद्यमान 'ओजः' तथा 'सहः' पद वज्ररूप वा धामच्छद् रूप वषट्कार रश्मियों के आकर्षण शरीर हैं अर्थात् इन्हीं के रूप में इन रश्मियों का विस्तार है। इन आकर्षक वलों से यह रश्मि वज्र को नियन्त्रित करके उसे समृद्ध भी करती है। साथ ही संयोज्य परमाणुओं को भी समृद्ध करती है। यहाँ 'ओज' उस वल का नाम है, जो सीधा सरल रेखा में प्रभावी होता है और 'सहः' उस वल का नाम है, जो किसी को दवाने वा किसी के दवाव को सहने में सक्षम होता है। इस रश्मि की विद्यमानता व प्रचुरता से इन आकर्षक धाम अर्थात् ओज व सहः नामक वलों से संयोग प्रक्रिया समृद्ध होती है।।+।। +।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त दैवी छन्द रश्मियों के वल दो प्रकार के गुणों से युक्त होते हैं-
१. यह वल रश्मि सरल रेखीय गति करती है। इस कारण इसका प्रभाव ऐसा ही होता है।
२. यह वल किसी को दवाने तथा किसी का दवाव सहने में सक्षम होता है। इन दोनों ही प्रभावों के द्वारा यह रश्मि डार्क एनर्जी की नियन्त्रक रश्मियों को मर्यादित रखती है।।

५. वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारस्त एते वषट्कृते वषट्कृते व्युत्क्रामन्ति,ताननुमन्त्रयेत वागोजः सह ओजो मयि प्राणापानावित्यात्मन्येव तद्धोता वाचं च प्राणापानौ च प्रतिष्ठापयति, सर्वायुः, सर्वायुत्वाय।।
सर्वमायुरेति य एवं वेद।।८।।

व्याख्यानम्- अव महर्षि उपर्युक्त दो ऋषियों का मत प्रस्तुत करने के उपरान्त अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ये पूर्वोक्त वषट्कार रश्मियां हैं, वे वाक् तत्त्व एवं प्राणापान का मिथुनरूप हैं। इस कारण जव इस रश्मि की उत्पत्ति होती है, उस समय ये तीनों पदार्थ अर्थात् वाक् तत्त्व का प्राणापान के साथ संघात रूप पदार्थ (वज्र) विशेषरूप से ऊर्ध्वगामी होने लगते हैं अर्थात् वे विशेषरूप से उत्कृष्ट गति से युक्त होने लगते हैं। इससे असुर पदार्थ की वाधा तो दूर हो ही जाती है परन्तु इसके साथ-२ संयोज्य कणों में भी भारी विक्षोभ होने लगता है, जिसके कारण वे भी विखण्डित होने की स्थिति में होते हैं। इस अनिष्ट स्थिति को दूर करने हेतु अर्थात् वज्ररूप वषट्कार को नियन्त्रित करने हेतु "वागोजः सह ओजो मयि प्राणापानौ" इस साम्नी भुरिग् गायत्री अथवा भुरिग् याजुषी जगती छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस प्रभाव से तेज व वल की वृद्धि व दूर तक व्यापकता होती है। उपर्युक्त 'ओज' व 'सह' वल के दोनों रूप प्राणापान से विशेषरूप से युक्त हो जाते हैं। इसके कारण मन व वाक् तत्त्वों रूप होता का प्राणापानों से विशेष सम्वन्ध होता है अर्थात् उन्हें अपने अन्दर प्रतिष्ठित करता है और उन्हें वज्ररश्मियों व संयोज्य कणों में भी विशेषरूप से प्रतिष्ठित करता है। इसके कारण संयोग प्रक्रिया सम्यग्रूपेण सम्पन्न होती है। इस प्रकार की स्थिति वनने पर उचित काल तक सृष्टि यज्ञ चलता रहता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करने वाली जो रश्मियां होती हैं, उनमें वाक् तत्त्व व प्राणापान का संयुक्त रूप विद्यमान होता है। उन रश्मियों के गतिशील होते समय प्राणापान आदि पदार्थ ऊर्ध्व व तीव्र गति वाले हो उठते हैं। इनकी तीव्रता डार्क एनर्जी के साथ-२ विभिन्न संयोज्य कणों को भी शक्तिहीन कर देती है। इस कारण इन रश्मियों को भी नियन्त्रित गति व वलयुक्त रखना आवश्यक होता है। तभी सृजन प्रक्रियाएं सम्यग् रूप से सम्पन्न हो पाती हैं। इसके लिए एक रश्मि की उत्पत्ति होती है, जिसके विषय में उपर्युक्त व्याख्यान भाग के अतिरिक्त इसी खण्ड की दूसरी कण्डिका के वैज्ञानिक भाष्यसार में चर्चा की गई है।।

इति ११.८ समाप्तः

अथ ११.९ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्, तं प्रैषैः प्रैषमैच्छन्, यत् प्रैषैः प्रैषमैच्छंस्तत्प्रैषाणां प्रैषत्वम् ।।

{प्रैषः = बार्हता वै प्रैषाः (श.१२.८.२.१४)। (बृहती = बृहती बृंहतेवृद्धिकर्मणः दै.३.११, बृहतीमर्य्या ययेमान् लोकान् व्यापामेति तद् बृहत्या बृहत्त्वम् - तां.७.४.३, व्यानो बृहती - तां.७.३.८, बृहत्या महत्या - नि.२.२५)।}। {प्रैषः = प्र+इष् (इष गतौ, इषु इच्छायाम्, इष आभीक्ष्ण्ये)।}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि खण्ड १/२ की भाँति चर्चा करते हैं कि विभिन्न देवों अर्थात् प्राथमिक प्राणों वा छन्दादि रश्मियों की संगति प्रक्रिया किन्हीं कारणों से वन्द हो गई। ऐसा कैसे हुआ? यह स्थिति यहाँ नहीं दर्शायी है। वस्तुतः इस विशाल सृष्टि में ऐसे अवसर अनेक वार आते हैं, जव सृजन प्रक्रिया कहीं तीव्र, तो कहीं मन्द, कहीं प्रारम्भ तो कहीं वन्द होती रहती है। इन सभी क्रियाओं को सम्यग्रूपेण प्रवृत्त रखने हेतु समय-२ पर अनेक प्रकार की प्रेरक रश्मियां भी उत्पन्न होती रहती हैं। इन रश्मियों को ही प्रैष कहते हैं। ये रश्मियां प्रकृष्ट वेग से चलती हैं; वार-२ अपने अभीष्ट पदार्थ को प्रेरित करती हैं। यहाँ आचार्य सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.६.२.१-१२ में दर्शाये मन्त्रों को प्रैष मंत्र कहा है। ये मंत्र निम्नानुसार हैं-

(१) होता यक्षदग्निꣳ समिधा सुषमिधा समिद्धं नाभा पृथिव्याः संगथे वामस्य। वर्ष्मन्दिव इडस्पदे वेत्वाज्यस्य होतर्यज।

(२) होता यक्षत्तनूनपातमदितेर्गर्भं भुवनस्य गोपाम्। मध्वाद्य देवो देवेभ्यो देवयानान्पथो अनक्तु वेत्वाज्यस्य होतर्यज ।

(३) होता यक्षन्नराशꣳसं नृशस्त्रं नॄꣳप्रणेत्रम्। गोभिर्वपावान्त्स्याद्वीरैः शक्तीवान् रथैः प्रथमयावा हिरण्यैश्चन्द्री वेत्वाज्यस्य होतर्यज।

(४) होता यक्षदग्निमिड ईडितो देवो देवाꣳ आवक्षद्दूतो हव्यवाडमूरः। उपेमं यज्ञमुपेमां देवो देवहुतिमवतु वेत्वाज्यस्य होतर्यज।

(५) होता यक्षद्बर्हिः सुष्टरीमोर्णम्रदा अस्मिन्यज्ञे वि च प्र च प्रथताꣳ स्वासस्थं देवेभ्यः। एमेनदद्य वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु प्रियमिन्द्रस्यास्तु वेत्वाज्यस्य होतर्यज।

(६) होता यक्षद्दूर ऋष्वाः कवष्योऽकोषधावनीरुदातामिर्जिहतां वि पक्षोभिः श्रयन्ताम्। सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्तामृतावृधो वियन्त्वाज्यस्य होतर्यज।

(७) होता यक्षदुषासानक्ता बृहती सुपेशसा नॄꣳपतिभ्यो योनिं कृण्वाने। सꣳस्मयमाने इन्द्रेण देवैरेदं बर्हिः सीदतां वीतामाज्यस्य होतर्यज।

(८) होता यक्षद्दैव्या होतारा मन्द्रा पोतारा कवी प्रचेतसा। स्विष्टमद्यान्यः करदिषा स्वमिगूर्तमन्य ऊर्जा सतवसेमं यज्ञ दिवि देवेषु धत्तां वीतामाज्यस्य होतर्यज।

(९) होता यक्षत्तिस्रो देवीरपसामपस्तमा अच्छिद्रमद्येदमपस्तन्वताम्। देवेभ्यो देवीर्देवमपो वियन्त्वाज्यस्य होतर्यज।

(१०) होता यक्षत्त्वष्टारमचिष्टुम पाकꣳरेतोधां विश्रवसं यशोधाम्। पुरुरूपमकामकर्शनꣳसुपोषः पोषैः स्यात्सुवीरो वीरैर्वेत्वाज्यस्य होतर्यज।

(११) होता यक्षद्वनस्पतिमुपावस्र क्षद्वियो जोष्टारंशशमन्नरः। स्वदात्स्वधितिर्ऋतुथाऽद्य देवो देवेभ्यो हव्याऽवाड् वेत्वाज्यस्य होतर्यज।
(१२) होता यक्षदग्निंस्वाहाऽऽज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानांस्वाहा स्वाहाकृतीनांस्वाहा हव्य सूक्तीनाम्। स्वाहा देवाः आज्यपान्स्वाहाऽग्निंहोत्राज्जुषाणा अग्न आज्यस्य वियन्तु होतर्यज।

इस अनुवाक के भाष्य में आचार्य सायण ने वोधायन को उद्धृत किया है- "यदा जानाति समिद्भ्यः प्रेष्येति तं मैत्रावरुणः प्रेष्यति "होता यक्षदग्निंसमिधा सुषमिधा समिद्धम्" इति, अथ होता यजति "समिद्धो अद्य मनुषे दुरोणे" इति, ताविमावेव व्यतिषङ्गमुत्तरेणोत्तरेण मैत्रावरुणः प्रेष्यत्युत्तरेणोत्तरेण होता यजति"।

इस विषय में महर्षि आश्वलायन का कहना है- "अध्वर्युप्रेषितो मैत्रावरुणः प्रेष्यति प्रैषैर्होतारम्।। होता यजति.........।।" (आश्व.श्रौ.३.२.४-५)

इस सबका निष्कर्ष यह है कि कहीं व कभी संगतिप्रक्रिया मन्द वा वन्द हो जाए, जैसी कि इस कण्डिका में चर्चा की गई है, मनस्तत्त्व ही तैत्तिरीय ब्राह्मण की उपर्युक्त छन्द रश्मियों के द्वारा जिसे प्रेरित करता है, वह प्रेरित होने वाली प्रक्रिया ही यज्ञरूप अध्वर्यु है। यहाँ मैत्रावरुण ही मनस्तत्त्व है। इसी कारण महर्षि ऐतरेय महीदास इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखते हैं- "मनो वै यज्ञस्य मैत्रावरुण" (ऐ.२.५)। यह मनस्तत्त्व ही उपर्युक्त बारह प्रैष छन्द रश्मियों को उत्पन्न करके इनके द्वारा अध्वर्यु अर्थात् सृजन क्रियाओं को प्रेरित-उत्तेजित करता है। इस प्रक्रिया को प्रेरित करने हेतु वह प्राणापानादि वायुतत्त्व को प्रेरित करता है। वायु व प्राणापानादि ही अध्वर्यु हैं। इसलिए तत्त्ववेत्ता महर्षियों का कथन है- "वायुर्वा अध्वर्युः" (गो.पू.२.२४) "प्राणापानावेवाध्वर्यू" (गो.पू.२.११)। जब प्राणापान एवं अन्य वायु अर्थात् विभिन्न छन्दादि रश्मियां प्रेरित होती हैं, उसके उपरान्त होता अग्नि तत्व विभिन्न पदार्थों को संगत करने लगता है। इसी कारण कहा है- "अग्निर्वै देवानां होता" (ऐ.१.२८)।

हम अतिविस्तार के भय से तै.ब्रा. के उपर्युक्त मंत्रों के प्रभाव पर विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक नहीं समझते, पुनरपि यथाप्रयोजन इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि प्रत्येक मंत्र में विद्यमान "होता यक्षत्........ होतर्यज" ये पद अग्नि तत्त्व को संयोगशीलता उत्पन्न करने के लिए अवश्य प्रेरित करते हैं। सभी ऋचाओं में 'आज्यस्य' पद से इस बात का भी संकेत मिलता है कि इनके प्रभाव से आज्यसंज्ञक पूर्वोक्त (२.३७.१ एवं उससे पूर्व वहिष्पवमान सूक्त) रश्मियां सुसंगत व सक्रिय होने लगती हैं। इन बारह मंत्रों में से ५ छन्द त्रिष्टुप् श्रेणी में आते हैं, शेष छन्द शक्वरी-आदि श्रेणी के होने से तीव्र प्रभावकारी होते हैं। इसी कारण वे मन्द वा वंद हुई सृजन क्रियाओं को प्रारम्भ करने में समर्थ होते हैं।

देव पदार्थ अपनी मन्द वा बन्द हुई संगति को पुनः प्रारम्भ वा तीव्र करने के लिए इन मंत्रों के द्वारा ही प्रयास करते हैं, मानो वे यज्ञ क्रिया को इनके द्वारा बुलाना वा प्रेरित करना चाहते हैं, इसी कारण इन मंत्रों को प्रैष मंत्र कहा जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में जब कभी संयोग-वियोग की प्रक्रिया मन्द वा बन्द होने लगती है, अथवा हो जाती है, उस समय मनस्तत्त्व बारह प्रकार की तीव्र शक्तिशाली रश्मियों को उत्पन्न करता है। इस रश्मिसमूह के उत्पन्न हो जाने से प्राणापान एवं विभिन्न छन्द रश्मियां उत्तेजित हो उठती हैं। वे उत्तेजित होने वाली रश्मियां ही संगतीकरण की प्रक्रिया में विशेषरूप से भाग लेने वाली होती हैं, जिनका कि हम पूर्व में अनेकत्र वर्णन कर चुके हैं। उन रश्मियों के उत्तेजित होने पर सृजन प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ वा तीव्र हो उठती है। प्रत्येक सृजन प्रक्रिया में मन, एकाक्षरा वाक्, प्राणापानादि प्राथमिक दस प्राण व सूत्रात्मा वायु भाग लेते ही हैं, यह सामान्य है परन्तु प्रक्रिया भेद से छन्द व मरुद् रश्मियां भिन्न होती हैं। इन बारह रश्मियों से सभी प्रकार के प्राणादि पदार्थ उत्तेजित हो उठते हैं, जिससे सृष्टि प्रक्रिया सामान्यरूप से चलने लगती है।।

२. तं पुरोरुग्भिः प्रारोचयन्, यत् पुरोरुग्भिः प्रारोचयंस्तत्पुरोरुचां पुरोरुक्त्वम्।। तं वेद्यामन्वविन्दन्, यद् वेद्यामन्वविन्दंस्तद् वेदेर्वेदित्वम्।।

व्याख्यानम्– इस विषय में महर्षि आश्वलायन लिखते हैं- "वायुरग्रेगा यज्ञप्रीरिति सप्तानां पुरोरुचां तस्यास्तस्या उपरिष्टात्तृचं तृचं शंसेत् ।। वायवायाहि दर्शतेति सप्त तृचाः।।" (आश्व.श्रौ.५.१०.४-५) इसका तात्पर्य है कि खण्ड ३.१ में वायव्यादि सात प्रउग तृच रश्मियों की जो चर्चा की गई है, उनमें प्रत्येक तृच रश्मि से पूर्व एक-२ पुरोरुक् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। ये पुरोरुक् रश्मियां निम्नानुसार हैं-

(१) अजमीढ ऋषि से उत्पन्न वायुदेवताक गायत्री छन्दस्क

वायुर॑ग्रेगा य॑ज्ञप्रीः साकं ग॑न्मनसा य॒ज्ञम्। शिवो नि॑युद्भिः शिवाभिः॥ (यजु.२७.३१)

यहाँ 'अजमीढ' का अर्थ है, जो सूक्ष्म प्राण निरन्तर सूक्ष्म वाक् तत्त्व का सेचन करता रहता है। यहाँ वाक् तत्त्व को ही 'अज' कहा है। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है- "वाचोऽजम्" (श. ७.५.२.६)। 'मीढः' पद 'मिह' सेचने से बना है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से वायु तत्त्व सक्रिय व समृद्ध होता है। इसके अन्य प्रभाव से वायु अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियां मनस् तत्त्व के साथ संयुक्त होकर विभिन्न सृजन क्रियाओं को पूर्ण व सुकर बनाती हैं।

(२) गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान से उत्पन्न वायुदेवताक व गायत्री छन्दस्क

वायो ये ते॑ सह॒स्रिणो रथा॑स॒स्तेभि॒राग॑हि। नि॒युत्वा॑न्त्सोम॑पीतये॥३२॥ (यजु.२७.३२)

इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् होता है। इसके अन्य प्रभाव से वायु की सहस्रों रश्मियां, जो रमणीय स्वरूप वाली होती हैं, विभिन्न सोमतत्त्वों को अवशोषित करने के लिए सब ओर व्याप्त हो जाती हैं। यहाँ सोमतत्व से आशय सभी उत्पन्न संयोज्य पदार्थों से है।

(३) उपर्युक्त ऋषि व देवता वाले तथा विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क

एक॑या च द॒शभि॑श्च स्वभूते॒ द्वाभ्या॑मि॒ष्टये॑ विꣳश॒ती च॑।
ति॒सृभि॑श्च वह॑से त्रि॒ꣳशता॑ च नियु॒द्भि॑र्वायवि॒ह ता वि मु॑ञ्च॥३३॥ (यजु.२७.३३)

इसका छान्दस प्रभाव पूर्वापेक्षा प्रकाशशील व दैवत प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से वायु की विचित्र गतियां उत्पन्न होती हैं। जब **वायु की रश्मियां** कुछ मन्द गति से सबमें व्याप्त होती हुई चलती हैं, **उस समय उसकी दस प्रकार की गतियां होती हैं।** इसी कारण 'एकः वा एकम्' का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क ने लिखा है- "एकः इता" (नि.३.१०) अर्थात् एक संख्या सर्वत्र पहुँची हुई होती है। 'द्वौ' का निर्वचन करते हुए वे उसी स्थान पर लिखते हैं- "द्वौ द्रुततरा" इससे संकेत मिलता है कि जब वायु पूर्वापेक्षया तीव्र गति से चलता है, तब उसकी बीस प्रकार की गतियां हो जाती हैं। आगे इसी में 'त्रय' का निर्वचन करते हैं- "त्रयः तीर्णमया"। इससे संकेत मिलता है कि जब वायव्य रश्मियां अत्यन्त तीव्र गति से सबको पार करने वाली होती हैं किंवा सबसे तीव्र गति प्राप्त कर लेती हैं, उस समय उसकी तीस प्रकार की विभिन्न गतियां उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी वायु रश्मियां विभिन्न पदार्थों के ऊपर प्रक्षिप्त की जाती हैं।

(४) आंगिरस ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न वायुदेवताक एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

तव॑ वायवृतस्पते॒ त्वष्टु॑र्जामातरद्भुत। अवा॒ꣳस्या वृ॑णीमहे॥३४॥ (यजु.२७.३४)

इसका दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत्। अन्य प्रभाव से {जामाता = जायां माति मिनोति मार्जयति वा सः (उ.को.२.९७)।} विभिन्न प्रकार के प्राणतत्त्वों का पालक तथा जिसमें अनेक प्रकार की क्रियाएं उत्पन्न करके नाना तत्त्वों का निर्माण होता है, ऐसे संयोज्य पदार्थसमूह को शोधित करने व गति प्रदान करने वाला, विभिन्न रक्षादि कर्मों का कर्त्ता, सबका प्रकाशक व प्रेरक वायु तत्व सबमें व्याप्त होता

है।

(५) वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राणानामक प्राण से वायुदेवताक व विराडनुष्टुप् छन्दस्क-

अभि त्वां शूर नोनुमोऽदुग्धाऽइव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः।।३५।। (यजु.२७.३५)।

इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्व से कुछ मन्द। अन्य प्रभाव से {दुग्धः = प्रपूर्णः (म.द.ऋ.भा.३.३६.६)। शूरः = शूरः शवतेर्गतिकर्मणः (नि.४.१३) (शॄ हिंसायाम्, शूर विक्रान्तौ)} इन्द्र वायु हिंसक व विक्रान्त गति से युक्त होकर सभी गतिशील कणों को नियन्त्रित करने वाला अतृप्त किरणों से युक्त होकर सब ओर से प्रकाशित होता है।

(६) शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु, जो सबका नियन्त्रक है, से परमेश्वरदेवताक एवं स्वराट् पंक्तिश्छन्दस्क

न त्वावाँ२ऽअन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे।।३६।। (यजु.२७.३६)

इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सबका नियन्त्रक मनस्तत्त्व एवं वाक् के मिथुन विशेष प्रकाशशील व सक्रिय होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से सृष्टि के सभी जड़ पदार्थों में सर्वोत्कृष्ट प्रेरक व नियन्त्रक मनस्तत्त्व विशेष बल व गति से युक्त हो उठता है। यह अपने प्रभाव को व्यापक बनाता हुआ आकर्षणादि बलों को समृद्ध करता है।

(७) उपर्युक्त ऋषिप्राण से उत्पन्न इन्द्रदेवताक एवं निचृदनुष्टुप् छन्दस्क

त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः।।३७।। (यजु.२७.३७)।

इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज व बलयुक्त होता है। इसके अन्य प्रभाव से विद्युद्युक्त वायु विशेष क्रियाशील होकर असुरादि बाधक पदार्थों के साथ संघर्ष करके सभी दिशाओं में व्याप्त हो जाता है।

ये सातों छन्द रश्मियां पूर्वोक्त 'प्रउग' संज्ञक तृच रश्मियों के साथ एक-२ तृच के साथ एक-२ ऋचा संयुक्त होकर उसे प्रकाशमान व सक्रिय बनाती हैं। इस कारण इन सातों रश्मियों को पुरोरुक् कहते हैं।।

वे पूर्वोक्त 'प्रउग' संज्ञक रश्मियां इन पुरोरुक् संज्ञक रश्मियों को वेदी में ग्रहण करती हैं। यह 'वेदी' शब्द 'विद्लृ लाभे' धातु से निष्पन्न है। इसी कारण यहीं पुरोरुक् रश्मियों को 'प्रउग' रश्मियां प्राप्त करती हैं। यही वेदी का वेदित्व है। यहाँ वेदी क्या पदार्थ है? इसके उत्तर में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है- "वेदिर्वै देवलोकः" (श.८.६.३.६) इसका तात्पर्य है कि यह प्रक्रिया पृथिव्यादि तीनों लोकों में होती है। तैत्तिरीय संहिता २.६.१.३ में सात प्रकार के देवलोक बताये हैं- "एतावन्तो वै देवलोकाः" इस पर पाद टिप्पणी देते हुए ब्राह्मणोद्धारकोषकार विश्वबन्धु ने "पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, दिशः, पशवः, देवयानः पन्थाः एवं स्वर्गोलोकः" ये सात देवलोक बताये हैं। अन्य शास्त्रों में प्रकरणानुसार इनकी संख्या पृथक्-२ है। वस्तुतः सभी प्रकाशित वा प्रकाश्य पदार्थ देवलोक ही हैं और इन सभी में पुरोरुक् रश्मियों का प्रउग रश्मियों से संगम होता है। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य एक और रहस्य का उद्घाटन करते हैं "वेदिर्वै सलिलम्" (श.३.६.२.५)। इसका तात्पर्य है कि इन रश्मियों का मिलन ऐसा होता है, मानो वे परस्पर एक-दूसरे में लीन हो जाती हैं। अब प्रश्न यह है कि वे कैसे लीन होती हैं? उनका क्या स्वरूप रहता है? इसका उत्तर "वाग् वेदिः" (मै.१.६.१; तै.आ.३.१.१) से मिल जाता है। इसका अर्थ है कि वे वाग्रूप में ही लीन हो जाती हैं अर्थात् उनका वाग् रूप ही बना रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- खण्ड ३.१ में वर्णित वायव्य आदि प्रउग बलों की रश्मियां जब उत्पन्न होती हैं, तब एक-२ रश्मि से पूर्व एक-२ पुरोरुक् नामक रश्मि, जो व्याख्यान भाग में वर्णित है, उत्पन्न होती है। इनके प्रभाव से वायु रश्मियों की विचित्र गतियां व प्रभाव उत्पन्न होने लगते हैं। **वायु अर्थात् विभिन्न प्राणादि रश्मियां जितनी तेज गति करती हैं, उनकी गतियां उतनी ही विचित्र व अधिक प्रकार की होती हैं। मंद गति में दस प्रकार की, तीव्र गति में बीस प्रकार की एवं तीव्रतम गति में तीस प्रकार की गतियां होती हैं।** ये रश्मियां उन बलों की तीव्रता बढ़ाने लगती हैं। वे दोनों प्रकार की रश्मियां परस्पर एक-दूसरे में विलीन हो जाती हैं। विलीन होकर वे वाग्रूप में ही रहती हैं। यह विलीन होने की प्रक्रिया सम्पूर्ण सृष्टि में अनवरत चलती रहती है।।

३. तं वित्तं ग्रहैर्व्यगृह्णत, यद् वित्तं ग्रहैर्व्यगृह्णत तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्।।
तं वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयन्, यद् वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयंस्तन्निविदां निवित्त्वम्।।

व्याख्यानम्- इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार के वित्त अर्थात् पदार्थों को ३.१.१ में वर्णित 'नौ' प्रकार के अन्तर्यामादि बलों के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है, इस कारण उन 'नौ' प्रकार के बलों को ग्रह कहते हैं। ये ग्राहक बल आकर्षण बल के ही रूप होते हैं। इसी कारण इनका ग्रह नाम है।।

{नि+विद् = प्रस्तुत करना, सौंपना (आप्टेकोष)} यहाँ २.२३.१ में वर्णित बारह प्रकार की निविद् रश्मियों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इन रश्मियों के द्वारा ही विभिन्न परमाणु तूष्णींशंस रश्मियों को प्राप्त करके परस्पर संगत होने के लिए एक-दूसरे के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। वे असुर तत्त्व की **बाधा से मुक्त हो चुके होते हैं। क्योंकि इन बारह रश्मियों के कारण ही वे परस्पर संगतार्थ प्रस्तुत होते हैं, विशेष बल प्राप्त कर पाते हैं, इस कारण ही वे रश्मियां निविद् कहलाती हैं।।**

४. महद्वाव नष्टैष्यम्यल्पं वेच्छति, यतरो वाव तयोर्ज्याय इवाभीच्छति, स एव तयोः साधीय इच्छति।।
य उ एव प्रैषान् वर्षीयसो वर्षीयसो वेद, स उ एव तान् साधीयो वेद, नष्टैष्यं ह्येतद् यत्प्रैषाः।।
तस्मात् प्रहस्तिष्ठन् प्रेष्यति।।६।।

{नष्टैषी = नष्टान्वेषणकारी - इति षड्गुरुशिष्यः (सायणोद्धृतम्)। (नष्टः = णश अदर्शने = नशत् व्यापितकर्मा - निघं.२.१८)। प्रह्वः = प्र+ह्व+वन् (आप्टेकोष), (ह्वा = ह्वयते अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४, अत्तिकर्मा - निघं.२.८)। वर्षीयः = अतिशयेन श्रेष्ठम् (म.द.ऋ.भा.६.४४.८), वृद्धम् (म.द.य.भा.२३.४७)।}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रैष संज्ञक छन्द रश्मियों के विषय में पुनः प्रकारान्तर से चर्चा करते हैं। ये रश्मियां नष्ट हुई सर्गप्रक्रिया को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं। यहाँ सर्गप्रक्रिया के नष्ट होने का आशय महान् वेदवेत्ता महर्षि यास्क के 'नश्' धातु के उपर्युक्त निर्वचन से समझा जा सकता है। यह धातु व्याप्ति अर्थ में होने से स्पष्ट होता है कि जब कोई भी पदार्थ बिखर कर व्यापक क्षेत्र में फैल जाता है, वही उसका नाश कहलाता है। इस बात को महर्षि कपिल ने 'नाशः कारणलयः" (सां.द.१.१२१) सूत्र में व्यक्त किया है, जिसका अर्थ है कि जब कोई पदार्थ अपने कारण पदार्थ के रूप में परिवर्तित होकर व्यापक क्षेत्र में लय वा व्याप्त हो जाता है, उसे उस पदार्थ का नाश कहा जाता है। इसी प्रकार विभिन्न कारणों से जब कभी सर्गप्रक्रिया नष्ट हो जाती है और पदार्थ बिखर जाता है, उस समय पूर्वोक्त प्रैष संज्ञक रश्मियां जब उसे वापिस संगत करने का पूर्वोक्तानुसार प्रयास करती हैं, तब

उसके दो रूप देखने में आते हैं। एक रूप वह होता है, जो व्यापक क्षेत्र में कार्य करता है तथा दूसरा वह, जो क्षेत्रविशेष में कहीं-२ कार्य करता है। इस विषय में महर्षि का कहना है कि जो प्रैष रश्मियां व्यापक क्षेत्र में एक साथ उत्पन्न होकर कार्य करती हैं, वे नष्ट सर्ग प्रक्रिया को वापिस प्रारम्भ करने में सफल होती हैं। कहीं-२ एकदेशी प्रभाव सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ करने में सफल नहीं माना जाता। यहाँ हमने प्रैष संज्ञक ऋचाओं का ही क्यों ग्रहण किया है? इसका उत्तर अगली कण्डिका में निहित है।।

जो प्रैष ऋचाएं अतिश्रेष्ठ व्यापकता से समृद्ध होती हैं। यहाँ **'वर्षीयसः'** का दो वार प्रयोग प्रचुरता दर्शाने के लिए है। इसका तात्पर्य है कि जब प्रैष रश्मियां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में दूर-२ व्यापक क्षेत्र में समृद्ध होकर विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को प्रेरित करती हैं, वे ही सर्वाधिक सिद्धि प्राप्त कर पाती हैं। जो नष्ट सर्गप्रक्रिया होती है, उसे पुनः पाने का कारण केवल ये प्रैष ऋचाएं ही हैं।।

इस कारण **'प्रहव'** अर्थात् प्रकृष्टरूपेण प्रकाशित व प्रकाशक, विभिन्न पदार्थों का भक्षण करके अपने में समेटने वाला, सबका आकर्षक मनस्तत्त्व अपने व्यापक रूप में स्थित हुआ पूर्वोक्त प्रैष रश्मियों को उत्पन्न करता है किंवा उनके द्वारा विभिन्न पदार्थों को प्रेरित करके सर्ग प्रक्रिया को पुनः प्रारम्भ करता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस खण्ड के प्रारम्भ में सृष्टि प्रक्रिया के बंद होने पर उसे बारह रश्मियों के द्वारा पुनः प्रारम्भ किये जाने की चर्चा है। उस विषय में कहा है कि जब ये रश्मियां इस ब्रह्माण्ड के विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होकर विभिन्न पदार्थों को प्रेरित करती हैं, तभी वे बन्द हुई सृष्टि प्रक्रिया को पुनः प्रारम्भ करने में सक्षम हो पाती हैं, अन्यथा नहीं।।

इति ११.९ समाप्तः

अथ ११.१० प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. गर्भा वा एत उक्थानां यन्निविदस्तद् यत् पुरस्तादुक्थानां प्रातःसवने धीयन्ते, तस्मात् परांचो गर्भा धीयन्ते, परांचः संभवन्ति।।
यन्मध्यतो मध्यन्दिने धीयन्ते तस्मान् मध्ये गर्भा धृताः।।
यदन्ततस्तृतीयसवने धीयन्ते, तस्माद् अमुतोऽर्वाञ्चो गर्भाः प्रजायन्ते, प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त निविद् रश्मियों की प्रकारान्तर से चर्चा करते हैं कि पूर्वोक्त निविद् रश्मियां विभिन्न उक्थों {उक्थम् = विड्उक्थानि (तां.१८.८.६)} अर्थात् २.३३.१ में वर्णित विट् सूक्त रश्मियों की गर्भ रूप होती हैं। इसका आशय है कि जिस प्रकार लोक में प्राणियों के गर्भ में एक नवीन प्राणी की सृष्टि हो रही होती है, उसी प्रकार निविद् रश्मियां उक्थ रश्मियों के साथ मिलकर नवीन तत्त्वों को उत्पन्न करती हैं। अव प्रश्न यह है कि निविद् रश्मियों की उन विट् सूक्तस्थ रश्मियों के साथ क्या स्थिति रहती है, उसके विषय में तीन स्थितियों की चर्चा महर्षि करते हैं। सर्वप्रथम महर्षि प्रातःसवन में इनकी चर्चा करते हैं। प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भिक काल में जव गायत्री रश्मियों की प्रधानता होती है, उस समय निविद् रश्मियां विट् सूक्त रश्मियों के द्वारा आगे अर्थात् अग्रभाग में धारण की जाती हैं। उस अग्रभाग में भी धारण करने का प्रकार यह है कि वे निविद् रश्मियां गायत्री रश्मियों के अग्रभाग के साथ मिलकर विट् सूक्त रश्मियों के वाहर ही शक्तिशाली गर्भ का रूप धारण कर लेती हैं। इस कारण वह गर्भ जहाँ कि भावी किसी पदार्थ का निर्माण होता है, विट् रश्मियों के 'परांच' अर्थात् कुछ दूर ही धारण किया जाता है। उस उत्पन्न गर्भ रूप अणु की गति विट्सूक्त रश्मि की गति के विपरीत दिशा में ही रहती है, इसी कारण यहाँ 'परांच' शव्द का प्रयोग हुआ है।।

उस महर्षि मध्यन्दिनसवन अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया के मध्य चरण, जिसमें त्रिष्टुप् एवं वृहती रश्मियों की प्रधानता होती है, की चर्चा करते हैं। इसमें निविद् रश्मियां त्रिष्टुप् वा वृहती रश्मियों के मध्य भाग में धारण रहती हैं। तत्पश्चात् वे विट्सूक्त रश्मियों से संयुक्त होते हैं। इसके कारण नवीन अणु वनने का केन्द्र मध्य भाग में ही होता है। यह मध्य भाग भी त्रिष्टुप् वा वृहती व विट् सूक्त रश्मियों का संयुक्त केन्द्र होता है। अव महर्षि तृतीय सवन अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया के तृतीय चरण, जवकि जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है, की चर्चा करते हैं। इस समय निविद् रश्मियां जगती रश्मियों के अन्तिम भाग में धारण हुई होती हैं, उसके उपरान्त वे विट्सूक्त रश्मियों से संयुक्त हो जाती हैं। इस कारण नवीन अणु वनने का केन्द्र भी वहीं होता है अर्थात् जहाँ जगती रश्मि से वह निविद् रश्मि संयुक्त होती है, वही केन्द्र होता है। जव वह अणु निर्मित होता है, तव वह अणु उस केन्द्र से नीचे अर्थात् पीछे की ओर उत्पन्न व उत्सर्जित होता है। यह पीछे की ओर से तात्पर्य है कि विट् व जगती रश्मियों की गति की दिशा के विपरीत भाग से। इस प्रकार में निविद् रश्मियां नवीन-२ अणुओं के उत्पन्न करने में वीज रूप भूमिका निभाती हैं।।

इस प्रकार निविद् रश्मियों के धारण होने से विभिन्न प्रकार की नवीन छन्द रश्मियों, परमाणु व अणुओं की उत्पत्ति होती है। यहाँ सृष्टि प्रक्रिया का तात्पर्य किसी कण के निर्माण की प्रक्रिया समझना चाहिए। इस विषय में अगली कण्डिका का व्याख्यान अवश्य द्रष्टव्य है।।

ज्ञातव्यः- इसका सार अगली कण्डिका के भाष्यसार के साथ दिया हुआ है।।

२. पेशा वा एत उक्थानां यन्निविदः, तद् यत्पुरस्तादुक्थानां प्रातःसवने धीयन्ते, यथैव प्रवयणतः पेशः कुर्यात् तादृक् तद्, यन्मध्यतो मध्यन्दिने धीयन्ते यथैव मध्यतः पेशः कुर्यात् तादृक् तद्, यदन्ततस्तृतीयसवने धीयन्ते, यथैवाव प्रज्जनतः पेशः कुर्यात् तादृक् तत्।।
सर्वतो यज्ञस्य पेशसा शोभते य एवं वेद।।१०।।

{पेशः = रूपनाम (निघं.३.७), हिरण्यनाम (निघं.१.२), (पिश अवयवे = टुकड़े-२ करना, व्यवस्था करना, वेदे - दीप्तौ - सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक)। प्रवयणम् = (प्र+वेञ् = बुनना, बांधना, जमाना, स्थिर करना - आप्टेकोष)।}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त निविद् रश्मियां विभिन्न छन्दों वा कणों का पेश रूप होती हैं। इसका तात्पर्य है कि ये रश्मियां ही उन सबको दीप्ति, तेज प्रदान करती हैं और वे ही उनमें भेदक शक्ति प्रदान करती हैं। इस कारण निविद् रश्मियों के कारण ही विभिन्न पदार्थों में ऐसी दीप्ति व तीक्ष्णता उत्पन्न होती है कि वे परस्पर छिन्न-भिन्न व संगत होकर व्यवस्थित रूप धारण कर लेते हैं। पूर्वोक्तानुसार जब निविद् रश्मियां सृष्टि के आदि चरण में गायत्री प्रधान अवस्था में विभिन्न विट् रश्मियों को धारण करती हैं, उस समय उन निविद् रश्मियों की क्या स्थिति होती है? इसे समझाने के लिए महर्षि उपमा देते हुए कहते हैं कि जैसे कोई वस्त्र आदि बुनने वाला बुनकर वस्त्र को बुनना प्रारम्भ करते समय धागे को स्थिरता भी प्रदान करता है और अलंकार भी, ठीक उसी प्रकार वे निविद् रश्मियां विभिन्न गायत्री छन्दादि रश्मियों के प्रारम्भिक भाग को स्थिरता व अलंकरण रूप दीप्ति आदि प्रदान करती है। ये निविद् रश्मियां अधिक स्थैर्य व बल-दीप्ति से युक्त होकर अन्य सभी गायत्री आदि रश्मियों को ग्रन्थित करती हैं। ये धागे के समान कार्य करती हैं। जब मध्यन्दिन अर्थात् सृष्टि का द्वितीय चरण होता है, उस समय त्रिष्टुप् व बृहती की प्रधानता होती है। उस समय, जैसे लोक में कोई बुनकर कपड़ा बुनते समय मध्यभाग में धागों को सभी धागों से जोड़े व स्थिर रखते हुए अलंकृत करता है, उसी प्रकार ये निविद् रश्मियां त्रिष्टुप् आदि रश्मियों के मध्य दीप्ति व बल से सम्पन्न होती हैं। वे वहाँ स्थित होकर अपने चारों ओर की रश्मियों को ग्रन्थित करके उन्हें थामे रखती हैं और प्रदीप्त भी करती हैं। सृष्टि के तृतीय चरण में वे निविद् रश्मियां अन्तिम सिरे पर स्थिर रहकर उसे भी उसी प्रकार स्थैर्य व दीप्ति प्रदान करती है, जैसे कोई बुनकर अन्तिम धागे को स्थिरता एवं अलंकरण प्रदान करता है। यहाँ आचार्य सायण ने 'प्रज्नन' का अर्थ 'वस्त्रस्यान्तभागः' किया है। उसी को दृष्टिगत रख कर हमने उपर्युक्त अर्थ किया है। यहाँ सायण द्वारा उद्धृत भट्टभास्कर ने 'प्रज्जन' को 'अवसान' अर्थ में छान्दस रूप ग्रहण किया है। यहाँ 'प्रज्जन' पद से 'अवसान' अर्थ ग्रहण करने पर किसी भी कण की उत्पत्ति की प्रक्रिया का विशेषरूप प्रकट हो रहा प्रतीत होता है। वह यह कि यहाँ तथा पूर्व कण्डिकाओं में सृष्टि प्रक्रिया के तीन चरणों का यहाँ वर्णन न होकर किसी कण के निर्माण के तीन चरण बतलाये गये हैं। सर्वप्रथम निविद् रश्मियां गायत्री छन्दरश्मियों के अग्रभाग में संगत होकर विट् रश्मियों से भी संगत होती हैं। उस समय कण निर्माण का केन्द्र गायत्री व विट् सूक्त रश्मियों के बाहरी भाग में होता है। उसके उपरान्त यह केन्द्र त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के मध्य स्थित होकर अन्त में जगती छन्द रश्मि के अन्तिम भाग में संयुक्त हो जाता है। छन्दों का परिवर्तन उन्हीं छन्दों में अन्य सूक्ष्म रश्मियों के योग से होता है। अन्त में उस भाग में ही कण की पूर्ण स्थिति बन जाती है। इसी को यहाँ 'प्रज्जनः' से अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार सम्पूर्ण सर्गयज्ञ विभिन्न रूपों में सुग्रन्थित होकर शोभायमान होता है, जब उपर्युक्त प्रक्रिया सम्पन्न होती है। कणों के निर्माण की प्रक्रिया को और स्पष्ट करने हेतु १.३.७ भी द्रष्टव्य है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ वर्तमान विज्ञान द्वारा मूल कण कहे जाने वाले कणों की रचना की प्रक्रिया दर्शायी गयी है। इसे पढ़ने से पूर्व १.३.७ में कणों के निर्माण की प्रक्रिया को पढ़ना अनिवार्य है। उसी

सन्दर्भ को स्पष्ट करते हैं। जब निविद् रश्मियां गायत्री आदि रश्मियों से मिलती हैं, उस समय मूल कणों के निर्माण हेतु रश्मियों के बाहरी व अग्रभाग में केन्द्र का निर्माण होने लगता है। उसके पश्चात् वे गायत्री रश्मियां त्रिष्टुप् व बृहती में परिवर्तित हो जाती हैं, उस समय मूल कण के निर्माण का केन्द्र उनके मध्य में स्थित हो जाता है। उसके पश्चात् जगती छन्द रश्मि उत्पन्न हो जाती है। यह रश्मि पूर्व निर्मित त्रिष्टुप् एवं बृहती से ही निर्मित होती है। इसके निर्माण के समय मूल कण के निर्माण का केन्द्र जगती रश्मि के पिछले भाग में आ जाता है और वहाँ आकर मूल कण का निर्माण का कार्य पूर्ण हो जाता है। उत्पन्न होते ही वह मूल कण जगती छन्द रश्मि की गति के विपरीत दिशा में गतिशील हो उठता है। इसी प्रक्रिया से फोटोन, न्युट्रिनो, इलेक्ट्रॉन, क्वार्क आदि सभी का निर्माण होता है। **वर्तमान विज्ञान को मूल कणों के निर्माण की प्रक्रिया का विशेष ज्ञान नहीं है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया आकाश द्वारा वायु तत्त्व के सम्पीडन से ही सम्पन्न होती है।** इसे निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है-

चित्र ११.१० मूल कणों के निर्माण की प्रक्रिया
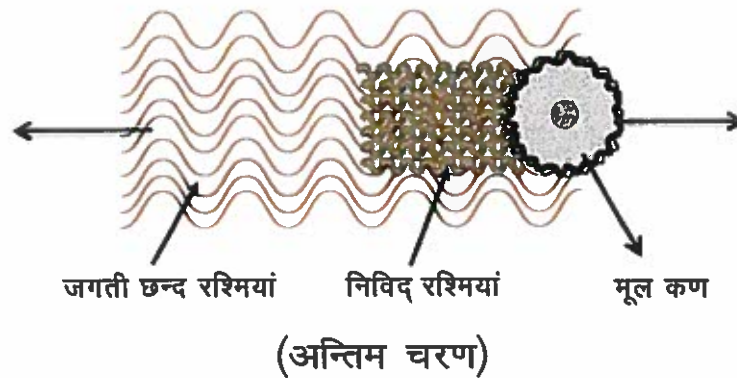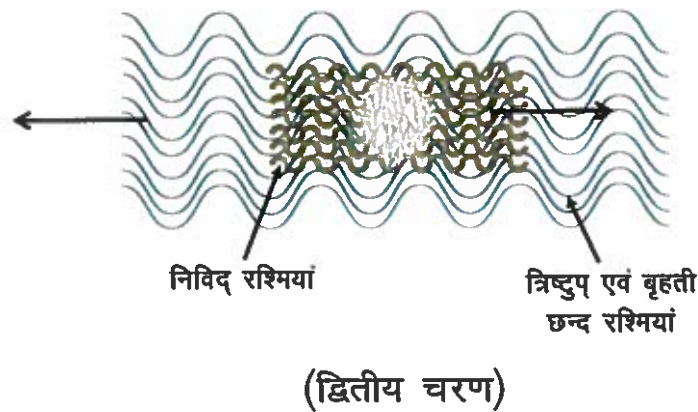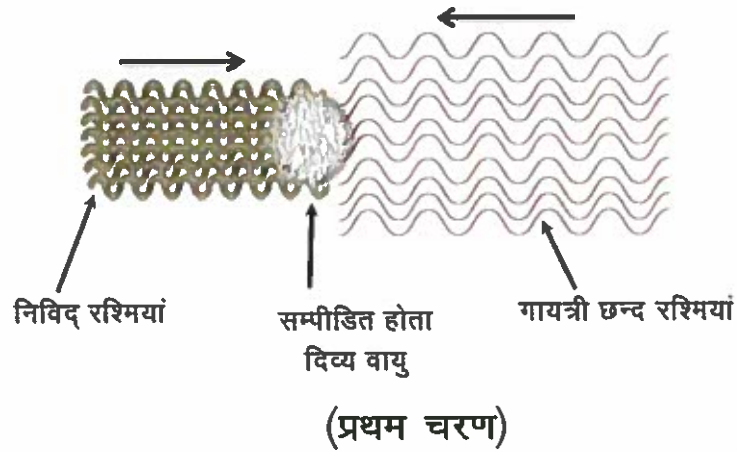
ॐ इति ११.१० समाप्तः ॐ

ॐ अथ ११.११ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. सौर्या वा एता देवता यन्निविदस्तद्यत्पुरस्तादुक्थानां प्रातःसवने धीयन्ते, मध्यतो मध्यन्दिनेऽन्ततस्तृतीयसवनं आदित्यस्यैव तद्व्रतमनु पर्यावर्त्तन्ते।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त निविद् रश्मियां सौर्या देवता कहाती हैं। इसका आशय है कि ये सूक्ष्म रश्मियां सरणशील, प्रेरक एवं नव पदार्थों की सर्जनाशक्तियों से युक्त होती हैं। ये दीप्तियुक्त, विद्युत् के समान आकर्षण, प्रतिकर्षण एवं भेदनसामर्थ्य युक्त होने से विभिन्न क्रियाओं का सम्पादन करती हैं। ये रश्मियां सूर्य लोक के समान अपने निर्धारित मार्ग पर गमन करती रहती हैं। यहाँ निविद् रश्मियों की सूर्य से तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार सूर्य उदय व अस्त होते हुए विभिन्न स्थितियों से गुजरता हुआ स्वयं सदैव अपरिवर्तित रहता हुआ हमें परिवर्तित रूप व आकृति वाला प्रतीत होता है, उसी प्रकार निविद् रश्मियां पूर्वोक्त तीनों सवनों अर्थात् चरणों में गायत्री आदि छन्द रश्मियों के साथ संगत होती हुई स्वयं अपरिवर्तित रहती हुई तीनों ही चरणों से गुजरती हुई तीन प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित करती हैं। तीनों चरणों में पृथक्-२ निविद् रश्मियां न होकर वे ही पृथक्-२ व्यवहार को दर्शाती हुई प्रतीत होती हैं। प्रश्न यह उठता है कि जब निविद् रश्मियां एक ही होती हैं, तब उनका परिणाम भेद कैसे होता है? इसका समाधान यह है कि गायत्री, त्रिष्टुप्, बृहती व जगती छन्द भेदों के कारण उनकी एक ही निविद् रश्मियों के साथ संगति पृथक्-२ परिणाम दर्शाती है। इसी कारण इनकी तुलना सूर्य से करते हुए इस कण्डिका को लिखने की आवश्कता हुई, जिससे निविद् रश्मियों से कणों का निर्माण और भी स्पष्ट हो सके।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- मूल कण बनने के तीनों चरणों में निविद् रश्मियां एक ही होती हैं, जो सूर्य के उदय अस्त के समान यात्रा करती रहती हैं। जैसे सूर्य में कोई परिवर्तन नहीं आता, वैसे ही इन रश्मियों में कोई अन्तर नहीं आता। ये विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ संगत हुई विभिन्न चरणों से गुजरकर नवीन-२ कणों का निर्माण करती हैं।।

२. पच्छो वै देवा यज्ञं समभरंस्तस्मात्, पच्छो निविदः शस्यन्ते।।
यद् वै तद्देवा यज्ञं समभरंस्तस्माद् अश्वः समभवत्, तस्मादाहुरश्वं निविदां शंस्त्रे दद्याद् इति तदु खलु वरमेव ददति।।

{पच्छः = पादश इति सायणाचार्यः। ददति धारयतेकर्मा (नि.२.२)}

व्याख्यानम्- पूर्व में जो सर्गप्रक्रिया के रुकने की चर्चा है और उसके पुनः प्रैष व निविद् रश्मियों के द्वारा सम्यग्रूपेण उत्पन्न व पुष्ट होने की चर्चा है, उसी विषय को बढ़ाते हुए महर्षि कहते हैं कि देव अर्थात् मन व वाक् तत्त्व की प्रेरणा से प्राणापानादि प्राथमिक प्राण सृष्टि प्रक्रिया को जो पुनः चालू करते हैं, वे चरणबद्ध तरीके से ही करते हैं। यहाँ चरणबद्ध का तात्पर्य है कि वह प्रक्रिया विभिन्न छन्द रश्मियों के क्रमबद्ध उत्पन्न होने से ही प्रारम्भ हो पाती है। जैसे कणों के बनने में हमने पूर्व में तीन चरण बतलाये हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण सर्ग प्रक्रिया चरणबद्ध तरीके से व उचित एवं निश्चित क्रम के अनुसार ही पुनः प्रारम्भ होती है। सर्वप्रथम होने वाली क्रियाएं भी इसी रीति से उत्पन्न होती हैं। इन

सब क्रियाओं को उत्पन्न करने हेतु निविद् रश्मियां भी पादशः उत्पन्न होती हैं। इनके पादों के विषय में हम २.३३ व २.३४ में देख सकते हैं। इन रश्मियों के उत्पत्ति का वही निश्चित क्रम होता है, न कि ये यदृच्छया उत्पन्न होती हैं।।

जिस देश व काल में उपर्युक्त प्रकार से सर्ग प्रक्रिया पुनः उत्पन्न की जाती है, उस समय उस प्रदेश में अश्व उत्पन्न होने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त निविद् रश्मियों के उपर्युक्त प्रभाव से विभिन्न तीव्रगामी किरणें, विद्युत् युक्त कण जो अत्यन्त गतिशील होते हैं एवं श्वेतवर्ण युक्त अग्निर्मय मेघ जो अतिव्यापक होते हैं, उत्पन्न होने लगते हैं। विभिन्न वज्ररूप तीव्र किरणें {वज्रो वा ऽअश्वः (श.४.३.४.२७)।} भी उत्पन्न होने लगती हैं। इस कारण कहा जाता है कि निविद् रश्मियों को उत्पन्न व प्रकाशित करने वाले प्राथमिक प्राण किंवा उनके भी प्रेरक मन व वाक् तत्त्व उन आशुगामी किरणों, विद्युद्युक्त तीव्र बलशाली कणों वा व्यापक अग्निमय मेघों को धारण करते हैं और ये ही पदार्थ मानो निविद् रश्मियों को उत्पन्न करके इन अश्वरूप पदार्थों को इस सृष्टियज्ञ हेतु प्रदान करते हैं और इन पदार्थों को धारण व प्रदान करके वे पदार्थ 'वर' अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के सभी पदार्थों को धारण किंवा प्रदान करते हैं। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य 'वरः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं- "सर्वं वै वरः" (श.२.२.१.४)। उधर महर्षि यास्क का कथन है- "वरो वरयितव्यो भवति" (नि.१.७) इससे स्पष्ट होता है कि निविद् रश्मियों के उत्पादक प्राणादि पदार्थ उन पदार्थों को उत्पन्न करते हैं, जिनकी सृष्टि रचना में आवश्यकता होती है। उपर्युक्त तीव्रगामी रश्मि आदि अश्वरूप पदार्थ सृष्टि यज्ञ के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनके बिना सृष्टि प्रक्रिया जारी नहीं रह सकती किंवा प्रारम्भ भी नहीं हो सकती, इस कारण ही इन्हें यहाँ 'वर' कहा है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि की सभी क्रियाएं निश्चित क्रम एवं व्यवस्था के अनुसार चरणबद्ध व नियमबद्ध ही प्रारम्भ व संचालित होती हैं। यदृच्छया अर्थात् अस्त व्यस्त तरीके से सृष्टि में कोई भी निर्माण कार्य सम्भव नहीं होता। पूर्वोक्त निविद् रश्मियां, जो संख्या में बारह होती हैं, वे भी चरणबद्ध व व्यवस्थित रीति से उत्पन्न होकर मूल कणों को उत्पन्न करती हैं। विभिन्न तरंगें व कण, विभिन्न नेब्यूलादि मेघ आदि सभी पदार्थ, अणु वा परमाणु आदि का निर्माण आदि सब कुछ निश्चित नियमों व क्रम के अनुसार ही होता है। इन सबके निर्माण में प्राथमिक प्राण और उनके भी प्रेरक मन, वाक् तत्त्व की मुख्य प्रेरक भूमिका होती है। सर्वप्रेरक चेतन तत्त्व परमात्मा होता है। इस महासत्ता की प्रेरणा से निश्चित भौतिक नियमों, जो स्वयं उसी चेतन के नियम होते हैं, के अनुसार सृष्टि हेतु सभी आवश्यक तत्त्वों का निर्माण चरणबद्ध तरीके से होता जाता है। भौतिकी के नियमों के विषय में Richard P. Feynman लिखते हैं-

"We can imagine that this complicated array of moving things which constitutes "the world" is something like a great chess game being played by the gods, and we are observers of the game. We do not know what the rules of the games are; all we are allowed to do is to watch the playing. Of course, if we watch long enough, we may eventually catch on to a few of the rules. The rules of the game are what we mean by fundamental physics. Even if we knew every rule, however, we might not be able to understand why a particular move is made in the game, merely because it is too complicated and our minds are limited" (Lectures on Physics vol. pg.13)

इसका भाव यह है कि सम्पूर्ण संसार परमात्मा का खेल है। संसार के सभी भौतिक-नियम उसी खेल के नियम हैं। हम उन सभी नियमों को नहीं जान सकते। हम उन्हें देख ही सकते हैं। हम उन नियमों को बना नहीं सकते। हम जितने नियमों को जितने अंशों में जानते हैं, उतना ही हमारा विज्ञान विकसित माना जा सकता है। हमारा मस्तिष्क सीमित सामर्थ्य वाला होने से संसार के जटिल नियमों को पूर्णतः कभी नहीं जान सकता।" इस कारण भौतिकी में अनुसन्धान की प्रक्रिया सदैव जारी रहेगी। हाँ, **महर्षि ऐतरेय महीदास** का कथन यह अवश्य है कि **सृष्टि के नियम निश्चित हैं। परमात्मा अनियमित-अनियंत्रित ढंग से सृष्टि रचना नहीं करता।** हाँ, विज्ञान सृष्टि के सभी चरणों को नहीं जान

सकता।।

३. न निविदः पदमतीयात्।।
यन्निविदः पदमतीयाद्, यज्ञस्य तच्छिद्रं कुर्याद्, यज्ञस्य वै छिद्रं स्रवद् यजमानोऽनु पापीयान् भवति, तस्मान्न निविदः पदमतीयात्।।

व्याख्यानम्- पूर्व में महर्षि ने कहा था कि निविद् रश्मियां चरणवद्ध तरीके से उत्पन्न होती हैं। इसके उपरान्त महर्षि कहते हैं कि इन रश्मियों की उत्पत्ति सतत रूप से होती है। इनमें एक पदरूप अवयव का भी विघ्न नहीं आने पाता। यदि निविद् रशिमयों की उत्पत्ति में किसी एक पद का व्यवधान हो जाए अर्थात् एक पद की उत्पत्ति नहीं हो, तव उसका परिणाम वतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि ऐसा होने पर सर्गयज्ञ छिद्रयुक्त हो जाएगा अर्थात् उसमें बीच में रिक्त स्थान हो जायेगा। उस रिक्त स्थान में विद्यमान संयोज्य परमाणुओं का तेज एवं वल न्यून हो जायेगा। इसके कारण उन परमाणुओं पर असुर तत्त्व का प्रहार सरलता से हो सकेगा और ऐसा होने पर उनके मध्य संगतीकरण की प्रक्रिया वन्द होकर सर्गयज्ञ में ही भारी वाधा खड़ी हो जाएगी। इसी कारण निविद् रश्मियों की उत्पत्ति विना किसी अन्तराल के सतत रूप से पादशः होती रहती है। उसमें कोई अन्तराल वा व्यवधान नहीं आता।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त निविद् रश्मियां, जो विभिन्न कणों वा तरंगों की ऊर्जा को समृद्ध करती हैं, अनवरत क्रमशः उत्पन्न होती रहती हैं। उनमें बीच में कहीं कोई व्यवधान वा रिक्तता नहीं आने पाती। यदि ऐसा हो जाए, तो उन कणों वा तरंगों की ऊर्जा कम हो जायेगी, जिससे डार्क एनर्जी का उन पर प्रहार होने की आशंका प्रबल हो जाएगी। डार्क एनर्जी के प्रहार से संयोगादि प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाएगी। इस कारण सृष्टि प्रक्रिया को सतत प्रवृत्त रखने के लिए निविद् रश्मियों के प्रवाह में पूर्ण निरन्तरता अनिवार्य है। उसमें कहीं भी व्यवधान वा रिक्तता नहीं आती।।

४. न निविदः पदे विपरिहरेद्, यन्निविदः पदे विपरिहरेन् मोहयेद् यज्ञं, मुग्धो यजमानः स्यात्, तस्मान्न निविदः पदे विपरिहरेत्।।
न निविदः पदे समस्येद्, यन्निविदः पदे समस्येद् यज्ञस्य तदायुः संहरेत्, प्रमायुको यजमानः स्यात्, तस्मान्न निविदः पदे समस्येत्।।

{प्रमायुकः = एष ह वै प्रमायुको यो ऽन्धो वा बधिरो वा (गो.पू.४.२०; श.१२,२.२.४)। (बधिरः = बन्ध बन्धने+किरच् प्रत्ययः - उ.को.१.५१)।}

व्याख्यानम्- अव पुनः निविद् रश्मियों की ही चर्चा करते हुए कहते हैं कि इन रश्मियों की जो पादशः तथा निरन्तर उत्पत्ति होती है, उसमें पादों का क्रम वा १२ रश्मियों का क्रम भी समान वा निश्चित ही रहता है। यह निश्चित क्रम खण्ड २.३४ में दिया हुआ है। इस वात को पुष्ट करने की आवश्यकता इस कारण हुई क्योंकि वारह निविद् रश्मियों की किसी अन्य ढंग से भी पादशः व निरन्तर उत्पत्ति हो सकती है। इस कारण ऐसा न होकर प्रथम से लेकर अन्तिम वारहवीं निविद् रश्मि का सुनिश्चित क्रम ही रहे, क्रम विपर्यय न हो, इस कारण पुनः स्पष्टता हेतु ऐसा कहा गया है। यहाँ 'विपरिहरेत्' का तात्पर्य पकड़कर दूर ही रोकना वा दूर ले जाना भी हो सकता है। यहाँ महर्षि का भाव यह है कि निविद् रश्मियों के वीच जो स्वाभाविक व सुनिश्चित दूरी एवं काल का अन्तर होना आवश्यक है, वही होना चाहिए, न कि उन वारह रश्मियों की उत्पत्ति अधिक दूरी व काल के अन्तर से हो। यदि ये दोनों ही स्थितियां उत्पन्न हो जाएं, तो क्या होगा? यह वतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि यदि ऐसा हो जाए, तो सर्गयज्ञ भ्रान्त हो जाएगा। विभिन्न संयोज्य कण भ्रान्त होकर अस्त-व्यस्त हो जाएंगे। इस कारण सभी निविद् रश्मियां पूर्व निधारित क्रम से तथा उचित दूरी व काल के अन्तराल से ही उत्पन्न होती हैं। यद्यपि यह अन्तराल नगण्य होता है, इस कारण पूर्व में हमने इनकी सतत व व्यवधानरहित उत्पत्ति

का होना लिखा है।।

अब पुनः महर्षि कहते हैं कि निविद् रश्मियों की उत्पत्ति परस्पर मिली हुई अवस्था में भी नहीं होती है। इसका आशय यह है कि वे निविद् रश्मियां इस प्रकार से भी उत्पन्न नहीं होती हैं कि ये परस्पर मिल जाएं, मिश्रित हो जाएं। यदि इस प्रकार से उनकी उत्पत्ति होती है, तब सर्गप्रक्रिया प्राणविहीन हो जाएगी अर्थात् बन्द हो जायेगी, क्योंकि परस्पर संश्लिष्ट निविद् रश्मियां अपना प्रभाव खो देंगी किंवा उनका प्रभाव अन्यथा हो जाएगा। इसके साथ ही विभिन्न संयोज्य कण प्रमायुक अर्थात् अन्ध-बधिर हो जाएंगे। इसका आशय यह है कि वे कण तेजहीन, दिशाहीन तथा क्रियाहीन हो जाएंगे। वे अपने कर्मों व शक्तियों को अवरुद्ध कर बैठेंगे। इस कारण निविद् रश्मियों की उत्पत्ति परस्पर मिश्रितावस्था में भी नहीं होती। उनके बीच में सूक्ष्म सा सुनिश्चित अन्तराल अवश्य रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- वे पूर्वोक्त निविद् रश्मियां, जो बारह प्रकार की होती हैं, उनकी उत्पत्ति के समय उनमें परस्पर दूरी व काल का बहुत अन्तर नहीं होता है। यदि ऐसा हो जाए, तो संयोज्य कण वा तरंगों की गति व दिशा अस्त व्यस्त हो जाएगी और संयोग प्रक्रिया भी अस्त व्यस्त होकर विभिन्न परमाणुओं व अणुओं की रचना नहीं हो पाएगी किंवा अनिष्ट रूप में हो सकती है, जो सृष्टि निर्माण में उपयोगी सिद्ध न हो सके। इधर वे बारह रश्मियां परस्पर मिश्रित अवस्था में भी उत्पन्न नहीं होती। यदि ऐसा हो जाए, तो वे प्रभावहीन हो जाएंगी, जिससे विभिन्न अणुओं व परमाणुओं के निर्माण की प्रक्रिया ही बंद हो जाएगी। इस कारण इन रश्मियों की उत्पत्ति के समय उनके मध्य परस्पर निश्चित दूरी व काल का सूक्ष्म सा अन्तराल होता है।।

५. प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रमित्येते एव समस्येद्, ब्रह्मक्षत्रयोः संश्रित्यैः, तस्मात् ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते।।

{प्र = प्राणो वै प्र (ऐ.२.४०), अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.२.४१)}

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने 'प्रेदं ब्रह्म' तथा 'प्रेदं क्षत्रम्' को निविद् मंत्रों के दो पद माना है जबकि खण्ड २.३३ व २.३४ दोनों ही स्थानों पर जो बारह निविद् मन्त्र दिये हैं, आचार्य सायण ने अपनी पादटिप्पणी में जो निविदाध्याय से उद्धृत किए हैं, उनमें कहीं भी वे दो पद नहीं हैं। केवल 'प्र' पद 'प्रणीर्यज्ञानाम्' के अन्दर विद्यमान है। यद्यपि इस कण्डिका में 'निविद्' पद विद्यमान नहीं है, परन्तु पूर्वापरा कण्डिका में तथा इस समस्त खण्ड में निविदों की ही चर्चा है, इस कारण 'प्रेदं ब्रह्म' तथा 'प्रेदं क्षत्रम्' को निविद् मानना समीचीन प्रतीत होता है। इधर 'समस्येद्' यह क्रियापद पूर्व कण्डिका में जिस प्रसंग में है और यहाँ भी 'समस्येद्' विद्यमान होने से भी निविदों की ही चर्चा की पुष्टि होती है। तब प्रश्न यह है कि सर्वत्र बारह निविद् दिए हैं। इन्हें मास रश्मियों के रूप में भी माना है, तब ये दो पद और कहाँ से आ गये? मास कभी-२ तेरह भी होते हैं, जैसा कि कहा है- "त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत्" (तै.सं.४.३.१०.१-२; मै.२.८.६) उधर अन्य ऋषि ने भी कहा है- "एतावान्वै संवत्सरो यदेष त्रयोदशो मासस्तदत्रैव सर्वः संवत्सर आप्तो भवति।" (कौ.ब्रा.१६.२)। लोक प्रचलित वर्ष में भी निश्चित समय अन्तराल के बाद तेरह मास होते हैं। इस दृष्टि से हमारा मत यह है कि 'प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम्' दोनों भाग मिलकर एक तेरहवीं मास रश्मि होती है, और यही मास रश्मि निविद् रश्मि है। वस्तुतः ये दो मास रश्मि हैं, परन्तु 'समस्येद्' क्रियापद सिद्ध कर रहा है कि इनकी उत्पत्ति मिश्रितरूप में अर्थात् परस्पर संश्लिष्ट अवस्था में होती है। पूर्व कण्डिका में निविद् रश्मियों के संश्लिष्टावस्था में उत्पन्न होने का निषेध किया, यहाँ उसका अपवाद दिया गया है कि 'प्रेदं ब्रह्म' व 'प्रेदं क्षत्रम्' ये दो रश्मियां संश्लिष्टावस्था 'प्रेदं ब्रह्म प्रेदं क्षत्रम्' के रूप में एक अतिरिक्त निविद् वा मास रश्मि के रूप में उत्पन्न होती हैं।

इस संश्लिष्ट रूप का प्रभाव बतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि इसके प्रभाव से ब्रह्म एवं क्षत्र अर्थात् अग्नि व सोम, गायत्री व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां, प्राण एवं अपान संश्लिष्ट ही रहते हैं। {क्षत्रमु वै वाक् (जै.ब्रा.२.१६६), मन एव ब्रह्मा (कौ.ब्रा.१७.७)। क्षत्रं वै वरुणः (काठ.३६.७), (अपानो वरुणः

– तै.सं.५.३.४.२), प्राणो वै ब्रह्म (श.१४.६.१०.२)} इस रश्मि के पद 'प्र' से युक्त होने से ये सभी पदार्थ प्रकृष्टरूपेण परस्पर संगत होते हैं। इसके साथ ही यह रश्मि इन ब्रह्म व क्षत्र संज्ञक पदार्थों को विभिन्न प्राणों तथा अन्तरिक्ष वा आकाश तत्त्व से भी संगत करने में सहायक होती है। इसी निविद् रश्मि के कारण ब्रह्म व क्षत्र संज्ञक क्रमशः अग्नि व सोम तत्त्व परस्पर सदैव संगत रहते हैं वा परस्पर संगत होते हैं। हमारे मत में मन एवं वाक् तथा प्राण एवं अपान को संगत-संश्लिष्ट करने में यह रश्मि सहयोग नहीं कर सकती, क्योंकि ये पदार्थ इस निविद् रश्मि से सूक्ष्म हैं। कदाचित् कुछ अंशों में प्राण-अपान के संश्लेषण में यह कुछ सहयोग कर सकती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– एक निविद् रश्मि विद्युद् आवेशित कणों के परस्पर संश्लेषण कर्म में पूर्वोक्त अनेक प्रक्रियाओं को सम्पन्न व सुदृढ़ करने में विशेष भूमिका निभाती है। यह रश्मि उन दोनों कणों के मध्य स्थित आकाश तत्त्व एवं विभिन्न प्राणों को परस्पर संश्लिष्ट करने में सहयोग करती है।।

६. न तृचं न चतुर्ऋचमतिमन्येत निविद्धानमेकैकं वै निविदः पदमृचं सूक्तं प्रति, तस्मान्न तृचं न चतुर्ऋचमतिमन्येत, निविद्धानं निविदा ह्येव स्तोत्रमतिशस्तं भवति।। एकां परिशिष्य तृतीयसवने निविदं दध्यात्।।
यद् द्वे परिशिष्य दध्यात् प्रजननं तदुपहन्याद्, गर्भैस्तत्प्रजा व्यर्धयेत् तस्मादेकामेव परिशिष्य तृतीयसवने निविदं दध्यात्।।

व्याख्यानम्– इन निविद् रश्मियों का विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य प्रक्षेप की प्रक्रिया का विधान बतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि इन रश्मियों के प्रक्षेपण के समय तीन वा चार ऋचाओं वाले सूक्त का अतिक्रमण करके प्रक्षेपण वा प्रकाश नहीं होता है। यहाँ आचार्य सायण ने 'तृच' और 'चतुर्ऋच' से सूक्तों को ग्रहण किया है, न कि बहु-ऋच सूक्त की तीन व चार ऋचाओं के समूह को। इस विषय में महर्षि सामान्य व्यवस्था को बतलाते हुए कहते हैं कि निविद् रश्मियों का प्रत्येक पद, प्रत्येक ऋचा व सूक्त को लक्ष्य करके प्रक्षेपण किया जाता है। वहीं वे निविद् रश्मियां सन्धि रूप धारण करके प्रकाशित हो उठती हैं। इस कारण तीन व चार ऋचाओं वाले सूक्त का अतिक्रमण करके प्रकाशन नहीं होता है। प्रत्येक ऋचा व सूक्त को लक्ष्य करके प्रकाशन का अर्थ हमारी दृष्टि में यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक ऋचा के मध्य निवित् का एक पद तथा दो सूक्तों के मध्य भी एक पद का प्रकाशन होता है। कदाचित् सूक्तों के मध्य में दो पदों का प्रकाशन होता है, जिससे दो सूक्त दृढ़ता से परस्पर बंधे रहें। **इस व्यवस्था से सभी छन्द रश्मियां परस्पर गुंथी हुई व प्रकाशित-सक्रिय होती रहती हैं।।**

किसी कण के निर्माण के अन्तिम चरण, जिसकी चर्चा पूर्व खण्ड में की गई है, में निविद् रश्मियों के पदों के प्रकाशन अर्थात् सूक्त की अन्तिम ऋचा को छोड़कर निविद् रश्मियों का प्रक्षेपण किया जाता है। यहाँ 'एकां परिशिष्य' से कौन सी एक ऋचा का ग्रहण किया जाए, इस विषय में हमने आचार्य सायण का अनुसरण किया है। यहाँ 'एकाम्' पद केवल एक बार होने से 'एक-एक ऋचा छोड़कर' ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा अभिप्राय महर्षि का होता, तो उपर्युक्त कण्डिका की भाँति 'एकमेकम्' ऐसा होता, इस कारण ही हमने उपर्युक्त अर्थ ग्रहण किया है।।

यदि उपर्युक्त चरण में सूक्त की अन्तिम दो रश्मियों को छोड़कर निविद् रश्मियों का प्रक्षेप होवे, तो कण के निर्माण व उत्सर्जन की प्रक्रिया नष्ट हो जाती है। इससे जो निर्माणाधीन कण है, उसका किरणरूप तेज क्षीण हो जाता है। इस कारण उपर्युक्त कण्डिका के अनुसार एक छन्द रश्मि को छोड़कर ही निविद् रश्मियों का प्रक्षेप व प्रकाशन होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– पूर्वोक्त निविद् रश्मियां विभिन्न सूक्तस्थ छन्द रश्मियों के मध्य सन्धि का कार्य करती हैं। पूर्व खण्ड में वर्णित मूलकणों के निर्माण के प्रथम दो चरणों में प्रत्येक छन्द रश्मि के साथ निविद् रश्मि संयुक्त रहती है। जब मूलकण के निर्माण का तृतीय चरण होता है अर्थात् उस कण का

निर्माण पूर्णता को प्राप्त होकर वह उत्सर्जित होने वा गति करने वाला ही होता है, उस समय निविद् रश्मियां प्रत्येक छन्द रूप रश्मि के साथ संयुक्त न होकर सूक्त की अन्तिम छन्द रश्मि को छोड़कर अन्य छन्द रश्मियों के साथ एक-एक करके संयुक्त होती हैं। यहाँ महर्षि कहते हैं कि यदि निविद् रश्मियों के मध्य अन्तिम दो छन्द रश्मियों का अन्तराल हो जाए, तो मूलकण का निर्माण पूर्ण नहीं होगा और वह कण अपने स्वरूप को खो देगा।।

७. न सूक्तेन निविदमतिपद्येत।।
येन सूक्तेन निविदमतिपद्येत, न तत्पुनरुपनिवर्तेत, वास्तुहमेव तत्।।

{वास्तु = अवीर्यं वै वास्तु (श.१.७.३.१७), वसन्ति प्राणिनो यत्र तद् वास्तु गृहं वा (उ. को.१.७०)।}

व्याख्यानम्- निविद् रश्मियों के प्रक्षेपण में सूक्त का भी अतिक्रमण नहीं होता है। पूर्व में ऋचा व तृच व चतुर्ऋच के अतिक्रमण का निषेध किया, यहाँ सूक्त के अतिक्रमण का निषेध किया गया है। अब सूक्त के निषेध का दुष्परिणाम बताते हुए कहते हैं कि यदि ऐसा होता है, तब वह सूक्तरूपी विकिरण समूह एवं निविद् अपने वास्तविक स्थान को खो देता है तथा उसे पुनः प्राप्त नहीं कर पाता। यहाँ सूक्त का अर्थ संयोज्य कण भी हो सकता है, क्योंकि महर्षि का कथन है- 'यजमानो हि सूक्तम्' (ऐ. ६.६)। तब सिद्ध होगा कि जब किसी संयोज्य कण का अतिक्रमण करके निविद् रश्मियों का प्रक्षेपण होता है, उस समय वह कण एवं निविद् रश्मिसमूह अपने स्थान से च्युत हो जाता है। यहाँ 'हन्' धातु का अर्थ 'मारना वा नष्ट करना' ग्रहण करने पर यह परिणाम सिद्ध किया गया है और इस अर्थ की संगति 'वास्तु' के 'गृहम् निवासस्थानम्' अर्थ के साथ है। यदि 'वास्तु' का अर्थ 'अवीर्यम्' ग्रहण करें तब 'हन्' धातु का अर्थ प्राप्त करना ग्रहण करके अर्थ होगा कि यदि सूक्त का अतिक्रमण करके निविद् रश्मियां प्रक्षिप्त होती हैं, तब वे अवीर्यत्व अर्थात् बलहीनता व तेजहीनता को प्राप्त करके किसी भी पदार्थ के निर्माण में अक्षम हो जाती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- निविद् रश्मियों के प्रक्षेपण के समय यदि किसी सूक्त रूप विकिरण समूह अथवा किसी कण का अतिक्रमण हो जाता है, तब वह विकिरण किसी मूलकण को उत्पन्न करने में अक्षम हो जाता है तथा वह कण, जिसका अतिक्रमण हुआ है, वह संयोग की क्षमता खो बैठता है; क्योंकि उसके लिए अपेक्षित ऊर्जा को खो बैठता है। इसके साथ ही ये विकिरण अथवा कण अपने स्थान से भी भ्रष्ट हो जाते हैं तथा वापिस अपनी स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, इस कारण सूक्त व कण का अतिक्रमण भी नहीं होता।।

८. अन्यत् तद्दैवतं तच्छन्दसं सूक्तमाहृत्य तस्मिन् निविदं दध्यात्।।
'मा प्र गाम पथो वयम्' इति पुरस्तात् सूक्तस्य शंसति।।
पथो वा एष प्रैति, यो यज्ञे मुह्यति 'मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः' इति यज्ञादेव तन्न प्रच्यवते।।
'माऽन्तः स्थुर्नो अरातयः' इत्यरातीयत एव तदपहन्ति।।
यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि इति।।
प्रजा वै तन्तुः, प्रजामेवास्मा एतत्संतनोति।।
'मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन' इति।।
मनसा वै यज्ञस्तायते मनसा क्रियते।।
सैव तत्र प्रायश्चित्तिः, प्रायश्चित्तिः।।११।।

{बन्धुः = संबन्धानात् (नि.४.२१), धननाम (निघं.२.१०), भ्रातृवत्प्राणः (म.द.ऋ.भा.१.१६४.३३)। गोपाः = प्राणो वै गोपाः (जै.उ.३.६.६.२)।}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त परिस्थिति में जब सूक्त रश्मि वा निविद् रश्मि वा संयोज्य कण अपने मार्ग, स्थान व शक्ति से भटक वा हीन हो जाते हैं, उस समय उन्हें समुचित मार्ग, स्थान वा शक्ति की ओर वापिस लाने के लिए उसी देवता व छन्द वाले अन्य सूक्त में निविद् रश्मियों को स्थापित किया जाता है। पूर्व में जो कण वा सूक्त के भी भ्रान्त होने की बात कही गयी है, उसे इस सन्दर्भ में देखना चाहिए कि सर्वप्रथम निविद् रश्मियों का ही भटकाव होता है, तदुपरान्त ही सूक्त व संयोज्य कण स्वयं ही भटक जाते वा हीनवीर्य हो जाते हैं। यहाँ उस ऐसी परिस्थिति के निवारण की ही चर्चा की गयी है।।

इस परिस्थिति में जो अन्य समान स्वरूप वाले सूक्त के अन्दर उन भ्रान्त व हीनवीर्य निविद् रश्मियों को स्थापित करने की चर्चा है, उसी प्रसंग में महर्षि कहते हैं कि उस नवीन सूक्त को आकर्षित करने वा उत्पन्न होने से पूर्व बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गोपायनाः ऋषि प्राणों अर्थात् विभिन्न प्रकार के बन्धन बलों से युक्त तथा विभिन्न प्राण रश्मियों के मार्गों के रक्षकरूप प्राणों यथा- वरुण अर्थात् अपान प्राण, सूत्रात्मा वायु आदि से विश्वेदेवा देवताक

मा प्र गा॑म प॒थो व॒यं मा य॒ज्ञादि॑न्द्र सो॒मिनः॑। मान्तः स्थु॑र्नो अरा॑तयः।।१।।
यो य॒ज्ञस्य॑ प्र॒साध॑न॒स्तन्तु॑र्दे॒वेष्वात॑तः। तमाहु॑तं नशीमहि।।२।।
मनो॒ न्वा हु॑वामहे नाराशं॒सेन॒ सोमे॑न। पि॒तॄ॒णां च॒ मन्म॑भिः।।३।। इत्यादि (ऋ.१०.५७.१-३)

तृच की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थ वा संयोज्य पदार्थ प्रभावित होते हैं। इन तीनों ऋचाओं का अन्य प्रभाव आगे की कण्डिकाओं में लिखा जाएगा। यहाँ प्रथम ऋचा के प्रथम पाद का प्रभाव लिखते हैं-

इस ऋचा का छन्द गायत्री होने से भ्रान्त निविद् रश्मि आदि के तेज व बल समृद्ध होते हैं, जिससे उनकी गति, दिशा व बल व्यवस्थित होने लगते हैं, यही इसके प्रथम पाद का प्रभाव होता है।।

जो निविद् रश्मियां, सूक्तादि वा कण संयोग-वियोग प्रक्रिया से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे अपने-२ मार्ग, बल व तेज से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। उस समय प्रथम छन्द रश्मि के द्वितीय पाद 'मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः' के प्रभाव से विभिन्न सोम रश्मियों से युक्त संयोग-संगतीकरण की प्रक्रिया से वे इन्द्रतत्त्व आदि सभी पदार्थ भ्रष्ट नहीं हो पाते हैं किंवा भ्रष्ट हुए भी वापिस पूर्वस्थिति को प्राप्त करने लगते हैं।।

उसी छन्दरश्मि का तृतीय पाद 'माऽन्तः स्थुर्नो अरातयः' पाद के प्रभाव से 'अरातयः' अर्थात् संयोग प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करने वाली असुरादि रश्मियों को नष्ट किया जाता है। जब भ्रान्त उपर्युक्त रश्मियां वा कण पुनः व्यवस्थित होने लगते हैं, उस समय असुरादि पदार्थ भी बाधा बन कर आ खड़े होते हैं। इस पाद रश्मि के प्रभाव से उनको दूर किया जाता है किंवा नष्ट कर दिया जाता है।।

इसके पश्चात् निचृद् गायत्री छन्दस्क ऋचा "यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि।" की उत्पत्ति होती है। इस ऋचा में 'तन्तुः' पद का अर्थ प्रजा है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से तेज व बल पूर्व रश्मि की अपेक्षा तीव्र होता है। इसके प्रभाव से संसर्ग प्रक्रिया को पुनः सिद्ध करने वाला पूर्वोक्त नवीन सूक्त रूप विकिरण समूह, जो तन्तु अर्थात् प्रजारूप होता है, वह सब ओर फैलने लगता है। फिर वे भ्रष्ट निविद् रश्मि आदि पदार्थ उसे प्राप्त करने लगते हैं अर्थात् व्यवस्थित होने लगते हैं। यह 'णश अदर्शने' धातु व्याप्ति अर्थ में प्रयुक्त है, जैसा कि कहा है- "नशत् व्याप्तिकर्मा" (निघं. २.१८)। इस रश्मि-प्रभाव से प्रकृष्टरूपेण जन्मा यह सूक्त रूप रश्मिसमूह अविच्छिन्नरूपेण व्याप्त होकर निविद् आदि पदार्थों को पुनः व्यवस्थित करने लगता है और तीव्र गति से वह ऐसा करता है।।+।।

तदुपरान्त तृतीय छन्द रश्मि जिसका छन्द भी उपर्युक्तवत् है, का पूर्वार्ध प्रकट होता है। यह

पूर्वार्ध है- "मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन" इसका छान्दस प्रभाव उपर्युक्तवत् है। इसके अन्य प्रभाव से मनस्तत्त्व अन्तरिक्ष में स्थित सोम अर्थात् मरुद्रश्मियों को आकर्षित करके पूर्वोक्त सूक्त रश्मिसमूह के साथ संयुक्त करने में सहायक व प्रेरक बनता है। इसके कारण वे रश्मियां भ्रष्ट हुए निविदादि पदार्थों को परस्पर निकट आने में सहयोग करती हैं, जिससे उपर्युक्त प्रक्रिया तीव्रतर हो जाती है। मूलतः इस मनस्तत्त्व के कारण ही सृजन कर्म किया जाता है और इसी के कारण वह कर्म विस्तृत भी होता है।।+।।

इस प्रकार इन छन्द रश्मियों से सृजन-संयोग प्रक्रिया की प्रायश्चित्ति होती है। यहाँ सर्गयज्ञ को पुनः संगत करना अर्थात् भ्रष्ट रश्मि आदि पदार्थों को पुनः व्यवस्थित करके सृजन कर्मों को सम्पादित करना ही प्रायश्चित्ति है। इसी कारण मनीषी वेदवेत्ता ऋषि ने कहा- "यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः" (मै. १.८.३)। महर्षि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद भाष्य ३६.१२ में इस शब्द का अर्थ "पापनिवारण" किया है। इससे सिद्ध है कि ये छन्द रश्मियां पूर्वोक्त कारणों से भ्रष्ट हुई सम्पूर्ण सर्ग प्रक्रिया को निरापद ढंग से सम्पन्न करने में पूर्ण सक्षम होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपरि-कण्डिकाओं में वर्णित भ्रष्ट स्थिति बनने पर अर्थात् विभिन्न रश्मियों व कणों के सृष्टि प्रक्रिया से हट जाने व उनके यत्र-कुत्र भटकने वा शान्त पड़े रहने पर कुछ गायत्री छन्द रश्मियां प्रकट होती हैं। इन रश्मियों के विषय में व्याख्यान भाग द्रष्टव्य है। इन रश्मियों के पश्चात् जो सूक्त अर्थात् विकिरण समूह, निविद् रश्मियां व कण सृष्टि प्रक्रिया से भटक गये थे, उन्हीं के समान स्तर वाला अन्य कोई भी रश्मिसमूह उत्पन्न होकर उन भ्रष्ट वा विचलित एवं क्षीणबल हुए रश्मिसमूह वा कणों को पूर्व स्थिति में लाने की प्रक्रिया प्रारम्भ करने लगता है। फिर धीरे-२ पूर्ववत् स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस व्यवधान व उसके दूर करने के मार्ग में डार्क एनर्जी का भी व्यवधान होता है, उसे भी ये गायत्री रश्मियां दूर कर देती हैं।।

॥ इति ११.११ समाप्तः ॥

॥ इति एकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

द्वादशोऽध्यायः

मूल कण

n | p | e^-

विद्युद् उदासीन कण
Neutron/Photon

विद्युद् धनावेशित कण

विद्युद् ऋणावेशित कण

"पिन्वन्त्यः"
जगती छन्द रश्मि

"अग्निर्नेता"
त्रिष्टुप् रश्मि

"त्वं सोम क्रतुभिः"
त्रिष्टुप् रश्मि

धाय्या संज्ञक रश्मियां

।। ओ३म् ।।
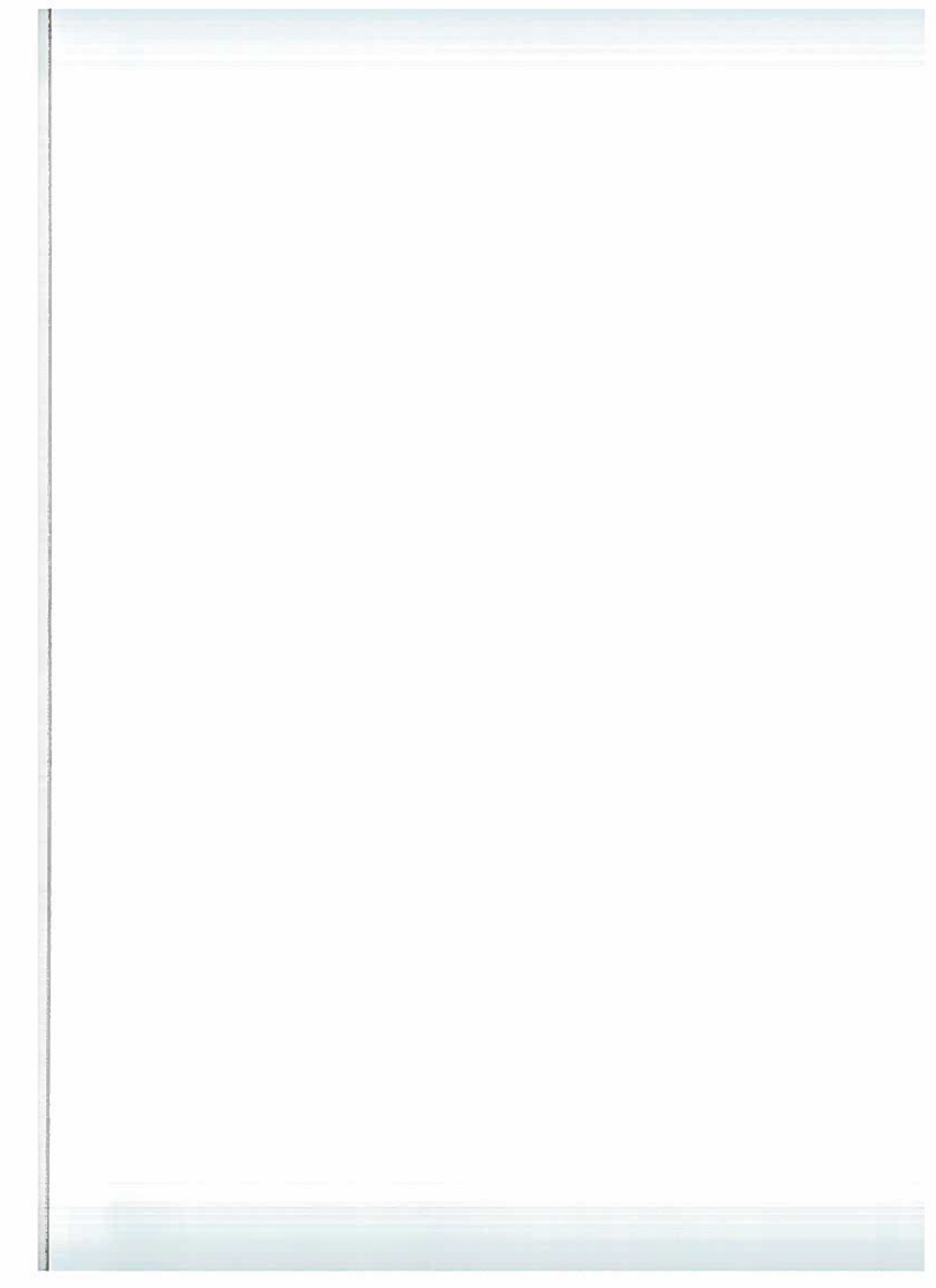
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

अनुक्रमणिका

१२.१	देवविश-प्रातःसवन-अध्वर्यु, सूक्ष्म रश्मियों से स्थूल गायत्री रश्मियों का निर्माण। मध्यन्दिन-त्रिष्टुप्-उक्थ, त्रिष्टुप् रश्मियों का निर्माण, जगती रश्मियों का निर्माण, अन्य रश्मियों व कणों का निर्माण।	670
१२.२	प्रजापति-गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-वसु-रुद्र-आदित्य, इन रश्मियों की उत्पत्ति का क्रम। अनुष्टुप्-आच्छावाकीय-पापीष्ठ-सोम, सभी छन्द रश्मियों की आच्छादिका अनुष्टुप् छन्द रश्मियां। असुर तत्त्व की उत्पत्ति। अनुष्टुप् रश्मियों से रहित छन्द रश्मियां सृष्टि प्रक्रिया में अनुपयोगी।	676
१२.३	अग्नि-होता-मृत्यु-बहिष्पवमान-अनुष्टुप्-आज्य-प्रउग, असुर तत्त्व निवारण में अनुष्टुप् का योगदान, प्रउग रूप ७ तृच रश्मियों की उत्पत्ति। माध्यन्दिन-पवमान-मरुत्वतीय-अनुष्टुप्-बृहती-स्तोत्रिय, सृष्टि के द्वितीय चरण में कॉस्मिक मेघों पर हो रहे असुर तत्त्व प्रहार को नियन्त्रित करने में अनुष्टुप् और बृहती रश्मियों की भूमिका। तृतीयसवन -अनुष्टुप्-वैश्वदेव-मृत्यु, तारों के निर्माण के समय असुर तत्त्व निवारण में अनुष्टुप् रश्मियों की भूमिका, वैश्वानरीय-आग्निमारुत-मृत्यु-वज्र-आयु-यज्ञायज्ञीय, तारों के केन्द्रीय भाग में असुर तत्त्व निवारण में जगती व पंक्ति रश्मियों की भूमिका।	680
१२.४	इन्द्र-वृत्र-परावत-वाक्-अनुष्टुप्-पितर, कॉस्मिक मेघों के निर्माण के पूर्व असुर तत्त्व और देव पदार्थ में संग्राम, विद्युद् और अनुष्टुप् की भूमिका। इन्द्र-आशीष्ठ, विद्युत् तरंगों के परितः मरुद् रश्मियों की क्रीड़ा, कॉस्मिक धूल व गैस का संघनन प्रारम्भ।	688
१२.५	इन्द्र-वृत्र-मरुत्-प्राण-प्रगाथ, विद्युत् तरंगों के साथ मरुद् रश्मियों की सदैव संगति का कारण।	691
१२.६	ब्रह्मणस्पति-बृहस्पति-पुरोहित, सभी मूल कणों के अग्र भाग में प्राणापान एवं सूत्रात्मा वायु की विद्यमानता। प्रगाथ-शस्त्र-स्तुत, वेद संहिताओं वा शाखाओं में अनुपलब्ध ऋचाओं की उत्पत्ति का विज्ञान, विभिन्न छन्द रश्मियों का पारस्परिक सामंजस्य। सामगा-रौरव-यौधाजय-प्रगाथ-स्तोत्र-शस्त्र-निविद्धान, छन्द रश्मियों के विभिन्न खण्डों की संगति से नवीन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति, कॉस्मिक मेघों के वनने की प्रकिया, असुर तत्त्व वाधा और निवारण।	693

१२.७	धाय्या-प्रजापति-लोक, एक ही कण से विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-२ रश्मियों के उत्सर्जन के कारण भिन्न-२ पदार्थों का निर्माण। छिद्र-स्यूम-धाय्या, सब छन्दों को बांधने वाली विभिन्न छन्द रश्मियां। उक्थ-उपसद, विद्युत् धनावेशित, ऋणावेशित एवं उदासीन मूल कणों के निर्माण में संधानक छन्द रश्मियों की भूमिका। भरत, विभिन्न रश्मियों को संयुक्त करने वाली रश्मियों की निश्चितता। वृष्टिवनि-मरुत्-विष्णु-वाजी-इन्द्र-सायम्गोष्ठा-तृतीयसवन-मध्यन्दिन, ऊर्जा उत्सर्जन व अवशोषण में जगती रश्मियों की भूमिका, जगती रश्मि विशेष की संयोग प्रक्रिया में भूमिका, प्रलय काल में रश्मियों की गति की क्रमिक क्षीणता।	701
१२.८	कॉस्मिक मेघों के निर्माण में एक निश्चित वृहती छन्द रश्मि की भूमिका। देवयोनि, उपर्युक्त कार्य में कुछ त्रिष्टुप् रश्मियों की भी भूमिका। गौरिवीत, नेब्यूलाओं के निर्माण में ११ त्रिष्टुप् रश्मियों की भूमिका। निवित्-स्वर्गलोक, पूर्वोक्त त्रिष्टुप् रश्मियों के साथ एक अन्य त्रिष्टुप् या पंक्ति छन्द रश्मि की भूमिका। क्षत्र-विट्-निवित्-सूक्त, तारों के निर्माण में आकार सुनिश्चित करने की प्रक्रिया। सुपर्ण-चक्षु-निधा, पूर्वोक्त ११ त्रिष्टुप् रश्मियों की पारस्परिक संगति एवं दृश्य पदार्थ का प्रदीप्त होना।	707
१२.९	इन्द्र-वृत्र-देव-भग-सख्य, कॉस्मिक मेघों पर असुर आक्रमण, त्रिष्टुप् और विद्युत् द्वारा उसका निवारण। सचित-निष्केवल्य-ग्रह-प्रगाथ-सूक्त-निवित्, विद्युत् तरंगों के ऊपर प्राणापान रश्मियों की भूमिका। मघवन्-शम्बर-हरिव-विप्र-सोमपीथ, सभी रश्मियों को सक्रिय करने वाली त्रिष्टुप् रश्मि की उत्पत्ति।	713
१२.१०	इन्द्र-वृत्र-प्रजापति-महेन्द्र, असुर तत्त्व का पूर्ण पराभव और ब्रह्माण्ड की अति सक्रियता व प्रकाशशीलता। माहेन्द्रग्रह-निष्केवल्य-पृष्ठसाम, विद्युत् का विभिन्न बल रश्मियों से कार्य-कारण अथवा कारण-कार्य सम्बन्ध की अनिवार्यता, असुर तत्त्व निवारण में विद्युत् की भूमिका।	716
१२.११	इन्द्र-प्रिया-जाया-ववाता-प्रासहा-स्त्री-पति, अपान किंवा "भुवः" रश्मियों का संयोजक प्रभाव। स्नुषा-श्वसुर-सेना-लज्जमाना, असुर तत्त्व भेदन में विद्युन्मय गायत्री एवं प्राणापान की भूमिका। याज्या-इन्द्र-निष्केवल्य-वसु, रुद्र आदि देवता-देवपात्र-अक्षरभाज, असुर तत्त्व निवारण और कॉस्मिक मेघ निर्माण में विराट् त्रिष्टुप् की भूमिका, अन्य छन्द रश्मियों से कॉस्मिक मेघों के निर्माण की प्रक्रिया में विराम।	720
१२.१२	ऋक्-साम का मिथुन-जाया-पति, ऋक् और साम रश्मियों की मनस् तत्त्व रूपी जल में विभिन्न प्रकार की ऊर्मियों के रूप में निर्माण प्रक्रिया। साम-आहाव-हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीथ-प्रतिहार-निधन-वषट्कार-पांक्तोयज्ञ , ऋक् और साम रश्मियों से विभिन्न दृश्य मूल कणों एवं असुर पदार्थ	725

एवं आकाश, दिशा आदि के निर्माण की प्रक्रिया, इस प्रक्रिया के पांच मुख्य चरण। विराज-दशिनी-आत्मा-स्तोत्रिय-प्रजा-अनुरूप-पत्नी-धाय्या-पशु-प्रगाथ-गृह-सूक्त।

१२.१३ आत्मा-स्तोत्रिय-प्रजा-अनुरूप, ऋक् और साम रश्मियों का विज्ञान। पत्नी-धाय्या-गृह, धाय्या रश्मियों का स्वरूप व उनका आयाम। प्रगाथ-पशु-स्वर, ब्रह्माण्ड में बिखरी विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों के मेल से अनेक छन्द रश्मियों का निर्माण। इन्द्र-निष्केवल्य-हिरण्यस्तूप, कॉस्मिक मेघों का निर्माण, इसमें १५ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की भूमिका। गृह-प्रतिष्ठा-पशु, विभिन्न रश्मियों को आकर्षित करने में त्रिष्टुप् की विशेष भूमिका, इनका मनस् तत्त्व से दृढ़तर बन्धन। 730

ॐ अथ १२.१ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुश्छन्दश्छन्दसि प्रतिष्ठाप्यमिति शोंसावोमित्याह्वयते प्रातःसवने त्र्यक्षरेण, शंसाऽऽमोदैवोमित्यध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरेण, तदष्टाक्षरं संपद्यते, अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रीमेवतत्पुरस्तात् प्रातःसवनेऽचीक्लृपताम् ।।

{देवविशः = मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्षभाजनाईश्वराः (कौ.ब्रा.७.८)। कल्पयितव्याः = (कृप् अवकल्कने = मिश्रित करना, चित्रित करना - सं.धा.को. - पं.युधिष्ठिर मीमांसक)}

व्याख्यानम्- अब महर्षि गायत्री आदि के निर्माण की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। यहाँ प्राजापत्य छन्द रश्मियों किंवा आर्षी छन्दों के पादों के निर्माण का वर्णन करते हैं। इस विषय में कहते हैं कि देवविश् अर्थात् आकाश में विद्यमान विभिन्न मरुद् रश्मियां परस्पर मिश्रित व चित्रित होती रहती हैं। इन मरुद् रश्मियों को देवविश् कहने का अभिप्राय यह है कि ये विभिन्न देवकणों में प्रविष्ट रहती हैं तथा ये ही विभिन्न छन्दादि रश्मियों का रूप धारण करके नाना सृष्टि करने में समर्थ होने के कारण किंवा ये नाना क्रियाओं व द्रव्यों को नियन्त्रित करने के कारण ईश्वर कहाती हैं। ये मरुद् रश्मियां सूक्ष्म छन्द रूप ही होती हैं, जैसा कि हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। इन छन्द रश्मियों को परस्पर मिश्रित करके एक-दूसरे में प्रतिष्ठित किया जाता है। इस प्रकार एक से दूसरी मिश्रित होकर एक नवीन तीसरी छन्द रश्मि उत्पन्न हो जाती है। यहाँ इसकी उदाहरणरूप प्राजापत्या गायत्री छन्द रश्मि के निर्माण की प्रक्रिया बतलाते हैं। जब पूर्वोक्त आहावसंज्ञक "शोंसावोम्" त्र्यक्षरा सूक्ष्म छन्द रश्मि रूपी मरुत् सब ओर प्रकट हो जाते हैं, उसी समय प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में "शंसाऽऽमो दैवोम्" की उत्पत्ति
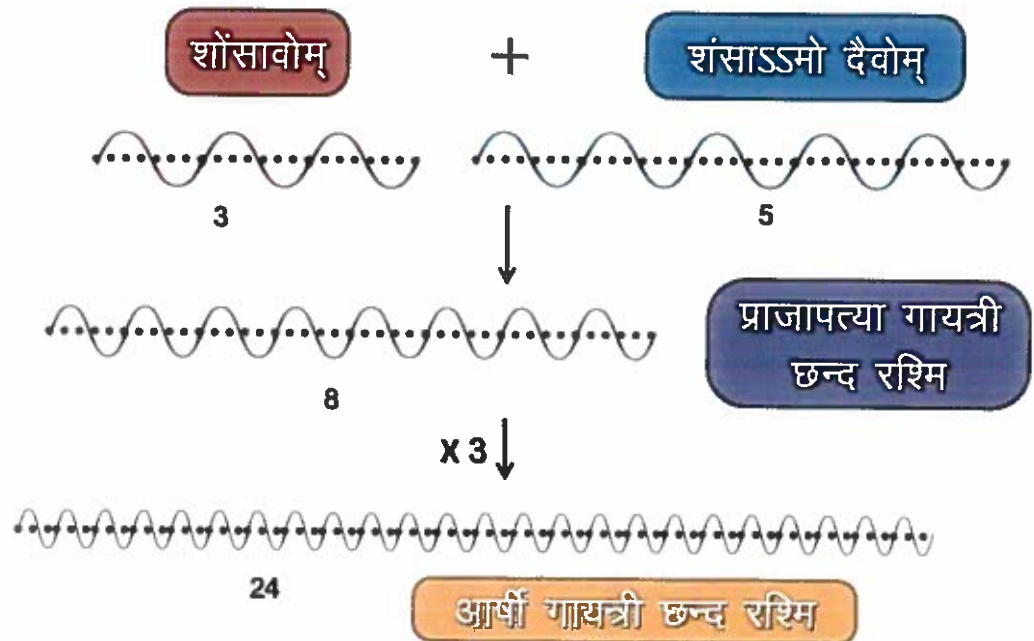
चित्र १२.१ गायत्री छन्द रश्मियों के निर्माण की प्रथम प्रक्रिया

होती है। ध्यातव्य है कि त्र्यक्षरा 'शोंसावोम्' रश्मि की उत्पत्ति मनस्तत्त्व रूप होता से तथा दूसरी 'शंसाऽऽमो दैवोम्' यह पांच अक्षर युक्त रश्मि प्राणापान रूप अध्वर्यु से उत्पन्न होती है। फिर इन दोनों के मिश्रित होने से आठ अक्षर वाली प्राजापत्या गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न हो जाती है। इसके तीन संयुक्त रूपों से २४ अक्षर वाली आर्षी गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि के प्रथम चरण में गायत्री छन्द उत्पन्न व प्रकाशित होने लगते हैं। ध्यातव्य है कि सभी छन्द रश्मियां मूलतः एकाक्षरा दैवी गायत्री छन्द रश्मियों से उत्पन्न होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– विभिन्न छन्द रश्मियां अपनी अपेक्षा सूक्ष्मतर छन्द रश्मियों के मिश्रण से उत्पन्न होती हैं। दैवी गायत्री छन्द रश्मियां एकाक्षरा होने से सर्वाधिक सूक्ष्म व सभी छन्द रश्मियों का मूल कारण होती हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में व्याख्यान भाग में वर्णित दो रश्मियों के परस्पर संयुक्त हो जाने से गायत्री छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जिसके कारण ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म दीप्ति वर्धमान होती है।।

२. उक्थं वाचीत्याह शस्त्वा चतुरक्षरम्, ओमुक्थशा इत्यध्वर्युश्चतुरक्षरं, तदष्टाक्षरं संपद्यते, अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रीमेव तदुभयतः प्रातःसवनेऽचीक्लृपताम्।।

व्याख्यानम्– यहाँ उपर्युक्त अष्टाक्षरा गायत्री छन्द रश्मि के निर्माण का दूसरा प्रकार बतलाते हैं। इस विषय में महर्षि आश्वलायन लिखते हैं–

"उक्थं वाचीत्येषां शस्त्वा जपः प्रातः सवने" (आश्व.श्रौ.५.१०.२२) यहाँ प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में 'शोंसावोम्' के स्थान पर 'उक्थं वाचि' इस चतुरक्षरा छन्द रश्मि की उत्पत्ति अकस्मात् एवं अति तीव्रगत्या होती है, जैसी कि 'शोंसावोम्' की होती है। इस रश्मि की भी यहाँ 'जप' संज्ञा की है। इससे स्पष्ट है कि यह छन्द रश्मि भी मनस्तत्त्व से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि इस शब्द की व्युत्पत्ति 'जप व्यक्तायां वाचि मानसे च' से होती है। इसकी उत्पत्ति के तत्काल पश्चात् प्राणापान रूप अध्वर्यु से 'ओमुक्थशा' इस दूसरी चतुरक्षरा छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। दोनों छन्द रश्मियों में कुल आठ अक्षर हो जाते हैं। प्राजापत्या गायत्री तथा आर्षी गायत्री के एक पाद में भी आठ ही अक्षर होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियों के मेल से गायत्री छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार से गायत्री छन्द रश्मियां ही चित्रित वा प्रकाशित होती हैं।।
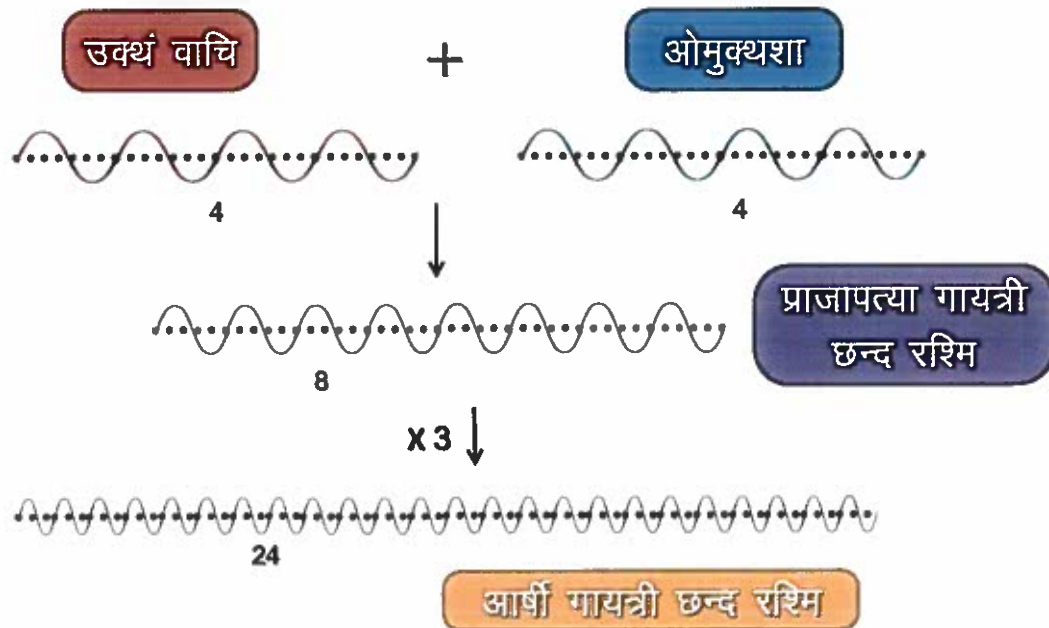
चित्र १२.२ गायत्री छन्द रश्मियों के निर्माण की द्वितीय प्रक्रिया

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ चार-२ अक्षर वाली छन्द रश्मियों के मेल से गायत्री छन्द रश्मियों के निर्माण की दूसरी प्रक्रिया बतलायी गयी है। वस्तुतः विभिन्न छन्द रश्मियों की उत्पत्ति कई प्रकार से सम्भव है। इन रश्मियों के स्वरूप के लिए व्याख्यान भाग द्रष्टव्य है।।

३. अध्वर्यो शोंसावोमित्याह्वयते मध्यंदिने षळक्षरेण; शंसाऽऽमोवैवोमित्यध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरेण, तदेकादशाक्षरं संपद्यते, एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रिष्टुभमेव तत्पुरस्तान्मध्यंदिनेऽचीक्लृपताम्, उक्थं वाचीन्द्रायेत्याह शस्त्वा सप्ताक्षरमोमुक्थशा इत्यध्वर्युश्चतुरक्षरं, तदेकादशाक्षरं संपद्यते, एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रिष्टुभमेव तदुभयतो मध्यंदिनेऽचीक्लृपताम् ।।

व्याख्यानम्- इस विषय में महर्षि आश्वलायन का कहना है-

"अध्वर्यो शोंसावोमिति माध्यन्दिने शस्त्रादिष्वाहावः" (आश्व.श्रौ.५.१४.३) इसका तात्पर्य है कि प्रातःसवन अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भिक चरण किंवा गायत्री छन्द रश्मियों के निर्माण हेतु उपर्युक्त त्र्यक्षरा छन्द रश्मि आहाव किंवा जप संज्ञक होती है, जबकि मध्यंदिन सवन अर्थात् सृष्टि के द्वितीय चरण किंवा त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के निर्माण हेतु षडक्षरा 'अध्वर्यो शोंसावोम्' छन्द रश्मि आहाव संज्ञक होती है। इससे स्पष्ट है कि यह छन्द रश्मि सब ओर से सबको अपनी ओर आकर्षित करती हुई व्याप्त होती जाती है। इसकी उत्पत्ति भी मनस्तत्त्व से होती है। इसकी उत्पत्ति के तत्काल पश्चात् प्राणापान से 'शंसाऽऽमोदैवोम्' इस पूर्वोक्त पञ्चाक्षरा छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इन दोनों छन्द रश्मियों के मिलाकर कुल ग्यारह अक्षर हो जाते हैं। प्राजापत्या त्रिष्टुप् छन्द रश्मि किंवा आर्षी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के एक पाद में भी ग्यारह अक्षर होते हैं। इस प्रकार इन दोनों रश्मियों के मिलने से सृष्टि के द्वितीय चरण में जबकि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की विशेष प्रधानता होती है, त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां चित्रित, निर्मित व प्रकाशित होती हैं।
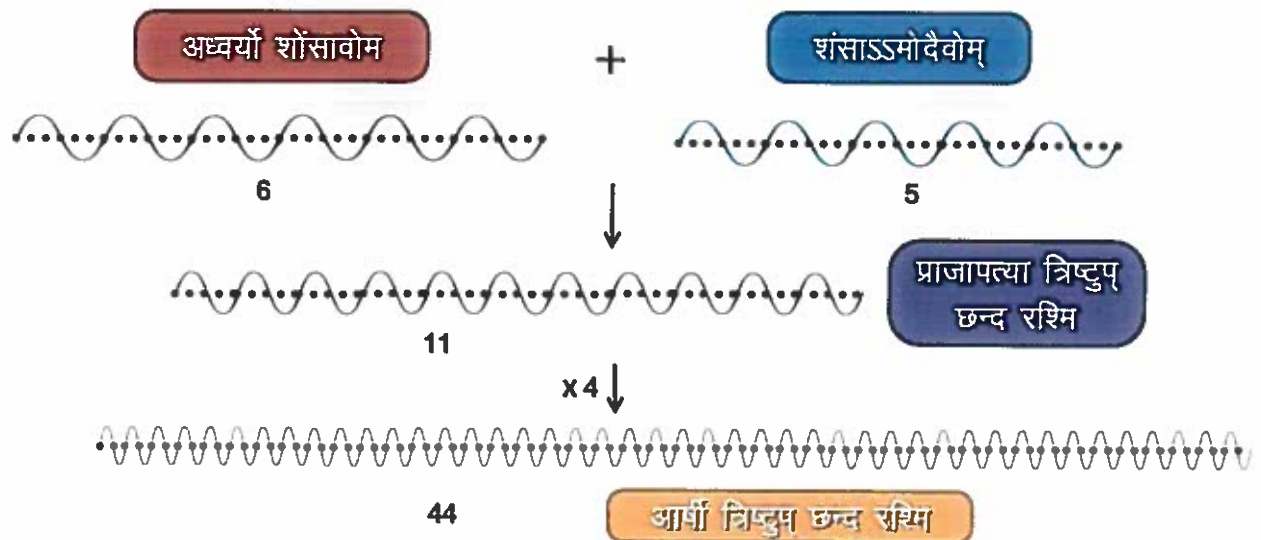
चित्र १२.३ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के निर्माण की प्रथम प्रक्रिया

अब अन्य प्रकार से त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के निर्माण की चर्चा करते हैं। इस विषय में महर्षि आश्वलायन का कथन है-

"उक्थं वाचीन्द्रायेति माध्यन्दिन उक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्य इत्युक्थ्येषु सषोळशिकेषु।" (आश्व.श्रौ.५.१०.२४) उधर महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के निर्माणार्थ सर्वप्रथम

मनस्तत्व रूप होता 'उक्थं वाचीन्द्राय' इस रश्मि को उत्पन्न करता है। इस षडक्षरा प्रतीत होने वाली इस छन्द रश्मि में महर्षि स्वयं सात अक्षर बतला रहे हैं। इस विषय में आचार्य सायण भाष्य में पाद टिप्पणी में भट्टभास्कर को उद्धृत करते हुए लिखा है- "वाचि इन्द्रायेत्यत्र सवर्णदीर्घमकृत्वो(वा)क्षरसंख्या गणयितव्या। - इति भट्टभास्करः।" इस प्रकार इस सप्ताक्षरा छन्द रश्मि की उत्पत्ति के उपरान्त प्राणापान नामक अध्वर्यु पूर्ववत् "ओमुक्थशा" इस चतुरक्षरा छन्द रश्मि को उत्पन्न करती है। इन दोनों के अक्षर मिलाकर कुल ग्यारह अक्षर हो जाते हैं। ग्यारह अक्षर ही प्राजापत्या त्रिष्टुप् छन्दरश्मि किंवा आर्षी त्रिष्टुप् के एक पाद में होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियों के मिश्रित होने से ग्यारह अक्षर वाली त्रिष्टुप् रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार गायत्री छन्द रश्मि की भाँति त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति की भी दो विधियां हैं। वस्तुतः और भी सूत्र सम्भव हैं, यहाँ दो सूत्रों का ही उल्लेख है।।
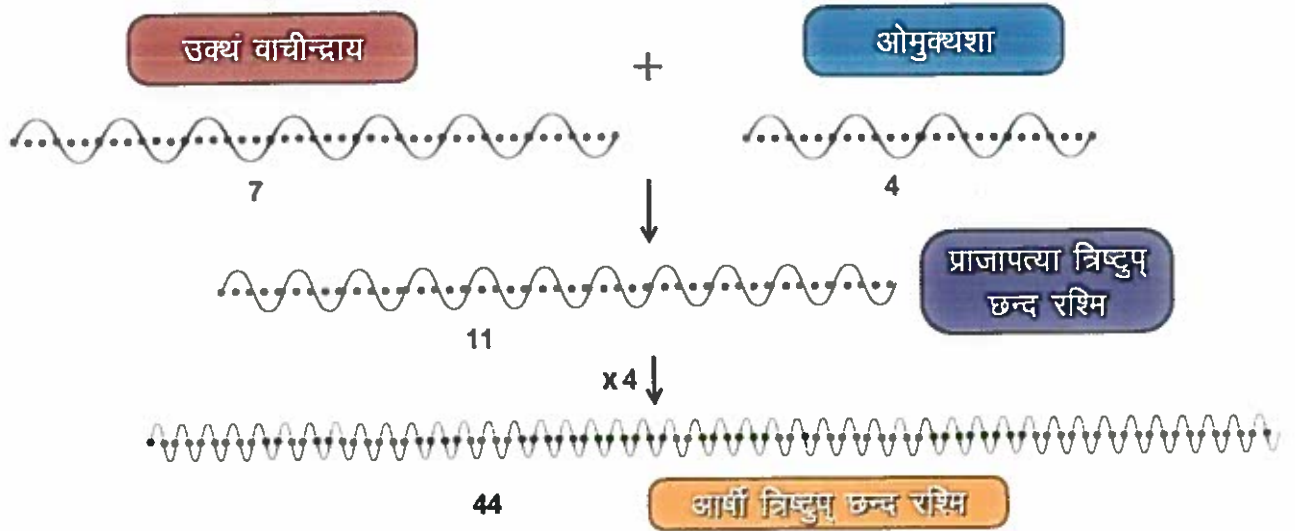
चित्र १२.४ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के निर्माण की द्वितीय प्रक्रिया

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ महर्षि ने त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के निर्माण के लिए दो सूत्र बतलाए हैं, जिनमें से प्रथम सूत्र में प्रथम छन्द रश्मि छः अक्षर वाली एवं द्वितीय छन्द रश्मि पांच अक्षर वाली होती है। इन दोनों के मिलने से ग्यारह अक्षर वाली त्रिष्टुप् रश्मियां उत्पन्न होती हैं। दूसरा सूत्र यह है कि प्रथम छन्द रश्मि सात अक्षर वाली तथा द्वितीय चार अक्षरों वाली छन्द रश्मियां मिलकर त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों का निर्माण करती हैं। यह प्रक्रिया प्रायः सृष्टि प्रक्रिया के मध्य चरण में होती है। रश्मियों के बारे में विशेष ज्ञान हेतु व्याख्यान भाग द्रष्टव्य है।।

४. अध्वर्यो शोशोंसावोमित्याह्वयते तृतीयसवने सप्ताक्षरेण, शंसाऽऽमोदैवोमित्यध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरेण, तद्द्वादशाक्षरं संपद्यते, द्वादशाक्षरा वै जगती, जगतीमेव तत्पुरस्तात् तृतीयसवनेऽचीक्लृपताम्, उक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्य इत्याह शस्त्वैकादशाक्षरमोमित्यध्वर्युरेकाक्षरं, तद् द्वादशाक्षरं संपद्यते, द्वादशाक्षरा वै जगती, जगतीमेव तदुभयतस्तृतीयसवनेऽचीक्लृपताम्।।

व्याख्यानम्- इस विषय में महर्षि आश्वलायन ने कहा है-

"अध्वर्यो शोशोंसावोमिति तृतीयसवने शस्त्रादिष्वाहावः।" (आश्व.श्रौ.५.१८.४) इसी को दृष्टिगत रखते हुए महर्षि कहते हैं कि तृतीयसवन अर्थात् सृष्टिप्रक्रिया के तृतीय चरण किंवा जगती छन्द रश्मियों के निर्माणार्थ मनस्तत्त्व रूप होता पूर्वोक्त षडक्षर छन्द में एक अक्षर को संयुक्त करके "अध्वर्यो

शोशोंसावोम्" इस सप्ताक्षर छन्द रश्मि को उत्पन्न करता है। इसके तत्काल पश्चात् ही प्राणापान रूप अध्वर्यु पूर्ववत् "शंसाऽऽमोदैवोम्" इस पञ्चाक्षरा छन्द रश्मि को उत्पन्न करता है। इन दोनों छन्द रश्मियों की कुल अक्षर संख्या वारह हो जाती है। उधर प्राजापत्या जगती छन्द रश्मि में तथा आर्षी जगती छन्द रश्मि के एक पाद में वारह अक्षर ही होते हैं। इस प्रकार तृतीय सवन के पूर्वभाग में ही इन दोनों प्रकार की रश्मियों को मिश्रित करके जगती छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। वे रश्मियां इन मिश्रित छन्द रश्मियों से मिश्रित होकर ही उत्पन्न होती व प्रकाशित होती हैं।
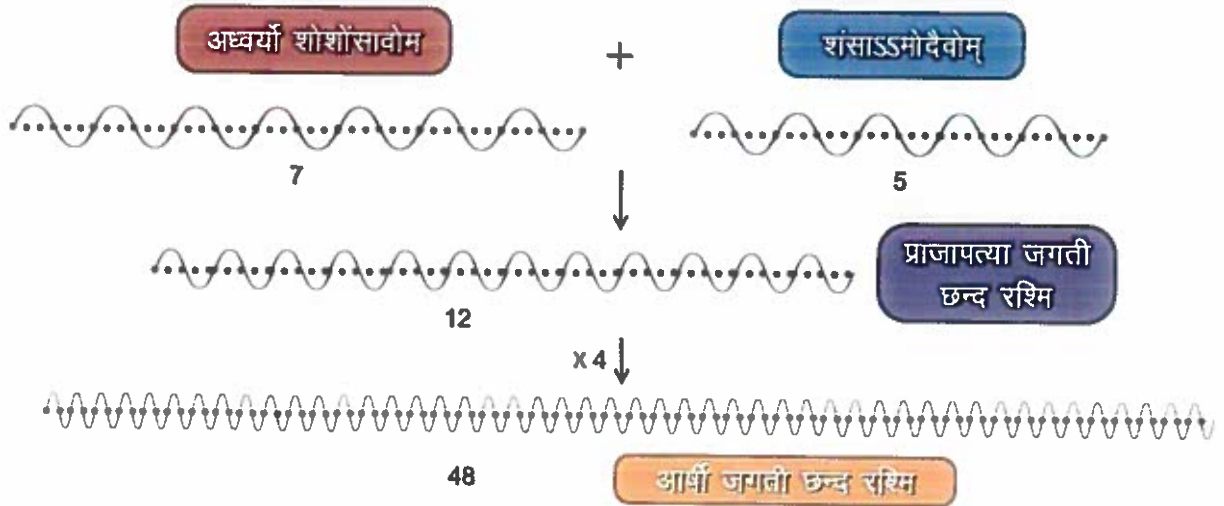
चित्र १२.५ जगती छन्द रश्मियों के निर्माण की प्रथम प्रक्रिया

अव जगती छन्द रश्मि के निर्माण का दूसरा विधि वताते हुए कहते हैं कि मनस्तत्त्व रूप होता से "उक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्यः" छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इस छन्द में ६ अक्षर होने पर भी महर्षि ने इसे एकादशाक्षरा कहा है। इसका समाधान करने हेतु सायण भाष्य में भट्टभास्कर को उद्धृत करते हुए लिखा है- "अत्रापि पूर्ववद् वाचि इन्द्रायेत्यनयोः सवर्णदीर्घमकृत्वा देवेभ्य इत्यत्र च इत्यादि (इयादि) पूरणं कृत्वैकादशाक्षरत्वं सम्पाद्यम् - इति भट्टभास्कर"। इस प्रकार इस एकादशाक्षरा छन्द रश्मि के उत्पन्न होने के पश्चात् प्राणापान से 'ओम्' इस एकाक्षरा दैवी गायत्री छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन दोनों छन्द रश्मियों की अक्षर संख्या वारह हो जाती है। उधर प्राजापत्या जगती छन्द रश्मि में भी वारह अक्षर होते हैं, साथ ही आर्षी गायत्री छन्द रश्मि के प्रत्येक पाद में भी वारह अक्षर होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियों से मिलकर जगती छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इन दोनों ही विधियों से जगती छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। यहाँ पाठकों के मन में यह प्रश्न अवश्य
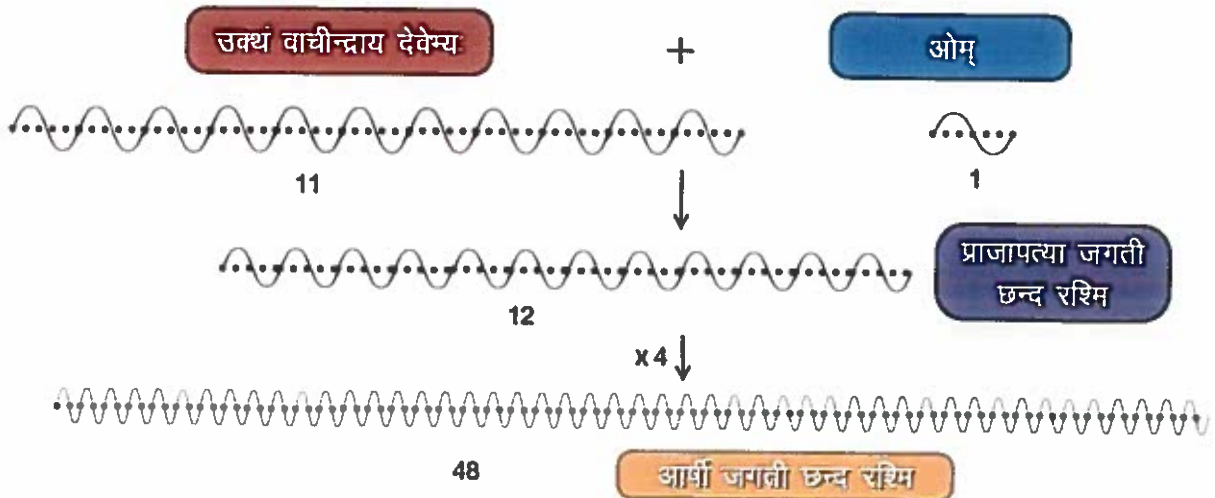
चित्र १२.६ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के निर्माण की द्वितीय प्रक्रिया

उठ सकता है कि प्राणापान 'ओम्' छन्द रश्मि की अपेक्षा स्थूल पदार्थ है, तब इनसे इस सूक्ष्म रश्मि का निर्माण कैसे सम्भव है? इस विषय में हमारा मत है कि यद्यपि सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ का निर्माण सर्वत्र देखा जाता है परन्तु स्थूल से सूक्ष्म पदार्थों का उत्सर्जन भी सर्वविदित है। यहाँ यह उत्सर्जन ही समझना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ महर्षि ने जगती छन्द रश्मियों के निर्माण के भी दो प्रकार बतलाये हैं। प्रथम प्रकार में प्रथम छन्द रश्मि सात अक्षर वाली तथा द्वितीय छन्द रश्मि पांच अक्षर वाली होती है। ये दोनों परस्पर मिलकर जगती छन्द रश्मियों का निर्माण करती हैं। द्वितीय प्रकार में प्रथम छन्द रश्मि ग्यारह तथा द्वितीय छन्द रश्मि एकाक्षरा होती है। यह एकाक्षरा रश्मि **'ओम्'** ही होती है। इन दोनों के मिलने से भी जगती छन्द रश्मियों का निर्माण होता है। इन रश्मियों का निर्माण सृष्टि प्रक्रिया के तृतीय चरण में होता है। इनके कारण ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया सम्पन्न हुआ करती है।।

५. तदेतद् ऋषिः पश्यन्नभ्यनूवाच।। 'यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद् वा त्रैष्टुभं निरतक्षत। यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्त्वमानशुः' इति।। एतद्वै तच्छन्दश्छन्दसि प्रतिष्ठापयति।। कल्पयति देवविशो य एवं वेद।।१।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त छन्दों की मिश्रण प्रक्रिया को दर्शाने वाली एक ऋचा है, जो दीर्घतमा ऋषि अर्थात् ऐसा सूक्ष्म प्राण, जो अत्यन्त व्यापक विस्तार वाला होता है, से उत्पन्न होती है। कदाचित् यहाँ दीर्घतमा का आशय सूत्रात्मा वायु हो सकता है। ध्यातव्य है कि यह ऋचा ऋग्वेद १.१६४.२३ में है। इस ऋचा का सर्वप्रथम ग्रहण अग्नि ऋषि ने किया था, तदुपरान्त दीर्घतमा नामक ऐतिहासिक ऋषि ने इसका साक्षात् करके इसके विज्ञान को विस्तार से जाना। इसका भाव निम्न कण्डिका में वर्णित है।।

गायत्री छन्द रश्मियों के अन्दर गायत्री छन्द रश्मियों, त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों तथा जगती छन्द रश्मियों को जगती छन्द रश्मियों में स्थापित वा मिश्रित किया जाता रहता है। इन तीन प्रकार के अनुष्ठानों किंवा इसी प्रकार के मिश्रामिश्र भाव व प्रक्रियाएं जहाँ विद्यमान होती हैं, वहाँ अमृतत्त्व अर्थात् विभिन्न प्रकार के प्राणादि पदार्थों की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार की छन्द रश्मियों का निर्माण होकर विविध तेजस्वी आपों अर्थात् तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। ये सभी छन्द रश्मियां परस्पर एक-दूसरे में पूर्णतः सब ओर से मिश्रित होकर नवीन छन्द रश्मि को जन्म देती हैं।।

इस जगती छन्द रश्मि को भी अन्य छन्दों में प्रतिस्थापित किया जाता है। जब उपर्युक्त ऋचा में ही यह बात कही गयी है, पुनः पुनरुक्ति क्यों की गयी है? इस विषय में हमारा मत है कि उपर्युक्त ऋचा में समान छन्द रश्मियों के ही परस्पर मिश्रण की बात की गयी है, जबकि यहाँ यह सामान्य बात की गयी है। जिसे प्रथम कण्डिका में कहा गया था, उसी बात को यहाँ पुष्ट किया गया है। यहाँ असमान छन्द रश्मियों के भी सम्मिश्रण का भी विधान किया गया है। जब इस प्रकार की स्थिति बनती है, तब विभिन्न मरुद् रश्मियां, छन्द रश्मियां परस्पर मिश्रित होकर नाना रूप वाले छन्द प्राणों को उत्पन्न करने लगती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में समान-असमान सभी प्रकार की छन्द रश्मियों के विभिन्न अनुपात में मिश्रित होने से विभिन्न छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। फिर ये छन्द रश्मियां भी सम्पीडित होकर नाना प्रकार की तरंगों व कणों को उत्पन्न करती हैं।।

इति १२.१ समाप्तः

❧ अथ १२.२ प्रारभ्यते ❧

**** तमसो मा ज्योतिर्गमय ****

१. प्रजापतिर्वै यज्ञं छन्दांसि देवेभ्यो भागधेयानि व्यभजत्, स गायत्रीमेवाग्नये वसुभ्यः प्रातःसवनेऽभजत्, त्रिष्टुभमिन्द्राय रुद्रेभ्यो मध्यंदिने, जगतीं विश्वेभ्यो देवेभ्य आदित्येभ्यस्तृतीयसवने ।।

{प्रातःसवनम् = अनिरुक्तं प्रातःसवनम् (तां.१८.६.७)। माध्यंदिन सवनम् = वाजवन्माध्यंदिनं सवनम् (तां.१८.६.७)। तृतीय सवनम् = चित्रवत् तृतीयसवनम् (तां.१८.६.७)}

व्याख्यानम्- सर्वोपरि चेतन परमात्म सत्ता की प्रेरणा से मनस्तत्त्व एवं वाक् तत्त्व के युग्म रूपी प्रजापति यज्ञ अर्थात् सर्गयज्ञ एवं विभिन्न छन्द रश्मियों का विभिन्न देव पदार्थों के लिए विभाग करते हैं। इसका तात्पर्य है कि किस-२ छन्द का किस-२ देव व सवन से विशेष सम्बन्ध है, यह यहाँ बतलाया जा रहा है। सर्वप्रथम सर्गयज्ञ के प्रारम्भिक चरण, जो अत्यन्त तेजी से व अकस्मात् प्रारम्भ होता है, में गायत्री छन्द रश्मियों को अग्नि अर्थात् सूक्ष्म विद्युत् तत्त्व, जो सबको बसाने वाला होता है, के लिए नियुक्त किया जाता है। यहाँ अग्नि का अर्थ प्राण तत्त्व भी है, इसका आशय है कि सर्ग की प्रारम्भिक अवस्था में सूक्ष्म प्राथमिक प्राणतत्त्वों का ही प्राबल्य होता है। ये प्राण तत्त्व किंवा सूक्ष्म विद्युत् ही सभी दिव्य पदार्थों को बसाने वाला है। इसी कारण कहा है- "अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः" (ऐ.१.२८), "प्राणो वा अग्निः" (श.६.५.१.६८), "अग्निर्वै वसुमान्" (मै.४.१.१४)। उस समय अग्नि किंवा प्राण तत्त्व का रूप प्रायः अन्धकारमय होता है अर्थात् उस समय सम्पूर्ण पदार्थ अदृश्य व अव्यक्त दीप्ति व क्रियाओं से ही युक्त होता है। इसी कारण शास्त्रों में अनेकत्र अग्नि का सम्बन्ध पृथिवी से बताया है। यथा - "इयं(पृथिवी)वा अग्नेर्योनिः" (मै.३.२.१), "इयं(पृथिवी) वाग्निः" (क.३५.३) यहाँ मैत्रायणी संहिता ने पृथिवी को अग्नि का उत्पत्ति व निवास स्थान वा कारण कहा है, तो कपिष्ठल संहिता ने पृथिवी को ही अग्नि कहा है। "अयं लोक ऋग्वेदः"(ष.१.५) तथा "भूरिति वा अयं लोकः" (श.८.७.४.५) इससे यह संकेत मिलता है कि विभिन्न छन्द रश्मियां एवं 'भूः' व्याहृति पृथिवी रूप ही है। यहाँ 'पृथिवी' शब्द से पंचमहाभूतों में अन्तिम महाभूत पृथिवी का यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि सर्वप्रथम इस महाभूत की उत्पत्ति नहीं होती। इसी बात का संकेत स्वयं महर्षि ऐतरेय महीदास देते हुए लिखते हैं- "पृथिव्या रूपं स्पर्शाः" (ऐ.आ.३.२.५) इसी बात को शांखायन आरण्यक ८.८ में भी दिया है। यहाँ पृथिवी के केवल दो ही गुण रूप एवं स्पर्श लिखने से स्पष्ट है कि यह पृथिवी प्रारम्भिक अग्नि व विद्युत् का ही रूप है, जहाँ प्रकाश की मात्रा अति क्षीण होती है। इस प्रकार का अग्नि ही अग्रिम सभी पदार्थों को बसाने वाला व उत्पन्न करने वाला होता है। अग्नि का गायत्री से सम्बन्ध बताते हुए कहा- "अग्निर्हि गायत्री" (जै.ब्रा.३.१८४) गायत्री छन्द का वसुओं से सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है- "वसूनां गायत्री(पत्नी)" (तै.आ.३.६.१)।

इसके पश्चात् सर्ग प्रक्रिया के द्वितीय चरण में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को घोरकर्मा इन्द्र तत्त्व के लिए नियुक्त किया जाता है। इसका तात्पर्य है कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से इन्द्र तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसी कारण शास्त्रों में कहा है- "त्रैष्टुभ इन्द्रः" (कौ.ब्रा.३.२; जै.ब्रा.१.३३१), "त्रिष्टुब्वा इन्द्रस्य स्वं छन्दः" (काठ.११.३)। इस समय ब्रह्माण्ड में तीव्र अग्नि व इन्द्र तत्त्व का मिश्रित रूप तीव्र होता है। इसी कारण इसे रुद्र भी कहा है। त्रिष्टुप् छन्द का रुद्रों के साथ सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है- "त्रिष्टुब् रुद्राणां पत्नी" (गो.उ.२.६)। इस अवस्था में आकाश तत्त्व भी विस्तृत होने लगता है। इसीलिए कहा है- "अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्" (मै.३.१.२; काठ.१६.१)।

तृतीय चरण में जगती छन्द रश्मियों को सभी प्रकार के देव पदार्थों व उनकी विभिन्न रश्मियों के लिए नियुक्त किया जाता है। इसका आशय है कि जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता से इस ब्रह्माण्ड में नाना रूपों में प्रकाश की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार के तारे पूर्ण विकसित होने लगते हैं। इस समय पूर्वोक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां भी प्रचुरतया विद्यमान होती हैं। इसलिए कहा है- "त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यः" (तां.४.६.२३), "वैश्वदेवजागतं तृतीय सवनम्" (काठ.२२.३)। इस समय सभी प्रकार के पूर्वोत्पन्न देव पदार्थ भी विद्यमान होते हैं। जगती छन्द रश्मियों का आदित्यों से सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है- "जगत्यादित्यानां पत्नी" (गो.उ.२.६), "जागतोऽसावादित्यः" (जै.ब्रा.२.३६)। ये छन्द रश्मियां सबसे बाद में उत्पन्न होती हैं, इस कारण इनका सम्बन्ध सभी प्रकार के देव पदार्थों से होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि निर्माण के अन्तर्गत सर्वप्रथम उत्पन्न छन्द रश्मियों में गायत्री छन्द रश्मियों का प्रमुख स्थान होता है। उस समय सूक्ष्म विद्युत् तथा अदृश्य दीप्ति होने से अन्धकार तुल्य अवस्था ही होती है। उस अवस्था वाले पदार्थ में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल उपादान विद्यमान होता है। उस समय जो भी क्रियाएं चल रही होती हैं, वे अत्यन्त तीव्र व विध्वंसक नहीं होती हैं। इसके पश्चात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इन रश्मियों की प्रधानता में ब्रह्माण्ड तीव्र तेजस्वी ज्वालाओं, भेदक किरणों, विध्वंसक तीव्र क्रियाओं से भर जाता है। प्रकाश व ऊष्मा में भारी वृद्धि होने के साथ-२ विद्युत् की तीव्र धाराएं बहने लगती हैं। उच्च ध्वनियां भी इस ब्रह्माण्ड में गूंजने लगती हैं। सबसे अन्त में जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता का समय आता है। इस समय अनेक प्रकार के दृश्य पदार्थों का निर्माण होता है। नाना प्रकार के तारों का निर्माण अन्तिम चरण में पहुँच चुका होता है। इससे इस ब्रह्माण्ड में तीव्र प्रकाश व अनेक रूप-रंगों की उत्पत्ति होती है। इस समय पूर्वोत्पन्न छन्द रश्मियां भी विद्यमान होती हैं परन्तु प्रधानता जगती छन्द रश्मियों की ही होती है।।

२. अथास्य यत् स्वं छन्द आसीद् अनुष्टुप् तामुदन्तमभ्युदौहदच्छावाकीयामभि, सैनमब्रवीदनुष्टुप् त्वं न्वेव देवानां पापिष्ठोऽसि, यस्य तेऽहं स्वं छन्दोऽस्मि यां मोदन्तमभ्युदौहीरच्छावाकीयामभीति, तदजानात्, स स्वं सोममाहरत्, स स्वे सोमेऽग्रं मुखमभि पर्याहरदनुष्टुभं, तस्मादनुष्टुबग्र्या मुख्या युज्यते सर्वेषां सवनानाम्।। अग्र्यो मुख्यो भवति श्रेष्ठतामश्नुते य एवं वेद।।

{उदन्तः = उद्गतोऽन्तो यस्य (आप्टेकोष), (उद्गतः = ऊपर की ओर गया हुआ, उद्गमस्थान की ओर गया हुआ, सीधा खड़ा हुआ, बाहर गया हुआ - तु.उद्गमः - आप्टेकोष)। अच्छावाकः = ईर्म इव वा एषा होत्राणां यदच्छावाकः (जै.ब्रा.२.३७८), ऐन्द्राग्नोऽच्छावाकः (श.३.६.२.१३), वीर्यवान्वा एष बह्वृचो यदच्छावाकाः (गो.उ.५.१५), (ईर्म = बाहुनाम - नि.५.२५) (ईर गतौ कम्पने च, ईर क्षेपे), प्रेरकः (म.द.ऋ.भा.४.२७.२)। उदौहत् = उदस्थापयत् - इति षड्गुरुशिष्यः (सायण भाष्य में उद्धृत), उदनैषीत् - इति भट्टभास्करः (उद्धृतः तत्रैव)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि ने अनुष्टुप् छन्द को वाक् व मनस्तत्त्व के मिथुन का छन्द कहा है। इसी तथ्य को अन्य महर्षियों ने भी उद्घाटित किया है- "अनुष्टुब् वै प्रजापतेः स्वं छन्दः" (काठ.२३.२; क.३५.८)। अनुष्टुप् छन्द के विषय में शास्त्रवेत्ताओं का मत है- "अनुष्टुप् छन्दसां प्रतिष्ठा" (तै.सं.२.५.१०.३), "अनुष्टुप् सर्वाणि छन्दांसि" (तै.सं.५.१.५.१-२), "अनुष्टुब्भि छन्दासां योनिः" (तां.११.५.१७), "प्राणा वा एतानीतराणि छन्दांसि वागनुष्टुप्" (मै.३.१.६), "वागेवासौ प्रथमानुष्टुप्" (कौ.ब्रा.१५.३; १६.४)। इन सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अनुष्टुप् छन्द सभी छन्द रश्मियों का मूल कारण व आधाररूप है। यद्यपि गायत्री छन्द सबसे सूक्ष्म छन्द है परन्तु अनेकत्र गायत्री छन्द को अनुष्टुप् के समान ही कहा गया है, यह बात हम पूर्व में ही अनेकत्र लिख चुके हैं। मैत्रायणी संहिता के प्रमाण से

संकेत मिलता है कि अन्य **छन्द रश्मियां प्राणों के समान व्यवहार करती हैं, जब अनुष्टुप् छन्द रश्मियां वाक् तत्त्व के समान व्यवहार करती हैं।** इसका तात्पर्य है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों के लिए योषा के समान व्यवहार करते हुए अपेक्षाकृत हीनबल होती हैं। ये रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों के साथ संगत होकर उन्हें थामे रखती हैं। इन सब कारणों से इसे प्रजापति का स्वयं का छन्द कहा है। उपर्युक्त तीनों चरणों में तीन भिन्न-२ छन्द रश्मियों की प्रधानता की चर्चा करने के उपरान्त महर्षि कहते हैं कि जब मनस्तत्त्व एवं वाक् तत्त्व का मिथुन रूप प्रजापति अपनी आच्छादक अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को अच्छावाकीय छन्द रश्मियों की ओर प्रक्षिप्त कर देता है। अच्छावाक छन्द रश्मियां गायत्री छन्द प्रधान होने के साथ-२ अनेक प्रकार की भी होती हैं। इनके विषय में विस्तार से जानने हेतु २.३६.३ द्रष्टव्य है। ये अच्छावाकीय छन्द रश्मियां ऐसी रश्मियां होती हैं, जो अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों का संयुक्त रूप होती हैं। उन विशाल छन्द रश्मियों का समूह 'उदन्तः' अर्थात् ऐसा होता है कि उनका अन्तिम भाग ऊपर की ओर उठा हुआ, सीधा खड़ा प्रतीत होता है। उनका वह भाग उस ओर उठा हुआ होता है, जहाँ कि उसकी उत्पत्ति हुई होती है। वे अनुष्टुप् रश्मियां उस ऐसे रश्मिसमूह में प्रक्षिप्त-प्रस्थापित कर दी जाती हैं। वे अच्छावाक रश्मियां इन्द्र व अग्नितत्त्व का रूप होकर अति तेजस्विनी व बलवती होती हैं, जो अपने निकटस्थ पदार्थ को गति व प्रेरणा देते हुए कम्पन कराती रहती हैं। उधर **अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के अभाव में अन्य छन्द रश्मियों रूपी वाक् तत्त्व किंवा गायत्री छन्द रश्मि रूप वाक् तत्त्व पापिष्ठ अर्थात् असुर तत्त्व का रूप होती हैं।** इस ग्रन्थ में जो अनेकत्र असुर तत्त्व की चर्चा की है, यह उसी का रूप है। वे अनुष्टुप् रश्मियां सामान्यरूपेण गायत्र्यादि वाग्रश्मियों के साथ पूर्णतः मिश्रित होती हैं, जब वे उनसे पृथक् हो जाती हैं, उस समय वे गायत्र्यादि रश्मियां ही असुर रूप धारण कर लेती हैं। यहाँ यह भी सम्भव है कि वे रश्मियां स्वयं असुर तत्त्व में परिवर्तित न होकर असुर तत्त्व से आक्रान्त हो जाती हैं। उस समय उन अच्छावाक संज्ञक तीव्र रश्मियों के प्रभाव से शेष वाक्तत्त्व, जो अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से युक्त होता है, प्रकाशित हो उठता है और फिर वह **अनुष्टुप् रश्मियों को सोम अर्थात् सूक्ष्म मरुद् रश्मियों, जो सूक्ष्म छन्द रश्मियों का ही रूप होती हैं, के अग्रभाग में स्थापित कर देता है। इसके पूर्व वे वाग्रश्मियां सोम रश्मियों** को सब ओर **से** अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। **उसके पश्चात्** अनुष्टुप् छन्द **रश्मियों को** उसमें स्थापित करती हैं। ये **सोम** रश्मियां तीनों ही सवनों में **विद्यमान** होती हैं और उन सभी **सोमरश्मियों के** अग्रभाग में ये अनुष्टुप् रश्मियां संयुक्त होती हैं।।

इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से संयुक्त सोम रश्मियां अन्य सोम रश्मियों की अपेक्षा श्रेष्ठ व मुख्य होती हैं। इस कारण वे अन्यों की अपेक्षा तेजस्वी व सक्रिय भी अधिक होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न छन्द रश्मियों को अनुष्टुप् रश्मियां सदैव ही उनके साथ संयुक्त होकर ढांपे रखती हैं। ऐसा होने पर ही वे रश्मियां दृश्य जगत् का निर्माण करने में सक्षम होती हैं। **जिन छन्द रश्मियों में से अनुष्टुप् छन्द रश्मियां दूर हो जाती हैं, वे रश्मियां डार्क एनर्जी वा डार्क मैटर का रूप धारण कर लेती हैं।** अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से आवृत्त छन्द रश्मियां ही सृष्टि के सभी चरणों में विभिन्न प्रकार से दृश्य पदार्थों का निर्माण करती हैं। वे ही ऊर्जा व द्रव्य दोनों के निर्माण का कारण बनती हैं।।

३. स्वे वै स तत्सोमेऽकल्पयत्, तस्माद् यत्र क्व च यजमानवशो भवति; कल्पत एव यज्ञोऽपि।।
तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् यजमानो वशी यजते।।२।।

{जनता = जनानां समूहः (आप्टेकोष), (जनाः = प्राणाः - म.द.य.भा.२५.२३)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त मन एवं वाक् तत्त्व का मिथुन अपने उस सोम यज्ञ, जिसका संकेत ऊपर किया गया है, में जब अनुष्टुप् छन्द रश्मियां समर्थ वा मिश्रित करता है, तब उसके कारण ही जहाँ कहीं

संयोज्य परमाणु नियंत्रित क्रिया व बलों से युक्त होते हैं, उस समय सर्ग प्रक्रिया भी समर्थ व समृद्ध होती है। इसका आशय है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के सोम तत्त्व से संयुक्त न होने पर सोम रश्मियों की गतियां अनियन्त्रित व अनियमित होती हैं, इसके फलस्वरूप उनकी संयोग प्रक्रिया भी अस्त-व्यस्त वा मन्द हो जाती है, जबकि इसके विपरीत अनुष्टुप् रश्मियों से युक्त परमाणु इस प्रक्रिया को सम्यग्रूपेण सम्पादित करते हैं।।

जहाँ सभी परमाणु इस प्रकार परस्पर नियन्त्रित-नियमित होते हैं, वहाँ विभिन्न प्रकार के परमाणु वा प्राण समूह एवं उनके संयुक्त होने से नाना क्रियाएं व नाना उत्पन्न तत्त्व समूह समृद्ध होते हैं अर्थात् सब कुछ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के योग के कारण ही हो पाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में जिन छन्द रश्मियों किंवा कणों व तरंगों के साथ अनुष्टुप् रश्मियां संयुक्त रहती हैं, उन्हीं छन्द रश्मियों, कण व तरंगों की गति व बल एवं दिशाएं नियमित व व्यवस्थित होती हैं। इसके कारण उन्हीं की क्रियाएं व्यवस्थित, नियन्त्रित व सृजनशील होती हैं। इस कारण इस प्रकार की व्यवस्थित रश्मियां व कण आदि जो पदार्थ होते हैं, वे ही सृष्टि रचना में काम आ पाते हैं, अन्य तो यदृच्छया गति व क्रियाओं से युक्त होकर ब्रह्माण्ड में यत्र-तत्र पड़े रहते हैं। जब कभी उनके साथ अनुष्टुप् रश्मियां युक्त हो जाएं, तभी वे सृष्टि प्रक्रिया में सम्मिलित हो जाते हैं।।

इति १२.२ समाप्तः

꧁ अथ १२.३ प्रारभ्यते ꧂

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. अग्निर्वै देवानां होताऽऽसीत्, तं मृत्युर्बहिष्पवमानेऽसीदत्, सोऽनुष्टुभाऽऽज्यं प्रत्यपद्यत, मृत्युमेव तत्पर्यक्रामत्, तमाज्येऽसीदत्, स प्रउगेण प्रत्यपद्यत, मृत्युमेव तत्पर्यक्रामत्।।

व्याख्यानम्- प्रारम्भ में अग्नितत्त्व अर्थात् विभिन्न प्राण, जो सृष्टि यज्ञ में सर्वप्रथम संगत होने वाले पदार्थों में से प्रमुख पदार्थ होते हैं, होता के रूप में कार्य करने वाले होते हैं। उस समय वहिष्पवमान सूक्त, जिसकी चर्चा २.२२.१ में की गयी है। इसके साथ ही इस सूक्तस्थ गायत्री छन्द रश्मियों की चर्चा की गयी है। जब विभिन्न प्राणतत्त्वों के वहिर्भाग में इन गायत्री रश्मियों का संचरण होने लगता है, उस समय मृत्यु अर्थात् अपान प्रधान असुर तत्त्व उनमें प्रविष्ट होने लगता है। इसके कारण उन प्राणों के व्यापार में बाधा उत्पन्न होने लगती है। जैसा कि हमें वहिष्पवमान सूक्त के विषय में अवगत है कि ये गायत्री रश्मियां विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के चारों ओर आवृत्त होकर संयोगादि प्रक्रिया में प्रधान भूमिका निभाती हैं। जब इन रश्मियों में भी असुर रश्मियां प्रविष्ट हो जाती हैं, उस समय सम्पूर्ण संगतीकरण की प्रक्रिया बाधित हो जाती है। उस समय उस असुर तत्त्व के निवारण के लिए आज्य संज्ञक आनुष्टुभ सूक्त ऋग्वेद ३.१३ जिसे २.३३.१ में विट् सूक्त भी कहा है तथा आचार्य सायण ने अपने भाष्य में २.३७.१ में इस सूक्त को ही आज्य भी कहा है, की उत्पत्ति होती है। यह सूक्तरूप अनुष्टुप् रश्मिसमूह असुर तत्त्व निवारक होता है। इस कारण असुर तत्त्व से आक्रान्त पदार्थ इस सूक्त रूप रश्मिसमूह के द्वारा असुर तत्त्व को नियन्त्रित करने लगते हैं परन्तु कुछ कालोपरान्त असुर तत्त्व इस रश्मिसमूह में भी व्याप्त होकर संयोगादि कर्मों को वाधित करने लगता है। उस समय खण्ड ३.१ में वर्णित प्रउग शस्त्र रूप सात तृच रश्मियों की उत्पत्ति होती है। ये वायव्यादि तृच रश्मियां ही प्रउग रश्मियों का रूप होती हैं। ये सातों तृच रश्मियां उसी खण्ड में वर्णित सभी नौ प्रकार के ग्रहों अर्थात् वलों को समृद्ध करके असुर तत्त्व का निवारण करती हैं, जिसके कारण संयोगादि प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भ में जब सूक्ष्म प्राणादि रश्मियां एवं गायत्री रश्मियां परस्पर संगत होने लगती हैं, उसी समय डार्क एनर्जी का उन पर प्रहार होता है। इसके कारण वह संगतीकरण की प्रक्रिया बाधित हो जाती है। इसके पश्चात् डार्क एनर्जी के प्रक्षेपक बल को दूर करने हेतु सात अनुष्टुप् छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। इनके प्रभाव से डार्क एनर्जी का प्रभाव एक बार दूर होकर सृष्टि प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है। कुछ कालोपरान्त डार्क एनर्जी का प्रभाव पुनः बढ़कर इस प्रक्रिया को बाधित करता है। तब तीन-२ छन्द रश्मिसमूहरूप सात विकिरणों की उत्पत्ति होती है। इन सातों विकिरणों के प्रभाव से डार्क एनर्जी का प्रभाव समाप्त होकर सृष्टि प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है। इन विकिरणों के प्रभाव से ६ प्रकार के बलों की समृद्धि होने लगती है। इन बलों के विषय में खण्ड ३.१ द्रष्टव्य है।।

२. तं माध्यंदिने पवमानेऽसीदत्, सोऽनुष्टुभा मरुत्वतीयं प्रत्यपद्यत, मृत्युमेव तत्पर्यक्रामत्, तं माध्यंदिने बृहतीषु नाशक्नोत् सत्तुं, प्राणा वै बृहत्यः, प्राणानेव तन्नाशक्नोद् व्यवैतुं, तस्मान्मध्यंदिने होता बृहतीषु स्तोत्रियेणैव प्रतिपद्यते, प्राणा वै

बृहत्यः, प्राणानेव तदभिप्रतिपद्यते।।

व्याख्यानम्- पूर्व कण्डिका में प्रातःसवन अर्थात् सर्ग के प्रथम चरण की प्रक्रियाओं की चर्चा की गयी। अव माध्यंदिन सवन अर्थात् द्वितीय चरण में होने वाली प्रक्रियाओं की चर्चा करते हैं। इस चरण में जव अग्नि अर्थात् पूर्वोक्त प्राण तत्त्व पवमानस्तोत्र में विद्यमान होते हैं, उस समय उन प्राणों पर असुर तत्त्व का आक्रमण होता है। आचार्य सायण ने पवमानस्तोत्र से "उच्चा ते जातमन्धसो......." इत्यादि सामवेद उत्तरार्चिक ६७२-७६ तक आठ छन्दों का ग्रहण किया है। तदुनसार हम भी इन छन्दों पर क्रमशः विचार करते हैं।

(१) उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः।।१।।

इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अमहीयुर्ऋषि अर्थात् ऐसे सूक्ष्म प्राण जो मही अर्थात् व्यापकता को प्राप्त न किये हों, से होती है। 'मही' शब्द के अन्य अर्थ भी इस प्रकार हैं। यथा- मही गोनाम (निघं.२.११), द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०)। इससे यह संकेत मिलता है कि यह सूक्ष्म प्राण विशेष गतिवाला न होकर मन्द गति से प्रवाहित होता है तथा विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों में इसकी व्याप्ति नहीं होती। इसका देवता सोम तथा छन्द गायत्री है। इसके कारण सोम पदार्थ तेजस्वी व वलवान् सक्रिय होता है। इसके अन्य प्रभाव से {श्रवः = धननाम (निघं.२.१०), अन्ननाम (निघं.२.७)। शर्म = गृहनाम (निघं. ३.४), सुखनाम (निघं.३.६), शर्म शरणम् (नि.६.१६), वाग्वै शर्म (ऐ.२.४०)। सोम रश्मियों का भक्षण करके विभिन्न छन्दादि प्राण उच्च व उग्र संयोज्यता गुण प्राप्त करके व्यापक रूप से अनेक पदार्थों व क्रियाओं को आश्रय प्रदान करते हैं।

(२) स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित् परि स्रव।।२।।

इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति पूर्वोक्त अमहीयु ऋषि प्राण से ही होती है। इसका देवता पवमान व छन्द गायत्री है। इसके प्रभाव से पूर्वोक्त क्रियाएं होती हैं परन्तु गति कुछ तीव्र होती है। {वरिवः = धननाम (निघं.२.१०), भृशं रक्षणम् (म.द.य.भा.५.३७)} इसका पवमान सोम अन्य विभिन्न मन्दगामी सोम पवन, इन्द्रतत्त्व एवं अपान तत्त्व के साथ विशेष संगत होकर विभिन्न पदार्थों का सृजन करने लगता है।।

(३) एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे।।३।।

इसकी उत्पत्ति पूर्वोक्त ऋषि प्राण से होती है। देवता व छन्द समान होने से प्रभाव समान समझें। {पशवो मानुषाः (क.४१.६), यन्मन्द्रं मानुषं तत् (तै.सं.२.५.११.१), (मन्द्रा वाङ्नाम - निघं.१.११)} इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न छन्द व मरुद्रश्मियां तेजस्विता को विशेषरूपेण प्राप्त करके उचित विभागों को प्राप्त करती हैं।

(४) पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः।।४।।

इसकी उत्पत्ति भरद्वाज ऋषि काश्यपः, अत्रिः, जमदग्निः, गोतमः, विश्वामित्रः, वसिष्ठः, इन सात ऋषियों (देखें - सामवेद - पं.तुलसीराम स्वामी भाष्य) अर्थात् मनस्तत्त्व, कूर्म उपप्राण, सूत्रात्मा वायु, अतिशय शीघ्रगन्ता धनन्जय वायु, वाक्तत्त्व एवं प्राण नामक प्राथमिक प्राण से जमदग्नि अर्थात् ज्वलित अग्निमय अवस्था में होती है। इसका देवता पूर्ववत् तथा छन्द वृहती होने से सोम पदार्थ व्यापकरूपेण विभिन्न मर्यादाओं में विभक्त होने लगता है। इसके अन्य प्रभाव से वे सोम रश्मियां अपनी विविध धाराओं से विभिन्न पदार्थों को आच्छादित करती हुई विभिन्न प्राणों में व्याप्त होती रहती हैं। इससे इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न तेजस्वी कूप रूप मार्गों का भी निर्माण होता रहता है।

(५) दुहान ऊधर्दिव्यं मधु प्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत्।
आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः।।५।।

इसकी उत्पत्ति उपर्युक्तवत् तथा देवता सोम एवं छन्द बृहती होने से प्रभाव लगभग उपर्युक्तवत्। {ऊधः = रात्रिनाम (निघं.१.७), उषा (म.द.ऋ.भा.३.५५.१३)। विचक्षणः = सोमो वै विचक्षणः (जै.ब्रा.२.६४)} इसके अन्य प्रभाव से विशेष तेजस्वी, शुद्ध तथा तीव्र गतिशील, वलवान्, उषा जैसे प्रकाश से युक्त, प्राथमिक प्राणों के साथ संगत हुआ, सवको आकर्षित करने वाला, विभिन्न प्रकाशमान् मार्गों को पूर्ण करता हुआ सोम पदार्थ विभिन्न नयनकर्ता वायुओं को व्याप्त करके धारण करता है।

(६) प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति॥६॥

इसका देवता व ऋषि उपर्युक्तवत् है। इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इससे सभी क्रियाएं व तेज तीक्ष्ण होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से वह सोम तत्त्व {कोश इति मेघनाम (निघं.१.१०)} शुद्ध तेजस्वी हुआ हुआ त्वरित गति से चलता हुआ विभिन्न मेघों का निर्माण करता है अर्थात् इससे ब्रह्माण्ड का पदार्थ मेघरूप आकृतियों का निर्माण करने लगता है। विभिन्न मेघों के मध्य अन्तरिक्ष विस्तृत होने लगता है।

(७) स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः॥७॥

इसका ऋषि, देवता व छन्द पूर्ववत्। अन्य प्रभाव इस प्रकार है। वह सोम पदार्थ तीव्र तेजस्वी विकिरणों को उत्पन्न करके विभिन्न वाधाओं, निष्क्रियतादि दोषों को नष्ट करने वाला, विभिन्न प्रकाशित पदार्थों की उत्पत्ति व रक्षा करने वाला, उत्तम वल युक्त, आकाशस्थ स्वनिर्मित मेघों को थामने वाला तथा सवको धारण व पवित्र करने वाला होता है।

(८) ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यां३ गुह्यं नाम गोनाम्॥८॥

इसके ऋषि, देवता व छन्द पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्राणों के अग्रगन्ता विभिन्न ऋषि प्राण किंवा प्राणापानादि प्राथमिक प्राण, सूत्रात्मा वायु, विभिन्न तेजस्विनी किरणें आदि सवको वह सोम तत्त्व धारण करता है। सवको अपने सूक्ष्म आकर्षण से आकर्षित करने वाला मनस्तत्त्व उस सोम को विशेषरूपेण व्याप्त किए रहता है। वह सोम तत्त्व विभिन्न रश्मियों वा अप्रकाशित मेघों में भी गुप्त रूप से विद्यमान रहता है।

इन सभी प्रभावों के मध्य कार्यरत विभिन्न प्राणादि पदार्थों पर भी असुर तत्त्व अपना तीव्र प्रतिकर्षक व प्रक्षेपक प्रहार करता है। उस समय उसे निष्क्रिय वा नियन्त्रित करने हेतु मरुत्वतीय शस्त्र की उत्पत्ति होती है। आचार्य सायण ने प्रियमेध ऋषि अर्थात् सवके साथ सहज संगत होने वाले एक सूक्ष्म प्राण विशेष से उत्पन्न तथा इन्द्रदेवताक एवं अनुष्टुप् छन्दस्क

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि। तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते॥१॥ (ऋ.८.६८.१)

को ही मरुत्वीय शस्त्र माना है। इस छन्द को मरुत्वतीय कहने का तात्पर्य यह है कि यह रश्मि सूक्ष्म मरुतों अर्थात् सूक्ष्म छन्द रश्मियों से मिलकर वनी है, ऐसा हमारा मत है। खण्ड ३.१७ की कण्डिका "ये एव गायत्र्या उत्तरे..." से स्पष्ट है कि इस एक ऋचा के स्थान पर तृच का ग्रहण करना चाहिए। अन्य दो ऋचाएं

तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते। आ पप्राथ महित्वना॥२॥
यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः। हस्ता वज्रं हिरण्ययम्॥३॥ इत्यादि (ऋ.८.६८.२-३)

का ऋषि व देवता पूर्ववत् तथा छन्द गायत्री होने से दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत्। शेष प्रभाव निम्नानुसार है- {शची = वाङ्नाम (निघं.१.११), प्रज्ञानाम (निघं.३.९)}

(१) वह इन्द्रतत्त्व अत्यन्त वल एवं क्रियायुक्त तथा विभिन्न व व्यापक वाक् रश्मियों से युक्त होकर सर्वत्र व्याप्त होने लगता है।

(२) वह इन्द्रतत्त्व अत्यन्त व्यापक आकर्षण-प्रतिकर्षण वलों के साथ वज्र रूप धारण करके अतितेजस्वी होता है।

इस छन्द रश्मि के दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विशेष सक्रिय व सतेज होकर सभी पदार्थों को सक्रिय करता है। इसके अन्य प्रभाव से महावलवान् इन्द्र तत्त्व वार-२ विभिन्न पदार्थों से संयुक्त होकर उन्हें तीव्र क्रियाशील करके असुर पदार्थ को नियन्त्रित करता है, जिससे वाधित सर्ग प्रक्रिया सामान्य होने लगती है। यह अनुष्टुप् छन्द रश्मि योषा रूप धारण करके पूर्वोत्पन्न त्रिष्टुप्, बृहती आदि के साथ संयुक्त होकर उन्हें वलवान् व तेजस्वी वना देती है। उस माध्यन्दिन सवन में त्रिष्टुप् एवं बृहती प्राणों की प्रधानता होती है। इसके साथ ही अन्य छन्द रश्मियां भी विस्तृत व व्यापक हो जाती हैं। ध्यातव्य है कि अनेकत्र त्रिष्टुप् एवं बृहती का प्रभाव समान माना गया है। इसी कारण कहा है- "त्रैष्टुभं वै बृहत्" (तां.५.१.१४)। इस प्रकार उस व्यापक तेजस्वी रश्मियों में असुर तत्त्व अपना प्रभाव नहीं दिखला सकता। यहाँ 'सत्तुम्' पद का अर्थ करने हेतु सायण भाष्य में षड्गुरुशिष्य को उद्धृत करते हुए पादटिप्पणी में लिखा है- "सत्तुं सदेस्तुमुन् अभिभवितुम्, भवार्थात् तुमुन् अभिभवितुम्"। इस चरण में विभिन्न प्रकार के प्राण बृहती छन्द रश्मियों से युक्त होकर व्यापक प्रभाव वाले हो जाते हैं। इस कारण उन प्राणों को असुर तत्त्व परस्पर किंवा बृहती प्राणों से वियुक्त करने में समर्थ नहीं हो सकता है। इस कारण इस समय होता अर्थात् विभिन्न प्राथमिक प्राणादि पदार्थ विभिन्न उत्पन्न तेजस्वी छन्द रूप प्राणों को बृहती छन्द रश्मियों के अन्दर प्रस्थापित करते हैं। क्योंकि प्राथमिक प्राणादि पदार्थ भी बृहती छन्द रश्मियों में व्याप्त हो जाते हैं, इस कारण इन प्राणों का ही लक्ष्य करके विभिन्न वलों को उत्पन्न करने वाली छन्द रश्मियों की उत्पत्ति इस द्वितीय चरण में होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया के द्वितीय चरण में समस्त ब्रह्माण्ड में विभिन्न रश्मियां तीव्र गति को प्राप्त करने लगती हैं, संयोज्यता गुण प्रबल होने लगता है। विद्युत् आवेशित कणों की संख्या व उसकी ऊर्जा में वृद्धि होने लगती है। विभिन्न पदार्थों के पारस्परिक संयोग व विभाग की क्रिया तीव्र होने लगती है। विभिन्न कण परस्पर मिलकर परमाणुओं व अणुओं का निर्माण करने लगते हैं। इस पदार्थ की विभिन्न तीव्र धाराएं इस ब्रह्माण्ड में बहने लगती हैं। समस्त पदार्थ लालिमायुक्त तेजस्वी प्रकाश से युक्त होने लगता है। समस्त पदार्थ संघनित होकर मेघों जैसी संरचनाओं को जन्म देने लगता है। इन मेघों के मध्य दूरी बढ़कर अन्तरिक्ष विस्तृत होने लगता है। धीरे-२ मेघों की आकृतियां अधिक स्पष्ट एवं निश्चित होने लगती हैं। ऐसी अवस्था में डार्क एनर्जी के तीव्र प्रक्षेपक बल इन मेघों को दूर-२ बिखेरने वा मेघों के अन्दर विद्यमान पदार्थों को भी छितराने लगता है। उस समय एक अनुष्टुप् छन्द रश्मि उन मेघों में विद्यमान अन्य छन्द रश्मियों से संयुक्त होकर उन्हें बलवान् वा तेजस्वी बनाती है। इसके कारण वे छन्द रश्मियां ऐसे अनेक बलों को उत्पन्न करती हैं, जो डार्क एनर्जी के प्रभाव को नष्ट वा नियन्त्रित कर लेती हैं। अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से युक्त एवं बृहती छन्द रश्मियों से आच्छादित पदार्थ डार्क एनर्जी के प्रक्षेपक बल को निष्प्रभावी करने में समर्थ होते हैं। इसके कारण उन मेघों का बिखरना किंवा उनका परस्पर दूर-२ भागना बंद होकर सामान्य स्थिति बनी रहती है।।

३. तं तृतीयपवमानेऽसीदत्, सोऽनुष्टुभा वैश्वदेवं प्रत्यपद्यत, मृत्युमेव तत्पर्यक्रामत।।

व्याख्यानम्- अव तृतीय सवन अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया के तृतीय चरण की चर्चा करते हैं। इसमें आचार्य सायण ने सर्वप्रथम आर्भव पवमान स्तोत्र की उत्पत्ति की चर्चा की है। यहाँ पाद टिप्पणी में लिखा है- स्वादिष्ठ्येत्यारभ्य तृतीयसवने गेयं स्तोत्रमार्भव पवमानः। सायण ने (तां.८.४.१-५) "साध्या वै नाम देवा आसन्........ यत् स्वादिष्ठ्या मदिष्ठ्येति प्रस्तौति तृतीयसवनस्य सेन्द्रत्वाय।" इस स्तोत्र में विद्यमान

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः।।१।। (साम.उ.६८६)

की उत्पत्ति मधुच्छन्दा ऋषि प्राण जिसके विषय में पूर्व में अनेकत्र हम लिख चुके हैं, से होती है। इसका देवता सोम तथा छन्द गायत्री है। इससे सोम तत्त्व तेजस्वी होता है। {स्वादु = प्रजा स्वादु (ऐ.आ.१.३.४), मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४)} इस समय सोम तत्त्व को विद्युद्युक्त वायु=इन्द्रतत्त्व अवशोषित करने लगता है। इसके कारण वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न प्रकार से संतृप्त होकर नाना प्रकार के मिथुनों को जन्म देकर नाना तत्त्वों का निर्माण करने लगता है। यह प्रक्रिया पूर्व निर्मित आकाशस्थ विशाल लोकों में होने लगती है। इसके साथ ही इससे अगली ऋचाएं - "रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि....." तथा "वरिवोधातमो भुवो......." की भी उत्पत्ति होती है। इनके ऋषि, देवता व छन्द पूर्ववत् हैं। इस प्रकार एक तृच ही उत्पन्न होती है। इनके अन्य प्रभाव से {द्रोणकलशः = प्राणा वै द्रोणकलशः (तां.६.५.१५), यज्ञो वै द्रोणकलशः (श.४.५.८.५)} बाधक असुर तत्त्व के नाशक सम्पूर्ण पदार्थ को प्रकाशित करने वाला प्राण समूह विभिन्न पदार्थों के संगतीकरण स्थल में व्याप्त होने लगता है। उस समय पदार्थ वरिवोधातम अर्थात् विभिन्न पदार्थों को धारण करने में श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त करने लगता है और सर्वत्र फैले हुए असुरतत्त्व को भी नष्ट करने में समर्थतम स्थिति भी प्राप्त करने लगता है। इसके साथ ही विभिन्न पदार्थों की केन्द्रीय अवस्था को पूर्ण करने लगता है। उस समय भी असुर पदार्थ बाधा उत्पन्न करने लगता है, जिससे मिथुनों का निर्माण रुक जाता है। उस समय श्यावाश्व आत्रेय ऋषि {श्यावाः = सवितुर्वेगवन्तः किरणाः (म.द.ऋ.भा.६.४८.६), श्यावा सवितुरिति (निघं.१.१५)} अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न अत्यन्त वेगवान् सूक्ष्म प्राण से

तत्स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम्। श्रेष्ठं॑ सर्व॒धात॑मं तु॒रं भग॑स्य धीमहि॥ (ऋ.५.८२.१)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता सविता तथा छन्द निचृदनुष्टुप् होने से इसके प्रभाव से उत्पत्ति तथा प्रेरक क्रियाएं तीव्र होती हैं। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्राण समूह रूप सविता तेजस्वी हो उठते हैं। वे सबको धारण करने में समर्थ होकर विभिन्न पदार्थों को धारण करने लगते हैं। यह अनुष्टुप् रश्मि पूर्व की भाँति अन्य सभी रश्मियों के साथ योषा रूप में संयुक्त होकर सभी देव पदार्थों को क्रियाशील बनाकर उन्हें असुर तत्त्व के प्रहार से मुक्त करती है। यहाँ इस ऋचा का देवता महर्षि ऐतरेय महीदास 'विश्वेदेवाः' मानते हैं, उधर महर्षि दयानन्द ने इसका देवता सविता माना है। हमने दोनों का ग्रहण करके उपर्युक्त व्याख्यान किया है॥

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के अगले चरण में जब आकाशीय पदार्थ विभिन्न मेघों का निर्माण कर चुका होता है, उस समय उन मेघों में नाना प्रकार की संयोगादि प्रक्रियाएं तीव्र गति से होने लगती हैं। उस समय विभिन्न तारों के केन्द्रीय भागों का निर्माण होने लगता है। वे केन्द्र अपने आस-पास के पदार्थों को आकर्षित करके बड़े होने लगते हैं। उस समय विद्युत् की तीव्रता के रहते हुए भी डार्क एनर्जी पुनः प्रतिकर्षण बल के तीव्र प्रहार से बाधा खड़ी करती है। उस समय एक अनुष्टुप् छन्द रश्मि पुनः उत्पन्न होकर अन्य छन्द रश्मियों व विभिन्न कणों, परमाणुओं व अणुओं को आच्छादित करके उन्हें बल प्रदान करके डार्क एनर्जी के दुष्प्रभाव को दूर करने में समर्थ बनाती है॥

४. तं यज्ञायज्ञीयेऽसीदत्, स वैश्वानरीयेणाऽऽग्निमारुतं प्रत्यपद्यत, मृत्युमेव तत्पर्यक्रामद्, वज्रो वै वैश्वानरीयं, प्रतिष्ठा यज्ञायज्ञीयं, वज्रेणैव तत्प्रतिष्ठाया मृत्युं नुदते, स सर्वान् पाशान् सर्वान् स्थाणून् मृत्योरतिमुच्य स्वस्त्येवोदमुच्यत, स्वस्त्येव होतोन्मुच्यते सर्वायुः सर्वायुत्वाय॥
सर्वमायुरेति य एवं वेद॥३॥

{स्थाणुः = यूप स्थाणुः (श.३.६.२.५)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त अवस्था के अनन्तर अग्निर्वैश्वानर ऋषि अर्थात् सबको वहन करने वाले प्राण नामक प्राण तत्त्व से अग्निदेवताक एवं बृहती छन्दस्क

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे। प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्।।१।।
ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद् वृध उत त्राता तनूनाम्।।२।। (साम.उ.आ.७०३, ७०४)

मन्त्रद्वय अर्थात् प्रगाथ की उत्पत्ति होती है। इनके दैवत व छान्दस प्रभाव से मेघों के केन्द्रीय भागों एवं वाहर भी अग्नि तत्त्व की भारी वृद्धि होती है। इनके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) प्रत्येक संयोग प्रक्रिया में विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा वल की वृद्धि करके सभी उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्नितत्त्व प्रकाशित होता है।

(२) विविध वलों का पालक, सवको वसाने वाला प्राण तत्त्व किंवा पूर्वोक्त प्रकरण में अनुष्टुप् छन्द रश्मियां प्रथम अर्थात् गायत्री किंवा अनुष्टुप् छन्द रश्मियों, द्वितीय अर्थात् वृहती छन्द रश्मियों, तृतीय अर्थात् त्रिष्टुप् रश्मियों तथा चतुर्थ अर्थात् जगती छन्द रश्मियों के द्वारा सम्पूर्ण सर्ग प्रक्रिया की रक्षा करती हैं। इससे अग्नितत्त्व समृद्ध होता है।

इन सभी छन्द रश्मियों के रहते और सृष्टि यज्ञ प्रक्रिया के तीव्र गति से चलते हुए भी असुर तत्त्व पुनः अपना प्रहार करने लगता है, जिसके कारण पुनः वाधा खड़ी होने लगती है। उस समय विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से उत्पन्न अग्निमरुत्-देवताक "वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो........" इत्यादि (ऋ.३.३) सूक्त की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत प्रभाव से अग्नि एवं मरुद्रश्मियां दोनों ही विशेष प्रभावित होते हैं। इसके अन्य प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार हैं-

(१) वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे।
अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत्।।१।।

इसका छन्द निचृज्जगती होने से यह छन्द रश्मि व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव फैलाकर अग्नितत्त्व के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया को समृद्ध करती है। इसके अन्य प्रभाव से अग्नितत्त्व निरन्तर अक्षीण रहकर विभिन्न देव पदार्थों में 'दुवस्यति' अर्थात् सतत सव ओर विचरण करता है। इस पर कोई वाधक तत्त्व प्रभावकारी नहीं होता। यह विशेषरूपेण सवका पालक सवको व्याप्त करने वाले मरुतों, जो विशाल वलयुक्त होते हैं, को प्रकाशित व धारण करता हुआ उनके साथ संगत होता है।

(२) अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः।
क्षयं बृहन्तं परि भूषति द्युभिर्देवेभिरग्निरिषितो धियावसुः।।२।।

इसका छन्द जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्वापेक्षा कुछ मन्द होता है। इसके अन्य प्रभाव से {दस्मः = दस्यति उपक्षयति दुःखयति वा स दस्मः (उ.को.१.१४५)} वह अग्नि निश्चित रूप से विभिन्न छन्दादि रश्मियों में स्थित होकर विभिन्न क्रियाओं को वसाने वाला, मूर्तिमान् पदार्थों को छिन्न-भिन्न कर उनको संगत करता है। वह अग्नि सवके वीच स्थित होकर दूत के समान संवेग प्रदाता देदीप्यमान किरणों के साथ प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही पदार्थों में व्याप्त होता है। फिर उन सवको ही प्रकाशित करता है।

(३) केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः।
अपांसि यस्मिन्नधि सन्दधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके।।३।।

{सुम्नम् = सुखनाम (निघं.३.६), यज्ञो वै सुम्नम् (श.७.२.२.४), प्रजा वै पशवः सुम्नम् (तै.ब्रा.३.३.६.६)} इसका छन्द उपर्युक्तवत् है। इसके अन्य प्रभाव से जिन मरुद्रश्मियों के अन्दर सूत्रात्मा वायु मनस्तत्त्व के साथ संगत हुआ विभिन्न वृहत् छन्द रश्मियों एवं प्राणों को अग्नि में धारण कराता है, जिसके कारण विभिन्न तारों में विभिन्न संयोज्य पदार्थ परस्पर संगत होते हैं।

(४) पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम्।
आ विवेश रोदसी भूरिवर्पसा पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः।।४।।

{वाघतः = वाघतः वोढारो मेधाविनो वा (नि.११.१६), ऋत्विङ्नाम (निघं.३.१८)। वयुनम् = वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (नि.५.१५), वीयते गम्यतेऽनेति वयुनम् (उ.को.३.६१)} वह अग्नि विभिन्न संयोगादि कर्मों का पालक, असुर रूप अर्थात् विशेष प्रक्षेपण सामर्थ्य से युक्त होकर विभिन्न पदार्थों को ढोने वाला, विभिन्न स्थानों में सभी पदार्थों का तर्प्ता, क्रान्तदर्शी होकर आकाश व पृथिवी तत्त्वों में प्रविष्ट होता है। इसका छन्द भी पूर्ववत् है।

(५) चन्द्रमग्निं चन्द्ररथं हरिव्रतं वैश्वानरमप्सुषदं स्वर्विदम्।
विगाहं तूर्णिं तविषीभिरावृतं भूर्णिं देवास इह सुश्रियं दधुः।।५।।

इसका छन्द निचृज्जगती होने से इसका प्रभाव पूर्वापेक्षा कुछ तीक्ष्ण होता है। इसके प्रभाव से अग्नितत्त्व रमणीय तेजवाला होकर विशेष आकर्षणशील व्रत वाला होता है। वह विभिन्न प्राणों में स्थित होकर विद्युत् को अपने साथ संगत करके सम्पूर्ण पदार्थ को विविधरूप से मथता है। वह अति शीघ्रगामी, बलवान् सब ओर से आवृत्त विभिन्न पदार्थों का धारक, विभिन्न प्राणों पर अच्छे प्रकार आश्रित विभिन्न छन्द व मरुद्रश्मियों से संगत होकर सुवर्ण समान रूप वाला होता है।

(६) अग्निर्देवेभिर्मनुषश्च जन्तुभिस्तन्वानो यज्ञं पुरुपेशसं धिया।
रथीरन्तरीयते साधदिष्टिभिर्जीरो दमूना अभिशस्तिचातनः।।६।।

इसका छन्द जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। {अभिशस्तिचातनः = अभिशस्ति+चते याचने (भ्वा.) धातोर्णिचि ल्युट् प्रत्ययः (वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री)} इसके अन्य प्रभाव से अग्नितत्त्व सब ओर से हिंसक तीव्र गतिविधियों को चाहता हुआ, दमनशील, विभिन्न आकर्षण बलों से युक्त, वेगवान् विभिन्न छन्द रश्मियों को अन्य छन्द रश्मियों के साथ तानता हुआ, विविध रूप-रंगों से युक्त होकर पदार्थों को संगत करता है। {जीराः = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५)}

(७) अग्ने जरस्व स्वपत्य आयुन्यूर्जा पिन्वस्व समिषो दिदीहि नः।
वयांसि जिन्व बृहतश्च जागृव उशिग्देवानामसि सुक्रतुर्विपाम्।।७।।

इसका छन्द विराड् जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् परन्तु तेजस्विता अधिक होती है। अन्य प्रभाव से जाग्रत अग्नितत्त्व पतित न होने वाले बलों का सेवन करने वाला, विविध तेजयुक्त छन्दादि रश्मियों को प्राप्त करता है। उस समय उस तेजस्वी अग्नितत्त्व से विभिन्न तत्त्व तृप्त होकर सुन्दर रूपों वाले होते हैं।

(८) विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः सदा यन्तारं धीनामुशिजं च वाघताम्।
अध्वराणां चेतनं जातवेदसं प्र शंसन्ति नमसा जूतिभिर्वृधे।।८।।

इसका छन्द जगती होने से प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न कर्मों में नृत्य करने वाले विभिन्न मरुत् वेगादि गुणों से युक्त, विभिन्न पदार्थों के रक्षक, महान् यन्ता, सतत गतिशील, विभिन्न पदार्थों के वाहक, सभी पदार्थों में व्याप्त विभिन्न संयोज्य कणों को संगत करता है।

(९) विभावा देवः सुरणः परि क्षितीरग्निर्बभूव शवसा सुमद्रथः।
तस्य व्रतानि भूरिपोषिणो वयमुप भूषेम दम आ सुवृक्तिभिः।।९।।

इसका छन्द पूर्ववत् है। अन्य प्रभाव से वह अग्नि विविध दीप्तियों से युक्त होकर, अच्छे प्रकार पदार्थों का संघात करता है। वह विविध बलों से सभी अप्रकाशित पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें अनेक प्रकार

से पुष्ट एवं सुशोभित करता है।

(१०) वैश्वानर तव धामान्या चके येभिः स्वर्विदभवो विचक्षण।
जात आपृणो भुवनानि रोदसी अग्ने ता विश्वा परिभूरसि त्मना।।१०।।

छन्द विराड् जगती होने से प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से अति शोभन रूप वाले विभिन्न मरुत् अग्नि के समान वर्तमान होकर समस्त लोकों को अच्छी प्रकार तृप्त करते हैं। वे सभी प्रकाशित एवं अप्रकाशित सभी लोकों व कणों के सब ओर व्याप्त होते हैं।

(११) वैश्वानरस्य दंसनाभ्यो बृहदरिणादेकः स्वपस्यया कविः।
उभा पितरा महयन्नजायताग्निर्द्यावापृथिवी भूरिरेतसा।।११।।

इसका छन्द भुरिक् पंक्ति होने से अग्नि तत्त्व का प्रभाव व बल विस्तृत होता है। इसके अन्य प्रभाव से {दंसः कर्मनाम (निघं.२.१)} वह अग्नि एक अर्थात् अपने ही सामर्थ्य से क्रान्तदर्शी होकर विभिन्न कर्मों को करने की इच्छा करता हुआ व्यापकता को प्राप्त होकर सभी लोकों को उत्पन्न करता व उनके अन्दर प्रसिद्ध होता है।

इस प्रकार इन ग्यारह छन्द रश्मियों के प्रभाव से अग्नितत्त्व अत्यन्त प्रबल तेजस्वी एवं व्यापक हो जाता है। इस कारण असुर तत्त्व यहाँ कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर पाता। ये ग्यारह ऋचाएं वज्र रूप होती हैं, इस कारण वे असुर पदार्थ को रोकने में सर्वथा समर्थ होती हैं। पूर्वोत्पन्न प्रगाथ संज्ञक दो रश्मियां अग्नि को पुनः प्रतिष्ठापित करती हैं और अग्नि के उत्पन्न होने की क्रिया वहाँ समाप्त हो जाती है। पुनः ये ग्यारह रश्मियां वज्र रूप होकर उस प्रगाथ रश्मिद्वय में से किंवा अग्नि में से असुरतत्त्व को बाहर निकाल कर दूर फेंक देती हैं। ये रश्मियां उस पदार्थ के सभी पाशों अर्थात् बन्धक बलों, सभी स्थूणों वा यूपों अर्थात् ऐसे तीक्ष्ण विकिरणों, जो अग्नियुक्त पदार्थों किंवा अग्नि के उत्पादक पदार्थों के अन्दर मिश्रित होकर उन्हें बिखेर देती हैं किंवा वे उन पदार्थों को बाहर ही रोक कर संगत ही नहीं होने देती हैं, को निराकृत कर देती हैं। उन रश्मियों पर स्वयं उस असुर पदार्थ का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके कारण ही होता अर्थात् प्राणादि पदार्थ, जो विभिन्न पदार्थों को सृष्टि यज्ञ में तारों के केन्द्रीय भाग की ओर संगत करते हैं, सम्पूर्ण आयु के लिए असुर तत्व से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार की विभिन्न प्रक्रियाओं के सम्पन्न होने पर ही सभी संयोज्य पदार्थ (उस क्षेत्र में) असुर पदार्थ से अपनी आयु अर्थात् उन लोकों की आयु भर के लिए मुक्त रहते हैं, जिससे विभिन्न तारों का जीवन सम्यग्रूपेण चलता रहता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनन्तर तारों के केन्द्रीय भागों में सभी प्रकार की छन्द रश्मियां सक्रिय होकर उनके ताप व तेज को बढ़ाती हुई विभिन्न कणों-नाभिकों को संलयित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ करने को उद्यत होती हैं, तभी केन्द्रीय भागों में भी डार्क एनर्जी प्रविष्ट होकर संगतीकरण में बाधा खड़ी कर देती है। उस समय १० विभिन्न जगती तथा एक पंक्ति छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इन ग्यारह रश्मियों के प्रभाव से केन्द्रीय भाग में विद्यमान कणों की ऊर्जा अत्यधिक बढ़ जाती है। फिर केन्द्रीय भाग में मंथन क्रिया होने लगती है। विभिन्न रश्मियां भी संगत होकर कणों के संलयन को प्रारम्भ करती हैं। वहाँ बाहर से पदार्थ भी आने लगता है। ऊर्जा की उत्पत्ति होकर उसके उत्सर्जन व अवशोषण की क्रियाएं तेज हो जाती हैं। उस समय तारों के केन्द्रीय भाग का ताप व वैद्युत प्रभाव इतना अधिक हो जाता है कि डार्क एनर्जी उस में प्रविष्ट ही नहीं हो सकती। जो पूर्व में विद्यमान होती भी है, उसे भी बाहर फेंक दिया जाता है। इसके बाद तारे अपनी आयु भर निर्विघ्न देदीप्यमान बने रहते हैं। विशेष जानने हेतु व्याख्यान भाग पढ़ें।।

॥ इति १२.3 समाप्तः ॥

अथ १२.४ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत्, स परमामेव परावतमगच्छद्, अनुष्टुब् वै परमा परावद्, वाग्वा अनुष्टुप्, स वाचं प्रविश्याशयत्, तं सर्वाणि भूतानि विभज्यान्वैच्छंस्तं पूर्वेद्युः पितरोऽविन्दन्नुत्तरमहर्देवास्तस्मात् पूर्वेद्युः पितृभ्यः क्रियते, उत्तरमहर्देवान् यजन्ते।।

{परावतः = प्रेरितवतः परागताद्वाः (नि.११.४८), दूरनाम (निघं.३.२६), परशब्दात् मतुप् पूर्वस्य दीर्घश्छान्दसः अन्तो वै परावतः (ऐ.५.२)। पितरः = अनपहतपाप्मानः पितरः (श.२.१.३.४)। देवाः = अपहतपाप्मानो देवाः (श.२.१.३.४)।}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि पूर्वखण्ड में वर्णित मरुत्वतीय शस्त्र संज्ञक अनुष्टुप् छन्दस्क ऋचा

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते।।१।। (ऋ.८.६८.१)

की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं- जब आकाशस्थ विविध पदार्थ पवमान स्तोत्र की आठ छन्दरश्मियों के साथ संगत होता है, उस समय उस पदार्थ का जो स्वरूप होता है, वह पूर्वखण्ड में द्रष्टव्य है। उन पवमान स्तोत्र की छन्द रश्मियों से संगत वह सम्पूर्ण सोम आदि पदार्थ यद्यपि धीरे-२ तेजस्वी व संगत होता जाता है, उसी समय वृत्र संज्ञक असुर पदार्थ, उस सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ को चारों ओर से घेर लेता है। उस आवृत्त पदार्थ में अग्नि व पृथिवी दोनों तत्त्वों ही का मिश्रण होता है। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "वृत्रो ह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम" (श.१.१.३.४) उस समय उस पदार्थ में विद्यमान इन्द्रतत्त्व ने उस आवरक वृत्र नामक असुर तत्त्व पर आक्रमण किया पुनरपि वह आवरक विशाल क्षेत्र में फैला हुआ असुर तत्त्व नष्ट नहीं हुआ और न दूर ही हटा। यहाँ 'वृत्र मरा नहीं', ऐसा विचार कर इन्द्रतत्त्व', यह ग्रन्थकार की अपनी शैली है। वस्तुतः इसका भाव यह है कि वह इन्द्रतत्त्व असफल प्रयास कर चमकता हुआ स्वयं ही बहुत दूर चला गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस वृत्र-असुर तत्त्व के तीव्र प्रक्षेपक बलों के द्वारा इन्द्र तत्व को ही दूर धकेल दिया। वह इन्द्र तत्त्व परमा अर्थात् श्रेष्ठ रश्मियों से परिपूर्ण उस सुदूर स्थान की ओर चल पड़ा। वे श्रेष्ठ रश्मियां मरुत्वतीय शस्त्र रूप ही थीं, जिनकी ऊपर चर्चा की गयी है। वे अनुष्टुप् रश्मियां वाग् रूप थीं अर्थात् वे योषा रूप में अन्य सभी पूर्वोत्पन्न छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त हो गयीं। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- "योषा हि वाक्" (श.१.४.४.४) ये योषा रूप अनुष्टुप् छन्द रश्मियां ही वाग्रूप एवं वेदीरूप होती है। इन्हीं के अन्दर विविध छन्द रश्मियां संगत होती हैं। इसी कारण कहा है- "योषा वै वेदिः" (श.१.३.३.८)। इस प्रकार इन्द्र तत्त्व उस अनुष्टुप् छन्दरूप वाक् तत्त्व में प्रविष्ट हो गया। उधर इन्द्र तत्त्व विहीन अन्य सभी पदार्थ इधर-२ विभक्त होकर प्रवाहित होने लगा। वह वृत्र नामक असुर तत्त्व से विमुख होकर इधर-उधर बिखरने लगा। उस समय उस पदार्थ के दो भाग हो गये।

(१) पितरः = अर्थात् वह पदार्थ असुर तत्त्व से मुक्त नहीं हो पाया था।

(२) देव = वह पदार्थ जो असुर तत्त्व से मुक्त होकर स्वतंत्र-स्वच्छन्द विचरण करता है। पितर नामक पदार्थ असुर तत्त्व के प्रभाव से बलपूर्वक प्रतिकर्षित करके दूर हटाया जाने लगा, इस कारण दूर जाते

उस पदार्थ को अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से युक्त इन्द्र तत्त्व पहले प्राप्त हो गया, जबकि असुर तत्त्व से अप्रभावित देव तत्त्व, इन्द्र तत्त्व व अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ बाद में संगत हुआ। यहाँ 'अहन्' का तात्पर्य संगतीकरण प्रक्रिया का चरण है, न कि कालसूचक दिन। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्र के साथ संगतीकरण प्रथम पितर पदार्थ से तथा उसके बाद में देव पदार्थ से होता है। सभी तारों के निर्माण में यही प्रक्रिया हुआ करती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सर्ग प्रक्रिया में जब विभिन्न छन्द रश्मियों से युक्त पदार्थ जबकि वह मेघ रूप में भी प्रकट नहीं हो पाता है, उस समय उस सूक्ष्म गैसीय अवस्था वाले प्रकाशयुक्त पदार्थ को डार्क एनर्जी आदि पदार्थ चारों ओर से घेर कर अपने तीव्र प्रतिकर्षण बल से ताड़ित करते हैं। उस समय उस प्रकाशित पदार्थ में से कुछ तीक्ष्ण विद्युत् युक्त विकिरण डार्क एनर्जी पर प्रहार करते हैं परन्तु डार्क एनर्जी के प्रबल बल से वे वैद्युत तरंगें निष्प्रभावी होकर वापिस लौट जाती हैं। उसके पश्चात् वे वैद्युत तरंगें दूर जाकर वहाँ विद्यमान अनुष्टुप् तरंगों में मिल जाती हैं। उस समय उन वैद्युत तरंगों में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ अनुष्टुप् रश्मियां मिश्रित होकर उन्हें तीव्र बल व तेजयुक्त बनाती हैं। उसके पश्चात् वह तेजस्वी गैसीय पदार्थ व विकिरण इधर-उधर बिखरने लगता है। उस समय उस पदार्थ के दो भाग हो जाते हैं। एक पदार्थ वह होता है, जिस पर डार्क एनर्जी का प्रभाव अधिक होता है। वह उस प्रभाव से तेजी से उसी दिशा में चलता है, जिधर वैद्युत तरंगें गई थीं। फिर वह उन तरंगों के साथ मिल जाता है। यह पदार्थ सूक्ष्म कणों के रूप में होता है। दूसरा पदार्थ तरंग रूप में होता है, जो डार्क एनर्जी से अधिक प्रभावित नहीं होता किंवा उसके प्रतिकर्षक प्रभाव से मुक्त हो चुका होता है। यह पदार्थ भी वैद्युत तरंगों की दिशा में प्रभावित होता है तथा द्वितीय चरण में वह भी उनसे मुक्त होता है। विभिन्न तारों की निर्माण प्रक्रिया में यही क्रम चलता है। सर्वप्रथम कम प्रकाशित कण संघनित होते हैं तथा उसके पश्चात् विभिन्न तीव्र प्रकाशित कण व विकिरण उनके साथ संगत होते हैं।।

२. तेऽब्रुवन्नभिषुणवामैव तथा वाव न आशिष्ठमागमिष्यतीति तथेति तेऽभ्यषुण्वंस्त 'आ त्वा रथं यथोतये' इत्येवैनमावर्तयन्, 'इदं वसो सुतमन्धः' इत्येवैभ्यः सुतकीर्त्यामाविरभवद् 'इन्द्र नेदीय एदिहि' इत्येवैनं मध्यं प्रापादयन्त।। आगतेन्द्रेण यज्ञेन यजते, सेन्द्रेण यज्ञेन राध्नोति य एवं वेद।।४।।

{आशिष्ठाः = अतिशयेनाशुगामिनः (म.द.ऋ.भा.२.२४.१३)। कीर्तिः = प्रकाश, ध्वनि एवं विस्तार (आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि उपर्युक्त प्रक्रिया व परिस्थिति के अग्रिम चरण की चर्चा करते हैं। जब पूर्वोक्त पदार्थ को इन्द्र तत्त्व मिश्रित अनुष्टुप् छन्द रश्मियां प्राप्त हो गयीं, उस समय उस पदार्थ ने अन्तरिक्ष में विद्यमान सोम वायु को मथना वा मिलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अतिशय शीघ्रगामी इन्द्र तत्त्व उस सोम तत्त्व को व्याप्त कर सके। उस समय पुनः पूर्वोक्त मरुत्वतीय शस्त्ररूप

आ त्वा रथं यथोतयें सुम्नायं वर्तयामसि।
तुविकूर्मिमृंतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पंते।।१।। (ऋ.८.६८.१)

की उत्पत्ति होती है। उस अनुष्टुप् छन्द रश्मि के सहयोग से देव पदार्थ ने इन्द्र तत्त्व को प्राप्त कर लिया और वह इन्द्र तत्त्व उस देव पदार्थ का चक्कर लगाने लगा किंवा वह सोम वायु इन्द्र तत्त्व व अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का चक्कर लगाने लगा। इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है- "मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः" (श.२.५.३.२०) इसी का संकेत अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि ने किया - "त (मरुतः) एनम् (इन्द्रम्) अध्यक्रीडन्" (तै.ब्रा.१.६.७.५) उसी समय मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरस ऋषि प्राणों अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं पूर्वोक्त

प्रियमेध प्राण से उस तप्त अवस्था में इन्द्रदेवताक एवं आर्षी गायत्री छन्दस्क

इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्। अनाभयिन्ररिमा ते।।१।। (ऋ.८.२.१)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से इन्द्र तत्त्व और भी तेजस्वी हो उठता है। इसके अन्य प्रभाव से वह सबको बसाने वाला इन्द्र तत्त्व उस सोम पदार्थ का अवशोषण करके उस क्षेत्र को पूर्ण करता है। इससे वह क्षेत्र प्रकाश और उच्च ध्वनियों से भर जाता है। खण्ड ३.१७ की कण्डिका "ते एव गायत्र्या उत्तरे....." के अनुसार इसी ऋषि प्राण से इसी देवता व छन्द वाली

नृभिर्धूतः सुतो अश्नैरव्यो वारैः परिपूतः। अश्वो न निक्तो नदीषु।।२।।
तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे।।३।। (ऋ.८.२.२-३)

ये दो ऋचाएं अर्थात् कुल तीन गायत्री छन्दस्क ऋचाएं (एक तृच) उत्पन्न होती हैं। इनके छान्दस एवं दैवत प्रभाव पूर्ववत् हैं। शेष प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) वे सोम रश्मियां विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को गति व शुद्धता प्रदान करती हैं एवं {अश्नः = मेघनाम (निघं.१.१०)} इन्द्र तत्त्व उन सब पदार्थों को मेघ के समान व्यापकता प्रदान करके उनकी रक्षा करता एवं सब ओर से उन्हें शुद्ध करता हुआ तीव्र गति प्रदान करता है।

(२) वह इन्द्र तत्त्व अपनी किरणों के द्वारा उन विभिन्न मिश्रित व अमिश्रित पदार्थों के विभिन्न मिथुनों के अनुसार विभिन्न पदार्थों की सिद्धि करता है।
{सधमादम् सहमदनम् (नि.७.३०)} इससे वे सभी पदार्थ परस्पर समान क्षेत्र में तृप्त होते रहते हैं। इसके पश्चात् मेध्यः काण्व ऋषि अर्थात् सबके साथ संगत होने वाले सूत्रात्मा वायु से इन्द्रदेवताक एवं विराड् बृहती छन्दस्क

इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः।।५।। (ऋ.८.५३.५)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके प्रभाव से इन्द्र तत्त्व विस्तृत होने लगता है तथा वह गैसीय पदार्थ कुछ-२ संघनित भी होने लगता है। वह इन्द्र तत्त्व सूत्रात्मा वायु से परिवेष्टित होकर एवं इसके द्वारा ही रक्षित होकर विभिन्न पदार्थों में निकटता से व्याप्त होने लगता है। इसके पश्चात् वे पदार्थ परस्पर नियन्त्रित होते हुए उचित रूप से संगत होने लगते हैं। इस संगति प्रक्रिया के मध्य इन्द्र तत्त्व सक्रिय रहता है। इस विषय में महर्षि आश्वलायन कहते हैं- "इन्द्र नेदीय एदितीन्द्रनिहवःप्रगाथः" (आश्व.श्री. ५.१४.५)। इसका आशय है कि यह रश्मि उपर्युक्त छन्द रश्मि के साथ संगत होकर प्रगाथ रूप धारण करके अर्थात् प्रकृष्टरूपेण देदीप्यमान होकर इन्द्र तत्त्व का आह्वान करती है अर्थात् इससे इन्द्र तत्त्व पूर्ण सक्रिय हो उठता है।।

इन्द्रतत्त्व के सब ओर व्याप्त होने पर संगतीकरण की क्रियाएं समृद्ध होने लगती हैं। बिना इन्द्र तत्त्व के सर्ग यज्ञ समृद्ध नहीं होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यासार- विभिन्न विद्युत् तरंगों के चारों ओर सूक्ष्म मरुद् रश्मियां चक्कर लगाती रहती हैं। जब इस प्रकार की विद्युत् आवेशित तरंगों की मात्रा पर्याप्त बढ़ जाती है, उस समय गैसीय पदार्थ सक्रिय होकर कुछ-२ संघनित होने लगता है।।

॥ इति १२.४ समाप्तः ॥

अथ १२.५ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. इन्द्रं वै वृत्रं जघ्निवांसं नास्तृतेति मन्यमानाः सर्वा देवता अजहुस्तं मरुत एव स्वापयो नाजहुः, प्राणा वै मरुतः स्वापयः, प्राणा हैवैनं तं नाजहुस्तस्मादेषोऽच्युतः स्वापिमान् प्रगाथः शस्यत आस्वापे स्वापिभिरिति।।
अपि ह यद्यैन्द्रमेवात ऊर्ध्वं छन्दः शस्यते तद्ध सर्वं मरुत्वतीयं भवत्येष चेदच्युतः स्वापिमान् प्रगाथः शस्यत आस्वापे स्वापिभिरिति।।५।।

व्याख्यानम्– जव पूर्वोक्तानुसार इन्द्रतत्त्व, जो अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से युक्त होकर वृत्र रूप विशाल क्षेत्र में फैले असुर तत्त्व पर प्रहार करता है और वह असुर तत्त्व दूर भी हट जाता है, पुनरपि उसका दुष्प्रभाव सभी देव पदार्थों से पूर्णतः दूर नहीं हुआ। उस समय विभिन्न देव पदार्थ, जो उस वृत्र तत्त्व से घिरे थे, वे इन्द्र तत्त्व से दूर हो गये। उधर मरुद्रश्मियां अर्थात् सोम तत्त्व इन्द्र तत्व से दूर नहीं हुआ था। वे मरुद्रश्मियां सर्वत्र व्याप्त थीं, इस कारण वे इन्द्र तत्त्व से दूर नहीं हो सकीं। यहाँ 'स्वापयः' पद 'स्वापिः' का वहुवचन है। स्वापिः = सु+आपिः। यहाँ सायण भाष्य में पाद टिप्पणी में षड्गुरुशिष्य को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'आपिराप्तो बन्धुः'। महर्षि दयानन्द ने भी ऋग्वेद भाष्य २.२७.१७ में 'आपिः' के षष्ठी रूप 'आपेः' का अर्थ 'य आप्नोति तस्य' किया है। यह पद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से औणादिक इः प्रत्यय से मिलकर वना है, ऐसा मत वैदिक कोष में आचार्य राजवीर शास्त्री ने व्यक्त किया है। इसका तात्पर्य है कि मरुद् रश्मियां अच्छी प्रकार सर्वत्र व्याप्त होती हैं। यहाँ महर्षि ने अच्छी प्रकार सव ओर व्याप्त प्राणतत्त्व को ही मरुत् कहा है। यहाँ प्राणतत्त्व का तात्पर्य प्राणापानादि प्राथमिक प्राण है किंवा सूक्ष्म छन्द रश्मियां मरुत् हैं। इन सूक्ष्म मरुत् संज्ञक रश्मियों ने इन्द्रतत्त्व का साथ नहीं छोड़ा अर्थात् वे सदैव ही इन्द्रतत्त्व के साथ उसके परितः चक्कर लगाती रहती हैं। तदुपरान्त पूर्व खण्ड की अन्तिम कण्डिका में वर्णित

इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
आ शंतम शंतमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः।।५।। (ऋ.८.५३.५)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इस छन्द में 'आ स्वापे स्वापिभिः' पदों के विद्यमान होने से इसके प्रभाव से सर्वत्र अच्छी प्रकार व्याप्त मरुद् रश्मियां भली प्रकार से इन्द्र तत्त्व के साथ और भी दृढ़ता से वंध जाती हैं। यहाँ महर्षि ने इस ऋचा को 'अच्युतः प्रगाथः' कहा है। महर्षि आश्वलायन ने भी इसे प्रगाथ कहा है, जैसा कि हम इस मत को पूर्व में लिख चुके हैं। अच्युत का तात्पर्य यह है कि यह ऋचा अविराम उत्पन्न व सक्रिय होकर मरुद्रश्मियों व इन्द्र तत्त्व के वन्धन को दृढ़ करती रहती है। इसके कारण इन्द्र तत्त्व पूर्ण सक्रिय होकर संगतीकरण की प्रक्रिया को अविच्छिन्न वनाये रखता है। इस छन्द रश्मि में से 'आस्वापे स्वापिभिः' पद ही इस वन्धन की दृढ़ता का कारण होते हैं। इसका छन्द वृहती है। उधर एक अन्य महर्षि का मत है- "प्राणापानौ वै बार्हतः प्रगाथः" (कौ.ब्रा.१५.४)। इसका तात्पर्य है कि वृहती छन्द में विद्यमान प्रगाथ प्राणापान युग्म की भाँति व्यवहार करते हैं। इस कारण 'आस्वापे स्वापिभिः" पद प्रगाथ रूप होकर प्राणापान के युग्म की भाँति इन्द्र तत्त्व एवं मरुद्रश्मियों को वांधने में सहायक होते हैं।।

अव महर्षि कहते हैं कि इस प्रक्रिया के अनन्तर जो भी छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, उनमें विभिन्न मरुत् विद्यमान हों वा न हों, वे सभी मरुत्वतीय के समान ही होते हैं। ऐसा कव होता है?

इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि जब उपर्युक्त "आस्वापे स्वापिभिः" पदों से युक्त छन्द रश्मि अच्युतरूपेण अर्थात् सततरूपेण सक्रिय व उत्पन्न होती रहती है। उस समय इसके ये दो पद ही आगामी छन्द रश्मियों को मरुत्वतीय के समान प्रभाव वाला बना देते हैं। यदि यह उपर्युक्त स्वापिमान् छन्द में व्यवधान हो जाए, तब आगामी छन्द रश्मियां मरुत्वतीयवत् व्यवहार करने में असमर्थ होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विद्युत् तरंगों के साथ मरुद् रश्मियां क्यों सदैव विद्यमान रहती हैं? इसका कारण यहाँ बताया गया है। इस विषय में विशेष जानने हेतु व्याख्यान भाग पढ़ना ही उचित है।।

ॐ इति १२.५ समाप्तः ॐ

अथ १२.६ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. ब्राह्मणस्पत्यं प्रगाथं शंसति।।
बृहस्पतिपुरोहिता वै देवा अजयन् स्वर्गं लोकं व्यस्मिँल्लोकेऽजयन्त तथैवैतद् यजमानो बृहस्पतिपुरोहित एव जयति स्वर्गं लोकं व्यस्मिँल्लोके जयते।।

{ब्रह्मणस्पतिः = बृहस्पते ब्रह्मणस्पते (तै.ब्रा.३.११.४.२), एषऽ (प्राणः) उऽएव बृहस्पतिः (श.१४.४.१.२२), अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत् (जै.उ.२.१.२.५), एषऽ (प्राणः) उऽ एव ब्रह्मणस्पतिः (श.१४.४.१.२३)। अर्य्यमा = सूत्रात्मा (म.द.य.भा.३४.५७), यज्ञो वा अर्य्यमा (तै.ब्रा.२.३.५.४), विद्युत् (म.द.ऋ.भा.७.६०.४)। घोरः = हन्तीति घोरम् (उ.को.५.६४)।}

व्याख्यानम्- यहाँ हम महर्षि आश्वलायन को उद्धृत करते हैं- "प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिरिति ब्राह्मणस्पत्यः"।। तृचाः प्रतिपदनुचरा द्वृचाः प्रगाथा आऽतोऽथर्चं सर्वम्।। (आश्व.श्रौ.५.१४.६-७)। इससे सिद्ध है कि इस कण्डिका में जिस ब्राह्मणस्पत्य प्रगाथ की चर्चा है, वह घोरपुत्रः कण्व ऋषि अर्थात् सबको प्राप्त करने वाले व सबके पालक सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न बृहस्पतिदेवताक एवं पथ्या बृहती छन्दस्क

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे।।५।। (ऋ.१.४०.५)

के रूप में उत्पन्न होता है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से पूर्वोक्त मरुद्रश्मियां इन्द्र तत्त्व के साथ एक मर्यादित व अनुकूल क्षेत्र व मार्ग में संयुक्त हो जाती हैं। इसके अन्य प्रभाव से वह प्राणापान का युग्म विभिन्न प्रकाशमान् वैदिक छन्दरश्मियों को प्रकृष्ट गति प्रदान करता है। इन सबसे सम्पादित हो रही सर्ग प्रक्रिया में इन्द्र तत्त्व, प्राण, अपान, सूत्रात्मा वायु, विभिन्न अन्य प्रकाशित अर्थात् देव पदार्थ अपने-२ स्थानों पर धारण किये जाते हैं। महर्षि आश्वलायन के उपर्युक्त द्वितीय सूत्र से यह सिद्ध होता है कि इस प्रकरण में अर्धर्च को एक ऋचा मान कर एक ऋचा को ही दो ऋचा मान कर उसकी प्रगाथ संज्ञा करते हैं। इसी कारण महर्षि ने इस कण्डिका में इस ब्राह्मणस्पत्य ऋचा को प्रगाथ कहा है।।

विभिन्न प्रकार के पदार्थ प्रकाशित वा अप्रकाशित लोकों किंवा तारों के केन्द्रीय भागों व अन्य भागों में किंवा संगत क्रियाओं व अन्य क्रियाओं में वृहस्पति अर्थात् प्राणापान को ही अपना पुरोहित वनाते हैं। इसका आशय है कि **वे प्राण व अपान को अपने अग्रभाग में धारण करके गति व क्रियाशील होते हैं**। इस कारण ही वे अपनी सभी क्रियाओं को नियन्त्रित करने में सक्षम होते हैं। यह वात सृष्टि के प्रारम्भिक चरणों से लेकर वर्तमान तक सदैव लागू होती है। **विभिन्न प्रकार के संयोज्य कण भी प्राण व अपान को अपने अग्रभाग में अर्थात् अपनी गति की दिशा में सिरे पर धारण करके ही अपनी संयोग क्रिया को सम्पादित कर पाते हैं तथा असंयोग के समय भी वे अपनी विभिन्न क्रियाओं को सम्पन्न कर पाते हैं**। इसी वात को अन्य ऋषि ने कहा है- "बृहस्पतिर्देवानां पुरोहित आसीत्" (तै.सं.६.४.१०.१)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में सभी मूलकण चाहे वे परस्पर संयोग कर रहे हों अथवा नहीं कर

रहे हों, वे हर परिस्थिति में अपनी गति की दिशा के अग्रभाग में प्राण व अपान नामक सूक्ष्म रश्मियों को धारण किए रहते हैं। इसके कारण वे सभी कण, फोटोन्स प्रकृष्ट वल व गति को प्राप्त कर लेते हैं। सूत्रात्मा वायु भी सदैव इनके साथ संयुक्त रहता है। प्राणापान के साथ सभी कणों को बांधने में सूत्रात्मा वायु रश्मि की भी भूमिका रहती है। इसके साथ इस कार्य में एक बृहती छन्द रश्मि जिसका वर्णन व्याख्यान भाग में किया गया है, भी सदैव अपनी भूमिका इस कार्य में निभाती है।।

२. तौ वा एतौ प्रगाथावस्तुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते, तदाहुर्यन्न किंचनास्तुतं सत्पुनरादायं शस्यतेऽथ कस्मादेतौ प्रगाथावस्तुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते इति।।

{शस्त्रम् = वाग् हि शस्त्रम् (ऐ.३.४४), विट् शस्त्रम् (ष.१.४)। स्तोता = वायुर्वै स्तोता (श. १३.२.६.२)। स्तोत्रम् = क्षत्रं वै स्तोत्रम् (ष.१.४), आत्मा वै स्तोत्रम् (श.५.२.२.२०)। आदाय = (आ+दा = ग्रहण करना, थामना, ले जाना - आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है-
"समाम्नाते द्वे एव ऋचौ प्रग्रथनेन तृचरूपतया संपाद्येते। प्रग्रथनप्रकार उच्यते - 'प्रनूनम्' इत्येषा बृहती छन्दस्का। द्वादशाक्षरेण तृतीयपादेनाष्टाक्षरैश्चान्यैर्युक्ततया षट्त्रिंशदक्षरसंपतेः। सेयमृक् सकृत् पठनीया। पुनरपि तत्रत्यमष्टाक्षरं चतुर्थपादं द्विराम्नाय षोऽशाक्षरोऽर्धर्चः संपादनीयः। इतरस्यामृचि प्रथमपादो द्वादशाक्षरः। द्वितीयपादोऽष्टाक्षरः। एतत् सर्वं मिलित्वा द्वितीया बृहती संपद्यते। तत्रत्यमन्तिममष्टाक्षरपादं द्विरभ्यस्य समाम्नात उत्तरार्धे द्वादशाक्षरं प्रथमपादमष्टाक्षरमुत्तरपादं च पठित्वा तृतीया बृहती संपादनीया। अयमेव प्रग्रथनप्रकार 'इन्द्र नेदीय एदिहि' इत्यत्रापि प्रगाथे योजनीयः।"

जैसा कि हम लिख चुके हैं कि आचार्य सायणादि लगभग सभी भाष्यकारों ने ब्राह्मणग्रन्थों का आधियाज्ञिक अर्थ किया है और इसी दृष्टि से उपर्युद्धृत भाष्य है। हम इस भाष्य से परम्परागत याज्ञिक पद्धति को जान कर उस में छिपे वैज्ञानिक रहस्य को अपने ढंग से समझने का प्रयास करते हैं।

हम पूर्व में दो प्रगाथ रश्मियों की उत्पत्ति की चर्चा कर चुके हैं। एक प्रगाथ तो पूर्व कण्डिका में वर्णित

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे।।५।। (ऋ.१.४०.५)

तथा दूसरा प्रगाथ पूर्व खण्ड में वर्णित

इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः।।५।। (ऋ.८.५३.५)

है। अब एक-एक प्रगाथ छन्द रश्मि कैसे तृच अर्थात् तीन बृहती छन्द रश्मियों में परिवर्तित हो जाती है, इसे हम सायण भाष्य के आधार पर अपने आधिदैविक ढंग से समझने का प्रयास करते हैं। सर्वप्रथम हम प्रथम छन्द रश्मि को लेते हैं। यह ऋचा इस प्रकार है-

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्य्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे।। (ऋ.१.४०.५)

इस ऋचा के तृतीय पाद में बारह अक्षर हैं। ये बारह अक्षर अन्य किन्हीं तीन छन्द रश्मियों के आठ-२ अक्षरों के पादों, जो ब्रह्माण्ड में कहीं भी मिल सकते हैं, के साथ संयुक्त होकर छत्तीस अक्षर के एक बृहती छन्द रश्मि का निर्माण करते हैं। इस प्रकार प्रथम बृहती छन्द रश्मि की उत्पत्ति हो जाती है।

तदुपरान्त इस उपर्युद्धृत छन्द रश्मि का चतुर्थ पाद 'देवा ओकांसि चक्रिरे' के आठ अक्षर दो वार आवृत्त होकर सोलह अक्षर का रूप लेते हैं। पुनः किसी अन्य छन्द रश्मि, जिसके प्रथम पाद में

वारह व द्वितीय पाद में आठ अक्षर हों, उनसे संयुक्त होकर कुल छत्तीस अक्षरयुक्त द्वितीय वृहती की उत्पत्ति होती है। अव इसके उपरान्त तृतीय वृहती छन्द रश्मि की उत्पत्ति भी द्वितीय वृहती की भाँति होती है। इस प्रकार तीन वृहती छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इन छन्द रश्मियों में अन्य छन्दों के पाद संयुक्त होने से वे रश्मियां भी इनसे परस्पर गुंथी रहती हैं। उधर इस प्रकार ये तीनों छन्द रश्मियां भी नवीन ही होती हैं। इनकी विद्यमानता संहिताओं में नहीं देखी जाती, इस कारण इन्हें अस्तुत कहा है। ये रश्मियां अन्य रश्मियों के कुछ पादों को वार-२ अपने साथ ग्रहण करके उपर्युक्तानुसार उत्पन्न होती हैं। इस सम्वन्ध में महर्षि कुछ विद्वानों के प्रश्न को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि जो ऋचाएं कहीं भी स्तुत वा पठित नहीं हैं, उन्हें क्यों इस प्रकार वार-२ विभिन्न पादों को आकर्षित करके उत्पन्न किया जाता है? ये वृहती रश्मियां क्यों इन उपर्युक्त दोनों प्रगाथ रश्मियों के पृथक् से अस्तुत पादों को ले लेकर अन्य पाद रश्मियों से संयुक्त करके नवीन वृहती छन्द रश्मियों के रूप में उत्पन्न एवं सक्रिय करती हैं? इसकी क्या आवश्यकता है? ध्यातव्य है कि द्वितीय प्रगाथ रश्मि 'इन्द्रनेदीयं'... से भी इसी प्रकार तीन वृहती छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में अनेक ऐसी भी छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं, जो वेद संहिताओं वा शाखाओं में भी विद्यमान नहीं होती हैं। इसके उदाहरण हमें पूर्व में अनेकत्र मिले हैं। यहाँ इस प्रकार की छन्द रश्मियों की उत्पत्ति की प्रक्रिया दर्शायी है। यह प्रक्रिया इस प्रकार है- **कुछ छन्द रश्मियों के कुछ पाद अथवा एक पाद दो वा दो से अधिक बार आवृत्त होकर अन्य छन्द रश्मियों के किसी एक वा दो पाद से मिल कर एक नवीन छन्द रश्मि की रचना कर लेते हैं और ऐसी ही छन्द रश्मियां कहीं उपलब्ध न होते हुए भी ब्रह्माण्ड में विद्यमान होती हैं। कुछ ऐसी छन्द रश्मियां ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं और कुछ वहाँ भी उपलब्ध नहीं हैं।** यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड छन्दादि रश्मियों का ही खेल है, इस कारण वेदादि शास्त्रों में कोई ऋचा उपलब्ध न होने पर ब्रह्माण्ड में भी नहीं होगी, ऐसी धारणा बनाना उचित नहीं है।।

३. पवमानोक्थं वा एतद् यन्मरुत्वतीयं षट्सु वा अत्र गायत्रीषु स्तुवते, षट्सु बृहतीषु, तिसृषु त्रिष्टुप्सु, स वा एष त्रिच्छन्दाः, पंचदशो माध्यन्दिनः पवमानः, तदाहुः कथं त एष त्रिच्छन्दाः पंचदशो माध्यन्दिनः पवमानोऽनुशस्तो भवतीति।।

व्याख्यानम्- इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं- "मरुत्वतीयशस्त्रं यदस्ति, तदेतत् 'पवमानोक्थं' माध्यंदिनपवमानसम्वन्धिशस्त्रम्। अत्र माध्यंदिनपवमानस्तोत्र 'उच्चा ते जातम्' इत्यादिषु 'षट्सु गायत्रीषु' प्रथमं स्तुवते। ततः 'पुनानः सोम' इत्यादिषु 'षटसु वृहतीषु' स्तुवते। यद्यपि द्व्यृचात्मकः प्रगाथः, तथाऽपि पूर्वोक्तन्यायेन प्रग्रथ्य तिस्रो वृहत्यः संपादनीयाः। तासु च रौरव साम प्रागुद्गातव्यं, तत उपरि यौधाजयसाम गातव्यम्। एवं सति तिस्रो वृहत्यः सामद्वयार्थं द्विरावर्त्यमाना षट् संपद्यन्ते। तथा 'प्र तु द्रव' इत्यादिषु तिसृषु त्रिष्टुप्सु स्तुवते।....."

इस भाष्य को दृष्टिगत रखकर हम इस कण्डिका के आधिदैवत स्वरूप पर विचार करते हैं। महर्षि कहते हैं कि विभिन्न मरुद्रश्मियों वाला जो शस्त्र वल है, जिसका वर्णन खण्ड ३.१४ व ३.१५ में है, वह माध्यंदिन पवमान सम्वंधी है। यह छः गायत्री छन्द रश्मियों में प्रकाशित होता है। अमहीयुर्ऋषिः सोमदेवताक व गायत्री छन्दस्क

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः।।१।। (साम.६७२)

पूर्वोक्त ऋषिः, पवमानदेवताक व गायत्री छन्दस्क

स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित् परि स्रव।।२।। (साम.६७३)

एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे।।३।। (साम.६७४)

ये तीन गायत्री छन्द रश्मियां ही दो-२ बार आवृत्त होकर छः गायत्री रश्मियों के रूप में प्रकट होती हैं। सायण भाष्य में भी टिप्पणी में इस द्विरावृत्ति को स्वीकार किया है। इन छन्द रश्मियों का प्रभावादि पूर्व में द्रष्टव्य है।

इसके पश्चात् भरद्वाजादि सात ऋषि पवमानदेवताक एवं बृहती छन्दस्क

पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः।।१।। (साम.६७५)

तथा अमहीयुरांगिरस ऋषिः सोमदेवताक एवं बृहती छन्दस्क

दुहान ऊधर्दिव्यं मधु प्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत्।
आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः।।२।। (साम.६७६)

इन दो बृहती छन्दों के द्वारा पूर्व कण्डिका के अनुसार बार-२ पादों की आवृत्ति व अन्य रश्मियों से मिलकर एक-२ छन्द रश्मि से तीन-२ बृहती छन्द रश्मि उत्पन्न होकर कुल छः बृहती छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। इन छः बृहती छन्द रश्मियों में प्रथम तृच का नाम 'रौरव' तथा द्वितीय तृच का नाम 'यौधाजय' साम है। इसका संकेत इसी खण्ड में अग्रिम एक कण्डिका "तासु वा एतासु बृहतीसु......" से मिलता है। इसमें से रौरव नामक तृच अग्निरूप होती है, इसी कारण कहा है- "अग्निर्वै स्वरस्तस्यैतद्रौरवम्" (तां.७.५.१०) इससे उच्च घोष उत्पन्न होते हैं। उधर यौधाजय नामक तृच विद्युत् एवं वज्ररूप होती हैं। इसी कारण कहा है- "इन्द्रो वै युधाजित्तस्यैतद्यौधाजयम् (तां.७.५.१४), वज्रो वै यौधाजयम्" (तां.७.५.१२)। इन छन्दरश्मियों की उत्पत्ति व स्वरूप आदि के विषय में पूर्व में देखें।

इसके पश्चात् अमहीयुरङ्गिरस ऋषिः सोमदेवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति।।१।।

स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः।।२।।

ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यां३ गुह्यं नाम गोनाम्।।३।।

(साम. ६७७-७९) तृच की उत्पत्ति होती है। इनके विषय में भी पूर्ववत् खण्ड ३.३ द्रष्टव्य है।

इस प्रकार छः गायत्री, छः बृहती एवं तीन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां मिलाकर तीन प्रकार की कुल पन्द्रह छन्द रश्मियां होती हैं। इनमें गायत्री छन्द रश्मियों में से एक का देवता सोम तथा तीनों त्रिष्टुप् रश्मियों का देवता सोम जबकि २ गायत्री का पवमान तथा छः बृहती रश्मियों का देवता पवमान है। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- "सोमो वै पवमानः" (श.२.२.३.२२)। इस कारण ही इन पन्द्रह ऋचाओं को पवमानोक्थ के रूप में ग्रहण किया गया है।

अब यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं कि ये तीन प्रकार की कुल पन्द्रह छन्द रश्मियां माध्यन्दिन स्तोत्र रूप होकर कैसे मरुत्वतीय वलों के साथ परस्पर व्यवस्थित व परस्पर नियन्त्रित हो पाती हैं?।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- खण्ड ३.१४ की कण्डिका द्वितीय एवं खण्ड ३.१५ में दर्शायी अवस्था में तीन गायत्री, तीन बृहती छन्द रश्मियां दो-दो बार आवृत्त होती तथा तीन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां, ये कुल मिलाकर पन्द्रह रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इनके विषय में विशेष जानकारी हेतु व्याख्यान भाग द्रष्टव्य है। यहाँ प्रश्न यह है कि इन पन्द्रह रश्मियों का पूर्वोत्पन्न अन्य रश्मियों से तालमेल कैसे होता है?

४. ये एव गायत्र्या उत्तरे प्रतिपदो यो गायत्रोऽनुचरस्ताभिरेवास्य गायत्र्योऽनुशस्ता भवन्त्येताभ्यामेवास्य प्रगाथाभ्यां बृहत्योऽनुशस्ता भवन्ति।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त कण्डिका में पूछे गये प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि पूर्वोक्त 'आ त्वा रथम्...' इत्यादि मरुत्वतीय वर्लों की इस प्रथम छन्द रश्मि को छोड़ कर अन्य दो छन्द रश्मियां गायत्री हैं तथा पूर्वोक्त 'इदं वसो सुतमन्ध' इस तृच की तीनों रश्मियां गायत्री छन्दस्क हैं। ये कुल मिलाकर पांच गायत्री छन्द रश्मियां उपर्युक्त पवमानोक्थ की छः गायत्री छन्द रश्मियों को अपने साथ संगत करके व्यवस्थित कर लेती हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त 'इन्द्र नेदीय' तथा पूर्वोक्त 'प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिः...' इन दोनों प्रगाथों की बृहती छन्द रश्मियां उपर्युक्त पवमानोक्थ की छः बृहती रश्मियों को अपने साथ संगत एवं व्यवस्थित कर लेती हैं। इस प्रकार यहाँ कुल मिलाकर ग्यारह गायत्री रश्मियां तथा आठ बृहती रश्मियां विद्यमान होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि समान प्रकार की छन्द रश्मियां परस्पर एक-दूसरे को व्यवस्थित, संगत व नियन्त्रित करने में विशेष समर्थ होती हैं।।

५. तासु वा एतासु बृहतीषु सामगा रौरवयौधाजयाभ्यां पुनरादायं स्तुवते; तस्मादेतौ प्रगाथावस्तुतौ सन्तौ पुनरादायं शस्येते, तच्छस्त्रेण स्तोत्रमन्वैति।।
ये एव त्रिष्टुभौ धाय्ये, यत् त्रैष्टुभं निविद्धानं, ताभिरेवास्य त्रिष्टुभोऽनुशस्ता भवन्ति।।
एवमु हास्यैष त्रिच्छन्दाः पञ्चदशो माध्यन्दिनः पवमानोऽनुशस्तो भवति य एवं वेद।।६।।

व्याख्यानम्- अव इस खण्ड की तृतीय कण्डिका "तौ वा एतौ प्रगाथावस्तुतौ....." में पूछे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं। पूर्वोक्त पवमानोक्थ बृहती छन्द रश्मियों "पुनानः सोमः........" इत्यादि से पूर्वोक्त रौरव व युधाजित् संज्ञक तीव्र रश्मियों की उत्पत्ति हेतु उन बृहती छन्द रश्मियों के विभिन्न पादों की बार-२ आवृत्ति होती है। उस बार-२ आवृत्ति से ही नवीन छन्द रश्मियां रौरव व युधाजित् के रूप में प्रकट होती हैं। इसी प्रकार उससे पूर्व वाली कण्डिका "तौ वा एतौ........." में दर्शायी छन्द रश्मियां भी इसी प्रकार अपने विभिन्न पादों की पुनः-२ आवृत्ति करके व अन्तरिक्षस्थ रश्मियों के कुछ पादों से संयोग करके नवीन-२ रश्मियां उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार दोनों ही कण्डिकाओं में दिये मन्त्रों से नवीन छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने की समान प्रक्रिया होने से ये दोनों ही रश्मिसमूह, जो क्रमशः स्तोत्र व शस्त्र संज्ञक हैं, परस्पर एक-दूसरे को नियन्त्रित व व्यवस्थित करते रहते हैं। इसी कारण ही पादों की पुनः पुनरावृत्ति होकर नवीन रश्मियों का निर्माण होता रहता है।।

इस प्रकरण में आचार्य सायण ने दो ऋचाओं को धाय्या संज्ञा दी है। वे दो ऋचाएं इस प्रकार हैं-

(१.) गाथी ऋषिः अर्थात् {गाथी = गाथा को गाने वाला}, {गाथा = वाङ्नाम (निघं.१.११), अनृतं हि गाथा (काठ.१४.५), (अनृतम् = अनृतेनासुरान् (प्रजापतिरसृजत) - काठ.६.११)} ऐसी वाक् किरणों को उत्पन्न करने वाला सूक्ष्म प्राण विशेष, जो असुर तत्त्वों के निर्माण में काम आता है, से त्रिष्टुप् छन्दस्क अग्निदेवताक

अग्निर्नेता भगइव क्षितीनां दैवीनां देव ऋतुपा ऋतावा।
स वृत्रहा सनयो विश्ववेदाः पर्षद्विश्वाति दुरिता गृणन्तम्।।४।। (ऋ.३.२०.४)

इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नियुक्त पदार्थ तीव्र तेज एवं वल से युक्त होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {सनयं पुराणम् (नि.४.१६)} विभिन्न देव पदार्थ (प्रकाशित व अप्रकाशित) परस्पर संगत होकर विभिन्न ऋतु रश्मियों के पालक, विभिन्न ऋत अर्थात् प्राणादि पदार्थों का विभाग करने वाले, असुर तत्त्व के हन्ता तेजस्वी अग्नि तत्त्व को प्राप्त करते हैं।

(२.) रहूगण पुत्रो गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण (देखें १.४.१) से सोमदेवताक एवं पंक्ति छन्दस्क ऋचा उत्पन्न होती है। (सार्वदेशिक सभा प्रकाशन - म.द.भा.) यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास ने इसका छन्द त्रिष्टुप् माना है। ध्यातव्य है कि महर्षि ने इन ऋचाओं का उल्लेख नहीं किया है। यह उल्लेख आचार्य सायण ने परम्परानुसार किया है और उसी से हमने ग्रहण किया है। यह ऋचा है-

त्वं सो॑म॒ क्रतु॑भिः सु॒क्रतु॑र्भू॒स्त्वं दक्षैः॑ सु॒दक्षो॑ वि॒श्ववे॑दाः।
त्वं वृषा॑ वृष॒त्वेभि॑र्महि॒त्वा द्यु॒म्नेभि॑र्द्यु॒म्न्य॑भवो नृ॒चक्षाः॑॥२॥ (ऋ.१.९१.२)

इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सोमतत्त्व तीव्र तेजस्वी व क्रियाशील होता है। अन्य प्रभाव से सोम रश्मियां विशेष क्रियाशील एवं वलवान् पदार्थों के सानिध्य से क्रिया व वल से युक्त हो उठती हैं। इसके कारण विभिन्न प्रकाशित व संयोज्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। फिर ये पदार्थ विशेष विस्तार व दीप्ति को प्राप्त करके वलवान् होते हैं।

ये दोनों त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां धाय्या कहलाती हैं, इस कारण ये रश्मियां पूर्वोक्त तीन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा धारण की जाती हैं। इसके साथ विभिन्न पूर्वोक्त निविद्रश्मियों को धारण करने वाली कुछ त्रैष्टुभ रश्मियां भी उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियां आचार्य सायण के मतानुसार ऋग्वेद १०.७३ वें सूक्त के रूप में हैं। इस सूक्त की सभी ग्यारह ऋचाएं गौरिवीति ऋषि अर्थात् {गौरिवीतिः = यो गौरीं वाचं व्येति सः (तु.म.द.ऋ.भा.५.२९.११), वाचो वै रसोऽत्यक्षरत् तद् गौरीवितमभवत् (जै.ब्रा.३.१८), ब्रह्म यद्देवा व्यकुर्वत ततो यदत्यरिच्यत तद् गौरीवितमभवत् (तां.९.२.३)} एक प्रकार की सूक्ष्म वाग्रश्मियों से इन्द्रदेवताक - "जनिष्ठा उग्रः सहसे ...." इत्यादि ऋग्वेद १०.७३ वें सूक्त की उत्पत्ति होती है। इसकी ऋचाओं का प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार है-

(१) जनि॑ष्ठा उ॒ग्रः सह॑से तु॒राय॑ म॒न्द्र ओजि॑ष्ठो बहु॒लाभि॑मानः।
अव॑र्धन्नि॒न्द्रं म॒रुत॑श्चि॒दत्र॑ मा॒ता यद्वी॒रं द॒धन॒द्धनि॑ष्ठा॥१॥

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से, इन्द्र तत्त्व तीव्र तेजस्वी एवं वलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से सवको धारण करने वाली वाग्रश्मियों रूपी माता जव प्राण रूपी वीरों को धारण करती हैं, तव वे प्राण उग्र, प्रकाशमान्, वलवान्, सव ओर से मर्यादित, त्वरित गतियुक्त होते हैं। उस समय उनके साथ विभिन्न मरुद् रश्मियां भी उत्पन्न होकर इन्द्र तत्त्व को समृद्ध करती हैं।

(२) द्रु॒हो निष॑त्ता पृश॒नी चि॒देवैः॑ पु॒रू शंसे॑न वावृधु॒ष्ट इन्द्र॑म्।
अ॒भीवृ॑तेव॒ ता म॑हाप॒देन॑ ध्वा॒न्तात्प्र॑पि॒त्वादुद॑रन्त॒ गर्भाः॑॥२॥

दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्। अन्य प्रभाव से {एवः = एवैः कामैरयनैरवनैर्वा (नि.१२.२१)। पृथनीचित् = (पृशनम् = स्पृश संस्पर्शने धातोरच्छान्दसं रूपम्)} इन्द्र तत्त्व को स्पर्श करने वाली मरुद् रश्मियां, जो वाधक असुर पदार्थ से द्रोह करती हैं, इन्द्र तत्त्व के सदैव साथ ही स्थित होती हैं। उनके मार्ग, आकर्षण सूक्ष्म वल व रक्षणादि गुण सदैव उनके साथ रहते हैं। इससे इन्द्र तत्त्व समृद्ध होकर सम्पूर्ण पदार्थ को सव ओर से उठाता व रक्षा करता हुआ मेघरूप प्रदान करने में सहायक होता है।

(३) ऋ॒ष्वा ते॒ पादा॒ प्र यज्जिगा॒स्यव॑र्ध॒न्वाजा॑ उ॒त ये चि॒दत्र॑।
त्वमि॑न्द्र सालावृ॒कान्त्स॒हस्र॑मा॒सन्द॑धिषे अ॒श्विना व॑वृत्याः॥३॥

इसका छन्द पादनिचृत्त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्वापेक्षा कुछ तीक्ष्ण होता है। इसके अन्य

प्रभाव से {सालावृकः = शालावृकः सस्य स्थाने शः छान्दस इति मे मतः (शाला = श्यन्ति सूक्ष्मकार्याणि कुर्वन्ति अत्र सा शाला - उ.को.१.११८)। वृकः = वज्रनाम (निघं.२.२० - वै.को. से उद्धृत)। ऋष्वा = ऋष्व इति महन्नाम (निघं.३.३)} वह इन्द्र तत्त्व महान् चरणों पर गमन करता हुआ विभिन्न वलवती रश्मियों को अपने साथ धारण करके समृद्ध होता है। वह इन्द्र तत्त्व उस समय निर्माणाधीन आकाशीय मेघों, जिनमें कि विभिन्न तारों आदि का जन्म सम्भावित होता है, के रूप में विद्यमान शाला में अनेक प्रकार की वलवती वज्र रूप रश्मियों को धारण करके सम्पूर्ण पदार्थ को अपने अधीन करता है।

(४) समना तूर्णिरुपं यासि यज्ञमा नासत्या सख्यायं वक्षि।
वसाव्यामिन्द्र धारयः सहस्राश्विना शूर ददतुर्मघानि।।४।।

इसका छन्द पूर्ववत् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव भी समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व अतिशीघ्रगामी होकर सर्ग प्रक्रिया को भी शीघ्रता से सम्पादित करने हेतु सवको वलपूर्वक धारण करता है। वह प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों प्रकार के पदार्थों को अनेकशः धारण करता व और भी अधिक देदीप्यमान वनाता है।

(५) मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम्।
आभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः प्र तम्रा अवपत्तमांसि।।५।।

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से छान्दस व दैवत प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न प्राणतत्त्वों की रश्मियों के द्वारा असुर तत्त्वों पर प्रहार करता है तथा उस समय विद्यमान पदार्थ के अन्धकार को नष्ट करता है।

(६) सनामाना चिद् ध्वसयो न्यस्मा अवाहन्निन्द्र उषसो यथानः।
ऋष्वैरगच्छः सखिभिर्निकामैः साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थ।।६।।

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से छान्दस व दैवत प्रभाव कुछ तेजस्वी व पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व दीप्तियों के चक्रों को प्राप्त करके विभिन्न व्यापक दीप्त व आकर्षक मरुद्रश्मियों के साथ सव ओर से सवको प्राप्त करता है।

(७) त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम्।
त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्पथो देवत्राञ्जसेव यानान्।।७।।

इसका छन्द आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् होने से छान्दस व दैवत प्रभाव लगभग उपर्युक्तवत् होता है। इसके प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न मेघरूप पदार्थों को प्रज्ञापिका विद्युत् से विहीन करके किंवा उस विद्युत् से अत्यधिक युक्त करके उन्हें धारण करता और कभी-२ उनको तोड़ता भी है। वह उन मेघों वा छिन्न मेघों को सर्ग प्रक्रिया हेतु आवश्यक मार्ग व गति भी प्रदान करता है।

(८) त्वमेतानि पप्रिषे वि नामेशान इन्द्र दधिषे गभस्तौ।
अनु त्वा देवाः शवसा मदन्त्युपरिबुध्नान्वनिनश्चकर्थ।।८।।

इसका छन्द पादनिचृत्त्रिष्टुप् होने से प्रभाव पूर्ववत् समझें। अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व {नाम = वाङ्नाम (निघं.१.११ - वै.को. से उद्धृत)} विभिन्न वाग्रश्मियों से स्वयं को पूर्ण करके, उन्हें अपने नियन्त्रण में लेकर अपनी किरणों में धारण करता है। विभिन्न देव अर्थात् प्राण तत्व इसे अपने वल से और भी गतिशील वनाते हैं। इसके पश्चात् वह इन्द्र तत्व उन मेघों को ऊपर अन्तरिक्ष में धारण करता है अर्थात् नेव्यूलाओं का निर्माण किंवा तारों के निर्माण से मेघीय अवस्था यत्र तत्र उत्पन्न होने लगती है।

(९) चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात्।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु।।९।।

इसका छन्द आर्चीभुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अधिक तेजस्वी व आकर्षण-प्रतिकर्षण बल को प्राप्त करता है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न चक्रों में अन्तरिक्ष में शिथिल व उत्कृष्ट होने लगता है। वह अन्तरिक्ष में विभिन्न मेघों के अन्दर विभिन्न किरणों को धारण करता है।

(१०) अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम्।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद।।१०।।

इसका छन्द समान होने से प्रभाव उपर्युक्तवत्। अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न आशुगामी, बलवती किरणों से मनस्तत्त्व के अन्दर उत्पन्न होता है। वह सभी मेघों में विद्यमान होता व प्रकृष्टता से पुनः-२ उत्पन्न होता रहता है।

(११) वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान्।।११।।

इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से प्रभाव लगभग पूर्ववत्। अन्य प्रभाव से विभिन्न मरुद् रश्मियां इन्द्र तत्त्व में व्याप्त होती हैं। इसके कारण सभी पदार्थ अधिक प्रकाशित होने लगते हैं। विभिन्न पदार्थ, जो असुर तत्त्व से आबद्ध होते हैं, उन्हें यह मुक्त करता है।।

इस प्रकार ये ग्यारह त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां **निविद्धान** कहाती हैं, क्योंकि इनके अन्दर विभिन्न निविद् रश्मियां भी संगत रह कर इन्हें और भी तीव्र बनाती हैं।

इस प्रकार ये कुल तेरह त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां पूर्वोक्त तीन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को अपने साथ संगत करके व्यवस्थित व नियन्त्रित करती हैं।

इस प्रकार की स्थिति बनने पर पूर्वोक्त तीन प्रकार के छन्दों के रूप में उत्पन्न सभी पन्द्रह पूर्वोक्त छन्द रश्मियां इन सभी रश्मियों के साथ सुसंगत होकर परस्पर नियन्त्रित व व्यवस्थित होकर समस्त पवमानोक्थ (मध्यंदिन सवनस्थ) सम्यग्रीत्या संचालित होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न छन्द रश्मियों के खण्ड-२ बार-२ आवृत्त होकर अन्य छन्द रश्मियों के कुछ खण्डों से संगति करके सर्वथा नवीन रश्मियों की उत्पत्ति इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व सतत होती रहती है। विभिन्न नेब्यूलाओं व तारों के निर्माण के समय कॉस्मिक धूल व गैसीय मेघों की रचना के समय विद्युत् की महती भूमिका होती है। उसी समय विभिन्न छन्द रश्मियों के सम्पीडित होने से निरन्तर ऊष्मा व प्रकाश में वृद्धि होती रहती है। विभिन्न प्रकार के पदार्थ-अणु अत्यधिक ऊर्जा को प्राप्त करके तीव्र गति से परस्पर संगत होते हैं। डार्क एनर्जी का भी इस मध्य समय-२ पर प्रतिकर्षक बल प्रभावकारी होकर इन क्रियाओं में बाधा डालता है परन्तु मेघों के विखण्डन में उसकी उपयोगिता भी रहती है। इस डार्क एनर्जी को अत्यधिक तापयुक्त विद्युत् तरंगें दूर करती हैं। इस समय उस पदार्थ में नाना प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय धाराएं उत्पन्न होने लगती हैं। विद्युद् आवेशित कणों व विभिन्न प्रकार की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की तीव्रता एवं ऊर्जा बढ़ने लगती है। अन्धकार कम होकर प्रकाश की मात्रा बढ़ती है। अनेक प्रकार के उच्च घोष भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होते रहते हैं। विभिन्न मेघ पृथक्-२ आकार व स्थान लेकर विभिन्न मार्गों पर गमन करने लगते हैं। विभिन्न स्थानों पर विद्युत् आवेशित कणों की मात्रा में न्यूनता-अधिकता का भी चक्र चलता रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भारी उथल-पुथल विक्षोभ होने लगता है। उन मेघों की रचना भी शनैः-२ स्पष्ट व स्पष्टतर होने लगती है।।

इति १२.६ समाप्तः

꧁ अथ १२.७ प्रारभ्यते ꧂

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. धाय्याः शंसति।।
धाय्याभिर्वै प्रजापतिरिमाँल्लोकानधयद् यं यं काममकामयत।।
तथैवैतद् यजमानो धाय्याभिरेवेमाँल्लोकान् धयति, यं यं कामं कामयते, य एवं वेद, यदेव धाय्याः३।।

व्याख्यानम्- यहाँ धाय्या संज्ञक रश्मियों की महिमा का वर्णन करते हैं। इस प्रसंग में आचार्य सायण ने पूर्व कण्डिका में वर्णित दो धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियों के अतिरिक्त गोतमो नोधा ऋषिः अर्थात् {नोधा = नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति (नि.४.१६), (नवनम् = नवते गतिकर्मा - निघं.२.१४)} अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विशेष गतिशील एक सूक्ष्म प्राण विशेष से इन्द्रदेवताक एवं विराड् जगती छन्दस्क

पिन्वन्त्यपो मरुतः सुदानवः पयो घृतवद्विदथेष्वाभुवः।
अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनमुत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम्।।६।। (ऋ.१.६४.६)

को धाय्या संज्ञक माना है। इसका देवता आगे की कण्डिका "तान्यु वा एतानि ....." में विष्णु माना है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से व्यापक विद्युत् तत्त्व दूर-२ तक अपना विस्तार करने लगता है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व दूर-२ तक विद्यमान मरुद्रश्मियों को अपने साथ अवशोषित करने लगता है। इसके साथ ही ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ध्वनियां गूंजने लगती हैं तथा सभी परमाणु आदि पदार्थ वलों से परिपूर्ण होने लगते हैं। शेष दो धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियों के विषय में पूर्व खण्ड की अन्तिम से पूर्व कण्डिका द्रष्टव्य है।।

जिस-२ प्रकार के लोकों को वनाने की कामना प्रजापति अर्थात् मनस्तत्त्व किंवा सर्वाधार सर्वनियन्ता चेतन परमात्म तत्त्व करता है, उन-२ लोकों को उचित धाय्या संज्ञक ऋचाओं के द्वारा ही वनाता है। पूर्व काल में अर्थात् ब्रह्माण्डीय मेघों की रचना के काल में तथा उससे पूर्व विभिन्न कणों के निर्माण में भी धाय्या संज्ञक विविध छन्द रश्मियों की भूमिका अनिवार्य होती है। ये धाय्या रश्मियां ही विभिन्न अन्य रश्मियों के साथ संगत होकर अनेक सृजन क्रियाओं को सम्पादित करने में अपनी भूमिका निभाती हैं।।

इसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रत्येक संयोज्य कण विभिन्न धाय्या संज्ञक रश्मियों के द्वारा ही विभिन्न लोकों को प्राप्त करता है किंवा विभिन्न पदार्थों का निर्माण करता है। इसका अन्य आशय यह भी है कि कोई भी कण वा लोक जिस-२ प्रकार का वन्धन अन्य कण वा लोक से करना चाहता है, वैसी-२ ही धाय्या रश्मियां उस कण वा लोक से उत्पन्न होकर वैसा-२ वन्धन निर्मित होकर विविध पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यहाँ चाहने का अर्थ यह नहीं है कि कणों में इच्छा शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वल्कि इसका तात्पर्य यह है कि चेतन परमात्मा द्वारा विविध प्रयोजनों की सिद्धि हेतु ऐसा होता रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो वा दो से अधिक कण परस्पर संयोग करते हैं, उस समय उन कणों में से विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की रश्मियां सर्वनियन्ता परमात्मा की प्रेरणा से उत्पन्न होती रहती हैं, इसी कारण समान कणों से ही अनेक प्रकार के संयुक्त कणों का निर्माण इस सृष्टि में देखा

जाता है। वर्तमान विज्ञान द्वारा विभिन्न क्वार्क्स के विभिन्न संयोगों में भिन्न-२ प्रभावी द्रव्यमान दर्शाकर विभिन्न कणों का निर्माण इसी का एक उदाहरण माना जा सकता है। विभिन्न रासायनिक संयोगों में भी विभिन्न रश्मियों की ही भूमिका रहती है। जिससे एक ही तत्त्व के परमाणु भिन्न-२ रूप धारण कर सकते हैं। इसी कारण तो कार्बन का परमाणु हीरा का रूप भी धारण करता है।।

२. यत्र यत्र वै देवा यज्ञस्य च्छिद्रं निरजानंस्तद्धाय्याभिरपिदधुस्तद्धाय्यानां धाय्यात्वम्।।
अच्छिद्रेण हास्य यज्ञेनेष्टं भवति, य एवं वेद, यद्वेव धाय्याः३।।
स्यूमहैतद् यज्ञस्य यद्धाय्यास्तद् यथा सूच्या वासः संदधदियादेवमेवैताभिर्यज्ञस्य च्छिद्रं संदधदेति, य एवं वेद, यद्वेव धाय्या३ः।।

{स्यूमः = सीव्यति तन्तून् संतनोतीति स्यूमः रश्मिर्वा (उ.को.१.१४४)}

व्याख्यानम्- इस सृष्टि में विभिन्न देव अर्थात् प्राणतत्त्व जहाँ-२ भी दोष वा न्यूनता अनुभव करते हैं, वहाँ-२ उन न्यूनताओं को विभिन्न धाय्या संज्ञक रश्मियों से ही दूर करते हैं। जहाँ-२ कुछ छन्द रश्मियां परस्पर संगत नहीं हो पा रही हों, वहाँ विभिन्न स्थितियों में विभिन्न धाय्या संज्ञक रश्मियां ही उन्हें निकट लाकर संगत करके उस वियोग व रिक्तता के दोष को दूर करती हैं। इसी कारण इन रश्मियों का धाय्या नाम है, क्योंकि ये रिक्त स्थान में प्रविष्ट होकर संयोज्य रश्मियों वा कणों को निकट लाकर धारण करके परस्पर संयुक्त करा देती हैं।।

इस प्रकार की स्थिति बनने पर विभिन्न रश्मियां वा कण ब्रह्माण्ड में जो भी धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं, उन-उनको धारण करके विभिन्न वांछित सृजन क्रियाएं निर्दोष होकर सम्पन्न होती रहती हैं।।

ये धाय्या संज्ञक जो छन्द रश्मियां होती हैं, वे ऐसी किरणें होती हैं, जो धागे के समान कार्य करती हैं। जिस प्रकार सुई से वस्त्र सिला जाता है, उसी प्रकार इन धाय्या संज्ञक रश्मियों के द्वारा सष्टि यज्ञ में भाग ले रहीं विभिन्न छन्द रश्मियों एवं उनके माध्यम से अन्य स्थूल पदार्थों को सिला जाता है। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर वे धाय्या संज्ञक रश्मियां अन्य विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर जोड़ती रहती हैं, जिससे विभिन्न सृजन प्रक्रियाएं चलती रहती हैं।।
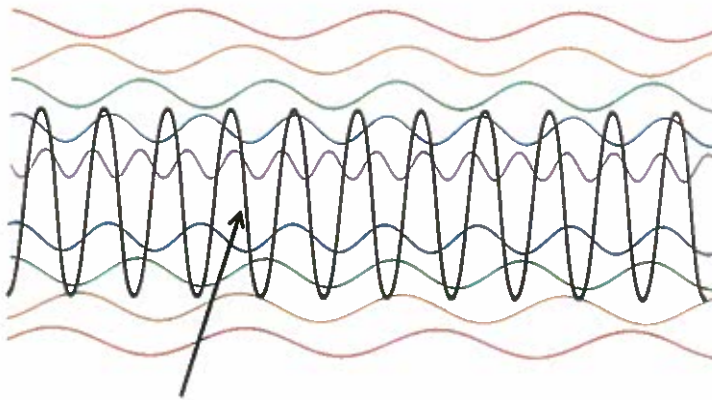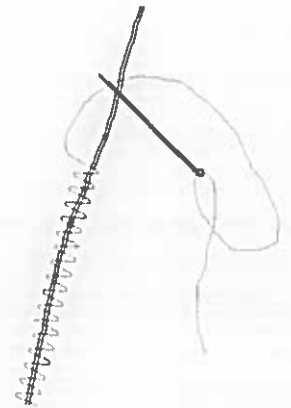
चित्र १२.७ विभिन्न छन्द रश्मियों के संगमन-बंधन की प्रक्रिया

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में कुछ ऐसी छन्द रश्मियां होती हैं, जो विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर ऐसे जोड़ती है, जैसे सुई धागे से फटे हुए वस्त्रों की सिलाई की जाती है। इस कारण ये रश्मियां इस ब्रह्माण्ड में पृथक्-२ बिखरी हुई छन्द रश्मियों को जोड़कर एक कर देती हैं, जिससे नाना प्रकार के तत्त्वों का निर्माण होता है। यदि ये रश्मियां न हों, तो अन्य रश्मियां भी परस्पर संगत होकर नाना तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं कर सकें।।

३. तान्यु वा एतान्युपसदामेवोक्थानि यद्धाय्या, अग्निर्नेतेत्याग्नेयी प्रथमोपसत् तस्या एतदुक्थं, 'त्वं सोम क्रतुभिः' इति सौम्या द्वितीयोपसत्, तस्या एतदुक्थं, 'पिन्वन्त्यपः' इति वैष्णवी तृतीयोपसत्, तस्या एतदुक्थम्।।
यावन्तं ह वै सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा लोकं जयति तमत एकैकयोपसदा जयति, य एवं वेद, यश्चैवं विद्वान् धाय्याः शंसति।।

{उपसदः = इमे लोका उपसदः (श.१०.२.५.८), (लोकः = छन्दांसि वै सर्वे लोकाः - जै. ब्रा.१.३३२)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त किंवा कहीं भी उक्त जो भी धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियां हैं, वे उपसदों की उक्थ रूप ही होती हैं। इसका तात्पर्य है कि ये रश्मियां ही इस सृष्टि के विभिन्न लोकों, कणों एवं उनकी उपादानभूत विभिन्न छन्द रश्मियों का तेजरूप होती हैं किंवा उस तेज का कारण होती हैं। ये रश्मियां ही प्राण व अन्न दोनों ही रूप धारण करने वाली होने से भी उक्थ कहाती हैं। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "प्राण उ ऽएवोक्तस्यान्नमेव थं तदुक्थम्" (श.१०.४.१.२३)। ये धाय्या रश्मियां ही अनेक प्रकार की ऋचाओं को परस्पर जोड़े रखती हैं और ऐसा करके ही ये रश्मियां सम्पूर्ण सृष्टि को उत्कृष्टता से धारण करती हैं। इसी आशय से महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "उक्थमिति बह्वृचाः (उपासते) एष हीद ꣳ सर्वमुत्थापयति।" (श.१०.५.२.२०)। अब पूर्वोक्त तीनों धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियों के विषय में लिखते हैं कि अग्निदेवताक "अग्निर्नेता" इत्यादि छन्द रश्मि प्रथम उपसद है। इस रश्मि का अन्य रश्मियों के साथ धारण होकर अग्नि तत्त्व वा आग्नेयत्व प्रधान पदार्थ तेजस्वी होता है। हम जिस-२ मंत्र का जो-२ प्रभाव दर्शाते रहे हैं, उस-उसकी उत्पत्ति के लिए इसी प्रकार धाय्या संज्ञक रश्मियों की सर्वत्र भूमिका होती है। बिना इन रश्मियों के विभिन्न रश्मियां प्रभावकारी नहीं होती हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त सोमदेवताक "त्वं सोम क्रतुभिः" छन्द रश्मि द्वितीय उपसद है। इसके प्रभाव से सोम तत्त्व वा सोम प्रधान तत्त्व समृद्ध होता है, क्योंकि यह रश्मि सोम का ही उक्थ्य है। इसी प्रकार विष्णुदेवताक "पिन्वन्त्यः" छन्द रश्मि तृतीय उपसद है, जो विष्णु अर्थात् व्यापक विद्युत् का उक्थ है अर्थात् उसे तेजस्वी व समृद्ध बनाती है। इसका आशय यह भी है कि विष्णु रूपी यज्ञ अर्थात् संयोग प्रक्रिया वा धनंजय व व्यान प्राण सक्रिय होते हैं। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद ६.२१.६ के भाष्य में विष्णु का अर्थ व्यापक व्यान, धनंजय व हिरण्यगर्भ किया है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि इस रश्मि से हिरण्यगर्भों की उत्पत्ति प्रक्रिया भी समृद्ध होती है। सर्वत्र इन धाय्या संज्ञक रश्मियों की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है।।

इस सृष्टि में जो विशाल सोमयाग हो रहा है अर्थात् सोम पदार्थ के परस्पर संगत होने से जो-२ भी निर्माण कार्य हो रहे हैं, वे सभी इस सृष्टि के रूप में दिखाई दे रहे हैं। वे सभी निर्माण कार्य, जिनमें विभिन्न छन्दादि रश्मियों एवं विभिन्न तन्मात्राओं आदि सबकी संगति विद्यमान होती है। वे सभी कार्य इन उपर्युक्त धाय्या संज्ञक रश्मियों के कारण ही सम्पन्न हो पाते हैं। उपर्युक्त प्रकारेण एक-२ लोक एक-२ धाय्या रश्मि के विशेष योगदान से निर्मित होता है। इस प्रकार की स्थिति बनने पर ये सभी लोक सम्यग्रूपेण बनने में समर्थ हो पाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में वर्तमान विज्ञान द्वारा जाने गये विभिन्न मूल कण जो तीन प्रकार

के होते हैं- १. विद्युद् धनावेशित कण २. विद्युद् ऋणावेशित कण ३. विद्युद् उदासीन कण। इनमें से विद्युद् धनावेशित कणों के निर्माण में अन्य छन्द रश्मियों के अतिरिक्त सबकी संधानक एक त्रिष्टुप् रश्मि, जिसकी चर्चा व्याख्यान भाग में की है, अपनी विशेष भूमिका निभाती है। इसी प्रकार ऋणावेशित कणों के निर्माण में एक अन्य त्रिष्टुप् रश्मि अपनी संधानक भूमिका निभाती है। उधर उदासीन कणों वा फोटोन्स आदि के निर्माण में जगती छन्द रश्मि की उपर्युक्तानुसार भूमिका होती है। इन रश्मियों के विषय में विशेष ज्ञान हेतु व्याख्यान भाग द्रष्टव्य है। इस प्रकार सभी कथित मूलकणों के निर्माण में इन तीनों ही रश्मियों की भूमिका है।।
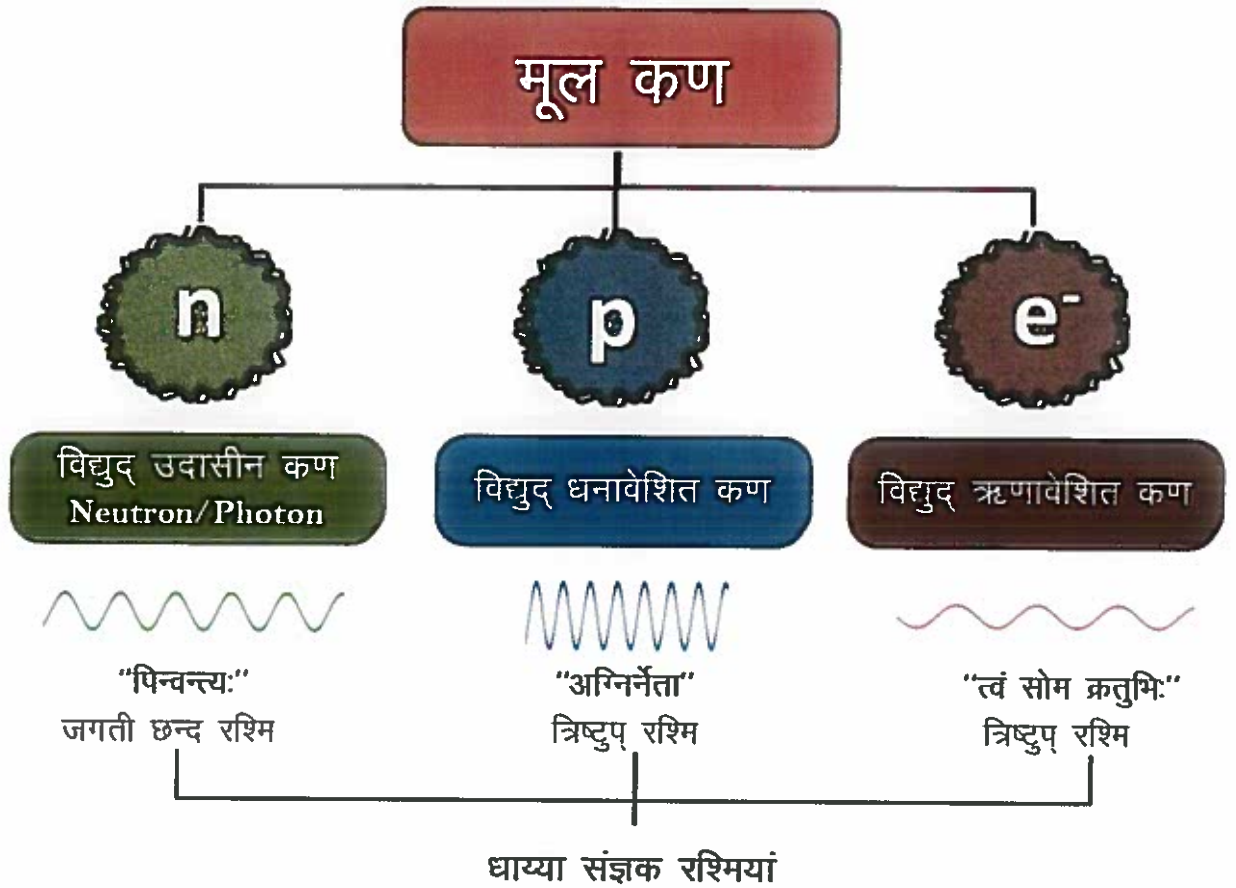
चित्र १२.८ मूल कणों के निर्माण का विज्ञान

४. तद्धैक आहुः- 'तान् वो महः' इति शंसेद्, एतां वाव वयं भरतेषु शस्यमानामभिव्यजानीम इति वदन्तः।।
तत्तन्नाऽऽदृत्यम्।।
यदेतां शंसेदीश्वरः पर्जन्योऽवर्ष्टोः।।
'पिन्वन्त्यपः' इत्येव शंसेत्।।

{भरतः = भरो यज्ञः तं भरं तन्वन्तीति 'भरताः' इति सायण भाष्यः। पर्जन्यः = पर्जन्यो वा अग्निः (श.१४.६.१.१३), परो जेता वा परो जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम् (नि.१०.१०)। वृष्टिः = दुष्टानां शक्तिबन्धिका शक्तिः (म.द.ऋ.भा.१.१५२.७)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त वैष्णवी ऋचा "पिन्वन्त्यपः....." के स्थान पर गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान से उत्पन्न मरुद्देवताक एवं विराड् जगती छन्दस्क

तान्वो॑ म॒हो म॒रुत॑ एव॒याव्नो॒ विष्णो॑रे॒षस्य॑ प्रभृ॒थे ह॑वामहे।
हिर॑ण्यवर्णान्ककु॒हान्य॒तस्रु॑चो ब्रह्म॒ण्यन्त॒: शंस्यं॒ राध॑ ईमहे।।११।। (ऋ.२.३४.११)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति धाय्या संज्ञक ऋचा के रूप में होती है। वे विद्वान् कहते हैं कि हमने विभिन्न सर्गयज्ञों के विस्तार में इसी छन्द रश्मि की उत्पत्ति व विस्तार की चर्चा पूर्वजों से सुनी है।।

महर्षि इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि नहीं, यह मत आदरणीय वा स्वीकरणीय नहीं है। इसका कारण बताते हुए अगली कण्डिका में महर्षि कहते हैं यदि "पिन्वन्त्यपः...." के स्थान पर "तान्वो महः........" ऋग्रूप छन्द की उत्पत्ति धाय्या के रूप में हो जाए, तो अग्नि तत्त्व अर्थात् विद्युद् वा ऊष्मा अपनी बाधक रश्मियों को नष्ट करने वाली शक्ति से हीन हो जाएंगी, जिससे असुर तत्त्व का आक्रमण होते रह कर संयोग प्रक्रिया को होने ही नहीं देगा। जो अग्नि अपने बाधकों का जेता, श्रेष्ठ पदार्थों को उत्पन्न करता वा उन्हें एकत्र करता है, ऐसा अग्नि तत्त्व हीनबल हो जायेगा। {ककुहः = महन्नाम (निघं.३.३)। ब्रह्मण्यन्तः = आत्मनो ब्रह्मेच्छन्तः (म.द.ऋ.भा.२.३४.११)} यहाँ प्रश्न यह है कि जब पूर्वोक्त धाय्या 'पिन्वन्त्यपः....." भी विराड्जगती छन्दस्क है और यह भी, तब इन दोनों में ऐसा क्या भेद है, जो इससे अग्नि तत्त्व बलहीन हो जायेगा और 'पिन्वन्त्यपः......" से नहीं? हम इस पर विचार करते हैं। पूर्वोक्त धाय्या विष्णुदेवताक होने से उसके प्रभाव से व्यापक विद्युत्, धनंजय व व्यान प्राण समृद्ध होते हैं जबकि इसका देवता मरुत् होने के कारण इससे मरुद्रश्मियां समृद्ध होती हैं, इस कारण इससे सोम वायु तत्त्व सबल और अग्नितत्त्व दुर्बल होगा। इसके विभिन्न पदों के प्रभाव से भी विभिन्न मरुद्रश्मियां व्यापक क्षेत्र में फैल जाएंगी, इससे वे भी आग्नेय कणों को अपने साथ दृढ़ता से संयुक्त नहीं कर पाएंगी। 'महः', 'ककुहान्', 'एवयाव्नः' पद इसी का संकेत कर रहे हैं। इस कारण वे मरुद्रश्मियां अग्नि तत्त्व को समृद्ध व तीक्ष्ण होने में बाधक होंगी, अपेक्षाकृत पूर्वोक्त धाय्या के। इस कारण इसे बाधक शक्ति को उत्पन्न करने में अक्षम बताते हुए इसे इस स्थान पर धाय्या के रूप में निषेध किया गया है। इस कारण पूर्वोक्त धाय्या 'पिन्वन्त्यपः....' की ही यहाँ उत्पत्ति होती है।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि की प्रत्येक प्रक्रिया के लिए निश्चित प्रकार की छन्द रश्मियां ही विभिन्न रश्मियों को परस्पर संयुक्त व संगत करने के लिए उपयोगी होती हैं, न कि यदृच्छया। यदृच्छया होने पर सृष्टि प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है।।

५. वृष्टिवनि पदं, मरुत इति मारुतमत्यं न मिहे वि नयन्तीति विनीतवद्, यद्विनीतवत् तद्विक्रान्तवत्, यद्विक्रान्तवद् तद्वैष्णवं, वाजिनमितीन्द्रो वै वाजी, तस्यां वा एतस्यां चत्वारि पदानि वृष्टिवनि मारुतं वैष्णवमैन्द्रम्।।
सा वा एषा तृतीयसवनभाजना सती मध्यंदिने शस्यते, यस्माद्धेदं भरतानां पशवः सायंगोष्ठाः सन्तो मध्यंदिने संगविनीमायन्ति, सो जगती, जागता हि पशवः, आत्मा यजमानस्य मध्यंदिनस्तद् यजमाने पशून् दधाति।।७।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि पुनः "पिन्वन्त्यपः" धाय्या की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। हम सर्वप्रथम यहाँ सुविधा हेतु इस ऋचा को उद्धृत करते हैं-

पिन्व॑न्त्य॒पो म॒रुत॑: सु॒दान॑व॒: पयो॑ घृ॒तव॑द्वि॒दथे॑ष्वा॒भुव॑:।

अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनमुत्सं दुहन्ति स्तनयंन्तमक्षितम्।।६।। (ऋ.१.६४.६)

इस पर महर्षि कहते हैं कि इस ऋचा में 'पिन्वन्ति' पद 'पिवि सेवने सेचने च' धातु की विद्यमानता है। इस कारण यह वृष्टि को बुलाने में समर्थ है। 'पिन्वन्ति' पद से विभिन्न मरुद्रश्मियों का इन्द्र तत्त्व पर सेचन कर्म समृद्ध होता है। यहाँ 'मरुतः' पद मरुद्रश्मियों को समृद्ध करता है, जिससे ये रश्मियां इन्द्र तत्त्व के द्वारा अवशोषित हो कर उसे तीव्रता प्रदान करती हैं। इस ऋचा में 'अत्यं न मिहे विनयन्ति' में 'मिहे' पद भी सेचनार्थ है, जिसके कारण मरुद्रश्मियों का सेचन और तीव्र होता है। इस पाद में 'विनयन्ति' शब्द भी विद्यमान है। इसमें 'विनीत' शब्द विद्यमान होने से यह पद विनीतवत् है। इसके कारण इन्द्र तत्त्व दूर-२ व्याप्त मरुद् रश्मियों को विशेषरूपेण आकर्षित करके अवशोषित करता है, जिसके कारण वह इन्द्र तत्त्व विशेषरूप से विक्रान्त अर्थात् वर्धमान होता है, इसी कारण महर्षि 'विनीतवत्' को ही 'विक्रान्तवत्' कहते हैं। धीरे-२ वह वर्धमान होता हुआ इन्द्र तत्व सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त हो जाता है, इस कारण वह वैष्णव रूप धारण कर लेता है। इसीलिए महर्षि ने 'विक्रान्तवत्' को वैष्णव कहा है। ऐसा व्यापक इन्द्र तत्त्व अनेक प्रकार के बलों से परिपूर्ण होता है। इस कारण इन्द्र तत्त्व 'वाजी' भी कहलाता है। इस प्रकार इस ऋचा में विद्यमान ये चार पद 'वृष्टिवनिम्', 'मारुतम्', 'वैष्णवम्' एवं 'पिन्वन्ति' इन्द्र तत्त्व को समृद्ध व सतेज करने वाले होने से असुरादि तत्त्वों को नियन्त्रित करने वाली शक्ति को समृद्ध करते हैं। इस कारण इस छन्द रश्मि की धाय्या संज्ञा समीचीन है।।

जगती छन्द रश्मियां विशेषरूप से तृतीय सवन अर्थात् सृष्टि के तृतीय चरण में आधार का कार्य करती हैं, तब यहाँ इस जगती छन्द की उपयोगिता क्यों है, क्योंकि यह प्रक्रिया तो मध्यंदिन सवन अर्थात् द्वितीय चरण से सम्बन्धित है, यह प्रश्न है। इसके उत्तर में महर्षि कहते हैं कि इस सृष्टि में विभिन्न सृजन कर्मों के विस्तारक विभिन्न पदार्थों के पशु अर्थात् विभिन्न मरुद् व छन्दादि रश्मियां सायंगोष्ठा होती हैं। इसका आशय यह है कि वे सृष्टि के अन्तिम काल, जबकि प्रलय की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, किंवा चल रही होती है, उस समय सभी मरुद् व छन्दादि रश्मियां अपनी गति को धीरे-२ खोने लगती हैं और अन्ततः शान्त होकर सृजन कर्मों को विराम दे देती हैं। वे ही सभी रश्मियां सृष्टि के मध्य काल में परस्पर संगत होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होती रहती हैं। इसका दूसरा आशय यह है कि सायंगोष्ठा अर्थात् तृतीय सवन रूप द्युलोकों में जब वे सभी जगती छन्दादि रश्मियां पूर्णरूपेण भर जाती हैं, उस समय भी वे मध्यंदिन अर्थात् अन्तरिक्ष लोक में भी परस्पर संगत होती हुई व्याप्त रहती हैं अर्थात् वे केवल तारों में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में भी व्याप्त रहती हैं, ऐसी ये जगती रश्मियां होती हैं। विभिन्न मरुद् व छन्दादि रश्मियां जगती से सम्बन्धित होती हैं, इसका यहाँ तात्पर्य यह है कि जगती छन्दों के द्वारा अग्नितत्त्व के उत्सर्जन व अवशोषण में विभिन्न मरुद् व छन्दादि रश्मियां भी अपनी भूमिका निभाती हैं तथा ये रश्मियां भी जगती छन्द रश्मियों के साथ अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में फैली रहती हैं। ये सृष्टि के मध्य चरण किंवा सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में विभिन्न संयोज्य कणों व संयोग क्रियाओं के अन्दर सतत गमन करते हुए व्याप्त रहकर उनके आत्मा के समान होती हैं। वे इन क्रियाओं को विस्तृतता प्रदान करती हैं। इस प्रकार इस धाय्या संज्ञक छन्द रश्मि के द्वारा सम्पूर्ण सृजनशील पदार्थों व सृष्टि में विभिन्न सूक्ष्म मरुदादि रश्मियों को धारण करने में सहायता मिलती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न जगती रश्मियां विभिन्न तारों में ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया को गति देकर केन्द्रीय भाग में उत्पन्न किरणों को तारों के बाहरी भाग तक लाने में सहयोग करती हैं। पुनरपि ये जगती छन्द रश्मियां अन्तरिक्ष में भी व्याप्त होकर ऊर्जा उत्सर्जन एवं अवशोषण के साथ-२ विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाओं में भाग लेती हैं। संयोग प्रक्रिया में व्याख्यान भाग में वर्णित विशेष जगती छन्द रश्मि ही प्रभावी भूमिका निभा सकती है, अन्य नहीं। प्रलय काल में सभी रश्मियों की गति धीरे-२ शिथिल होते हुए शान्त हो जाती है। इसके कारण सभी संयुक्त पदार्थ वियुक्त होकर अपने कारणभूत पदार्थों में परिवर्तित हो जाते हैं। इसी क्रम के सतत चलते रहने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अनादि, अनन्त एवं सूक्ष्मतम पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है।।

इति १२.७ समाप्तः

ॐ अथ १२.८ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. मरुत्वतीयं प्रगाथं शंसति, पशवो वै मरुतः, पशवः प्रगाथः, पशूनामवरुद्ध्यै।।

व्याख्यानम्- इस विषय में महर्षि आश्वलायन का कथन है- "प्र व इन्द्राय बृहत इति मरुत्वतीयः प्रगाथः।।" (आश्व.श्रौ.५.१४.१८)। इसका तात्पर्य है कि नृमेधपुरुषमेधौ ऋषि अर्थात् विभिन्न मरुद्रश्मियों एवं प्राणों को संगत करने में समर्थ सूक्ष्म प्राण विशेष, जो हमारे मत में मनस्तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु का मिश्ररूप हो सकता है अथवा इससे उत्पन्न प्राण विशेष हो सकता है, से इन्द्रदेवताक तथा निचृद् बृहती छन्दस्क

प्र व इन्द्रा॑य बृह॒ते मरु॑तो॒ ब्रह्मा॑र्चत।
वृ॒त्रं ह॑नति वृत्र॒हा श॒तक्र॑तु॒र्वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा।।३।। (ऋ.८.८९.३)

को महर्षि आश्वलायन मरुत्वतीय प्रगाथ कहते हैं। इस प्रगाथ के उत्पन्न व प्रकाशित होने की ही चर्चा इस कण्डिका में की गई है। इसी प्रकरण में इस प्रगाथ रश्मि की भी उत्पत्ति होती है। इसे 'मरुत्वतीय' कहने से स्पष्ट है कि यह छन्द रश्मि अनेक सूक्ष्म मरुद्रश्मियों से युक्त होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व विभिन्न पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें आकार प्रदान करने अर्थात् पदार्थ को गैसीय मेघवत् अवस्था प्रदान करने में सहयोग करता है। इसके अन्य प्रभाव से मरुद्रश्मियां इन्द्र तत्त्व को प्रकाशित करती हैं। इसके कारण इन्द्र तत्त्व अनेक प्रकार के कर्मों का कर्त्ता, असुर पदार्थ को नष्ट करने वाला, अपने सैकड़ों विभागयुक्त वज्ररूप तीक्ष्ण रश्मियों से असुर तत्त्व को नष्ट करता है। विभिन्न पशु अर्थात् सूक्ष्म छन्द रश्मियां ही मरुत्संज्ञक होती हैं। इसे एक तत्त्ववेत्ता महर्षि ने इस प्रकार व्यक्त किया है- यानि क्षुद्राणि छन्दांसि तानि मरुताम् (तां.१७.१.३)। अब महर्षि कहते हैं कि पशु अर्थात् वे मरुद् वा छन्द रश्मियां प्रगाथ रूप भी होती हैं अर्थात् वे प्रकृष्टतया प्रकाशित होती हैं। इस कारण इस मरुत्वतीय प्रगाथ के द्वारा विभिन्न मरुद् वा छन्द रश्मियों को रोक कर इन्द्र तत्त्व के साथ मिश्रित किया जाता है। इससे तात्पर्य है कि यद्यपि इन्द्र तत्त्व विभिन्न मरुद् रश्मियों को यों ही आकर्षित व अवशोषित करता है परन्तु इस छन्द रश्मि के प्रभाव से यह प्रक्रिया तीव्र होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में विद्युत् का वह रूप, जो अपनी तीक्ष्ण किरणों के द्वारा डार्क एनर्जी के प्रभाव को नियन्त्रित वा नष्ट करता है, व्याख्यान भाग में वर्णित छन्द रश्मि के द्वारा समृद्ध होता है। इसी छन्द रश्मि के प्रभाव से ऐसी विद्युत् तरंगों के द्वारा पदार्थ को मेघवत् अवस्था और फिर पिण्डाकार प्रदान करने में सहयोग मिलता है अर्थात् पदार्थ के संघनित होने में गुरुत्वीय बल के साथ-२ इनका भी योगदान रहता है, जो डार्क एनर्जी के तीव्र प्रतिकर्षक बल को नियन्त्रित करता है।।

२. 'जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति' सूक्तं शंसति, तद्वा एतद् यजमानजननमेव सूक्तं, यजमानं ह वा एतेन यज्ञाद् देवयोन्यै प्रजनयति।।
तत्संजयं भवति; सं च जयति, वि च जयते।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त ३.१७.५ में वर्णित

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः।
अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा।।१।।

द्रुहो निषत्ता पृशनी चिदेवैः पुरू शंसेन वावृधुष्ट इन्द्रम्।
अभीवृतेव ता महापदेन ध्वान्तात्प्रपित्वादुदरन्त गर्भाः।।२।।

ऋष्वा ते पादा प्र यज्जिगास्यवर्धन्वाजा उत ये चिदत्र।
त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रमासन्दधिषे अश्विना ववृत्याः।।३।।

समना तूर्णिरुप यासि यज्ञमा नासत्या सख्याय वक्षि।
वसाव्यामिन्द्र धारयः सहस्राश्विना शूर ददतुर्मघानि।।४।।

मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम्।
आभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः प्र तम्रा अवपत्तमांसि।।५।।

सनामाना चिद् ध्वसयो न्यस्मा अवाहन्निन्द्र उषसो यथानः।
ऋष्वैरगच्छः सखिभिर्निकामैः साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थ।।६।।

त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम्।
त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्पथो देवत्राञ्जसेव यानान्।।७।।

त्वमेतानि पप्रिषे वि नामेशान इन्द्र दधिषे गभस्तौ।
अनु त्वा देवाः शवसा मदन्त्युपरिबुध्नान्वनिनश्चकर्थ।।८।।

चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात्।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु।।९।।

अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम्।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद।।१०।।

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान्।।११।। (ऋ.१०.७३.१-११)

सूक्त, जिसमें कुल ग्यारह ऋचाएं हैं, की प्रकारान्तर से पुनः चर्चा करते हैं। पाठक इन सभी ग्यारह रश्मियों के प्रभावादि के विषय में ३.१७.५ में ही पढ़ें। यहाँ इस सूक्तरूप रश्मिसमूह की महिमा को वर्णित करते हैं कि इस सूक्त की रश्मियां विभिन्न प्रकार के संयोज्य कणों, संयोग प्रक्रियाओं को जन्म देने वाली होती हैं। ये रश्मियां कैसे कॉस्मिक धूल व गैसीय अवस्था को सम्पीडित करके वा मथकर विभिन्न संयोगों को जन्म देकर नाना लोकों की सृष्टि में अपनी भूमिका निभाती हैं, इसे पाठक पूर्व में ही देख सकते हैं। इनके प्रभाव से ही विभिन्न परमाणु नाना संयोगों को करते हुए विभिन्न प्रकार के नवीन पदार्थों को जन्म देने हेतु केन्द्रीय स्थानों का निर्माण करते हैं। इस कारण इन रश्मियों के बिना लोकों व नाना तत्त्वों के निर्माण की प्रक्रिया कदापि प्रारम्भ नहीं हो सकती।।

इस सूक्त को 'संजय' भी कहते हैं। इसका कारण बताते हुए महर्षि कहते हैं कि इसकी रश्मियां विभिन्न बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करके सम्पूर्ण पदार्थ को उसके प्रहार से बचाती हैं। इसके साथ ही इस सूक्त की रश्मियां सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ को भी अपने बल से नियन्त्रित करके उन्हें विभिन्न मेघवत् आकार वा पिण्डवत् स्वरूप प्रदान करने का भी कार्य करती हैं। यहाँ 'सम्' 'वि'

पूर्वक 'जयति' का प्रयोग दर्शाता है कि यह नियन्त्रण सम्यग्रीत्या होता है, जिससे संरचनाओं का निर्माण हो सके। उधर 'वि' से तात्पर्य वह नियन्त्रण विविध प्रकार से होता है, जिससे विविध आकार व स्वरूप वाले लोक उत्पन्न हो सकें। यह इस सूक्तरूप रश्मिसमूह की विशेषता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- गैसीय व कॉस्मिक धूल से बने पदार्थ को मेघवत् पुनः पिण्डवत् आकार प्रदान करने में कुछ त्रिष्टुप् रश्मियों की भूमिका विशेष महत्वपूर्ण होती है। इन्हीं से उत्पन्न तीव्र विद्युत् किरणें जहाँ एक ओर डार्क एनर्जी के तीव्र प्रतिकर्षण बल को दूर करती हैं, वहीं उस गैस-धूल युक्त पदार्थ को भी अपने नियन्त्रण में लेकर बृहती छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त करके पिण्ड के समान आकार प्रदान करने में सहयोग करती हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से विद्युत् तरंगें उस पदार्थ में भारी हलचल व विलोडन की क्रिया करती हैं।।

३. एतद् गौरिवीतं, गौरिवीतिर्ह वै शाक्त्यो नेदिष्ठं स्वर्गस्य लोकस्यागच्छत्, स एतत् सूक्तमपश्यत्; तेन स्वर्गं लोकमजयत्, तथैवैतद् यजमान एतेन सूक्तेन स्वर्गं लोकं जयति।।

{शक्तिः = पशवो वै शक्तिः (मै.४.२.६)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त सूक्त गौरिवीति नामक ऋषि अर्थात् सूक्ष्म प्राण जिसके विषय में हम पूर्वखण्ड ३.१७.५ में लिख चुके हैं, से उत्पन्न होता है। इस विषय को वहीं देखें। अन्य विशेष (पूर्वोक्त प्रमाणों के संदर्भ में) यह भी वक्तव्य है कि **कुछ छन्द रश्मियों का कुछ सार भाग किंवा एक वा दो अक्षररूप सूक्ष्म रश्मियां जब उनसे पृथक् हो जाती हैं, तो वे ऐसी रश्मियां ही गौरिवीति सूक्ष्म प्राण का रूप होती हैं।** वे रश्मियां परस्पर संयुक्त होकर किंवा मनस्तत्त्व के साथ संयुक्त होकर उपर्युक्त सूक्तरूपी रश्मियों का निर्माण करती हैं। यह ऋषि प्राण 'शक्ति' नामक पदार्थ से उत्पन्न होता है और विभिन्न पशु अर्थात् मरुद्रश्मियां ही शक्ति कहलाती हैं। इससे भी हमारी उपर्युक्त धारणा पुष्ट ही होती है। ये रश्मियां जब विभिन्न नेब्यूलाओं के निर्माणाधीन केन्द्रों के निकट पहुँचती हैं, तब अत्यन्त निकट पहुँचकर वे रुक जाती हैं अर्थात् अन्दर पहुँचने में असमर्थ होती हैं। उस समय उन रश्मियों से यह सूक्तरूप विकिरण समूह उत्पन्न होता है। जिसके कारण वहाँ भारी क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। उसके पश्चात् उस विक्षोभ की तीव्रता के कारण वे रश्मियां इस सूक्तरूप रश्मिसमूह के साथ नेब्यूलाओं के निर्माणाधीन केन्द्रों में प्रविष्ट होने में समर्थ होती हैं। महर्षि कहते हैं कि जिस प्रकार ये रश्मियां उन सूक्त रूप रश्मियों के कारण केन्द्रीय भाग में पहुँचने में समर्थ होती हैं, उसी प्रकार विभिन्न परमाणु भी इन्हीं सूक्त रूप रश्मियों के प्रभाव से केन्द्रीय भाग की ओर गमन करने तथा पारस्परिक संयोग करने में सफल होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब विभिन्न नेब्यूलाओं के केन्द्रों का निर्माण प्रारम्भ होता है, तब इसमें व्याख्यान भाग में वर्णित ग्यारह प्रकार की त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की महती भूमिका रहती है। वे रश्मियां ही अन्य सूक्ष्म रश्मियों तथा विभिन्न कणों को भी संघनित करके चक्राकार घुमाते हुए केन्द्रीय भाग के रूप में संघनित करने लगती हैं। शेष प्रभाव पूर्ववत्।।

४. तस्यार्धाः शस्त्वाऽर्धाः परिशिष्य मध्ये निविदं दधाति।।
स्वर्गस्य हैष लोकस्य रोहो यन्निवित्।।
स्वर्गस्य हैतल्लोकस्याऽऽक्रमणं यन्निवित्, तामाक्रममाण इव शंसेद्, उपैव यजमानं निगृह्णीत योऽस्य प्रियः स्यादिति नु स्वर्गकामस्य।।

व्याख्यानम्– इस सम्बंध में महर्षि आश्वलायन का कथन है–

"एकभूयसीः शस्त्वा मरुत्वतीयां निविदं दध्यात्सर्वत्र।" (आश्व.श्रौ.५.१४.२०) इस सूत्र पर वृत्तिकार आचार्य नारायण का कहना है–

"एतस्य सूक्तस्यार्धा एकाधिकाः शस्त्वा तदन्तराले 'इन्द्रो मरुत्वान्' इत्येतां निविदं दध्यात्।" आचार्य सायण ने भी 'इन्द्रो मरुत्वान्' को निविद् माना है। पाद टिप्पणी में इसे निविदाध्याय २.१ पठित कहा गया है। इस सूक्त में निविद्धान संज्ञक ग्यारह ऋचाएं होने से आधा भाग पांच वा छः मानना होगा। यहाँ महर्षि आश्वलायन एक ऋचा अधिक की बात कहते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम सात ऋचाओं को छोड़कर 'इन्द्रो मरुत्वान्' निविद्रश्मि का प्रक्षेप (सन्धान) होता है। उसके पश्चात् अगली चार रश्मियों का प्रकाशन होता है। यह निविद् रश्मि क्या करती है? यह हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं।।

ये निविद्रश्मियां विभिन्न रश्मिसमूहों को परस्पर एक-दूसरे से जोड़कर फिर स्वर्ग अर्थात् विभिन्न संयोग क्रियाओं को अन्तिम परिणति तक पहुँचाती हैं। इसके साथ ही ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों व पदार्थ कणों को विभिन्न निर्माणाधीन नेब्यूलाओं के केन्द्रीय भाग तक पहुँचाने में सहयोग करती हैं। यह निविद् रश्मि भी यही करती है। वैसे यहाँ चर्चा विशेषतः इसी रश्मि के लिए है।।

यह निविद्रश्मि केन्द्रीय भाग की ओर सब ओर से प्रवाहित होती हुई उपर्युक्त सभी ग्यारह रश्मियों एवं उनके साथ अन्य पदार्थ समूह को सब ओर से उसी ओर ले चलती है और इसके साथ ही यह प्रक्रिया क्रमानुसार अर्थात् चरणबद्ध विधि से होती है। इस कारण इस निविद्रश्मि की उत्पत्ति भी इसी प्रकार उस केन्द्रीय भाग के चारों ओर चरणबद्ध विधि से होती है। इन रश्मियों को भी साथ-२ प्रवाहित करने में सहायक होती है। इसके साथ उन रश्मियों से आकर्षित हुआ संयोज्य पदार्थ समूह, जो केन्द्रीय भाग की ओर सब ओर स्थित होता हुआ उसकी ओर जाने का प्रयत्न करता है, उसे यह निविद्रश्मि उन ग्यारह रश्मियों के साथ बांधे हुए केन्द्रीय भाग की ओर ले चलती है। जिस-जिस पदार्थ का जितना-२ आकर्षण केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित ग्यारह रश्मियों के प्रति होता है, उतना-२ पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर उतनी ही तीव्रता से प्रवाहित होने लगता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– पूर्वोक्त ग्यारह त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के मध्य एक निचृद् दैवी त्रिष्टुप् अथवा दैवी पंक्ति छन्द रश्मि संयुक्त होकर उन ग्यारह रश्मियों की तीव्रता को बढ़ा देती है। यह रश्मि निर्माणाधीन तारों वा नेब्यूलाओं के चारों ओर बिखरे पदार्थ में उन ग्यारह रश्मियों के मध्य उत्पन्न होकर उन्हें परस्पर बांधे रखती है। इसके बाद ये रश्मियां चारों ओर से केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। इसके साथ ही इनके आकर्षण से जो-जो पदार्थ बंधा होता है, वह भी साथ-२ ही केन्द्रीय भाग की ओर संघनित होने लगता है। इस प्रकार पदार्थ के संघनन में इस लघु रश्मि की भूमिका अति महत्व की होती है।।

५. अथाभिचरतः – यः कामयेत क्षत्रेण विशं हन्यामिति, त्रिस्तर्हि निविदा सूक्तं विशंसेत्, क्षत्रं वै निविद्, विट् सूक्तं, क्षत्रेणैव तद् विशं हन्ति।।
यः कामयेत विशा क्षत्रं हन्यामिति, त्रिस्तर्हि सूक्तेन निविदं विशंसेत्, क्षत्रं वै निविद् विट् सूक्तं, विशैव तत्क्षत्रं हन्ति।।
य उ कामयेतोभयत एनं विशः पर्यवच्छिनदानीत्युभयतस्तर्हि निविदं व्याहयीतोभयत एवैनं तद् विशः पर्यवच्छिनत्ति।।
इति न्वभिचरतः, इतरथा त्वेव स्वर्गकामस्य।।

व्याख्यानम्– अब महर्षि उन परिस्थितियों का वर्णन करते हैं, जब इन निविद् रश्मियों द्वारा सूक्तस्थ रश्मियों का विच्छेद करके केन्द्रीय भाग की ओर जाने से रोका जाता है, उस समय की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब निविद् रूप क्षत्र रश्मियों के द्वारा पूर्वोक्त विड् रूप सूक्त को नष्ट

वा विखण्डित करना होता है, उस समय निविद्धान संज्ञक पूर्वोक्त उन ग्यारह रश्मियों के आदि, मध्य एवं अन्त में पूर्वोक्त निविद् रश्मियों का प्रक्षेपण किया जाता है, इससे वह सूक्त विखर जाता है। यद्यपि निविद् रश्मियां विभिन्न रश्मियों को जोड़कर शक्तिशाली बनाती हैं, परन्तु इस प्रकरण से विदित होता है कि निविद् रश्मियों के द्वारा छन्द रश्मियों को जोड़ने का अपना एक नियम है। इस विषय में खण्ड ३.११ विशेषतः द्रष्टव्य है। उस प्रकरण से इस प्रकरण की भी संगति पूर्णतः सिद्ध होती है। नियम विरुद्ध निवद्-प्रक्षेपण सूक्तस्थ रश्मियों तथा उनके साथ संगत वा आकर्षित परमाणु समुदाय परस्पर वियुक्त होकर सृजन कर्मों को नष्ट कर देते हैं। इसी को यहाँ **'क्षत्र'** के द्वारा **'विट्'** को नष्ट करना कहा है। इस क्रिया के कारण पदार्थ समूह केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने से रुक जाता है।।

जब **विट्** अर्थात् सूक्त रश्मियों के द्वारा **क्षत्र** अर्थात् निविद्रश्मियों को विखण्डित करना हो, तब निविद् रश्मियों के पदों के दो भाग करके उस निविद् रश्मि के आदि, मध्य व अन्त में सभी ग्यारह सूक्त रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इससे सूक्त रश्मियों के द्वारा वह निविद् रश्मि विखण्डित हो जाती है। फिर उस रश्मि के विखण्डित होने से उससे होने वाले पूर्वोक्त कार्य भी नहीं हो पाते हैं।।

यहाँ आचार्य सायण ने **'उभयतः'** पद से पूर्वज व वंशज दोनों का ग्रहण करते हुए लिखा है- "स्वस्मात् पूर्वभाविन्यः, पितृपितृव्यमातुलादयो याः प्रजाः, स्वस्योत्तरभाविन्यः पुत्र जामात्रादयो याः प्रजाः तासां सर्वासामवच्छेदं करवाणीत्यर्थः" आधियाज्ञिक पक्ष में भी ऐसा भाष्य असंगत, दोषपूर्ण एवं निन्दनीय है। हम अपनी आधिदैविक शैली में इसे व्याख्यात करते हैं-

जब पूर्वोक्त सूक्तस्थ ग्यारह रश्मियों को उनकी उत्पत्तिकर्त्री गौरिवीति नामक पूर्वोक्त सूक्ष्म रश्मियों तथा इन रश्मियों से उत्पन्न किंवा उनके अनुचर व उनके द्वारा आकर्षित विभिन्न परमाणुओं से पृथक् करना हो, उस समय निविद् रश्मि के आदि व अन्त में २.३३.१ में वर्णित आहाव संज्ञक **'शोंसावोम्'** सूक्ष्म रश्मि को संगत कर दिया जाता है। इस प्रकार इस आहाव रश्मि सहित निविद् रश्मि के सूक्त की रश्मियों के अन्दर प्रक्षेपण से उनका सम्बन्ध उस ऋषि प्राण तथा विभिन्न संगत व अनुचर परमाणु समुदाय से टूट जाता है। इसके कारण वे पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित नहीं हो पाते हैं। इन कण्डिकाओं में दर्शायी गयी व्यवस्था अभिचार अर्थात् प्रवर्तमान प्रक्रिया को रोकने अर्थात् उसका उल्लंघन करने के लिए है और इनसे पूर्व कण्डिकाओं में दर्शायी प्रक्रिया केन्द्रीय भागों के निर्माण के लिए है। यही भेद है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब अन्तरिक्षस्थ पदार्थ निर्माणाधीन नेब्यूला वा तारों के केन्द्रीय भाग की ओर संघनित होता है, उस समय एक निश्चित सीमा के पश्चात् उस पदार्थ का उस दिशा में प्रवाह रुक जाता है, यदि ऐसा न होता, तो सम्पूर्ण पदार्थ एक ही विशाल तारे का रूप धारण कर लेता अथवा कल्पित ब्लैक होल का ही निर्माण होता। इस कारण उस प्रक्रिया को रोकने का वर्णन इन कण्डिकाओं में है। पूर्वोक्त रश्मियों में क्या परिवर्तन व व्यवधान उत्पन्न होता है, जिसके कारण सम्पूर्ण शेष पदार्थ फिर केन्द्रीय भाग की ओर जाने से रुक जाता है, इसको जानने हेतु व्याख्यान भाग ही द्रष्टव्य है। विभिन्न रश्मियों के विविध कार्यों की सम्पन्नता हेतु निश्चित व्यवस्था होती है और उसे रोकने की भी अन्यथा परन्तु निश्चित व्यवस्था होती है। **यह सब व्यवस्था प्रयोजनानुसार सर्वोच्च व्यवस्थापक परमात्मा की प्रेरणा से मनस्तत्त्व करता रहता है। केन्द्रों का निर्माण कितने पदार्थ से करना है? कितना पदार्थ बाहरी भाग में काम लेना है, यह सब उसी चेतना की सर्वोच्च बुद्धिमत्ता व शक्तिमत्ता पर निर्भर है।।**

६. 'वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रम्' इत्युत्तमया परिदधाति।।
'प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः'।।
'अप ध्वान्तमूर्णुहि' इति, येन तमसा प्रावृतो मन्येत, तन्मनसा गच्छेदप हैवास्मात् तल्लुप्यते।।
'पूर्धि चक्षुः' इति चक्षुषी मरीमृज्येत्।।
आजरसं ह चक्षुष्मान् भवति, य एवं वेद।।

'मुमुग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धान्' इति, पाशा वै निधा; मुमुग्ध्यस्मान् पाशादिव बद्धान् इत्येव तदाह।।८।।

व्याख्यानम्- अब महर्षि पूर्वोक्त सूक्त (ऋ.१०.७३) की अन्तिम ऋचा पर विशेष व्याख्यान करते हुए कहते हैं- इसके पूर्व कि हम व्याख्यान लिखें, हम इस ऋचा को उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं-

वयः॑ सुप॒र्णा उप॑ सेदु॒रिन्द्रं॑ प्रि॒यमे॑धा॒ ऋष॑यो॒ नाध॑मानाः।
अप॑ ध्वा॒न्तमू॑र्णु॒हि पू॒र्धि चक्षु॑र्मुमु॒ग्ध्य१॒॑स्मान्नि॒धये॑व ब॒द्धान्।।११।। (ऋ.१०.७३.११)

यह छन्द रश्मि इस सूक्त की अन्य छन्द रश्मियों को चारों ओर से धारण कर लेती है अर्थात् वे सभी दस छन्द रश्मियां इस छन्द रश्मि से घिरी रहती हैं अर्थात् इसके आवरण में बंधी रहती हैं। इसके कारण वे सभी रश्मियां अपने सभी पूर्वोक्त कर्मों को यथावत् संचालित करती रहती हैं। इसके प्रथम पाद के प्रभाव से विभिन्न शोभन पालनादि कर्मों से युक्त मरुद् रश्मियों के इन्द्र तत्त्व को प्राप्त होने अर्थात् उसके द्वारा अवशोषित होने में सहायता मिलती है।।

इसका द्वितीय पाद 'प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः' के प्रभाव से {नाधमानाः = याचमानाः (नि.४.३)} उपर्युक्त मरुद्रश्मियां ऋषिरूप अर्थात् उनमें से कुछ प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों के रूप में व कुछ अन्य ऋषि प्राणों के रूप में भी होती हैं। वे रश्मियां विशेष आकर्षण भाव रखने वाली एवं तृप्तिकारी वा संयोग करने वाली होती हैं, जिससे इन्द्र तत्व सम्यग्रीत्या अपने कार्यों को सम्पादित करता है।।

इसके तृतीय पाद का पूर्व भाग 'अप ध्वान्तमूर्णुहि' है। इसके प्रभाव से इन्द्रतत्त्व ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ के अन्धकार को दूर करने में सहयोग प्राप्त करता है। जहाँ-२ पदार्थ अन्धकारावृत्त होते हैं, वहाँ-२ इस पाद के प्रभाव से इन्द्रतत्त्व उस अन्धकार को दूर करता है।।

इसी तृतीय भाग का उत्तर भाग 'पूर्धि चक्षुः' है। इसके प्रभाव से २.३२.२ में वर्णित चक्षुरूप तूष्णींशंस रश्मियां प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होकर असुर तत्त्व को दूर रखने में इन्द्रतत्त्व का सहयोग करती हैं, जिससे प्रकाश की मात्रा बढ़ने लगती है। वे चक्षुरश्मियां बार-२ शुद्ध रूप में प्रकट होकर सर्वत्र गतिशील होती हैं।।

इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त पदार्थ प्रलयकाल आने से पूर्व तक दृश्य ही बना रहता है। उसका प्रकाश समाप्त नहीं होता।।

इस ऋचा का अन्तिम चतुर्थ पाद 'मुमुगधयस्मान् निधयेव बद्धान्' है। इसके प्रभाव से वे पदार्थ, जो असुर तत्त्व के पाश में बंधे होते हैं, वे उसके तीव्र प्रतिकर्षण बल के पाश से मुक्त होते हैं। यहाँ 'अस्मान्' पद उन बद्ध पदार्थों के लिए ही प्रयुक्त है, मानो वे इन्द्रतत्त्व से मुक्त होने की याचना कर रहे हों, यह ग्रन्थकार की शैली है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त ग्यारह त्रिष्टुप् रश्मियों में से अन्तिम रश्मि पूर्व की दस रश्मियों को चारों ओर से आवेष्टित कर लेती हैं। इस समय ब्रह्माण्ड में जो भी पदार्थ विद्यमान होता है, वह डार्क एनर्जी के प्रभाव से मुक्त होकर प्रकाशित होता हुआ पारस्परिक संयोगों को उत्पन्न करता है। उस दृश्य पदार्थ में विभिन्न क्रियाएं तीव्र होती हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चमकने लगता है।।

इति १२.८ समाप्तः

ॐ अथ १२.९ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन् सर्वा देवता अब्रवीद्, अनु मोपतिष्ठध्वमुप मा ह्वयध्वमिति, तथेति, तं हनिष्यन् त आद्रवन्, सोऽवेन् मां वै हनिष्यन् त आद्रवन्ति, हन्तेमान् भीषया इति तानभिप्राश्वसीत्, तस्य श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अद्रवन्, मरुतो हैनं नाजहुः, प्रहर भगवो जहि वीरयस्वेत्येवैनमेतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त।।
तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनूवाच-

'वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासीति'।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि इन्द्रतत्त्व और असुर तत्त्व का जब परस्पर संघर्ष हुआ, उस समय मानो इन्द्रतत्त्व ने समस्त पदार्थ समूह से कहा कि तुम मेरे साथ-२ ही डटे रहो और मेरा आह्वान करो। इसका आशय यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ को इन्द्रतत्त्व अपने साथ बांधे रखने का पूर्ण प्रयत्न करता है। इस प्रकार समस्त देव पदार्थ असुर तत्त्व पर प्रहार करने हेतु उसकी ओर सब ओर से गति करने लगता है। यहाँ असुर तत्त्व का समझना कि ये मुझे मारने आ रहा है, यह भी ग्रन्थकार की शैली है। इस कथन का आशय है कि इन्द्र सहित उस देव पदार्थ के असुर तत्त्व की ओर प्रवाहित होने से असुर तत्त्व पर इसकी भारी प्रतिक्रिया होती है।

{श्वसिति वधकर्मा (निघं.२.१९), श्वसप्राणने} उस प्रतिक्रियावश वह असुर तत्त्व उस इन्द्रादि पदार्थ पर तीव्रता से आक्रमण करता है। परस्पर इस संघर्ष से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अत्यन्त तीव्र घोष उत्पन्न होता है। इससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गूंजने लगता है। इस विध्वंसक संघर्ष में सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ असुर पदार्थ के तीव्र घोषयुक्त प्रतिकर्षण बल के प्रहार से इधर-२ तितर-बितर हो जाता है। इन्द्रतत्व के साथ केवल सूक्ष्म मरुद्रश्मियां रह जाती हैं। उन मरुद्रश्मियों के द्वारा इन्द्र को कहना 'प्रहर भगवो जहि वीरयस्व...' यह भी ग्रन्थकार की शैली है, जिसका आशय है कि मरुद्रश्मियां इन्द्रतत्त्व से संगत होकर उसे बल व तेज प्रदान करती रहती हैं।।

उस समय उन मरुद्रूपी रश्मियों, जो ऋषिप्राण रूप होती हैं, से इन्द्रदेवताक एवं विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचा

वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि।।७।। (ऋ.८.९६.७)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व का तेज व बल विशेषरूप से प्रकाशमान होने लगता है। इसके अन्य प्रभाव से इस संघर्ष में सभी देव पदार्थों के भाग जाने के उपरान्त प्राण, अपान, व्यानादि सभी प्राथमिक रूप मरुद् रश्मियां उस इन्द्र तत्त्व को बल प्रदान करती हैं। वे मरुद्रश्मियां इस छन्द रश्मि के साथ संगत होकर असुर तत्त्व की सेनाओं अर्थात् पंक्तिबद्ध किरणों के भयंकर प्रहार को नियन्त्रित कर लेती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब ब्रह्माण्डस्थ सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ गैसीय मेघवत् विभिन्न आकारों का निर्माण कर रहा था, उस समय उस पदार्थ को अनेकत्र सब ओर से डार्क एनर्जी घेर लेती है। फिर इसका भारी प्रतिकर्षण बल के द्वारा विद्युत् आवेशित दृश्य पदार्थ से भारी टकराव होता है। इसके कारण

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भारी घोष उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से ब्रह्माण्ड में बन रहे सभी मेघ बिखर जाते हैं। सम्पूर्ण पदार्थ इधर-उधर भागने लगता है। उस समय विद्युत् तरंगें मात्र प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों के साथ ही संगत रह जाती हैं। इस समय उन प्राणापानादि रश्मियों से एक विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण वे विद्युत् तरंगें तीव्र हो उठती हैं। उस समय उनसे ब्रह्माण्ड में तीव्र प्रकाश हो उठता है। इससे वे तरंगें डार्क एनर्जी के प्रतिकर्षक प्रभाव को नष्ट करके सम्पूर्ण पदार्थ को पुनः मिलाने लगती हैं। इस प्रकार संघर्ष चलते-चलते अन्ततः विभिन्न लोकों का निर्माण होता है।।

२. सोऽवेदिमे वै किल मे सचिवा, इमे माऽकामयन्त, हन्तेमानस्मिन्नुक्थ आभजा इति, तानेतस्मिन्नुक्थ आभजदथ हैते तर्ह्युभे एव निष्केवल्ये उक्थे आसतुः।। मरुत्वतीयं ग्रहं गृह्णाति, मरुत्वतीयं प्रगाथं शंसति, मरुत्वतीयं सूक्तं शंसति, मरुत्वतीयां निविदं दधाति, मरुतां सा भक्तिः।।

{सचिवः = सच्+इन्+वा+क (आप्टेकोष), (षच समवाये सेचने च, सचति गतिकर्मा - निघं. २.१४), हन्त = आकस्मिक हलचल को व्यक्त करने वाला अव्यय (आप्टेकोष)। निष्केवल्यम् = निरन्तरं केवलं स्वरूपं यस्मिँस्तत्र साधुम् (म.द.य.भा.१५.१३)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त संघर्ष में प्राणापानादि मरुद्रश्मियां इन्द्रतत्त्व के साथ ही रह कर उसे जयी बनाती हैं, इस प्रकार वे इन्द्रतत्त्व रूपी देव के सचिव के समान कार्य करती हैं। इसका तात्पर्य है कि ये रश्मियां इन्द्रतत्त्व के साथ सदैव इस प्रकार संयुक्त रहती हैं कि उनका मानो इन्द्र रश्मियों पर वर्षण होता रहता है। वे उसके ऊपर सदैव गतिशील रहती हैं, जैसे किसी फूल के ऊपर तितलियां मंडराती हैं, उस पर बैठती हैं, फिर कुछ ऊपर उठकर मंडराती हैं। यही क्रम मरुद्रश्मियों का भी इन्द्ररश्मियों के ऊपर रहता है। वे मरुद्रश्मियां उन इन्द्र रश्मियों के साथ सहसा ही ब्रह्माण्ड में विद्यमान अनेक उक्थों अर्थात् विभिन्न प्रकार की रश्मियों, कण आदि को अपने साथ संयुक्त करने लगती हैं। यह प्रक्रिया अकस्मात् तीव्रता से होती है। इसके साथ ही वे इन्द्र व मरुत्-तत्त्व दोनों ही सदैव साथ संयुक्त रहकर सभी रश्मियों व कणों के भाग बन जाते हैं और सदैव ही असुर तत्त्व को जीतते रहते हैं। वे दोनों निरन्तर अपने कर्मों को बिना किसी अन्य की सहायता के करते रहते हैं।।

इन मरुद्रश्मियों तथा इन्द्र का परस्पर निकट सम्बन्ध होने के कारण इन्द्रतत्त्व को समृद्ध करने वाली विविध छन्द रश्मियों के देवता विविध प्रकार के मरुत् ही हैं। इसे ही दर्शाने हेतु महर्षि इस कण्डिका में लिखते हैं-

खण्ड ३.२ में दर्शाये विभिन्न वायव्यादि ग्रह (बल) भी मरुत् सम्बन्धी होते हैं। इस विषय में उस प्रकरण में दिये हुए मंत्रों के देवताओं पर विचार करें। वहाँ उन सभी देव पदार्थों का मरुत् होना स्पष्ट है। इससे सिद्ध है कि उन मरुद्रश्मियों के कारण ही वे बल समृद्ध होते हैं। पूर्वोक्त प्रगाथ संज्ञक

प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा।।३।। (ऋ.८.८९.३)

ऋचा का देवता इन्द्र भले ही है, परन्तु यह ऋचा 'मरुत्' शब्द से युक्त है, इस कारण यहाँ भी दोनों का सह-अस्तित्त्व सिद्ध है। इस विषय में खण्ड ३.१९ की प्रथम कण्डिका का व्याख्यान देखें। इसके पश्चात् उसी खण्ड में ऋग्वेद १०.७३ की प्रथम ऋचा में 'मरुत्' विद्यमान है तथा अन्य कई ऋचाओं में सांकेतिक रूप से विद्यमान तथा इस सूक्त में 'इन्द्रो मरुत्वान्' निविद्रश्मि का प्रक्षेपण भी इस सूक्त को मरुत्वतीय सिद्ध करता है, इसके साथ ही वह निविद् रश्मि मरुत्वतीय है ही। इस प्रकार इन्द्रतत्त्व तथा मरुतों का साथ-२ भोग सिद्ध होता है अर्थात् दोनों ही पदार्थ जिस-२ पदार्थ के साथ संयुक्त होते हैं, साथ-२ ही होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न विद्युत् तरंगों का प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों के साथ सम्बन्ध सदैव अति निकटता से रहता है। इन विद्युत् तरंगों के ऊपर प्राणापानादि सूक्ष्म रश्मियां इस प्रकार क्रीड़ा करती रहती हैं, जैसे तितलियां किसी फूल पर मंडराती रहती हैं अथवा मानो प्राणादि सूक्ष्म रश्मियों की सतत सूक्ष्म वृष्टि उन विद्युत् तरंगों पर होती रहती है। ये विद्युत् तरंगें जहाँ-२ जो क्रियाएं करती हैं, उन-उनमें प्राणापानादि की सदैव भागीदारी रहती है। इसके बिना विद्युत् तरंगों का कोई कर्म सफल नहीं हो सकता, किंवा उनका अस्तित्त्व ही नहीं रहता।।

३. मरुत्वतीयमुक्थं शस्त्वा मरुत्वतीयया यजति, यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति।। 'ये त्वाऽहिहत्ये मघवन्नवर्धन् ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ। ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमं सगणो मरुद्भिः' इति।। यत्र यत्रैवैभिर्व्यजयत यत्र वीर्यमकरोत् तदेवैतत् समनुवेद्येन्द्रेणैनान् ससोमपीथान् करोति।।६।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकार से मरुद्रश्मियों से सम्बद्ध विभिन्न ऋचाओं की उत्पत्ति के उपरान्त मरुत् सम्बन्धी याज्या की उत्पत्ति होती है। यह याज्या रश्मि उपर्युक्त सभी मरुत्सम्बन्धी रश्मियों के साथ योषारूप धारण कर संगत हो जाती है। इसके कारण विभिन्न देव पदार्थ अपने-२ अनुकूल पूर्वोक्त छन्द रश्मियों को ग्रहण करके तृप्त होते हैं। इसका आशय यह है कि जिस-२ कण को जहाँ-२ जिस-२ छन्द रश्मि की आवश्यकता होती है, उसे वह प्राप्त हो जाती है। यह याज्यारूप छन्द रश्मि उन छन्द रश्मियों के साथ संगत होकर उन्हें पारस्परिक संयोगार्थ और भी प्रेरित करती है। वह याज्या छन्द रश्मि अगली कण्डिका के रूप में दर्शायी गयी है।।

उपर्युक्त याज्या संज्ञक ऋचा के रूप में **विश्वामित्र ऋषि** अर्थात् वाक् तत्त्व से इन्द्रदेवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमं सगणो मरुद्भिः।।४।। (ऋ.३.४७.४)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसे ही दो कण्डिकाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज एवं वल को धारण करता है। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कणों में विद्यमान इन्द्रतत्त्व विभिन्न मरुद्रश्मियों से संयुक्त सूत्रात्मा वायु के द्वारा असुर तत्त्व को संग्राम में पराजित करने में समर्थ होता है। इसके साथ वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न किरणों में समृद्ध होता है। उस समय वह सोम वायु को अपने अन्दर अवशोषित करता रहता है। ध्यातव्य है कि यहाँ मरुत् का तात्पर्य सूक्ष्म छन्द रश्मियां नहीं वल्कि प्राथमिक प्राण है।।

असुर तत्त्व के साथ इन्द्र तत्त्व का संघर्ष जव-२ और जहाँ-२ होता है, वहाँ-२ जो-२ मरुत् प्राण इन्द्रतत्त्व के साथ रहते हैं, वे भी इन्द्रतत्त्व के साथ तेजस्वी वन कर विभिन्न सोम रश्मियों को अवशोषित करते हैं। वस्तुतः वे मरुत् इन्द्र के साथ संयुक्त होने से उसी के समान सभी कर्मों व प्रभावों में समानरूपेण भागीदार रहते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त प्रसंग में दर्शायी विभिन्न छन्द रश्मियों के बीच एक ऐसी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि भी उत्पन्न होती है, जो उन सबके साथ क्रिया करके सबकी सृजनधर्मिता के बढ़ाने में सहायक होती है। इस रश्मि के प्रभाव से विद्युत् तरंगें और भी तीव्र व तेजयुक्त हो जाती हैं। वे किरणें ब्रह्माण्ड में विद्यमान समस्त सूक्ष्म रश्मियों को अपने अन्दर अवशोषित कर प्रवलतर होने लगती हैं।।

इति १२.९ समाप्तः

ॐ अथ १२.१० प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत् प्रजापतिमहमेतदसानि यत्त्वमहं महानसानीति स प्रजापतिरब्रवीद्-अथ कोऽहमिति यदेवैतदवोच इत्यब्रवीत्, ततो वै को नाम प्रजापतिरभवत्, को वै नाम प्रजापतिर्यन्महा-निन्द्रोऽभवत् तन्महेन्द्रस्य महेन्द्रत्वम्।।

{कः = कच्+ड इति आप्टे (कच् = बांधना, जकड़ना, चमकना - आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि ने प्रजापति अर्थात् मनस्तत्त्व एवं इन्द्र तत्त्व का संवाद अपनी समझाने की शैली में दर्शाया है। इस संवाद का आशय यह है कि जब इन्द्रतत्व पूर्वोक्त प्रकार से असुर तत्त्व को नियन्त्रित कर लेता है, उस समय वह इन्द्र तत्त्व मनस्तत्त्व के समान हो जाता है। जैसे कि मनस्तत्त्व सब स्थानों पर व्याप्त होकर सबको अपने साथ बांधे रखता है। ब्रह्माण्ड की सभी प्राणादि रश्मियों तथा अन्य पदार्थों को मनस्तत्त्व ही धारण किये रहता है। यह मनस्तत्त्व ही सर्वप्रथम दीप्ति को प्राप्त करने वाला पदार्थ है, जो आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थों के प्रकाशित करने में मूल कारण बनता है। इसी कारण मनस्तत्त्व रूपी प्रजापति को 'कः' कहा जाता है। जब इन्द्र तत्त्व असुर पदार्थ को नियन्त्रित कर लेता है, उस समय वह भी मनस्तत्त्व के समान सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ में व्याप्त होकर उसे जकड़ लेता व उसे प्रकाशित करता है। आप्टे ने 'कः' का अर्थ आत्मा भी किया है, इससे यह भी सिद्ध है कि मनस्तत्त्व प्रत्येक पदार्थ के आत्मा के समान उसमें व्याप्त होता है किंवा उसके बिना किसी भी जड़ पदार्थ का अस्तित्त्व ही नहीं रहता है। इसी प्रकार असुर-विजेता इन्द्रतत्त्व भी सम्पूर्ण पदार्थ के अन्दर व्याप्त रहकर उसे सक्रिय व गतिशील बनाए रखता है? हम पूर्व में अनेकत्र बतला चुके हैं कि 'कः' का अर्थ प्राण भी होता है, इससे सिद्ध है कि यह मनस्तत्त्व सभी प्राण व अन्य संज्ञक पदार्थों का भी प्राण है अर्थात् वह प्राणों का भी प्राण है। इसी प्रकार इन्द्रतत्त्व भी सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ का प्राण रूप होकर उसे बल व गति प्रदान करता रहता है। इस कारण वह इन्द्रतत्त्व अति व्यापक हो जाने से महेन्द्र कहलाता है। उसका क्षेत्र, उसका बल, उसका तेज सभी महान् होते हैं। उसका नियन्त्रण सामर्थ्य भी महान् होता है, इस कारण वह महेन्द्र कहलाता है। इस प्रकरण में अन्य महर्षि ने भी कहा- "इन्द्रो वृत्र महन् तं देवा अब्रुवन् महान् वा अयमभूद् यो वृत्रमवधीदिति तन्महेन्द्रस्य महेन्द्रत्वम्" (तै.सं.६.५.५.२)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न विद्युत् तरंगें जब पूर्वोक्त प्रकार से डार्क एनर्जी के प्रभाव को नष्ट वा नियन्त्रित कर लेती हैं, उस समय वे तरंगें ब्रह्माण्डस्थ सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ को सब ओर से व्याप्त कर लेती हैं। वे उस पदार्थ समूह को गति, बल व तेज प्रदान करके अत्यधिक सक्रिय हो जाती हैं। उस समय सम्पूर्ण पदार्थ विद्युन्मय एवं प्रकाशमय हो उठता है।।

२. स महान् भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं म उद्धरतेति, यथाऽप्येतर्हीच्छति, यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते, स महान् भवति, तं देवा अब्रुवन्, स्वयमेव ब्रूष्व यत् ते भविष्यतीति, स एतं माहेन्द्रं ग्रहमब्रूत माध्यंदिनं सवनानां, निष्केवल्यमुक्थानां त्रिष्टुभं छन्दसां, पृष्ठं साम्नां, तमस्मा उद्धारमुदहरन्।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि अपनी उसी शैली में इन्द्र एवं अन्य समस्त देवों के संवाद को दर्शाते हैं। इस संवाद का आशय इस प्रकार है-

{उद्+हृ = खींचना, उठाना, मुक्त करना, अवशोषण करना, छांटना (आप्टेकोष)}

पूर्वोक्त इन्द्रतत्त्व जब प्रबल होकर असुर पदार्थ को नियन्त्रित करके महेन्द्र बन कर सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ में व्याप्त हो गया, उस समय वह इन्द्र तत्त्व तीव्रता से प्रकाशमान होता हुआ मानो समस्त पदार्थ समूह को असुर तत्त्व से खींच-२ कर अर्थात् उसके प्रभाव से मुक्त करके अपने अन्दर अवशोषित करने लगा। वह इन्द्र तत्त्व महान् होकर अतिश्रेष्ठता को प्राप्त हो गया। वह सबका आधार, सबका नियन्ता बन कर स्वयं 'माहेन्द्र ग्रह' अर्थात् वैद्युत-बल का प्रखर रूप हो उठा। पूर्व में जो नौ ग्रह (३.१.१ में वर्णित) के अतिरिक्त पृथक् एक बल बन गया है। मध्यंदिन सवन अर्थात् सम्पूर्ण अन्तरिक्ष निष्केवल्य उक्थ (देखें- पूर्व खण्ड) अर्थात् निरन्तर एकाकी प्रकाशमान देदीप्यमान ऋचाओं, त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों में इन्द्र तत्त्व व्याप्त रहता है। पृष्ठसाम में भी इन्द्रतत्त्व व्याप्त रहता है। पृष्ठसाम विषय में एक अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा है-

"यत्परः राथन्तरम्। तत्प्रथमेऽहन्कार्यम्। बृहद्द्वितीये।
वैरूपं तृतीये। वैराजं चतुर्थे। शाक्वरं पञ्चमे। रैवतः षष्ठे। तदु पृष्ठेभ्यो नयन्ति।" (तै.ब्रा.१.२.२.३)

इससे स्पष्ट है कि रथंतर, बृहत, वैरूप, वैराज, शाक्वर एवं रैवत साम रश्मियों में भी इन्द्र तत्त्व व्याप्त होता है। हम इन सभी छः रश्मियों के स्वरूप पर क्रमशः विचार करते हैं-

(१.) रथन्तर- इस विषय में तै.ब्रा.२.१.५.७ में कहा है- "चतुरक्षरं रथन्तरम्"। इसका तात्पर्य है कि ये साम रश्मियां चार अक्षर-युक्त होती हैं। उधर ताण्ड्य ब्राह्मण ५.१.१५ का वचन है- गायत्रं वै रथन्तरम्। गायत्री वै रथन्तरस्य योनिः (तां.१५.१०.५), गायत्रं वै रथन्तरं गायत्रश्छन्दः (तां.१५.१०.६)। इससे सिद्ध है कि ये चतुरक्षरा छन्द रश्मियां गायत्री से उत्पन्न किंवा गायत्री छन्द के रूप में होती हैं। हम जानते हैं कि साम्नी गायत्री बारह अक्षरों से युक्त होती है, तब प्रतीत होता है कि उसी का एक पाद चार अक्षरयुक्त रथन्तर साम का रूप होता है। ये रश्मियां गायत्री छन्द की भाँति तेज व बल से युक्त होती हैं। इसी कारण कहा है- "ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरम्" (तै.ब्रा.२.७.१.१), "अग्निर्वै रथन्तरम्" (ऐ.५.३०)। महर्षि दयानन्द अपने ऋ.भा.६.६३.५ में 'रथम्' पद का अर्थ 'रमणीयं किरणम्' करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अपनी रमणीय किरणों के द्वारा विभिन्न पदार्थों को वहन करने से ये रश्मियां 'रथन्तर' कहलाती हैं। इस विषय में एक महर्षि का कथन है- "अपानो रथन्तरम्" (तां.७.६.१४)। उधर २.२६.१ में हम लिख चुके हैं कि चार ऋतु रश्मियों अर्थात् चार अक्षरों से अपान प्राण की उत्पत्ति होती है। उस कथन से यह रश्मि अपान के समान व्यवहार करती है।

(२.) बृहत्- इस विषय में तै.ब्रा.२.१.५.७ में कहा है- "द्व्यक्षरं बृहत्"। इसका तात्पर्य है कि दो अक्षर की छन्द रश्मियां बृहत् कहलाती हैं। उधर ताण्ड्य ब्राह्मण ५.१.१४ में कहा है- "त्रैष्टुभं वै बृहत्"। ऐतरेय आरण्यक ३.१.६ में कहा है- "प्राणो बृहतः रूपम्" इससे प्रतीत होता है कि यह साम विराड् दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के रूप में होता है। २.२६.१ में हम लिख चुके हैं कि प्राण नामक प्राथमिक प्राण छः ऋतु प्राणों अर्थात् छः अक्षरों से मिलकर बनता है। इससे प्रतीत होता है कि तीन बृहत् साम रश्मियों से मिलकर प्राण तत्त्व बनता है। इस कारण ही इसे बृहत् का रूप कहा है। हमारे मत में इस बृहत् का साम्नी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि जिसमें बाईस अक्षर होते हैं, से भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिए। 'साम्नी' पद 'साम' से ही सम्बन्धित होने से हमारा मत स्वाभाविक है। अब प्रश्न यह है कि द्विरक्षरा रश्मियों का बाईस अक्षरों वाली साम रश्मियों से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है, कि जिस प्रकार षडक्षर प्राणतत्त्व द्विरक्षर बृहत् की तीन बार आवृत्ति से बना और उसी का रूप है, ऐसा महर्षि ऐतरेय महीदास कह रहे हैं, तब २-२ अक्षरों वाली बृहती रश्मियों की ग्यारह बार आवृत्ति होकर बाईस अक्षर वाली साम्नी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि क्यों नहीं बन सकती और उसी को "त्रैष्टुभं बृहत्" कथन कहता हो। इन रश्मियों का बृहत् नाम इस कारण है, क्योंकि इनका क्षेत्र अतीव विस्तृत सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में होता है, साथ ही ये रश्मियां बल व तेज में सर्वाधिक तीव्र होती हैं।

(३.) वैरूप- इस विषय में ऋषियों का कथन है- "वाग्वैरूपम् (साम)" (तां.१६.५.१६), "बृहदेतत् परोक्षं यद्वैरूपम्" (तां.१२.८.४), "रथन्तरमेतत्परोक्षं यद्वैरूपम्" (तां.१२.२.५), "यद्वै रथन्तरं तद्वै रूपम्" (ऐ.४.१३)। इन वचनों से सिद्ध है कि पूर्वोक्त दोनों साम रश्मियों का परोक्ष रूप ही वैरूप रश्मि के रूप में कार्य करता है। यहाँ "वाग्वैरूपम्" से संकेत मिलता है कि एकाक्षरा वाग्रश्मि ही वैरूप साम कहाती है। हम जानते हैं कि विभिन्न छन्द रश्मियों में एकाक्षरा वाग्रश्मि परोक्षरूपेण विद्यमान रहती है, इसी कारण २ व ४ अक्षर वाली क्रमशः बृहत् तथा रथन्तर साम रश्मियां वैरूप की ही परोक्ष रूप हैं। सम्पूर्ण सृष्टि के विविध पदार्थ किंवा उनके विविध रूप इन एकाक्षरा वैरूप साम रश्मियों के द्वारा ही उत्पन्न व क्रियाशील रहते हैं। इसी कारण महर्षि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद भाष्य १५.१२ में 'वैरूपम्' पद का अर्थ करते हुए लिखा है- "विविधानि रूपाणि प्रकृतानि यस्मिंस्तत"।

(४.) वैराज- इस विषय में लिखा है- "प्रजापतिर्वैराजम्" (तां.१६.५.१७), "वैराजो यज्ञः" (गो.पू.४.२४; जै.ब्रा.२.४३१)। इससे प्रतीत होता है कि मनस्तत्त्व वा वाक् तत्त्व किंवा दोनों का मिथुन रूप ही वैराज है क्योंकि इसी के परस्पर संगम से सम्पूर्ण सर्ग प्रक्रिया चलती है। इसका क्षेत्र सक्रिय पदार्थों के बीच सर्वाधिक होता है। सभी पदार्थ इन्हीं का भक्षण करके किंवा इन्हीं से उत्पन्न होकर नाना रूपों को प्रकाशित करते हैं। इसी कारण महर्षि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद भाष्य १०.१३ में 'वैराजम्' पद का अर्थ "यद्विविधैरर्थै राजते तदेव (साम)" किया है।

(५.) शाक्वर- इस विषय में आर्ष मत हैं- "शाक्वरो वज्रः" (तै.ब्रा.२.१.५.११), "वज्रः शक्वर्यः" (तां.१२.१३.१४), "रथन्तरमेतत् परोक्षं यच्छक्वर्यः" (तां.१३.२.८) इसका तात्पर्य है कि जितनी भी रश्मियां वज्र का कार्य करती हैं, वे सभी शाक्वर कहलाती हैं। उधर अतिच्छन्द रश्मियां भी शक्वरी कहलाती हैं। इस प्रकार इनका नाम भी शाक्वर साम है। ये अत्यधिक शक्तिशालिनी होती हैं।

(६.) रैवत- इस विषय में महर्षि अन्यत्र लिखते हैं- "यद् बृहत्तद् रैवतम्" (ऐ.४.१३) उधर अन्य महर्षियों का मत है- "या हि का च गायत्री सा रेवती (तां.१६.५.२७), वज्रो वै रेवती (काठ.१०.१०), रेवत्यः = नदीनाम (निघं.१.१३ - वै.को. से उद्धृत)। इसका तात्पर्य है कि ये रश्मियां भी वज्ररूप शक्तिशालिनी होती हैं। ये गायत्री व त्रिष्टुप् दोनों ही रूपों में विद्यमान रह कर घोष भी उत्पन्न करती हैं।

इस प्रकार इन छः सामों का भी इन्द्र तत्त्व से निकट सम्बन्ध है। यही इस कण्डिका के अन्त में कहा गया है। स्मरणीय है कि ये सभी रश्मियां इन्द्रतत्व का निर्माण करती हैं, यही उनका इन्द्र तत्त्व से सम्बन्ध है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रबल वैद्युत तरंगें विभिन्न पदार्थों को अपने प्रबल बल से डार्क एनर्जी के प्रभाव को समाप्त करके, परस्पर संगत करके प्रकाशमान् करती हैं। ब्रह्माण्ड में विद्यमान प्रत्येक ऐसी किरणें जिनमें बल होता है, उनका किसी न किसी प्रकार से विद्युत् तत्त्व से सम्बन्ध रहता है, चाहे वह सम्बन्ध कार्य-कारण का हो अथवा कारण कार्य का। इस प्रकार विद्युत् का क्षेत्र अति विस्तृत है, इसके बिना कोई भी सृष्टि सम्भव नहीं है। विशेष ज्ञान के लिए व्याख्यान भाग अवश्य पठनीय है।।

३. उदस्मा उद्धारं हरन्ति य एवं वेद।।

तं देवा अब्रुवन्, सर्वं वा अवोचथा, अपि नोऽत्रास्त्विति, स नेत्यब्रवीत्, कथं वोऽपि स्यादिति, तमब्रुवन्नप्येव नोऽस्तु मघवन्निति, तानीक्षतेव।।१०।।

{ईक्षे ईशिषे (नि.६.६)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त परिस्थिति वनने पर इन्द्रतत्त्व समस्त पदार्थ को अपने नियन्त्रण में लेकर उचित सर्ग प्रक्रियाओं को जन्म देता है।

इसके पश्चात् देवों व इन्द्र के संवाद का तात्पर्य यही है कि वह इन्द्रतत्त्व समस्त पदार्थ को

अपने साथ संगत कर लेता है, इसके कारण वे सभी पदार्थ भी सूक्ष्म प्राणादि रश्मियों का पान करके समस्त क्रियाओं में भाग लेने में सक्षम होते हैं। वे इन्द्र की भाँति शक्तिसम्पन्न तो नहीं होते परन्तु उसकी शक्ति से शक्ति प्राप्त करके सक्रिय अवश्य हो जाते हैं। वे पदार्थ असुर तत्त्व के विनाशक प्रभाव से मुक्त होकर इन्द्र तत्त्व के सृजनकारी प्रभाव के नियन्त्रण में आ जाते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विद्युत् के योग से विभिन्न परमाणु विद्युत् का रूप तो नहीं बनते परन्तु वे डार्क एनर्जी के प्रतिकर्षक प्रभाव से मुक्त होकर सृष्टि रचना में सक्रिय अवश्य हो उठते हैं। हर पदार्थ इस विद्युत् के ही नियन्त्रण में कार्य करता है।

इति १२.१० समाप्तः

❧ अथ १२.११ प्रारभ्यते ❧

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. ते देवा अब्रुवन्नियं वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नामास्यामेवेच्छामहा इति, तथेति, तस्यामैच्छन्त, सैनानब्रवीत्, प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति, तस्मात् स्त्रियः पत्याविच्छन्ते, तस्मादु स्त्र्यनुरात्रं पत्याविच्छते, तां प्रातरुपायन्, सैतदेव प्रत्यपद्यत।। 'यद् वावान पुरुतमं पुराषाळा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः। अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान्' इति।।
इन्द्रो वै प्रासहस्पतिस्तुविष्मान्।।
'यदीमुश्मसि कर्तवे करत्तद्' इति यदेवैतदवोचामाकरत्तदित्येवैनांस्तदब्रवीत्।।

{वावाता = भुव इति वावाता (तै.ब्रा.३.६.४.५)}

व्याख्यानम्- पूर्ववत् शैली में यहाँ भी विभिन्न देव पदार्थों का इन्द्र की पत्नी से काल्पनिक संवाद दर्शाया गया है। इस संवाद का तात्पर्य इस प्रकार है-

इन्द्र के द्वारा नियन्त्रित व शक्तिमान् होने के पश्चात् वे देव पदार्थ इन्द्र की पत्नी के पास गये। 'पत्नी' शब्द का अर्थ इन्द्र तत्त्व की रक्षिका शक्ति। इस विषय में १.११.३ में विस्तार से देख सकते हैं। वहाँ बताया गया है कि प्रत्येक पदार्थ की चार प्रकार की शक्तियां होती हैं, जिनमें एक शक्ति का नाम 'वावाता' है, जिसका यहाँ वर्णन किया गया है। तै.ब्रा. के उपर्युक्त प्रमाण से 'भुवः' रश्मि ही 'वावाता' नामक पत्नी अर्थात् इन्द्र की रक्षिका व पालिका सूक्ष्म शक्ति है। ये सभी देव पदार्थ 'भुवः' इस सूक्ष्म रश्मि के साथ संगत हुए अथवा उसकी ओर आकर्षित हुए। उस 'वावाता' अर्थात् 'भुवः' द्विरक्षरा रश्मि के कई विशेषण महर्षि ने बताये हैं, जो इस प्रकार हैं-
१. प्रिया अर्थात् यह रश्मि इन्द्र तत्त्व को तृप्त करती है।
२. जाया अर्थात् इस रश्मि के कारण विभिन्न पदार्थों का सृजन होने लगता वा होता है।
३. प्रासहा अर्थात् यह प्रकृष्टरूपेण बलवती होती है।

इस विषय में एक अन्य महर्षि का मत इस प्रकार है- "भुव इत्यपानः" (तै.आ.७.५.३; तै.उ. १.५.३) अर्थात् 'वावाता' अपान नामक प्राथमिक प्राण ही है। उधर पूर्व खण्ड में २.२६.१ के प्रमाण से अपान तत्त्व चतुरक्षर सिद्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि अपान प्राण में 'भुवः' इस छन्द रश्मि की दो आवृत्ति होती हैं। यह अपान प्राण इन्द्र तत्त्व से सम्बन्धित होता है, इसकी पुष्टि एक अन्य तत्त्ववेत्ता ऋषि करते हैं-

"ऐन्द्रोऽपानः" (तै.सं.६.३.११.२)। इससे भी अपान का इन्द्र की पत्नी अर्थात् रक्षक होना सिद्ध होता है। जब विभिन्न पदार्थ इसके सम्पर्क में आते हैं, उस समय वह अपान प्राण उन कणों वा रश्मियों को अत्यन्त तीव्रता के साथ गति और तेज से युक्त कर देता है। इस कारण स्त्री अर्थात् तेज व बलहीन पदार्थ {स्त्री = अवीर्या वै स्त्री (श.२.५.२.३६) (स्त्यै शब्दसंघातयोः)} पति अर्थात् पालक इन्द्र तत्त्व के साथ संगत होते हैं। इसके पश्चात् वे ऐसे तेज व बल से हीन पदार्थ रात्रि अर्थात् {रात्रिरपानः (ऐ.आ.२.१.५)} अपान रश्मियों के साथ संगत होने लगते हैं। यह कार्य अत्यन्त तीव्रता से होता है। ये कण विस्तृत क्षेत्र में फैले होने से तेज व बल में हीन होते हैं तथा ये मंद-२ ध्वनियां उत्पन्न करते हुए परस्पर दुर्बल संघात करने वाले होते हैं।।

उस समय गौरवीति ऋषि अर्थात् सूक्ष्म 'भुवः' वाग्रश्मियों किंवा अपान प्राण से इन्द्रदेवताक एवं

विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क

यद्वावानं पुरुतमं पुराषाळा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः।
अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान्यदीमुश्मसि कर्तवे करत्तत्।।६।। (ऋ.१०.७४.६)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से इन्द्र तत्त्व का विशेष तेजस्वी बल उन पदार्थों में प्रकट होता है। इसका आशय यह है कि वे पदार्थ पूर्वापेक्षा और भी तेजस्वी एवं बलवान् होते हैं। इसके इस कण्डिका में दिये प्रथम तीन पादों के प्रभाव से {वावान = वनते (म.द.ऋ.भा.६.२३.५), (वन सम्भक्तौ, वनु याचने, धातोर्वा लिट् तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घः - वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री।} वह इन्द्र तत्त्व उस समय वृत्र रूपी आसुर मेघाऽवरण को नष्ट करने वाला अत्यधिक शक्ति के साथ उस पदार्थ को दबाने वा नियन्त्रित करने वाला होकर नामों को सब ओर से पूर्ण करता है। {नाम = वाङ्नाम (निघं.१.११ - वै.को. से उद्धृत), उदकनाम (निघं.१.१२)} इसका आशय है कि इन्द्र तत्त्व की रश्मियां, प्रसंगतः यहाँ अपान रश्मियां, जो 'भुवः' रूप वाग्रश्मियां ही होती हैं, का सभी कणों व तरंगों पर सिंचन करके उन्हें तेजस्वी बनाता है। वह ऐसा करने वाला इन्द्र तत्त्व 'तुविष्मान्' {तुवि बहुनाम (निघं.३.१)} अनेक रश्मियों से युक्त तथा व्यापक क्षेत्र में विद्यमान एवं प्रभावकारी होता है। वह इन्द्र ही प्रासहस्पति अर्थात् उन 'प्रासहा भुवः' पत्नीरूप रश्मियों का पति अर्थात् पालक होता है। इस प्रकार वे 'भुवः' पत्नी संज्ञक रश्मियां और पति रूप इन्द्रतत्त्व परस्पर एक-दूसरे के पालक व रक्षक सिद्ध होते हैं। वह इन्द्र उन सब पदार्थों को चेताता है अर्थात् उन्हें विभिन्न सृजन कर्मों को करने हेतु प्रेरित करता है। तदुपरान्त चतुर्थ पाद के प्रभाव से {उश्मसि = कान्तिकर्मणः (निघं.२.६)} वे सभी पदार्थ विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करने हेतु परस्पर एक-दूसरे को और अधिक चाहने व प्रकाशित करने लगते हैं। वे परस्पर एक-दूसरे को धारण करने लगते हैं। यहाँ 'ईम्' शब्द का अर्थ 'सभी प्रकार की क्रियाएं' है, जैसा कि महर्षि दयानन्द ने अपने ऋ.भा.१.१६४.३२ में किया है। निघण्टुकार ने १.१२ में इसे उदक नामों में पढ़ा है। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रभावों से वे पदार्थ परस्पर एक-दूसरे पर अपनी बल रश्मियों का सेचन करके सिक्त करते रहते हैं। यह विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि निष्केवल्य शस्त्र कहाती है, जैसा कि इसी खण्ड में आगे संकेत मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि इस रश्मि का प्रभाव सतत बना रहता है, केवल क्षणिक नहीं होता।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रक्रियोपरान्त भी उस समय ब्रह्माण्ड में विद्यमान पदार्थ कण पर्याप्त बल व तेज से युक्त नहीं होते। वे कण उस समय विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए मंद-२ ध्वनि उत्पन्न करते रहते हैं। उनमें परस्पर संयोग प्रक्रियाएं चलती तो हैं, परन्तु उनके मध्य बन्धन बल दुर्बल होते हैं, इस कारण वे परस्पर एक-दूसरे से मिलकर दृढ़ बन्धन उत्पन्न नहीं कर पाते। उस समय विभिन्न विद्युत् तरंगों में से सतत उत्सर्जित अपान (भुवः) रश्मियां उन सभी पदार्थों को अपने प्रभाव से सिक्त करने लगती हैं। उसके कारण सभी प्रकार के कण व तरंगें परस्पर एक-दूसरे को बांधने लगती हैं और उनके बंधन पूर्वापेक्षा दृढ़ होते हैं। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।।

२. ते देवा अब्रुवन्नप्यस्या इहास्तु या नोऽस्मिन्न वै कमविददिति, तथेति, तस्या अप्यत्राकुर्वन्।।
तस्मादेषाऽत्रापि शस्यते, -यद्वावान पुरुतमं पुराषाळिति।।
सेना वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम; को नाम प्रजापतिः श्वशुरस्तद्याऽस्य कामे सेना जयेत्, तस्या अर्धात् तिष्ठंस्तृणमुभयतः परिच्छिद्येतरां सेनामभ्यस्येत्- 'प्रासहे कस्त्वा पश्यतीति', तद्यथैवादः स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैत्येवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमानैति, यत्रैवं विद्वांस्तृणमुभयतः परिच्छिद्येतरां सेनामभ्यस्यति 'प्रासहे कस्त्वा पश्यतीति'।।

{सेनाः = सिन्वन्ति बध्नन्ति शत्रुन् याभिस्ताः (म.द.य.भा.१७.३३), सेना सेश्वरा समानगतिर्वा (नि.२.११)। श्वसुरः = (शूः क्षिप्रनाम - निघं.२.१५), शु शीघ्रमश्नुत आप्नोति यं सः (उ.को.१.४४)। लज्जमानाः (लजति गतिकर्मा - निघं.२.१४), (लाजीन् = स्वकक्षायां चलितान् - म.द.य.भा.२३.८)। स्नुषा = स्नौति प्रस्रवतीति (उ.को.३.६६)। अभ्यस्यति = (भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः - नि.३.२१)। अर्धम् = अर्धकम् (म.द.ऋ.भा.६.४७.२१), ऋद्धिम् (म.द.ऋ.भा.२.३०.५), हरतेर्विपरीतात्, धारयतेर्वा स्याद् उद्धृतं भवति ऋध्नोतेर्वा स्यात् ऋद्धतमो विभागः (नि.३.२०)। तृणम् = 'तृह हिंसायाम्'}

व्याख्यानम्- यहाँ भी पूर्वोक्त शैली का कल्पित संवाद है। इसका आशय यह है कि जब वे देवकण वा तरंग प्रदीप्त हो गयीं, उस समय उस विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के अन्दर भी 'वावान' पद भी 'वावाता' अर्थात् अपान वा भुवः रश्मियों से सम्बद्ध होकर उन सभी संयोगादि क्रियाओं में व्याप्त हो गया। **वह निष्केवल्य शस्त्र अर्थात् सतत गमनशील बल विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि** के रूप में सबमें व्याप्त होकर धारण करने लगा। इस विषय में महर्षि आश्वलायन का वचन है- "यद्वावानेति धाय्या" (आश्व.श्रौ.५.१५.२१)। इससे सिद्ध होता है कि यह विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि धाय्या संज्ञक है, जो विभिन्न कणों, तरंगों व छन्द रश्मियों द्वारा धारण की जाती है। इस कारण उन कणों वा तरंगादि पदार्थों की सभी क्रियाओं में इस रश्मि और उसमें विद्यमान 'वावाता' अर्थात् 'भुवः' सूक्ष्म रश्मि का भी सर्वत्र योगदान रहता है।।+।।

अब महर्षि कहते हैं कि पूर्वोक्त इन्द्र की पत्नी 'वावाता' अर्थात् 'भुवः' किंवा अपान, जिसके 'प्रिया', 'जाया' एवं 'प्रासहा' भी विशेषण हैं तथा उनके विषय में हम पूर्व कण्डिकाओं में लिख चुके हैं। वह 'भुवः' रश्मियां सेनारूप होती हैं। इसका तात्पर्य है कि ये 'भुवः' रश्मियां नियन्त्रित व समान गति से प्रवाहित होती हैं। इसके साथ ही वे असुरादि बाधक पदार्थों को बांध कर नियन्त्रित कर देती हैं। उन पदार्थों को वे दूर कर देती हैं। इन्द्र की पत्नी की चर्चा के उपरान्त लिखते हैं कि 'कः' प्रजापति अर्थात् मनस्तत्त्व इन्द्रतत्त्व का श्वसुर है। इसका तात्पर्य है कि यह सूक्ष्मतम प्राण रूप मनस्तत्त्व, जो सबका आधार व उपादान है, वह मनस्तत्त्व इन्द्र तत्त्व से अतिशीघ्रता से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करता है। यहाँ अतिशीघ्रता से तात्पर्य इतना ही है कि इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध इन्द्रतत्त्व की उत्पत्ति के साथ ही होता है। इन्द्र की पत्नी 'भुवः' किंवा अपान रश्मियां मनस्तत्त्व से ही उत्पन्न होने से उसकी पुत्री रूप हैं। इन्द्र व 'भुवः' का सम्बन्ध नित्य है, इस कारण इन्द्र तत्त्व का मनस्तत्त्व के साथ सम्बन्ध नित्य है। काठक संहिता २७.२ में कहा है- "मनसा ह्यपानो धृतः" इससे भी अपान व इन्द्र का मनस्तत्त्व से नित्य सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसी कारण इसे इन्द्र का श्वसुर कहा है। जब इन्द्र तत्त्व चारों ओर प्रबल होते हुए असुर पदार्थ की सेना को नियन्त्रित करना चाहता है, उस समय अपने अति समृद्ध तथा विभिन्न बलों को धारण करते हुए असुर पदार्थ की सेना के सम्मुख डटा रहता है। वह इन्द्र तत्त्व उस हिंसितव्य असुर पदार्थ को सब ओर से छिन्न-भिन्न करके उसकी सेना अर्थात् रश्मिसमूह को कम्पायमान कर देता है। इसका दूसरा आशय यह है कि वह इन्द्रतत्त्व असुर सेना को परास्त करने हेतु अपनी 'भुवः' रश्मियों की सेना को सब ओर से उस असुर सेना पर तीव्रता से प्रक्षिप्त करता है। उस समय 'प्रासहे कस्त्वा पश्यति' यह आठ अक्षर वाली आर्षी गायत्री छन्द रश्मि की एक पाद रश्मि उत्पन्न होकर उस असुर सेना पर प्रहार करती है। इसकी उत्पत्ति उस अपान (भुवः) रश्मि से ही होती है। इसके प्रभाव से 'भुवः' रश्मि जो प्रासहा होती है, उसका मनस्तत्त्व के प्रति अधिक आकर्षण होकर वह और अधिक व्यापक हो जाती है। इसके साथ इसका यह भी आशय है कि असुर तत्त्व की रश्मियां भी प्रासहा अर्थात् प्रकृष्ट बलशील होती हैं। उन रश्मियों को मनस्तत्त्व द्वारा धारण की हुई अपान रश्मियां अपने बल से दूर हटाती हैं। इसकी उपमा करते हुए महर्षि कहते हैं कि जैसे वर्तमान में स्नुषा अर्थात् असुर तत्त्व की रिसती हुई रश्मियां मनस्तत्त्व किंवा उससे उत्पन्न प्राणापान से प्रतिकर्षित होती हुई दूर चली जाती व छिप जाती हैं अर्थात् अपना दुष्प्रभाव नहीं डाल पातीं, उसी प्रकार उपर्युक्त असुर-इन्द्र संघर्ष में असुर रश्मियां तितर बितर होकर बिखर कर छिप जाती हैं। यहाँ 'भज्यमाना' का अर्थ करते हुए डॉ. सुधाकर मालवीय ने भट्टभास्कर एवं षड्गुरुशिष्य को उद्धृत करते हुए लिखा है- "भज्यमाना नश्यत्परिकरा" - इति भट्टभास्कर, 'ताड्यमाना' - इति षड्गुरुशिष्यः।"

इसी उपमा के अनुसार उस समय असुर सेना का दोनों ओर से छेदन करके इस 'प्रासहे कस्त्वा पश्यति' रश्मियों का तीव्र प्रहार किया जाता है, जिससे असुर पदार्थ बिखर कर इधर पलायन कर जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उस समय ब्रह्माण्ड में विद्यमान समस्त दृश्य पदार्थ को आच्छादित वा धारण कर लेती है। जब दृश्य पदार्थ का डार्क एनर्जी से पूर्वोक्त संघर्ष होता है, उस समय विद्युत् तरंगें तीक्ष्ण रूप धारण करके उस डार्क एनर्जी को दो भागों में बिखेर देती हैं। इसके पश्चात् विद्युत् की सूक्ष्म अपान रश्मियों से उत्पन्न प्राजापत्या गायत्री छन्द रश्मियां विद्युन्मय होकर डार्क एनर्जी पर तीव्र भेदक प्रहार करती हैं। इसके कारण डार्क एनर्जी बिखर कर तितर बितर हो जाती है। वर्तमान में भी सूक्ष्म स्तर पर हो रहे संयोगों में डार्क एनर्जी का सूक्ष्म रूप जब दो कणों वा तरंगों अथवा इनके पारस्परिक संयोगों के बीच डार्क एनर्जी बाधक बनती है, उस समय भी मनस्तत्त्व से उत्पन्न प्राणापान रश्मियां उस पर प्रहार करके उसे बिखेर कर नियन्त्रित वा नष्ट कर देती हैं। इससे उस संयोग को यथावत् रूप से होने में सहजता हो जाती है।।

३. तान् इन्द्र उवाचापि वोऽत्रास्त्विति; ते देवा अब्रुवन्-विराड् याज्यास्तु निष्केवल्यस्य या त्रयस्त्रिंषदक्षरा।।
त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च; देवता अक्षरभाजः करोत्यक्षरमक्षरमेव तद्देवता अनु प्रपिबन्ति, देवपात्रेणैव तद्देवतास्तृप्यन्ति।।

व्याख्यानम्- यहाँ भी इन्द्र तत्त्व का अन्य पदार्थों के साथ कल्पित संवाद दर्शाया गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि उस समय पूर्वोक्त निष्केवल्य छन्द रश्मियों के साथ योषा रूप में संगत होने वाली याज्या छन्द रश्मि के रूप में वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व से इन्द्रदेवताक एवं भुरिगुष्णिक् छन्दस्क

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः। सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा।।१।। (ऋ.७.२२.१)

की उत्पत्ति होती है। इस ऋचा का छन्द महर्षि दयानन्द के सार्वदेशिक सभा के भाष्य में २६ अक्षर वाला होने से भुरिगुष्णिक् ही माना है। आचार्य सायण ने अपने ऋग्भाष्य में इसका छन्द विराट् माना है। इस कण्डिका में महर्षि ऐतरेय महीदास ने तैंतीस अक्षर वाली विराड् ऋचा के याज्या होने की बात कही है, न कि किसी ऋचा विशेष को इंगित किया है। किन्तु इसी खण्ड की अन्तिम कण्डिका में इस ऋचा का उल्लेख है। यह ऋचा अथर्ववेद २०.११७.१ में भी है। अपने अथर्ववेद भाष्य में पं. श्रीपाद सातवलेकर ने इसका छन्द विराट् त्रिपदा गायत्री तथा प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार व पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने इसका छन्द क्रमशः विराट् तथा निचृदार्षी पंक्ति माना है। यहाँ 'निचृदार्षी' कदाचित् मुद्रण की त्रुटि से छपा है, उन्होंने इसे निचृदार्ची पंक्ति माना होगा। इस ऋचा को याज्या मानने में महर्षि आश्वलायन का "पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेति याज्या" (आश्व.श्रौ.५.१५.२३) भी प्रमाण है। छन्दों में एक-दो अक्षर के भेद से छन्द यथावत् माना जा सकता है, परन्तु यह २६ अक्षर वाली ऋचा को स्वयं ग्रन्थकार तैंतीस अक्षर वाली कैसे कह रहे हैं? आचार्य सायण के ऋग्भाष्य में पदच्छेद में भी ३२ अक्षर हैं। महर्षि ऐतरेय महीदास एवं महर्षि आश्वलायन, इन दो ऋषियों को प्रमाण मानकर हमारा यहाँ मत यह है कि इस छन्द रश्मि का याज्या के रूप में प्रभाव पदच्छेद के रूप में और कहीं अर्ध मात्रा एक अक्षर के समान प्रभावकारी होने से यह रश्मि तैंतीस अक्षरों के समान प्रभावकारिणी होती है, इसी कारण इसका यहाँ विधान किया गया है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व से संयुक्त सभी पदार्थ विशेष तेजस्वी व उष्ण हो जाते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {अर्वा = ईरणवान् (नि.१०.३१) (ईर गतौ कम्पने च)} वह इन्द्रतत्त्व, जो सबको गति प्रदान कराता व कंपाता है, अपने आकर्षण व प्रतिकर्षण बलों के द्वारा सोम पदार्थ को अवशोषित करके ब्रह्माण्ड में अनेक मेघों का निर्माण करने लगता है। वह

इन्द्रतत्त्व इस कार्य हेतु उस विक्षुब्ध पदार्थ को अच्छी प्रकार से नियन्त्रित करता है।।

इस कण्डिका में इस उपर्युक्त ऋचा के तैंतीस अक्षरों की साम्यता तैंतीस वसु, रुद्र व आदित्यादि देवों से दर्शायी है। इस प्रकरण में तैंतीस देवों के विषय में १.१०.४ के व्याख्यान को पढ़ें। तदनुसार ही इस कण्डिका का व्याख्यान भी समझें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उस समय ब्रह्माण्ड में व्याख्यान भाग में वर्णित छन्द रश्मि पूर्वोत्पन्न विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के साथ संगत होकर उस समय विद्यमान सभी रश्मियों व मनस्तत्त्व की सक्रियता बढ़ जाती है। इसके कारण विभिन्न मेघरूप पदार्थ आकार लेने लगते हैं, जो कालान्तर में विभिन्न नेब्यूला वा तारों का रूप धारण करते हैं। इस समय सम्पूर्ण पदार्थ विद्युत् तरंगों के नियन्त्रण में आ जाता है। उधर डार्क एनर्जी भी नियन्त्रित व नष्ट होकर बाधा उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाती है।।

४. यं कामयेतानायतनवान् स्यादित्यविराजाऽस्य यजेद् गायत्र्या वा त्रिष्टुभा वाऽन्येन वा छन्दसा वषट्कुर्यादनायतनवन्तमेवैनं तत्करोति।।
यं कामयेताऽऽयतनवान् स्यादिति विराजाऽस्य यजेत्, पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेत्येतयाऽऽयतनवन्तमेवैनं तत्करोति।।११।।

{वषट्कारः = देवपात्रं वै वषट्कारः (गो.उ.३.१)। आयतनः = आयन्ति गच्छन्ति प्राणिनो यस्मिँस्तज्जगत् यज्ञो वा (तु.म.द.य.भा.५.२८)}

व्याख्यानम्- सर्ग प्रक्रिया में जब कभी वा कहीं संयोज्य पदार्थों को आयतन अर्थात् सर्गयज्ञ से पृथक् करना होता है, उस समय पूर्वोक्त प्रकरण में निष्केवल्य शस्त्र रूप विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि से याज्या रूप में संयुक्त होने हेतु विराट् छन्द रश्मि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की गायत्री, त्रिष्टुबादि छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इसी रश्मि को देवपात्र अर्थात् उस समय विद्यमान देवपदार्थों का आधार बनाया जाता है। इस क्रिया से संयोग कर रहे पदार्थों की संयोग प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।।

जब इस संयोग प्रक्रिया को पुनः प्रारम्भ करना हो, तब पुनः पूर्वोक्त विराड् रश्मि की उत्पत्ति याज्या के रूप में पूर्वोक्त प्रकार से हो जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया में संयोग व वियोग की प्रक्रिया आवश्यकतानुसार यथासमय होती रहती है। जब पदार्थों की संयोग प्रक्रिया को जारी रखना अथवा समृद्ध करना हो, तब पूर्वोक्त प्रकार से विराड् रश्मि की उत्पत्ति होती है। जब इस प्रक्रिया को बन्द करना हो, उस समय विराड् रश्मि के स्थान पर अन्य गायत्र्यादि छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर उस प्रक्रिया को रोक देती हैं। **ब्रह्माण्ड में कॉस्मिक धूल व गैस से जब लोकों का निर्माण हो रहा होता है, उस समय विराड् रश्मि के रहते गुरुत्व बल पदार्थ को संघनित करता है और जब निश्चित आकार के पश्चात् संघनन रुकता है, वह विराड् रश्मि की उत्पत्ति रुकने तथा उसके स्थान अन्य रश्मियों के उत्पन्न होने का कारण होता है, अन्यथा विभिन्न लोकों के द्रव्यमान व आयतन असीमित हो जाते, जबकि ऐसा नहीं होता। कोई भी लोक अनन्त आयतन का नहीं हो सकता और न अनन्त द्रव्यमान का।** यही कारण है कि ब्रह्माण्ड में हर लोक के आयतन व द्रव्यमान की एक निश्चित मर्यादा होती है। **इस मर्यादा को सर्वनियन्ता चेतन परमात्मा ही निश्चित करता रहता है।।**

इति १२.११ समाप्तः

꧁ अथ १२.१२ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. ऋक्च वा इदमग्र साम चाऽऽस्तां, सैव नाम ऋगासीदमो नाम साम, सा वा ऋक्सामोपावदन्-मिथुनं संभवाव प्रजात्या इति; नेत्यब्रवीत् साम ज्यायान् वा अतो मम महिमेति; ते द्वे भूत्वोपावदतां; ते न प्रतिचन समवदत; तास्तिस्रो भूत्वोपावदंस्तत् तिसृभिः समभवद्, यत्तिसृभिः समभवत्, तस्मात् तिसृभिः स्तुवन्ति; तिसृभिरुद्गायन्ति, तिसृभिर्हि साम संमितं, तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सह पतयो यद्व तत्सा चामश्च समभवतां, तत्सामाभवत्, तत्साम्नः सामत्वम्।।
सामन् भवति य एवं वेद।।

{ऋक् = अथेमानि प्रजापतिर्ऋक्पदानि शरीराणि सञ्चित्याऽभ्यर्चत् यदभ्यर्चत् ता एवर्चोऽभवन् (जै.उ.१.४.१.६), ब्रह्म वा ऋक् (कौ.ब्रा.७.१०)। साम = स (प्रजापतिः) हैवं षोडशधाऽऽत्मानं विकृत्य सार्धं समैत् तद् यत् सार्धं समेतत् तत्साम्नस्सामत्वम् (जै.उ.१.१५.३.७), क्षत्रं वै साम (श.१२.८.३.२३)। (अमेति गृहनाम - निघं.३.४), सा = सो+ड+टाप् (आप्टेकोष), आत्मा = आत्मा वै होता (कौ.ब्रा.२६.८; ऐ.६.८)}

व्याख्यानम्- विशेष ज्ञातव्य- कण्डिका पर व्याख्यान से पूर्व हम 'ऋक्' व 'साम' के स्वरूप पर विचार करते हैं। उपर्युक्त प्रमाणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि प्रजापति रूप मनस्तत्त्व वाक् तत्त्व के पदों को एकत्र करके तेज की उत्पत्ति करता है, इस कारण वह वाक् तत्त्व ही 'ऋक्' कहलाता है। इसी कारण कहा है- "वागृक्" (जै.उ.४.११.२.४)। ये ऋग्रश्मियां ब्रह्मरूप होती हैं। इनका रूप शुक्ल तथा साम रश्मियों का रूप कृष्ण होता है। इसको तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा "ऋक् सामयोर्हैते (शुक्लकृष्ण) रूपे" (श.६.७.१.७)। ऋक् की प्रवलता से अग्नि और साम की प्रवलता से सोम तत्त्व की उत्पत्ति होती है, जैसा कि कहा है- "ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रं सोमः" (कौ.ब्रा.६.५)। अब साम सम्बन्धी उपर्युक्त वचन पर विचार करते हैं। प्रजापति अर्थात् मनस्तत्त्व आत्मा अर्थात् स्वयं तथा वाक् तत्त्व के मिथुन को सोलह प्रकार से विशेष क्रमवद्ध करके उनमें से आधे क्रमवद्ध रूपों के साथ स्वयं को एकत्र वा संगत करता है, ऐसी रश्मियां साम रश्मियां होती हैं। इस प्रकार इन रश्मियों में मनस्तत्त्व प्रधान होता है। इसी कारण शास्त्र ने कहा- "मनो वाव साम्नश्श्रीः" (जै.उ.१.१२.५.२)। इस विवेचन के उपरान्त कण्डिका पर विचार करते हैं।

महर्षि का कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'ऋक्' एवं 'साम' रश्मियां एक ही थीं। वस्तुतः ये दोनों ही मनस्तत्त्व व वाक्तत्त्व का ही द्विविध रूप हैं। इनमें से 'ऋक्' को 'सा' कहा है और 'साम' को 'अमः' कहा है। {षो अन्तकर्मणि = नष्ट करना, समाप्त करना, पूरा करना, अन्त तक पहुँचाना (आप्टेकोष)} डॉ.सुधाकर मालवीय ने 'सा' व 'अम' को क्रमशः She & He अर्थात् स्त्री व पुरुष के रूप में माना है। हम इससे सहमत हैं। 'साम' रश्मियां 'ऋक्' रश्मियों को ग्रहण करने वाली होती हैं, इसी कारण 'अमः' कहलाती हैं तथा 'ऋक्' रश्मियां उन 'साम' रश्मियों को अपने अन्दर धारण करके उन्हें पूर्णता किंवा साफल्यता प्रदान करती हैं। पूर्व में हम अनेकत्र मन व सोम को वृषा तथा अग्नि व वाक् को योषा लिख चुके हैं, उसके साथ इस प्रकरण की पूर्ण संगति है। इन दोनों के मिथुन से ही सर्ग

प्रक्रिया आगे बढ़ती है। महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन "ऋचि साम गीयते" (श.८.१.३.३) से भी ऐसा ही संकेत मिलता है कि साम रश्मियां ऋग्रश्मियों के अन्दर प्रकाशवती होती हैं।

अब यहाँ 'ऋक्' व 'साम' के कल्पित संवाद की शैली में महर्षि कहते हैं कि 'साम' रश्मियों की महिमा अधिक है। इन रश्मियों में सर्वाधार प्राण रूप मनस्तत्त्व की मात्रा अधिक होने से इसकी महिमा अधिक है। प्राण तत्त्व की महिमा के विषय में शास्त्र कहता है- "प्राणा हि महिमानः" (काठ. ३७.१६) इस कारण एक 'साम' रश्मि का एक वा दो 'ऋक्' रश्मि के साथ मिथुन नहीं हो पाता बल्कि तीन 'ऋक्' के साथ एक 'साम' रश्मि का संयोग होता है। वर्तमान में भी इस सृष्टि में एक 'साम' रश्मि एक साथ अनेक ऋग्रश्मियों से संगत होती है वा हो सकती है परन्तु एक ऋग्रश्मि अनेक साम रश्मियों के साथ संगत नहीं हो सकती वा होती है। कदाचित् साम रश्मियां ऋग्रश्मियों की अपेक्षा व्यापक होती हैं। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि साम रश्मियां सोम रूप तथा ऋक् रश्मियां अग्नि रूप होती हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि सोम तत्त्व सूक्ष्म वायु का ही रूप है और यह अग्नि तत्त्व को उत्पन्न करने वाला होता है। अग्नि तत्त्व के एक परमाणु में अनेक वायु वा सोम परमाणु संगत होते हैं परन्तु सोम परमाणु में अग्नि के अनेक परमाणु संगत नहीं होते। इनके संयोग से जो पदार्थ का निर्माण अर्थात् सा+अमः के योग से जो पदार्थ निर्मित होता है, वह भी साम कहलाता है। वहाँ वह साम स्थूल पदार्थ होता है। इसी साम पदार्थ के विषय में शास्त्र कहता है- "साम साम्ना समानयन्, तत्साम्नः सामत्वम्" (तै.ब्रा.२.२.८.७) महर्षि दयानन्द अपने ऋ.भा.१.६२.२ में 'साम' पद का अर्थ करते हैं- "स्यन्ति खण्डयन्ति येन तत्"। यहाँ 'साम' का अर्थ 'सोम' ग्रहण करें, तो सृष्टि का प्रत्येक मूर्तिमान पदार्थ कण आदि 'सोम' शब्द से अभिहित होते हैं। ऐसे सोम परमाणुओं में अनेक ऋक् रश्मियां किंवा अग्नि के परमाणु विद्यमान होते हैं। यह कभी नहीं हो सकता कि एक अग्नि के परमाणु में ऐसे कई सोम के परमाणु विद्यमान हों।।

इस प्रकार से अनेक प्रकार के साम अर्थात् मूर्तिमान् पदार्थों की उत्पत्ति होती चली जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- हम पूर्व में भी लिख चुके हैं कि मनस्तत्त्व किंवा अहंकार में परमात्म-चेतना द्वारा अकस्मात् अति तीव्रता से vibrations उत्पन्न करने की जो प्रातरनुवाक क्रिया होती है, उसमें वे कम्पन अर्थात् लहरें ही ऋक् के पदरूप होती हैं। मनस्तत्त्व जल के समान है और उसमें उत्पन्न हुई लहरें एक-२ ऋक् रश्मि (पाद व अक्षर) के समान हैं। जब वह मनस्तत्त्व रूपी जल उनमें से कुछ लहरों को एकत्र करके विशेष तरंग समूह बनाता है, वह एक ऋक् रश्मि कहलाती है। विभिन्न गायत्र्यादि छन्द रश्मियां ऐसे ही निर्मित होती हैं। जब मनस्तत्त्व उन लहरों के साथ अपना कुछ अतिरिक्त भाग मिलाकर उसको सोलह प्रकार से विशेषरूप से क्रमबद्ध करता है, तब सामरश्मि उत्पन्न होती है। ये साम रश्मियां मनस्तत्त्व से अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न होती हैं, इस कारण अधिक शक्तिशाली होती हैं। एक साम लहर समूह में अनेक ऋक् लहरें संगत होती हैं, जबकि एक ऋक् लहर समूह में अनेक साम लहरें संगत नहीं हो सकती। साम रश्मियां ऋक् किरणों को ऊर्जा प्रदान करती रहती हैं, जैसे कि सागर का पानी लहरों को ऊर्जा प्रदान करता रहता है। एक ही जल में जैसे अनेक लहरें विद्यमान हो सकती हैं परन्तु एक ही लहर में अनेकत्र स्थित जल विद्यमान नहीं रह सकता। यहाँ तुलनात्मक रूप से साम रश्मियां जल हैं, तो ऋक् रश्मियां लहरें हैं। उन लहरों में साम रूपी जल ही विद्यमान होता है किंवा उसी से ये बनती हैं। इधर लोक में स्थूल साम का अर्थ विभिन्न प्रकार के कण तथा फोटोन्स, विभिन्न ऋग्रश्मियों के रूप हैं। **एक कण एक साथ अनेक फोटोन्स को अवशोषित कर सकता है परन्तु एक फोटोन अनेक कणों से एक साथ संगत नहीं हो सकता। दूसरी ओर इन ऋक् व साम रश्मियों के संगम से ही अनेक साम अर्थात् कणों की उत्पत्ति होती है।** ये कण वे कण हैं, जिन्हें वर्तमान विज्ञान मूलकण मानता है। इस सृष्टि के सभी मूलकण इसी प्रकार से निर्मित होते हैं।।

२. यो वै भवति, यः श्रेष्ठतामश्नुते, स सामन् भवत्यसामन् य इति हि निन्दन्ति।। ते वै पञ्चान्यद् भूत्वा पञ्चान्यद् भूत्वा कल्पेताम्-आहावश्च हिंकारश्च प्रस्तावश्च प्रथमा च ऋगुद्गीथश्च मध्यमा च प्रतिहारश्चोत्तमा च निधनं च वषट्कारश्च।।

ते यत्पञ्चान्यद् भूत्वा पञ्चान्यद् भूत्वा कल्पेतां, तस्मादाहुः पाङ्क्तो यज्ञः, पाङ्क्ताः पशव इति।।

{प्रस्तावः = अर्धोदितः (आदित्यः) प्रस्तावः (जै.उ.१.३.२.४), रथन्तरं प्रस्तावः (जै.ब्रा.२.४३३), उद्गीथः = मासमुद्गीथः (जै.उ.१.१२.२.६), प्राणो वावोद्वाग्गी स उद्गीथः (जै.उ.४.११.२.२)। प्रतिहारः = बृहत् प्रतिहारः (जै.ब्रा.१.२६२; २.४३३), चक्षुः प्रतिहारम् (प्रजापतिरकरोत्) (जै.उ.१.३.३.५), दिशोऽवान्तरदिश आकाश एष प्रतिहारः (जै.उ.१.५.१.२)। निधनम् = प्रजा निधनम् (जै.ब्रा.१.३००,२.१२७), वज्रो वा एते यन् निधनानि (जै.ब्रा.१.३२३), अस्तमित (आदित्यः) एव निधनम् (जै.उ.१.३.२.४), वीर्यं वा एतत् साम्नो यन्निधनम् (जै.ब्रा.१.२१६)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त साम निर्माण की प्रक्रिया को पुनः व्याख्यात करते हुए कहते हैं- जो ऋक् व साम उपर्युक्तवत् परस्पर संयोग क्रियाओं में डटे रहते हैं, वे श्रेष्ठता वा समृद्धि को प्राप्त करते हैं अर्थात् वे पदार्थ ही पूर्ण साम का रूप प्राप्त कर पाते हैं। जो पूर्ण सामत्व को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, वे निन्दित होते हैं। 'निंद (णिदिं) कुत्सायाम्' धातु से 'निन्दित' वा 'निन्दन्ति' पदों की व्युत्पत्ति होती है। इससे सिद्ध है कि जो साम पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए होते, वे कुत्सित होते हैं। निघण्टुकार ने २.२० में कुत्स को वज्र नामों में पढ़ा है। महर्षि दयानन्द ने 'कुत्सस्य' पद का अर्थ अपने ऋग्वेद भाष्य २.१४.७ में 'अवक्षेप्तुः' किया है। इससे संकेत मिलता है कि वे अपूर्ण साम तीव्र प्रक्षेपक वलयुक्त होते हैं। कदाचित् वे ही इस **सृष्टि में असुर पदार्थ के रूप में जाने जाते** हैं।।

अब उन पूर्ण सामों (सा+अम् अर्थात् ऋक्+साम) के विकास का क्रम यहाँ वतलाते हैं। यह विकास दो पृथक्-२ प्रक्रिया वा क्रमों से पांच चरणों में सम्पन्न होता है। प्रथम क्रम वा प्रक्रिया में सर्वप्रथम 'आहाव' अर्थात् 'शोंसावोम्' रश्मि की उत्पत्ति होती है। उधर द्वितीय प्रक्रिया वा क्रम में 'हिम्' यह सूक्ष्म रश्मि उत्पन्न होती है। इन दोनों ही रश्मियों के विषय में लिख चुके हैं। 'हिम्' यह रश्मि गायत्री छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त रहती है वा हो जाती है। इसे हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। यह प्रथम चरण पूर्ण हुआ। द्वितीय चरण में एक प्रक्रिया में 'प्रस्ताव' उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस समय रथन्तर साम रश्मि उत्पन्न होती है। इस समय आदित्य अर्थात् प्राणापानादि प्राथमिक प्राण अर्धोदित अर्थात् उत्कृष्ट रूप से बढ़ते हुए प्रकट होने लगते हैं किंवा हो जाते हैं। द्वितीय प्रक्रिया वा क्रम में इस समय प्रथमा ऋक् अर्थात् मुख्यतः गायत्री व अनुष्टुप् छन्द रश्मियां उत्पन्न होने लगती हैं। तृतीय चरण में प्रथम प्रक्रिया वा क्रम में उद्गीथ उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस समय मास अर्थात् निविद्रश्मियां उत्पन्न होने लगती हैं तथा प्राथमिक प्राण व वाक् तत्त्व के मिथुन के मिथुन निर्मित होने लगते वा हो जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि प्राथमिक प्राण इस प्रक्रिया में अतिशय सक्रिय हो उठते हैं। उधर द्वितीय प्रक्रिया वा क्रम में इस समय मध्यमा अर्थात् उष्णिक् व पंक्ति छन्द रश्मियां प्रकट होने लगती हैं।

चतुर्थ चरण में प्रथम प्रक्रिया वा क्रम में 'प्रतिहार' की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य है कि इस समय बृहत् साम तथा पूर्वोक्त चक्षु रूप तूष्णींशंस रश्मियां उत्पन्न होने लगती वा हो जाती हैं। उधर इसी समय द्वितीय प्रक्रिया में उत्तमा अर्थात् त्रिष्टुप्, बृहती एवं जगती छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं। आकाश तत्त्व इस समय विस्तृत वा समृद्ध होने लगता है। दिशाएं उपदिशाएं स्पष्ट होने लगती हैं।

अन्तिम पंचम चरण में प्रथम प्रक्रिया वा क्रम में निधन साम की उत्पत्ति है। इसका तात्पर्य है कि इस समय वे साम पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं। वे प्रकृष्ट रूप से अनेक कणों के रूप में उत्पन्न होने लगते हैं। इस समय विभिन्न पदार्थों में प्राथमिक प्राणों का सम्यग्रूपेण प्रक्षेपण होने लगता है, जिससे वे साम पूर्ण तेजस्वी व वलवान् हो जाते हैं। उधर इसी समय वषट्कार उत्पन्न होता है, इसका तात्पर्य है कि उस समय तीव्र वज्र रश्मियां उत्पन्न होकर असुर तत्त्व को नियन्त्रित करतीं तथा विविध संयोग प्रक्रियाओं को समृद्ध करती हैं।

अब हम इन दोनों प्रक्रियाओं की संगति पर कुछ विचार करते हैं। प्रथम चरण में उत्पन्न 'शोंसावोम्' व 'हिम्' सूक्ष्म रश्मियां प्राथमिक रश्मियों में से ही हैं, यह हम इस ग्रन्थ में पूर्व में लिख चुके हैं, इस कारण इनकी परस्पर संगति है। द्वितीय चरण में रथन्तर साम की गायत्री छन्द रश्मि से संगति भी हम खण्ड ३.२१ में स्पष्ट कर चुके हैं। इस कारण इनकी संगति यहाँ भी पूर्ववत् समझें। तृतीय चरण में मास रश्मियां जिस प्रकार संधि कराने वाली होती हैं, वैसे ही उष्णिक् छन्द रश्मियां व पंक्ति रश्मियां भी। इसी चरण में प्राथमिक प्राणों का वाक्तत्त्व से मिथुन भी अतिशय रूप से होने लगता है। इस कारण सर्वत्र संयोग होने से इनकी परस्पर संगति है। चतुर्थ चरण में उत्पन्न बृहत् साम व द्वितीयक तूष्णींशंस रश्मियों का त्रिष्टुप् व बृहती छन्द रश्मियों से सम्बन्ध हम पूर्व में जान ही चुके हैं। अन्तरिक्ष का त्रिष्टुप् छन्द से सम्बन्ध हम पूर्व में लिख चुके हैं। इससे इनकी परस्पर संगति है। पाँचवें व अन्तिम चरण में विभिन्न पदार्थों के पूर्ण तेजस्वी होने पर उनकी परस्पर संयोगादि क्रिया व वज्ररूप किरणों की उस संयोग प्रक्रिया में भूमिका भी हमें पूर्व में विदित हो चुकी है, इस कारण इनकी भी परस्पर संगति है। ध्यातव्य है कि इन **पांचों चरणों में प्रथम प्रक्रिया में उत्पन्न पदार्थ साम तथा द्वितीय प्रक्रिया में उत्पन्न पदार्थ ऋक् कहलाते हैं।।**

चित्र १२.६ दृश्य और अदृश्य पदार्थों की उत्पत्ति

वे पूर्वोक्त ऋक् व साम इन पांच चरणों से गुजरते हुए ही पूर्ण साम का रूप धारण कर पाते

हैं और पांच चरणों से गुजरते हुए ही वे पूर्ण समर्थ होते हैं, इसी कारण इस सृष्टि यज्ञ वा किसी भी संयोग प्रक्रिया को पांच चरणों वाली कहा जाता है। विभिन्न पशु अर्थात् द्रष्टव्य पदार्थों को भी पांच चरणों वाला कहा जाता है। 'पशुः' शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है- "दृश्यः, द्रष्टव्यः" (म.द.य.भा. २३.१७)। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "प्रजा वै पशवः" (श.१.४.६.१७) अर्थात् सभी उत्पन्न पदार्थ पशु हैं। इसी कारण हमने पशु का उपर्युक्त अर्थ किया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त दो प्रकार की रश्मियों से कैसे वर्तमान विज्ञान के मूलकण उत्पन्न होते हैं, इसका क्रम व प्रक्रिया यहाँ बतलाते हैं। **जो पदार्थ इन चरणों को पूर्ण नहीं कर पाते, वे डार्क मैटर जैसी अवस्था में सृष्टि प्रक्रिया से पृथक् होकर ब्रह्माण्ड में बिखरे रहते हैं।** जो इस प्रक्रिया को पूर्ण करते है, वे दृश्य पदार्थ के वर्तमान मूलकणों का रूप लेकर सृष्टि रचना में काम आते हैं। सर्वप्रथम एक-२ ऋक् व साम की सूक्ष्मतम रश्मियां, जिनको व्याख्यान भाग में दर्शाया है, उत्पन्न होकर परस्पर संयुक्त होती हैं। उसके उपरान्त प्राणापान आदि प्राण व गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर परस्पर संगत होने लगती हैं। इसी समय अनुष्टुप् रश्मियां भी उत्पन्न होती हैं। तदुपरान्त तृतीय चरण में विभिन्न रश्मियों को जोड़ने वाली मास वा निविद् रश्मियां उत्पन्न होती तथा प्राण व वाक् रश्मियां संयुक्त होने लगती हैं और उष्णिक् व पंक्ति रश्मियां उत्पन्न होकर मास आदि रश्मियों के साथ संगत होने लगती हैं। इसके पश्चात् डार्क एनर्जी को दूर करने वाली रश्मियां तथा त्रिष्टुप्, बृहती एवं जगती उत्पन्न होकर संगत होने लगती हैं। इस समय आकाश तत्त्व विस्तृत होने लगता है। इसके उपरान्त विभिन्न मूलकण, फोटोन, क्वार्क, इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रिनो आदि निर्मित होने लगते हैं। इसी समय डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करने वाली तीव्र शक्तिसम्पन्न विद्युत् तरंगें उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार पांच चरणों वाली प्रक्रिया से गुजर कर ही वर्तमान विज्ञान के मूलकणों की उत्पत्ति होती है।।

३. यदु विराजं दशिनीमभि समपद्येतां तस्मादाहुर्विराजि यज्ञो दशिन्यां प्रतिष्ठित इति।।
आत्मा वै स्तोत्रियः, प्रजाऽनुरूपः पत्नी धाय्या, पशवः प्रगाथो, गृहाः सूक्तम्।।
स वा अस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च प्रजया च पशुभिश्च गृहेषु वसति, य एवं वेद।। १२।।

व्याख्यानम्- तैत्तिरीय संहिता ५.२.३.७ तथा ताण्ड्य ब्राह्मण ६.८.२ में कहा है- "दशाक्षरा विराट्" अर्थात् दश अक्षरयुक्त छन्द रश्मि विराट् रूप होती है। यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि उपर्युक्त ऋक् वा साम किंवा शस्त्र व साम का संगम पांच-२ चरणों, अर्थात् कुल दस चरणों में होता है। यहाँ ऋक् को शस्त्र इस कारण कहा है, क्योंकि महर्षि इसी ग्रन्थ में अन्यत्र लिखते हैं- "वाग्घि शस्त्रम्" (ऐ.३.४४)। इस प्रकार इन दस चरणों की विराड् रश्मि के दस अक्षरों से संगति लगती है। वस्तुतः यह सर्गयज्ञ इन पांच शस्त्र एवं पांच साम को मिलाकर एक विराट् छन्द रश्मि यज्ञ का निर्माण होता है किंवा सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञ इन दस शस्त्र व साम रूप विराड् में प्रतिष्ठित है। इसका आशय यह भी है कि सम्पूर्ण सृष्टि इन दसों के कारण विराट् अर्थात् विविधरूपेण प्रकाशित होती है।।

इस कण्डिका पर व्याख्यान अगले खण्ड में देखें।।

तदनुसार इसे भी व्याख्यात समझें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- व्याख्यान भाग ही पठनीय है।।

इति १२.१२ समाप्तः

ॐ अथ १२.१३ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. स्तोत्रियं शंसति, आत्मा वै स्तोत्रियः।।
तं मध्यमया वाचा शंसति, आत्मानमेव तत्संस्कुरुते।।
अनुरूपं शंसति, प्रजा वा अनुरूपः।।
स उच्चैस्तरामिवानुरूपः शंस्तव्यः, प्रजामेव तच्छ्रेयसीमात्मनः कुरुते।।

व्याख्यानम्- अब कुछ अन्य विशेष ऋचाओं का वर्णन करते हैं, जो इस सृष्टि में विविध कर्मों को करती हैं। इस विषय में "निष्केवल्यस्य" (आश्व.श्रौ.५.१५.१) के अधिकार में अगला सूत्र "अभि त्वा शूर नोनुमोऽभि त्वा पूर्वपीतय इति प्रगाथौ स्तोत्रियानुरूपौ यदि रथन्तरं पृष्ठम्।" (आश्व.श्रौ.५.१५.२)। निष्केवल्यस्य के अधिकार में होने से सिद्ध है कि इस प्रकरण में वर्णित छन्द पूर्वोक्त क्रियाओं को निरन्तरता प्रदान करते हैं। इस क्रम में जब विभिन्न क्रियाओं का आधार रथन्तर साम रश्मियां हों, किंवा गायत्री प्रधान अवस्था हो, उस समय वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से इन्द्रदेवताक एवं विराड् बृहती छन्दस्क

अभि त्वा शूर नोनुमोऽ दुग्धाइव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः।।१।।

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे।।२।। (साम.६८० व ६८१)

प्रगाथ की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व समृद्ध वा व्यापक होता है। ऋचाएं परस्पर आकर्षित होकर मर्यादित स्वरूप प्राप्त करने लगती हैं। इन दोनों ऋचाओं का अन्य प्रभाव निम्नानुसार है-

(१) इन्द्रतत्त्व तीव्र होकर गतिशील व गतिहीन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को नियन्त्रित करता हुआ अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता है। विभिन्न अपूर्ण शक्ति वाली किरणें इन्द्र रश्मियों की ओर झुकती हैं।

(२) द्वितीय मंत्र ३६ अक्षर वाला होने से निचृद् पंक्ति छन्दस्क है। इसके प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्रता से विस्तृत होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्रतत्त्व विभिन्न पदार्थों में व्याप्त होकर विभिन्न रश्मियों को आकर्षित करता हुआ प्रकाशशील पदार्थों एवं अन्तरिक्ष में उत्पन्न पदार्थों में सर्वाधिक शक्तिशाली होता है।

अपने सामवेद भाष्य में पं.तुलसीराम स्वामी ने इस मन्त्रद्वय का छन्द बृहती माना है। यह उचित प्रतीत नहीं होता । ये मंत्र ऋग्वेद ७.३२.२२, २३ में भी आये हैं। वहाँ महर्षि दयानन्द ने इनके छन्द क्रमशः स्वराडनुष्टुप् एवं निचृत्पंक्ति माने हैं। महर्षि की मान्यता सत्य है। स्वराडनुष्टुप् एवं विराड् बृहती तो समान हो सकते हैं परन्तु निचृत्पंक्ति को बृहती मानना उपयुक्त नहीं है। हमने इस प्रकरण में जो महर्षि आश्वलायन ने उपर्युद्धृत सूत्रों में दर्शाया है, इन मंत्रों को प्रगाथ संज्ञक माना है। हमने पूर्व में देखा है कि प्रगाथ संज्ञक छन्द रश्मियां प्रायः बृहती छन्दस्क होती हैं, इस कारण इस प्रसंग में हमने प्रथम मंत्र का छन्द स्वराडनुष्टुप् के स्थान पर विराड् बृहती माना है। प्रश्न उठता है कि प्रथम मंत्र के आधार पर ही हमने क्यों प्रगाथ अर्थात् मंत्रद्वय को बार्हत मान लिया? इसके उत्तर को समझने हेतु

हम एक ऋषि का वचन उद्धृत करते हैं- "प्राणापानौ वै बार्हतः प्रगाथः" (कौ.ब्रा.१५.४; १८.२) अर्थात् प्राणापान का युग्म बार्हत प्रगाथ का रूप है। हम पूर्व में २.२६.१ में लिख चुके हैं कि प्राण व अपान क्रमशः छः व चार अक्षर अर्थात् छः व चार ऋतु रश्मियों के मेल से बनते हैं। इनमें प्राण के विषय में कहा गया है- "प्राणा वै बृहत्यः" (ऐ.३.१४), "प्राणो बृहती" (ऐ.आ.२.१.६)। महर्षि ऐतरेय महीदास स्वयं प्राण को बृहती मान रहे हैं, तब छः अक्षर वाला प्राण स्वराड् दैवी बृहती ही माना जा सकता है। उधर चतुरक्षर अपान प्राण दैवी बृहती है ही। इस प्रकार एक बृहती छन्द तो निश्चित है, इस कारण यह युग्म बार्हत प्रगाथ कहा गया है। इसी प्रकार हम उपर्युक्त मंत्रद्वय को प्रगाथ माने जाने के कारण प्रथम का छन्द स्वराड् अनुष्टुप् के स्थान पर विराड् बृहती मान रहे हैं। इस युग्म को ही स्तोत्रिय कहा गया है। इसके भाष्य में आचार्य सायण ने लिखा है- "अभित्वा शूर नोनुमः" इत्यस्मिन् प्रगाथे तृचं संपाद्य सामगाः स्तुवन्ति, सोऽयं स्तोत्रियस्तृचः........." इसका तात्पर्य है कि इन दोनों छन्द रश्मियों में अन्य तृच समुदाय प्रकाशित होता है। ये रश्मियां उस समुदाय को आवेष्टित कर लेती हैं, इस कारण इस युग्म को भी कहीं-२ तृच नाम भी दिया है। स्वयं सायण ने तृच नाम देकर प्रगाथ को उद्धृत किया है। वस्तुतः उन्होंने प्रगाथ के स्थान पर एक मंत्र को ही उद्धृत किया है।

अब हम स्तोत्रिय के विषय में कुछ और चर्चा करते हैं-

इस हेतु हम कुछ आर्ष वचन उद्धृत करते हैं- "मनो वै स्तोत्रियः, साम वै स्तोत्रियः, प्राणो वै स्तोत्रियः" (जै.ब्रा.३.२१)। इससे सिद्ध होता है कि स्तोत्रिय छन्द रश्मियां मनस्तत्त्व एवं प्राण नामक प्राथमिक प्राण की प्रधानता वाली होकर साम रूप होती हैं। महर्षि ऐतरेय महीदास इन्हें आत्मा रूप मानते हैं। इसका अर्थ है कि ये रश्मियां शरीर रूप होती हैं किंवा मुख्य पदार्थ रूप वा उसकी प्रधानता वाली होती हैं।।

स्तोत्रिय प्रगाथ के रूप में विद्यमान छन्द रश्मियां न अधिक तीव्र होती हैं और न अधिक मन्द। ये मध्यम स्तर की होती हैं। इस स्तर की रश्मियों से मनस्तत्त्व स्वयं को सम्यग्रूपेण विकृत करके अन्य साम रश्मियों को उत्पन्न करता है किंवा वह मनस्तत्त्व उन्हें अपने साथ सम्यग्रूपेण धारण करता है।।

इसके उपरान्त आश्वलायन श्रौतसूत्र के उपर्युक्त सूत्र की भांति महर्षि कहते हैं कि अनुरूप संज्ञक रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इस प्रसंग में मेधातिथि ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से इन्द्रदेवताक एवं निचृद् बृहती छन्दस्क

अभि त्वा पूर्वपीतये इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम्।।१।।

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा।।२।। (साम.१५७३, १५७४)

प्रगाथ अर्थात् मंत्रद्वय की उत्पत्ति होती है। इनका प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार है-

(१) इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से इन्द्रतत्त्व समृद्ध होता है तथा अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व सूत्रात्मा वायु व रुद्र अर्थात् विभिन्न प्राथमिक प्राणों व मनस्तत्त्व से अपनी पूर्ण तृप्ति के द्वारा सब ओर से प्रकाशित होता है।

(२) इसका छन्द स्वराड् बृहती होने से इन्द्र तत्त्व व्यापक रूप से प्रकाशमान होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त होकर उस पदार्थ के बल को बढ़ाता है। इसके साथ ही विभिन्न वायु इसके अनुरूप प्रकाशित होते हैं। ये दोनों रश्मियां भी बार्हत प्रगाथ हैं। इनके अनुरूप होने पर विचार करते हैं। इस विषय में कुछ आर्ष वचन उद्धृत करते हैं- "वागनुरूप... ऋगनुरूपः...... अपानोऽनुरूपः" (जै.ब्रा.३.२१) इससे स्पष्ट है कि इसमें वाक् तत्त्व व अपान प्राण की प्रधानता होती है तथा यह ऋक् का रूप होता है। महर्षि ऐतरेय महीदास इसे प्रजारूप कहते हैं। इससे सिद्ध है कि रश्मियां पूर्व रश्मियों (स्तोत्रिय) की प्रजारूप होती हैं अर्थात् ये प्रकृष्टता से पूर्व मनस्तत्त्व प्रधान पदार्थ में उत्पन्न होती हैं।।

ये छन्द रश्मियां उच्चैः अर्थात् तीव्र वेग से उत्पन्न होती हैं। इन रश्मियों के द्वारा मनस्तत्त्व इन उत्पन्न रश्मियों को श्रेष्ठता से अपने अन्दर धारण करता हुआ उन्हें क्रमवद्ध करता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त साम रश्मियां मनस्तत्त्व के अन्दर मध्यम आयाम की लहरों के रूप में होती हैं। इनकी उत्पत्ति भी मध्यम गति से ही होती है। इनमें प्राण व मनस्तत्त्व की प्रधानता होती है। पूर्वोक्त ऋग्रश्मियां मनस्तत्त्व के अन्दर उच्च आयाम की लहरें होती हैं, जो अति तीव्रता से उत्पन्न होती हैं। इन लहरों के अन्दर भी साम रश्मियां प्रकाशित होती हैं। मानो विशाल आयाम वाली लहरों में लघु आयाम की लहरें उत्पन्न हो रही हैं। मन रूप जल इन दोनों ही लहरों को धारण करता है। ध्यातव्य है कि मध्यम आयाम की साम लहरें मनस्तत्त्व की अधिक गहराई तक होती हैं, जबकि उच्च आयाम वाली लहरें कम गहराई तक। इसी कारण साम रश्मियों को मनस्तत्त्व प्रधान कहा जाता है और ऋग्रश्मियों का वाक्प्रधान। यहाँ कदाचित पानी में उठने वाली लहरों से इनकी तुलना नहीं हो सकती।।

२. धाय्यां शंसति, पत्नी वै धाय्या।।
सा नीचैस्तरामिव धाय्या शंस्तव्या।।
अप्रतिवादिनी हास्य गृहेषु पत्नी भवति, यत्रैवं विद्वान् नीचैस्तरां धाय्यां शंसति।।

व्याख्यानम्- पूर्व में अनेकत्र वर्णित धाय्या संज्ञक रश्मियों के विषय में लिखते हैं। ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों द्वारा धारण करने योग्य होती हैं, जो उन रश्मियों को बांधे रखती हैं। इनको महर्षि ने पत्नी रूप कहा है। 'पत्नी' के विषय में एक तत्त्ववेत्ता महर्षि का कथन है- "पत्नी स्थाली" (तै.ब्रा.२.१.३.१) इससे स्पष्ट है कि धाय्या संज्ञक रश्मियां स्थाली अर्थात् कड़ाही का रूप होती हैं, जिनमें मानो आवेष्टित अन्य सभी छन्द रश्मियां पकती रहती हैं। इसका तात्पर्य है कि वे सभी रश्मियां उसी धाय्या संज्ञक रश्मि के अन्दर सुरक्षित रहकर नाना विकारों को प्राप्त होकर सृजन क्रियाओं को सम्पादित करती रहती हैं। दूसरी ओर धाय्या संज्ञक रश्मियों के योषा रूप होने का भी 'पत्नी' शब्द से संकेत है, जिसका अभिप्राय यथावत् समझें।।

इस प्रकार की धाय्या संज्ञक रश्मियां मनस्तत्त्व के अन्दर अति निम्न आयाम वा शक्ति से उत्पन्न होती हैं।।

इस प्रकार निम्न आयाम वा शक्ति से उत्पन्न होने पर ये धाय्या संज्ञक रश्मियां उनके द्वारा आवेष्टित रश्मिसमूहों की रक्षा करने वाली होकर अनुकूल गति करने वाली होती हैं, न कि प्रतिकूल गति वाली। यदि ये रश्मियां अतितीव्र शक्ति व आयाम वाली होकर वा होती हुई उत्पन्न होवें, तो वे अन्दर धारण की हुई विभिन्न रश्मियों के प्रतिकूल गति वाली होकर उन्हें सुरक्षित व सहज भाव से सृजन क्रियाएं करने में सहयोगिनी नहीं हो सकतीं। इस कारण मन्द वा निम्न आयाम वा शक्ति से ही उत्पन्न होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जो छन्द रश्मियां विभिन्न छन्द रश्मि-समूहों को अपने अन्दर आवेष्टित करके उन्हें सुरक्षित सृजन क्रियाएं करने में सहायक होती हैं, वे रश्मियां मनस्तत्त्व के अन्दर अति निम्न आयाम वा शक्ति वाली होती हुई उत्पन्न होती हैं। इस कारण उनकी गति अन्दर आवेष्टित रश्मियों की गति के प्रतिकूल न होकर अनुकूल ही होती है। यदि ऐसा न हो तो वे तीव्र गति वाली आच्छादक रश्मियां विपरीत गति वाली होकर अन्दर आवेष्टित रश्मिसमूहों की गति को अस्त व्यस्त करके सृजन प्रक्रियाओं को बाधित कर सकती हैं।।

३. प्रगाथं शंसति।।
स स्वरवत्या वाचा शंस्तव्यः; पशवो वै स्वरः, पशवः प्रगाथः, पशूनामवरुद्ध्यै।।

व्याख्यानम्– पूर्वोक्त प्रगाथ रश्मियों की चर्चा करते हैं। यद्यपि इन रश्मियों के विषय में हम यथास्थान अनेकत्र लिख ही चुके हैं, पुनरपि यहाँ प्रगाथ रश्मियों के विषय में कुछ विशेष लिखते हैं।।

वे प्रगाथ रश्मियां जो प्रायः बृहती छन्दस्क होती हैं, स्वरवती वाक् तत्त्व के रूप में उत्पन्न होती हैं। इसका तात्पर्य है कि प्रगाथ वार्हत छन्द रश्मियां विभिन्न पशु अर्थात् सूक्ष्म मरुद् रश्मियों से युक्त होती हैं। इस कारण वे प्रगाथ रश्मियां न केवल दो छन्द रश्मियों का संयुक्त रूप होती हैं, अपितु वे छन्द रश्मियां भी स्वयं सूक्ष्म मरुद् रश्मियों का संयुक्त रूप होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनेक विभिन्न मरुद् रश्मियों को आकर्षित करके इनका निर्माण होता है। इस कारण प्रगाथ रश्मियां भी मरुत्वतीय कहाती हैं। वे मरुत्वतीय प्रगाथ रश्मियां ब्रह्माण्ड में व्याप्त विभिन्न प्रकार के प्राणों को रोकती वा नियन्त्रित करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– इस ब्रह्माण्ड में प्रकृष्टरूपेण प्रकाशित होने वाली रश्मियां (प्रायः बृहती छन्द रश्मियों का युग्म) ब्रह्माण्ड में बिखरी विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों के मेल से बनती हैं। ये रश्मियां स्वयं निर्मित होकर अन्य बिखरी रश्मियों को आकृष्ट करती रहती हैं। विभिन्न मूलकण कहाने वाले कणों को नियन्त्रित करने में भी ये रश्मियां विशेष सक्षम होती हैं।।

४. 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इति सूक्तं शंसति।। तद्वा एतत् प्रियमिन्द्रस्य सूक्तं निष्केवल्यं हैरण्यस्तूपम्, एतेन वै सूक्तेन हिरण्यस्तूप आङ्गिरस इन्द्रस्य प्रियं धामेपागच्छत्, स परमं लोकमजयत्।।

व्याख्यानम्– {स्तूपः = सन्तप्तः किरणसमूहः (तु.म.द.ऋ.भा.१.२४.७; ७.२.१), स्त्यायते संघातः (नि. १०.३३)} इस प्रसंग में महर्षि आश्वलायन का कथन है- "इन्द्रस्य नु वीर्यणीत्येतस्मिन्नैन्द्रीं निविदं दध्यात्" (आश्व.श्रौ.५.१५.२२)। इस प्रकार महर्षि कहते हैं कि पूर्वोक्त स्तोत्रिय, अनुरूप, धाय्या व प्रगाथादि रश्मियों को परस्पर जोड़ने हेतु निविद्रश्मियों की उत्पत्ति होती है। ये निविद् रश्मियां सम्पूर्ण सूक्त के रूप में होती हैं। यह सूक्तरूप रश्मिसमूह हिरण्यस्तूप ऋषि {हिरण्यम् = प्राणो वै हिरण्यम् (श.७.५.२.८)} अर्थात् विभिन्न तेजस्विनी प्राण रश्मियों के संघात से इन्द्रदेवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम्।।१।।

अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष।
वा॒श्राइ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑।।२।।

वृ॒षा॒यमा॑णोऽवृणीत॒ सोमं॒ त्रिक॑द्रुकेष्वपिबत्सु॒तस्य॑।
आ साय॑कं म॒घवा॑दत्त॒ वज्र॒मह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम्।।३।।

यदि॑न्द्राह॑न्प्रथम॒जामही॑ना॒मान्मा॒यिना॒ममि॑नाः॒ प्रोत मा॒याः।
आत्सूर्यं॑ ज॒नय॒न्द्यामु॒षासं॑ ता॒दीत्ना॒ शत्रुं॒ न किला॑ विवित्से।।४।।

अह॑न्वृ॒त्रं वृ॑त्र॒तरं॒ व्यं॑समिन्द्रो॒ वज्रे॑ण मह॒ता व॒धेन॑।
स्कन्धां॑सीव॒ कुलि॑शेना॒ विवृ॒क्णाहिः॑ शयत उप॒पृक्पृ॑थि॒व्याः।।५।।

अ॒यो॒द्धेव॑ दु॒र्मद॒ आ हि जु॒ह्वे म॑हावी॒रं तु॑विबा॒धमृ॑जी॒षम्।
नाता॑रीदस्य॒ समृ॑तिं व॒धानां॒ सं रु॒जानाः॒ पिपिष॒ इन्द्र॑शत्रुः।।६।।

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौं जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः।।७।।

नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतः शीर्बभूव।।८।।

नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः।।९।।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः।।१०।।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार।।११।।

अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्।।१२।।

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये।।१३।।

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि।।१४।।

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव।।१५।। (ऋ.१.३२.१-१५)

पन्द्रह छन्द रश्मियों के रूप में उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्रता से समृद्ध वल व तेज से युक्त होता है। इसके अन्य प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार हैं-

(१) इन्द्रतत्व विभिन्न छन्दादि रश्मियों को तीव्र तेज व वल से युक्त करके असुर तत्त्व को छिन्न-भिन्न करने में सहायक होता है। वह इन्द्र तत्त्व मेघ रूप पदार्थ को भी उचित रीति से विखण्डित करके निर्धारित व सम्भव आकार के लोकों के निर्माण में सहयोग करता है।

(२) अत्यधिक छेदनशक्ति सम्पन्न इन्द्रतत्त्व ब्रह्माण्ड में गैसीय मेघ व धूल के विशाल आकार वाले पदार्थ में विद्यमान असुर तत्त्व को अपनी तीक्ष्ण किरणों से तोड़ता-फोड़ता है। उसके पश्चात् विभिन्न सूक्ष्म आपः परस्पर आकर्षित हुए प्रवाहित होते हैं।

(३) {कद्रुकम् = आह्वानम् यस्मिन् तत् (तु.म.द.ऋ.भा.२.२२.१)} वह इन्द्रतत्त्व अपने वल की वृद्धि करता हुआ सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थ के आकर्षण आदि वलों में विभिन्न सोम परमाणुओं को रोकता और उन्हें अपने अन्दर शोषित करता है। फिर अपनी तीक्ष्ण किरणों के द्वारा वाधक असुर तत्त्व को छिन्न-भिन्न करके पदार्थ को तीव्रता से विलोडित करता है।

(४) वह इन्द्रतत्त्व इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न विभिन्न मेघवत् पदार्थों में से प्रथम उत्पन्न मेघ को व्याप्त करके उसमें विभिन्न तीव्र विद्युत् की गर्जना व तेज उत्पन्न करता है, जिसके कारण वे मेघादि प्रकाशित हो उठते हैं।

(५) वह इन्द्र तत्त्व अपनी वज्ररूप किरणों के प्रहार से आच्छादक व बाधक वृत्रासुर नामक पदार्थ को छिन्न-भिन्न करके बिखेर देता है। फिर वह पदार्थ सुदूर अन्तरिक्ष में फैल जाता है।

(६) वह इन्द्रतत्त्व उन मेघरूप दृश्य पदार्थों को भी पीसता, ताड़ता हुआ तथा उन्हें असुर पदार्थ से बचाता है। उन मेघरूप दृश्य पदार्थों में सम्पूर्ण पदार्थ इस प्रकार चतुर्दिक् गति करता है, जैसे मानो सब ओर नदियां बह रही हो।

(७) इन्द्रतत्त्व के द्वारा छिन्न-भिन्न सुदूर अन्तरिक्ष में सोता हुआ असुर पदार्थ अपादहस्त अर्थात् गति व बल से हीन की भांति पड़ा रहता है अर्थात् वह सृष्टि प्रक्रिया में बाधा नहीं डाल पाता। वह इन्द्र तत्त्व उस महान् शक्ति वाले असुर तत्त्व को पूर्णतः बलहीन कर देता है।

(८) वह वृत्ररूप असुर तत्त्व अपनी व्यापकता से सब ओर डटा हुआ दृश्य पदार्थ के पाद तल में सोया रहता है। वह असुर पदार्थ मनस्तत्त्व से उत्पन्न होता हुआ अन्तरिक्ष में फैल जाता है, उसे इन्द्रतत्व नष्ट करके सब नदियों के समान प्रवाहित करके दुर्बल कर देता है।

(९) पूर्वोक्त वृत्र-असुर तत्त्व को उत्पन्न करने वाली रश्मियां अन्तरिक्ष में स्थित होती हैं। उनका कार्यरूप असुर तत्त्व इन्द्रतत्त्व के तीक्ष्ण प्रहारों से छिन्न भिन्न होकर अपनी कारणरूप रश्मियों के साथ अन्तरिक्ष में सोया सा रहता है। जैसे गौ का बछड़ा अपनी मां के साथ सोता है, वैसे ही वह असुर तत्त्व अपनी कारणरूप रश्मियों में सोया रहता है।

(१०) वह असुर तत्व सदैव गतिशील होकर सब दिशाओं में प्रवहमान रहता है तथा वह पूर्णतः प्रकाश रहित होता है। उसे इन्द्रतत्त्व नष्ट कर देता है।

(११) ब्रह्माण्ड में धूल व गैस से बने मेघ जब परस्पर मिलने वाले होते हैं, उस समय असुर पदार्थ उनको चारों ओर से घेर कर मार्गों को ढक लेता है। उसके पश्चात् इन्द्र तत्त्व अपनी तीक्ष्ण किरणों से असुर पदार्थ के आवरण को तोड़कर दृश्य मेघों को परस्पर संयुक्त होने का मार्ग बना देता है।

(१२) {सिन्धवः = सिन्धुः स्रवणात् (नि.५.२७), सिन्धूनाम् = स्यन्दमानानाम् (नि.१०.५), तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.६.२.६)। सर्त्तवे = सृ गतौ (भ्वा.) धातोस्तुमर्थे तवेन्। सृकः = वज्रनाम (निघं.२.२०)} वह इन्द्र तत्त्व आशुगामी तथा वरणीय रूप धारण कर वज्ररूप रश्मियां उत्सर्जित करके सोम रश्मियों को नियन्त्रित करता है। वह प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, धनंजय व सूत्रात्मा रूपी सिन्धुओं को भी उत्सर्जित करता रहता है, इसी कारण ही वह नाना प्रभावों को उत्पन्न करता है।

(१३) अति वेगवती किरणों वाला इन्द्रतत्त्व अकेला ही अपनी वज्र रश्मियों के द्वारा असुर रश्मियों को नियन्त्रित करता है। वह सोम रश्मियों को प्राप्त करने के लिए सात प्रकार के छन्द रूप प्राणों को उत्पन्न करता है।

(१४) गर्जना करता हुआ इन्द्र तत्त्व अपने विद्युद्युक्त वज्र अर्थात् किरण समूह से बार-२ असुर तत्त्व पर आक्रमण करता है।

(१५) वह इन्द्रतत्त्व सभी मेघरूप पदार्थों में व्याप्त होकर अनेक लोकों को पार करता हुआ अनेक धाराओं को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार इन प्रभावों से युक्त सूक्त रूप रश्मिसमूह उत्पन्न होता है।।

यह रश्मिसमूह विभिन्न पूर्वोक्त सृजन क्रियाओं को निरन्तरता प्रदान करता है। इस रश्मिसमूह से इन्द्र तत्त्व ही विशेष समृद्ध होता है। इस सूक्त के जनक हिरण्यस्तूप, जिसके बारे में हम उपर्युक्त कण्डिका में लिख चुके हैं, अंगिरस अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न ये किरणें इन्द्र को धारण करने की

शक्ति को प्राप्त करती हैं। इसके पश्चात् ये किरणें परमलोक अर्थात् हिरण्यगर्भों वा तारों के केन्द्र को भी प्राप्त वा निर्मित करने में समर्थ होती हैं। इस कार्य के लिए इसी सूक्त रूप रश्मिसमूह की आवश्यकता रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस खण्ड में वर्णित विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर बांधे रखने हेतु व्याख्यान भाग में वर्णित पन्द्रह त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इन रश्मियों के उत्पन्न होने से विभिन्न कॉस्मिक मेघ रूप लोकों में विद्युत् तरंगों की भारी वृद्धि होती है। ये विद्युत् तरंगें डार्क एनर्जी से विविध प्रकार से संघर्ष करती रहती हैं और उस बिखरे पदार्थ को संघनित करने में सहयोग प्रदान करती हैं। विद्युत् तरंगों से पराभूत होकर डार्क एनर्जी सुदूर अन्तरिक्ष में अपनी उत्पादक रश्मियों के साथ शक्तिहीन होकर बिखरी अवस्था में व्याप्त हो जाती है। इसके पश्चात् सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ अनेक पिण्डाकार रूप धारण करने लगता है। उन पिण्डाकार लोकों में सब ओर विद्युत् की गर्जना व दीप्ति व्याप्त होती है। उनमें विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र भी यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रवाहित होते रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो विद्युदावेशित पदार्थ की धाराएं प्रवाहित हो रही हों। इस प्रकार धीरे-२ तारों के केन्द्र निर्मित होते जाते हैं और फिर पदार्थ संघनित होते-२ तारों का विकसित रूप निर्मित हो जाता है। इन सबमें विद्युत् की महती भूमिका के साथ सातों प्रकार की छन्द रश्मियों की भूमिका होती है।।

५. उपेन्द्रस्य प्रियं धाम गच्छति, जयति परमं लोकं य एवं वेद।।
गृहा वै प्रतिष्ठा सूक्तं, तत्प्रतिष्ठिततमया वाचा शंस्तव्यं; तस्माद् यद्यपि दूर इव पशूँल्लभते, गृहानेवैनानाजिगमिषति; गृहा हि पशूनां प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठा।।१३।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त परिस्थिति के प्राप्त होने पर इन्द्र तत्त्व का अति निकटता से धारण होकर तारों के केन्द्र का निर्माण होता है। एतदर्थ विभिन्न छन्दादि रश्मियों का नियन्त्रण भली प्रकार होता है।।

उपर्युक्त पन्द्रह रश्मियों वाला सूक्त इस खण्डोक्त अन्य सभी छन्द रश्मियों का गृह अर्थात् निवास स्थान है। यही उनका विशेष बल व आधार के समान है। इस सूक्त की रश्मियों की उत्पत्ति प्रतिष्ठिततमा वाक् अर्थात् ऐसी रश्मियों के रूप में होती है, जो मनस्तत्त्व से सबसे अधिक दृढ़ता के साथ बंधी रहती है। इस कारण वे अन्य सभी छन्द रश्मियों को अपने साथ दृढ़ता से धारण किये रहती है। इसी कारण इस अन्तरिक्ष में विभिन्न मरुद्रश्मियां अत्यन्त दूर-२ तक व्याप्त रहती हैं, पुनरपि वे इन गृहरूप सूक्त रश्मियों को प्राप्त करने हेतु सतत प्रयत्नशील रहती हैं अर्थात् ये त्रिष्टुप् रश्मियां उन्हें दूर-२ से भी आकर्षित किये रहती हैं। इस कारण वे गृहरूप रश्मियां ही उन विभिन्न मरुद्रश्मियों एवं छन्द रश्मियों की आधार होती हैं, वहीं वे विभिन्न प्रकार के सृजन कर्मों को सम्पादित कर पाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां विद्युत् तरंगों को इतनी बलवती बनाती हैं कि वे दूर-२ व्याप्त विभिन्न रश्मियों को अपने में आकर्षित करती रहती हैं। वे त्रिष्टुप् रश्मियां ही अन्य रश्मियों का आधार बन जाती हैं। ये रश्मियां ही अन्तरिक्ष से अन्य रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करके तारों के केन्द्रीय भागों को उत्पन्न करने में सर्वोच्च भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियां मनस्तत्त्व से अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता से बंधी रहती हैं।।

ॐ इति १२.१३ समाप्तः ॐ

ॐ इति द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॐ

त्रयोदशोऽध्यायः

गायत्री छन्द रश्मि
3 अक्षर रूप जगती रश्मि
1 अक्षर रूप त्रिष्टुप् रश्मि
+
4
+
जगती रश्मि
त्रिष्टुप् रश्मि
4
4
1 अक्षर रूप जगती रश्मि
3 अक्षर रूप त्रिष्टुप् रश्मि
8
प्राजापत्या गायत्री छन्द रश्मि

॥ ओ३म् ॥
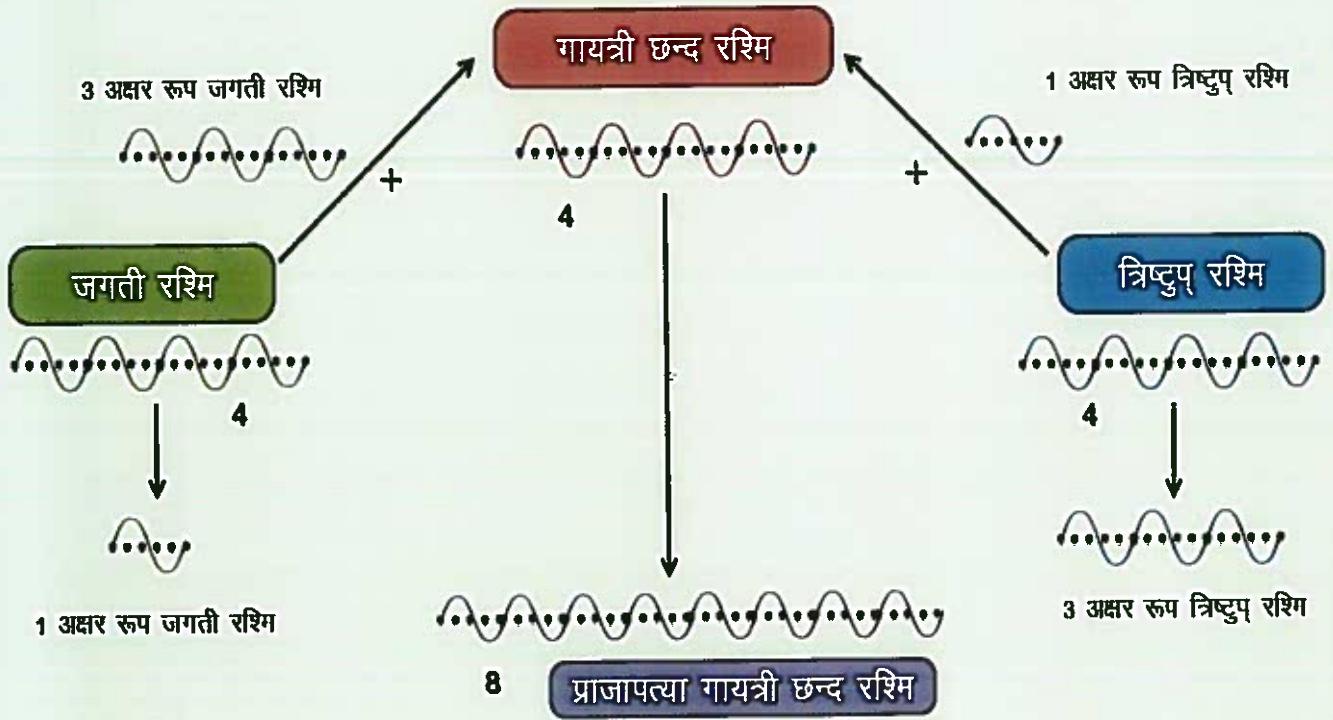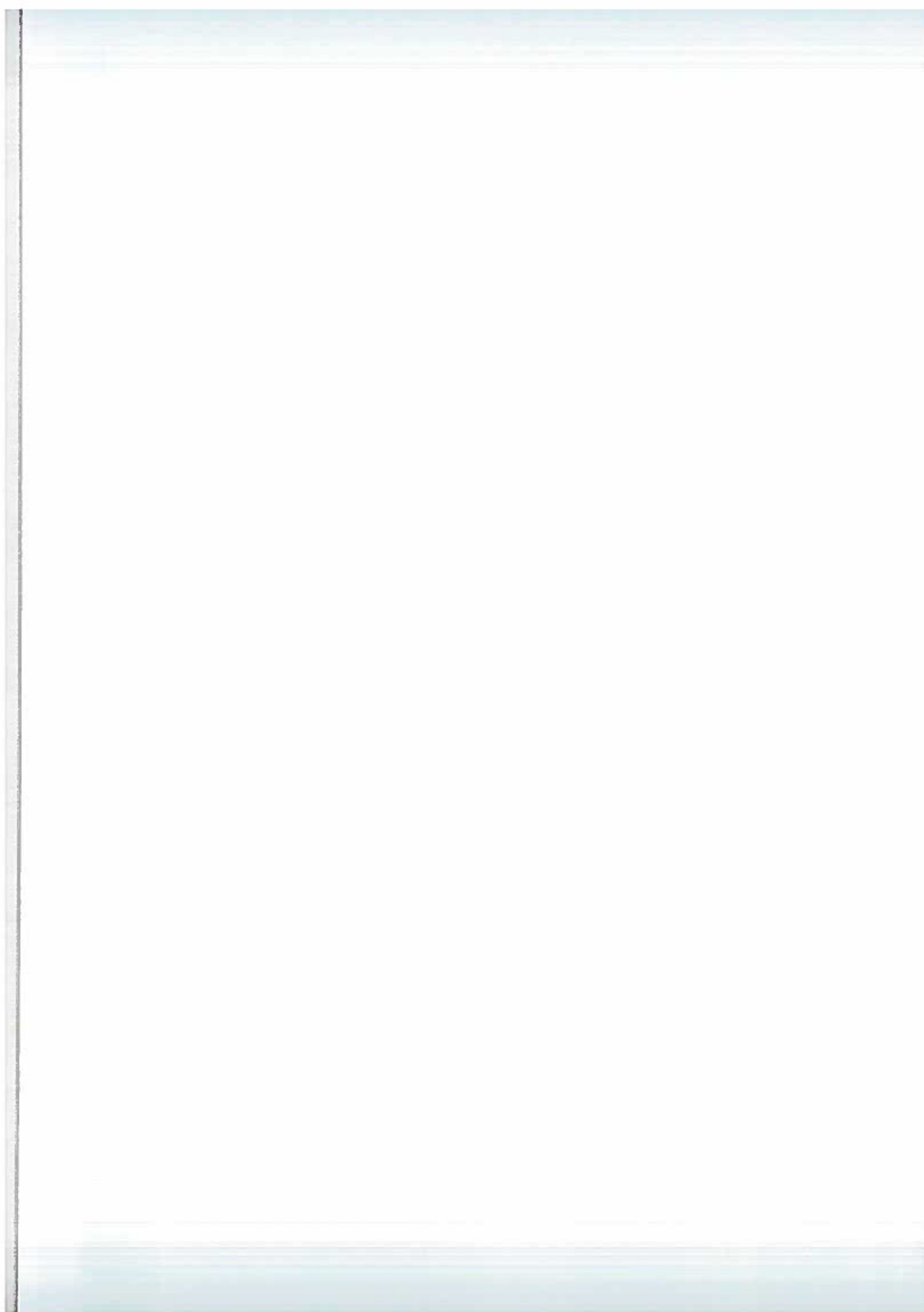
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव॥

अनुक्रमणिका

१३.१ सोम आहरण हेतु जगती और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों का प्रयास और उनकी असफलता। ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण में जगती रश्मि तथा तीव्र वल और तेज में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की भूमिका का कारण। 743

१३.२ गायत्री रश्मियों का सोम आहरण हेतु प्रस्थान। इन रश्मियों के साथ आकाश एवं प्राण तत्त्व का संयुक्त रूप साथ जाना। इनका कृशानु गन्धर्व रश्मि से संघर्ष और गायत्री रश्मियों की विजय तथा सोम आहरण में सफलता, त्रिष्टुप् और जगती रश्मियों के विछुड़े हुए अवयवों को भी साथ लाना। इस संघर्ष में रज्जु के आकार वाले अनेक सूक्ष्म कणों का निर्माण, मरुद् रश्मियों को संपीडित करके गायत्री रश्मियों द्वारा अपने साथ लाना। 746

१३.३ गायत्री द्वारा निगृहीत सोम रश्मियों से वर्तमान विज्ञान के मूलकणों, विद्युत् चुम्वकीय तरंगों एवं आकाश तत्त्व की उत्पत्ति। मूल कणों में गायत्री छन्द, आकाश में त्रिष्टुप् और विद्युत् चुम्वकीय तरंगों में जगती छन्द की प्रधानता। इन सभी में प्राण तत्त्व एवं अन्य छन्द रश्मियों की भी विद्यमानता। 750

१३.४ गायत्री छन्द द्वारा विभिन्न अक्षरों से मिलकर अष्टाक्षरा होना तथा गायत्री से अन्य छन्दों का निर्माण, सभी छन्दों में गायत्री का तेज व वल होना, गुरुत्व व वि.चु. वल में गायत्री व त्रिष्टुप् की भूमिका, ऊर्जा व इलेक्ट्रॉन्स के उत्सर्जन व अवशोषण में जगती व गायत्री की भूमिका, छन्दों के तेज व वल में भेद का कारण। 753

१३.५ तृतीय सवन, द्युलोकों में मास एवं ऋतु रश्मियों की विद्यमानता, तारा विज्ञान, मूलकणों की उदान से संगति, प्रारम्भिक दशा में तीव्र विक्षोभ-विस्फोटों का अभाव, उदान व मास प्राण द्वारा प्राण व विद्युत् का प्रेरण, वैश्वदेव शस्त्र की उत्पत्ति, इससे व कॉस्मिक पदार्थ की सघनता, उष्णता व तेजस्विता में वृद्धि से तारों का निर्माण, तारों में प्राण तत्त्व के द्वारा प्रकाशित व अप्रकाशित अर्थात् मूलकणों का अवशोषण, तारों के निर्माण के प्रारम्भ में वायुदेवताक ऋचाओं की वहुलता, फोटोन्स की अपेक्षा अन्य मूल कणों में प्राणों की वहुलता व 758

विविधता।

१३.६	आर्भन तारों के अन्दर धनंजय व सूत्रात्मा वायु की सक्रियता, दसों प्राथमिक प्राणों की सक्रियता, प्रारम्भ में ऊर्जा तरंगों की गति अपेक्षाकृत न्यून पुनः धनंजय वायु के संसर्ग से उसका तीव्रतम होना, प्राण, धनंजय व सूत्रात्मा आदि के सम्मिश्रण से संयोग-विभाग प्रक्रिया की तीव्रता, प्रत्येक क्रिया का मुख्य प्रेरक व आधार मनस्तत्त्व।	766
१३.७	प्रजा-जनता-अरण्य-वैश्वदेव-सूक्त-धाय्या मृग-वयः। प्राणों-छन्दों का परस्पर सहकार, इनके संघनन से कॉस्मिक मेघों का निर्माण, मन का व्यवहार चर व अचर दोनों। रश्मियों से अन्य रश्मियों की उत्पत्ति, इनके द्वारा द्रव्यकणों का धारण, मूलकण, आकाश, रश्मियों की सृष्टिकाल तक अविनाशिता, तारों में विभिन्न-विविध क्षेत्रों की विद्यमानता। मानव शरीर से तारे की तुलना, तारों की विभिन्न श्रेणियां, विभिन्न रश्मियों द्वारा तारों में पदार्थ का वंधा होना, धाय्या-याज्या ही सृष्टि का मूल, 'मूल' शब्द का रहस्य। सृष्टि के पदार्थों के पांच वर्ग (देव, मनुष्य, गन्धर्व-अप्सरा, सर्प, पितर)। ब्रह्माण्ड का प्रकाशमान होना, असुर पदार्थ का पृथक् वैशिष्ट्य। मूलकणों, ऊर्जा व आकाश से समस्त सृष्टि का निर्माण, सृष्टि में सृजन विनाश का सतत प्रवाह, तीन पदार्थ सृष्टि काल तक अविनाशी, छन्दादि प्राणों की रहस्यमय चारों दिशाओं में एक साथ गति, वर्तमान मूलकणों की दो दिशाओं के मध्य गति। सृष्टि प्रक्रिया नियन्त्रित, व्यवस्थित व बुद्धिमतापूर्ण। चेतन का सम्पूर्ण नियंत्रण।	770
१३.८	घृत, छन्दोग, अग्नि-सोम-विष्णु-उपसद। विभिन्न याज्या रश्मियां। ऊष्मा एवं विद्युत् कणों की उत्पत्ति। तारों के निर्माण का विज्ञान। ऊष्मा-प्रकाश-गुरुत्व बल आदि की उत्पत्ति।	782
१३.९	प्रजापति-दुहिता-मादुष-मानुष-सोम। अप्रकाशित सोम द्वारा प्रकाश और विद्युत् आदि से युक्त किरणों के संयोग से सृष्टि प्रक्रिया में वाधा। प्राथमिक प्राणों द्वारा इस वाधा का निराकरण। इससे रुद्ररूप तीक्ष्ण विकिरणों की उत्पत्ति। रोहित एवं रोहिणी तथा मृगरूप किरणें। परोक्ष दीप्ति से युक्त किरणों की उत्पत्ति। प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की परोक्षता।	786
१३.१०	अग्नि-वैश्वानर-रेत-आदित्यः-भृगु-वरुण-अङ्गारा-अङ्गिरस-वृहती वृहस्पति। प्राण-रश्मियों के सम्पीडन से ऊर्जा की उत्पत्ति, मास व ऋतु रश्मियों द्वारा डार्क एनर्जी का नियन्त्रण, तारों की उत्पत्ति व इनसे वि. चु. तरंगों व विद्युत् कणों का उत्सर्जन। पशु-मृत्तिका-गौर-गवय-ऋश्य-उष्ट्र-गर्दभ-भस्म। विभिन्न पाँच प्रकार के विकिरणों की उत्पत्ति व	789

स्वरूप। रुद्र-अभिमानुक-वास्तुह-सुम्नम्। सृष्टि प्रक्रिया से कुछ पदार्थ का वहिर्गमन पुनः कुछ तेजस्वी विकिरणों द्वारा उस पर नियन्त्रण। नर-नारी-स्त्री पुमान्। गायत्री द्वारा अशान्त व विक्षुब्ध पदार्थ पर नियन्त्रण व सन्तुलित गति व वल प्रदान करना।

१३.११ वैश्वानरीय-आग्निमारुत। विद्युत् कणों के अन्दर प्राथमिक प्राण, मरुद् रश्मियां व छन्दों की विद्यमानता, संयोग-वियोग में विद्युत् कणों की भूमिका। मन द्वारा प्राणापान व विद्युत् को प्रेरित करना। सूत्रात्मा द्वारा सीमानिर्धारण-चेतन की भूमिका। जगती-गायत्री व पंक्ति रश्मियों द्वारा ऊर्जा का सन्तुलन। इन छन्द रश्मियों के सन्तुलन में 'ओम्' व 'शोंसावोम्' की भूमिका (योनि-अनुरूप-प्रतिष्ठा-द्रविणोदा) मरुतों द्वारा मूलकणों व विकिरणों पर नियन्त्रण। मन व प्राथमिक प्राणों द्वारा मरुतों तथा चेतन परमात्मा द्वारा सब पर नियन्त्रण। ऊर्जा व द्रव्य के सामूहिक संरक्षण व असंरक्षण में छन्द रश्मियों की भूमिका, विलुप्त द्रव्य व ऊर्जा का छन्द रश्मियों में परिवर्तन तथा इन्हीं रश्मियों से शून्य ऊर्जा व द्रव्य से पुनः उत्पत्ति। संयोग-वियोग में छन्द रश्मियों के भाग विशेष की विशेष सक्रियता। 795

१३.१२ जातवेदा-प्रजापति। विशाल ऊर्जा के भण्डार, तेजस्वी लोक की उत्पत्ति, जगती व त्रिष्टुप् की भूमिका, विद्युत् द्वारा डार्क एनर्जी पर नियन्त्रण, उस विशाल लोक द्वारा उत्पत्ति स्रोत से दूरगमन, जगती व त्रिष्टुप् द्वारा उत्पन्न ऊर्जा से उस पर नियन्त्रण। स्या-अहि-बुध्न्य-गार्हपत्य-निजा। गायत्री व भुरिक् पंक्ति द्वारा ताप नियन्त्रण, उदान व ऋतु प्राणों द्वारा परोक्षरूपेण ताप नियन्त्रण। 803

१३.१३ पत्नी-अनूची-गृहपति-गार्हपत्या, भूः, भुवः, स्वः आदि रक्षिका रश्मियां। उदान व ऋतु युग्म। राका-जामि वृषा-योषा संज्ञाओं की सापेक्षता। चेतन परमात्मा प्रेरित मन व वाक् की प्रेरणा-मूल प्रेरणा। स्वसा-समानोदर्या-जाया। विभिन्न छन्दादि रश्मियों का बल मन+वाक् एवं रक्षिका शक्तियों का अनुसारी। शिश्न-जगती द्वारा विभिन्न रश्मियों को सींना। पावीरवी-सरस्वती-यामी-पित्र्या। ब्राह्मी-उष्णिक्। हिरण्यगर्भ में महाविस्फोट से पदार्थ का सुदूर व तीव्र प्रक्षेपण। MECO के सिद्धान्त से साम्यता। बिग बैग से समानता व असमानता। मातली- कव्य-काव्य। तीव्र प्रक्षिप्त पदार्थ के नियन्त्रण व संघनन में त्रिष्टुप् की भूमिका। आकाश का संकोचन। इसी प्रक्षिप्त पदार्थ के तीन रूप, उन पर विराट् त्रिष्टुप् एवं ऋतु+उदान का नियन्त्रण। डार्क एनर्जी की भूमिका। उस पर त्रिष्टुप् का नियन्त्रण। वर्हिषत्-पितर-धाम, इस समय पुनः त्रिष्टुप् रश्मि, व्यान, धनंजय व आकाश की भूमिका। विस्फोटित लोक की रिक्तता का अभाव। उससे पदार्थ के प्रक्षेपण की सतत प्रक्रिया। विभिन्न छन्द रश्मियों के प्रारम्भ में 'आहाव' रश्मि की उत्पत्ति व संगति की 808

अनिवार्यता। इसके अभाव में विविध क्रियाओं की अपूर्णता।

१३.१४ स्वादु-मधु-इन्द्र-तृतीय सवन-प्रतिगर। विद्युद् आवेशित कणों की ऊर्जा में वृद्धि। ६६ प्रकार के कणों की उत्पत्ति। विद्युत् द्वारा डार्क एनर्जी का प्रतिरोध व नियन्त्रण। विस्फोट से प्रक्षिप्त पदार्थ की नाना गतियाँ एवं ध्वनियां। तन्तु-रजस्-भानु-जोगुवा-मनु। ब्रह्माण्ड के सभी कणों का सूत्रात्मा वायु के द्वारा पारस्परिक सार्वत्रिक बन्धन। ब्रह्माण्ड में किसी भी कण की स्पष्ट एवं निश्चित आकृति नहीं। हर कण अस्पष्ट धागे जैसी अति सूक्ष्म संरचना। हर कण में विद्युत् और प्रकाश की विद्यमानता। प्राथमिक प्राणों एवं वाग् रश्मियों के द्वारा प्रत्येक कण के मार्ग का निर्धारण। जगती की भूमिका। विष्णु-वरुण। विद्युत्- अपान-धनञ्जय और व्यान के योग से जड़त्व तथा द्रव्यमान की उत्पत्ति। अपान द्वारा विभिन्न कणों का पारस्परिक वंधन। त्रिष्टुप् के योग से विद्युत् द्वारा डार्क एनर्जी पर नियन्त्रण। मघवा-इन्द्र-विरप्शी-चर्षणी-सत्या। सृष्टि प्रक्रिया में विद्युत् की विशेष भूमिका। डार्क एनर्जी पर विद्युत् का नियन्त्रण। विभिन्न प्राण रश्मियों के समूह का नाम विद्युत्। नाभिकीय संलयन के प्रारम्भ में इसकी भूमिका। जगती की भूमिका। विद्युत् की व्यापकता। 818

ॐ अथ १३.१ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. सोमो वै राजाऽमुष्मिँल्लोके आसीत्, तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् कथमयमस्मात् सोमो राजाऽऽगच्छेदिति, तेऽब्रुवंश्छन्दांसि यूयं न इमं सोमं राजानमाहरतेति, तथेति, ते सुपर्णा भूत्वोदपतंस्ते यत्सुपर्णा भूत्वोदपतंस्तदेतत् सौपर्णमित्याख्यानविद आचक्षते।।

{सुपर्णः = सुपर्णा रश्मिनाम (निघं.१.५), अश्वनाम (निघं.१.१४), वाङ्नाम (निघं.१.११), हरणा आदित्यरश्मयः (नि.७.२४)}

व्याख्यानम्- तीनों सवनों को दृष्टिगत रखते हुए महर्षि सौपर्ण आख्यान को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि पूर्व काल में किंवा सृष्टि के प्रथम चरण में सोम राजा अर्थात् मन्द दीप्ति से युक्त सूक्ष्म रश्मियां देव अर्थात् प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों एवं सूक्ष्म ऋषि प्राणों से सुदूर अन्तरिक्ष में विद्यमान होती हैं। यहाँ 'अमुष्मिन्' से तात्पर्य द्युलोक और द्युलोक का अर्थ 'दूरस्थ अन्तरिक्ष लोक' है। महर्षि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद १.८५.२ के भाष्य में 'दिवि' पद का अर्थ 'अन्तरिक्षे' किया है। उधर एक अन्य ऋषि ने कहा है- "अन्तरिक्षदेवत्यो हि सोमः" (गो.उ.२.४)। इससे भी हमारे विचार की पुष्टि होती है कि सोम पदार्थ का मूल स्थान अन्तरिक्ष लोक ही है। इस सोम पदार्थ का प्राथमिक प्राणों एवं ऋषि प्राणों से संयोग हुए विना सृष्टि प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकती। इस कारण प्राथमिक प्राण एवं ऋषि प्राण सोम पदार्थ को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं और इसके लिए वे प्राण विभिन्न छन्द रश्मियों को उत्पन्न करते हैं। वे छन्द रश्मियां सुन्दर एवं हरणशील आशुगामी अर्थात् सुपर्ण रूप धारण करके उस दिशा में वेगपूर्वक गमन करती हैं, जिस दिशा में सोम पदार्थ स्थित होता है। वे छन्द रश्मियां सुपर्ण कहलाती हैं और ऐसी रश्मियों के साथ इस प्रकरण में देवों अर्थात् प्राथमिक प्राणों व ऋषियों का संवाद एवं उनके गमन का वर्णन होने से विद्वान् लोग इस वर्णन को 'सौपर्णाख्यान' कहते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में प्राथमिक प्राण एवं अन्य सूक्ष्म ऋषि प्राण परस्पर निकट रहते हुए सूक्ष्म मरुद् रश्मिरूपी सोम तत्त्व से पृथक् एवं अति दूर देश में स्थित होते हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों को परस्पर निकट लाकर उनके संगतीकरण से विविध पदार्थों की उत्पत्ति के लिए अति तीव्रगामी छन्द रश्मियां मरुद् रश्मियों की ओर प्रवाहित होती हैं।।

२. छन्दांसि वै तत्सोमं राजानमच्छाचरंस्तानि ह तर्हि चतुरक्षराणि, चतुरक्षराण्येव च्छन्दांस्यासन्, सा जगती चतुरक्षरा प्रथमोदपतत्, सा पतित्वाऽर्धमध्वनो गत्वाऽश्राम्यत् सा परास्य त्रीण्यक्षराण्येकाक्षरा भूत्वा दीक्षां च तपश्च हरन्ती पुनरभ्यवापतत् तस्मात् तस्य वित्ता दीक्षा वित्तं तपो यस्य पशवः सन्ति, जागता हि पशवो जगती हि तानाहरत्।।
अथ त्रिष्टुब् उदपतत् सा पतित्वा भूयोऽर्धादध्वनो गत्वाऽश्राम्यत् सा परास्यैकमक्षरं त्र्यक्षरा भूत्वा दक्षिणा हरन्ती पुनरभ्यवापतत् तस्मान्मध्यन्दिने दक्षिणा नीयन्ते त्रिष्टुभो लोके त्रिष्टुब्भि ता आहरत्।।१।।

{अक्षरम् = वाङ्नाम (निघं.१.११), अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वाऽक्षरं भवति, वाचोऽक्ष इति वा (नि.१३.१२)। दक्षिणा = (दक्षः = बलनाम - निघं.२.६, आदित्यो दक्ष इत्याहुः - नि. ११.२३, प्राणा वै दक्षाः - जै.ब्रा.१.१५१, वरुणो दक्षः - श.४.१.४.१), (दक्षिणः = दक्षते वर्धते शीघ्रकारी भवति वा स दक्षिणः - उ.को.२.५१)। अच्छ = यथाक्रमम् (म.द.ऋ.भा. २.१६.३)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि के अनुसार पूर्व में सभी छन्द रश्मियां चार-चार अक्षरों से युक्त थीं। ध्यातव्य है कि प्रचलित छन्द रश्मियों में से केवल दैवी बृहती छन्द रश्मि ही चतुरक्षरा होती है, तब पूर्व में सभी छन्द रश्मियों का चतुरक्षरा होना छन्द रश्मियों का विचित्र स्वरूप है। समान अक्षर वाली छन्द रश्मियां गायत्री आदि सभी रश्मियों के रूप में कैसे व्यवहार करती हैं, इस विषय में हमारा मत है कि **समान अक्षर वाली होते हुए भी वे सभी रश्मियां अक्षरों के विन्यास और तज्जन्य-तीव्रता वा मन्दता के भेद से गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती आदि पृथक्-२ गुणधर्म वाली रश्मियों के रूप में व्यवहार करती हैं।** इस कारण चतुरक्षरा रश्मियां ही विभिन्न छन्दों के नाम से उस समय सक्रिय होती हैं। उन रश्मियों में से सर्वप्रथम जगती छन्द रश्मियां सोम पदार्थ की ओर तीव्रता से प्रवाहित होने लगती हैं परन्तु वे जगती रश्मियां आधे मार्ग तक चलकर ही दुर्बल होकर गतिहीन हो जाती हैं और अपनी दुर्बलता के कारण उनके चारों अक्षरों का विन्यास अस्त-व्यस्त हो जाता है। इस प्रक्रिया में उन रश्मियों के तीन अक्षर पृथक् होकर मन्द गति से सोम तत्त्व की ओर प्रवाहित होते रहते हैं किंवा वे मार्ग में छिटक कर दुर्बल होकर पड़े रहते हैं और एक अक्षर उनके विपरीत दिशा में अर्थात् देव और ऋषियों की दिशा में किंवा अपने प्रारम्भिक स्थान की ओर अपेक्षाकृत तीव्र गति से लौटने लगता है। इस प्रक्रिया में वह एकाक्षरा रश्मि दीक्षा और तप को अपने साथ लेकर आती है।

{दीक्षा = प्राणा दीक्षा (श.१३.१.७.२), वाग्दीक्षा तया प्राणो दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.७)}

इसका तात्पर्य यह है कि वह एकाक्षरा वाग् रश्मि प्राण नामक प्राथमिक प्राण के साथ मिथुन रूप से अग्नि रूप होकर वापिस आती है। इस प्रक्रिया के कारण अग्नि के परमाणुओं की उत्पत्ति होती है और इनसे संयुक्त होकर विभिन्न प्रकार के छन्द प्राण अग्नि और प्राण तत्त्व से युक्त होने लगते हैं। जो भी छन्द रश्मिरूप पशु किंवा द्रष्टव्य कणों रूप पशु अग्नि व प्राण युक्त होते हैं, वे इन लौटी हुई एकाक्षरा जगती रश्मियों के कारण ही होते हैं क्योंकि वे रश्मियां ही इनको साथ लेकर लौटती हैं। पूर्व में हम अनेकत्र यह दर्शा चुके हैं कि अग्नि के उत्सर्जन और अवशोषण में जगती रश्मियों का ही विशेष योगदान रहता है। इसका कारण यहाँ स्पष्ट हो रहा है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जगती छन्द रश्मि किस कारण दुर्बल होकर दो भागों में विभाजित हो जाती है? हमारे मत में इसका कारण यह है कि इस रश्मि के चारों अक्षर किंवा अन्य अनेक जगती रश्मियों के विभिन्न अक्षर अन्य रश्मियों की अपेक्षा दूर-२ स्थित होते हैं, जिसके कारण उनका बंधन बल अपेक्षाकृत कम होता है। महर्षि यास्क इस छन्द के विषय में लिखते हैं- "गततमं छन्दः जलचरगतिर्वा, जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्' (नि.७.१३)। इस पर टीकाकार आचार्य दुर्ग का कहना है- "जगती गततमं छन्दः अंत्यमित्यर्थः अत्त परमतिच्छन्दांसि। जलचरगतिर्वा जलोर्मिकाकारो हि तस्याः प्रस्तारः। जल्गल्यमानोऽसृजत् - इति च ब्राह्मणम्। 'ग्लै' हर्षक्षये। क्षीणहर्ष इव किलैतां प्रजापतिः ससृजे ददर्शेत्यर्थः नहि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यत्वादेव छन्दसाम्। अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवेति स्मरणात्।" यहाँ प्रजापति के द्वारा क्षीण हर्ष होकर जगती छन्द का निर्माण करना यही संकेत देता है कि मनस् तत्त्व में उत्पन्न इन छन्द रश्मियों के अक्षर रूप अवयव भी क्षीणहर्ष ही होते हैं अर्थात् उनका पारस्परिक बंधन बल सबसे क्षीण होता है। इसी कारण जगती छन्द रश्मि सोम पदार्थ की ओर जाते हुए दुर्बल होकर सोम पदार्थ की रक्षक रश्मियों से संघर्ष करते हुए दो भागों में बिखर जाती है। यद्यपि इस कण्डिका में इस संघर्ष का कोई संकेत नहीं है, परन्तु अगले खण्ड में गायत्री छन्द रश्मि को सोम रक्षक रश्मियों के साथ संघर्ष की चर्चा है और उस संघर्ष में गायत्री रश्मियों की विजय का भी उल्लेख है। इस कारण हमारा मत है कि यह संघर्ष अन्य रश्मियों के साथ भी होता है, परन्तु वे रश्मियां संघर्ष में परास्त होकर सोम तत्त्व को अपने साथ लाने में असफल रहती हैं। यहाँ तक कि स्वयं भी खण्ड-२ हो जाती हैं।।

जगती रश्मि के असफल होने के पश्चात् चतुरक्षरा त्रिष्टुप् छन्द रश्मि सोम पदार्थ की ओर प्रवाहित होती है और उसका भी सोम रक्षक रश्मियों के साथ संघर्ष होता है। जिसमें यह छन्द रश्मि भी दुर्वल होकर दो भागों में विखर जाती है। इसके तीन अक्षर परस्पर वंधे हुए वलयुक्त होकर तीव्र गति से पूर्व स्थान की ओर लौट पड़ते हैं। उस समय वे विशेष वल और गति से युक्त होते हैं। उधर एक अक्षर अति मन्द गति से सोम पदार्थ की ओर प्रवाहित होता है अथवा मार्ग में छिटक कर अलग-थलग पड़ा रहता है। इस छन्द को महर्षि यास्क ने निरुक्त ७.१२ में तीर्णतम छन्द कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इस छन्द रश्मि में विभिन्न अक्षर अति विस्तार में फैले रहते हैं, पुनरपि वे वज्र रूप होने के कारण जगती की अपेक्षा तीक्ष्ण होते हैं। इतना होने पर भी वे इतने शक्तिशाली उस समय नहीं होते कि सोमरक्षक रश्मियों को नियन्त्रित कर सकें। इस कारण यह रश्मि विखण्डित तो होती है परन्तु इसका एक ही अक्षर क्षीण वल होकर पृथक् होता है। शेष तीन वापस तीव्र गति से आ जाते हैं। माध्यंदिन सवन अर्थात् सृष्टि के द्वितीय चरण में विभिन्न पदार्थ वल व तेज से विशेष सम्पन्न होते हैं, इसका कारण यह है कि उस चरण में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। क्योंकि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां ही वल व तेज को विशेषतया सव ओर से प्राप्त करती हैं, इसी कारण माध्यंदिन सवन में इन्हीं की प्रधानता होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के प्रारम्भ में गायत्र्यादि छन्द रश्मियां समान रूप से चार अक्षरयुक्त होती हैं परन्तु उन अक्षररूप अवयवों के विन्यास व सक्रियतादि भेद के कारण उनके गायत्र्यादि भेद होते हैं। प्रारम्भिक चरण में प्राथमिक प्राण व अन्य सूक्ष्म प्राण एकत्र विद्यमान रहते हुए सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों से अति दूर स्थित होते हैं। इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों के संयोग के बिना सर्ग-प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकती। उस समय सूक्ष्म ऋषि प्राणों से उत्पन्न जगती रश्मि उन मरुद् रश्मियों को आकर्षित करने के लिए उनकी ओर प्रवाहित होती है परन्तु वह इस कार्य में असमर्थ रहकर स्वयं दो भागों में विभाजित हो जाती है। इसका चतुर्थ भाग प्राण तत्त्व के साथ संयुक्त होकर अग्नि रूप अवस्था में वापिस लौट आता है और शेष भाग मार्ग में ही बिखरा पड़ा रहता है। इस प्रकार जगती रश्मियों के ऊर्जा रूप होने के कारण ऊर्जा के उत्सर्जन और अवशोषण में जगती रश्मि की विशेष भूमिका होती है। जगती रश्मि के असफल होने के पश्चात् तीव्र बलयुक्त त्रिष्टुप् रश्मियां ऋषि प्राणों से उत्पन्न होकर मरुद् रश्मियों की ओर प्रवाहित होती हैं परन्तु वे भी इस संघर्ष में असफल होकर दो भागों में बिखर जाती हैं। इनका चतुर्थांश दुर्बल होकर अन्तरिक्ष में पड़ा रहता है और तीन चौथाई भाग पूर्वापेक्षा अधिक बल सम्पन्न होकर वापिस लौट आता है। क्योंकि यह रश्मि तीव्र बल और तेज से सम्बद्ध होती है, इस कारण सृष्टि के मध्य चरण में जब सभी पदार्थ विशेष क्रिया और तेज से युक्त होते हैं, उस समय त्रिष्टुप् रश्मियों की ही प्रधानता होती है।।

॥ इति १३.१ समाप्तः ॥

᪥ अथ १३.२ प्रारभ्यते ᪥

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. ते देवा अब्रुवन् गायत्रीं,-त्वं न इमं सोमं राजानमाहरेति; सा तथेत्यब्रवीत्, तां वै मा सर्वेण स्वस्त्ययनेनानुमन्त्रयध्वमिति; तथेति, सोदपतत्, तां देवाः सर्वेण स्वस्त्ययनेनान्वमन्त्रयन्त,-प्रेति चेति चेति; एतद्वै सर्वं स्वस्त्ययनं यत् प्रेति चेति चेति; तद् योऽस्य प्रियः स्यात्, तमेतेनानुमन्त्रयेत-'प्रेति चेति चेति'; स्वस्त्येव गच्छति स्वस्ति पुनरागच्छति।।

सा पतित्वा सोमपालान् भीषयित्वा पद्भ्यां च मुखेन च सोमं राजानं समगृभ्णाद्, यानि चेतरे छन्दसी अक्षराण्यजहितां तानि चोपसमगृभ्णात्।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियों के असफल और विखण्डित होने के पश्चात् सूक्ष्म ऋषि प्राणों से चतुरक्षरा गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। फिर प्राथमिक प्राण और सूक्ष्म ऋषि प्राण उन गायत्री छन्द रश्मियों को सोम तत्त्व आहरण के लिए प्रेरित करते हैं, जिसके कारण वे छन्द रश्मियां सोम पदार्थ की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। यहाँ प्राथमिक प्राणों और ऋषि प्राणों का गायत्री छन्द रश्मि से चेतनवत् संवाद दर्शाया गया है। ग्रन्थकार की यह शैली सर्वविदित है। इसका आशय यह है कि जैसे ही गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर सोम पदार्थ की ओर प्रवाहित होने लगती हैं, उसी समय "प्रेति चेति चेति" मंत्र रश्मियां उन प्राथमिक प्राणों से उत्पन्न हो जाती हैं। {प्र = अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.२.४१), प्राणो वै प्र (ऐ.२.४०)। आ = अध्यर्थे दृश्यते (नि.५.५), अभितः (म.द.य.भा.५.१६)} यहाँ 'प्रेति' और 'चेति' दो रश्मियां हैं, जिनमें से 'चेति' की आवृत्ति दो वार होती है। यहाँ प्रेति = प्र+एति, इसका तात्पर्य यह है कि 'प्रेति' छन्द रश्मि अन्तरिक्ष और प्राण नामक प्राण तत्त्व दोनों को संयुक्त करती है और यह संयुक्त रूप सोम तत्त्व की ओर प्रवाहित होने वाली गायत्री छन्द रश्मियों को अन्तरिक्ष और प्राण नामक प्राण तत्त्व से दृढ़ता से संयुक्त कर देती है। उधर चेति = च+आ+एति, इसका तात्पर्य है कि यह छन्द रश्मि दो वार आवृत्त होकर 'प्रेति' छन्द रश्मि के प्रभाव से अन्तरिक्ष एवं प्राण नामक प्राण तत्त्व को क्रमशः गायत्री छन्द रश्मियों के सव ओर से ऊपरी भाग में संयुक्त कर देती है, क्योंकि अन्तरिक्ष और प्राण नामक प्राण दो पदार्थों को संयुक्त करना होता है। इस कारण 'चेति' मंत्र की दो वार आवृत्ति होती है। यहाँ 'प्रेति' और 'चेति' शव्द दोनों प्रयोग छान्दस हैं। इन मंत्र रश्मियों के कारण आकाश और प्राण तत्त्व गायत्री छन्द रश्मि के साथ दृढ़ता से संयुक्त हो जाने से गायत्री छन्द रश्मि के चारों अक्षर परस्पर दृढ़ता से संयुक्त हो जाते हैं। इससे इस रश्मि की गति तेज व वल से पूर्वोक्त दोनों छन्द रश्मियों की अपेक्षा अधिक समृद्ध हो जाती है, जिसके कारण सोमरक्षक रश्मियों के साथ संघर्ष में यह रश्मि जगती व त्रिष्टुप् की भाँति विखरने नहीं पाती वल्कि सम्यक् प्रकारेण उन रश्मियों के साथ संघर्ष करके उन्हें नियन्त्रित वा पराभूत करके सोम-आहरण में सफल होती है। इन्हीं सूक्ष्म छन्द रश्मियों के सहाय से गायत्री रश्मियां सोम पदार्थ तक सुरक्षित पहुँचती और सुरक्षित ही वापिस आती हैं। यहाँ महर्षि यह भी संकेत करते हैं कि अन्यत्र भी जहाँ कहीं जो छन्द रश्मियां अपने विशेष कार्यवश किसी गन्तव्य की ओर प्रस्थान करती व कार्योपरान्त पुनः लौट कर आती हैं, उस समय भी उन छन्द रश्मियों की उत्पादिका रश्मियां 'प्रेति चेति चेति' इन मंत्र रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, जिनके उपर्युक्त प्रभाव से वे छन्द रश्मियां सुरक्षित गमन, लक्ष्य-प्राप्ति व पुनरागमन करने में सक्षम होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन छन्द रश्मियों की जननी रश्मियां अपनी सन्तान रूप रश्मियों के लिए सुरक्षित व सफल यात्रा हेतु 'प्रेति चेति चेति' मंत्रों से स्वस्तिवाचन करके आशीर्वाद प्रदान करती हैं। आचार्य सायण ने 'प्रेति चेति' आदि मंत्रों को 'एति' के स्थान पर 'इति' शव्द से युक्त माना है।

इति शब्द इ+क्तिन् से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ 'गति' भी है। तब 'इति' का वही अर्थ व प्रभाव होगा, जो 'ऐति' क्रियापद का होता है। हमने 'एति' क्रियापद का ग्रहण इस कारण किया है ताकि गत्यर्थक इस पद के प्रभाव से अन्तरिक्ष और प्राण नामक प्राण तत्त्व दोनों ही गायत्री रश्मियों को व्याप्त करके शक्तिशाली और सुरक्षित बना सकें। हमारे मत में इन मंत्रों के दोनों ही स्वरूप सम्भव हैं। 'इण गतौ' धातु के कुछ अन्य अर्थ में भी आप्टेकोष में इस प्रकार दिये हैं- नष्ट होना, बार-बार जाना, शीघ्र जाना, घूमना आदि। इससे स्पष्ट होता है कि इन मंत्र रश्मियों के प्रभाव से अन्तरिक्ष और प्राण तत्त्व शीघ्रता से गायत्री रश्मियों की ओर बार-२ जाते और बार-२ उन रश्मियों के चारों ओर परिक्रमण करते हुए सोम आहरण में बाधक बनी रश्मियों को नष्ट करने में सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि ये मंत्र रश्मियां भी बार-२ उत्पन्न होकर उन गायत्री रश्मियों की ओर संचरित होती रहती हैं।।

{पदम् = सर्वत्र प्राप्तमन्तरिक्षम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.२२.१४)। मुखम् = अग्निर्मुखम् (तै.सं.७.५.२५.१), (प्राणो वा अग्निः - श.६.५.१.६८)।} वे गायत्री रश्मियां पूर्वोक्त दोनों सूक्ष्म मंत्र रश्मियों के साथ संयुक्त होकर तेजी से सोम पदार्थ की ओर संचरित होती हैं। उधर सोम पदार्थ कुछ ऐसी शक्तिशाली रश्मियों से घिरा रहता है, जो उस सोम पदार्थ को सुरक्षित रखकर किसी भी बाहरी आक्रामक रश्मियों से बचाती हैं। जब कोई बाहरी रश्मियां इस सोम पदार्थ की ओर आती हैं, तब ये रक्षक रश्मियां उन रश्मियों पर सहसा आक्रमण कर देती हैं। पूर्ववर्णित जगती और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों पर आक्रमण करने वाली ये ही रश्मियां होती हैं। इसी प्रकार ये रश्मियां गायत्री रश्मियों पर भी आक्रमण करती हैं परन्तु गायत्री रश्मियां पूर्वोक्तानुसार इतनी तीक्ष्ण हो जाती हैं कि वे आक्रामक रश्मियों के आक्रमण को निष्प्रभावी करके उन रश्मियों को कँपा देती हैं। इस प्रकार वे सभी सोमरक्षक रश्मियां भारी कम्पनों से त्रस्त होकर अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। उस समय गायत्री रश्मियां अपने साथ पूर्वोक्तानुसार अन्तरिक्ष रूपी पद और प्राणरूपी मुख के द्वारा उस संदीप्त सोम पदार्थ को अपने तीक्ष्ण बल से अपने साथ बांध लेती हैं। यहाँ 'पद्भ्याम्' इस द्विवचनान्त शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यह चतुरक्षरा गायत्री दो पादों से युक्त होती है, जिसके प्रत्येक पाद में दो-दो अक्षर होते हैं और प्रत्येक पाद से संयुक्त अन्तरिक्ष तत्त्व इस द्विवचनान्त पद के प्रयोग का कारण है। यह गायत्री छन्द रश्मि न केवल सोम पदार्थ को अपने साथ बांध लेती है अपितुजगती और त्रिष्टुप् रश्मियों से दुर्बल होकर पृथक् हुए उन चार अक्षरों को भी अपने साथ संयुक्त कर लेती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सोमरक्षक रश्मियां कौनसी होती हैं? १.२७.१ में हम पढ़ चुके हैं कि सोम पदार्थ गन्धर्व अर्थात् सूत्रात्मा वायु व मनस् तत्त्व के साथ जुड़ा हुआ होता है, परन्तु हमारे मत में सूत्रात्मा वायु तथा मनस् तत्त्व के साथ किन्हीं छन्द रश्मियों का संघर्ष होना सम्भव नहीं है क्योंकि शुद्ध रूप में इन दोनों की ही प्रवृत्ति संघर्ष की नहीं होती। १.२७.१ में जिन गन्धर्व नामक पदार्थों के साथ सोम तत्त्व के होने का उल्लेख है, वहाँ देव पदार्थों के द्वारा सोम तत्त्व के क्रय करने का तो उल्लेख है परन्तु गन्धर्वों पर किसी प्रकार का आक्रमण करके सोम पदार्थ के हरण का उल्लेख नहीं है। इस कारण हमारा दोनों प्रकरणों में गन्धर्व शब्द से पृथक्-२ पदार्थों का ग्रहण करना सर्वथा युक्तिसंगत है। इस कारण संघर्षशील रश्मियां अन्य ही हैं, जिनकी ओर संकेत अगली कण्डिका के साथ-२ तैत्तिरीय संहिताकार ऋषि ने भी किया है- "मा विश दक्षिणमुशन्नुशन्तः स्योनः स्योनः स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान् रक्षध्वं मा वो दभन्।" (तै.सं.१.२.७)। यहाँ स्वानः, भ्राजः, अंघारिः, बम्भारिः, हस्तः, सुहस्तः एवं कृशानुः इन सात प्रकार की अग्नि रश्मियों को ही सोमरक्षक आक्रान्ता मानकर सोम आहरण में इनसे रक्षा की प्रार्थना की गई है। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कहना है- "तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुरिपे धिष्ण्या इमा होत्राः" (श.३.६.२.६), "एतानि (स्वानः, भ्राजः, अंघारिः, बम्भारिः, हस्तः, सुहस्तः, कृशानुः) वै धिष्ण्यानां नामानि" (श.३.३.३.११)। यहाँ महर्षि याज्ञवल्क्य इन ७ अग्नियों को ही गन्धर्व संज्ञक मान रहे हैं, जो सोम तत्त्व की रक्षा करते हुए सोम को ग्रहण करने आयीं रश्मियों पर आक्रमण करते हैं। उधर एक अन्य ऋषि का कथन है- "अथ गन्धर्वगणाः। स्वानभ्राट्। अङ्घारिर्बम्भारिः। हस्तः सुहस्तः। कृशानुर्विश्वावसुः। मूर्धन्वान्सूर्यवर्चाः। कृतिरित्येकादश गन्धर्वगणाः।" (तै.आ.१.६.५) इसमें पूर्वोक्त सात गन्धर्व अग्नियों के अतिरिक्त चार अन्य गन्धर्व रश्मियों का भी उल्लेख है परन्तु महर्षि याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त प्रमाणों को दृष्टिगत रखते हुए हमारा मत है कि इन चार गन्धर्व रश्मियों का सोम रक्षण के इस प्रकरण में कोई योगदान नहीं है। इन रश्मियों के स्वरूप आदि के विषय

में हम कुछ भी लिखना यहाँ आवश्यक नहीं समझते। जहाँ-२ जिस-२ गन्धर्व रश्मि का उल्लेख होगा, उस-२ के स्वरूप के विषय में हम वहीं लिखेंगे।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रकार से जगती और त्रिष्टुप् रश्मियों की भाँति गायत्री छन्द रश्मियां दूरस्थ मरुद् रश्मियों को आकर्षित करने के लिए वेगपूर्वक बढ़ती हैं, उसी समय दो सूक्ष्म रश्मियां उत्पन्न होकर गायत्री रश्मियों के साथ संयुक्त हो जाती हैं। इनके संयुक्त होने से आकाश तत्त्व एवं प्राण नामक प्राण तत्त्व गायत्री रश्मियों को चारों ओर से घेरकर परिक्रमण करने लगते हैं। इसके प्रभाव से गायत्री रश्मियों के चारों अक्षररूप सूक्ष्म रश्मियां परस्पर दृढ़तर बंधन से युक्त हो जाती हैं, जिसके कारण उनकी शक्ति और तेज में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। जब ऐसी गायत्री रश्मियां सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों के निकट पहुँचती हैं, उस समय सोमरक्षक तीव्र ऊर्जा तरंगों से गायत्री रश्मियों का संघर्ष होता है। जब ये ऊर्जा तरंगें अपनी ओर आती हुई गायत्री रश्मियों पर तीव्र आक्रमण करती हैं, उस समय गायत्री रश्मियां अपने तीव्र तेज और बल से उन ऊर्जा तरंगों को छिन्न-भिन्न कर देती हैं और आकाश तत्त्व तथा प्राण रश्मि दोनों के संयुक्त रूप के साथ वे गायत्री रश्मियां मरुद् रश्मियों को अपने साथ बांध लेती हैं। इसके साथ ही वे रश्मियां त्रिष्टुप् और जगती रश्मियों से दुर्बल होकर पृथक् हुए अक्षर रूप रश्मियों को भी अपने साथ संयुक्त कर लेती हैं।।

२. तस्या अनु विसृज्य कृशानुः सोमपालः सव्यस्य पदो नखमच्छिदत्, तच्छल्यकोऽभवत्, तस्मात् सनखमिव, यद्वशमस्रवत्, सा वशाऽभवत्, तस्मात् सा हविरिव, अथ यः शल्यो यदनीकमासीत् स सर्पो निर्दंश्यभवत्, सहसः स्वजो, यानि पर्णानि ते मन्थावलाः, यानि स्नावानि ते गण्डूपदा, यत् तेजनं सोऽन्धाहिः, सो सा तथेषुरभवत्।।२।।

{कृशानुः = कृशति तनूकरोतीति कृशानुः (उ.को.४.२), सम्राडसि कृशानुः (तै.सं.१.३.३.१)। सव्यः = सु+यत् (सु = उत्पन्न करना, उत्तेजित करना, प्रेरित करना - आप्टेकोष), सुनोत्यभिषवतीति सव्यम् (उ.को.४.१११)। नखम् = न विद्यते खमाकाशं यस्मिन् तत् (तु. म.द.ऋ.भा.१.१६२.९), (खम् = नह्यति बध्नाति स नखः (तु.उ.को.५.२३)। शल्यकः = (शल्+यत्+कन् - आप्टेकोष; शल चलनसंवर्णयोः)। वशः = देदीप्यमानः (तु.म.द.य.भा. २४.१४), कामयमानः (म.द.ऋ.भा.१.१२९.१) (वश कान्तौ)। वशा = वशा द्यावापृथिवीयाः (मै.३.१३.१२), वशा मैत्रावरुण्यः (मै.३.१३.९), इयं वै वशा पृश्निः (श.१.८.३.१५)। सर्पाः = ये सर्पन्ति गच्छन्ति ते लोकाः (तु.म.द.य.भा.१३.६), इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च (श.७.४.१.२५), देवा वै सर्पाः (तै.ब्रा.२.२.६.२), रज्जुरिव हि सर्पाः (श.४.४.५.३)। मन्थाः = मन्थयति विलोडयतीति मन्थाः (उ.को.४.११), सूर्य, सूर्य की किरण (आप्टेकोष)। स्नावा = स्नाति शुच्यतीति स्नावा (उ.को.४.११४)। गण्डू = जोड़-गांठ (आप्टेकोष)। अहिः = व्यापनशीलो मेघः (म.द.ऋ.भा.२.३१.६), मेघनाम (निघं.१.१०), अही गोनाम (निघं.२.११), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)।}

व्याख्यानम्- पूर्व प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं कि गायत्री छन्द रश्मियों का सोमरक्षक कृशानु नामक गन्धर्व रश्मियों से संघर्ष होता है। इससे यह स्पष्ट भी हो रहा है कि अन्य ६ गन्धर्व रश्मियां गायत्री छन्द रश्मियों के प्रहार से छिन्न-भिन्न होकर दूर चली जाती हैं। केवल यह कृशानु गन्धर्व रश्मि ही गायत्री छन्द रश्मियों के साथ विशेष संघर्ष करती है। यह गन्धर्व रश्मि अच्छी प्रकार देदीप्यमान एवं भेदन शक्तिसम्पन्न तीक्ष्ण रश्मियों के रूप में होती है। यह उन तीक्ष्ण रश्मियों को बाण के समान अस्त्र बनाकर गायत्री रश्मियों पर प्रहार करती है। जैसा कि हम पूर्व में अवगत हो चुके हैं कि गायत्री रश्मियों को दो सूक्ष्म मंत्र रश्मियों के द्वारा आकाश व प्राण तत्त्व के मिश्रण से आच्छादित किया जाता है। यहाँ

'सव्यनख' का तात्पर्य यह है कि पद अर्थात् आकाश तत्त्व के प्राण तत्त्व से मिश्रित वह भाग, जो सोम रश्मियों को उत्तेजित व प्रेरित करके अपने साथ बांध लेता है, पर कृशानु रश्मियों का तीक्ष्ण प्रहार होता है। जिसके कारण वह भाग पृथक् होकर **'शल्यक'** का रूप बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह भाग आकाश व प्राण तत्त्व का ऐसा मिश्रण होता है, जो सोम रश्मियों की ओर मन्द-२ गति करता हुआ उन्हें आच्छादित करके अपने साथ संयुक्त कर लेता है। हमारे मत में यह **शल्यक** नामक पदार्थ गायत्री छन्द रश्मियों से पूर्णतः पृथक् नहीं होता बल्कि अल्पांश में उससे संयुक्त ही रहता है और शेष अंश उन रश्मियों से पृथक् होकर, फैलकर सोम रश्मियों को ग्रहण करता है। इसी कारण वह **शल्यक** नामक पदार्थ भी नखरूप होकर सोम रश्मियों को बांधने वाला होता है। यहाँ **सव्य** पद का अर्थ आकाश मिश्रित प्राण तत्त्व का उत्तर भाग भी ग्रहणीय है। उस अन्तरिक्ष और प्राण के संयुक्त रूप नख से **'वश'** अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान और आकर्षणशील रश्मियां रिसने लगती हैं। वे रश्मियां **वशा** में परिवर्तित हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे रश्मियां प्राणापान वा प्राणोदान से देदीप्यमान आकाश रश्मियों में परिवर्तित हो जाती हैं। तदुपरान्त ऐसी वे रश्मियां हविरूप होकर सोम रश्मियों को सिंचित करने लगती हैं। कृशानु गन्धर्व रश्मि ने जिन तीक्ष्ण किरण समूह के द्वारा गायत्री रश्मियों पर प्रहार किया था, वे ऐसे तेजस्वी और सपर्णशील सूक्ष्म कणों में परिवर्तित हो जाती हैं, जिनका तेज अदृश्य होता है और जिनमें भेदन शक्ति भी नहीं होती। यहाँ **'निर्दशी'** शब्द **'दशि भासार्थः, भाषार्थो वा'** धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ संस्कृत धातुकोष में पं.युधिष्ठिर मीमांसक ने **''चमकना तथा डंक मारने के समान बोलना''**, किया है। यह शब्द **'दशि दंशनदर्शनयोः'** धातु से भी निष्पन्न हो सकता है। इस प्रकार के कण रज्जु के समान आकार वाले और सर्पिल गति करने वाले होते हैं। ये कण कृशानु रश्मियों के बल के कारण **'स्वज'** अर्थात् **सुः+अजः** अर्थात् अच्छी प्रकार क्षेपणशील होते हैं। इन कणों में यद्यपि भेदन क्षमता नहीं होती परन्तु क्षेपण शक्ति अवश्य होती है। कृशानु गन्धर्व रश्मियों में कुछ ऐसी भी रश्मियां होती हैं, जो मथने या विलोडन का सामर्थ्य रखती हैं। ये रश्मियां क्रमशः व निरन्तर उत्पन्न होकर गायत्री रश्मियों के आवरक आकाश एवं प्राण तत्त्व को सतत क्षुब्ध करती रहती हैं। हमारे मत में **''मन्यावलाः''** में **'आवलः'** शब्द **''आवलिः''** का छान्दस रूप है, जिसमें **'इनू'** प्रत्यय का लोप होकर **'आवलः'** बन गया है। कृशानु रश्मियों के शोधक गुण के कारण **'गण्डू'** पदों का निर्माण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन रश्मियों के प्रभाव से गायत्री रश्मियों का आवरक आकाश तत्त्व मरुद् रश्मियों को संपीडित करके उनको गांठ रूप अर्थात् संघनित रूप प्रदान करने लगता है और ऐसी संघनित मरुद् रश्मियां गायत्री रश्मियों के साथ संयुक्त होने लगती हैं। कृशानु रश्मियों के अग्रिम तीक्ष्ण भाग से अप्रकाशित किरणें उत्पन्न होती हैं। वे ऐसी किरणें व्यापनशील भी होती हैं। वस्तुतः यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि कृशानु रश्मियों के साथ संघर्ष में गायत्री रश्मियां सोम आहरण में सफल हो जाती हैं और कृशानु रश्मियां स्वयं अनेक रूप धारण करते हुए गायत्री रश्मियों के सोम आहरण में परोक्ष रूप से सहयोग ही करती हैं और वे स्वयं अन्धकारयुक्त अवस्था को ही प्राप्त करके संघर्ष में पराजित हो जाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब गायत्री रश्मियों का मरुद् रश्मियों की रक्षक ऐसी किरणों, जो अच्छी प्रकार देदीप्यमान और तीव्र भेदन शक्तिसम्पन्न होती हैं, से संघर्ष होता है, तब वे तीक्ष्ण रश्मियां अनेक रूपों में परिवर्तित होती जाती हैं। इन रश्मियों के प्रहार से गायत्री रश्मियों का आवरक प्राण मिश्रित आकाश तत्त्व बाहर की ओर फैलकर मरुद् रश्मियों को अपने साथ आकर्षित करने लगता है। उस समय प्राणापान एवं प्राणोदान से संदीप्त आकाश रश्मियां सोम रश्मियों से संयुक्त होने लगती हैं, उस समय अदृश्य दीप्ति वाले भेदन शक्तिहीन परन्तु प्रक्षेपण सामर्थ्य वाले अति सूक्ष्म कण उत्पन्न होते हैं। वे कण रस्सी के समान आकार वाले और सर्पिल गति से युक्त होते हैं। उस समय गायत्री रश्मियों के आवरक प्राण से संयुक्त आकाश तत्त्व सतत क्षुब्ध होता हुआ मरुद् रश्मियों को संपीडित करके उन्हें संघनित रूप प्रदान करके गायत्री रश्मियों के साथ संयुक्त करने लगता है और सोम रक्षक तेजस्वी रश्मियां स्वयं तेजहीन होकर विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो जाती हैं।।

ॐ इति १३.२ समाप्तः ॐ

अथ १३.३ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. सा यद्दक्षिणेन पदा समगृभ्णात्, तत्प्रातःसवनमभवत्, तद्गायत्री स्वमायतनमकुरुत, तस्मात् तत्समृद्धतमं मन्यन्ते सर्वेषां सवनानाम्, अग्रियो मुख्यो भवति, श्रेष्ठतामश्नुते, य एवं वेद, अथ यत्सव्येन पदा समगृभ्णात्, तन्माध्यंदिनं सवनमभवत्, तद्विस्रंसत तद्विस्रंसत नान्वाप्नोत् पूर्वं सवनं, ते देवाः प्राजिज्ञासन्त, तस्मिंस्त्रिष्टुभं छन्दसामदधुरिन्द्रं देवतानां, तेन तत्समावद्वीर्यमभवत् पूर्वेण सवनेनोभाभ्यां सवनाभ्यां समावद्वीर्याभ्यां समावज्जामीभ्यां राध्नोति य एवं वेद, अथ यन्मुखेन समगृभ्णात् तत् तृतीयसवनमभवत्।।

{जामिः = उदकनाम (निघं.१.१२), जमतेर्वा स्याद्गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति (नि.३.६), अङ्गुलिनाम (निघं.२.५)।}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त संघर्ष के पश्चात् जब गायत्री रश्मियां सोम तत्त्व को अपने साथ लेकर लौटती हैं, तब उन सोम रश्मियों से तीनों सवनों की उत्पत्ति प्रक्रिया को दर्शाते हुए कहते हैं-

उन गायत्री रश्मियों के दक्षिण भागस्थ प्राणमिश्रित आकाश तत्त्व के द्वारा जो सोम रश्मियां निगृहीत की जाती हैं, वे प्रातःसवन का रूप धारण कर लेती हैं। गायत्री रश्मियों के दक्षिण भागस्थ उपर्युक्त प्राणमिश्रित आकाश तत्त्व तीव्र बलयुक्त होता है। प्रातःसवन के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "अयं वै लोकः प्रातःसवनम्" (श.१२.८.२.८)। इसी को अन्य ऋषि इस प्रकार कहते हैं- "इदं प्रातस्सवनम्" (जै.ब्रा.३.५७)। इसका तात्पर्य यह है कि गायत्री रश्मियों के दक्षिण भाग द्वारा अपने साथ लायी गई मरुद् रश्मियां पृथिवी अर्थात् अप्रकाशित पदार्थ को उत्पन्न करती हैं किंवा ऐसे पदार्थ में परिवर्तित हो जाती हैं। ऐसे अप्रकाशित परमाणु अदिति रूप होते हैं। इसलिए कहा है- "इयं वा अदितिः" (मै.३.१.८), "इयं वै पृथिव्यदितिः" (श.१.१.४.५)। यहाँ अदिति रूप होने का तात्पर्य है कि ये परमाणु सृष्टि काल तक नष्ट नहीं होते हैं और ये परमाणु ही सबको आश्रय देकर धारण करते हैं। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- "इयं हीदं सर्वं ददते विश्वधाया" (श.७.४.२.७)। ये अप्रकाशित परमाणु गायत्री रश्मियों को भी अपने अन्दर धारण करते हैं किंवा इन परमाणुओं में गायत्री छन्द रश्मियों की ही प्रधानता होती है। इसलिए ऋषियों ने कहा है- 'इयं वै गायत्री' (मै.१.५.१०), 'अयमेव (भूलोकः) गायत्री' (तां.७.३.६)। ये परमाणु अन्य सभी परमाणुओं की अपेक्षा समृद्धतम होते हैं क्योंकि इनके अन्दर विभिन्न रश्मियां सघनतम रूप में विद्यमान होती हैं। इस कारण प्रातःसवन भी सब सवनों में सर्वश्रेष्ठ, अग्रणी और मुख्य माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रातःसवन, जिसे हम सृष्टि प्रक्रिया का प्रथम चरण मानते आये हैं, सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न न होने पर सृष्टि प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकती। उधर पृथिव्यर्थक प्रातःसवन का तात्पर्य जो हमने अप्रकाशित परमाणुओं के रूप में ग्रहण किया है, वह भी अग्रणी और मुख्य इस कारण होता है क्योंकि इनके बिना ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक का निर्माण कदापि सम्भव नहीं है। इस पर हम दूसरे प्रकार से विचार करें, तो सृष्टि का मूल पदार्थ भी अप्रकाशित अवस्था में ही होता है। इस विषय में भगवान् मनु ने कहा है-

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।। (मनु.१.५)

इस कारण यह अवस्था किंवा इससे उत्पन्न प्रथम अवस्था भी प्रातःसवन का ही रूप कही जा

सकती है। इस अवस्था से ही सभी पदार्थों की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। विभिन्न छन्द रश्मियों में से गायत्री छन्द रश्मियां ही सर्वप्रथम इस अवस्था में उत्पन्न होती हैं। इस कारण कहा है- 'गायत्री प्रातस्सवनं संपद्यते' (जै.ब्रा.२.१०२)। इन सब कारणों से प्रातःसवन किंवा अप्रकाशित अवस्था सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। जब इस स्थिति से अप्रकाशित परमाणुओं की उत्पत्ति हो जाती है, तो वे परमाणु भी इसी कारण श्रेष्ठता को प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् महर्षि सोम रश्मियों के उस भाग की चर्चा करते हैं, जो गायत्री रश्मियों के साथ संयुक्त प्राणमिश्रित आकाश तत्त्व के पूर्व कण्डिका में वर्णित सव्य अर्थात् उत्तर भाग द्वारा गृहीत करके लाया जाता है। ये सोम रश्मियां माध्यन्दिन सवन का रूप प्राप्त करती हैं। इस सवन के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- 'अन्तरिक्षं वै माध्यन्दिनं सवनम्' (श.१२.८.२.६)। इसी को अन्य ऋषि ने लिखा - 'अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनम्' (गो.उ.४.४)। इसका तात्पर्य यह है कि इन सोम रश्मियों के द्वारा आकाश तत्त्व का निर्माण होता है। यद्यपि आकाश तत्त्व पूर्व में निर्मित हो चुका होता है, इस कारण यहाँ आकाश तत्त्व के निर्माण का तात्पर्य उसके विस्तार से है। इस स्थिति में वह आकाश तत्त्व सर्वत्र फैलने वा रिसने लगता है। वह अप्रकाशित पदार्थ को अपने साथ संयुक्त करने में असमर्थ रहता है। इस कारण देव अर्थात् प्राथमिक प्राण उस आकाश तत्त्व के साथ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों एवं इन्द्र तत्त्व को संयुक्त कर देते हैं, जिसके कारण वह आकाश तत्त्व अप्रकाशित पदार्थ के समान सामर्थ्यवान् हो जाता है। हमारे मत में यहाँ 'इन्द्र' शब्द का अर्थ विद्युत्युक्त वायु नहीं हो सकता बल्कि यहाँ प्राण नामक प्राण तत्त्व को ही इन्द्र कहते हैं क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- 'प्राण एवेन्द्रः' (श.१२.९.१.१४)। इस प्रकार की प्रक्रिया के सम्पन्न होने पर दोनों ही सवन समान वीर्य और गति वाले परस्पर सम्बद्ध होकर समृद्ध होते हैं अर्थात् ये दोनों परस्पर एक-दूसरे को समृद्ध करने में समर्थ होते हैं।

अब महर्षि तृतीय सवन की चर्चा करते हुए कहते हैं कि गायत्री रश्मियों ने अपने अग्रभाग के द्वारा जिन मरुद् रश्मियों को पकड़ा था, वह तृतीय सवन का रूप हो गया। इस तृतीय सवन के विषय में कहा गया है- 'द्यौर्वै तृतीयसवनम्' (श.१२.८.२.१०), 'अदस् (द्युलोकः) तृतीयसवनम्' (जै.ब्रा.३.५७)। इसका तात्पर्य यह है कि इन रश्मियों से द्युलोक अर्थात् प्रकाशित कणों की उत्पत्ति होती है और प्रकाशित कणों से समृद्ध लोक जगती छन्द प्रधान होते हैं। इसी कारण कहा है- 'जगती तृतीयसवनं संपद्यते' (जै.ब्रा.२.१०२)। हमारे मत में इन 'द्यु' नामक पदार्थों में प्रकाश के साथ-२ विद्युत् तत्त्व की भी विद्यमानता होती है। इस कारण ये प्राथमिक प्राणों रूप देव पदार्थ से भिन्न होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्तानुसार गायत्री छन्द रश्मियां जिन सोम रश्मियों को अपने साथ लाती हैं, वे सोम रश्मियां ही कालान्तर में विभिन्न पदार्थों में परिवर्तित हो जाती हैं। उन्हें गायत्री रश्मियों के दक्षिण भागस्थ प्राण मिश्रित आकाश तत्त्व अपने साथ संयुक्त करके लाता है। वे सोम रश्मियां अप्रकाशित सूक्ष्म कणों में परिवर्तित होती है। वर्तमान विज्ञान के विभिन्न मूलकण इसी श्रेणी में आते हैं। इनके निर्माण की प्रक्रिया हम पूर्व में विस्तार से लिख चुके हैं। इन कणों में गायत्री छन्द रश्मियों की विशेष प्रधानता होने के साथ-२ लगभग सभी छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। इन कणों में सभी रश्मियां अत्यन्त सघन रूप में विद्यमान होती हैं। इन कणों के बिना किसी भी लोक का निर्माण सम्भव नहीं है। इस कारण इन कणों को श्रेष्ठतम कहा गया है। जिन सोम रश्मियों को उपर्युक्त प्राणमिश्रित आकाश तत्त्व का उत्तरी भाग अपने साथ संयुक्त करके लाता है, वे रश्मियां आकाश तत्त्व में परिणत हो जाती हैं। यहाँ आकाश तत्त्व का निर्माण नहीं बल्कि उसकी पुष्टि व विस्तार होना समझना चाहिए। उस समय आकाश तत्त्व अप्रकाशित मूलकणों के साथ संयुक्त होने में असमर्थ रहता है। तब प्राथमिक प्राण तत्त्व एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां आकाश तत्व के साथ संयुक्त हो जाती हैं, जिससे वह आकाश तत्त्व सबल होकर मूलकणों को चारों ओर से घेर लेता है। जो सोम रश्मियां गायत्री रश्मियों के अग्रभाग द्वारा पकड़कर लायी जाती हैं, वे रश्मियां विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का रूप धारण कर लेती हैं। हमारी दृष्टि में यहाँ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के निर्माण के साथ-२ उनके उत्सर्जन व अवशोषण प्रक्रिया की समृद्धि समझना चाहिए। इन तरंगों में जगती छन्द की प्रधानता होती है।।

२. तस्य पतन्ती रसमधयत्, तद् धीतरसं नान्वाप्नोत् पूर्वे सवने, ते देवाः प्राजिज्ञासन्त, तत्पशुष्वपश्यंस्तद् यदाशिरमवनयन्त्याज्येन पशुना चरन्ति तेन

तत्समावद्वीर्यमभवत् पूर्वाभ्यां सवनाभ्याम्।।
सर्वैः सवनैः समावद्वीर्यैः समावज्जामिभी राध्नोति य एवं वेद।।३।।

{रसः = सर्वद्रव्यसारः (म.द.य.भा.१८.६), वाङ्नाम (निघं.१.११), स्वधा (श.५.४.३.७)। आशीः = आशीराश्रयणाद्वा, आश्रपणाद्वा (नि.६.८), प्रजा वै पशव आशीः (जै.ब्रा.१.१७४)।}

व्याख्यानम्- जिस समय गायत्री रश्मियों के साथ सोम रश्मियां लायी जा रही थीं और उनसे उपर्युक्तानुसार तृतीय सवन अर्थात् द्युलोक किंवा प्रकाशित कणों की उत्पत्ति हुई थी, उन कणों का सार भाग गायत्री रश्मियां अवशोषित कर लेती हैं। इसके कारण वे देदीप्यमान परमाणु अपनी कुछ शक्ति को खो देते हैं। इस कारण वे परमाणु न तो आकाश तत्त्व के साथ गमन कर पाते हैं और न ही पूर्वोक्त अप्रकाशित कणों के साथ संयुक्त होने की क्षमता रखते हैं। उस समय देव अर्थात् प्राथमिक प्राण सक्रिय होकर कुछ छन्द रश्मियों को उत्पन्न वा आकर्षित करते हैं। वे प्राण 'आशीः' अर्थात् प्रजा एवं पशुओं का उन दुर्बल हुए परमाणुओं पर सेचन करते हैं, जिसके कारण वे परमाणु तृप्त होकर सबल हो जाते हैं। इसी बात का संकेत अन्य ऋषियों ने भी किया है- 'अश्विना आशिरा (प्रीणामि)' (मै.१.६.२; काठ. ६.१०) इससे सिद्ध होता है कि प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के परमाणु प्रजा और पशु रूप 'आशीः' से ही तृप्त और सबल होते हैं। यहाँ प्रजा का तात्पर्य आकाश तत्त्व है, जैसा कि ऋषियों ने कहा है- 'प्रजा अन्तरिक्षम्' (काठ.२०.११), 'प्रजा बर्हिः' (तै.सं.२.६.१.२; मै.३.८.६)। पशु का अर्थ छन्द रश्मियां सर्वविदित है। इससे सिद्ध होता है कि **प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही कणों को तृप्त व सबल करने के लिए आकाश तत्त्व मिश्रित छन्द रश्मियों का संयुक्त होना आवश्यक है।** इसके पश्चात् महर्षि कहते हैं कि वे दुर्बल हुए प्रकाशित परमाणु आज्य और पशुओं के साथ भी संगत होते हैं। {प्राणो वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.८.१५.२,३)} इसका तात्पर्य यह है कि उन परमाणुओं के साथ प्राण तत्त्व एवं विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियां भी संगत होती हैं, जिसके कारण वे सबल हो उठती हैं। इसके पश्चात् वे परमाणु आकाश तत्त्व में गमन करने योग्य एवं अप्रकाशित परमाणुओं के साथ संयुक्त होने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर इस ब्रह्माण्ड में सभी प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थ तुल्य सामर्थ्य वाले होकर एक-दूसरे के साथ संगत होते हुए अनेक पदार्थों को जन्म देते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विभिन्न मूलकणों के साथ संगत होती हैं तथा आकाश तत्त्व में धनंजय वायु के साथ निर्विघ्न गमन करती हैं। इन तरंगों की ऐसा करने की शक्ति के विषय में महर्षि कहते हैं कि ये तरंगें अर्थात् उनके क्वाण्टाज् प्राण रश्मियों, विभिन्न छन्द रश्मियों एवं आकाश तत्त्व के मिश्रित रूप से आवेष्टित रहते हैं। इसी कारण इन सभी प्रकार के कणों में परस्पर सहगमन और संयोग-वियोग की क्रियाएं देखी जाती हैं।।

इति १३.३ समाप्तः

ॐ अथ १३.४ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. ते वा इमे इतरे छन्दसी गायत्रीमभ्यवदेतां,-वित्तं नावक्षराण्यनुपर्यागुरिति, नेत्यब्रवीद् गायत्री यथावित्तमेव न इति, ते देवेषु प्रश्नमैतां; ते देवा अब्रुवन् यथावित्तमेव व इति, तस्माद्धाप्येतर्हि वित्यां व्याहुर्यथावित्तमेव न इति, ततो वा अष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्, त्र्यक्षरा त्रिष्टुबेकाक्षरा जगती।।

व्याख्यानम्- जैसा कि हम पूर्व में अवगत हो चुके हैं कि गायत्री छन्द रश्मियों का कृशानु संज्ञक तीक्ष्ण सोम रक्षक रश्मियों के साथ संघर्ष होता है, जिसमें गायत्री छन्द रश्मियां विजयी होकर न केवल सोम रश्मियों को अपने साथ आकर्षित करने में सफल होती हैं, अपितु त्रिष्टुप् और जगती रश्मियों की क्रमशः १ और ३ अक्षर रूप रश्मियों को भी अपने साथ संयुक्त कर लेती हैं। इस कण्डिका में गायत्री के साथ त्रिष्टुप् एवं जगती रश्मियों का संवाद एवं उनके द्वारा अपने खोये हुए अक्षरों को गायत्री छन्द रश्मियों से मांगना और गायत्री का इससे इंकार करना एवं देवों का गायत्री के पक्ष में निर्णय देना, लेखक की अपनी शैली है। इसका तात्पर्य इस प्रकार है-

चार अक्षरों वाली गायत्री छन्द रश्मियां अन्य चार अक्षरों को प्राप्त करके आठ अक्षरों वाली हो जाती हैं। इन आठ अक्षरों वाली रश्मियों को प्राजापत्या गायत्री कहते हैं किंवा इन्हें आर्षी गायत्री का एक पाद मान सकते हैं, जो सम्पूर्ण छन्द का प्रभाव उत्पन्न करता है। इस ब्रह्माण्ड में कोई भी छन्द रश्मि जब किसी अन्य छन्द रश्मि के अक्षरों को अपने साथ संयुक्त कर लेती है, उस समय वे अक्षर भी उस छन्द रश्मि के अंग बन जाते हैं। यह इस सृष्टि का शाश्वत नियम है। उधर इस सम्पूर्ण संघर्ष में त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियां क्रमशः ३ और १ अक्षर वाली ही रह जाती हैं।।
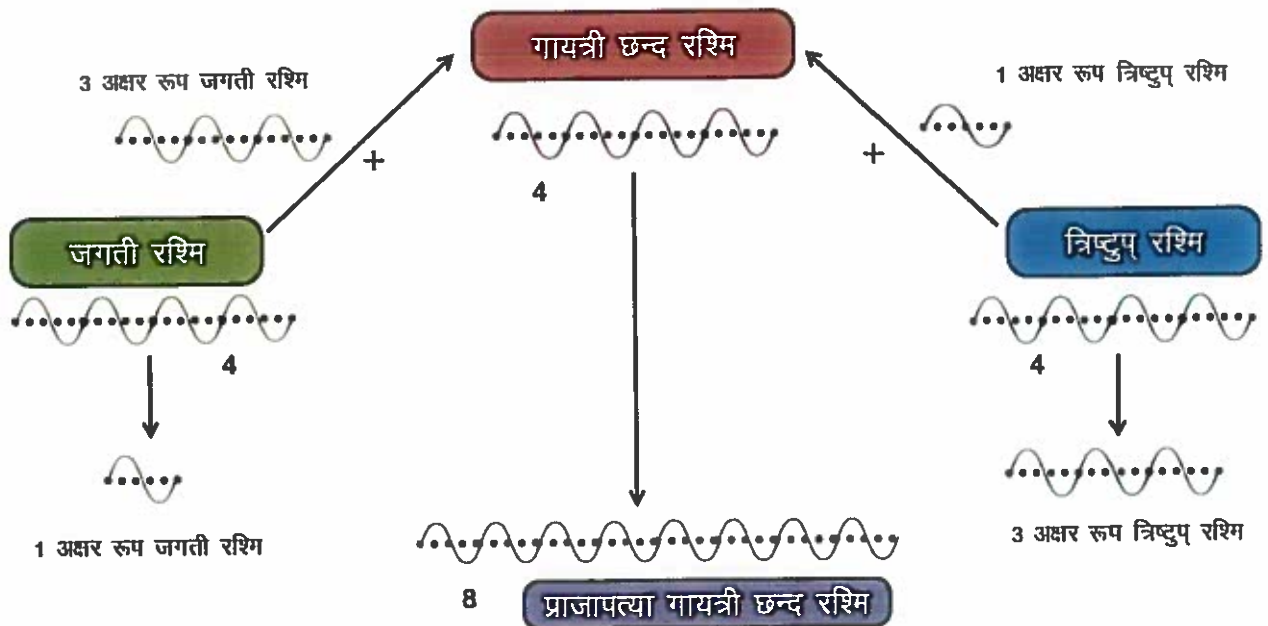
चित्र १३.१ छन्द रश्मियों का रूपांतरण

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में जो छन्द रश्मियां अन्य रश्मियों अथवा उनके अवयव विशेषों को अपने साथ संयुक्त कर लेती हैं, वे अवयव तथा रश्मियां उस आकर्षित करने वाली छन्द रश्मि का ही भाग उसी प्रकार हो जाती है, जिस प्रकार इलेक्ट्रॉन्स किसी आयन द्वारा आकर्षित होने पर उसी का भाग वन जाते हैं और उसके गुणों को भी परिवर्तित कर देते हैं।।

२. साऽष्टाक्षरा गायत्री प्रातःसवनमुदयच्छत्, नाशक्नोत् त्रिष्टुप्त्र्यक्षरा माध्यंदिनं सवनमुद्यन्तुं, तां गायत्र्यब्रवीदायान्यपि मेऽत्रास्त्विति, सा तथेत्यब्रवीत् त्रिष्टुप् तां वै मैतैरष्टाभिरक्षरैरुपसंधेहीति, तथेति, तामुपसमदधाद्, एतद्वै तद्गायत्र्यै मध्यंदिने यन्मरुत्वतीयस्योत्तरे प्रतिपदो यश्चानुचरः, सैकादशाक्षरा भूत्वा माध्यंदिनं सवनमुदयच्छत्।।

{प्रतिपत् = प्रतिपद्यते प्राप्यते या सा (म.द.य.भा.१५.८), प्रवेश, मार्ग एवं आरम्भ (आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- पूर्व खण्ड में हम अवगत हो चुके हैं कि किस प्रकार गायत्री छन्द रश्मियों ने प्रातःसवन अर्थात् अप्रकाशित एवं अविनाशी परमाणुओं में अपना निवास बनाकर उन्हें संभाला था अर्थात् धारण किया था। गायत्री छन्द रश्मियां अष्टाक्षरा होने के कारण ही ऐसा करने में समर्थ हो पाती हैं। उधर त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियां हीनाक्षरा होने के कारण क्रमशः माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन को धारण करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं। उसके पश्चात् माध्यन्दिन एवं तृतीय सवन क्रमशः त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियों के द्वारा कैसे धारण किये जाते हैं? **इसका संकेत** भी पूर्व खण्ड में किया गया है। उसी चर्चा को आगे वढ़ाते हुए महर्षि कहते हैं-

जव तीन अक्षर वाली त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां माध्यन्दिन सवन अर्थात् आकाश तत्त्व को नहीं संभाल पा रही थीं, जिसके कारण आकाश तत्त्व भी अपने कार्य में सक्षम नहीं हो पा रहा था, उस समय अष्टाक्षरा गायत्री छन्द रश्मियां त्र्यक्षरा त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के साथ संयुक्त होकर एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों का निर्माण करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सभी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों में गायत्री छन्द रश्मियां भी विद्यमान होती हैं और यह भी स्पष्ट होता है कि माध्यन्दिन सवन अर्थात् आकाश तत्त्व के अन्दर भी गायत्री छन्द रश्मियों की भी विद्यमानता होती है। इसी कारण माध्यन्दिन सवन में जो मरुत्वतीय शस्त्र के तृच की प्रारम्भ रूप अन्तिम दो ऋचाएं हैं और जो अनुचर रूप तृच हैं, वे गायत्री छन्दस्क हैं। यहाँ मरुत्वतीय शस्त्र के विषय में खण्ड ३.१५ से ३.२० तक पढ़ें। यहाँ अनुचर संज्ञक वे ऋचाएं होती हैं, जो मरुत्वतीय शस्त्र के अन्तर्गत विद्यमान त्रिष्टुवादि ऋचाओं का अनुगमन करती हैं। इन गायत्री छन्द रश्मियों के कारण ही विभिन्न त्रिष्टुप् रश्मियां माध्यंदिन सवन अर्थात् अन्तरिक्ष को धारण कर पाती हैं। इस प्रकरण से दो वातें सिद्ध होती हैं-

(१) प्रत्येक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि में गायत्री रश्मियां विद्यमान होती हैं और वे गायत्री रश्मियां ही कुछ अक्षर रश्मियों के साथ संयुक्त होकर त्रिष्टुप् रश्मियों का रूप धारण करती हैं।

(२) आकाश को धारण करने वाली विभिन्न त्रिष्टुप् रश्मियों के साथ-२ गायत्री रश्मियां भी विद्यमान होती हैं, जिनके सहाय से ही त्रिष्टुप् रश्मियां माध्यंदिन सवन के विभिन्न कर्मों को सम्पादित कर पाती हैं, जिनमें आकाश का धारण भी एक कर्म है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- गायत्री रश्मियां कुछ अक्षर रश्मियों के साथ संयुक्त होकर त्रिष्टुप् रश्मियों का रूप धारण करती हैं। इस कारण ही त्रिष्टुप् रश्मियां तेजस्वी एवं वलवती होकर आकाश तत्त्व को धारण करने में समर्थ होती हैं। इसके साथ ही यह भी एक तथ्य है कि आकाश तत्त्व में त्रिष्टुप् के साथ-२ गायत्री रश्मियों का भी निवास होता है। यहाँ आकाश तत्त्व को धारण करने के गुण से स्पष्ट है कि **गुरुत्वाकर्षण बल अथवा विद्युत् चुम्बकीय बल के कारण आकाश तत्त्व के संकुचित वा प्रसारित**

होने के पीछे इन्हीं त्रिष्टुप् व गायत्री रश्मियों की ही भूमिका रहती है।।
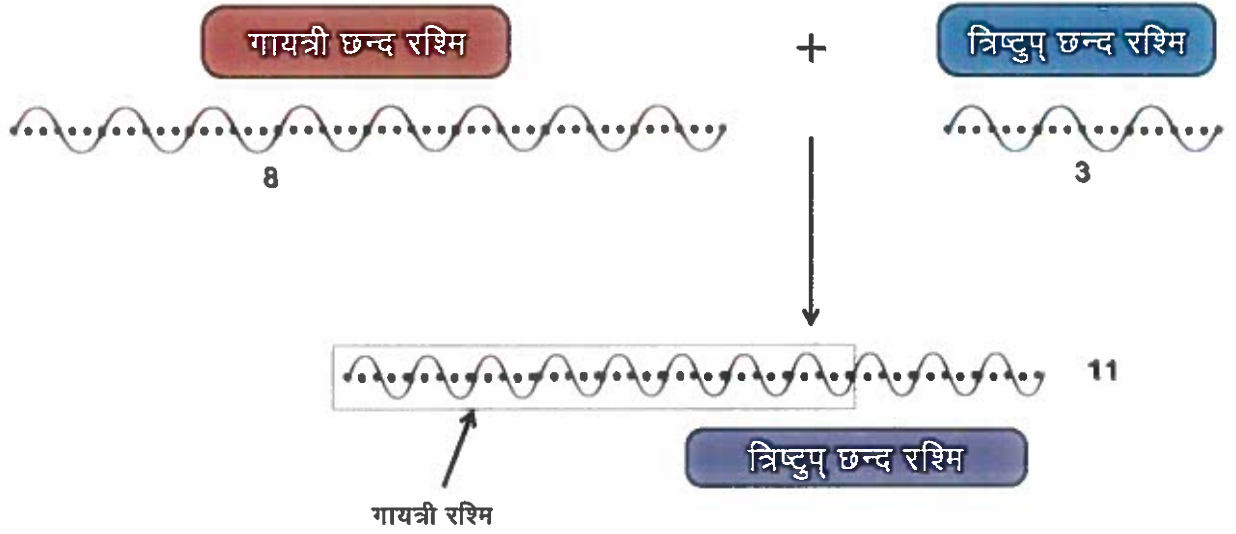
चित्र १३.२ छन्द रश्मियों का रूपांतरण

३. नाशक्नोज्जगत्येकाक्षरा तृतीयसवनमुद्यन्तुं, तां गायत्र्यब्रवीदायान्यपि मेऽत्रास्त्विति, सा तथेत्यब्रवीज्जगती, तां वै मैतैरेकादशभिरक्षरैरुपसंधेहीति, तथेति, तामुपसमदधात्, एतद्वै तद्गायत्र्यै तृतीयसवने यद्वैश्वदेवस्योत्तरे प्रतिपदो यश्चानुचरः, सा द्वादशाक्षरा भूत्वा तृतीयसवनमुदयच्छत्।।
ततो वा अष्टाक्षरा गायत्र्यभवदेकादशाक्षरा त्रिष्टुब्द्वादशाक्षरा जगती।।
सर्वैश्छन्दोभिः समावद्वीर्यैः समावज्जामिभी राध्नोति य एवं वेद।।
एकं वै सत् तत् त्रेधाऽभवत्, तस्मादाहुर्दातव्यमेवं विदुष इत्येकं हि सत् तत् त्रेधाऽभवत्।।४।।

{वैश्वदेव = पाञ्चजन्यं वा एतदुक्थं यद् वैश्वदेवम् सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं - देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितृणां च (ऐ.३.३१), (अप्सरसः = आकाशगताः किरणाः - म.द.य.भा.१८.४०, तस्य सूर्यस्य मरीचयोऽप्सरसः - श.६.४.१.८। सर्पः = इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किंच - श.७.४.१.२५, रज्जुरिव हि सर्पाः - श.४.४.५.३)।}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकार से एकाक्षरा जगती छन्द रश्मियां भी तृतीयसवन का धारण नहीं कर पा रही थीं। इसका तात्पर्य है कि वे हीनाक्षरा हुई जगती रश्मियां प्रकाशित व वैद्युत कणों को धारण किंवा उनका उत्सर्जन व अवशोषण नहीं कर पा रही थीं। इस कारण प्रकाश व विद्युत् कणों का व्यवहार भी सम्यग्रूपेण नहीं चल पा रहा था। उस समय अष्टाक्षरा गायत्री रश्मियां त्रिष्टुप् की तीन अक्षर रश्मियों को साथ लेकर एकाक्षरा जगती छन्द रश्मि के साथ संयुक्त हो गयीं। इस प्रकार द्वादशाक्षरा जगती रश्मियों की उत्पत्ति हुई। इससे स्पष्ट है कि जगती छन्द रश्मियों के अन्दर भी गायत्री रश्मियां विद्यमान होती हैं और इन्हीं के कारण जगती रश्मियां तेज व बल से युक्त होकर नाना कर्मों को सम्पन्न करती हैं। इसी कारण तृतीय सवन में वैश्वदेवशस्त्र की प्रारम्भरूप अन्तिम दो ऋचाएं और एक अनुचर ऋचा गायत्री छन्दस्क हैं। वैश्वदेव शस्त्र के विषय में खण्ड ३.२६ से ३.३१ तक देखें। यहाँ अनुचर व प्रतिपद् ऋचाओं का आशय पूर्ववत् समझें। इन गायत्री छन्द रश्मियों के कारण ही तृतीय सवन को ये जगती

रश्मियां धारण करने में समर्थ होती हैं। इसका तात्पर्य है कि विभिन्न प्रकाशित कणों एवं वैद्युत कणों के विभिन्न व्यवहारों को जगती रश्मियां अपने साथ संयुक्त गायत्री रश्मियों के कारण ही सम्पन्न कर पाती हैं। यहाँ भी पूर्ववत् दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।

(१) गायत्री रश्मियां प्रत्येक जगती रश्मि के अन्दर विद्यमान होती हैं, इसी कारण जगती रश्मियां अपने कार्यों को सम्पन्न करने हेतु आवश्यक तेज व बल प्राप्त कर पाती हैं।

(२) प्रकाशित कणों व वैद्युत कणों को धारण करने, उन्हें उत्सर्जित व अवशोषित करने में क्रियाशील जगती रश्मियों में उनसे पृथक् कुछ गायत्री रश्मियां भी विद्यमान होती हैं, जिनके कारण ही जगती रश्मियां प्रभावशालिनी हो पाती हैं।

इस प्रकार गायत्री रश्मियों के सहाय से ही जगती रश्मियां तृतीय सवन को धारण करने में समर्थ होती हैं। जैसा कि हम पूर्व में अवगत हो चुके हैं कि पूर्व में सभी छन्द रश्मियां चतुरक्षरा ही थीं। कुछ काल पश्चात् ही उनमें अक्षर संख्या का भेद उत्पन्न हुआ। इस घटना के पश्चात् ही गायत्री अष्टाक्षरा, त्रिष्टुप् एकादशाक्षरा एवं जगती द्वादशाक्षरा रूप धारण करती हैं। समान अक्षर वाली होते हुए भी वे सभी रश्मियां कैसे पृथक्-२ स्वरूप व गुणों से युक्त होती हैं? यह बात हम ३.२५.२ में स्पष्ट कर चुके हैं।।

इस प्रकार की दीर्घकालीन प्रक्रिया के पश्चात् इस ब्रह्माण्ड में सब ओर समान बल व तेज वाली तथा समान जाति अर्थात् निर्माण-प्रक्रिया व स्वरूप वाली अनेक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति व समृद्धि होती है। यहाँ समान वीर्य व समान जाति शब्द-युग्म का प्रयोग यह संकेत करता है कि कुछ छन्द असमान जाति वाले होकर भी समान तेज वाले हो सकते हैं तथा असमान तेज व बलयुक्त होकर भी समान जाति वाले हो सकते हैं। यहाँ गायत्री, त्रिष्टुवादि को छन्दों की जाति माननी चाहिए। जैसा कि हम पूर्व में भी स्पष्ट कर चुके हैं कि छन्द न केवल गायत्र्यादि जाति भेद से अपितु वर्णों की संख्या के समान रहते हुए भी वर्ण भेद से भी पृथक्-२ वीर्य वाले होते हैं, इसी कारण यहाँ भी ऐसा संकेत किया गया है।।
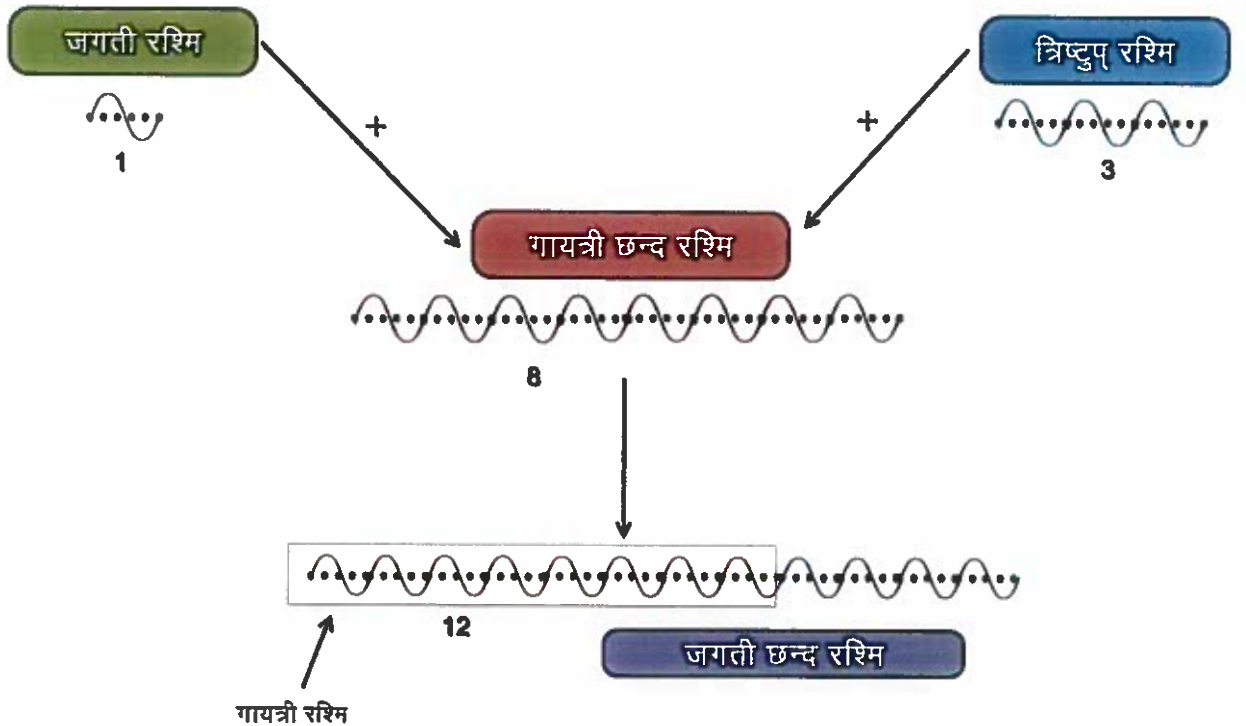
चित्र १३.३ छन्द रश्मियों का रूपांतरण

{विद्वांसो हि देवाः (श.३.७.३.१०)} पूर्व प्रकरण से यह बात स्पष्ट होती है कि गायत्री रश्मियां जो एक प्रकार की ही थीं, विभिन्न अक्षर रश्मियों के संयोग से तीन प्रकार की हो जाती हैं अर्थात् वे ही गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती इन तीन रूपों को प्राप्त करती हैं। अपनी इसी क्षमता के कारण ही गायत्री रश्मियां देव अर्थात् प्राथमिक प्राणों व ऋषि प्राणों के लिए सोम पदार्थ को लाने में सफल होती हैं। इस बात से यह संकेत मिलता है कि चतुरक्षरा गायत्री छन्द रश्मियां, जो पूर्वोक्त कारण व प्रकार से कृशानु संज्ञक तीक्ष्ण रश्मियों को पराभूत करने में सफल हुईं, उसके पीछे त्रिष्टुप् व जगती के छूटे हुए अक्षरों का भी कुछ योगदान अवश्य रहा था किंवा उन दोनों रश्मियों के पूर्व गमन व कृशानु के साथ संघर्ष के कारण कृशानु रश्मियों में कुछ न कुछ दुर्बलता अवश्य आयी होगी, जिसके उपरान्त गायत्री प्राणों का कार्य अपेक्षाकृत सफल रहा। इसका एक आशय यह भी है कि गायत्री के द्वारा अन्य छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् ही इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न दिव्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- गायत्री रश्मियां कुछ अन्य अक्षर रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करके जगती का रूप धारण करती हैं। ऊर्जा व इलेक्ट्रॉन्स आदि के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया में जो जगती रश्मियों की भूमिका होती है, उसके पीछे जगती रश्मियों की अवयवभूत गायत्री रश्मियों एवं जगती रश्मियों के साथ-२ उनसे पृथक् होते हुए अनुगामिनी बनी हुई गायत्री रश्मियों की भी भूमिका होती है। इन्हीं गायत्री रश्मियों के कारण ही जगती रश्मियां तेज व बल से युक्त होकर अपने कार्यों को सम्पन्न कर पाती हैं। गायत्री रश्मियों के द्वारा विभिन्न छन्द रश्मियां बनने के पश्चात् अक्षर भेद से छन्दों का भेद प्रारम्भ होता है। इसके पश्चात् ही विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होकर अनेक दिव्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है। उल्लेखनीय है कि विभिन्न छन्द रश्मियां समान अक्षर संख्या के रहते हुए भी असमान तेज व बल से युक्त हो सकती हैं तथा समान तेज व बल से युक्त होते हुए भी असमान अक्षर संख्या वाली भी हो सकती हैं। इस कारण उनके तेज व बल के पीछे न केवल अक्षर रश्मियों की संख्या अपितु उनके स्वरूप व विन्यास का भेद भी कारण होता है।।

ॐ इति १३.४ समाप्तः ॐ

ॐ अथ १३.५ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. ते देवा अब्रुवन्नादित्यान्,-युष्माभिरिदं सवनमुद्यच्छामेति, तथेति, तस्माद् आदित्यारम्भणं तृतीयसवनमादित्यग्रहः पुरस्तात् तस्य।।
यजत्यादित्यासो अदितिर्मादयन्तामिति मद्वत्या, रूपसमृद्धया, मद्वद्वै तृतीयसवनस्य रूपम्।।

{मदति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४) (मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु)। आदित्यग्रहः = सवनततिर्वा आदित्यग्रहः (कौ.ब्रा.१६.६)।}

व्याख्यानम्- तदनन्तर देव अर्थात् प्राथमिक प्राण एवं अन्य ऋषि प्राण तृतीय सवन को संभालने व धारण करने के लिए आदित्य रश्मियों को प्रेरित करते हैं। यहाँ तृतीय सवन का तात्पर्य है कि जो पदार्थ गायत्री रश्मियों के द्वारा सोम पदार्थ को देव पदार्थों के साथ संयुक्त करके प्रकाशित और विद्युन्मय कणों के रूप में उत्पन्न होते हैं और उनका संघनित रूप ही द्युलोकों का निर्माण करता है। ये द्युलोक ही तृतीय सवन कहलाते हैं। इन लोकों में यद्यपि विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं पुनरपि आदित्य अर्थात् विभिन्न मास एवं ऋतु रश्मियों की विद्यमानता भी द्युलोकों के संरक्षण के लिए अनिवार्य है। ये रश्मियां ही विभिन्न रश्मियों को परस्पर वांधे रखने में सहायक होती हैं। इस वात को हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। यदि यहाँ 'आदित्य' शब्द का अर्थ प्राथमिक प्राण ग्रहण करें, तव 'देव' शब्द का अर्थ मन और वाक् तत्त्व ग्रहण करना चाहिये। ताण्ड्य ब्राह्मण ५.१०.३ में कहा है- "उदाना मासाः"। इससे प्रतीत होता है कि प्राथमिक प्राणों में उदान मास संधानक का कार्य करता है। ये प्राथमिक प्राण किंवा मास आदि रश्मियां आदित्य ग्रह कहलाते हैं। ये तृतीय सवन को विस्तार देने वाले होते हैं। द्युलोकों से उत्सर्जित होने वाली विभिन्न किरणें इन्हीं आदित्यग्रहों की अनुगामिनी होती हैं। इसी कारण कहा है- "आदित्यग्रहं (अनु) गावः (प्रजायन्ते)" (तै.सं.६.५.१०.१)। वस्तुतः द्युलोकों का निर्माण इन आदित्य रश्मियों के द्वारा ही प्रारम्भ होता है। उसके पश्चात् अनेक छन्द रश्मियों के इनके साथ संयुक्त होने से द्युलोकों का निर्माण होता है।।

द्युलोकों के निर्माण के प्रारम्भिक काल में वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से आदित्य देवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

आदित्यासो अदितिर्मादयन्तां मित्रो अर्यमा वरुणो रजिष्ठाः।
अस्माकं सन्तु भुवनस्य गोपाः पिबन्तु सोममवसे नो अद्य।।२।। (ऋ.७.५१.२)

रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्राथमिक प्राण एवं मास आदि रश्मियां विशेष वलवती और तेजस्विनी होती हैं। इसके अन्य प्रभाव से {अदितिः = पृथिविनाम (निघं.१.१; ३.३०)} विभिन्न अप्रकाशित सूक्ष्मतम कण सवके नियन्त्रक प्राण और अपान तत्त्वों के साथ विशेषरूप से संयुक्त होकर अतिशय सक्रिय होकर द्युलोक में विद्यमान विविध रश्मियों का उत्पादन और संरक्षण करते हैं। इसके साथ ही वे पदार्थ विभिन्न सोम रश्मियों को अवशोषित करके द्युलोक की निर्माण प्रक्रिया को तीव्र करते हैं। महर्षि इस छन्द रश्मि की याज्या संज्ञा करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यह छन्द रश्मि योषा रूप होकर प्राथमिक प्राणों व अन्य छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त होकर उत्पादन प्रक्रिया को

तीव्रता से बढ़ाती है। यह ऋचा 'मद्' शब्द से युक्त होने के कारण रूपसमृद्ध कही जाती है। इसी कारण तृतीय सवन अर्थात् द्युलोक में विद्यमान विभिन्न प्रकार के पदार्थ अतीव सक्रिय एवं प्रकाशित होते हैं। इस अति सक्रियता के अभाव में द्युलोकों का निर्माण सम्भव नहीं है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होते समय विभिन्न प्राथमिक प्राण और मास आदि रश्मियां सक्रिय हो उठती हैं। ये मास रश्मियां और उदान रश्मियां अन्य विभिन्न रश्मियों को परस्पर जोड़े रखने में सहायक होती हैं। उसी समय एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर इन प्राथमिक प्राणों एवं मास आदि रश्मियों को विशेष बलवती बनाती है। उस समय वर्तमान विज्ञान द्वारा कहे जाने वाले मूलकण प्राण, अपान एवं उदान से विशेषरूप से संयुक्त होकर विशेष सक्रिय हो उठते हैं, जिससे तारों की निर्माण प्रक्रिया तेज होने लगती है।।

२. नानुवषट्करोति, न भक्षयति, संस्था वा एषा यदनुवषट्कारः, संस्थाभक्षः, प्राणा आदित्या, नेत् प्राणान् संस्थापयानीति।।
त आदित्या अब्रुवन् सवितारं त्वयेदं सह सवनमुद्यच्छामेति, तथेति, तस्मात् सावित्री प्रतिपद्भवति वैश्वदेवस्य, सावित्रग्रहः पुरस्तात् तस्य, यजति 'दमूना देवः सविता वरेण्य' इति मद्वत्या रूपसमृद्धया, मद्वद्वै तृतीयसवनस्य रूपं, नानुवषट्करोति, न भक्षयति, संस्था वा एषा यदनुवषट्कारः, संस्था भक्षः, प्राणः सविता, नेत् प्राणं संस्थापयानीति।।

{भक्षः = प्राणो वै भक्षः (श.४.२.१.२६), (भक्षीय = स्वीकुर्याम् - म.द.य.भा.३.२०)। अनुवषट्कारः = यदवस्फूर्जति सोऽनुवषट्कारः (तै.आ.२.१४.१)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कहते हैं कि द्युलोक बनने की पूर्वोक्त प्रारम्भिक प्रक्रिया में अनुवषट्कार नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय उस पदार्थ में गम्भीर और उच्च ध्वनियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं एवं न बहुत अधिक विक्षोभ तथा प्रकाश, ऊष्मा आदि की तीव्रता ही होती है और न ही गायत्री रश्मियों के द्वारा लाया हुआ सोम पदार्थ ही प्राथमिक प्राणों एवं विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा पूर्णरूपेण अवशोषित ही होता है। इस प्रकार की क्रियाएं सोम आहरण के उपसंहार के रूप में ही होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब द्युलोक का निर्माण सम्पन्नता को प्राप्त होता है और उस समय उसके अन्दर विभिन्न प्रकार के पदार्थ सम्यग्रूपेण सक्रिय हो उठते हैं, उसी समय सोम रश्मियां एवं विभिन्न प्राणादि रश्मियां परस्पर एक-दूसरे का भक्षण करती हैं। ध्यातव्य है कि द्युलोक आदित्य रूपी प्राथमिक प्राण और मासादि रश्मियों के विशाल भण्डार होते हैं। विशेषकर वे ही द्युलोक की निर्माण प्रक्रिया को प्रारम्भ वा प्रदीप्त करते हैं। उस समय सोम रश्मियों की सक्रियता अपेक्षाकृत गौण होती है। जब द्युलोकों का निर्माण पूर्णता को प्राप्त होता है वा होने वाला होता है, उस समय सोम रश्मियां भी अतिशय सक्रिय हो जाती हैं। उसी समय अत्युच्च ध्वनियां एवं गम्भीर विक्षोभ और विस्फोट भी होते हैं। यदि ये क्रियाएं प्रारम्भ में ही होने लगें, तो प्राथमिक प्राणादि पदार्थ शीघ्रता से क्षीणता को प्राप्त कर सकते हैं, जिसके कारण द्युलोकों के निर्माण की प्रक्रिया ही बाधित हो सकती है।।

तदनन्तर उदान प्राण एवं मास रश्मियों ने सविता को प्रेरित करता है। यहाँ 'सविता' शब्द का अर्थ प्राण नामक प्राथमिक प्राण है। इसलिए कहा है- 'प्राणो वै सविता' (ऐ.१.१६), 'अहरेव सविता' (गो.पू.१.३३)। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि 'सविता' शब्द का अर्थ दिव्य वायु एवं विद्युत् तत्त्व भी है। इसी कारण कहा है- "अग्निरेव सविता (जै.उ.४.१२.१.१), विद्युदेव सविता (गो.पू.१.३३), वायुरेव सविता (गो.पू.१.३३)"। इससे सिद्ध होता है कि उदान नामक प्राण विद्युत् के साथ-२ सभी प्राणों को भी प्रेरित करता है और इस प्रेरणा से तृतीयसवन अर्थात् द्युलोक के निर्माण की प्रक्रिया अग्रसर होती है। इसी समय वैश्वदेव शस्त्र रश्मियां भी सक्रिय हो जाती हैं। इस विषय में महर्षि आश्वलायन ने कहा

है- "तत्सवितुर्वृणीमहेऽद्या नो देव सवितरिति वैश्वदेवस्य प्रतिपदनुचरावभूद्देव एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च, प्र द्यावेति दैर्घतमसं, सुरूपकृत्नुमूतये, तक्षन्रथमयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्ण आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वत इति नव वैश्वदेवम्।।" (आश्व.श्रौ.५.१८.५) इस सूत्र के द्वारा महर्षि आश्वलायन नौ ऋचाओं के समूह की वैश्वदेव संज्ञा करते हैं। वे नौ ऋचाएं निम्नानुसार हैं-

(१) श्यावाश्व आत्रेय ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न आशुगामी एवं व्यापक सूक्ष्म रश्मि विशेष से सवितादेवताक एवं निचृदनुष्टुप् छन्दस्क

तत्स॑वितुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम्। श्रेष्ठं॑ सर्व॒धात॑मं॒ तुरं॒ भग॑स्य धीमहि।।१।। (ऋ.५.८२.१)

इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त सविता पदार्थ तेज, बल और भेदक शक्ति से युक्त होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से वे प्रकाशित सविता पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थ को अवशोषित व धारण करने वाले तथा संयोगादि प्रक्रियाओं की बाधाओं को दूर करने वाले होते हैं।

(२) उपर्युक्त ऋषि प्राण से उत्पन्न एवं पूर्वोक्त देवता एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

अ॒द्या नो॑ देव सवितः प्र॒जाव॑त्सावीः॒ सौभ॑गम्। परा॑ दुः॒ष्वप्न्यं॑ सुव।।४।। (ऋ.५.८२.४)

छन्द रश्मि। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण तेजस्वी होता है। इसके विशेष प्रभाव से पूर्वोक्त सविता पदार्थ विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करते हैं तथा सभी पदार्थों की शिथिलता को दूर करके उन्हें सक्रिय व नियन्त्रित करते हैं।

(३) दीर्घतमा ऋषि जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं, से उत्पन्न द्यावापृथिव्यौ देवता वाली एवं विराड् जगती छन्दस्क

प्र द्यावा॑ य॒ज्ञैः पृ॑थि॒वी ऋ॑ता॒वृधा॑ म॒ही स्तु॑षे वि॒दथे॑षु॒ प्रचे॑तसा।
दे॒वेभि॒र्ये दे॒वपु॑त्रे सु॒दंस॒सेत्था धि॒या वार्या॑णि प्र॒भूष॑तः।।१।। (ऋ.१.१५९.१)

छन्द रश्मि। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों प्रकार के पदार्थों की उत्सर्जन व अवशोषण क्षमता में वृद्धि होती है। इसके अन्य प्रभाव से ऋत अर्थात् कारण प्रकृति से वर्धमान महद् वा मनस्तत्त्व द्वारा प्राणापान रूपी देवपुत्रों से उत्पन्न प्रकाशित व अप्रकाशित सूक्ष्म पदार्थ परस्पर मिश्रित होकर संघात को प्राप्त करके अन्य प्राणों के साथ परस्पर एक-दूसरे को नियन्त्रित करते हुए प्रकाशित होते हैं।

(४) मधुच्छन्दा ऋषि प्राण जिसके विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं, से उत्पन्न इन्द्रदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क

सु॒रू॒प॒कृ॒त्नुमू॒तये॑ सु॒दुघा॑मिव गो॒दुहे॑। जु॒हू॒मसि॒ द्यवि॑द्यवि।।१।। (ऋ.१.४.१)

छन्द रश्मि। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तेजस्वी और बलवान् होने लगता है। इसके अन्य प्रभाव से {द्यवि अहर्नाम (निघं.१.९)} इन्द्र तत्त्व सभी प्रकाशित पदार्थों को गति व रक्षा प्रदान करने के लिए अपने तेज से प्रकाशित करता हुआ विभिन्न रश्मियों को उत्पन्न करने लगता है।

(५) आङ्गिरस कुत्स ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न तीक्ष्ण वज्रतुल्य किरणों से उत्पन्न ऋभुदेवताक तथा जगती छन्दस्क

तक्ष॒न्रथं॑ सु॒वृतं॑ विद्म॒नाप॑स॒स्तक्ष॒न्हरी॑ इन्द्र॒वाहा॒ वृष॑ण्वसू।
तक्ष॑न्पि॒तृभ्या॑मृ॒भवो॒ युव॒द्वय॒स्तक्ष॑न्व॒त्साय॑ मा॒तरं॑ सचा॒भुव॑म्।।१।। (ऋ.१.१११.१)

छन्द रश्मि। {ऋभुः = धनंजयः सूत्रात्मा वायुरिव मेधावी (म.द.ऋ.भा.१.१६१.६)} इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से धनंजय व सूत्रात्मा वायु विशेषरूपेण विस्तृत होते हैं। इससे अग्नि के परमाणु तीव्रतम गति प्राप्त कर लेते हैं। इसके अन्य प्रभाव से पितर अर्थात् विभिन्न ऋतु संज्ञक प्राण मनस्तत्त्व के साथ विद्यमान प्राणादि पदार्थों व उनकी क्रियाओं, सूत्रात्मा व धनंजय प्राणों में विशेष बलसम्पन्नता आने लगती है। इसके कारण इन्द्र तत्त्व को वहन करने वाले हरी अर्थात् आकर्षण व प्रतिकर्षण बल तीक्ष्ण होते हैं। विभिन्न प्रकार की रश्मियां {माता = माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (नि.२.८)। वत्सः = अग्निर्ह वै ब्राह्मणो वत्सः (जै.उ.२.५.१.१), अयमेव वत्सो योऽयं (वायुः) पवते (श.१२.४.१.११)} अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर वायु व अग्नि तत्त्व को विविध प्रकार से संगत व विस्तृत करती हैं।

(६) {वेनः = मेधाविनाम (निघं.३.१५), यज्ञनाम (निघं.३.१७), आत्मा वै वेनः (कौ.ब्रा.८.५), (वेनतीति कान्तिकर्मा - निघं.२.६), इन्द्र उ वै वेनः (कौ.ब्रा.८.५)। जरायुः = जरां जीर्णतामेतीति (उ.को.१.४), (जरति अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४, जरा = स्तुतिः - नि.१०.८)। शिशुः = श्यति तनूकरोति (उ.को.१.२०), अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः (श.१४.५.२.२)। रिहन्तीत्यर्चतिकर्मसु पठितम् (निघं.३.१४), रिहन्ति = प्राप्नुवन्ति (म.द.ऋ.भा.१.१८६.७)। विमानः = विमानो ह्यसा आदित्यः स्वर्गस्य लोकस्य (मै.३.३.८)}

वेन ऋषि अर्थात् सतत संयोगार्थ गम्यमान सूत्रात्मा वायु से आवद्ध इन्द्रतत्त्व से उत्पन्न वेनदेवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥१॥ (ऋ.१०.१२३.१)

छन्द रश्मि। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से वह इन्द्रतत्त्व तीव्र तेजस्वी एवं बलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से तेजस्वी इन्द्र तत्त्व तेजस्वी कणों के भण्डार द्युलोक के अन्दर अनेक रंग वाली बलवती किरणों को प्रेरित करता है। {मतिः = वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.८.१.२.७), प्रजा वै मतयः (तै.आ.५.६.८)} उन सब ओर व्याप्त किरणों के संगम स्थान अन्तरिक्ष में सूत्रात्मा वायु से आवेष्टित किरणें शिशु अर्थात् मध्यम व्यान नामक प्राण के समान विभिन्न उत्पन्न छन्द रश्मियों के अन्दर व्याप्त हो जाती हैं किंवा उनको अपने अन्दर व्याप्त कर लेती हैं।

(७) गयः प्लात ऋषि, जिसके विषय में १.६.३ में देखें, से उत्पन्न विश्वेदेवादेवताक एवं पादनिचृज्जगती छन्दस्क

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान्वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥३॥ (ऋ.१०.६३.३)

छन्द रश्मि। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित कणों का विस्तार व उनके संयोग-वियोग में तीव्रता उत्पन्न होती है। इसके अन्य प्रभाव से {पयः = सोमः पयः (श.१२.७.३.१३), पयः ज्वलतो नाम (निघं.२.७ - वै.को. से उद्धृत), पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (नि.२.५)} आकाश तत्त्व विभिन्न प्रकाशित प्राणों, तेजस्वी सोम पदार्थ, विभिन्न अखण्ड अप्रकाशित कणों से युक्त वर्धमान मेघों से युक्त होकर अत्यन्त बलयुक्त किरणों के द्वारा सुगमता से द्युलोक का निर्माण करता है।

(८) वामदेव ऋषि प्राण जिसकी चर्चा हम पूर्व में अनेकत्र कर चुके हैं, से बृहस्पतिदेवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥६॥ (ऋ.४.५०.६)

छन्द रश्मि। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सूत्रात्मा वायु व प्राणापान तत्त्व तेज व बलों को विशेष समृद्ध करते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {नमः = वज्रनाम (निघं.२.२०), अन्ननाम (निघं.२.७), यज्ञो वै

नमः (श.२.४.२.२४)} सबको प्रकाशित करने वाले, पालक व विविध रश्मियों के वृष्टिकर्ता द्युलोक के निर्माणार्थ विभिन्न तेजस्वी किरणें व कण संगत होकर अनेक सुन्दर पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। वे पदार्थ तेज व गति से सम्यग्रूपेण युक्त होते हैं।

(६) राहूगणपुत्र गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण से विश्वेदेवादेवताक एवं निचृज्जगती छन्दस्क

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे।।१।। (ऋ.१.८९.१)

छन्द रश्मि। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से सभी प्रकाशित पदार्थ तीक्ष्णता को प्राप्त करते हुए विस्तृत क्षेत्र में फैलते जाते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {अदब्धासः = अहिंसनीयाः (म.द.भा.), (दभ्नोति वधकर्मा - निघं.२.१९), अपरीतासः = अवर्जनीयाः (म.द.भा.)} उस द्युलोक में सब ओर से कल्याणकारी संयोगादि कर्म होने लगते हैं। वे कर्म अहिंसनीय प्राथमिक प्राणों, जिन्हें रोका नहीं जा सकता, के द्वारा होते हैं। वे प्राण तत्त्व उत्कृष्ट भेदक शक्ति से सम्पन्न व अविनाशी होते हैं। वे प्राण तत्त्व प्रतिक्षण द्युलोक में हो रहीं विभिन्न क्रियाओं को संरक्षण व वृद्धि प्रदान करते हैं।

इस प्रकार इन उपर्युक्त नौ ऋचाओं को महर्षि आश्वलायन वैश्वदेव शस्त्र कहते हैं। इन ऋचाओं में से प्रारम्भिक दो ऋचाएं सवितृदेवताक होने से सावित्र ग्रह नाम से जानी जाती हैं। यह ग्रह (ऋग्द्वय) प्रारम्भ में होने से प्रतिपत् कहलाता है। इसके कारण ही प्राण व विद्युदादि को विशेष प्रेरित किया जाता है। इन नौ ऋचाओं के पश्चात् सवितृदेवताक एवं जगती छन्दस्क

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि।
पिबात्सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि।।४।। (अथर्व.७.१४.४)

की उत्पत्ति अथर्वा ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व से होती है। यहाँ प्राण ही अथर्वा है। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "प्राणो वा ऽअथर्वा" (श.६.४.२.१)। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से विद्युत् तत्त्व विस्तृत होकर तीव्रतया उत्सर्जित व अवशोषित होने लगता है। इसके अन्य प्रभाव से वह प्राण तत्त्व सभी पदार्थों को नियन्त्रित करता हुआ विभिन्न सुन्दर पदार्थों, विभिन्न बलों एवं अन्य प्राणों को धारण करता है। वह प्राण तत्त्व सोम रश्मियों को अवशोषित करता हुआ सब ओर संचरित होते हुए सबको सक्रिय व तृप्त करता है।

महर्षि ने इस ऋचा को याज्या कहा है, इसका तात्पर्य है कि यह छन्द रश्मि योषारूप होकर उपर्युक्त नौ छन्द रश्मियों के साथ संगत होती है। इस ऋचा में 'मद्' की विद्यमानता होने से रूपसमृद्ध है, इस रूपसमृद्धि को पूर्ववत् समझें। शेष भाग का व्याख्यान पूर्व कण्डिका के समान समझें। यहाँ भेद यह है कि पूर्व कण्डिका में प्राण (आदित्य) से तात्पर्य उदान प्राण व मास रश्मियां विशेषरूप से ग्राह्य हैं, जबकि यहाँ सविता (प्राण) का तात्पर्य प्राण नामक प्राण एवं विद्युत् का विशेषतः ग्रहण करना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के निर्माण की प्रारम्भिक स्थिति में न तो तीव्र विक्षोभ व विस्फोट आदि की क्रियाएं होती हैं और न ही तीव्र व गम्भीर ध्वनियां ही उत्पन्न होती हैं। उस समय पदार्थ में ऊष्मा व प्रकाश की मात्रा भी अति उच्च नहीं होती है। ये सभी परिस्थितियां तो तारे के निर्माण की पूर्णता होने पर होती हैं। पूर्वोक्त प्रारम्भिक स्थिति में उदान प्राण एवं मास रश्मियां प्राण नामक प्राण आदि प्राणों व विद्युत् को प्रेरित व सक्रिय करती हैं। इसके पश्चात् कॉस्मिक पदार्थ संघनित होकर तारे के निर्माण की प्रक्रिया को अग्रसर करता है। इस समय दस विविध छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इनके प्रभाव से विभिन्न पदार्थों की सक्रियता, तेजस्विता व उष्णता बढ़ती है। कॉस्मिक पदार्थ संघनित होने लगता है और इसी संघनन के कारण ही उष्णता में वृद्धि होती है। विद्युदावेशित कणों में वृद्धि होती है। विभिन्न रंगों वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं। विशेष परिज्ञानार्थ व्याख्यान भाग पठनीय है।।

३. उभे वा एष एते सवने विपिबति यत्सविता,-प्रातःसवनं च तृतीयसवनं च, तद् यत् पिबवत् सावित्र्यै निविदः पदं पुरस्तात् भवति, मद्वदुपरिष्टात् उभयोरेवैनं तत्सवनयोराभजति, प्रातःसवने च तृतीयसवने च।।
बह्व्यः प्रातर्वायव्याः शस्यन्त, एका तृतीयसवने, तस्मादूर्ध्वाः पुरुषस्य भूयांसः प्राणा यच्चावाञ्चः।।
द्यावापृथिवीयं शंसति, द्यावापृथिवी वै प्रतिष्ठे, इयमेवेह प्रतिष्ठाऽसावमुत्र, तद्यद् द्यावापृथिवीयं शंसति, प्रतिष्ठयोरेवैनं तत्प्रतिष्ठापयति।।५।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कहते हैं कि यह सविता अर्थात् विद्युत् तत्त्व एवं प्राण नामक प्राण प्रातःसवन व तृतीय सवन दोनों को ही विविध प्रकार से पीता है, इसका तात्पर्य है कि प्राण व विद्युत् तत्त्व प्रातःसवन अर्थात् अप्रकाशित व अविनाशी कणों को विविध प्रकार से अवशोषित करने लगता है। इसके साथ ही वे प्राणादि पदार्थ तृतीय सवन अर्थात् प्रकाशित व वैद्युतावेशित कणों को भी अपने साथ संगत करने का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण से लेकर अन्तिम चरण तक सभी पदार्थों का प्राण नामक प्राण तत्त्व के साथ अति निकट संयोग रहता है किंवा यह प्राण तत्त्व इन दोनों ही सवनों में विद्यमान परमाणुओं को अपने में अवशोषित कर लेता है। पूर्वोक्त दस छन्द रश्मियों में से सवितृदेवताक 'पिबवत्' पद अर्थात् जिन में 'पा' धातु विद्यमान है, वह उनमें प्रथम विद्यमान हैं। इन पदों को महर्षि ने 'निवित्' संज्ञा दी है। इसका तात्पर्य है कि यह छन्द रश्मि सभी पदार्थों को पूर्णरूपेण व्याप्त कर लेती है तथा इससे अग्रिम पद में 'मद्' शब्द विद्यमान है, इसका तात्पर्य है कि यह रश्मि इस शब्द के प्रभाव से सभी परमाणुओं को अति सक्रिय एवं प्रकाशमान कर देती है। इन दोनों ही शब्दरूप सूक्ष्म वाग् रश्मियों के द्वारा ये रश्मियां दोनों सवनों को सव ओर से अपने साथ संयुक्त कर लेती हैं। यहाँ आचार्य सायण ने -

"सविता देवः सोमस्य पिबतु" (निविद.४.१) तथा
"सविता देव इह श्रवदिह सोमस्य मत्सत्" (निविद.४.१५)

को उद्धृत करते हुए इनमें विद्यमान 'पिबतु' तथा 'मत्सत्' पदों को उपर्युक्त छन्द में विद्यमान 'पा' व 'मद' के साथ संगत किया है। इससे हमें यह प्रतीत होता है कि ये दोनों निविद् रश्मियां भी उस समय उत्पन्न होकर प्रातःसवन व तृतीय सवन दोनों के साथ उपर्युक्त प्राणादि के अवशोषित होने में अपनी विशेष भूमिका निभाती हैं। ये दोनों निविद् रश्मियां मानो उन छन्द रश्मियों के साथ दोनों सवनों को बांधे रखती हैं।।

यहाँ पूर्व कण्डिकाओं में उद्धृत आश्वलायन श्रौतसूत्र ५.१८.५ पर पुनः विचार किया जाता है। इसमें महर्षि ने गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान से उत्पन्न वायुदेवताक एवं विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क-

एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विꣳशती च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिꣳशता च नियुद्भिर्वायविह ता वि मुञ्च।।३३।। (यजु.२७.३३.)

को उद्धृत करते हैं। इस ऋचा के प्रभाव से विभिन्न छन्द रश्मियां दस गुनी संख्या में अन्य ऋचाओं को वहन करके अनेक गतियों से युक्त होती हैं। यहाँ आचार्य सायण -
"होता यक्षद्वायुमग्रेगाः"(आश्व.श्रौ.५.५.३) को उद्धृत करके प्रातःसवन में इस

वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गन्मनसा यज्ञम्। शिवो नियुद्भिः शिवाभिः।। (यजु.२७.३१)

इत्यादि वायुदेवताक ऋचाओं की उत्पत्ति की चर्चा करते हैं-
'वायुरग्रेगाः' इत्याद्याः वायव्यो ऋचो 'वह्यः' प्रातःसवने शस्यन्ते। तृतीयसवने तु एकैव पूर्वोदाहृता" (सायण भाष्य) यहाँ एक ऋचा से तात्पर्य "एकया च दशभिश्च........" से है। इसी को लक्ष्य करके महर्षि ऐतरेय महीदास इस कण्डिका में कहते हैं-

प्रातःसवन में अनेक वायव्य ऋचाएं उत्पन्न होकर विभिन्न छन्द रश्मियों को अनेक प्रकार की गतियों से युक्त करती हैं जबकि तृतीय सवन में केवल एक वायुदेवताक छन्द रश्मि यह कार्य सम्पन्न करती है। इसका तात्पर्य है कि **सृष्ट्यादि में वायुदेवताक छन्द रश्मियों की मात्रा तृतीय चरण वा तारों के निर्माण की सम्पूर्णता के समय की अपेक्षा अत्यधिक होती है।** इन सवनों की स्थिति मानव शरीर में दर्शाते हुए एक तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा है-

"तस्य (पुरुषस्य) य ऊर्ध्वाः प्राणास्तत् प्रातःसवनम्..... येऽवाञ्चः (प्राणाः पुरुषस्य) तत्तृतीय सवनम्" (कौ.ब्रा.२५.१२)

इसी कारण इस कण्डिका में महर्षि लिखते हैं कि मानव शरीर के ऊर्ध्व भाग में प्राणों की वहुलता होती है अपेक्षाकृत शरीर के निम्नांगों के। उधर पूर्व प्रकरण अर्थात् ब्रह्माण्ड पर विचारें तो यह आशय होगा कि **प्रातःसवन अर्थात् अप्रकाशित कणों में प्राणों की बहुलता तथा प्रकाशित कणों में अपेक्षाकृत न्यूनता होती है।।**

इस कण्डिका में पूर्व कण्डिकाओं में वर्णित वैश्वदेव शस्त्र के अन्तर्गत पूर्वोक्त दीर्घतमा ऋषि प्राण से द्यावापृथिव्यौ देवता एवं विराड् जगती छन्दस्क-

प्र द्यावा॑ य॒ज्ञैः पृ॑थि॒वी ऋ॑ता॒वृधा॑ म॒ही स्तु॑षे वि॒दथे॑षु॒ प्रचे॑तसा।
दे॒वेभि॒र्ये दे॒वपु॑त्रे सु॒दंस॒सेत्था धि॒या वार्या॑णि प्र॒भूष॑तः।।१।। (ऋ.१.१५९.१)

की चर्चा करते हुए कहते हैं कि द्युलोक व पृथिवीलोक सम्पूर्ण पदार्थ के मुख्य आधार हैं। इस ब्रह्माण्ड का अधिकांश पदार्थ इन्हीं में अवस्थित है। यदि यहाँ 'पृथिवी' पद का अर्थ अन्तरिक्ष व भूमि दोनों ग्रहण करें, तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इन्हीं में वा इन्हीं के रूप में विद्यमान माना जा सकता है। 'इयम्' अर्थात् **प्रत्यक्ष पदार्थों का आधार अप्रकाशित लोक तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों का आधार प्रकाशित लोक हैं।** इस कारण दोनों प्रकार के लोकों को प्रतिष्ठित करने हेतु यह द्यावापृथिवी देवता वाली छन्द रश्मि अपनी विशेष भूमिका तारों के निर्माण के समय पूर्वोक्त परिस्थिति में निभाती है। यहाँ आचार्य सायण ने इस ऋग्वेद १.१५९ के सम्पूर्ण सूक्त, जो द्यावापृथिवी देवताक है, के पाठ का विधान किया है। इस ग्रन्थ के अगले दो खण्डों की रचना से संकेत मिलता है कि इनमें एक ऋचा का नहीं वल्कि सम्पूर्ण सूक्त के शंसन की चर्चा की गयी है। इस कारण हम सूक्त १.१५९ की अन्य ऋचाओं पर भी विचार करते हैं-

(१) पूर्वोक्त ऋषि व देवता वाली तथा निचृज्जगती छन्दस्क

उ॒त म॑न्ये पि॒तुर॒द्रुहो॒ मनो॑ मा॒तुर्महि॒ स्वत॑व॒स्तद्धवी॑मभिः।
सु॒रेत॑सा पि॒तरा॒ भूम॑ चक्रतुरु॒रु प्र॒जाया॑ अ॒मृतं॒ वरी॑मभिः।।२।। (ऋ.१.१५९.२)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से {स्वतवः = (तवः बलनाम - निघं.२.९)} आकर्षण व प्रतिकर्षण वलों के सम्यग् वर्तमान के साथ संयोग प्रक्रिया में वाधा न पहुँचाने वाले माता अर्थात् अन्तरिक्ष तथा पिता अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व दोनों का वलरूप व्यापक मनस्तत्त्व विशेष प्रकाशित होता है। इसके कारण अच्छी प्रकार वल व वीर्य से सम्पन्न पूर्वोक्त द्यावापृथिवी रूपी पितर, जो इस सृष्टिकाल तक नित्य स्वरूप वाले होते हैं, विभिन्न पदार्थों की सृष्टि करने में विशेष सक्रिय हो उठते हैं।

(२) पूर्वोक्त ऋषि, देवता व छन्द वाली

ते सू॒नवः॒ स्वप॑सः सु॒दंस॑सो म॒ही ज॑ज्ञुर्मा॒तरा॑ पूर्व॒चित्त॑ये।
स्था॒तुश्च॑ स॒त्यं जग॑तश्च॒ धर्म॑णि पु॒त्रस्य॑ पाथः प॒दमद्व॑याविनः।।३।। (ऋ.१.१५९.३)

की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से {अद्वयाविनः = न विद्यते द्वितीयो यस्मिँस्तस्य (म.द.भा.)। अपः = प्रजननकर्म (नि.११.३१), बलानि (म.द.ऋ.भा.१.६१.

२२)} अच्छे वल व कर्मों से युक्त प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थ व्यापक क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। इस कार्य में सवका पालक मनस्तत्त्व अकेला ही चर व अचर स्वभाव को धारण करके सभी के मार्गों व गतियों की निरन्तर रक्षा करता है।

(३) पूर्वोक्त ऋषि देवता वाली एवं जगती छन्दस्क

ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा।
नव्यंनव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः।।४।। (ऋ.१.१५६.४)

छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसका छान्दस व दैवत प्रभाव लगभग पूर्ववत् है। इसके अन्य प्रभाव से अच्छी प्रकार सक्रिय व्यापक विद्युत् से युक्त, सुप्रकाशित, क्रान्तदर्शी अर्थात् जिनको एकाकी नहीं देखा जा सकता, जिनका समीचीन निवास क्षेत्र अर्थात् आकार व रूप निर्मित हो गया है, वे दोनों समान कारण वाले व साथ-२ जन्म लेने वाले प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थ कण परस्पर मिथुन करके प्रकाशमान अन्तरिक्ष में नवीन-२ ताने वाने का विस्तार करके अनेक पदार्थों को उत्पन्न करते हैं।

(४) पूर्वोक्त ऋषि, देवता व निचृज्जगती छन्दस्क

तद्राधो अद्य सवितुर्वरेण्यं वयं देवस्य प्रसवे मनामहे।
अस्मभ्यं द्यावापृथिवी सुचेतुना रयिं धत्तं वसुमन्तं शतग्विनम्।।५।। (ऋ.१.१५६.५)

छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है। इसके अन्य प्रभाव से प्रकाशमान मनस्तत्त्वरूपी किंवा प्राणों व विद्युत् रूप सविता के द्वारा उत्पन्न प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थ अनेक प्रकार की किरणों व वसु अर्थात् प्राणों से युक्त विभिन्न मरुद् व छन्द रश्मियों से युक्त होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राण तथा विद्युत् तत्त्व सृष्टि किंवा तारों के प्रारम्भ से लेकर उनकी सम्पूर्णता तक सभी पदार्थों में व्याप्त रहते हैं। कुछ छन्द रश्मियां अन्य रश्मियों से मिलकर उनकी गति की विविधता को बढ़ा देती हैं। **वर्तमान विज्ञान द्वारा माने जाने वाले मूलकणों में फोटोंस की अपेक्षा प्राण रश्मियों की मात्रा व विविधता अधिक होती है। जिन कणों को प्रकाशित मानकर फोटोन्स नाम दिया जाता है, वस्तुतः उनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, जब तक कि उनका सम्पर्क किसी अप्रकाशित कण से नहीं होवे।** ध्यातव्य है कि सूक्ष्म दीप्ति तो सभी कणों में विद्यमान होती है, पुनरपि सापेक्षता के आधार पर यह विभाजन माना गया है। **अप्रकाशित कणों में प्राण रश्मियों की विशेष विविधता व बहुलता के कारण उनकी संरचना फोटोन्स की अपेक्षा अधिक जटिल होती है।** मूलकणों को एकाकी देखना सम्भव नहीं है। इन सभी कणों की उत्पत्ति एक ही मूल पदार्थ से लगभग साथ-२ होती है। इनके परस्पर मेल से नाना कणों की उत्पत्ति सतत होती रहती है। **इन सभी कणों में विभिन्न प्राण, मरुद् व छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं।।**

इति १३.५ समाप्तः

ॐ अथ १३.६ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. आर्भवं शंसति।।

ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथमभ्यजयंस्तेभ्यः प्रातःसवने वाचि कल्पयिषंस्तानग्निर्वसुभिः प्रातःसवनादनुदत, तेभ्यो माध्यंदिने सवने वाचि कल्पयिषंस्तानिन्द्रो रुद्रैर्माध्यंदिनात् सवनादनुदत, तेभ्यस्तृतीयसवने वाचि कल्पयिषंस्तान् विश्वे देवा अनोनुद्यन्त, नेह पास्यन्ति नेहेति स प्रजापतिरब्रवीत् सवितारं,-तव वा इमेऽन्तेवासास्त्वमेवैभिः संपिबस्वेति, स तथेत्यब्रवीत् सविता;-तान् वै त्वमुभयतः परिपिबेति, तान् प्रजापतिरुभयतः पर्यपिबत्।।

ते एते धाय्ये अनिरुक्ते प्राजापत्ये शस्येते अभित आर्भवं,-'सुरूपकृत्नुमूतयेऽयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा' इति-प्रजापतिरेवैनांस्तदुभयतः परिपिबति, तस्मादु श्रेष्ठी पात्रे रोचयत्येव यं कामयते तम्।।

तेभ्यो वै देवा अपैवाबीभत्सन्त मनुष्यगन्धात्, त एते धाय्ये अन्तरदधत, 'येभ्यो मातैवा पित्रे' इति।।६।।

{श्रेष्ठम् = एकःश्रेष्ठः यन्तं बहवः पश्चादनुयन्ति (मै.४.६.५), सिम इति वै श्रेष्ठमाचक्षते (जै.ब्रा.३.१११), (सिमः = व्यवस्थया शत्रूणां बन्धकः - म.द.ऋ.भा.१.१०२.६, सिनोति बध्नातीति सिमः - उ.को.१.१४४)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त सूक्त के पश्चात् आर्भव अर्थात् ऋभुदेवताक अङ्गिरस कुत्स ऋषि से उत्पन्न सूक्त की पूर्ववर्णित ऋ.१.१११.१ के अतिरिक्त अन्य चार छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जो निम्नानुसार है-

(१) पूर्वोक्त (पूर्व खण्डोक्त ऋ.१.१११.१ की भाँति) ऋषि, देवता व छन्द वाली

आ नो॑ य॒ज्ञाय॑ तक्षत ऋभु॒मद्वयः॒ क्रत्वे॒ दक्षा॑य सुप्र॒जाव॑ती॒मिष॑म्।
यथा॒ क्षया॑म॒ सर्व॑वीरया वि॒शा तन्नः॒ शर्धा॑य धासथा॒ स्वि॑न्द्रि॒यम्।।२।। (ऋ.१.१११.२)

छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से तारों के निर्माण रूपी सर्गयज्ञ को सम्पन्न करने हेतु सूत्रात्मा व धनंजयादि वायु से युक्त विभिन्न छन्द व मरुद् रश्मियां {पशवो वै वयांसि (श.६.३.३.७)} जिनसे अन्य नाना रश्मियां उत्पन्न होती हैं, विभिन्न प्रकार के बलों को उत्पन्न करने के लिए अच्छी प्रकार तीक्ष्ण होती हैं। सभी दसों प्राथमिक प्राणों {प्राणा वै दशवीराः (श.१२.८.१.२२)} से युक्त विभिन्न उत्पन्न पदार्थ विभिन्न बलों को उत्पन्न करने हेतु विभिन्न पदार्थों के द्वारा किंवा निर्माणाधीन तारों के द्वारा धारण किये जाते हैं।

(२) पूर्वोक्त ऋषि, देवता व छन्द वाली

आ त॑क्षत सा॒तिम॒स्मभ्य॑मृभवः सा॒तिं रथा॑य सा॒तिमर्व॑ते नरः।
सा॒तिं नो॒ जैत्रीं॒ सं म॑हेत वि॒श्वहा॑ जा॒मिमजा॑मिं॒ पृत॑नासु स॒क्षणि॑म्।।३।। (ऋ.१.१११.३)

छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से {तक्षत = निष्पादयत (म.द.ऋ.भा.१.१११.२)। जैत्रीः = जयशीलाः (म.द.ऋ.भा.२.३१.४)। सक्षणिः = समवेता (सूर्य्यः) (म.द.ऋ.भा.२.३१.४), सोढारः (म.द.भा.)} अनेक कर्मों को सम्पादित करने वाले धनंजय एवं सूत्रात्मा वायु रूपी नर नित्य ही विभिन्न सुन्दर रश्मियों के विभिन्न भाग करके उनसे नाना प्रकार की अतीव वेगवती व वलवती किरणों को उत्पन्न करते हैं। उन किरणों के समूहों में प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दोनों प्रकार की जयशील किरणें परस्पर संयुक्त रहती हैं।

(३) पूर्वोक्त ऋषि, देवता व छन्द वाली

ऋ॒भु॒क्षण॒मिन्द्र॒मा हु॑व ऊ॒तय॑ ऋ॒भून्वाजा॑न्म॒रुतः॒ सोम॑पीतये।
उ॒भा मि॒त्रावरु॑णा नू॒नम॒श्विना॒ ते नो॑ हिन्वन्तु सा॒तये॑ धि॒ये जि॒षे।।४।। (ऋ.१.१११.४)

छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। {ऋभुक्षणम् = (ऋभुक्षा = महन्नाम - निघं.३.३)} द्युलोक निर्माण की प्रक्रिया की रक्षा व वृद्धि के लिए व्यापक इन्द्रतत्त्व सोम रश्मियों को अवशोषित करने हेतु विभिन्न छन्द व मरुद् रश्मियों को सव ओर से आकर्षित करता है। इस प्रक्रिया में धनंजय व सूत्रात्मा वायु दोनों ही व्यापक प्राणापान को धारण करके समस्त पदार्थ का यथायोग्य विभाग व संयोग करके सृजन कर्मों को समृद्ध करते हैं।

(४) पूर्वोक्त ऋषि व देवता वाली एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

ऋ॒भुर्भरा॑य॒ सं शि॑शातु सा॒तिं स॑मर्य॒जिद्वाजो॑ अ॒स्माँ अ॑विष्टु।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः॒ सिन्धुः॑ पृथि॒वी उ॒त द्यौः।।५।। (ऋ.१.१११.५)

छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से धनंजय व सूत्रात्मा वायु अधिक तीक्ष्ण होने लगते हैं। इसके अन्य प्रभाव से धनंजय व सूत्रात्मा वायु जो सवके नियन्त्रक होते हैं, उत्तम वल व वेगादि से युक्त होकर किंवा विभिन्न छन्द वा मरुद् रश्मियों से युक्त होकर विविध संघातों के निर्माण के लिए विभिन्न वाधक रश्मियों वा कर्मों का नाश करते हैं। इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु वे सभी रश्मियों को सम्यक् प्रकार से तीक्ष्ण करते हैं। अविनाशी प्राणापान सभी प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों को पृथक्-२ सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार ये चार छन्द ऋभु देवता वाले हैं तथा एक छन्द पूर्व खण्ड में वर्णित किया हुआ है।।

{ऋभवः = ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा (नि.११.१५), आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते (नि.११.१६)}

महर्षि कहते हैं कि उपर्युक्त ऋभु देवताक छन्द रश्मियां, जो विभिन्न देव अर्थात् प्राथमिक प्राणादि पदार्थों में वर्तमान होकर प्रकाशवती होती हैं, अपनी उष्णता के द्वारा सोम रश्मियों को सव ओर से नियन्त्रित करने लगीं। उस समय वे देव प्राणादि पदार्थ उन आर्भव रश्मियों को प्रातःसवन वाक् अर्थात् गायत्री छन्द प्रधान अप्रकाशित कणों के साथ संगत करने का प्रयत्न करने लगे। उस समय अग्नितत्त्व ने वसु अर्थात् गायत्री छन्द रश्मियों के आठ अक्षरों के द्वारा इन आर्भव छन्द रश्मियों को वाहर निकाल दिया। इसका तात्पर्य यह भी है कि वे अप्रकाशित सूक्ष्म कण धनंजय तथा सूत्रात्मा वायु के साथ संयुक्त नहीं हो पाते हैं। इसके उपरान्त प्राथमिक प्राणरूप देव पदार्थ उन आर्भव रश्मियों को माध्यंदिन सवन अर्थात् अन्तरिक्ष किंवा आकाशतत्त्व के अन्दर विद्यमान छन्द रश्मियों अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संगत करने का प्रयास करते हैं किन्तु इन्द्रतत्त्व त्रिष्टुप् के रुद्ररूप ग्यारह अक्षरों के द्वारा इन आर्भव रश्मियों को वहिष्कृत कर देता है। इसका यह भी तात्पर्य है कि आकाश तत्त्व भी धनंजय व

सूत्रात्मा वायु के साथ संगत नहीं हो पाता है। इसके पश्चात् वे देव पदार्थ उन आर्भव छन्द रश्मियों को तृतीय सवन अर्थात् प्रकाशित द्युलोकों वा कणों के साथ विद्यमान छन्द रश्मियों के साथ संगत करने का प्रयास करते हैं परन्तु उन लोकों में विद्यमान विश्वदेव अर्थात् सभी देव पदार्थों ने तीव्रता से उन आर्भव छन्द रश्मियों को निराकृत किया। आचार्य सायण ने- 'अनोनुद्यन्त' का अर्थ 'भृशं निराकुर्वन्' किया है। इस सबका आशय है कि वे आर्भव छन्द रश्मियां व उनमें विद्यमान धनंजय व सूत्रात्मा वायु सोम रश्मियों को अपने साथ अवशोषित करने के तीनों प्रयासों वा स्थानों में असफल रहते हैं। इन तीनों स्थानों में सोम पदार्थ विद्यमान होता ही है। उसके साथ इन ऋभुओं का संयोग न हो पाने से इन तीनों पदार्थों में अत्यन्त तीव्र गति उत्पन्न नहीं हो पाती है। उसके पश्चात् प्रजापति के सविता से संवाद का आशय है कि **मनस्तत्त्व एवं इसका मूल प्रेरक परमात्म तत्त्व रूप प्रजापति सविता अर्थात् प्राण एवं विद्युत् को तीव्रता से सक्रिय करता है।** इसके पश्चात् वे प्राण व विद्युत् किंवा केवल प्राण नामक प्राण तत्त्व उन आर्भव छन्द रश्मियों व उनमें विद्यमान धनंजय व सूत्रात्मा वायु को चारों ओर से आवेष्टित करके उन्हें अपने गर्भ में मानो धारण करके अपना अन्तेवासी बना लेते हैं। उसके पश्चात् प्राण नामक प्राण तथा आर्भव छन्द रश्मियां व उनमें स्थित धनंजय-सूत्रात्मा वायु ने तीनों सवनों व उनमें स्थित सोम रश्मियों का पान किया अर्थात् उनका भली प्रकार अवशोषण किया किंवा उनको अपने अन्दर व्याप्त कर लिया। इसके साथ ही प्रजापति अर्थात् मनस्तत्त्व ने भी उन दोनों ही प्रकार के पदार्थों अर्थात् प्राण नामक प्राण व धनंजय-सूत्रात्मा वायु के साथ मिलकर सब ओर से सोम रश्मियों को अपने साथ संयुक्त कर लिया। यहाँ 'प्रजापति' का अर्थ यज्ञ भी हो सकता है, तब इसका आशय यह है कि प्राणादि पदार्थों के साथ सोम रश्मियों के अवशोषण से संयोगादि प्रक्रिया तीव्र होने लगी। ध्यातव्य है कि मनस्तत्त्व का सोमपान प्राणादि पदार्थों के दोनों ओर संयुक्त हो कर होता है।।

{अनिरुक्तः = अपरिमितं वाऽअनिरुक्तम् (श.५.४.४.१३)} यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास प्रजापति के द्वारा दोनों ओर से ऋभुओं के साथ मिलकर सोमपान को स्पष्ट करते हैं कि आर्भव सूक्त के दोनों ओर अर्थात् पूर्व व पश्चात् दो धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इसे हम पूर्व खण्ड में देख सकते हैं, जहाँ प्रथम आर्भव (ऋ.१.१११.१) छन्द रश्मि से पूर्व

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि।।१।। (ऋ.१.४.१)

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति।।१।। (ऋ.१०.१२३.१)

छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इन दोनों छन्दों को यहाँ प्राजापत्य कहा है अर्थात् इनका देवता प्रजापति बताया है जबकि पूर्वखण्ड में हम वेद संहिताओं में इनके देवता क्रमशः इन्द्र तथा वेन, जो स्वयं इन्द्र का ही रूप है, लिख चुके हैं। इस विषय में कुछ आर्ष मत द्रष्टव्य हैं- "इन्द्र उ वै प्रजापतिः" (शां.आ.१.१), "यन्मनः स इन्द्रः" (गो.उ.४.११) इन प्रमाणों से हमारे पूर्व कण्डिका के व्याख्यान की संगति स्पष्ट हो जाती है। ये दोनों छन्द रश्मियां धाय्या संज्ञक होने से आर्भव रश्मियों द्वारा दोनों ओर से धारण कर ली जाती हैं। यहाँ दोनों ओर से तात्पर्य पूर्व व पश्चात् उत्पन्न होकर धारण होना भी स्वतः स्पष्ट है। इन दोनों छन्द रश्मियों को अनिरुक्त कहने का तात्पर्य है कि ये दोनों रश्मियां दोनों ओर अपरिमित क्षेत्र में फैली हुई होती हैं। यहाँ अनिरुक्त का तात्पर्य यह भी है कि ये रश्मियां परोक्षरूपेण आर्भव रश्मियों से सटी रहती हैं, जैसा कि अगले खण्ड में इन्हें मूल रूप बता कर गुप्त रूप में विद्यमान होने का संकेत किया गया है। इन रश्मियों के सहारे ही प्रजापति अर्थात् इन्द्र किंवा मनस्तत्त्व सोम रश्मियों का सर्वतः पान करता है। **यहाँ मनस्तत्त्व ही श्रेष्ठी है, क्योंकि वही सबको बांधने वाला है तथा छन्द रश्मियां ही पात्र हैं,** यही संकेत "सप्त वै पात्राणि पुनः प्रयोगमर्हन्ति। तानि हि बन्धुमन्ति सप्त छन्दांसि।" (मै.४.८.८) से भी मिलता है। "छन्दांसि वाव देवानां गृहाः" (जै.ब्रा.१.२८०) का भी यही भाव है। यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि वह मनस्तत्त्व, जो सबसे श्रेष्ठ प्राण तत्त्व है, जिस-२ पदार्थ को चाहता है, उस-२ को उन छन्दों के अन्दर प्रकाशित करने में समर्थ होता है। इसका तात्पर्य है कि सभी पदार्थों के प्रत्येक क्रियाकलाप के पीछे मनस्तत्त्व रूपी ऐश्वर्यवान् इन्द्रतत्त्व की महती भूमिका

अवश्य रहती है, किंवा मनस्तत्त्व तक हर क्रिया का सूक्ष्म प्रभाव विशेषरूप से होता है।।

{मनुष्याः = मनुष्या वै विश्वे देवाः (काठ.१९.१२)। गन्धः = संयोग, पड़ौस (आप्टे)} इस कण्डिका से द्वितीय पूर्व कण्डिका में आर्भव छन्द रश्मियों के अग्नि-इन्द्र-वस्वादि देवों के द्वारा तिरस्कृत करने की चर्चा है, उसी प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं। क्यों वे देव इन छन्द रश्मियों को तिरस्कृत करते हैं, इसका कारण बताते हुए कहते हैं-

इन आर्भव रश्मियों के निकट ही दो अन्य धाय्या पूर्वोक्त छन्द रश्मियां-

येभ्यो॑ मा॒ता मधु॑मत्पिन्व॑ते॒ पयः॑ पी॒यूषं॒ द्यौरदि॑ति॒रद्रि॑बर्हाः।
उ॒क्थशु॑ष्मान्वृषभ॒रान्त्स्वप्न॑स॒स्ताँ आ॑दि॒त्याँ अनु॑ मदा स्व॒स्तये॑।।३।। (ऋ.१०.६३.३)

ए॒वा पि॒त्रे वि॒श्वदे॑वाय॒ वृष्णे॑ य॒ज्ञैर्वि॑धेम॒ नम॑सा ह॒विर्भिः॑।
बृह॑स्पते सुप्र॒जा वी॒रव॑न्तो व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम्।।६।। (ऋ.४.५०.६)

विद्यमान होती हैं। इन छन्द रश्मियों का देवता विश्वेदेवा है। काठक संहिता के पूर्वोद्धृत प्रमाण से विश्वेदेवा देवता मनुष्य संज्ञक कहलाता है। इस कारण इन मनुष्य संज्ञक रश्मियों की निकटता ही मनुष्य गन्ध कहलाती है। ये रश्मियां अग्नि-वस्वादि को आर्भव छन्द रश्मियों से दूर रखने हेतु प्रेरित करती हैं किंवा उनमें आर्भव छन्द रश्मियों के प्रति उदासीनता मिश्रित तिरस्कार का भाव उत्पन्न करती हैं। इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रजापति व सविता के हस्तक्षेप के पश्चात् जो क्रिया सम्पन्न होती है, उसकी प्रक्रिया यह है कि इस हस्तक्षेप से ये विश्वेदेवा-देवताक मनुष्य रश्मियां उन अग्नि-वस्वादि के द्वारा अन्तर्धान हो जाती हैं अर्थात् वे छुप जाती हैं, जिससे वे बाधक नहीं रह पाती और उन पूर्वोक्त आर्भव रश्मियों, सविता व प्रजापति द्वारा सोमपान की क्रिया सम्पन्न हो जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सभी दस प्राथमिक प्राण तीक्ष्ण होकर निर्माणाधीन तारों में अनेक प्रकार के बल तीव्र होने लगते हैं। विभिन्न ऊर्जा तरंगों का वेग तीव्रतम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। प्रसिद्ध व परोक्ष ऊर्जा तरंगों की उत्पत्ति होती है। विभिन्न परमाणुओं का संयोग-विभाग तीव्रतर होने लगता है। उस समय उस क्षेत्र में द्रव्य व ऊर्जा दोनों का ही विशाल सम्मिश्रण होने लगता है। इस प्रक्रिया के प्रारम्भ में धनंजय वायु से विभिन्न कण वा तरंगों का विधिवत् संयोग न होने से उनकी गति अपेक्षाकृत मन्द होती है। सूत्रात्मा वायु एवं धनंजय प्राण का मिश्रित रूप विभिन्न मरुद् रश्मियों से सम्यग्रूपेण संयुक्त नहीं हो पाता। इसके पश्चात् प्राण नामक प्राण तत्त्व, विद्युत् के साथ धनंजय व सूत्रात्मा वायु का सम्यक् मिश्रण हो जाने से संयोग-विभाग की प्रक्रिया तीव्रतर हो जाती है। इस प्रक्रिया में मनस्तत्त्व का भी विशेष सहयोग रहता है। यहाँ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के वेग से न्यून वेग वाली ऊर्जा तरंगें अन्वेषण करने योग्य हैं। प्रत्येक क्रिया के पीछे मुख्य प्राण मनस्तत्त्व की अनिवार्य भूमिका रहती है। हर क्रिया में मनस्तत्त्व तक क्रिया का विस्तार होता है। विशेष परिज्ञानार्थ व्याख्यान भाग पठनीय है।।

ॐ इति १३.६ समाप्तः ॐ

ॐ अथ १३.७ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. वैश्वदेवं शंसति।।
यथा वै प्रजा एवं वैश्वदेवं, तद् यथाऽन्तरं जनता एवं सूक्तानि, यथाऽरण्यान्येवं धाय्याः, तदुभयतो धाय्यां पर्याह्यते, तस्मात् तान्यरण्यानि सन्त्यनरण्यानि मृगैश्च वयोभिश्चेति ह स्माऽऽह।।

{प्रजा = राष्ट्रम् (तु.म.द.ऋ.भा.४.३६.६), आदित्या वा इमाः प्रजाः (तां.१८.८.१२)। जनता = जनानां समूहः (आप्टे)। मृगः = परस्वऽपहर्त्ता (तु.म.द.ऋ.भा.१.८०.७), सद्योगामी (तु.म.द.ऋ.भा.५.३२.३), मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः (नि.१.२०), मृग अन्वेषणे (चुरा.)+कः}

व्याख्यानम्- इसके पश्चात् राहूगणो गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण से उत्पन्न विश्वेदेवादेवताक ऋ.१.८९ सूक्त की चर्चा करते हैं। इसकी प्रथम ऋचा पर पूर्वोक्त पांचवें खण्ड में विचार किया गया है। इसकी अन्य ऋचाओं पर क्रमशः विचार करते हैं-

(१) उपर्युक्त ऋषि व देवता वाली जगती छन्दस्क

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे।।२।। (ऋ.१.८९.२)

का दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् परन्तु कुछ मन्द होता है। इसके अन्य प्रभाव से {तिरते = प्रवर्धयते (नि.११.६)। जीवसे = चिरञ्जीवनाय (नि.१२.३९)। सख्यम् = (प्राणो वै सखा भक्षः - श.१.८.१.२३)।}

देव अर्थात् प्राथमिक प्राण तत्त्व सरल एवं कल्याणकारी वाक् तत्त्व के साथ संयुक्त होकर सभी पदार्थों को अपना सख्य भाव प्रदान करते हुए सदैव उनके साथ वर्तमान रहते हैं। वे प्राण विभिन्न छन्दादि रश्मियों व अन्य पदार्थों को सतत जीवन प्रदान करने हेतु उन्हें अच्छी प्रकार तारते वा गतिमान् करते हैं।

(२) उपर्युक्त ऋषि, देवता व छन्द वाली

तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्।।३।। (ऋ.१.८९.३)

छन्द रश्मि। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्। अन्य प्रभाव से वे सभी पदार्थ प्राथमिक प्राणों से भी पूर्व से वर्तमान निविद् रश्मियों के सहयोग से प्राथमिक प्राणों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसके साथ ही वे पदार्थ परस्पर संयोग का स्वभाव रखने वाले सृष्टि काल में अविनाशी प्राणापान एवं प्राणोदान, जिनका बल सबका नियन्ता व अहिंसक होता है, को आकर्षित करते हैं। इसके साथ ही वे पदार्थ सूक्ष्म वाग् रश्मियों के द्वारा सोम रश्मियों व अन्य अनेक छन्द रश्मियों को भी आकृष्ट करते हैं।

(३) पूर्वोक्त ऋषि व देवता तथा भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दस्क

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्।।४।। (ऋ.१.८९.४)

छन्द रश्मि। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से तीव्र आकर्षक व प्रतिकर्षक बल उत्पन्न होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {भेषजम् = उदकनाम (निघं.१.१२), सुखनाम (निघं.३.६)} वे प्राणापान एवं प्राणोदान वाक् तत्त्व के साथ मिश्रित होकर ही गतिशील होते हैं। दिव्य वायु सबको अनुकूलता प्रदान करती है। अप्रकाशित व प्रकाशित पदार्थ, विद्युत्, ऋतु रश्मियां, सोम रश्मियों को प्रेरित व सम्पीडित करके मेघरूप अवस्था को उत्पन्न करती हैं।

(४) पूर्वोक्त देवता व ऋषि वाली निचृज्जगती छन्दस्क

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये।।५।। (ऋ.१.८९.५)

छन्द रश्मि। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव इस सूक्त की प्रथम ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से सबका नियन्ता, पोषक, रक्षक, अहिंसित मनस्तत्त्व, जो चर व अचर दोनों व्यवहारों से युक्त होता है, सबका पालक व धारक बन कर विभिन्न पदार्थों द्वारा आकृष्ट किया जाता है किंवा वह सभी के साथ अति निकटता से संयुक्त होकर नाना व्यवहारों को सम्पादित करता है।

(५) पूर्वोक्त ऋषि व देवता वाली स्वराड् बृहती छन्दस्क

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।६।। (ऋ.१.८९.६)

छन्द रश्मि। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से कॉस्मिक मेघाकृतियां स्पष्ट व तेजयुक्त होने लगती हैं। इसके अन्य प्रभाव से वर्धमान बल वाला, सब पदार्थों में विद्यमान, {नेमिः = वज्रनाम (निघं.२.२०)} अरिष्ट अर्थात् अहिंसित वज्ररूप किरणों वाला, विशाल लोकों का भी पालक व रक्षक इन्द्रतत्त्व सम्यक् प्रकार से अपना विविध व्यवहार करने लगता है।

(६) पूर्वोक्त ऋषि व देवता वाली जगती छन्दस्क

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह।।७।। (ऋ.१.८९.७)

छन्द रश्मि। इसका छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से {पृषदश्वाः = सिक्ताजलाग्निनाऽऽशुगामिनो महान्तः (म.द.ऋ.भा.७.४०.३)। पृश्निमातरः = पृश्निराकाशमन्तरिक्षं मातोत्पत्तिनिमित्तं येषां ते (मरुतः) (म.द.ऋ.भा.१.२३.१०)। सूरचक्षसः = सूरे सूर्ये चक्षांसि दर्शनानि येषान्ते (किरणाः) (म.द.ऋ.भा.१.१६.१)। मनुः = आयुर्वै मनुः (कौ.ब्रा.२६.१७)}

अनेक अनुकूल व्यवहारों से युक्त अनेक प्राणों से उत्पन्न विभिन्न तेजस्वी रश्मियां विद्यमान हैं, जिनमें से अग्नि की व्यापक व शीघ्रगामिनी ज्वालाएं वा धाराएं उत्पन्न होती हैं। उस समय आकाश तत्त्व से उत्पन्न विभिन्न मरुद् रश्मियां विभिन्न संघातों व संग्रामों को प्राप्त करके सब ओर अनेक प्रकाशित पदार्थों को उत्पन्न करती हैं।

(७) पूर्वोक्त ऋषि व देवता वाली तथा विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।।८।। (ऋ.१.८९.८)

छन्द रश्मि। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ तीव्र तेज व वल से युक्त होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {कर्णम् = कर्ता (तु.म.द.य.भा.३३.७१)} विभिन्न क्रियाशील पदार्थों के द्वारा तेजस्वी पदार्थ अनुकूल गति करते हैं और अनेक प्रकार की प्रकाश रश्मियां उत्पन्न करते हैं। इसके कारण वे परस्पर संगमशील पदार्थ अपने कमनीय अर्थात् आकर्षण वल व दीप्ति से युक्त सुदृढ़ सूक्ष्म परमाणुओं द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ को चमकाते हैं। वे ऐसे पदार्थ विभिन्न प्राणादि पदार्थों को धारण करके विशेषतः व्याप्त होते हैं।

(८) पूर्वोक्त ऋषि व देवता वाली त्रिष्टुप् छन्दस्क

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ।।९।। (ऋ.१.८९.९)

छन्द रश्मि। छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से {शतम् = बहुनाम (निघं.३.१)। शरतः = श्रृणाति हिनस्ति अस्मिन्निति (उ.को.१.१३०), श्रृणाति येन सा (म.द.य.भा.१३.५७)। पुत्रासः = वायुरिव बलिष्ठाः (म.द.ऋ.भा.३.५३.७)} उस क्षेत्र में अनेक भेदक छेदक शरद् ऋतु रश्मियां व्याप्त होती हैं। इसके कारण विभिन्न देव पदार्थ अपने व्यापक क्षेत्रों में तेजस्विता को धारण करते हैं। उस समय अनेक वलवान् वायु रश्मियां अनेक अन्य रश्मि वा कणों को उत्पन्न करके पितृरूप धारण करती हैं।

(९) पूर्वोक्त ऋषि, देवता व छन्द वाली

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।।१०।। (ऋ.१.८९.१०)

छन्द रश्मि। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से अविनाशी प्रकाश रश्मियां, अविनाशी विद्युत् रश्मियां, अविनाशी आकाश, अविनाशी माता अर्थात् दिव्य वायु, अविनाशी ऋतु रश्मि रूप पिता व पुत्र रूप प्राणादि अविनाशी तत्त्व, सभी दिव्य छन्दादि रश्मियां अविनाशी, पांच सूक्ष्म कारणभूत पदार्थ किंवा पांच उपप्राण अविनाशी, ये सभी पदार्थ प्रकृष्टता से अनेक प्रकार की क्रियाएं करके नाना पदार्थों को उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार ये कुल मिलाकर नौ तथा एक ३.२९.२ में वर्णित छन्द रश्मि कुल दस छन्द रश्मियां वैश्वदेव शास्त्रान्तर्गत वैश्वदेव सूक्त कहाती हैं।।

यहाँ महर्षि वैश्वदेव शस्त्र की महिमा का वखान करते हैं- जिस प्रकार लोक में विविध प्रजा अर्थात् राष्ट्र विद्यमान होते हैं, उसी प्रकार इन द्युलोकों के निर्माण में वैश्वदेव शस्त्र रूपी विविध रश्मियां होती हैं। जिस प्रकार राष्ट्र में अनेक समूहों की विद्यमानता होती है, उसी प्रकार इस वैश्वदेव शस्त्र में अनेक प्रकार के छन्द रश्मिसमूह विद्यमान होते हैं। जैसा कि हम पूर्व खण्डों में देख चुके हैं कि इस एक वैश्वदेव शस्त्र में सविता, इन्द्र, द्यावापृथिवी ऋभु तथा वैश्वदेवादि सूक्तों की विद्यमानता है। इस कारण यह शस्त्र राष्ट्रों के समान कहा गया है। इस शस्त्र में विद्यमान ये विभिन्न सूक्तरूप छन्द रश्मिसमूह जनता के समान होते हैं अर्थात् जिस प्रकार किसी राष्ट्र में विभिन्न जन समूह होते हैं, वैसे ही शस्त्र के अन्तर्गत विविध सूक्त होते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक जन समूह में अनेक जन होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न सूक्तों में अनेक छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। जिस प्रकार लोक में सभी राष्ट्र, आकार, गुण, स्वभाव व शक्ति से पृथक्-२ होते हैं, उसी प्रकार सभी वैश्वदेव संज्ञक शस्त्र भी पृथक्-२ स्वरूप वाले होते हैं। जिस प्रकार किसी राष्ट्र में विभिन्न जन समूह विभिन्न आकार-स्वरूप वाले होते हैं, उसी प्रकार किसी वैश्वदेव शस्त्र में विभिन्न सूक्त पृथक्-२ स्वरूप व आकार वाले होते हैं। जिस प्रकार किसी जन समूह में प्रत्येक मनुष्य पृथक्-२ धर्मशक्ति वाला होता है, उसी प्रकार किसी सूक्त में विद्यमान प्रत्येक छन्द

रश्मि पृथक्-२ आकार व गुण वाली होती हैं। जिस प्रकार लोक में एक वा अनेक राष्ट्रों के मध्य अनेक निर्जन जंगल भी विद्यमान होते हैं, अनेक जंगल कुछ राष्ट्रों को परस्पर जोड़ने का भी काम करते हैं, उसी प्रकार विभिन्न वैश्वदेव शस्त्रों में वा एक ही शस्त्र के मध्य कुछ धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं, जो उस वा उन शस्त्रों के सूक्तों को परस्पर धारण व संयुक्त रखती हैं। विभिन्न धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियों के मध्य सब ओर से आहाव अर्थात् 'शोंसावोम्' (देखें- २.३३.१) विशेष रश्मि की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार कि लोक में वन (जंगल) में जनसमूह विद्यमान न होने पर भी पशु-पक्षी अवश्य विद्यमान होते हैं और वे सर्वथा प्राणिशून्य नहीं होते हैं। इस प्रकार 'शोंसावोम्' रश्मियों की तुलना वन्य प्राणियों से की गयी है। यह तुलना अनेक वैज्ञानिकों की दृष्टि से है, जिसे महर्षि ने यहाँ प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार मृग आशुगामी तथा वन्य क्षेत्र में सतत विचरण व भक्ष्य अन्वेषण करने वाले होते हैं, उसी प्रकार 'शोंसावोम्' रश्मियां भी आशुगामी तथा अपने द्वारा भक्ष्य धाय्यासंज्ञक रश्मियों में विचरने वाली होती हैं। जिस प्रकार वन्य पक्षी भी अधिक तीव्रगामी होते हैं, उसी प्रकार ये 'शोंसावोम्' रश्मियां भी अति तीव्रगामी व तेजयुक्त होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों के कारण अनेक प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है। विभिन्न प्राथमिक प्राण विभिन्न छन्द प्राणों को गति व सक्रियता प्रदान करते हैं। इस कार्य में वाक् रश्मियों का योगदान अनिवार्य होता है। विभिन्न सोमादि पदार्थ सम्पीडित होकर कॉस्मिक मेघ जैसी रचना बनाते हैं। मनस्तत्त्व चर व अचर दोनों प्रकार व्यवहार करता हुआ सबको आधार प्रदान करता है। विद्युत् की भूमिका तथा प्रकाश व ऊष्मा की मात्रा बढ़ने लगती है। अनेक उत्पन्न रश्मियां शृंखलाबद्ध रूप से अनेक अन्य रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। अनेक रश्मियां विभिन्न द्रव्य कणों को धारण करती हैं। विभिन्न रश्मियां, मूलकण, आकाश तत्त्व सभी इस सृष्टि काल तक विद्यमान रहने से अविनाशी कहलाते हैं। किसी तारे में पृथक्-२ गुणधर्मों, ताप व प्रकाश की भिन्न-२ तीव्रता के अनेक क्षेत्र विद्यमान होते हैं। उन सभी क्षेत्रों में विभिन्न छन्द आदि रश्मिसमूह विद्यमान होते हैं। उन छन्द आदि रश्मियों के भेद से ही तारों में विभिन्न ताप, प्रकाश, वैद्युत क्षेत्र विद्यमान होते हैं। इनमें से कुछ रश्मियां अन्य रश्मियों को परस्पर जोड़े रखती हैं, तो कुछ अन्य सूक्ष्म रश्मियां विभिन्न छन्द रश्मियों को प्रेरित करती रहती हैं। वस्तुतः सभी तारे विभिन्न विविध छन्द रश्मियों के विशाल भण्डार व उन्हीं के सम्पीडित रूप हैं। द्वितीय कण्डिका का भाष्यसार व्याख्यान के समान समझें।।

२. यथा वै पुरुष एवं वैश्वदेवम्, तस्य यथाऽवान्तरमङ्गान्येवं सूक्तानि, यथा पर्वाण्येवं धाय्याः, तदुभयतो धाय्यां पर्याह्वयते, तस्मात् पुरुषस्य पर्वाणि शिथिराणि सन्ति दृहळानि, ब्रह्मणा हि तानि धृतानि।।

{वैश्वदेवम् = वैश्वदेवं तृतीयसवनम् (मै.४.५.६; काठ.३४.१६)। पर्व = पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा (नि.१.२०), पृणाति दानकर्मा (निघं.३.२०), पालकम् (म.द.ऋ.भा.४.१६.६)}

व्याख्यानम्- अब महर्षि वैश्वदेव शस्त्र और इसके ही रूप तृतीय सवन अर्थात् तारों की पूर्णावस्था की तुलना मानव शरीर से करते हुए कहते हैं कि कोई तारा किंवा वैश्वदेव सूक्त पुरुष के शरीर के समान होता है। जिस प्रकार शरीर में अनेक पृथक्-२ अंग होते हैं, उसी प्रकार वैश्वदेव शस्त्र किंवा तारे में अनेक प्रकार की सूक्तरूप रश्मियां विद्यमान होती हैं। शरीर में जिस प्रकार प्रत्येक अंग पृथक्-२ गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होता है, सबका बल भी पृथक्-२ होता है, उसी प्रकार इस शस्त्र वा तारे में पृथक्-२ सूक्तों के गुण, कर्म, स्वभाव, बल व आकार भी भिन्न होते हैं। शरीर में जिस प्रकार विभिन्न अंगों का स्थान भी पृथक्-२ होता है, वैसा ही पृथक्-२ स्थान सूक्त रश्मियों का भी इस शस्त्र वा तारों में होता है। जिस प्रकार शरीर में विभिन्न अंगों के बीच में जोड़ होते हैं, जिनसे वे अंग परस्पर जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार इस सूक्त वा तारों में धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियां पर्व के समान होती हैं। ये पर्व रूप धाय्या रश्मियां बार-२ उन अंगरूप सूक्त रश्मियों को तृप्त करती तथा गति प्रदान करती हैं, जैसा कि शरीर में जोड़ विभिन्न अंगों को गति प्रदान करते हैं। इन पर्वरूप धाय्या रश्मियों के दोनों

ओर आहाव संज्ञक 'शोंसावोम्' सूक्ष्म रश्मियों को संयुक्त किया जाता है। ये रश्मियां उन पर्वों को विभिन्न अंगों से उसी प्रकार बांधे रखती हैं, जिस प्रकार शरीर में कुछ नसें जोड़ों की मांसपेशियों को हड्डियों से बांधे रखती हैं। इनके कारण ही शरीर में जोड़ शिथिल होते हुए भी दृढ़ता से बंधे व गतिमान् भी होते हैं। यदि ये नसें न हों तो जोड़ व अंग बिखर जाएं, इसी प्रकार तारे वा **वैश्वदेव शस्त्र में ये आहाव रश्मियां धाय्या संज्ञक पर्व रूप रश्मियों को अन्य रश्मियों से बांधे रखती हैं।** यदि ऐसा न हो तो धाय्या संज्ञक रश्मियां सूक्त रश्मियों को धारण ही नहीं कर सकें, जिससे सभी रश्मियां ही बिखर कर तारे का अस्तित्त्व ही समाप्त कर दें। इन बंधनों की दृढ़ता इन आहाव रश्मियों के कारण होती है। इन आहाव रश्मियों को ही यहाँ ब्रह्म कहा है, जैसा कि २.३३.१ में कहा है। यहाँ ब्रह्म का अर्थ परमसत्ता परमात्मा भी है, जो सभी का धारण व पोषण करती है। इसी बात को वेद ने कहा है-

येन द्यौरुग्रा पृथिवी चं दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।६।। (यजुर्वेद.३२.६)

यहाँ विशेष ज्ञातव्य है कि जब पुरुष का अर्थ सूर्यादि तारा ग्रहण करें। जैसा कि कहा गया है- "पुरुषो वाव संवत्सरः" (श.१२.२.४.१), "पुरुष एव सविता" (जै.उ.४.१२.१.१७), तब कण्डिका का आशय होगा कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के तारे होते हैं। उन सभी के अन्दर वैश्वदेव शस्त्र संज्ञक रश्मियां पृथक्-२ होती हैं। जिस प्रकार का तारा होता है, उसमें उसी प्रकार विशेष वैश्वदेव शस्त्र संज्ञक रश्मियां होती हैं और पृथक्-२ वैश्वदेव शस्त्र रश्मियों में तदनुसार ही पृथक्-२ सूक्त रश्मियां होती हैं। शेष व्याख्यान पूर्ववत् समझें।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में तारों की अनेक श्रेणियां हैं। उन सभी तारों के आकार, ताप, प्रकाश, गुरुत्वाकर्षण बल व अन्य प्रकार की किरणों की विद्यमानता में भेद होता है वा हो सकता है। यह भेद क्यों होता है? इसका कारण यहाँ स्पष्ट हो रहा है। प्रत्येक तारे में अनेक प्रकार के क्षेत्र होते हैं, जिनमें परस्पर भी कुछ न कुछ भेद होता है। यह भेद इस बात पर निर्भर करता है कि उन क्षेत्रों में किस प्रकार की छन्द रश्मियों व अन्य प्राणों के क्षेत्र विद्यमान हैं तथा उन क्षेत्रों के अंगभूत विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मिसमूह में कौन सी छन्द रश्मियां विद्यमान हैं? इन सब कारणों से ही ब्रह्माण्ड में तारों की अनेक पृथक्-२ श्रेणियां विद्यमान हैं। इन सभी रश्मिसमूहों को परस्पर जोड़ने वाली छन्द रश्मियां भी विद्यमान होती हैं तथा इन संधानक रश्मियों को जोड़ने वाली भी सूक्ष्म रश्मियां होती हैं, जिनके विषय में विशेष जानकारी हेतु व्याख्यान पठनीय है। सबसे ऊपर व अन्त में **महती चेतन परमात्म सत्ता** व **'ओम्'** सूक्ष्म रश्मि सम्पूर्ण तारे में विद्यमान विविध छन्दादि रश्मियों को परस्पर बांधे रखती है।।

३. मूलं वा एतद् यज्ञस्य यद्धाय्याश्च याज्याश्च, तद् यदन्या अन्या धाय्याश्च याज्याश्च कुर्युरुन्मूलमेव तद् यज्ञं कुर्युस्तस्मात् ताः सामान्य एव स्युः।।

{मूलम् = मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा (नि.६.३), वृद्धिहेतुकम् (म.द.य.भा.१.२५), मवते बध्नातीति मूलम् (उ.को.४.१०६)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकरण में किंवा इस ग्रन्थ के सभी प्रकरणों में, जहाँ धाय्या व याज्या संज्ञक ऋचाओं की चर्चा की गयी है, उस विषय में महर्षि कहते हैं कि धाय्या व याज्या संज्ञक ऋचाएं इस सर्गयज्ञ का मूलरूप होती हैं। इस कारण वे छन्द रश्मियां तारे आदि की उत्पत्ति व वृद्धि का कारण होती हैं। यदि इनका अस्तित्त्व न हो, तब सर्गयज्ञ चल ही नहीं सकता। महर्षि यास्क 'मूलम्' पद का निर्वचन करते हैं- "मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा।" (नि.६.३) यहाँ 'मूल' शब्द के अर्थ पर महर्षि यास्क की दृष्टि से विचार करते हैं- वृक्षों की जड़ के यहाँ तीन गुण बतलाये हैं-

(१) यह यदि भूमि से छुड़ा वा उखाड़ ली जाए, तो सम्पूर्ण वृक्ष ही उखड़ जाता है।

(२) यह भूमि में पूर्णरूप से छिपी रहती है।
(३) यह भ्रमित करने वाली होती है अर्थात् छिपी रहने के कारण यह भ्रम हो जाता है कि यह कहाँ तक फैली होती है?

यहाँ महर्षि दयानन्द ने उणादि कोष ४.१०६ की व्याख्या में इसे बांधने वाली कहा है क्योंकि यह जल व खनिज आदि को भूमि से अवशोषित करके सम्पूर्ण वृक्ष को पुष्ट करती है किंवा उसका सम्पूर्ण निर्माण करती है। अपने इस महत्वपूर्ण कर्म से वह सम्पूर्ण वृक्ष के प्रत्येक अंग को परस्पर बांधे रखती है तथा स्वयं भी उनसे बंधी रहती है।

इन यास्क प्रणीत तीन व दयानन्द प्रणीत एक गुण की दृष्टि से याज्या व धाय्या संज्ञक रश्मियों पर विचार करते हैं। इससे निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं-
(१) यदि किसी तारे आदि लोक किंवा सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया में से धाय्या व याज्या संज्ञक छन्द रश्मियों का उच्छेद हो जाए, तो सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया का ही उच्छेद हो जायेगा क्योंकि इनके धारण कर्म के अभाव में सभी छन्द रश्मियां बिखर जाएंगी।

(२) ये छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों में गुप्तरूप से विद्यमान रहकर अपना महत्वपूर्ण कर्म करती हैं। पूर्व खण्ड में इन छन्द रश्मियों को अनिरुक्त कहने का भी यही प्रयोजन है।

(३) इन छन्द रश्मियों के विषय में यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ये कहाँ तक फैली रहती हैं? पूर्वखण्ड में अनिरुक्त का तात्पर्य अपरिमित भी है। इस प्रकार इनके विषय में यह भ्रम सदैव रहता है कि ये कहाँ विद्यमान हैं और कहाँ नहीं हैं।

(४) ये रश्मियां ही अन्य सभी छन्द रश्मियों को अपने साथ-२ परस्पर एक-दूसरे से भी बांधे रखकर तारे आदि को एकरूप में बांधे रखती हैं। यदि ऐसा न होता तो तारे ही बिखर कर समाप्त हो जाते।

अब महर्षि कहते हैं कि याज्या व धाय्या संज्ञक रश्मियों का भी एक नियम होता है। प्रत्येक शस्त्र संज्ञक रश्मिसमूह में कुछ विशेष छन्द रश्मियां ही धाय्या व याज्या के रूप में होती हैं। यदि किसी शस्त्र संज्ञक समूह में उसके अनुकूल छन्द रश्मियों के स्थान पर अन्य छन्द रश्मियां धाय्या वा याज्या के रूप में उत्पन्न हो जाएं, तब वह शस्त्र संज्ञक रश्मिसमूह ही नष्ट वा अस्त-व्यस्त हो जायेगा, इस कारण धाय्या व याज्या के रूप में अनुकूल रश्मियां ही होनी चाहिए और वे अनुकूल रश्मियां विशेष प्रकार की ही होती हैं, यदृच्छया नहीं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक रश्मि वा रश्मिसमूह का धारण किसी निश्चित छन्द रश्मि वा रश्मियों के द्वारा ही होता है, हर किसी के द्वारा नहीं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के छन्द रश्मिसमूह विद्यमान होते हैं। उन सबको परस्पर जोड़ने वाली जो रश्मियां होती हैं, वे इस सृष्टि की जड़ के समान कार्य करती हैं। यदि ये रश्मियां न हों, तो उनसे परस्पर जुड़ सकने वाली रश्मियां बिखर जाएंगी, जिससे विभिन्न लोकों का अस्तित्त्व समाप्त हो जाएगा। ये संधानक रश्मियां परोक्ष रूप में विद्यमान रहती हैं, न कि अन्य संयुक्त रश्मियों की भाँति। यद्यपि ये सभी रश्मियां किसी भी भौतिक तकनीक से प्रत्यक्ष नहीं की जा सकतीं, पुनरपि संधानक रश्मियां अपेक्षाकृत अधिक गुप्त होती हैं। पृथक्-२ रश्मिसमूहों की संधानक रश्मियां भी पृथक्-२ होती हैं, यदृच्छया नहीं। यदि यदृच्छया हो जाएं, तब भी सृष्टि प्रक्रिया अस्त व्यस्त हो जायेगी। वे संधानक रश्मियां ही मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बांधे रखती हैं।।

४. पाञ्चजन्यं वा एतदुक्थं यद् वैश्वदेवम्; सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं,-देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितृणां च; एतेषां वा एतत् पञ्चजनानामुक्थं; सर्व एनं पञ्चजना विदुः।।
एनं पञ्चिन्यै जनतायै हविनो गच्छन्ति, य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- यहाँ 'वैश्वदेवम्' पद के विषय में अन्य दृष्टिकोण से विचारते हैं। एक तत्त्ववेत्ता महर्षि का कथन है- "वैश्वदेवं यद् विश्वेदेवाः समयजन्त तद् वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्" (तै.ब्रा.१.४.१०.५) उधर अन्य ऋषि का कथन है- "प्रजापतिर्वै वैश्वदेवम्" (कौ.ब्रा.५.१)। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न तारे किंवा सम्पूर्ण सृष्टि ही वैश्वदेव कहलाती है क्योंकि इसमें सभी प्रकार के देव अर्थात् क्रियाशील पदार्थ विद्यमान होते हैं, किंवा उनसे ही सकल सृष्टि का निर्माण होता है। यहाँ इस सृष्टि को उक्थरूप कहा है क्योंकि इसमें विद्यमान पदार्थ प्राण व अन्न दोनों प्रकार का व्यवहार करने वाले पदार्थ हैं। ध्यातव्य है कि 'प्राण' का अर्थ भोक्ता व प्रेरक तथा 'अन्न' का अर्थ है- भोग्य व प्रेरित। ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं। कोई प्राण किसी का अन्न हो सकता है, तो कोई अन्न किसी का प्राण हो सकता है। इन दो प्रकार के पदार्थसमूहों को यहाँ पांचजन्य कहकर पांच प्रकार के जन्य अर्थात् उत्पन्न पदार्थों का रूप वा संघात माना है। यद्यपि क्रियाशीलता के गुण के रहते सभी पदार्थ देव हैं पुनरपि इनका एक विभाग कुछ विशेषताओं के कारण स्वयं 'देव' नाम से अभिहित है। इस प्रकार पांच विभाग निम्नानुसार हैं-

(१) देवः - हमारे मत में इसमें सूक्ष्मतम पदार्थ मनस्तत्त्व, सूक्ष्म वाक्तत्त्व व प्राथमिक प्राण सम्मिलित हैं। इस ग्रन्थ में अनेकत्र हम इन्हें इसी रूप में वर्णित करते रहे हैं, इस कारण इसकी पुष्टि हेतु प्रमाण देना अनावश्यक है।

(२) मनुष्यः - इस विषय में हम अब तक वर्णित व्याख्या से पृथक् अन्य दृष्टिकोण से विचार करते हैं। इस विषय में एक सूक्ष्मद्रष्टा ऋषि का कथन है- "एतावन्तो वै मनुष्या एतावन्ति मनुष्यजातानि" (जै.ब्रा.२.१०२) एक अन्य ऋषि का कथन है- "मनुष्याः सर्वां वाचं वदन्ति" (तै.सं.२.१.२.७) हमारे मत में विभिन्न छन्द रश्मियां ही यहाँ मनुष्य जातीय कहलाती हैं क्योंकि ब्रह्माण्ड में समस्त वाणी छन्द रूप ही होती है। इसी बात को ऋषियों ने कहा- "छन्दांसि वै सर्वा वाक्" (जै.ब्रा.२.३०१), "वागु वै छन्दांसि" (मै.१.११.८) अब मनुष्य विषय में अन्य ऋषियों के मन्तव्य पर विचार करते हैं। निघण्टु २.३ में कहा "पञ्चजनाः मनुष्यनाम" यहाँ पञ्चजन अर्थात् मनुष्य का विभाग करते हुए महर्षि यास्क ने कहा- "गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात्। निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।" (नि.३.८) चार वर्णों के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है- "चत्वारो वै वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः" (श.५.५.४.६)। जैसा कि इस ग्रन्थ में अनेकत्र विशेषकर २.३३.१ में ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तीन प्रकार की छन्द रश्मियों की चर्चा कर चुके हैं। शूद्र नामक छन्द रश्मि को समझने हेतु निम्न आर्ष वचनों पर मनन करना अपेक्षित है। "तपो वै शूद्रः" (श.१३.६.२.१०), "आनुष्टुभः शूद्रः" (जै.ब्रा.२.१०२)। यह पद 'शुच शोके' धातु से निष्पन्न है। इस धातु का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में ज्वलन अर्थ में भी हुआ है। इसीलिए कहा है- "शोचति ज्वलतिकर्मा (निघं.१.१६), 'शुचि दीप्तौ' से भी इसकी व्युत्पत्ति होती है। इन अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि **प्रकाश व ऊष्मा से युक्त कुछ अनुष्टुप् छन्द रश्मियां शूद्र संज्ञक कहलाती हैं**। यहाँ महर्षि यास्क ने किन्हीं आचार्यों के मत में देव, गन्धर्व, पितर आदि जो विभाग किए हैं, वह यहाँ इस कारण समीचीन नहीं है क्योंकि ये सभी मनुष्य से पृथक् इस कण्डिका में दर्शाये हैं, इस कारण आचार्य औपमन्यव का मत यहाँ समीचीन है, जिसमें उपर्युक्त चार वर्ण तथा पांचवा निषाद विभाग किया है। हमारे मत में यहाँ 'निषाद' का अर्थ असुर रश्मियां है क्योंकि पूर्व में अनेकत्र हमने 'पाप्मा' से इसी तत्त्व का ग्रहण किया है।

(३) गन्धर्वाऽप्सरसः - हमारे मत में गन्धर्व-अप्सरा के युगल को एक पदार्थ माना है, तभी छः पदार्थों के स्थान पर पांच पदार्थ सिद्ध हो सकेंगे। जितना निकट सम्बन्ध इन दोनों पदार्थों का है, उतना अन्य किसी सम्भावित युग्म का प्रतीत नहीं होता। अब गन्धर्व व अप्सरा दोनों को पृथक्-२ समझने का प्रयास करते हैं-

(क) गन्धर्व- {"अग्निर्ह गन्धर्वः" (श.६.४.१.७), "असौ वाऽ आदित्यो दिव्यो गन्धर्वः" (श.६.३.१.१६), सूर्यो गन्धर्वः (श.६.४.१.८)} महर्षि याज्ञवल्क्य के इन वचनों से स्पष्ट है कि यहाँ अग्नि के परमाणु अर्थात् तरंगें ही गन्धर्व कहलाती हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य अन्यत्र कहते हैं- "वातो गन्धर्वः" अर्थात् वायु गन्धर्व है, इससे यह भी स्पष्ट है कि अग्नि व वायु तत्त्व का संयुक्त रूप इन्द्र तत्त्व भी गन्धर्व

कहाता है।

(ख) अप्सरा- **इस पद का अर्थ है- 'अप्सु सरतीति' अर्थात् जो आपों में विचरण करती है अर्थात् जो अग्नि व इन्द्र तत्त्व में विचरण करती है, वह अप्सरा कहाती है।** उधर एक ऋषि का मन्तव्य है- "अप्सु वै मरुतः श्रितः" (गो.उ.१.२२)। इस कथन से 'अप्सरा' शब्द के अर्थ का सामंजस्य बिठाने पर स्पष्ट होता है कि गन्धर्वों अर्थात् अग्नि व इन्द्र तत्त्व के परमाणुओं वा तरंगों को ही आपः कहते हैं, जिनके अन्दर सतत विचरण करने वाली सूक्ष्म मरुद् रश्मियां ही 'अप्सरा' कहलाती हैं। ये अप्सरा रश्मियां सदैव अग्नि व इन्द्र से संयुक्त रहती किंवा उन्हीं में सतत विचरण करती हैं। अतः इनका युग्म (गन्धर्व+अप्सरा) ही एक पदार्थ के समान कार्य करता है।

(४) सर्पः - इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "इमे वै लोकाः सर्पास्ते ह्यनेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च (श.७.४.१.२५)। इससे स्पष्ट है कि इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान सभी लोक अर्थात् कण ही सर्प संज्ञक होते हैं।

(५) पितर - इस विषय में ये आर्ष वचन मननीय हैं- "पितर ऋतवः" (काठ.३६.११), "मासा वै पितरः" (तै.ब्रा.१.६.८.३; ३.३.६.४)। इससे प्रतीत होता है कि पूर्व में अनेकत्र वर्णित ऋतु व मास रश्मियां ही पितर संज्ञक हैं।

इस प्रकार ये पांच प्रकार के पदार्थ मिलकर वैश्वदेव शस्त्र किंवा तारे वा समस्त सृष्टि का निर्माण करते हैं। सभी विज्ञ जन इस पञ्चजना सृष्टि को जानते हैं किंवा सृष्टि के सभी पदार्थ इस पंचजन पदार्थ के अन्दर ही विद्यमान होते हैं।।

इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त होने पर अर्थात् इन पांचों पदार्थों के उत्पन्न होने पर सभी पदार्थों का हवन करने वाला परमात्मा रूप प्रधान होता इन पांचों प्रकार के पदार्थों को व्याप्त करके उनके परस्पर संगम से विविध सृष्टि का निर्माण करता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थ को हम मुख्यतः पांच श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं। वे श्रेणी हैं-
१. **देव-** इसमें मन, वाक् तथा प्राथमिक प्राण रूपी रश्मियां सम्मिलित हैं।
२. **मनुष्य-** सभी प्रकार की छन्द रश्मियां इस श्रेणी में सम्मिलित हैं।
३. **गन्धर्व-अप्सरा युग्म-** विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें तथा उनके साथ सतत विचरण करने वाली मरुद् रश्मियां। इन्द्र तत्त्व भी इसी में माना जा सकता है।
४. **सर्प-** विभिन्न प्रकार के मूलकणों का समुदाय।
५. **पितर-** मास व ऋतु रश्मियां, जो ऊष्मा उत्पादन व सन्धान प्रक्रिया में विशेष उपयोगी हैं।
इन्हीं पांच प्रकार के पदार्थों के विविध मेल से इस सृष्टि का निर्माण होता है।।

५. सर्वदेवत्यो वा एष होता यो वैश्वदेवं शंसति, सर्वा दिशो ध्यायेच्छंसिष्यन्, सर्वास्वेव तद् दिक्षु रसं दधाति।। यस्यामस्य दिशि द्वेष्यः स्यान्न तां ध्यायेत्, अनुहायैवास्य तद्वीर्यमादत्ते।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त वैश्वदेव शस्त्र को जो उत्पन्न करता है, वह मन व वाक् तत्त्वों का युग्म रूप होता सभी दिव्य पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम एवं सभी दिव्य कर्मों व गुणों से युक्त होता है। यहाँ परमपिता परमात्मा को भी होता माना जा सकता है क्योंकि वह सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वोपरि विराजमान एवं सर्वप्रथम होता है, जैसा कि स्वयं वेद ने कहा-

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽ मर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः।।४।। (ऋ.६.९.४)

इसी की पुष्टि एक तत्त्ववेत्ता ऋषि के वचन **"आत्मा वै यज्ञस्य होता" (कौ.ब्रा.८.६)**, से भी होती है। वह परम होता परमात्मा सभी दिव्य पदार्थों में निरन्तर व्याप्त होकर सब पर शासन करता हुआ अनेकविध संयोग-वियोग प्रक्रियारूप यज्ञ का सतत संचालन करता रहता है। इस सर्गयज्ञ प्रक्रिया में सभी दिशाओं को प्रकाशित किया जाता है अर्थात् सर्वत्र सृजन क्रियाएं संचालित होती रहती हैं। यहाँ **'ध्यै चिन्तायाम्'** धातु का अर्थ हमने **'प्रकाशित होना'** कैसे ग्रहण किया है, इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि **महर्षि दयानन्द** ने **उणादि कोष ४.१५२** के व्याख्यान में इसी धातु से निष्पन्न **'ध्यामा'** शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है- **"ध्यायते स ध्यामा, परिमाणं तेजो वा"**। इससे स्पष्ट है कि यहाँ **'ध्यै'** धातु का अर्थ न केवल तेजस्वी बनाना है, अपितु किसी वस्तु को परिमापित करना भी है, इससे स्पष्ट है कि वह परमात्मा वा मन व वाक् युगल होता सभी दिशाओं के पदार्थ को परस्पर संगत करके न केवल तेजस्वी बनता है, अपितु उसे निश्चित परिमाणयुक्त करने की प्रक्रिया भी प्रारम्भ करता है। इस प्रकार सभी दिशाओं में विद्यमान पदार्थ में वह होता अपना रस प्रदान करता है। इसका आशय है कि वह परमात्मा उस पदार्थ को अपने अधीनस्थ होता मन व वाग् युगल के द्वारा वीर्य वा तेज व बल का धारण कराता वा व्याप्त कराता है। इसके कारण सम्पूर्ण पदार्थ में उत्पादन धर्म का विकास सतत वर्धमान होता चला जाता है।।

यहाँ एक अपवाद भी स्पष्ट किया गया है। ऊपर सभी दिशाओं में तेज व संयोगादि की क्रियाओं के विस्तार की चर्चा है, यहाँ महर्षि स्पष्ट करते हैं कि जिस दिशा में द्वेष करने वाला अर्थात् तीव्र प्रक्षेपक व प्रतिकर्षक सामर्थ्य वाला असुर पदार्थ विशेषरूप में विद्यमान होता है, उस दिशा में तेज व परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती। असुर पदार्थ के विषय में हम अनेकत्र लिख चुके हैं। इस विषय में **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने कहा है- **"तेभ्यः (असुरेभ्यःप्रजापतिः) तमश्च मायां च प्रददौ।" (श.२.४.२.५)** अन्य ऋषि ने कहा- **"नानारूपा असुराः" (जै.ब्रा.१.२७८)**। इसका तात्पर्य है कि यह पदार्थ अन्धकार रूप तथा रहस्यमयी क्रियाओं से युक्त होने के साथ-२ विविध रूपों वाला होता है। यदि इस पदार्थ की प्रधानता वाली दिशा में पूर्वोक्त तेज आदि उत्पन्न होवे, तो उस समय वह तेज इतना प्रबल नहीं होता, जो उस असुर पदार्थ को छिन्न भिन्न कर सके अथवा उसे भी प्रकाशित कर सके। इस कारण वह तेजस्वी पदार्थ स्वयं असुर तत्त्व से पराभूत होकर उसका अनुगामी हो सकता है किंवा उसके तीव्र प्रक्षेपक बल को ग्रहण करके दूर प्रक्षेपित हो सकता है। इस कारण न तो उसका तेज ही सुरक्षित रहेगा और न उसका कोई निश्चित परिमाण ही बन पायेगा बल्कि सब कुछ बिखर जायेगा।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त विविध छन्द रश्मियों के प्रभाव से इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही प्रकाशवती अवस्था उत्पन्न होने लगती है। उस दृश्य पदार्थ में नाना प्रकार की क्रियाएं होकर नाना पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं तथा वह पदार्थ धीरे-२ आकारवान् होने अर्थात् प्रत्यक्ष होने लगता है, व्यक्त रूप धारण करने लगता है। हाँ, इस ब्रह्माण्ड की किसी दिशा विशेष में असुर वा डार्क पदार्थ विद्यमान होता है, जो अपवाद के अतिरिक्त कभी भी प्रकाशित नहीं हो सकता और न ही वह कभी आकार धारण करके विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। कभी-२ यह पदार्थ दुर्बल व सूक्ष्म दृश्य पदार्थ को अपने तीव्र बल से दूर फैंक देता है अथवा अपने साथ मिलाकर उसे भी असुर पदार्थ के रूप में परिवर्तन कर सकता है। इस कारण परमात्म चेतना की समीचीन व्यवस्था के अनुसार प्रायः दृश्य व डार्क पदार्थ में प्रायः संयोग व ऐसा संघर्ष उत्पन्न नहीं होता कि दृश्य पदार्थ का ही डार्क पदार्थ में परिवर्तन हो जाये।।

६. 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इत्युत्तमया परिदधाति। इयं वा अदितिरियं द्यौरियमन्तरिक्षम्।।
'अदितिर्माता स पिता स पुत्रः' इति। इयं वै मातेयं पितेयं पुत्रः।।
'विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना' इत्यस्यां वै विश्वे देवा अस्यां पञ्चजनाः।।
'अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्' इति। इयं वै जातमियं जनित्वम्।।

व्याख्यानम्- पूर्व में वर्णित वैश्वदेव शस्त्रान्तर्गत वैश्वदेव सूक्त की अन्तिम छन्द रश्मि पूर्वोक्त राहूगणो गोतम ऋषि से उत्पन्न विश्वेदेवादेवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्..." (ऋ.१.८९.१०) अन्य सभी छन्द रश्मियों को सब ओर से आवेष्टित कर लेती है। यह छन्द रश्मि अन्य सभी छन्द रश्मियों को बांधे रखती अर्थात् धारण करती है। हम पूर्व में सर्वत्र देखते आये हैं कि परिधानीया ऋचा का यही गुण होता है। यद्यपि इस ऋचा पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं, पुनरपि इस पर पुनः कुछ अन्य रूप में विचार करते हैं-

इस सृष्टि में विद्यमान द्यौ अर्थात् प्रकाश व विद्युत् आदि पदार्थ अखण्डनीय व सृष्टि काल तक अविनाशी होते हैं। यहाँ अखण्डनीय भी किसी भी मानवजनित तकनीक की दृष्टि से ही मानना चाहिए, ईश्वरीय दृष्टि से नहीं। ऐसे अदिति रूप द्यौ व अन्तरिक्ष ही माता, पिता एवं पुत्र रूप होते हैं। इसका तात्पर्य है कि द्यौ एवं अन्तरिक्ष विभिन्न पदार्थों के जनक होने के कारण माता व पिता दोनों का रूप होते हैं। यहाँ कुछ आर्ष वचनों पर विचार करते हैं- "पुमान् वा असौ (द्यौः)" (जै.ब्रा.१.३३०), "योषा वै वेदिः" (श.१.३.३.८) यहाँ द्यौ को पुरुष अर्थात् पिता रूप तथा वेदि को योषा अर्थात् माता का रूप कहा है। हमारे मत में अन्तरिक्ष ही वेदि है क्योंकि इसी में सृष्टि यज्ञ हो रहा है। हमारे मत की पुष्टि इन आर्ष वचनों से भी होती है- "वेदिर्वै सलिलम्" (श.३.६.२.५), सलिलम् का अर्थ महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद ७.४९.१ भाष्य में अन्तरिक्ष ही किया है। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य पुनः कहते हैं- 'इयमेव पृथिवी वेदिः" (श.१२.८.२.३६), "पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्" (निघं.१.३)। इस प्रकार द्यौ तथा अन्तरिक्ष पिता व माता रूप सिद्ध होते हैं। इसके साथ ही ये दोनों पदार्थ भी अपने उपादानभूत कई प्राणादि तत्त्व और अन्तिम उपादान प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण वे उनके पुत्रतुल्य भी हैं।।+।।

पूर्वोक्त विश्वेदेवा पञ्चजना विभिन्न छन्द रश्मियां द्यौ व अन्तरिक्ष का ही रूप हैं क्योंकि इन्हीं के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। यहाँ 'अन्तरिक्षम्' पद पृथिवी तथा आकाश दोनों ही पदार्थों के लिए प्रयुक्त है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रकाशित, अप्रकाशित पदार्थ व अन्तरिक्ष वा आकाश तत्त्व ये तीन ही पदार्थ वा लोक हैं। इन सबकी उत्पत्ति विभिन्न छन्दादि रश्मियों से हुई है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त छन्द रश्मियां इन तीन पदार्थों के रूप में हमारे सम्मुख अभिव्यक्त होती हैं। यहाँ अप्रकाशित पदार्थ के रूप में पृथिव्यादि पदार्थ के साथ-२ असुर तत्त्व का भी ग्रहण कर सकते हैं। इन्हीं तीन पदार्थों में समस्त देव पदार्थ अर्थात् मन, वाक्, प्राथमिक प्राणादि पदार्थ भी अभिव्यक्त होते हैं किंवा ये पदार्थ भी इन तीनों लोकों का उपादान कारण हैं।।

{जातः = जायमानः (नि.८.२१), जनित्वम् = जनिष्यमाणः (नि.१०.२१)} इस सृष्टि में जो भी उत्पन्न हुआ है वा हो रहा है, वह सब कुछ इन अदिति रूप द्यु व अन्तरिक्ष (अन्तरिक्ष एवं पृथिवी) के रूप में ही है। इसे ही हम प्रकट रूप में मान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं, इसी कारण यह 'जातः' कहा है। महर्षि दयानन्द ने 'जातम्' पद का अर्थ ऋग्वेद ३.५१.८ के भाष्य में 'प्रकटम्' किया है। इसके साथ ही जनित्वम् अर्थात् भविष्य में जो भी उत्पन्न होगा, वह भी इन तीन अदिति रूप लोकों का ही रूप होगा। ये तीनों ही एक-दूसरे में परिवर्तित होते हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ हमने द्यौ व अन्तरिक्ष को ही अदिति मानकर व्याख्या की है क्योंकि प्रथम कण्डिका में 'इयम्' इस सर्वनाम का प्रयोग इन्हीं के लिए है। वास्तव में 'अदितिः' पद सापेक्ष है। मूल अदिति तो प्रकृति ही है। कुछ व्याख्या हम पूर्व में कर चुके हैं। प्रसंगानुकूल ही व्याख्यान को समझना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में विद्यमान **वर्तमान विज्ञान द्वारा माने जाने वाले मूलकण, फोटोन्स, आकाश तत्त्व तथा डार्क पदार्थ सम्पूर्ण सृष्टि काल तक बने रहते हैं। कुछ मूल कण प्रकट वा नष्ट होते रहते हैं,** परन्तु यह प्रक्रिया भी सम्पूर्ण सृष्टि काल तक यथावत् चलती रहती है। सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं से बनती है परन्तु ये तत्त्व भी मन, वाक्, प्राणादि पदार्थों से उत्पन्न होते हैं और यह कारण-कार्य की श्रृंखला मूल उपादान प्रकृति तत्त्व पर समाप्त होती है। इस ब्रह्माण्ड में सामान्यतः सृजन विनाश का चक्र चलता रहता है। यथा तारों के विस्फोट होकर पदार्थ का बिखरना, कहीं तारों का सृजन, ग्रह-उपग्रहों का सृजन-विनाश, विभिन्न कथित मूल कणों की उत्पत्ति प्रलय आदि क्रम सतत चलता रहता है। विभिन्न वनस्पतियों, प्राणि-शरीरों, नदी, पर्वत, द्वीप आदि का सृजन व विनाश, अणुओं, कोशिकाओं का भी इसी प्रकार सृजन-विनाश भी देखा जाता है। इतना सब होते हुए भी यह खेल कथित मूल कण, ऊर्जा,

आकाश के अन्तर्गत ही इन्हीं में इन्हीं का इन्हीं के द्वारा यह खेल चलता है। यह खेल महाप्रलय काल में ही बन्द होता है।।

७. द्विः पच्छः परिदधाति, चतुष्पादा वै पशवः पशूनामवरुद्ध्यै, सकृदर्धर्चशः, प्रतिष्ठाया एव, द्विप्रतिष्ठो वै पुरुषश्चतुष्पादाः पशवो, यजमानमेव तद् द्विप्रतिष्ठं चतुष्पात्सु पशुषु प्रतिष्ठापयति।।
सदैव पञ्चजनीयया परिदध्यात्, तदुपस्पृशन् भूमिं परिदध्यात्, तद् यस्यामेव यज्ञं संभरति, तस्यामेवैनं तदन्ततः प्रतिष्ठापयति।।
'विश्वे देवाः शृणुतेमं हवं मे' इति वैश्वदेवमुक्थं शस्त्वा वैश्वदेव्या यजति, यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति।।७।।

व्याख्यानम्– पूर्वोक्त परिधानीया ऋचा की उत्पत्ति व उसके कार्य पर पुनः महर्षि अपना मत व्यक्त करते हैं। वह छन्द रश्मि दो बार तो प्रत्येक पाद पर अल्प विराम के साथ उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रत्येक ऋचा के चार-२ भाग करके दो बार आवृत्ति होती है। ऐसा करने से विभिन्न पशु संज्ञक विभिन्न छन्द व मरुद् रश्मियां नियन्त्रित होती हैं। यहाँ इन रश्मियों को चतुष्पात् कहा है। इसका आशय है कि इन रश्मियों में चार प्रकार की गतियां एक साथ कार्य करती हैं किंवा ये रश्मियां चारों दिशाओं में एक साथ गमन करती हैं क्योंकि कहा गया है– "दिशः पादाः" (तै.सं.७.५.२५.१)। वस्तुतः **छन्द व मरुतों की गति वर्तमान में ज्ञात सभी रश्मियों से भिन्न व रहस्यमय है। इसको किसी भी भौतिक तकनीक से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।** दो बार पादशः आवृत्ति के कारण वह अन्य छन्द वा मरुद्रश्मियों को प्रत्येक पाद से नियन्त्रित करती है। तदुपरान्त एक बार अर्धर्चशः अल्प विराम के साथ आवृत्ति अर्थात् अन्य छन्द रश्मियों की एक-एक बार आवृत्ति पर इसकी कुल तीन बार आवृत्ति हो जाती हैं। {पुरुषः = पुरुषोऽग्निः (श.१०.४.१.६), पुरुषो वै यज्ञः (जै.उ.४.२.१.१), पुरुषः प्रजापतिः (श.६.२.१.२३)} यहाँ 'पुरुष' शब्द का अर्थ वर्तमान ज्ञात अग्नि आदि परमाणु हैं। ये परमाणु दो प्रकार की गतियों से युक्त होते हैं किंवा इनकी गति दो दिशाओं में होती है। उपर्युक्त अर्धर्चशः आवृत्ति के कारण इन परमाणुओं की दोनों दिशाओं में गति की प्रतिष्ठा होती है। इस आवृत्ति के कारण इन परमाणुओं में कुछ मात्रा में स्थैर्य विद्यमान होता है अर्थात् वे किंचिद् घनता व आकार को प्राप्त करते हैं। ये परमाणु छन्दादि रश्मियों की अपेक्षा सघन जबकि पृथिव्यादि परमाणुओं की अपेक्षा अति विरल होते हैं। ध्यातव्य है कि पृथिव्यादि परमाणु भी पुरुष ही कहलाते हैं तथा उनमें भी अग्नि के परमाणुओं की उपर्युक्त विशेषता विद्यमान होती है। इन तीनों आवृत्तियों से विभिन्न संयोज्य अग्न्यादि परमाणुओं को छन्दादि रश्मियों के भीतर प्रतिष्ठित किया जाता है। इस कारण इन दोनों का परस्पर निकट सम्बन्ध होकर परस्पर क्रियाओं के द्वारा विविध सृष्टि होती रहती है।।

{भूमिः = पृथिवीनाम (निघं.१.१), अभूद् इव वा इदमिति तद्भूमेर्भूमित्वम् (तां.२०.१४.२), स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत (तै.ब्रा.२.२.४.२)} यहाँ महर्षि स्पष्ट करते हैं कि इस प्रकरण में सदैव पञ्चजनीया अर्थात् 'पञ्चजन' शब्द विद्यमान हो जैसा कि ऋ.१.८६.१० में विद्यमान है, ऋचा ही परिधानीया ऋचा का पूर्वोक्त कार्य करती है। इस परिधान कर्म को करते समय वे सभी छन्द रश्मियां भूमि अर्थात् प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ को स्पर्श करती हैं अर्थात् उनको सम्पर्क में लेकर प्रभावित करती हैं। महर्षि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सृष्टिविद्याप्रकरण में यजुर्वेद ३१.१ का भाष्य करते हुए 'भूमिम्' पद का अर्थ किया है– "भूमिमारभ्य प्रकृतिर्यन्तं सर्वं जगत्" इसी कारण हमने भूमि का उपर्युक्त अर्थ किया है। उस समय उन सभी पदार्थों में संगतीकरण की प्रक्रिया सम्यग्रूपेण पुष्ट होने लगती है। इस प्रकार उस समय विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थ में संगतीकरण क्रिया प्रतिष्ठित हो जाती है, जिससे सर्वत्र सृजन कार्य विस्तृत होने लगता है। सभी पदार्थ परस्पर नियन्त्रित होकर इस सृष्टि यज्ञ को विस्तृत करते हैं।।

इस समस्त प्रक्रिया के अन्तिम भाग के रूप में ऋजिष्वा ऋषि {ऋजिष्वा = य ऋजीन् गुणान् अश्नुते (तु.म.द.ऋ.भा.१.५१.५) (शुनः = टुओश्वि गतिवृद्ध्योः)।} अर्थात् सरलता आदि गुणों से सम्पन्न एक सूक्ष्म प्राण विशेष से उत्पन्न त्रिष्टुप् छन्दस्क एवं विश्वेदेवादेवताक

विश्वे॑ देवाः शृणुतेमं हवं॑ मे ये अन्तरि॑क्षे य उप॒ द्यवि॒ ष्ठ।
ये अ॑ग्निजि॒ह्वा उत वा॒ यज॑त्रा आ॒सद्या॒स्मिन्ब॒र्हिषि॑ मादयध्वम्॥१३॥ (ऋ.६.५२.१३)

की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्वोक्त परिधानीया ऋचा के समान होता है। इसके अन्य प्रभाव से अन्तरिक्ष में विद्यमान द्यु आदि सभी प्रकाशित-अप्रकाशित पदार्थ परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित करते हुए संगत होते हैं। वे सभी विभिन्न छन्दादि रश्मियों में विद्यमान रहकर तीव्र रूप से सक्रिय होने लगते हैं। महर्षि ने इस ऋचा को याज्या संज्ञा दी है, इससे सिद्ध होता है कि यह ऋचा वैश्वदेव सूक्तरूप सभी छन्द रश्मियों के साथ योषा रूप में व्याप्त हो जाती है। इसके व्याप्त होने पर ही सृजन प्रक्रिया वास्तव में अग्रसर होती है। इससे सभी विश्वेदेवादेवताक छन्द रश्मियां परस्पर संगत होती हैं। इसके कारण सभी दिव्य पदार्थ तृप्त होते हैं अर्थात् पूर्ण सक्रिय होते हैं॥

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न छन्दादि रश्मियां चार गतियों से युक्त होती हैं। ये गतियां रहस्यमय तरीके से चारों दिशाओं में एक साथ होती हैं। इसे किसी भी मानव तकनीक से यथार्थतः जानना सम्भव नहीं है। विभिन्न **कथित मूलकणों की दो गतियां होती हैं, जो दो दिशाओं के बीच होती हैं।** इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को एक विशेष त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की निश्चित प्रक्रिया से उत्पत्ति व आवृत्ति के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इनके नियन्त्रित होने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ नियन्त्रित प्रक्रिया के अधीन विविध सृजन कर्मों को विस्तार देता रहता है। **यह सृष्टि किसी अनियन्त्रित, आकस्मिक व अव्यवस्थित प्रक्रिया से न तो प्रारम्भ होती है और न इस प्रकार से संचालित होती है। परम चेतन तत्त्व सर्वोच्च बुद्धिमत्ता व सर्वशक्तिमत्ता से इसे नियन्त्रित व निर्मित करता है।** इस ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण पदार्थ और उसके सूक्ष्मतम कणों से लेकर विशालतम लोकों, गैलेक्सियों तक सभी पदार्थ विभिन्न रश्मियों के द्वारा उसी चेतन सत्ता ने परस्पर जोड़ रखे हैं। सम्पूर्ण ताना बाना इन रश्मियों के द्वारा बुना जाता है॥

इति १३.७ समाप्तः

ॐ अथ १३.८ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. आग्नेयी प्रथमा घृतयाज्या, सौमी सौम्ययाज्या, वैष्णवी घृतयाज्या, त्वं सोम पितृभिः संविदान इति सौम्यस्य पितृमत्या यजति।।
घ्नन्ति वा एतत् सोमं यदभिषुण्वन्ति, तस्यैतामनुस्तरणीं कुर्वन्ति,-यत्सौम्यः; पितृभ्यो वा अनुस्तरणीं, तस्मात् सौम्यस्य पितृमत्या यजति।।

{घृतम् = स घृङ्ङकरोत् यद् घृतस्य घृतत्त्वम्। (काठ.२४.७; क.३७.८), पशवो घृतम् (मै. १.१०.७, काठ.२२.६)। सौमी = सौमीर्ह्यापः (काठ.२३.८), सौमीर इमाः प्रजाः (मै.१.१०. ६; ३.१०.४)।}

व्याख्यानम्- इस विषय में महर्षि आश्वलायन अपने श्रौतसूत्र ५.१६ में लिखते हैं-
त्वं सोम पितृभिःसंविदान इति सौम्यस्य याज्या।।१।।
तं घृतयाज्याभ्यामुपांशूभयतः परियजन्ति।।२।।
घृताहवनो घृतपृष्ठो अग्निर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम। घृतप्रुषस्त्वा हरितो वहन्तु घृतं पिबन्यजसि देव देवानिति पुरस्तात्। उरु विष्णो विक्रमस्वो-रुक्षयाय नस्कृधि घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिरेत्युपरिष्टात्। अन्यतरतश्चेदग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वामित्युपांश्वेव।।३।।

उपर्युक्त द्वितीय सूत्र से स्पष्ट होता है कि घृतयाज्या संज्ञक छन्द रश्मियां दो प्रकार की होती हैं, जो सौम्य याज्या संज्ञक रश्मि को दोनों ओर से अच्छी प्रकार संगत करती हैं। यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि पूर्व में वैश्वदेव संज्ञक शस्त्र रश्मियों के प्रकरण में जो विश्वेदेवादेवताक याज्या की चर्चा पूर्व खण्ड में की गई है, उसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त द्युलोक आदि के निर्माण की प्रक्रिया में सर्वप्रथम अग्नि देवताक घृतयाज्या संज्ञक छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसी छन्द रश्मि को महर्षि आश्वलायन ने अपने उपर्युक्त तृतीय सूत्र में वर्णित किया है यह छन्द रश्मि है- "घृताहवनो घृतपृष्ठो.........देव देवान्"। यह रश्मि अग्नि देवताक एवं निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क है। इसको घृतयाज्या इस कारण कहा है क्योंकि इसमें 'घृत' शब्द अनेक वार आवृत्त हुआ है। इसके प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र तेजस्वी और संदीप्त होता है। यहाँ 'घृत' शब्द के प्रभाव से अनेक तीक्ष्ण मरुद् रश्मियां, जिनमें 'घृङ्' नामक सूक्ष्म रश्मियां विद्यमान होती हैं, उत्पन्न होती हैं। इसी कारण कहा है- "वज्रो घृतम् (काठ.२०.५), तेजो वा एतत् पशूनां यद् घृतम् (ऐ.८.२०)"। ये रश्मियां सब ओर से संगत होती हैं, अग्नि तत्त्व को आश्रय देती हैं और घृतप्रुष अर्थात् विभिन्न रश्मियों को अपने आकर्षण से संगत करके दाह और छेदन आदि गुणों से युक्त करती हैं, {प्रुषः = प्रुष दाहे, प्रुष स्नेहनसेवनपूरणेषु} जिससे विभिन्न देवों का यजन होता है। इस घृतयाज्या के अतिरिक्त एक अन्य घृतयाज्या जो अगस्त्य ऋषि अर्थात् विभिन्न प्राणादि पदार्थों के दोषों को दूर करने वाले एक सूक्ष्म प्राण विशेष से उत्पन्न विष्णुदेवताक एवं निचृदनुष्टुप् छन्दस्क "उरु विष्णो ....यज्ञपतिं तिर" भी उत्पन्न होती है। पूर्व घृतयाज्या वेद संहिताओं में विद्यमान नहीं है, परन्तु यह घृतयाज्या यजुर्वेद ५.३८ एवं ५.४१ में भुरिगनुष्टुप् के रूप में 'तिर' शब्द के पश्चात् 'स्वाहा' शब्द के साथ विद्यमान है। इसके प्रभाव से द्युलोकों में व्यापक विद्युत् तीव्र तेज से युक्त होने लगती है और वह अच्छी तरह सब पदार्थों में व्याप्त होकर विभिन्न परमाणुओं को संगत करते हुए तारती है। इस विद्युत् को यहाँ घृतयोनि कहा है। इससे संकेत मिलता है कि इस विद्युत् को उत्पन्न करने में प्राणापान की भूमिका के अतिरिक्त 'घृङ्' रश्मियों की भी भूमिका होती है।

इन दोनों घृतयाज्याओं के मध्य एक सौम्ययाज्या भी उत्पन्न होती है, जो इन दोनों घृतयाज्याओं

को उपांशु अर्थात् अव्यक्त रूप से संगत करती है। यह सौम्ययाज्या प्रगाथ काण्व ऋषि अर्थात् सक्रिय सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न सोमदेवताक एवं पाद निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

त्वं सो॑म पि॒तृभिः॑ संविदा॒नोऽनु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ त॑तन्थ।
तस्मै॑ त इन्दो ह॒विषा॑ विधेम व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम्॥१३॥ (ऋ.८.४८.१३)

होती है। इसके प्रभाव से द्युलोकों में विद्यमान सोम पदार्थ तीव्र और हिंसक तेज बल से युक्त होता है। यह सोम पदार्थ विभिन्न ऋतु रश्मियों को अपने साथ संगत करता हुआ प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों प्रकार के कणों को उत्पन्न करता है। इस छन्द रश्मि को महर्षि ने 'सौमी' संज्ञा दी है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि यह रश्मि विभिन्न द्युलोकों में व्याप्त होकर विविध परमाणुओं की सृष्टि करने में सहायक होती है। यहाँ सायण भाष्य में पाद टिप्पणी में आचार्य षड्गुरुशिष्य को उद्धृत करते हुए लिखा है- "वैश्वदेवशस्त्रमुक्तं चरुः सौम्योऽथ कथ्यते" इसका आशय यह है कि षड्गुरुशिष्य के मत में 'सौमी' का अर्थ 'सोम का चरु' है। 'चरु' शब्द का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं- "चरतेर्वा समुच्चरन्त्यस्मादापः" (नि.६.११)। उधर निघण्टुकार ने १.१० में 'चरु' को मेघनाम में पढ़ा है। इससे स्पष्ट होता है कि यह छन्द रश्मि सोम रश्मियों के ऐसे मेघों का निर्माण करने में सहायक होती है, जिनमें से प्राणापानादि सूक्ष्म वायु सतत ऊपर की ओर उठते रहते हैं। यह छन्द रश्मि 'पितृ' शब्द से युक्त होने के कारण ऋतु प्राण रश्मियों के साथ विशेषरूप से संगत होती है॥

{अभि+सु = मिश्रण करना, छिड़कना - (आप्टेकोष)} इस सौमी याज्या की विशेषता बताते हुए महर्षि कहते हैं कि ये रश्मियां सोम पदार्थ को सब ओर से प्राप्त एवं सम्पीडित करके परस्पर मिश्रित करती हैं। यहाँ 'हन्' धातु के अर्थ गति और हिंसा दोनों ही हैं तथा 'गति' का अर्थ गमन और प्राप्ति दोनों ही ग्राह्य हैं। इस कारण ये रश्मियां विभिन्न सोम रश्मियों को अधिक क्रियाशील बनाती हैं और उनके शीतलता गुण का हनन करके उनमें उष्णता उत्पन्न करती हैं। यह याज्या रश्मि उस सम्पूर्ण सोम पदार्थ को अनुकूलता से तारते हुए विभिन्न पदार्थों का निर्माण करने में सहयोग करती है। यह सोम याज्या ऋतु संज्ञक प्राणों के साथ संगत होकर ही अनुस्तरणी का कार्य करती है अर्थात् इन ऋतु संज्ञक प्राणों के साथ संगत होकर ही यह उपर्युक्त प्रकार से सोम पदार्थ के साथ क्रिया करती है। इस विषय में एक तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा है- "यत् पदिबद्धानुस्तरणी स्यात्, प्रमायुको यजमानः स्यात्।" (तै.सं.६.१.७.५)। {मायुः = परिमितो मार्गः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६४.२६), वाङ्नाम (निघं.१.११), यो मिनोति प्रक्षिपति स मायुः अथवा मिनोति प्रक्षिपत्यूष्माणमिति मायुः (उ.को.१.१)। पदिः = पद्यते गम्यते या श्रीः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२५.२)।} इसका आशय यह है कि ये सौमी छन्द रश्मियां विभिन्न रश्मियों के आश्रयभूत प्राणापानादि रश्मियों के साथ संगत होकर पूर्वोक्तानुसार अनुस्तरणी का कार्य करती हैं। उस समय यजमान अर्थात् विभिन्न संयोज्य पदार्थ विभिन्न वाङ् रश्मियों के साथ संगत होकर अपने निर्धारित मार्ग में प्रक्षिप्त वा व्यवस्थित किये जाते हुए उष्णता को प्राप्त करते जाते हैं। इस याज्या का सम्बन्ध विभिन्न ऋतु रश्मियों के साथ विशेषरूप से होने के कारण यह छन्द रश्मि 'पितृ' शब्द से युक्त होती है॥

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न तारों के निर्माण में सर्वप्रथम ऊष्मा और विद्युदावेशित कणों को उत्पन्न करने वाली छन्दादि रश्मियां उत्पन्न होती हैं। उसके पश्चात् उनमें निकटवर्ती वा दूरवर्ती सोम रश्मियां मिश्रित होने लगती हैं। इसके पश्चात् पदार्थ संघनित होता हुआ नाभिकीय संलयन की अवस्था को प्राप्त करने लगता है। विभिन्न कणों का परस्पर विलय होने लगता है और प्रकाश व ऊष्मा तीव्र और तीव्रतर अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। इसमें उपर्युक्त दो निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों और एक निचृदनुष्टुप् छन्द रश्मि की विशेष भूमिका होती है। इस समय विभिन्न कणों को आकर्षण बल के कारण निश्चित मार्ग प्राप्त होता है, पुनरपि वे अति सक्रिय तथा तीव्र बलों से युक्त होते हैं और एक क्षेत्र विशेष में सीमित होकर भी अत्यन्त तीव्र गति से परस्पर संगत होकर नवीन तत्त्वों एवं ऊर्जा का निर्माण करते हैं। विशेष जानकारी के लिए व्याख्यान भाग पठनीय है॥

२. अवधिषुर्वा एतत् सोमं यदभ्यसुषवुः, तदेनं पुनः संभावयन्ति॥

पुनराप्याययन्त्युपसदां रूपेण उपसदां किल वै तद्रूपं यदेता देवता अग्निः सोमो विष्णुरिति।।
प्रतिगृह्य सौम्यं होता पूर्वश्छन्दोगेभ्योऽवेक्षेत।।
तं हैके पूर्वं छन्दोगेभ्यो हरन्ति, तत् तथा न कुर्यात्, वषट्कर्ता प्रथमः सर्वभक्षान् भक्षयतीति ह स्माऽऽह तेनैव रूपेण। तस्माद् वषट्कर्तैव पूर्वोऽवेक्षेताथैनं छन्दोगेभ्यो हरन्ति।।८।।

{उपसदः = ऋतव उपसदः (श.१०.२.५.७), मासा उपसदः (श.१०.२.५.६), अर्द्धमासा उपसदः (श.१०.२.५.५), अहोरात्राणि वा ऽउपसदः (श.१०.२.५.४), इमे लोका उपसदः (श.१०.२.५.८), तपो ह्युपसदः (श.३.६.२.११)। सम्+भू = उत्पन्न होना, मिलना, पकड़ने योग्य होना (आप्टे कोष)। वधः = बलनाम (निघं.२.६), वज्रनाम (निघं.२.२०)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकार से जब सोम पदार्थ को सम्पीडित किया जाता है, वही उसके वध के समान होता है। इसका तात्पर्य पूर्व कण्डिका में स्पष्ट किया गया है, पुनरपि उसी की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि सम्पीडित हुआ सोम पदार्थ अपनी शीतलता एवं मन्द गति को त्यागकर उष्णता एवं तीव्र गतिशीलता को प्राप्त कर लेता है और वे सोम रश्मियां जो मन्द दीप्ति और मन्द बल से युक्त थीं, वे ही सम्पीडित होकर तीव्र दीप्ति और बल से युक्त हो जाती हैं। इस प्रकार मानो उनके पूर्व स्वरूप का अन्त हो जाता है और इस प्रक्रिया से वह सोम पदार्थ एक नये रूप में उत्पन्न होकर अग्नि आदि पदार्थों के साथ मिश्रित होने लगता है। उस सोम तत्त्व की ग्राह्यता बढ़ जाती है अर्थात् वह पूर्वापेक्षा आकर्षणादि व्यवहारों से अधिक युक्त होने लगता है।।

इसके साथ ही वह सोम पदार्थ बार-२ उपसद के रूप में व्याप्त वा समृद्ध होने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि उस सोम पदार्थ में प्राणापान, विभिन्न मास एवं ऋतु रश्मियां भली प्रकार मिश्रित होने लगती हैं। जिसके कारण ऊष्मा में वृद्धि होते हुए विभिन्न लोकों का रूप भी उत्पन्न होने लगता है। वस्तुतः वे सभी लोक अग्नि, सोम और विष्णु देवों के ही संयुक्त रूप हैं अर्थात् उनके अन्दर विभिन्न प्राण, मरुद् रश्मियां एवं विद्युदग्नि आदि पदार्थ विद्यमान होते हैं।।

{अव = अवेति विनिग्रहार्थीयः (नि.१.३), पृथक्करणे (म.द.ऋ.भा.१.२४.१३)। ईक्ष = ईक्षे ईशिषे (नि.६.६)} विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा व्याप्त एवं सक्रिय अवस्था से पूर्व होता अर्थात् प्राणादि प्राथमिक प्राणों द्वारा उपर्युक्त सौम्य अवस्था किंवा सौमी याज्या का ग्रहण करके विभिन्न सौम्य आदि परमाणुओं को पृथक्-२ नियन्त्रित किया जाता है। इसका कारण बताते हुए महर्षि कहते हैं कि प्राथमिक प्राणों रूप होता सर्वप्रथम वषट्कार का रूप धारण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे ही सर्वप्रथम परस्पर संगत होकर वज्र का रूप धारण करते हैं और ऐसा करके वे देवों के पात्र अर्थात् उनके रक्षक और आधार बन जाते हैं और इसी कारण वे ही सर्वप्रथम सभी प्राणादि रश्मियों का भक्षण करके विभिन्न पदार्थों का निर्माण करना प्रारम्भ करते हैं। इसके पश्चात् विभिन्न छन्दादि रश्मियां उस सोम पदार्थ को अवशोषित वा अपने अधीन करती हैं। कुछ विद्वानों का यह मत है कि पहले छान्दस अवस्था सोम आदि रश्मियों का अवशोषण करती है, उसके पश्चात् प्राथमिक प्राणादि पदार्थ ऐसा करते हैं, इस बात का महर्षि खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह क्रम उपयुक्त नहीं है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के निर्माण के पूर्व जो पदार्थ विरल अवस्था में इस ब्रह्माण्ड में बिखरा होता है, वह अपेक्षाकृत ठण्डा, अन्धकार पूर्ण एवं अल्प गुरुत्वबल युक्त होता है परन्तु जब वह पदार्थ सम्पीडित वा सघन रूप धारण करने लगता है, तब उसमें अनेक रश्मियां सक्रिय होकर उसके अन्दर गुरुत्व बल, ऊष्मा, प्रकाश एवं विद्युत् चुम्बकीय बल आदि की वृद्धि होती चली जाती है। इस प्रकार वह पदार्थ धीरे-२ विभिन्न लोकों वा तारों का रूप धारण करने लगता है। इस प्रक्रिया में प्राणादि

प्राथमिक रश्मियां पहले नियन्त्रक का कार्य करती हैं, उसके पश्चात् छन्दादि रश्मियां सक्रिय होकर सम्पूर्ण पदार्थ को व्याप्त करती हैं।।

꧁ इति १३.८ समाप्तः ꧂

अथ १३.१ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्, दिवमित्यन्य आहुः, उषसमित्यन्ये, तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तं देवा अपश्यन्। अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैच्छन्, य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविन्दन्, तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरन्, ताः संभृता एष देवोऽभवत् तदस्यैतद् भूतवन्नाम।। भवति वै स योऽस्यैतदेवं नाम वेद।।

{दुहिता = कन्या इव किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.४.५१.१०), (कन्या = कन्या कमनीया भवति, क्वेयं नेतव्येति वा, कमनेनानीयत इति वा, कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः - नि.४.१५), दूरे हिता कान्तिरुषा (तु.म.द.ऋ.भा.१.११६.१७), दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा (नि.३.४)। ऋश्यः = ऋषति गच्छतीति ऋष्यः (उ.को.४.११३)। (कण्डिका में मूर्धन्य के स्थान पर तालव्य का प्रयोग छान्दस है।) रोहितः = अंगुलिनाम (निघं.२.५), एतद्वा आसां (गवाम्) बीजं यद्रोहितं रूपम् (मै.४.२.१४), ये (पशवः) प्रथमे ऽसृज्यन्त ते रोहिताः (जै.ब्रा.३.२६३)। मृत्युः = मृत्युर्वै यमः (मै.२.५.६), अपानान्मृत्युः (ऐ.आ.२.४.१)। प्रजापतिः = सोमो हि प्रजापतिः (श.५.१.५.२६)}

व्याख्यानम्- जैसा कि हम अवगत हैं कि अप्रकाशित और शीतल सूक्ष्म सोम पदार्थ से विभिन्न प्रकार की आग्नेय तरंगें उत्पन्न होती हैं। इस कारण ये तरंगें प्रजा और वह सोम पदार्थ प्रजापति कहलाता है। जब ये प्रजारूप तरंगें अपने उत्पादक सोम पदार्थ से दूर स्थित होकर आकर्षण-विकर्षण तथा प्रकाश आदि गुणों से युक्त होती हैं तथा सोम पदार्थ की अति सूक्ष्म रश्मियों को आवश्यक मात्रा में अवशोषित वा आकर्षित करती रहती हैं, ऐसी अवस्था में वे किरणें सोमरूपी प्रजापति की दुहिता कहलाती हैं। यह प्रजापति रूप सोम पदार्थ अति विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ प्रायः अव्यक्त अवस्था में होता है। इसी कारण कहा है- अनिरुक्त उ वै प्रजापतिः (कौ.ब्रा.२३.२; तां.७.८.३), अपरिमितः प्रजापतिः (तै.सं.१.७.३.२; काठ.८.१३)।

वस्तुतः यह सोम तत्त्व मनस् तत्त्व एवं सूक्ष्म वाग्रश्मियों का मिश्रण होता है। उधर वे दुहिता रूप तरंगों को कुछ विद्वान् 'दिव' तो कुछ 'उष' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उन तरंगों में विद्युत्, प्रकाश और ऊष्मा का सम्मिश्रण होता है। महर्षि ऐतरेय महीदास उनकी रोहित संज्ञा भी करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे तरंगें रक्तवर्णीय किंवा ऐसे विकिरणों के बीज के समान होती हैं और इनकी दीप्ति सुन्दर होती है। इस प्रकार का शोभन किरण समूह प्रजापति रूप सोम तत्त्व से दूर स्थित होता है और वह सोम तत्त्व ही उन किरणों की कान्ति का उत्पादक होता है परन्तु वह सम्पूर्ण सोम तत्त्व उन किरणों के साथ सम्पर्क में नहीं आता। यदि ऐसा हो जाये तो सम्पूर्ण किरण समूह अप्रकाशित और शीतल सोम तत्त्व से मिलकर कान्तिहीन हो जाये। जब कभी सृष्टि में इस प्रकार की स्थिति बनती है कि सम्पूर्ण सोम तत्त्व ही उन किरणों की ओर प्रवाहित होने लगे, तो यह क्रिया सृष्टि निर्माण में बाधक सिद्ध होती है। महर्षि ऐसी ही अवाञ्छनीय घटना का यहाँ वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में कभी ऐसी घटना घटी, उस समय देवों अर्थात् मन और वाक् तत्त्व से संयुक्त प्राथमिक प्राणों ने इसे रोकने का प्रयास किया परन्तु वे उस सोम पदार्थ के प्रवाह को नहीं रोक सके। उस समय उन प्राथमिक प्राणों से कुछ ऐसे विकिरण उत्पन्न हुए जो अत्यन्त तीव्र थे। ऐसे वे तीव्रतम विकिरण

उन प्राणों के द्वारा एकत्र होकर और भी तीक्ष्ण होने लगे। वे ऐसे विकिरण भूतवान् कहलाये क्योंकि वे विभिन्न प्रकार के उत्पन्न सूक्ष्म प्राणों से उत्पन्न हुए थे और उनसे ही युक्त थे। उन ऐसे प्राणों का सोम प्रजापति से किस प्रकार संघर्ष होता है, यह इसी खण्ड में आगे वर्णित है।।

इस प्रकार की स्थिति वनने पर वह देव पदार्थ उपर्युक्त प्रकार से तीक्ष्ण होकर समर्थ और सवल होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म, शीतल और अप्रकाशित मरुद्रश्मियों के सम्पीडित होने से विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति होती है। इन तरंगों से युक्त कॉस्मिक पदार्थ जब सुन्दर और लाल वर्ण की कान्ति से युक्त होकर इस ब्रह्माण्ड में भासने लगता है और जिसमें अनेक विद्युदावेशित कणों का विशाल भण्डार होता है, उस समय वह सूक्ष्म मरुद्रश्मियों के द्वारा सतत पोषण प्राप्त करता रहता है। पुनरपि वे सूक्ष्म मरुद्रश्मियां व्यापक स्तर पर उस पदार्थ के साथ संयुक्त नहीं होतीं क्योंकि ऐसा होने पर उस कॉस्मिक पदार्थ की कान्ति व ऊष्मा अत्यन्त क्षीण होने की आशंका रहेगी। दूसरा पक्ष यह भी है कि वह सोम पदार्थ (मरुद्रश्मियां) इस सम्पर्क प्रक्रिया से सम्पीडित होकर ऋणावेशित कणों में वृद्धि कर दे, जिसके कारण वह कॉस्मिक पदार्थ ऋणावेशित रूप प्राप्त कर ले किंवा ऋणावेशित और धनावेशित कण परस्पर संयुक्त होकर ऊर्जा में ही परिवर्तित हो जायें, जिससे लोकों की निर्माण की प्रक्रिया ही भंग हो जाये। जब कभी ब्रह्माण्ड में ऐसी अनिष्ट घटना घटती है, उस समय प्राणादि पदार्थों के द्वारा ऐसे तीक्ष्ण विकिरण उत्पन्न होते हैं, जो घटना को रोकने में समर्थ होते हैं।।

२. तं देवा अब्रुवन्। अयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्येति, स तथेत्यब्रवीत् स वै वो वरं वृणा इति; वृणीष्वेति; स एतमेव वरमवृणीत,-पशूनामाधिपत्यं, तदस्यैतत् पशुमन्नाम।।
पशुमान् भवति योऽस्यैतदेवं नाम वेद।।
तमभ्यायत्याविध्यत् स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्, तमेतं मृग इत्याचक्षते, य उ एव मृगव्याधः स उ एव सः, या रोहित् सा रोहिणी, यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा।।
तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत्, तत्सरोऽभवत्, ते देवा अब्रुवन्, मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, यदब्रुवन्, मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, तन्मादुषमभवत्, तन्मादुषस्य मादुषत्वं, मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण; परोक्षप्रिया इव हि देवाः।।६।।

{अभ्यायत्य = (आ+यम् = विस्तार करना, फैलाना, ऊपर खींचना, नियन्त्रित करना - आप्टेकोष)। व्याधः = (वि+आङ्+डुधाञ्, व्यध ताडने)। इषुः = ईषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा (नि.६.१८)। आचक्षते = चष्टे पश्यतिकर्मा (निघं.३.११), चक्षसे दर्शनाय (नि.६.२७)। काण्डम् = काम्यते तत् काण्डम् (तु.उ.को.१.११५)। मानुषम् = यन्मन्द्रं मानुषं तत् (तै.सं. २.५.११.१), पशवो मानुषाः (क.४१.६), (मन्द्रम् = प्रशंसनीयम् - म.द.ऋ.भा.४.२६.६), (मन्द्रा वाङ्नाम - निघं.१.११)। मादुष = दोषरहितं रेत इति सायणः}

व्याख्यानम्- इस कण्डिका में उपर्युक्त भूतवान् विकिरण समूह एवं प्रजापति का संवाद चेतनवत् दर्शाया है, जिसका आशय निम्नानुसार है- उन उपर्युक्त देवों अर्थात् मन-वाक् संयुक्त प्राथमिक प्राणों ने उस मन्दगामी सोम पदार्थ को नियन्त्रित करने वा रोकने के लिए उन तीक्ष्ण विकिरणों को प्रेरित किया, जिससे कि वह सोम पदार्थ उपरिवर्णित संदीप्त एवं तेजयुक्त कॉस्मिक पदार्थ को निस्तेज न कर सके।

तब उन तीक्ष्ण रुद्र रूप विकिरणों ने उन सोम रश्मियों पर प्रहार किया। इस प्रहार की क्रियाविधि और परिणाम अग्रिम कण्डिकाओं में वर्णित है। इस प्रहार के पश्चात् वह रुद्र रूप तीक्ष्ण विकिरण और भी तीक्ष्ण व श्रेष्ठ हो गया। वह विभिन्न मरुद् रूप पशु रश्मियों को सब ओर से नियन्त्रित करने में सक्षम हो गया। इस कारण वह विभिन्न मरुद्रश्मियों से युक्त होकर पशुमान् और पशुपति कहलाया। इस प्रकार की स्थिति बनने पर वे सभी रुद्र संज्ञक विकिरण एवं प्राथमिक प्राणादि पदार्थ विभिन्न मरुद्रश्मियों से युक्त हो जाते हैं।।+।।

जब उन तीक्ष्ण रुद्ररूप विकिरणों ने उन मन्दगामी अप्रकाशित सोम रश्मियों को तोड़ना प्रारम्भ किया किंवा उन पर तीव्र प्रहार किया, तब वे सोम रश्मियां सब ओर फैलकर नियन्त्रित हो गईं और वे सोम रश्मियां उन दुहितारूप किरणों से पृथक् होकर ऊपर की ओर उठने लगी और यह क्रिया अति तीव्र रूप से होने लगी। वे ऊपर उठती हुई सोम रश्मियां **मृग** रूप हो गईं। इसका तात्पर्य यह है कि वे रश्मियां शुद्ध रूप में प्रकाशित होने वाली और अति तीव्रगामी हो गई। इस प्रकार जो सोम रश्मियां स्वयं अप्रकाशित और मन्दगामी थीं, वे तीव्रगामी और प्रकाशवती विकिरणों में परिवर्तित हो गईं। इसके साथ ही जिन रुद्ररूप तीक्ष्ण विकिरणों ने उन सोम रश्मियों पर प्रहार किया था, वे **मृगव्याध** का रूप हो गये। इसका तात्पर्य यह है कि वे ऐसी तेजस्वी, शुद्ध और तीव्रगामी विकिरणों में परिवर्तित हो गये, जो विभिन्न मरुद्रश्मियों को ताड़ने, दबाने, उन्हें नियन्त्रित करने और सब ओर से उन्हें विशेषरूप से प्राप्त करने में सक्षम थे। इसके साथ ही वे दुहिता संज्ञक लाल रंग की तेजस्वी किरणों से परिपूर्ण पदार्थ रोहिणी का रूप हो गया। इसका तात्पर्य यह है कि वह अपने स्थान से कुछ ऊपर उठ गया एवं अनेक प्रकार के परमाणुओं का बीज रूप बन गया। अब महर्षि कहते हैं कि उन रुद्ररूप विकिरणों का इषु अर्थात् तीव्र गतिशील और हिंसक एवं अग्रगामी भाग तीन समूहों में विभक्त होकर तीन दिशाओं में प्रहार कर रहा था, इस कारण उसने सोम पदार्थ का तीन भागों में भेदन कर दिया।।

इस संघर्ष में उन सोम रश्मियों, जो उपर्युक्तानुसार मृगरूप धारण कर चुकी थीं, उनका रेत अर्थात् ऐसी सूक्ष्म तेजस्वी रश्मियां जो विशेष उत्पादन सामर्थ्य से युक्त थीं, पृथक् होकर वह चलीं और अन्तरिक्ष में सूक्ष्म वाग्रश्मियों के रूप में एकत्र होने लगीं। उस समय प्राणादि प्राथमिक प्राणों ने उन रश्मियों को आच्छादित करके अपनी सुरक्षा प्रदान की। इसके कारण वे तेजस्वी वाग्रश्मियां **"मादुष"** कहलाती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे रश्मियां पूर्णतः निर्दोष अर्थात् शुद्ध रूप में होती हैं और इन्हीं रश्मियों को **"मानुष"** नाम से भी जाना जाता है। ये रश्मियां भी पशुरूप अर्थात् प्रशंसनीय मरुद् रूप ही होती हैं परन्तु उनका तेज ऐसा होता है कि जो किसी तकनीक से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। इन ऐसी परोक्ष तेज वाली रश्मियों को देव अर्थात् प्राथमिक प्राणादि पदार्थ सदैव आकर्षित किये रहते हैं। वस्तुतः ये देव पदार्थ स्वयं परोक्ष रूप वाले ही होते हैं और इनके प्रत्येक कर्म भी परोक्ष और सूक्ष्म ही होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– उपर्युक्त तीक्ष्ण विकिरणों के द्वारा अप्रकाशित और ठण्डे सोम पदार्थ पर जब तीव्र आघात होता है, उस समय वे तीक्ष्ण विकिरण विभिन्न मरुद्रश्मियों को नियन्त्रित करके उनमें से कुछ रश्मियों को अपने साथ संयुक्त कर लेते हैं और वे सोम रश्मियां, अति तीव्रगामी और दीप्तियुक्त होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगती हैं और वे तीक्ष्ण रश्मियां जिन्होंने सोम रश्मियों पर प्रहार किया था और भी अधिक भेदन शक्तिसम्पन्न हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्णित लाल रंग की रश्मियों से युक्त कॉस्मिक पदार्थ कुछ ऊपर की ओर उठकर अनेक तत्त्वों के निर्माण का उपादान कारण बन जाता है। उपर्युक्त सोम रश्मियों पर जो हिंसक प्रहार होता है, वह तीन दिशाओं से एक साथ होता है और वह सोम पदार्थ को तीन भागों में विभक्त कर देता है। इस संघर्ष में उन सोम अर्थात् मरुद्रश्मियों का सूक्ष्म बीजरूप रश्मिसमूह अन्तरिक्ष में एकत्र होने लगता है। इस रश्मिसमूह की रश्मियां किसी भी भौतिक तकनीक से प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं आ सकती। इन रश्मियों को प्राणापानादि रश्मियां आकर्षित और आच्छादित करके शुद्ध और संरक्षित रूप प्रदान करती हैं। ये प्राणापानादि पदार्थ और उनकी क्रियाएं भी किसी भौतिक तकनीक से अनुभव में नहीं आ सकतीं।।

इति १३.९ समाप्तः

ॐ अथ १३.१० प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. तदग्निना पर्यादधुः, तन्मरुतोऽधून्वन्, तदग्निर्न प्राच्यावयत्, तदग्निना वैश्वानरेण पर्यादधुः, तन्मरुतोऽधून्वन्, तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत्, तस्य यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत्, यद् द्वितीयमासीत् तद् भृगुरभवत्, तं वरुणो न्यगृह्णीत, तस्मात् स भृगुर्वारुणिः, अथ यत् तृतीयमदीदेदिव त आदित्या अभवन्, येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्, यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्।।

{वैश्वानरः = विद्युदग्निः (म.द.य.भा.२६.७), अग्निर्वा एष वैश्वानरो यत् संवत्सरः (जै.ब्रा. २.३७६), प्राणो वै पूर्वो वैश्वानरोऽपान उत्तरः (जै.ब्रा.३.८)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त घटना के उपरान्त उन शुद्ध रेतरूप वाग्रश्मियों को, जो प्राथमिक प्राणों से आवेष्टित और संरक्षित थीं, अग्नि के द्वारा सम्पीडित किया जाता है। ऐसा होने पर वे रश्मियां अग्नि तत्त्व से समृद्ध एवं व्याप्त हो जाती हैं अर्थात् उनकी ऊष्मा और प्रकाश में वृद्धि होने लगती है। मानो वे रश्मियां अग्निर्मय एवं अग्नि में ही प्रतिष्ठित हो जाती हैं। उसके पश्चात् वे सोम रश्मियां, जिनसे इन वाग् रश्मियों की उत्पत्ति हुई थी अथवा जिनका वे वीर्य रूप होती हैं, को वे ही मरुद् रश्मियां कंपाने का प्रयास करती हैं अर्थात् उन पर प्रहार करती हैं परन्तु अग्निर्मय तथा देवों से संरक्षित उन वाग् रश्मियों पर सोम प्रहार का कोई प्रभाव नहीं होता। वे रश्मियां उसी रूप में और उसी स्थान पर यथावत् प्रकाशवती होती रहती हैं। इसके पश्चात् प्राथमिक प्राणों में से वैश्वानर अर्थात् सबका किंवा मरुतों का वहन करने वाली प्राण और अपान नामक रश्मियों का संयुक्त रूप किंवा उनसे उत्पन्न विद्युदग्नि उन अग्निर्मयी रश्मियों को सब ओर से आवेष्टित और धारण कर लेती हैं। उसके पश्चात् भी पूर्ववत् सोम वा मरुद् रश्मियां उन विद्युत् और अग्निर्मयी रश्मियों को कंपाने के लिए प्रहार करती हैं। उस प्रहार से उन किरणों में भारी कम्पन प्रारम्भ हो जाता है, जिससे वे रश्मियां एवं उनसे युक्त समस्त पदार्थ अनेक स्थानों से रिसता हुआ खण्ड-२ होने लगता है। इससे उसके रूप में अनेक परिवर्तन वा विकार होने लगते हैं, जिससे अनेक प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं। उन उत्पन्न पदार्थों की श्रृंखला इस प्रकार है-

सर्वप्रथम आदित्य स्वरूप प्रकट होता है। इसका तात्पर्य है कि विभिन्न मास एवं ऋतु रश्मियां तीव्रता से प्रकट होने लगती हैं। ये रश्मियां विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म परन्तु बाधक असुर रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करने में सक्षम होती हैं। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "असौ वाऽ आदित्यः पाप्मनोऽपहन्ता" (श.१३.८.१.११)। इस प्रकार विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के मध्य संयोग की प्रक्रिया तीव्र हो उठती है क्योंकि बाधक असुर रश्मियों का या तो विनाश हो जाता है अथवा उन पर नियन्त्रण हो जाता है। इसी क्रम में अगले चरण में भृगु अवस्था उत्पन्न होती है अर्थात् उस पदार्थ में अग्नि की ज्वालायें उठने लगती हैं परन्तु वह पदार्थ जलकर नष्ट नहीं होता है और न ही उस पदार्थ का ताप बहुत अधिक होता है। उस ऐसी अवस्था वाले पदार्थ को वरुण नामक प्राथमिक प्राण अधिगृहीत कर लेता है। व्यान प्राण को ही यहाँ वरुण कहा गया है क्योंकि यह रज्जु के समान अपने पाश में सम्पूर्ण पदार्थ को बांध लेता है। व्यान का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "सर्वसन्धिषु व्याप्तश्चेष्टानिमित्तः" (म.द.य.भा.२२.३३)। यह प्राण सम्पूर्ण परमाणुओं को इस प्रकार बांधे रखता है

कि वे परस्पर पृथक् होकर बिखर भी नहीं पाते और इतने निकट भी नहीं आ पाते कि वे परस्पर मिलकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। वे अपने मध्य एक मर्यादित दूरी बनाये रखते हैं। इसी कारण एक तत्त्ववेत्ता ऋषि ने इसकी तुलना बृहती छन्द रश्मियों से करते हुए लिखा है- "व्यानो बृहती" (तां.७.३.८)। यह प्राण विभिन्न परमाणुओं को तीन ओर से थामे रखता है। इस कारण एक अन्य ऋषि ने इसकी तुलना त्रिष्टुप् प्राण से करते हुए लिखा है- "व्यानस्त्रिष्टुप्" (मै.३.४.४)। तीन ओर से थामने की बात की पुष्टि करते हुए महर्षि यास्क लिखते हैं- "यत् त्रिरस्तोभत्तत्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम्। इति विज्ञायते" (नि.७.१२), क्योंकि **यह भृगु अवस्था व्यान रूपी वरुण रश्मियों से बंधी हुई होती है** किंवा इनके कारण ही इसकी उत्पत्ति सम्भव होती है, इसलिए इस ज्वालायुक्त अवस्था को "वारुणि" कहते हैं। इसके पश्चात् तृतीय चरण में अनेक आदित्यों की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि अनेक तेजस्वी लोकों का निर्माण होने लगता है, जिनके अन्दर स्वयं ऊष्मा वा प्रकाश की उत्पत्ति होने लगती है। उसके पश्चात् चतुर्थ चरण में अङ्गार रूप पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है। यहाँ 'अङ्गार' शब्द का तात्पर्य उन विकिरणों से है, जो उपर्युक्त आदित्य लोकों से उत्पन्न होते रहते हैं और उन आदित्य लोकों को सर्वत्र प्रसिद्ध करते हैं। ये ऐसे विकिरण अङ्गिरस अर्थात् अग्नि के परमाणुओं के रूप में सूत्रात्मा वायु से बंधे हुए अन्तरिक्ष में निरन्तर गमन करते रहते हैं। इस प्रकरण में 'अङ्गार' शब्द का अर्थ तेजस्वी लोकों के ऊपरी तल पर उठती हुई तेजस्वी ज्वालायें भी हैं। इन्हीं से अङ्गिरस वा अङ्गिरा रूपी प्रकाश किरणें निरन्तर उत्पन्न होती हैं। इसलिए महर्षि यास्क ने कहा है- "अङ्गारेष्वङ्गिराः (सम्बभूव)" (नि.३.१७)। इधर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा- "अङ्गिरा उ ह्यग्निः" (श.१.४.१.२५)। इनमें से कुछ अङ्गाररूप तेजस्वी लोकों की ज्वालाएं अत्यन्त अशान्त होती हैं और अत्यन्त उद्दीप्त होती रहती हैं। वे बृहस्पति का रूप धारण करके अन्तरिक्ष में गमन करने लगती हैं। यहाँ 'बृहस्पति' शब्द का तात्पर्य प्राणापान का संयुक्त रूप एवं इससे उत्पन्न विद्युत् तरंगें है। इस विषय में ऋषियों का कहना है- "एषऽ (प्राणः) उऽएव बृहस्पतिः (श.१४.४.१.२२), अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत् (जै.उ.२.१.२.५), ब्रह्म वै बृहस्पतिः (ऐ.१.१३), विद्युद् ह्येव ब्रह्म (श.१४.८.७.१)"। ये प्रमाण हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त बीजरूप रश्मिसमूह प्राथमिक प्राण रश्मियों के द्वारा सम्पीडित होकर और अधिक ऊर्जावान् हो उठता है, जिससे प्रकाश और ऊष्मा की वृद्धि होती है। इस रश्मिसमूह पर इनकी उत्पादिका मरुद् रश्मियों द्वारा प्रहार किया जाता है परन्तु इस रश्मिसमूह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके पश्चात् उन प्रकाशवती रश्मियों में अनेक प्रकार के आवेशित कणों की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् पुनः ठण्डी मरुद् रश्मियों का उस क्षेत्र में भीषण प्रहार होता है, जिससे वह तेजस्वी पदार्थ समूह बिखरकर अनेक रूप धारण करने लगता है। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम मास एवं ऋतु रश्मियां सक्रिय हो उठती हैं, जो डार्क एनर्जी के सम्भावित प्रहार को नष्ट करने में सक्षम होती हैं। उसके पश्चात् ब्रह्माण्ड के उस क्षेत्र में अत्यन्त उच्च ताप की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। सम्पूर्ण पदार्थ एक-दूसरे से अन्योन्य क्रियाएं करने लगता है। इसके पश्चात् उस पदार्थ से अनेक तारों की उत्पत्ति होने लगती है। उन तारों के ऊपर उठती हुई तीव्र ज्वालाओं में से अनेक विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं विद्युदावेशित किरणें उत्सर्जित होने लगती हैं।।

२. यानि परिक्षाणान्यासंस्ते कृष्णाः पशवोऽभवन् या लोहिनी मृत्तिका ते रोहिताः, अथ यद् भस्मासीत् तत्परुष्यं व्यसर्पद् गौरो गवय ऋश्य उष्ट्रो गर्दभ इति ये चैतेऽरुणाः पशवस्ते च।।

{मृत्तिका = मृद्+तिकन्+टाप् (आप्टेकोष), (मृद् = दबाना, टुकड़े-टुकड़े करना, मसलना, जीत लेना - आप्टेकोष)। भस्म = प्रदीपकं तेजः (म.द.य.भा.१२.३५), दग्धदोषः (म.द.य.भा.१२.४६)। परुष्य = (परुषे = पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः - नि.२.६)। गौरः = गायति शब्दं करोतीति गौरः (उ.को.१.६५), गवतेऽव्यक्तं शब्दयतीति गौरः श्वेतो रक्तवर्णो वा (उ.

को.२.२६)। गवयः = गोसदृशः (म.द.य.भा.१३.४६), बृहस्पतये गवयान् (आलभते) (मै.३.१४.१०)। उष्ट्रः = त्वष्ट्रा उष्ट्रान् (आलभते) (मै.३.१४.१०)। गर्दभः = गर्दयति शब्दं करोतीति गर्दभः (उ.को.३.१२२), सर्वेषां पशूनां गर्दभो वीर्यवत्तमः (मै.३.१.६)। अरुणः = अरुणः आरोचनः (नि.५.२०), प्राप्तव्यः (तु.म.द.ऋ.भा.५.६३.६)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकरण को विस्तार देते हुए कहते हैं कि जो अङ्गार अर्थात् तेजस्वी ज्वालायें किंवा उनसे उत्पन्न विकिरण जव ठण्डे हो जाते हैं, उस समय वे अन्धकारयुक्त मरुद् वा छन्द रश्मियों किंवा काले रंग के विकिरणों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन विकिरणों में आकर्षण, छेदन आदि गुण विद्यमान होता है। पूर्व खण्ड में जो रोहित अर्थात् रक्तवर्णीय रश्मियां वर्णित हैं, उनसे विभिन्न प्रकार के विकिरण उत्पन्न होते हैं। वे रश्मियां अत्यन्त ऊर्जा वाली होती हैं। उनमें परस्पर तीव्र संघर्षण होता रहता है। इसके अनन्तर उस संघर्षण में जो प्रकृष्ट तेज वाले और असुर रश्मियों से पूर्णतः मुक्त अत्यन्त तप्त विकिरण होते हैं, वे सम्पीडित होकर सघन अवस्था को प्राप्त करने लगते हैं। वह सघन अवस्था चमकती हुई विभिन्न किरणों के परस्पर मिलने से उत्पन्न होती है। ये नव निर्मित प्रदीप्त कण विभिन्न तेजस्वी विकिरणों को परस्पर जोड़ने वाले भी होते हैं। इसलिए आचार्य औपमन्यव के उपर्युक्त कथन में इन्हें पर्ववान् कहा है। ये ग्रन्थी रूप असंख्य कण सम्पूर्ण आकाश को भरने लगते हैं। ये कण अग्रिम श्रेणी के अनेक कणों को उत्पन्न करने वाले और उनकी रक्षा करने वाले भी होते हैं। ऐसे ये सूक्ष्म कण सर्पिलाकार गति करते हुए इस ब्रह्माण्ड में तरंगों के रूप में सर्वत्र विचरने लगते हैं। वे कण अनेक स्वरूप वाले होते हैं-

(१) गौर = ये कण रक्तमिश्रित श्वेत रंग के होते हैं और अव्यक्त ध्वनियाँ उत्पन्न करते हुए इस अन्तरिक्ष में किरणों के रूप में गमन करते रहते हैं।
(२) गव्य = ये भी किरणों के रूप में गति करते हुए विद्युत् युक्त कण होते हैं।
(३) ऋश्य = ये विकिरण अधिक तीव्र गति एवं व्याप्ति वाले होते हैं।
(४) उष्ट्र = ये कण विशेष दाहयुक्त होते हैं।
(५) गर्दभ = ये कण भी ध्वनि उत्पन्न करते हुए अत्यन्त वल और वेग के साथ गति करते हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक अरुण वर्ण उत्पन्न करने वाले छन्द वा मरुत् प्राण इन उपर्युक्त पांचों प्रकार के विकिरणों को व्याप्त करते हैं अर्थात् उस समय ब्रह्माण्ड का यह क्षेत्र हल्के लाल रंग से युक्त हो जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रकरण में वर्णित कुछ ज्वालायें वा विकिरण जब ठण्डे हो जाते हैं, तव वे काले रंग के विकिरणों में परिवर्तित हो जाते हैं। ये विकिरण भी आकर्षण, छेदन आदि गुणों से युक्त होते हैं। पूर्वोक्त प्रक्रिया में एक विशेष चरण को बतलाते हुए कहा है कि **अत्यन्त उच्च ताप वाले विकिरणों के मध्य अनेक सघन अवस्थाएं उत्पन्न होकर मूल कणों का निर्माण करते हैं। वे सभी कण विकिरणों के रूप में ही आकाश में गमन करने लगते हैं।** इनमें से कुछ विकिरण लाल और श्वेत मिश्रित रंग वाले और सूक्ष्म ध्वनियाँ उत्पन्न करने वाले होते हैं। कुछ विकिरण विद्युदावेश से युक्त होते हैं। अन्य कुछ विकिरण तीव्र गति वाले होकर सर्वत्र फैलते हुए अन्तरिक्ष में गति करते हैं। चौथे विकिरण अपेक्षाकृत गर्म होते हैं और पांचवें विकिरण सर्वाधिक भेदन क्षमता वाले होते हैं। उस समय इस ब्रह्माण्ड में हल्के लाल रंग की दीप्ति व्याप्त हो जाती है।।

३. तान् वा एष देवोऽभ्यवदत, मम वा इदं मम वै वास्तुहमिति तमेतयर्चा निरवादयन्त यैषा रौद्री शस्यते।।
'आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः। त्वं नो वीरो अर्वति क्षमेथाः'।।
इति ब्रूयान्नाभि न इति; अनभिमानुको हैष देवः प्रजा भवति।।
'प्रजायेमहि रुद्रिय प्रजाभिः' इति ब्रूयान्न रुद्रेति एतस्यैव नाम्नः परिहृत्यै।।

{वास्तुहम् = वास्तौ यज्ञभूमौ हीनं यद्द्रव्यं (आचार्य सायणः)। सुम्नम् = सुखनाम (निघं.३.६), यज्ञो वै सुम्नम् (श.७.२.२.४), प्रजा वै पशवः सुम्नम् (तै.ब्रा.३.३.६.६)}

व्याख्यानम्- पूर्व खण्ड में रुद्ररूप तेजस्वी किरणों द्वारा सोमरूप प्रजापति पर आक्रमण की घटना को और भी विस्तृत करते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त संघर्ष में कुछ ऐसा पदार्थ भी उत्पन्न हुआ, जो परस्पर संगत नहीं हो रहा था अर्थात् उसमें संयोग-वियोग की प्रक्रियाएं नहीं हो पा रही थीं और वह अन्तरिक्ष में यत्र-तत्र विखर गया था। वह सम्पूर्ण पदार्थ भी विभिन्न मरुद् रश्मियों के रूप में ही था। उस रुद्ररूप विकिरण ने उस ऐसे पदार्थ की ओर प्रवाहित होना प्रारम्भ किया और उस समय अग्रवर्णित रुद्रदेवताक छन्द रश्मि की उत्पत्ति हुई। इस रश्मि के सहाय से उन रुद्ररूप विकिरणों ने उस विखरे हुए पदार्थ को विशेष गतिशील और प्रकाशयुक्त किया और ऐसा करके उसने उस पदार्थ को अपने नियन्त्रण में ले लिया।।

वह उपर्युक्त रुद्रदेवताक ऋचा गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान से उत्पन्न और निचृत्त्रिष्टुप् छन्द वाली होती है। इस ऋचा के प्रथम तीन पाद इस कण्डिका के रूप में दर्शाये हैं। ऋग्वेद संहिता में यह पाठ इस प्रकार है-

आ ते॑ पितर्मरुतां सु॒म्नमे॑तु॒ मा नः॒ सूर्य॑स्य सं॒दृशो॑ युयोथाः।
अ॒भि नो॑ वी॒रो अर्व॑ति क्षमेत॒ प्र जा॑येमहि रुद्र प्र॒जाभिः॑।।१।। (ऋ.२.३३.१)

आश्वलायन श्रौतसूत्र ३.८.१ में भी इस ऋचा का विधान किया गया है परन्तु वहाँ केवल इस ऋचा का प्रथम पाद ही उद्धृत किया है। अव हम इस ऋचा के पाठान्तर के प्रश्न को पृथक् करके इस कण्डिका पर विचार करते हैं। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वे रुद्र संज्ञक विकिरण अत्यन्त हिंसक तेज और वल से युक्त हो जाते हैं। वे विकिरण सूर्य के समान तेजस्वी रूप वाले होकर उन मरुद्रश्मियों में व्याप्त हो जाते हैं और ऐसा करके वे उन रश्मियों को अपने वल से सव ओर रोककर उन्हें कंपाते हुए परस्पर संगत करने में समर्थ होते हैं। इसके प्रभाव से वे मरुद्रश्मियां अत्यन्त शीघ्रगामिनी और वलवती होकर अग्निरूप को प्राप्त होती हैं। इसी कारण कहा गया है- "अग्निर्वा अर्वा" (तै.ब्रा.१.३.६.४)।।

यहाँ महर्षि स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस छन्द रश्मि के तृतीय पाद में "त्वम्" के स्थान पर "अभि" की विद्यमानता नहीं होती और "क्षमेथाः" के स्थान पर "क्षमेत" भी विद्यमान नहीं होता। यदि ऐसा हो जाये, तो उसका प्रभाव वतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि इससे वे रुद्र संज्ञक तीक्ष्ण विकिरण विभिन्न मरुदादि रश्मियों का अभिभव करने वाले होते हैं अर्थात् उन्हें सव ओर से दवाकर अनिष्ट रूप प्रदान कर सकते हैं। इस कारण यहाँ उपर्युक्त कण्डिका के रूप में उद्धृत स्वरूप वाली छन्द रश्मि ही उत्पन्न होती है।।

इसके चतुर्थ पाद के प्रभाव से उन पूर्वोक्त मरुद् रश्मियों से अनेक प्रकार के छन्दादि पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है और ये छन्दादि पदार्थ पूर्वोक्त रुद्ररूप विकिरणों के साथ संगत रहते हैं किंवा उन विकिरणों के प्रभाव से ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी महर्षि पाठान्तर का विरोध करते हुए कहते हैं कि यहाँ "रुद्रिय" के स्थान पर "रुद्र" पद नहीं होना चाहिये क्योंकि 'रुद्र' पद होने पर वे मरुदादि उत्पन्न पदार्थ रुद्ररूप अर्थात् अति तीक्ष्ण रूप धारण कर सकते हैं, जिससे विभिन्न प्रकार के पदार्थों की निर्माण प्रक्रिया अस्त-व्यस्त हो सकती है। 'रुद्र' के स्थान पर 'रुद्रिय' होने से उग्रता का परिहार हो जाता है।

ध्यातव्य है कि इस ऋचा का यह पाठ भेद महर्षि के काल में भी विद्यमान था। यहाँ महर्षि ने वर्तमान मुद्रित संहिता पाठ का खण्डन करके अपने पाठ की युक्ति-युक्तता प्रमाणित की है और अपने पाठ के सृष्टि प्रक्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव की तर्क संगत पुष्टि भी की है। इस प्रकरण में हमें ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ ही स्वीकार है। सम्भव है कि अन्य प्रकरणों में संहिता पाठ की उपादेयता अधिक होवे,

विशेषकर जब इस प्रक्रिया को हिंसक बनाना हो। इस कारण हम दोनों ही पाठों की उपादेयता को स्वीकार करते हुए इस प्रकरण में ऐतरेय के पाठ को ही प्रसंगानुकूल समझते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– पूर्वोक्त प्रक्रिया में कुछ सूक्ष्म मरुद् रश्मियां और तज्जन्य पदार्थ सृष्टि प्रक्रिया से बाहर हो जाते हैं। उसमें संयोग-वियोग की क्रियाएं नहीं होती हैं और वह अन्तरिक्ष में इधर-उधर बिखर जाता है। उस समय कुछ तेजस्वी विकिरण उस बिखरे हुए पदार्थ को सक्रिय और सतेज करके अपने नियन्त्रण में ले लेते हैं, जिससे उनमें भी संयोगादि प्रक्रियाएं प्रारम्भ होकर विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति होने लगती है।।

४. तदु खलु 'शं नः करतीत्येव शंसेच्छमिति प्रतिपद्यते, सर्वस्मा एव शान्त्यै, 'नृभ्यो नारिभ्यो गवे' इति, पुमांसो वै नरः, स्त्रियो नार्यः, सर्वस्मा एव शान्त्यै।।
सोऽनिरुक्ता रौद्री शान्ता, सर्वायुः सर्वायुत्वाय।।
सर्वमायुरेति य एवं वेद।।
सो गायत्री, ब्रह्म वै गायत्री ब्रह्मणैवैनं तं नमस्यति।।१०।।

{नारी = यज्ञनाम (निघं.३.१७)। नरः = प्रजा वै नरः (ऐ.२.४), अश्वनाम (निघं.१.१४), नयनकर्ता वायुः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६४.१०)।}

व्याख्यानम्– यहाँ महर्षि एक विकल्प प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि पूर्ववर्णित कण्डिका के रूप में उद्धृत निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के स्थान पर संहिता भाग में विद्यमान किंचित् पाठ भेद वाली पूर्वोक्त छन्द रश्मि उत्पन्न होवे और उसके प्रभाव से मरुदादि पदार्थों में अति उग्रता होवे, तब ऐसी स्थिति में घोर कण्व ऋषि अर्थात् अति सक्रिय सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न रुद्रदेवताक एवं पादनिचृद्गायत्री छन्दस्क

शं नः॑ कर॒त्यर्व॑ते सु॒गं मे॒षाय॑ मे॒ष्ये॑। नृभ्यो॒ नारि॑भ्यो॒ गवे॑।।६।। (ऋ.१.४३.६)

उत्पन्न हो जाये, तो पूर्वोक्त पदार्थ की उग्रता शान्त हो जाती है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से वह रुद्र तत्त्व ऐसे तेज बल से युक्त होता है, जो पूर्वोत्पन्न रुद्र विकिरणों की तीव्रता को नियन्त्रित कर देता है। हम पूर्व में अनेकत्र पढ़ चुके हैं कि गायत्री रश्मियां ब्रह्म संज्ञक और त्रिष्टुप् रश्मियां क्षत्र संज्ञक होती हैं। उधर एक ऋषि का कहना है– "ब्रह्मणि वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्" (काठ.३७.११)। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है– "सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म" (श.१४.४.२.२३)। इस कारण यह रुद्रदेवताक गायत्री छन्द रश्मि पूर्वोक्त रुद्रदेवताक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि को अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर लेती है। इस गायत्री रश्मि के प्रभाव से 'अर्वा' अर्थात् तीव्रगामी किरणें 'मेष' अर्थात् विभिन्न सूक्ष्म वाग्रश्मियों की सेचनकर्त्री किरणें और उन रश्मियों को शोषित करने वाले परमाणु, 'नर' अर्थात् विभिन्न प्रकार के नयनकर्ता वायु की आशुगामी तरंगें, 'नारी' अर्थात् उन सबकी संगत क्रियाएं और 'गो' अर्थात् अनेक प्रकार के विकिरण सभी कुछ नियमित और नियन्त्रित गति को प्राप्त होते हैं। यहाँ महर्षि 'नर' को पुमान् और 'नारी' को स्त्री संज्ञा देते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो छन्द रश्मियां इस सृष्टि प्रक्रिया में वृषा अथवा योषा का कार्य करती हैं, वे सभी इस गायत्री छन्द रश्मि के द्वारा सम्यग्रूप से नियन्त्रित होकर अपनी क्रियाओं का सम्पादन करने में समर्थ होती हैं। इस प्रकार सभी प्रकार की उग्रता का शमन होकर सृष्टि प्रक्रिया सम्यग् रूप से चलती रहती है।।

उपर्युक्त गायत्री छन्द रश्मि को महर्षि ने अनिरुक्ता कहा है। इसका कारण यह है कि यद्यपि यह छन्द रश्मि रुद्रदेवताक है परन्तु इसमें रुद्र पद कहीं विद्यमान नहीं है। इसके अनिरुक्त होने के कारण यह रुद्रदेवताक छन्द रश्मि अव्यक्त रूप से अपरिमित क्षेत्र में व्याप्त होकर पूर्वोक्त रुद्रता की अति उग्रता को शान्त करती है। इस ऋचा को उत्पन्न करने वाला ऋषि प्राण सम्पूर्ण सृष्टि काल तक इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार की स्थिति बनने पर सम्पूर्ण आयु अर्थात् सृष्टि यज्ञ की

पूर्णता सम्पन्न होती है। यहाँ महर्षि कहते हैं कि यह गायत्री छन्दस्क ऋचा ब्रह्मरूप होती है और इस ब्रह्मरूप ऋचा के द्वारा ही उस तीव्र रुद्रदेवताक ऋचा को रोका अथवा वश में किया जाता है। ये ब्रह्मरूप गायत्री रश्मियां उन तीक्ष्ण त्रिष्टुप् रश्मियों की ओर झुकती हुई प्रवाहित होकर उन्हें शान्त करने में समर्थ होती हैं।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में यदि कहीं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां अत्यन्त अशान्त और उग्र होकर सम्पूर्ण पदार्थ को विक्षुब्ध करके सृजन प्रक्रिया में बाधा डालती हैं, तो उन्हीं रश्मियों के समकक्ष गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर सम्पूर्ण अशान्त और क्षुब्ध पदार्थ को अपने अन्दर व्याप्त करके उसकी क्रियाशीलता को संतुलित करती हैं। जिससे सृजन प्रक्रिया यथावत् चलती रहती है। इससे विभिन्न परमाणुओं, मूल कणों और तरंगों आदि सभी संतुलित गति और बल को प्राप्त करते हैं।।

৯ इति १३.१० समाप्तः ৎ

ॐ अथ १३.११ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. वैश्वानरीयेणाऽऽग्निमारुतं प्रतिपद्यते; वैश्वानरो वा एतद् रेतः सिक्तं प्राच्यावयत्, तस्माद् वैश्वानरीयेणाऽऽग्निमारुतं प्रतिपद्यते।।

व्याख्यानम्- पूर्व खण्ड की प्रथम कण्डिका में वर्णित वैश्वानर अर्थात् प्राणापान एवं विद्युत् के कार्य की विस्तार से चर्चा करते हुए कहते हैं कि उस समय विश्वामित्र ऋषि अर्थात् सूक्ष्म वाक् तत्त्व से वैश्वानरोऽग्निदेवताक ऋ.३.३ सूक्त रश्मिसमूह की उत्पत्ति होती है। इनके दैवत प्रभाव से वैश्वानर अग्नि अर्थात् प्राणापान एवं तज्जन्य विद्युत् विशेष सक्रिय हो उठते हैं। इस सूक्त की विभिन्न छन्द रश्मियों का प्रभाव निम्नानुसार होता है-

(१) वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे।
अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत्।।१।। (ऋ.३.३.१)।

इसका छन्द निचृद् जगती है। इसके प्रभाव से अविनाशी विद्युदग्नि उन देवों अर्थात् प्रकाशित परमाणुओं के चारों ओर संचरित होता हुआ उनको शुद्ध करता है और वे परमाणु उस महावली विद्युत् और प्राणापान, जो सवके सनातन धारणकर्त्ता होते हैं, का निरन्तर सेवन करते रहते हैं। इसके छान्दस प्रभाव से यह प्रक्रिया निरन्तर विस्तृत होती रहती है।

(२) अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः।
क्षयं बृहन्तं परि भूषति द्युभिर्देवेभिरग्निरिषितो धियावसुः।।२।। (ऋ.३.३.२)

इसका छन्द जगती है। इसका छान्दस प्रभाव पूर्ववत् किन्तु कुछ मृदु होता है। {दस्मः = मूर्त्तद्रव्याणामुपक्षयिता (म.द.ऋ.भा.३.३.२)} वह वैश्वानर रूप विद्युदग्नि किंवा प्राणापान युग्म विभिन्न प्रकाशित मरुद्रश्मियों में पूर्व से ही बसा हुआ अथवा उनको अपने अन्दर वसाने वाला होकर विभिन्न परमाणुओं को छिन्न-भिन्न करता है। वह अपनी सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा प्रकाशित व अप्रकाशित सभी पदार्थों में व्याप्त होकर उनको सब ओर से अलंकृत करता है।

(३) केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः।
अपांसि यस्मिन्नधि सन्दधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके।।३।। (ऋ.३.३.३)

इसका छन्द एवं छान्दस प्रभाव पूर्ववत् है। मरुद् रश्मियों में विभिन्न ऋषि प्राण वाग्रश्मियों से संयुक्त विभिन्न प्राथमिक प्राणों के साथ मिलकर सब ओर से विद्युदग्नि को धारण करते हैं, जिसके कारण विभिन्न पदार्थ किंवा वे मरुद्रश्मियां सहजतया परस्पर संगत होने लगती हैं।

(४) पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम्।
आ विवेश रोदसी भूरिवर्पसा पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः।।४।। (ऋ.३.३.४)

इसका छन्द एवं छान्दस प्रभाव पूर्ववत् है। {असुरम् = मनो वा असुरम् (जै.उ.३.६.७.३)। विपश्चित् = यज्ञो वै बृहन् विपश्चित् (श.३.५.३.१२), (बृहन् = वर्धकः - तु.म.द.ऋ.भा.६.४६.१०; वर्धमानः -

म.द.ऋ.भा.२.१.१२)। वाघतः = वोढारो मेधाविनो वा (नि.११.१६)। वयुनम् = वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (नि.५.१५)। मन्दते = अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), ज्वलतिकर्मा (निघं.१.१६)} सभी प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं का पिता मनस् तत्त्व ही है। विभिन्न पदार्थों का वाहक किंवा धारक अपने पराक्रम से सबको गति और कान्ति के द्वारा तृप्त करने वाला वह मनस् तत्त्व सूत्रात्मा वायु के द्वारा विभिन्न मर्यादाओं, परिमापों का निर्माण करता है। ऐसा वह मनस् तत्त्व आकाश, पृथिवी और द्यु आदि लोकों में प्रविष्ट होकर अग्नि को प्रज्वलित करता है।

(५) चन्द्रमग्निं चन्द्ररथं हरिव्रतं वैश्वानरमप्सुषदं स्वर्विदम्।
विगाहं तूर्णिं तविषीभिरावृतं भूर्णिं देवास इह सुश्रियं दधुः।।५।। (ऋ.३.३.५)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। वह वैश्वानर अग्नि विभिन्न प्राणों में स्थिर होकर हरणशील स्वभाव वाला अनेक सुन्दर गतियों से युक्त होकर विभिन्न वलों के द्वारा विभिन्न परमाणुओं को मथता हुआ, शीघ्र गतिशील बनाता हुआ उत्तमता से धारण करता है।

(६) अग्निर्देवेभिर्मनुषश्च जन्तुभिस्तन्वानो यज्ञं पुरुपेशसं धिया।
रथीरन्तरीयते साधदिष्टिभिर्जीरो दमूना अभिशस्तिचातनः।।६।। (ऋ.३.३.६)

इसका छन्द जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् जानें। {अभिशस्तिचातनः = योऽभिशस्ति हिंसां चातयति सः (म.द.ऋ.भा.३.३.६)} वह वैश्वानर अग्नि सबको भेदते हुए नियन्त्रित करता है। वह पूर्वोक्त मानुष संज्ञक मरुद् रश्मियों को विस्तार देता हुआ अनेक सुन्दर वेगवान् किरणों और विभिन्न प्राणों के साथ अनेक रूप वाले अग्नि तत्त्व को उत्पन्न करता है।

(७) अग्ने जरस्व स्वपत्य आयुन्यूर्जा पिन्वस्व समिषो दिदीहि नः।
वयांसि जिन्व बृहतश्च जागृव उशिग्देवानामसि सुक्रतुर्विपाम्।।७।। (ऋ.३.३.७)

इसका छन्द विराड् जगती होने से छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् किन्तु तेज की अधिकता होती है। वह वैश्वानर अग्नि सक्रिय रहता हुआ विभिन्न वलों से युक्त होकर चमकता हुआ अनेक पदार्थों को उत्पन्न करता है। वह अग्नि विभिन्न प्राणों के मध्य स्थित अनेक व्यापक छन्दादि रश्मियों को अपने साथ संगत करके अनेक सृजन कर्मों को सम्पादित करता है।

(८) विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः सदा यन्तारं धीनामुशिजं च वाघताम्।
अध्वराणां चेतनं जातवेदसं प्र शंसन्ति नमसा जूतिभिर्वृधे।।८।। (ऋ.३.३.८)

इसका छन्द जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् है। प्राणापान किंवा विद्युद्रूप वैश्वानर अग्नि अपने वेगादि गुणों से विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं की वृद्धि करने के लिए निरन्तर गति करता हुआ अनेक उत्तम कर्मों को प्रकाशित करता है। उसके इस कार्य के लिए सबका पालक महान् नियन्ता-सर्वव्यापक-चेतन परमात्म तत्त्व अपनी प्रेरणा से निरन्तर प्रेरित करता है।

(९) विभावा देवः सुरणः परि क्षितीरग्निर्बभूव शवसा सुमद्रथः।
तस्य व्रतानि भूरिपोषिणो वयमुप भूषेम दम आ सुवृक्तिभिः।।९।। (ऋ.३.३.९)

इसका छन्द जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् जानें। वह वैश्वानर अग्नि विविध मनोहर दीप्तियों से युक्त अपनी किरणों के द्वारा परमाणुओं के विविध संघात कराता है। वह विद्युदग्नि अनेक वलों से सम्पन्न होकर विभिन्न अप्रकाशित परमाणुओं को सब ओर से व्याप्त करके उनके विविध कर्मों को अनेकविध पुष्ट करता है।

(१०) वैश्वानर तव धामान्या चके येभिः स्वर्विदभवो विचक्षण।

जात आपृणो भुवनानि रोदसी अग्ने ता विश्वा परिभूरसि त्मना।।१०।। (ऋ.३.३.१०)

इसका छन्द विराड् जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। वह विविध दर्शनीय वैश्वानर अग्नि प्रकाशित और अप्रकाशित परमाणुओं में अभिव्याप्त होकर समस्त लोकों को पुष्ट करता हुआ सबको नियन्त्रित करता है।

(११) वैश्वानरस्य दंसनाभ्यो बृहदरिणादेकः स्वपस्यया कविः।
उभा पितरा महयन्नजायताग्निर्द्यावापृथिवी भूरिरेतसा।।११।। (ऋ.३.३.११)।

इसका छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके छान्दस प्रभाव से वैश्वानर अग्नि वलपूर्वक सब ओर फैलता जाता है। इस अग्नि के विभिन्न प्रभावों से सबके पालक द्यु और पृथिवी लोक अपनी महान् सृजन सामर्थ्य के साथ उत्पन्न और प्रसिद्ध होते हैं। उस वैश्वानर अग्नि को चेतन और क्रान्तदर्शी परमात्मा अकेला ही अपनी इच्छा से प्रकट और महिमावान् करता है।

इन ११ छन्द रश्मियों को महर्षि आग्निमारुत शस्त्र की संज्ञा देते हैं अर्थात् ये रश्मियां पूर्व खण्ड की प्रथम कण्डिका में वर्णित अग्निर्मय मरुद् रश्मियों को भेदकर आगे की प्रक्रिया को जन्म देती हैं। इन्हीं रश्मियों के कारण वे सूक्ष्म रेत रूप रश्मियां उत्पन्न हुई थीं और इन्हीं के कारण वे रश्मियां विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकी थीं। इस कारण यहाँ इन रश्मियों की विभिन्न प्रक्रियाओं पर विचार प्रारम्भ किया जा रहा है, जो अग्रिम कण्डिकाओं में वर्णित हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व खण्ड की प्रथम कण्डिका में वर्णित विद्युत् कणों की उत्पत्ति से पूर्व १० जगती एवं १ भुरिक् पंक्ति छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इनके कारण विद्युत् विभिन्न कणों को छिन्न-भिन्न करने, शुद्ध करने, गति देने, प्रकाशित करने, धारण करने आदि कार्यों में सक्षम होती है। उन विद्युत् कणों में विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियां, प्राथमिक प्राण एवं छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। इसी के कारण विभिन्न मूल कण परस्पर संयुक्त वा वियुक्त होकर नाना प्रकार के कणों की उत्पत्ति करते हैं। यह विद्युत् एवं उसके उपादान प्राणापान मनस् तत्त्व के द्वारा उत्पन्न और प्रेरित होते हैं। **सूत्रात्मा वायु विभिन्न कणों की सीमाओं को निर्मित करने में विशेष भूमिका निभाता है। इन सब कार्यों को सम्पन्न करने में चेतन परमात्म-तत्त्व की सर्वोपरि प्रथम भूमिका होती है।।**

२. अनवानं प्रथम ऋक् शंस्तव्या। अग्नीन् वा एषोऽर्चीष्यशान्तान् प्रसीदन्नेति य आग्निमारुतं शंसति। प्राणेनैव तदग्नींस्तरति।।
अधीयन्नुपहन्यादन्यं विवक्तारमिच्छेत्, तमेव तत् सेतुं कृत्वा तरति।।
तस्मादाग्निमारुते न व्युच्यम्, एष्टव्यो विवक्ता।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त ११ छन्द रश्मियों में से प्रथम छन्द रश्मि की उत्पत्ति का प्रकार बतलाते हुए कहते हैं कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति 'अनवान' रूप से होती है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके विभिन्न पदों वा पादों के मध्य प्राथमिक प्राणादि का व्यवधान नहीं होता अर्थात् इसके पद वा पाद अन्य छन्द रश्मियों के सापेक्ष अधिक सन्निकट होते हैं। यहाँ अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध होता है कि **सभी छन्द रश्मियों के पदों वा पादों के मध्य प्राणादि प्राथमिक प्राणों का व्यवधान होता है।** यदि ऐसा न होता तो यहाँ उसका निषेध कदापि नहीं किया जाता। इन ११ रश्मियों से युक्त आग्निमारुत शस्त्र संज्ञक रश्मिसमूह रुद्र अथवा अशान्त अग्नि की ज्वालाओं को शान्त करता है। ऐसा कैसे होता है? इसको समझाते हुए ऋषि लिखते हैं कि यह छन्द रश्मि प्राथमिक प्राणों किंवा प्राण नामक प्राण के सहयोग से उस अशान्त अग्नि को शान्त करने में सक्षम होती है। यहाँ अग्नि के शान्त होने का तात्पर्य उसका नष्ट होना नहीं है वल्कि उसका नियन्त्रित व संतुलित होना है, जिससे कि सृष्टि प्रक्रिया सम्यग्रूपेण संचालित हो सके।।

पूर्वोक्त प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त रुद्र संज्ञक विकिरणों एवं तज्जन्य अग्नि की भूमिका और उसकी उग्रता की साम्यता के लिए उत्पन्न पूर्वोक्त पादनिचृद्गायत्री छन्द रश्मि एवं इन ११ अग्निमारुत छन्द रश्मियों की उत्पत्ति प्रक्रिया में कोई तत्त्व बाधक न बन जाए अथवा उनके पद वा पादों में असंतुलन न हो जाए, इस कारण उनकी रक्षा के लिए कुछ विवक्ता प्राण तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। ये प्राण तत्त्व विशेषरूप से प्रकाशित और गतिशील होते हैं। हमारे मत में इस प्रकार के छन्द प्राणों को ही "विवल" कहा जाता है। जिसका अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "विविधं बलं यस्मात् तत् छन्दः" (म.द.य.भा.१४.६)। यहाँ वकार के स्थान पर वकार का प्रयोग छान्दस है। इस छन्द के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "एकपदा वै विवलं छन्दः" (श.८.२.४.१)। हमारे मत में यह एकपदा छन्द पूर्वोक्त आहाव संज्ञक 'शोंसावोम्' छन्द रश्मि ही है, जो विभिन्न रश्मियों को परस्पर बांधे रखती है। यह भी संभव है कि यहाँ एकपदा छन्द रश्मि से "ओम्" इस सर्वव्यापक और सर्वाधिक सूक्ष्म छन्द रश्मि की ओर संकेत किया गया हो। यह छन्द रश्मि विभिन्न छन्दों के पदों को भी परस्पर बांधे रखती है। यह छन्द रश्मि विभिन्न छन्दों के अवसान और अनवान दोनों की मर्यादा को निश्चित करने में अग्रणी भूमिका निभाती है, जिससे छन्द रश्मियों का स्वरूप सुव्यवस्थित रहता है। ये दोनों एकपदा छन्द रश्मियां विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य सेतु का कार्य करती हैं। ये पूर्वोक्त तीक्ष्ण रुद्र विकिरणों, उनकी शामक गायत्री छन्द रश्मि एवं इन ११ छन्द रश्मियों को परस्पर यथानुक्रम बांधे रखती हैं। ऐसा करके ही अग्नि के तीक्ष्ण उपद्रवों को पार करके विभिन्न क्रियाओं का सम्यक् सम्पादन सम्भव होता है।।

ये अग्निमारुत शस्त्र संज्ञक छन्द रश्मियां विपरीत वा अव्यवस्थित क्रम में उत्पन्न नहीं होती। ऐसा होने पर वे अपने कार्य का निष्पादन नहीं कर सकतीं परन्तु इसके साथ यह भी निश्चित है कि ये स्वयं भी अपनी व्यवस्था नहीं बनाये रख सकतीं। इस कारण से पूर्वोक्त विवल छन्दों की इनके साथ संगति अनिवार्य है। हमारे मत में यह व्यवस्था **सर्वत्र होनी चाहिए क्योंकि उपर्युक्त दोनों एकपदा छन्द रश्मियों की भूमिका इस सम्पूर्ण सृष्टि में सदैव अनिवार्य है।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त ११ छन्द रश्मियों के विभिन्न अवयव अपेक्षाकृत अधिक निकट होते हैं। इस प्रकार ये छन्द रश्मियां इस ब्रह्माण्ड में ऊर्जा के हिंसात्मक स्तर को नियन्त्रित करने में सक्षम होती हैं। ब्रह्माण्ड की विभिन्न क्रियाओं में ऊर्जा का स्तर पृथक्-२ रहता है और उस स्तर को संतुलित रखने के लिए कुछ छन्द रश्मियों, विशेषकर जगती, गायत्री और पंक्ति की विशेष भूमिका होती है परन्तु ये छन्द रश्मियां भी स्वयं व्यवस्थित नहीं रह सकतीं। इन स्वयं को व्यवस्थित करने के लिए "ओम्" छन्द रश्मि और एक दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मि की अत्यावश्यकता होती है। इन दोनों ही छन्द रश्मियों की आवश्यकता इस सृष्टि में सर्वत्र होती है।।

३. मारुतं शंसति, मरुतो ह वा एतद् रेतः सिक्तं धून्वन्तः प्राच्यावयन, तस्मान्मारुतं शंसति।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त खण्ड में वर्णित वैश्वानर अवस्था वाले तेजस्वी पदार्थ समूह पर जो मरुद् रश्मियों का प्रहार होता है, उन मरुद् रश्मियों को प्रेरित करने के लिए राहूगणपुत्रो गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण से उत्पन्न मरुतो-देवताक ऋ.१.८७ सूक्त रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जो क्रमशः निम्नानुसार हैं-

(१) प्रत्वक्षसः प्रतवसो विरप्शिनोऽ नानता अविथुरा ऋजीषिणः।
जुष्टतमासो नृतमासो अञ्जिभिर्व्यानज्रे के चिदुस्राइव स्तृभिः।।१।। (ऋ.१.८७.१)

इसका छन्द विराड् जगती होने से मरुद् रश्मियां तीव्रता से उत्सर्जित और अवशोषित होती हैं। {विरप्शिन् = विरप्शी महन्नाम (निघं.३.३)। व्यानज्रे = वि+अज गतिक्षेपणयोः (भ्वा.) धातोर्लिट्। व्यत्ययेनात्मनेपदम्, 'इरयो रे' इति रे आदेशः (वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री)} वे मरुद् रश्मियां अपने आच्छादक गुणों से पूर्वोक्त तेजस्वी पदार्थ को छिन्न-भिन्न करती हैं। इनके बल व्यापक, अजेय और

अकम्प होते हैं। ये रश्मियां वार-२ उस तेजस्वी पदार्थ को चाहती हुई, उसको कंपाती हुई विशेषरूप से दूर-२ तक प्रक्षिप्त करती हैं।

(२) उपह्वरेषु यदचिध्वं ययिं वयंइव मरुतः केनं चित्पथा।
श्चोतंन्ति कोशा उपं वो रथेष्वा घृतमुंक्षता मधुंवर्णमर्चते।।२।। (ऋ.१.८७.२)

इसका छन्द पूर्ववत् होने से इसका छान्दस प्रभाव पूर्ववत् है। {उपह्वरम् = उपह्वरन्ति कुटिलयन्ति येन तत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.६), निकट (म.द.य.भा.२६.१५)। कोशः = मेघनाम (१.१०)} वे मरुद् रश्मियां आकाश में कुटिल मार्ग में गमन करने वाले छन्द रश्मि वा पक्षियों के समान प्रतीत होने वाले विभिन्न सुन्दर विकिरणों में व्याप्त होती हैं। वे मरुद् रश्मियां उन विकिरणों को मेघों के समान अपने तेज से निरन्तर सिक्त करती रहती हैं।

(३) प्रैषामज्मेंषु विथुरेवं रेजते भूमिर्यामेंषु यद्धं युञ्जतें शुभे।
ते क्रीळयो धुनंयो भ्राजंदृष्टयः स्वयं मंहित्वं पंनयन्त धूतंयः।।३।। (ऋ.१.८७.३)

इसका छन्द जगती होने से इसका प्रभाव उपर्युक्तवत् किन्तु तेजस्विता में अपेक्षाकृत न्यूनता होती है। वे मरुद् रश्मियां क्रीड़ा करती हुई, दीप्तियों से युक्त अपनी व्याप्ति से विभिन्न विकिरणों को कम्पाती हुई विभिन्न संघातों में संयुक्त करती हैं। वे मरुद् रश्मियां अपने व्यापक व्यवहार से विविध पदार्थों के मार्गों को भी कम्पाती हैं।

(४) स हि स्वसृत्पृषंदश्वो युवा गणो३ऽ या ईशानस्तविंषीभिरावृंतः।
असिं सत्य ऋंणयावानेंद्योऽ स्या धियः प्राविताथा वृषा गणः।।४।। (ऋ.१.८७.४)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके छान्दस प्रभाव से मरुद् रश्मियां तीव्र तेज व वल से युक्त होती हैं। वे मरुद् रश्मियां अयस् अर्थात् तेजस्वी रूपयुक्त, समूह में गमन करने वाली, अपने निकटस्थ पदार्थों को गति प्रदान करती अर्थात् सरकाती हुई उन पर अपनी वलवृष्टि करती हुई चलती हैं। वे मरुद् रश्मियां वलवर्षक मेघ के समान संयोग-वियोग आदि क्रियाओं पर अपना शासन करती हुई अपने वलों के द्वारा सवकी रक्षा करती हैं।

(५) पितुः प्रत्नस्य जन्मंना वदामसि सोमंस्य जिह्वा प्र जिंगाति चक्षंसा।
यदीमिन्द्रं शम्यृक्वांण आशतादिन्नामांनि यज्ञियांनि दधिरे।।५।। (ऋ.१.८७.५)

इसका छन्द विराड् जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् समझें। अनादि व सनातन सवके पालक व रक्षक चेतन परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार अनेक ऋचाएं अन्तरिक्ष में विद्यमान होती हैं, जिसमें मनस्तत्व सोमतत्त्व के जन्म से ही तेज व संगतीकरण के साथ उन्हें गति प्रदान करता है। वही मनस्तत्त्व सर्वतोव्याप्त इन्द्र तत्त्व को नियन्तृत्व गुण प्रदान करता है। वही मन सवको सव ओर से धारण करता है।

(६) श्रियसे कं भानुभिः सं मिंमिक्षिरे ते रश्मिभिस्त ऋक्वंभिः सुखादयंः।
ते वाशींमन्त इष्मिणो अभींरवो विद्रे प्रियस्य मारुंतस्य धाम्नंः।।६।। (ऋ.१.८७.६)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से इसका छान्दस प्रभाव उपर्युक्त जगती छन्दों के समान परन्तु कुछ हिंसक होता है। {भानुः = अहर्नाम (निघं.१.९)। इष्मः = य इच्छते य इष्यते स इष्मः (उ.को.१.१४५)} वह मनस्तत्त्व प्राण नाम प्राथमिक प्राण रश्मियों के द्वारा विभिन्न प्राणादि रश्मियों के विभिन्न किरणों द्वारा सेवन करने हेतु आकर्षणशील मरुद् रश्मियों के समूह वा धाम पर अपनी सम्यग् वृष्टि करता रहता है। वे रश्मियां विभिन्न वाग् रश्मियों के आधार तथा विभिन्न प्रकार की गतियों के प्रेरक मनस्तत्त्व के साथ विद्यमान होती हैं।

ये छः छन्द रश्मियां मारुत सूक्त के रूप में जानी जाती हैं। जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि मरुद् रश्मियां ही वैश्वानरीय अवस्था वाले तेजस्वी पदार्थ को कम्पाती हैं तथा उसके वीर्यरूप सूक्ष्मांश को उत्पन्न करती हैं। इस कारण ही मरुतों को सक्रिय करने हेतु ही इस रश्मिसमूह की उत्पत्ति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व खण्ड की प्रथम कण्डिका में वर्णित मरुद् रश्मियों द्वारा तेजस्वी पदार्थ में विस्फोट के समय उपर्युक्त पांच जगती तथा एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इनके प्रभाव से शीतल मरुद् रश्मियां भी तेजस्वी व शक्तिशाली हो जाती हैं। इन रश्मियों के वल अजेय होते हैं तथा ये तेजस्वी पदार्थ को दूर तक अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त कर देती हैं। वे मरुद् रश्मियां आकाश में विचरने वाले विकिरणों में व्याप्त होकर उन्हें विशेष वल व गति प्रदान करती हैं। वे मरुद् रश्मियां विभिन्न मूल कणों, विकिरणों को कंपाती हुई उनके मार्गों पर भी अपना नियन्त्रण करती हैं। सभी प्रकार के संयोग-वियोगादि कर्मों को सम्पादित करके नाना कणों व विकिरणों को उत्पन्न करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। इन मरुद् रश्मियों को भी प्राण नामक प्राथमिक प्राण एवं मनस्तत्त्व नियन्त्रित करते हैं परन्तु **सर्वोपरि नियामक चेतन परमात्मा ही होता है।** प्राण नामक तत्त्व के विभिन्न मरुद् रश्मियों के साथ संगत होने के कारण ही मरुद् रश्मियां अन्य प्राथमिक प्राणों के साथ संगतीकरण करने में समर्थ होती हैं।।

४. 'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये' 'देवो वो द्रविणोदः' इति मध्ये योनिं चानुरूपं च शंसति।
तद्यन्मध्ये योनिं चानुरूपं च शंसति, तस्मान्मध्ये योनिधृता।।
यदु द्वे सूक्ते शस्त्वा शंसति, प्रतिष्ठयोरेव तदुपरिष्टात् प्रजननं दधाति, प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।११।।

{योनिः = योनिरेव वरुणः (श.१२.९.१.१७)। अनुरूपः = प्रजा वा अनुरूपः (ऐ.३.२४)। प्राणो वै स्तोत्रियोऽपानोऽनुरूपः (जै.ब्रा.३.२१)। शंयुः = सुखमयः (तु.म.द.य.भा.१९.२९)}

व्याख्यानम्- इस विषय में महर्षि आश्वलायन संकेत करते हैं- "यज्ञा यज्ञा वो अग्नये देवो वो द्रविणोदा इति प्रगाथौ स्तोत्रियानुरूपी" (आश्व.श्री.५.२०.६)। यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं कि उपर्युक्त मारुत सूक्तों के मध्य दो प्रगाथ छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'प्रगाथ' शव्द की ओर कोई संकेत नहीं किया गया है परन्तु महर्षि आश्वलायन के सूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ एकल छन्द रश्मियों की उत्पत्ति नहीं वल्कि दो-२ छन्द रश्मियों के युग्मों की उत्पत्ति होती है। ये युग्म निम्नानुसार हैं-

(१) शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न सहजतापूर्वक नियन्त्रण करने वाले सूक्ष्म प्राण विशेष से अग्निदेवताक दो छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इनके दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है। ये रश्मियां और उनका प्रभाव इस प्रकार हैं-

(अ) यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्।।१।। (ऋ.६.४८.१)

इसका छन्द वृहती है। इसके प्रभाव से प्रत्येक संयोग प्रक्रिया में वाग् रश्मियों के द्वारा अग्नि तत्त्व सवल होता है और यह अग्नि तत्त्व प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान होकर इन्हीं वाग् रश्मियों के द्वारा संरक्षित रहता है। इस अग्नि तत्त्व के आकर्षण वल को हम जान सकते हैं।

(आ) ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।

भुवद्वाजेष्वविता भुवंद् वृध उत त्राता तनूनांम्।।२।। (ऋ.६.४८.२)।

इसका छन्द आर्ची जगती है। इसके छान्दस प्रभाव से विद्युदग्नि का विस्तार होकर उसके उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया बढ़ती है। इसके अन्य प्रभाव से वह विद्युदग्नि विभिन्न संयोज्य कणों की रक्षा करता हुआ विभिन्न संघातों को सम्पादित करता है। उसके बल से विभिन्न सृजन प्रक्रियाएं निर्बाध रूप से गतिशील और समृद्ध होती हैं।

इन दोनों ऋचाओं के मध्य उत्पन्न पूर्वोक्त मारुत रश्मियों के प्रथम तीन छन्दों को 'योनि' संज्ञा प्रदान की है। महर्षि आश्वलायन ने इन्हें 'स्तोत्रिय' कहा है। इससे स्पष्ट है कि प्रथम तीन मारुत ऋचाएं प्राण नामक प्राथमिक प्राण की प्रधानता वाली होती हैं, साथ ही वे वरुण रूप भी होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह तृच रश्मिसमूह इन दो रश्मियों के साथ संगत होकर विभिन्न छन्द रश्मियों को अपने साथ संगत करते हुए प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित होता है। इनमें से बृहती छन्द रश्मि अपने विस्तार से सबको बांधते हुए विभिन्न कणों को संयुक्त करके विभिन्न अणुओं के निर्माण में सहायक होती है।

अब दूसरा प्रगाथ इस प्रकार है-

(२) वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से अग्निदेवताक दो छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। वे रश्मि निम्न हैं -

(क) देवो वों द्रविणोदाः पूर्णां विंवष्ट्यासिचंम्।
उद्वां सिञ्चध्वमुपं वा पृणध्वमादिद्वों देव ओंहते।।११।। (ऋ.७.१६.११)

इसका छन्द भुरिगनुष्टुप् है। इसके प्रभाव से विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने वाले प्राथमिक प्राण रूपी देव पदार्थ विभिन्न छन्द रश्मियों को आकर्षित करने के लिए अपनी सूक्ष्म रश्मियों की वृष्टि करते हैं और ऐसा करके वे उन छन्द रश्मियों की विभिन्न क्रियाओं को तृप्त करते हैं।

(ख) तं होतांरमध्वरस्य प्रचेंतसं वह्निं देवा अंकृण्वत।
दधांति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनांय दाशुषें।।१२।। (ऋ.७.१६.१२)

इसका छन्द निचृत् पंक्ति है। इसके प्रभाव से अग्नि तत्त्व विभिन्न कणों की उत्पत्ति करने के लिए सुन्दर तेजस्वी किरणों का रूप धारण करके निर्बाध रूप से संयोग प्रक्रियाओं को संचालित करता है और इसके लिए अनुकूल ऊष्मा को उत्पन्न करता है।

ये दोनों रश्मियां अपने छान्दस प्रभाव से संयोग प्रक्रिया का विस्तार करती हैं। इन दोनों ऋचाओं के मध्य पूर्वोक्त मारुत सूक्त के द्वितीय तृच रूप रश्मिसमूह की उत्पत्ति होती है। उस द्वितीय तृच में जो प्रथम ऋचा है, उसका छन्द त्रिष्टुप् होने से वह ऋचा वृषा रूप होती है और इस प्रगाथ की प्रथम रश्मि अनुष्टुप् होने से उस वृषा रूप त्रिष्टुप् छन्द रश्मि से सम्मिलित होकर सृजन कर्मों को विस्तृत करने में सहायक होती है। इस विस्तार में पंक्ति छन्द का भी अनिवार्य सहयोग रहता है।।

त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए महर्षि अन्यत्र लिखते हैं- "वृषा वै त्रिष्टुब् योषानुष्टुप्" (ऐ.आ.१.३.५) इन दोनों छन्द रश्मियों के मध्य उत्पन्न तीन मारुत रश्मियों को अनुरूप संज्ञा प्रदान की है। इसका तात्पर्य यह है कि इनमें अपान प्राण की प्रधानता होती है तथा ये पूर्व रश्मियों के अनुकूल ही प्रकाशमान होती हैं। इस प्रकार ये दोनों तृच रश्मियां प्रगाथ रश्मियों के मध्य उत्पन्न होती हैं। इन दोनों ही तृच छन्द रश्मियों के प्रगाथों के मध्य उत्पन्न होने के कारण इनके मध्य स्थित पूर्वोक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मि वृषा रूप होकर योषा रूप अनुष्टुप् छन्द रश्मि के माध्यम से पूर्व तृच रूप योनि को धारण करती है। त्रिष्टुप् छन्द की मध्यम संज्ञा करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "त्रिष्टुप् छन्द इन्द्रो देवता मध्यम" (श.१०.३.२.५)। इस प्रकरण से यह भी प्रतीत होता है कि इस सृष्टि में विभिन्न योषा व वृषा संज्ञक छन्द रश्मियों का संयोग उनके मध्य स्थित किसी सूक्ष्म स्थान विशेष में विशेषरूप से होता है किंवा उस स्थान से संयोग प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, सम्पूर्ण छन्द रश्मि में एक साथ समान रूप से यह क्रिया नहीं होती और न ही किसी अन्य स्थान से प्रारम्भ होती है ऐसा हमारा मत है।।

अब महर्षि कहते हैं {प्रतिष्ठा = प्रतिष्ठा पुच्छं वयसाम् (ऐ.आ.१.४.२)} कि दो सूक्तों अर्थात् वैश्वानरीय और मारुत संज्ञक सूक्त रश्मियों की उत्पत्ति होने के पश्चात् ही उपर्युक्त दोनों प्रगाथ रश्मियों की उत्पत्ति होती है। उपर्युक्त कण्डिका से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रगाथ रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् मरुद्देवताक सूक्त की दो तृच रूप भागों में उत्पत्ति होती है परन्तु यहाँ स्पष्टतः कहा गया है कि दोनों प्रगाथ रश्मियों की उत्पत्ति मरुद्देवताक सूक्त रश्मियों की उत्पत्ति के उपरान्त ही होती है, तब प्रगाथों के मध्य तृचों के उत्पन्न होने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ये प्रगाथ रश्मियां ६ मरुद्देवताक रश्मियों के मध्य उपर्युक्त कण्डिका में वर्णित व्यवस्थानुसार प्रविष्ट हो जाती हैं और उस सूक्त को दो भागों में विभक्त कर देती हैं। इन सूक्तों के प्रतिष्ठारूप पुच्छ भाग में स्थित विंदु विशेष से उत्पादन कर्मों का विस्तार होता है और यहीं से उनका जन्म भी होता है। वस्तुतः यह भाग ऐसा भाग है, जो सर्वाधिक सक्रिय भी होता है। एक तत्त्ववेत्ता ऋषि ने लिखा है- "शरत् पुच्छम्" (तै.ब्रा.३.११.१०.३)। "शरत्" पद का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द अपने यजुर्वेद भाष्य १३.५७ में लिखते हैं- "श्रृणाति येन सा (स)"। इससे संकेत मिलता है कि छन्द रश्मियों के पिछले भाग में तीक्ष्ण शरद् संज्ञक सूक्ष्म रश्मियां भी विद्यमान होती हैं। इनके द्वारा ही संयोग और वियोग दोनों ही क्रियाएं इसी स्थान से सम्पादित होती हैं अर्थात् इसी स्थान से दो छन्द रश्मियों का मिलन होता है और तीसरी रश्मि अथवा कण विशेष इसी भाग से उत्पन्न होते हैं। इस कारण यही भाग सृष्टि और प्रलय दोनों का ही उद्गम स्थान है। इसी कारण कहा गया है- "यज्ञायज्ञियं पुच्छम्" (तै.सं.४.१.१०.५; मै.२.७.८)। इस पुच्छ भाग को ही कण्डिका में प्रतिष्ठा कहा गया है। इन भागों के निर्माण और सक्रियता से ही विभिन्न मरुद् रश्मियों के साथ अनेकविध पदार्थों का निर्माण होता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ऊर्जा की उत्पत्ति और संरक्षण में विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों की भूमिका होती है। न केवल ऊर्जा अपितु द्रव्य और ऊर्जा के सामूहिक संरक्षण में भी इन्हीं छन्द रश्मियों की भूमिका होती है। इस सृष्टि में जहाँ-कहीं भी द्रव्य और ऊर्जा के संवेग-संरक्षण का सिद्धान्त भंग होता हुआ प्रतीत होता है, वहाँ भी इन्हीं छन्द वा मरुद् रश्मियों की भूमिका होती है। ऐसी स्थिति में द्रव्य और ऊर्जा, दोनों ही छन्द रश्मियों में परिवर्तित और दोनों ही उनसे प्रकट भी हो जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ का संरक्षण सदैव रहता है। विभिन्न छन्द रश्मिसमूह के मध्य में स्थित एक सूक्ष्म बिन्दु से दो या दो से अधिक छन्द रश्मियां परस्पर संयुक्त और वियुक्त होती हैं और इसी भाग में ही संयुक्त वा संपीडित रश्मियों से कणों की उत्पत्ति भी होती है। संयोग-वियोग प्रक्रिया में ये भाग ही सर्वाधिक सक्रिय होते हैं।।

इति १३.११ समाप्तः

अथ १३.१२ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. जातवेदस्यं शसति।।
प्रजापतिः प्रजा असृजत, ताः सृष्टाः पराच्य एवायन्, न व्यावर्तन्त, ता अग्निना पर्यगच्छत्, ता अग्निमुपावर्तन्त, तमेवाद्याप्युपावृत्ताः, सोऽब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति, यदब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति, तज्जातवेदस्यमभवत् तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्।।

व्याख्यानम्- खण्ड ३.३४ में प्रजापति से उत्पन्न सूक्ष्म बीज रूप रश्मि आदि पदार्थों को जिस अग्नि से आवेष्टित करने की चर्चा की गई है, वह अग्नि कैसे उत्पन्न और सक्रिय होता है, इस विषय को यहाँ स्पष्ट करते हुए महर्षि कहते हैं कि उस समय दीर्घतमा ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु और व्यान प्राण के मिश्रण से उत्पन्न हुए व्यापक फैले हुए सूक्ष्म प्राण विशेष से (इस प्राण के विषय में देखें १.१६.१०) जातवेददेवताक ऋ.१.१४३ सूक्त की उत्पत्ति होती है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस सूक्त का देवता अग्नि माना है। हमारी दृष्टि में जातवेदा अग्नि का ही एक रूप है। यहाँ उस जातवेदा अग्नि के जातवेदस्त्व की व्याख्या भी की गई है। इस कारण हम यहाँ इस सूक्त का देवता जातवेदा ही स्वीकार कर रहे हैं। इस सूक्त की रश्मियां और उनका प्रभाव निम्नानुसार है-

(१) प्र तव्यंसीं नव्यंसीं धीतिमग्नयें वाचो मतिं सहंसः सूनवें भरे।
अपां नपाद् यो वसुंभिः सह प्रियो होतां पृथिव्यां न्यसींददृत्वियंः।।१।। (ऋ.१.१४३.१)

इसका छन्द निचृज्जगती है। इस कारण इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र रूप से सक्रिय होता है। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्राथमिक प्राणों से घिरे हुए विभिन्न मरुत्, जो अन्तरिक्ष में अस्खलित रूप में स्थित हो जाते हैं, वे वसु अर्थात् गायत्री छन्द रश्मियों के साथ मन और वाक् तत्त्व के वल से निरन्तर स्थिर रहते हैं। उनको अग्नि तत्त्व से आच्छादित करने के लिए नवीन और अत्यन्त वलवती, धारणावती वाग् रश्मियां भली-भाँति पुष्ट करती हैं। ध्यातव्य है कि इस प्रकरण में वर्णित मरुद् रश्मियां प्रजापति का बीज रूप हैं, जिसके विषय में खण्ड ३.३३ की अन्तिम कण्डिका एवं ३.३४ की प्रथम कण्डिका पठनीय है।

(२) स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरंभवन्मातरिश्वंने।
अस्य क्रत्वां समिधानस्यं मज्मना प्र द्यावां शोचिः पृथिवी अंरोचयत्।।२।। (ऋ.१.१४३.२)

इसका छन्द विराड्जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्वापेक्षा कुछ मृदु परन्तु तेजस्वी होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि परम व्योम अर्थात् सर्वव्यापक आकाश तत्त्व में मातरिश्वा अर्थात् विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियों से उत्पन्न होता हुआ अग्नि प्रकट होता है। वह ऐसा अग्नि अच्छी प्रकार प्रदीप्त हुए पदार्थों को विभिन्न प्रकार के कर्म करने के लिए अपने वल के द्वारा द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक के रूप में प्रकाशित करता है।

(३) अस्य त्वेषा अजरां अस्य भानवंः सुसंदृशंः सुप्रतींकस्य सुद्युतंः।
भात्वंक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धंवोऽ ग्ने रेजन्ते असंसन्तो अजराः।।३।। (ऋ.१.१४३.३)

इसका छन्द विराड्जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् है। {अक्तुः = अक्तुभी रात्रिभिः (नि.१२.२३)} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि तत्त्व अच्छे प्रकार आकर्षण वल एवं प्रकाश से युक्त सुन्दर प्रतीत होता है। उस अग्नि की किरणें सदैव गति करती हुई, जीर्ण न होने वाली, तेजस्विता ही जिनका वल है, अन्धकारयुक्त पदार्थ को निरन्तर प्रकाशित करती हैं।

(४) यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति।।४।। (ऋ.१.१४३.४)

इसका छन्द जगती होने से छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् किन्तु प्रकाश की मात्रा कुछ कम होती है। इसके अन्य प्रभाव से उन सम्पूर्ण मरुद् रश्मियों में विद्यमान वा उत्पन्न अग्नि ज्वालाओं के रूप में सम्पूर्ण पदार्थ को कंपाने लगता है। वह अग्नि एक अर्थात् चेतन परमात्म-तत्त्व, जो अपने वल से सवको वांधने किंवा वरण करने वाला है, के समान अप्रकाशित लोकों के मध्य विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों के रूप में प्रकाशमान होता है।

(५) न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते।।५।। (ऋ.१.१४३.५)

इसका छन्द विराड्जगती होने से छान्दस प्रभाव पूर्ववत् है। वह अग्नि {स्वनः = वाङ्नाम (निघं.१.११)। तिगितः = तीक्ष्णः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१४३.५) (तिग गतौ, तिज निशाने)। जम्भः = बन्धनम् (तु.म.द.य.भा.११.७६), मुखः (तु.म.द.य.भा.१५.१५), गात्रविक्षेपः (तु.म.द.य.भा.७.३४)। भर्वति = (भर्व हिंसायाम्; भर्वति अत्तिकर्मा - निघं.२.८)। ऋञ्जते = ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा (नि.६.२१)} मरुद् रश्मियों के रूप में विद्यमान सूक्ष्म वाग् रश्मियों की पंक्तियों के समान, दिव्य अर्थात् प्राणापान से उत्पन्न विद्युत् के समान अविराम गमन करता है। वह अग्नि तीक्ष्ण गति से युक्त विभिन्न वाधक असुर रश्मियों को अपने वंधक और ताडनशील मुख के द्वारा निरन्तर नष्ट करता हुआ प्रसिद्ध होता है।

(६) कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद्वसुष्कुविद्वसुभिः काममावरत्।
चोदः कुवित्तुतुज्यात्सातये धियः शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे।।६।। (ऋ.१.१४३.६)

इसका छन्द जगती होने से छान्दस प्रभाव चतुर्थ ऋचा के समान है। {कुवित् = बहुनाम (निघं.३.१)। उचथम् = वचनम् (तु.म.द.ऋ.भा.४.२.२०)} वह महान् अग्नि वाग् रश्मियों के कारण व्यापक होकर गायत्री छन्द रश्मियों के कारण सवको वसाता और उनके विभाग करता हुआ अपने वल से सवका धारण और प्रेरण करता है।

(७) घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदमग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते।
इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम्।।७।। (ऋ.१.१४३.७)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। {अक्रः = अक्र अक्रमणात् (नि.६.१७)। उद्यंसते = उत्कृष्टतया रक्षति (म.द.ऋ.भा.१.१४३.७)} वह अग्नि अच्छे प्रकार प्रकाशमान् होता हुआ अपने तेज से हिंसक वाधक रश्मियों को नष्ट करता हुआ विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं को प्रसिद्ध करता है। विभिन्न संघातों में किसी से न दवने वाला शुद्ध-वर्ण अग्नि विभिन्न क्रियाओं को संरक्षित रखता है।

(८) अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः।
अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषद्भिः परि पाहि नो जाः।।८।। (ऋ.१.१४३.८)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने के कारण अग्नि तत्त्व, भेदक तेज और वल से युक्त होता है। {प्रयुच्छन् = (प्र+ युच्छ प्रमादे)। शिवः = शिव इति शमयत्येवैनम् (अग्निम्) एतद् हिंसायै तथो हैष (अग्निः)

इमांल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति (शिवः = रुद्रः = शान्तोऽग्निः) (श.६.७.३.१५), सुखनाम (निघं.३.६)। शग्मः = सुखनाम (निघं.३.६), सुखप्रापकः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१४३.८), कर्मनाम (निघं.२.१)। अदृपितेभिः = (दृप हर्षणमोहनयोः)} वह अग्नि सतत सक्रिय होता हुआ सतत सक्रिय रश्मियों के साथ संगत होकर पूर्ण नियन्त्रित और सुरक्षित क्रियाओं के द्वारा विभिन्न बाधक पदार्थों को दूर करता हुआ व्यवस्थित ढंग से सभी पदार्थों की रक्षा करता है।

ये सभी ८ छन्द रश्मियां जातवेदा कहलाती हैं। इस कारण अग्नि पूर्वोक्त पदार्थ में सभी उत्पन्न हुए कणों में व्याप्त हो जाता है।।

इस जातवेदा अग्नि के विषय में महर्षि पुनः लिखते हैं कि खण्ड ६ में वर्णित रुद्र विकिरणों के द्वारा सोम रश्मियों पर प्रहार करने से जो प्रजा रूप रश्मि आदि पदार्थ उत्पन्न हुआ, वह पदार्थ पूर्वोक्तानुसार विभिन्न मरुद् रश्मियों के रूप में ही था। वह उत्पन्न ऐसा पदार्थ अन्तरिक्ष में सोम रूपी प्रजापति से पृथक् होकर उससे विपरीत दिशा में प्रवाहित होने लगा। वह पदार्थ सोम पदार्थ से दूर आगे ही बढ़ता जा रहा था। उसी समय उपर्युक्त जातवेदा सूक्त रश्मियों की उत्पत्ति हुई और उसके कारण प्रज्वलित होते हुए अग्नि ने उसे चारों ओर से घेर लिया। इसी का संकेत खण्ड ३.३४ की प्रथम कण्डिका में है। जब वे तेजरूप मरुद् रश्मियां इन जातवेदा सूक्त रश्मियों एवं तज्जन्य अग्नि के द्वारा आच्छादित हो जाती हैं, उस समय उस क्षेत्र में स्थित सभी मरुद् रश्मियां अग्नि के निकट आने लगती हैं अर्थात् वे भी गर्म और तेजस्विनी होने लगती हैं। आज भी ब्रह्माण्ड में जहाँ-कहीं अग्नि की प्रबलता है, उसी ओर मरुद् रश्मियां प्रवाहित होने लगती हैं और वे प्रवाहित होती हुई मरुद् रश्मियां अग्नि के परमाणुओं के चारों ओर परिक्रमण करने लगती हैं। इसी कारण वेदज्ञ वैज्ञानिकों का मत है कि विभिन्न प्रकार की प्रजारूप मरुद् रश्मियां इस सूक्त और अग्नि तत्त्व से ही उत्पन्न होती हैं, इन छन्द रश्मियों को जातवेदा कहते हैं क्योंकि ये उत्पन्न हुई उन मरुद् रश्मियों अथवा कणों में विद्यमान होती हैं किंवा उनको प्राप्त वा व्याप्त करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- खण्ड ३.३४ में बीज रूप रश्मियों की प्रकाश और ऊष्मा से तीव्रता से युक्त होने की जो चर्चा की गई है, उसे स्पष्ट करते हुए यहाँ लिखते हैं कि उस समय ७ जगती और १ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर उन रश्मियों की ऊर्जा में भारी वृद्धि करती हैं। इससे ब्रह्माण्ड में एक तेजस्वी और अत्यन्त गर्म विशाल पिण्ड उत्पन्न हो जाता है, जिससे विभिन्न प्रकार के नवीन कण और किरणें उत्पन्न होती रहती हैं। उस क्षेत्र में जब कभी भी डार्क एनर्जी उस पदार्थ को विक्षुब्ध वा विदीर्ण करने का प्रयास करती है, उस समय अत्यन्त उच्च तापयुक्त विद्युदावेशित किरणें उस डार्क एनर्जी को निष्प्रभावी कर देती हैं। इसके कारण वह पदार्थ निर्बाध, नियन्त्रित और सुरक्षित क्रियाएं करके लोकों के निर्माण की दिशा में अग्रसर होता है। उस समय ऊर्जा न अधिक न्यून और न अधिक उच्च होती है। हमारे मत में उस समय नाभिकीय संलयन की क्रियाएं प्रारम्भ नहीं हो पाती हैं। ध्यातव्य है कि जो जगती आदि छन्द रश्मियां जिस पदार्थ को आच्छादित करती हैं, वह पदार्थ उन छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने से पूर्व अपने उत्पत्ति स्रोत से दूर जा रहा था। इन छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने तथा ऊर्जा विशेषकर ऊष्मा में वृद्धि के कारण वह दूर जाता हुआ पदार्थ कुछ स्थिर होकर सृजन प्रक्रियाओं का केन्द्र बनता है।।

२. ता अग्निना परिगता निरुद्धाः शोचत्यो दीध्यत्योऽतिष्ठन् ता अद्भिरभ्यषिञ्चत् तस्मादुपरिष्टाज्जातवेदस्यस्यापोहिष्ठीयं शंसति।।
तस्मात् तच्छमयतेव शंस्तव्यम्, ता अद्भिरभिषिच्य निजा स्यैवामन्यत।।
तासु वा अहिना बुध्न्येन परोक्षात् तेजोऽदधात्, एष ह वा अहिर्बुध्न्यो यदग्निर्गार्हपत्यः। अग्निनैवासु तद् गार्हपत्येन परोक्षात् तेजो दधाति; तस्मादाहुर्जुह्वदेवाजुह्वतो वसीयानिति।।१२।।

{आपः = वज्रो वा आपः (श.१.१.१.१७), आपो व्यानः (जै.उ.४.११.२.६), आपो वै सर्वा

देवताः (ऐ.२.१६; कौ.ब्रा.११.४), अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), उदकनाम (निघं.१.१२)। त्रिशिरा = (शिरः = गायत्रं हि शिरः - श.८.६.२.६; शिरस्सूक्तम् - जै.उ.३.१.४.३)। (सूक्तम् = आत्मा सूक्तम् - कौ.ब्रा.१४.४)। अम्बरीषः = अम्बते शब्दयतीति अम्बरीषः आकाशः स्वेदनी वा (उ.को.४.३०)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त अवस्था में वह पदार्थ जो अग्नि के द्वारा आच्छादित और निरुद्ध था, उसमें तीव्र ज्वालायें उठ रही थीं। उसका ताप भी संतुलित और नियन्त्रित नहीं था। यद्यपि पूर्व कण्डिका में ताप के नियन्त्रित होने की बात कही गई है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह ताप पूर्णतः नियन्त्रित नहीं हो पा रहा था। इस कारण पूर्वोक्त जातवेदा सूक्त रश्मियों के उत्पन्न होने के उपरान्त "त्रिशिराः, त्वाष्ट्रः, सिन्धुद्वीपः और अम्बरीषः" इन चार ऋषि प्राणों से आपोदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क ऋग्वेद १०.९ की प्रथम तीन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। सर्वप्रथम हम इन ४ ऋषि प्राणों के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार करते हैं-

(१) त्रिशिरा = सूत्रात्मा वायु मिश्रित तीन दैवी गायत्री छन्द रश्मियों का समूह।
(२) त्वाष्ट्र = {इमे त्वाष्ट्राः पशवः (काठ.८.१५; मै.१.७.२)} विभिन्न मरुद् रश्मियां।
(३) सिन्धुद्वीप = सबको बांधने वाले सूत्रात्मा वायु के दोनों सिरों पर संयुक्त व्यान रश्मियां।
(४) अम्बरीष = आकाश तत्त्व।

इन चारों के सम्मिलित रूप से ये छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इनके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी प्राथमिक प्राण अन्तरिक्षस्थ उस पदार्थ को अपनी सूक्ष्म रश्मियों से सिंचित करके रोकते हैं। ये तीन रश्मियां और उनका प्रभाव निम्न प्रकार है-

(१) आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे।।१।।

इसके अन्य प्रभाव से प्राथमिक प्राण रश्मियां पूर्वोक्त प्रदीप्त पदार्थ को ऊर्जा का समुचित स्तर प्रदान करती हैं। ऐसा करके वे विभिन्न संघातों को उत्पन्न करने में साधन बनती हैं।

(२) यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः।।२।।

वे प्राथमिक प्राण रश्मियां अत्यन्त नियन्त्रित और शान्त भाव से आकाश तत्त्व के समान वर्तते हुए ऊर्जा का विभाजन करती हैं।

(३) तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः।।३।।

वे प्राथमिक प्राण रश्मियां ऊर्जा को कुछ क्षीण करके पदार्थ को स्थान विशेष पर घनीभूत व संगत करने में सहायक होती हैं।

इन तीनों छन्द रश्मियों के कारण सक्रिय हुए प्राथमिक प्राण विक्षुब्ध पूर्वोक्त मरुद् रश्मि आदि पदार्थों को संतुलित करते हैं।।

{स्या = (स्यः = असौ - म.द.य.भा.६.१४)} ये छन्द रश्मियां अग्नि तत्त्व को शान्त अर्थात् नियन्त्रित करती हैं। इस कारण वे छन्द रश्मियां स्वयं भी प्राथमिक प्राणों द्वारा नियन्त्रित ऋषि प्राणों के द्वारा उत्पन्न होती हैं। वे छन्द रश्मियां पूर्वोक्त अशान्त तीव्र मरुद् रश्मियों के ऊपर प्राथमिक प्राण रश्मियों का सेचन करके {निज = नि+जनृ+ड = अन्तर्जात, सहज, निरन्तर रहने वाला, जन्मजात, स्वकीय (आप्टे कोष)} उन्हें अपने अन्दर समाहित करते हुए उनका तिरस्कार करती हैं अर्थात् उनके ऊपर प्रतिष्ठित हो जाती हैं, जिसके कारण अशान्त और अति क्षुब्ध रश्मियां सम्यक् नियन्त्रित होकर विभिन्न सृजन कर्मों को सम्पादित करने में समर्थ होती हैं।।

इस विषय में महर्षि आश्वलायन अपने श्रौतसूत्र ५.२०.६ में लिखते हैं- "आपो हि ष्ठेति तिस्रो वियतमप उपस्पृशन्न्वारब्धेष्वपावृतशिरस्क इदमादि प्रतिप्रतीकमाह्वनमुत नोऽहिर्बुध्न्यः श्रृणोतु"। {अहिः =

मेघनाम (निघं.१.१०), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)} महर्षि आश्वलायन के इस वचन के प्रकाश में इस कण्डिका पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त तृच के उपरान्त ऋजिष्वा ऋषि जिसके विषय में खण्ड ३.३१ की अन्तिम कण्डिका पठनीय है, से विश्वेदेवादेवताक और भुरिक् पंक्ति छन्दस्क

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु।।१४।। (ऋ.६.५०.१४)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी प्राथमिक प्राण अपने वलों का व्यापक विस्तार करते हैं। {एकपात् = एकेन पादेन पातीति वा, एकेन पादेन पिबतीति वा, एकोऽस्य पाद इति वा (नि.१२.२६)। समुद्रः = वाग्वै समुद्रः (तां.७.७.६), मनो वै समुद्रः (श.७.५.२.५२), रुक्मो वै समुद्रः (श.७.४.२.५)} इसके अन्य प्रभाव से पूर्वोक्त एक ही मार्ग पर गमन करने वाला मेघ (मरुत्समूह) जो अज अर्थात् मन संयुक्त प्राणसमूह के प्रेरण पर अन्तरिक्ष में गमन कर रहा होता है। वह मेघ अहि अर्थात् द्यु व आकाश तत्त्व, अप्रकाशित पदार्थ समूह, तेजयुक्त मन व वाक् तत्त्व आदि सबके द्वारा संरक्षित, प्रकाशित व आकर्षित होता है।

यहाँ महर्षि कहते हैं कि पूर्वोक्त गायत्री तृच रश्मियों के अन्दर इस भुरिक् पंक्ति छन्द रश्मि में विद्यमान 'अहिः' व 'बुध्न्यः' पदों के द्वारा प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही पदार्थ अन्तरिक्षस्थ विकिरणों के द्वारा परोक्षरूपेण तेजस्वी होते हैं। {ऋतवो गृहाः (ऐ.५.२५), गार्हपत्यः = प्राणोदानावेवाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च (श.२.२.२.१८)} यहाँ महर्षि कहते हैं कि 'अहिः' एवं 'बुध्न्यः' पद ही गार्हपत्य अग्नि के रूप हैं। इसका तात्पर्य है कि 'उदान' प्राण एवं विभिन्न ऋतु रश्मियां ही अन्तरिक्षस्थ अहिः हैं, जिनके सतत सेचन से परोक्ष तेज की उत्पत्ति होती है। उदान प्राण व ऋतु रश्मियों के द्वारा तेजोत्पत्ति की प्रक्रिया परोक्ष वा अव्यक्त ही होती है। इस कारण विभिन्न रश्मियों द्वारा सम्पादित सृष्टि प्रक्रिया को ही सृष्टि के विभिन्न चरणों का कारण माना जाता है, जबकि इन उदान व ऋतु रश्मियों के द्वारा तेज धारण की प्रक्रिया परोक्ष होने से इसे अप्रधान कारण ही माना जाता है। इसी कारण जो पदार्थ इस सृष्टि में प्रत्यक्ष भाग लेते हैं, उन्हें मनस्तत्व व वाक् तत्त्वों के साथ-२ महत् व प्रकृति तत्त्व की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण कारण वा पदार्थों का वासयिता कहा जाता है अर्थात् परोक्ष कारण की चर्चा कम की जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त प्रक्रियाओं में प्रायः ताप का स्तर न्यूनाधिक व कभी-२ अत्यधिक विक्षोभजनक होता रहता है। उस समय तीन गायत्री छन्द रश्मियां उस ताप को नियन्त्रित करती हैं। तारे आदि के निर्माण के विभिन्न चरणों एवं ब्रह्माण्ड में सम्पन्न हो रही अनेक खगोल भौतिक क्रियाओं में ताप पर नियन्त्रण अत्यावश्यक है। इस हेतु तीन गायत्री रश्मियां महत्वपूर्ण साधन होती हैं। इन गायत्री रश्मियों की तीव्रता आदि को नियन्त्रित करने हेतु उदान प्राण व ऋतु रश्मियां परोक्ष रूप से सक्रिय रहती हैं। ये उदान प्राण व ऋतु प्राण एक पंक्ति छन्द रश्मि के अन्दर विद्यमान होते हैं। विशेष परिज्ञान हेतु व्याख्यान भाग पठनीय है।।

इति १३.१२ समाप्तः

ॐ अथ १३.१३ प्रारभ्यते ॐ

**** तमसो मा ज्योतिर्गमय ****

१. देवानां पत्नीः शंसति; अनूचीरग्निं गृहपतिं, तस्मादनूची पत्नी गार्हपत्यमास्ते ।।

{अनूची = अनूची अनूच्यौ इतरेतरमभिप्रेत्य (नि.२.२०)}

व्याख्यानम्- इस प्रसंग में महर्षि आश्वलायन का कथन है- "देवानां पत्नी रुशतीरवन्तु न इति द्वे" (आश्व.श्रौ.५.२०.६)। इस कथन को दृष्टिगत रखते हुए महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि पूर्वोक्त छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् प्रतिक्षत्र आत्रेय ऋषि अर्थात् {क्षत्रम् = क्षत्रं वै वरुणः (श.२.५.२.६)} व्यान प्राण के प्रति संगत होते हुए सूत्रात्मा वायु से देवपत्न्यो-देवताक छन्द रश्मिद्वय की उत्पत्ति होती है। वे छन्द रश्मियां इस प्रकार हैं-

(१) देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत।।७।। (ऋ.५.४६.७)

इसका छन्द जगती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न देव पदार्थों की रक्षिका शक्तियां एक-दूसरे की ओर गति करती हुई देव पदार्थों का रूपान्तरण करती हैं। इसके अन्य प्रभाव से देव पदार्थों की रक्षिका शक्तियां, जो मूलतः चार प्रकार की अर्थात् 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' एवं सूत्रात्मा वायु के रूप में होती हैं, अपने-२ रक्षित देव पदार्थ की कामना करती हुई उनकी रक्षा करती हैं। ये चारों विभिन्न संघातों में वल के लिए अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न आपः अर्थात् तन्मात्राओं के स्वभाव को निर्धारित करने के लिए ये पत्नीसंज्ञक रश्मियां देव पदार्थों के लिए कल्याणकारक धाम प्रदान करती हैं।

(२) उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्।।८।। (ऋ.५.४६.८)

इसका छन्द निचृत्पंक्ति है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से देवों की शक्तियां विस्तृत होती हैं अर्थात् उन देव पदार्थों का विस्तार करती हैं। इसके अन्य प्रभाव से वे शक्तिरूप भूरादि उपर्युक्त रश्मियां इन्द्राणी अर्थात् इन्द्र तत्त्व की रक्षिका, अश्विनी अर्थात् प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों की रक्षिका, अग्नि, वरुण आदि तत्त्वों की रक्षिका वन कर उत्पादन कर्मों को व्याप्त करती हैं। वे विभिन्न वाग्रश्मियों को भी व्याप्त करती हैं।

ये दोनों छन्द रश्मियां पूर्वोक्त गार्हपत्याग्नि रूप 'अहि-बुध्न्य' पदों से युक्त "उत नोऽहिर्बुध्न्यः......" की ओर गमन करती हैं। इस कारण देवों की रक्षिका उपर्युक्त चार रश्मियां "उत नोऽहिर्बुध्न्यः......" में विद्यमान 'अहिः' एवं 'बुध्न्यः' पदों रूप रश्मियों के सम्मुख जाकर स्थित हो जाती हैं। यहाँ पूर्व खण्डोक्तवत् 'अहिः' 'बुध्न्यः' का अर्थ उदान व ऋतु का संयुक्त रूप मानें, तव सिद्ध होगा कि देवों की रक्षिका भूरादि रश्मियां ऋतु-उदान के सम्मुख संयुक्त होकर देव पदार्थों को संरक्षित करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न कणों व तरंगों की विभिन्न शक्ति व क्रियाओं को संरक्षित करने के लिए व्याख्यान भाग में वर्णित जगती व निचृत् पंक्ति छन्द रश्मियों की विशेष भूमिका होती है। इस क्रिया में 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' तीन सूक्ष्म छन्द रश्मियां एवं सूत्रात्मा वायु, ये चारों रश्मियां प्राणोदान के

साथ परस्पर अभिमुख होती हुई संयुक्त होती हैं। ये दोनों छन्द रश्मियां भी एक भुरिक् पंक्ति छन्द रश्मि के अभिमुख संयुक्त हो जाती हैं। इस ऐसे संयोग से ही पूर्व खण्डोक्त प्रक्रियाएं संरक्षित व गतिशील रहती हैं। विशेष परिज्ञान हेतु व्याख्यान भाग पठनीय है।।

२. तदाहू राकां पूर्वां शंसेज्जाम्यै वै पूर्वपेयमिति।।
तत्तन्नादृत्यम्, देवानामेव पत्नीः पूर्वाः शंसेत्। एष ह वा एतत् पत्नीषु रेतो दधाति, यदग्निर्गार्हपत्यः अग्निनैवासु तद्गार्हपत्येन पत्नीषु प्रत्यक्षाद् रेतो दधाति, प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कुछ ऋषियों का मत व्यक्त करते हैं कि इस प्रकरण वा सृष्टि के इस चरण में पूर्वोक्त देवपत्न्यः देवताक छन्द रश्मिद्वय की उत्पत्ति के पूर्व राकादेवताक छन्द रश्मिद्वय की उत्पत्ति होती है। इन रश्मियों की चर्चा आगे इसी खण्ड में की जायेगी। वे ऋषि यह भी कहते हैं कि {जामिः = उदकनाम (निघं.१.१२), (जमतीति गतिकर्मसुपठितम् - निघं.२.१४), अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), (अङ्गुलिः = नानावीर्या अङ्गुलयः - तै.सं.६.१.६.५)} ये राकादेवताक छन्द रश्मियां अपने तेज एवं बल से पूर्वोक्त रश्मियों से सींचने व उनकी क्रियाओं को गति प्रदान करने वाली होती हैं, इस कारण इनकी उत्पत्ति पहले होनी चाहिए, जिससे कि वे पूर्व छन्द रश्मियों को अवशोषित करके उन्हें अधिक सक्रिय व सतेज बना सकें।।

इस मत का खण्डन करते हुए महर्षि कहते हैं कि यह मत आदरणीय अर्थात् स्वीकरणीय नहीं है। पूर्वोक्त देवपत्न्यः देवताक छन्द रश्मियों की ही उत्पत्ति प्रथमतः होती है। पूर्व में जो गार्हपत्याग्नि संज्ञक **'अहिर्बुध्न्यः'** पद किंवा उदान, ऋतु प्राण एवं भूरादि शक्तिरूप सूक्ष्म छन्द रश्मियां परस्पर अभिमुख होकर संयुक्त होती हैं, उस प्रक्रिया में उदान+ऋतु रूप **'अहिर्बुध्न्य'** पद रश्मियों के द्वारा भूरादि में अपने सूक्ष्म तेज का सेचन किया जाता है। यह गार्हपत्य अर्थात् **'अहिर्बुध्न्यः'** अग्निरूप है, जिसे हम पूर्व खण्ड की अन्तिम कण्डिका में व्याख्यात कर चुके हैं। इस कारण इस गार्हपत्य अग्नि के द्वारा ही इन देवपत्नी रूप भूरादि रश्मियों में रेत का आधान किया जाता है और उस आधान से ही विभिन्न कण आदि पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न- **'भूः', 'भुवः'** व **'स्वः'** सर्वाधिक सूक्ष्म प्राथमिक छन्द रश्मियां हैं, उनमें किसी अन्य के द्वारा रेत का सेचन कैसे सम्भव है? उधर **महर्षि याज्ञवल्क्य** का कथन है- **"वागु हि रेतः"** (श.१.५.२.७)। जब वाक् रश्मियां स्वयं रेतः का रूप हैं, तब उनमें रेतः का सेचन कैसे सम्भव है?

उत्तर- यह सत्य है कि वे सूक्ष्म रश्मियां सर्वाधिक सूक्ष्म होने से रेतः का स्वरूप ही हैं परन्तु वैदिक वाङ्मय में योषा व वृषा ये दोनों विशेषण सापेक्ष हैं। जो पदार्थ किसी पदार्थ के सापेक्ष योषा है, तो वही पदार्थ दूसरे के सापेक्ष वृषारूप भी है। **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने वाक् को जहाँ रेत कहा, वहीं कहा- **"योषा हि वाक्"** (श.१.४.४.४) एवं **"योषा वै पत्नी"** (श.१.३.१.१८)। जब ये भूरादि रश्मियां वाग्रूप हैं, तब वे योषा सिद्ध हो ही जाती हैं। ऐसी स्थिति में पुनः **महर्षि याज्ञवल्क्य** कहते हैं- **"वृषा हि मनः"** (श.१.४.४.३)। इस कारण भूरादि रश्मियों में भी मनस्तत्त्व ही रेत सिंचन करता है। यह मन उदान+ऋतु प्राण के मध्य स्थित होता है। तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने मन व प्राणों के सम्बन्ध के विषय में कहा है- **"अर्धभाग्वै मनः प्राणानाम्"** (ष.१.५), **"मन इदं सर्वमेकं भूत्वा प्राणे प्रतिष्ठितम्"** (जै.ब्रा.३.३७१) एवं **"मनसा हि प्राणो धृतः"** (काठ.२७.१; क.४२.१)। इस कारण यहाँ उदान+ऋतु में स्थित मनस्तत्त्व ही इन भूरादि सूक्ष्म रश्मियों में अपने तेजरूप बीज का वपन करता है। इसके अभाव में कोई सृजन प्रक्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती।।

इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर विभिन्न मरुत्, छन्द रश्मि आदि पदार्थ उत्पन्न होकर

उनके द्वारा नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसके द्वारा ही विभिन्न आदित्य लोकों रूपी प्रजा उत्पन्न होने के साथ उन लोकों में नाना तत्त्वों का उत्पादन प्रारम्भ होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** व सूत्रात्मा वायु आदि सूक्ष्म संरक्षिका शक्तियों के अन्दर मनस्तत्त्व का सूक्ष्मांश सदैव प्रवाहित होता रहता है। यह मनस्तत्त्व ही इन सूक्ष्म रश्मियों के साथ संगत सृष्टि के विविध कर्मों को सम्पादित करता है। यदि यह संगत कर्म सम्पन्न न होवे, तो सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ ही न हो सके किंवा मन व वाक् के सूक्ष्म स्तर के आगे बढ़ ही न सके। यदि ऐसा हो जाए तो किसी भी पदार्थ का निर्माण सम्भव न होकर ब्रह्माण्ड का अस्तित्व ही न हो सके। इसलिए सृष्टि प्रक्रिया को सहज व सतत संचालित करने के लिए **सर्वोच्च चेतन सत्ता परमात्मा द्वारा मन व वाक् द्वारा परस्पर संयोग से विविध सृष्टि को प्रकाशित किया जाता है।।**

३. तस्मात् समानोदर्या स्वसाऽन्योदर्यायै जायाया अनुजीविनी जीवति।।

{स्वसा = स्वसारः अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), सु असा स्वेषु सीदतीति वा (नि.११.३२), सुष्ठ्वस्यतीति स्वसा (उ.को.२.९८)। उदरम् = उदरं वै सदः (कौ.ब्रा.११.८)। जाया = जाया गार्हपत्यः (अग्निः) (ऐ.८.२४)।}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रसंग में देव पदार्थों की रक्षिका भूरादि रश्मियों के अन्दर उदान+ऋतुप्राण व मनस्तत्त्व के द्वारा तेज धारण कराने की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि समान स्थानों में उत्पन्न वा उनमें होने वाली अच्छे प्रकार प्रक्षेपण की क्रिया अन्य स्थानों में होने वाली वैसी ही क्रियाओं के समान प्राण धारण करने वाली होती हैं। इसका आशय है कि प्रकाशक वा प्रकाशित कणों के अन्दर होने वाली स्वसा संज्ञक क्रियाएं उदान+ऋतु प्राण वा मन के अन्दर होने वाली वा उनमें स्थित क्रियाएं, बल एवं गति आदि के समान बल व गति वाले हो जाते हैं। इसी कारण उनका परस्पर सामंजस्य होकर आगे की क्रियाएं सम्पन्न हो पाती हैं। यदि यह सामंजस्य न होवे, तो क्रियाएं आगे नहीं बढ़ सकतीं बल्कि दोनों प्रकार की क्रियाओं व बलों में असामंजस्य होने पर विध्वंसक स्थिति अवश्य बन सकती है। इसे दूसरे प्रकार से और भी व्यक्त किया गया प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है-

यहाँ पूर्व खण्ड की अन्तिम कण्डिका में दर्शायी गयी छन्द रश्मि, जिसमें 'अहिर्बुध्न्य' पद विद्यमान था तथा अग्रिम कण्डिका में दर्शायी राकादेवताक ऋचाएं समानोदर्या अर्थात् समान स्तर पर उत्पन्न होने वाली छन्द रश्मियां हैं। ये समान स्तरीय इस कारण हैं क्योंकि ये दोनों ही ऋषि प्राणों से उत्पन्न होती हैं परन्तु भूरादि छन्द रश्मियां, जो पत्नी अर्थात् संरक्षिका शक्तियों का रूप होती हैं, वे अन्योदर्या होती हैं अर्थात् असमान स्तर वाली व असमान क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली होती हैं। वे सूक्ष्मतम स्तर वाली होने से किसी अन्य छन्द वा ऋषि रश्मि से उत्पन्न नहीं होती। इतने पर भी वे समानोदर्या छन्द रश्मियां इन असमानोदर्या भूरादि रश्मियों के ऊपर निर्भर व उन्हीं से जीवित वा प्राणवती होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न छन्द रश्मियों के बल तथा क्रियाएं मन द्वारा भूः आदि वाक् रश्मियों के अन्दर प्रेषित तेज व बल की अनुसारी ही होती हैं। **छन्द रश्मियों के बल, मन व वाक् के मध्य कार्यरत वा प्रवाहित बल में परस्पर पूर्ण सामंजस्य होता है।** बिना इसके सृष्टि में कोई भी सृजन क्रिया सम्भव नहीं है। हाँ, ऐसा न होने पर विध्वंसक क्रियाएं अवश्य हो सकती हैं। छन्द रश्मियों के मध्य कार्यरत अन्योऽन्य क्रियाएं मनस्तत्त्व एवं सूक्ष्मतम वाग् रश्मियों के मध्य कार्यरत बल पर ही आश्रित व उन्हीं के द्वारा जीवित भी रहती हैं। इस सृष्टि में मूल जड़ बल मन व सूक्ष्म वाग् रश्मियों का ही है, जो सभी बलों का मूल कारण है। **हाँ, इनके भी बल का कारण चेतन परमात्म तत्त्व है।।**

४. राकां शंसति, राका ह वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति, यैषा शिश्नेऽधि।। पुमांसोऽस्य पुत्रा जायन्ते य एवं वेद।।

{राका = राति ददातीति राका (उ.को.३.४०), पुंसो वा एतद् रूपं यद् बृहत् स्त्रियै जगती (जै.ब्रा.३.२६१), या सिनीवाली सा जगती (ऐ.३.४७)। सीव्यति = रचयति (तु.म.द.ऋ. भा.२.१७.४)। शिश्नम् = शिश्नं वै शोचिष्केशम्.....(श.१.४.३.६), (शोचिष्केशः = शोचींषि तेजांसि केशा इव यस्य सः (म.द.ऋ.भा.३.२७.४), (श्नथति वधकर्मा - निघं. २.१९), अशुद्धं सूत्रम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१०५.८)। रराणः = भृशं दाता (म.द.भा.४.२. १०)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान से राकादेवताक एवं विराड् जगती छन्दस्क दो ऋचाएं उत्पन्न होती हैं। इनके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न रश्मियों व कणों के मिश्रण-अमिश्रण की प्रक्रिया तेजस्वी व विस्तृत होती है। इस क्रिया का विभिन्न पदार्थों में त्वरित स्थानान्तरण होता है। ये दोनों छन्द रश्मियां एवं उनका अन्य प्रभाव निम्नानुसार है-

(१.) राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्।।४।। (ऋ.२.३२.४)

अहंकार तत्त्व आत्मा अर्थात् सूत्रात्मा वायु के द्वारा किंवा स्वयं अपने द्वारा सम्यग्रूपेण प्रकाशित व आकर्षण वलों व क्रियाओं के द्वारा विभिन्न मिश्रणामिश्रण क्रियाओं को सम्पादित करता है। वह सूत्रात्मा वायु सुई के समान विभिन्न रश्मियों को परस्पर सींता हुआ विविध रचनायें करता है। वह अच्छेद्य वायु अनेक दानादि क्रियाओं को उत्पन्न करता है।

(२.) यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा।।५।। (ऋ.२.३२.५)

अच्छे रूप व दीप्तियों से युक्त मिश्रणामिश्रण की क्रियाएं विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करती हैं। वे ऐसी क्रियाएं मनस्तत्त्व से सुप्रेरित इस सर्गयज्ञ में असंख्य पोषणकर्मों को उत्पन्न करती हैं।।

वस्तुतः ये दोनों जगती छन्द रश्मियां ही राकास्वरूप वाली हैं। ये छन्द रश्मियां विभिन्न पुरुष संज्ञक पदार्थ अर्थात् मरुतों, प्राणों व इनकी एवं अन्य अनेकों संयोग प्रक्रियाओं के वीच वा उनके चारों ओर आच्छादिका के रूप में विद्यमान अनेकों तेजस्वी रश्मियों को परस्पर सीने, बांधने का कार्य करती हैं। इसके साथ ही ये हानिकारक अशुद्ध सूत्ररूपी रश्मियों को पृथक् करने का कार्य करती हैं। वे तेजस्वी रश्मियां भी विभिन्न वाधक रश्मियों को पृथक् करने का कार्य करती हैं किंवा उन्हें नष्ट करती रहती हैं, जिसके कारण मिश्रणामिश्रण की वांछनीय प्रक्रिया सम्यक् संचरित होती रहती है।

इस प्रकार की क्रियाओं के सम्पन्न होने पर पुमान् {पुमान् = वीर्यं पुमान् (श.२.५.२.३६), पुमान् पुरुमना भवति पुंसतेर्वा (नि.६.१५)।} अर्थात् वल व क्रिया से अति सम्पन्न पुत्र अर्थात् विभिन्न पालक प्राण प्रकट हो उठते हैं। इनके प्रभाव से सृष्टि में तीव्र क्रियाएं होने लगती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- दो विशेष जगती छन्द रश्मियां विभिन्न रश्मियों व कणों के मध्य संयोग-वियोग की प्रक्रिया को तीव्र करती हैं। इस क्रिया में मन एवं सूत्रात्मा वायु की मूल प्रेरणा रहती है। ये रश्मियां विभिन्न तेजस्वी रश्मियों को परस्पर सींने-बांधने का कार्य करती हैं। विभिन्न रश्मियों के चारों ओर सूक्ष्म तेजयुक्त रश्मियां भी विद्यमान होती हैं। उनके परस्पर समन्वय का कार्य भी इन जगती रश्मियों के द्वारा सम्पन्न होता है। इसके प्रभाव से इस ब्रह्माण्ड में अनेक अति सक्रिय तरंगें प्रकट होने लगती हैं, जिसके कारण सृजन क्रियाएं तीव्र हो उठती हैं।।

५. पावीरवीं शंसति, वाग्वै सरस्वती पावीरवी। वाच्येव तद् वाचं दधाति।। तदाहुर्यामीं पूर्वां शंसे३त्, पित्र्या३मिति।।

यामीमेव पूर्वां शंसेत् 'इमं यम प्रस्तरमा हि सीद' इति राज्ञो वै पूर्वपेयं तस्माद् यामीमेव पूर्वां शंसेत्।।

{पावीरवी = पविरिति वज्रनाम (निघं.२.२०), ततो मत्वर्थीय इरन् छान्दसः, पवीरमायुधं तद्वान् पवीरवान् पवीरवत् प्राति सास्य देवता" इत्यण् प्रत्यये छान्दसं रूपम्......तद्देवता वाक् पावीरवी, पावीरवी च दिव्या वाक् (नि.१२.३०; वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री से उद्धृत), शोधयित्री (म.द.ऋ.भा.६.४९.७)। यंसन् = दद्यात् (म.द.ऋ.भा.५.२.१२), प्रेरयेत् (म.द.ऋ.भा.१.१६०.३), यंसन् = यच्छन्तु (नि.६.१९)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त पावीरवीदेवताक जिसे महर्षि दयानन्द ने विश्वेदेवादेवताक माना है एवं ब्राह्मी उष्णिक् छन्दस्क

पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात्।
ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत्।।७।। (ऋ.६.४९.७)

की उत्पत्ति पूर्वोक्त ऋजिष्वा ऋषि प्राण से होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से वज्ररूप वाक् तत्त्व विद्युत् कणों के साथ ऊष्मा की भी वृद्धि करता है। इसके अन्य प्रभाव से वीर पत्नी अर्थात् प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की रक्षिका सूक्ष्म वाग्रश्मियां अर्थात् भूरादि रश्मियां, जो कमनीय गुणों से युक्त होती हैं, ये रश्मियां विचित्र आयु अर्थात् संयोगप्रक्रिया वाली {यज्ञो वा आयुः (तां.६.४.४)} तथा शोधक गुणों से युक्त सूक्ष्म व प्राथमिक वज्ररूप होती हैं। ये रश्मियां विभिन्न कर्मों व दीप्तियों को धारण करने हारी अच्छेद्य तथा सबको आश्रय व वास देने वाली होती हैं। यह वाग् रश्मि पूर्वोत्पन्न छन्द रश्मियों के अन्दर स्थापित हो जाती है। यहाँ 'सरस्वती' पद पर विचारार्थ कुछ आर्ष वचनों को प्रस्तुत करते हैं- "अथ यत्स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम्" (ऐ.३.४), एषा वा अपां पृष्ठं यत् सरस्वती (तै.ब्रा.१.७.५.५), अन्तरिक्षं सारस्वतेन (अवरुन्धे) (श.१२.८.२.३२), सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम् (कौ.ब्रा.१२.२), (स्फूर्ज = गरजना, विस्फोट होना, चमकना एवं फूट पड़ना - आप्टेकोष)। इन वचनों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि इस छन्द रश्मि एवं ऐसी अन्य सारस्वत रश्मियों के कारण ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ जो पूर्वोक्त तेजस्वी अवस्था में विद्यमान होता है, वह आकाश तत्त्व को बांधे रखता है अर्थात् वह अति सघन होता है। इस छन्द रश्मि के साथ आपः अर्थात् प्राथमिक प्राण भी संयुक्त रहते हैं और वे ही आकाश तत्त्व को बांधे रखते हैं। ये किरणें द्वितीय वज्ररूप होती हैं, जो उस लोक में अत्यन्त गम्भीर नाद के साथ अकस्मात् भारी विस्फोट करती हैं। उस विस्फोट में उत्पन्न अनेक छन्द रश्मियों के अन्दर ये छन्द रश्मियां व्याप्त हो जाती हैं।।

यहाँ कुछ विद्वानों के प्रश्न को उपस्थित करते हुए महर्षि कहते हैं कि इसके पश्चात् यामी अर्थात् यम देवताक छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है अथवा पितर देवताक? यहाँ यमदेवताक छन्द रश्मि अगली कण्डिका में दर्शायी है तथा पितरदेवताक छन्द रश्मि को इसी खण्ड में "उदीरतामवर उत्परासः. ..." कण्डिका में दर्शाया है।।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि प्रथमतः यम ऋषि {अथैष एवं गार्हपत्यो यमो राजा (श.२.३.२.२)} अर्थात् प्रथम कण्डिका में वर्णित 'अहिर्बुध्न्य' जो उदान+ऋतुप्राण रूप है, से यमदेवताक तथा विराड् त्रिष्टुप् छन्दस्क-

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व।।४।। (ऋ.१०.१४.४)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से उदान+ऋतुप्राण की नियन्त्रक शक्ति अत्यन्त बलवती होती है। इसके अन्य प्रभाव से 'अहिर्बुध्न्य' रूप उदान व ऋतुप्राण उत्पादक किरणों, जो तीव्र

तप्तावस्था में उत्पन्न हुई थीं, के साथ संयुक्त होकर तीव्र गति से गमन करता हुआ पदार्थ नियन्त्रित होता है। इसके कारण वे पदार्थ क्रान्तदर्शी तेज से युक्त होने पर भी परस्पर संगत होने लगते हैं तथा परस्पर संयोग से तृप्त होते हैं।

यह छन्द रश्मि तीव्र बल व तेज से युक्त होने के कारण बिखरते हुए पदार्थ को अपने अन्दर पूर्व अर्थात् प्रथमतः एवं पूर्णता से व्याप्त होते हुए अवशोषित व नियन्त्रित करने में सक्षम होती है, इस कारण इसकी उत्पत्ति प्रथम होती है। इसके पश्चात् पितर देवताक छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में ऐसे अनेक विशाल पिण्ड बन जाते हैं, जो अति गर्म, तेजस्वी तथा अत्यधिक गुरुत्वाकर्षण बल के प्रभाव से, आकाश तत्त्व को अपनी ओर संकुचित किये रहते हैं। उस समय ब्राह्मी उष्णिक् छन्द रश्मि के प्रभाव से ही ऐसा रूप बन पाता है। यह रश्मि विभिन्न प्राथमिक प्राणों के साथ संगत होकर ऐसे विशाल लोकों को घेर लेती है। इसके प्रभाव से उस लोक का ताप व विद्युद् आवेशित कणों की मात्रा तीव्रता से बढ़ने लगती है। उस समय इस छन्द रश्मि के साथ अन्य अनेक छन्द रश्मियों के संगत होने से अकस्मात् तीव्र घोष के साथ उस विशाल लोक में विस्फोट होता है, जिससे उसका पदार्थ अत्यन्त तीव्र वेग से सब ओर भागने लगता है। ऐसा वह पदार्थ परस्पर दूर व दूरतर जाने का प्रयास करता है परन्तु तभी एक विराड् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर उदान प्राण एवं ऋतु प्राणों को सक्रिय कर देती है। इन दोनों ही प्राणों का संयुक्त रूप, जो सबको नियन्त्रित करने का सामर्थ्य रखता है, उस भागते हुए पदार्थ को अपने अन्दर व्याप्त करने लगता है। फिर वह ऐसा करके उस पदार्थ में तीव्र गति के विरुद्ध दिशा में अत्यन्त बल उत्पन्न करता है, जिससे वह दूर भागता हुआ पदार्थ परस्पर संगत होने लगता है। यह प्रसंग आधुनिक विज्ञान के महाविस्फोट के सिद्धान्त से कुछ मेल खाता है परन्तु यहाँ विस्फोट होने वाला लोक अति सूक्ष्म आयतन वाला न होकर विशाल है। उसमें अनन्त ताप व घनत्व भी नहीं है बल्कि अधिकता अवश्य है। इसके साथ ही यह प्रारम्भिक स्थिति भी नहीं है। वस्तुतः यह प्रकरण महा विस्फोट के सिद्धान्त के स्थान पर भारतीय खगोलशास्त्री प्रो.ए.के.मित्रा के MECO में से निरन्तर विस्फोटित होते व बहिर्गमन करते पदार्थ से गैलेक्सियों के बनने की प्रक्रिया के अधिक निकट है।।

६. 'मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिरिति' काव्यानामनूचीं शंसति। अवरेणैव वै देवान् काव्याः परेणैव पितॄन्, तस्मात् काव्यानामनूचीं शंसति।।

{मातली = मातरि जगन्मातरि लीयते इति, विभक्तिलोपः छान्दसः (अथर्व.भाष्य.१८.१.४७ प्रो. विश्वनाथ विद्या मार्तण्ड)। ऋक्वभिः = प्रशस्ता ऋचः स्तुतयो विद्यन्ते येषु कर्मसु तैः (म.द.ऋ.भा.१.८७.६)।}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त **यामी** ऋचा की उत्पत्ति के अनन्तर एक अन्य यामी अर्थात् पूर्वोक्त **यम ऋषि** व यम देवताक एवं निचृत् त्रिष्टुप् -

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति।।३।। (ऋ.१०.१४.३)

की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से अन्तरिक्षरूपी माता में लीन होने वाला पूर्वोक्त पदार्थ विभिन्न ध्वनियों से युक्त, ताप एवं विद्युत् से संयुक्त विभिन्न ऋग्रश्मियों के द्वारा समृद्ध होता है। इस पदार्थ को पूर्वोक्त यम अर्थात् प्राण तथा ऋतु रश्मियों का संयुक्त रूप नियन्त्रित करता है एवं विभिन्न देव अर्थात् प्राथमिक प्राण रश्मियां अन्य सभी प्रकाशित कणों व रश्मियों को {स्वधा = स्वकीया धारणा शक्तिः - तु.म.द.ऋ.भा.१.८८.६) स्वाहा = वाङ्नाम (निघं.१.११), अनिरुक्तो वै स्वाहाकारः (श.२.२.१.३)} अपनी अव्यक्त वाक् की धारणा शक्ति से तृप्त करती हैं।

इस निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि से काव्य अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियां परस्पर अभिमुख होकर एक-दूसरे के साथ संगत होने की दिशा में तीव्रता से अग्रसर होती हैं। यह छन्द रश्मि देवों अर्थात् प्राथमिक प्राणों की अपेक्षा अवर अर्थात् निम्न भाग में तथा पितर अर्थात् ऋतु रश्मियों के उपरिभाग में संगत होती है। इस प्रसंग में प्राथमिक प्राण से केवल उदान प्राण का ग्रहण करना अधिक समीचीन है। पूर्व में उदान+ऋतु प्राण के संयुक्त रूप को गार्हपत्याग्नि कहा है। उसी संयुक्त रूप में मध्य भाग में ये छन्द रश्मियां संगत हो जाती हैं। इस कारण यह छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों के अभिमुख होती हुई उत्पन्न होती है। इसके साथ ही यह छन्द रश्मि वक्ष्यमाण पितर देवताक छन्द रश्मि से पूर्व उत्पन्न होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ब्रह्माण्ड में दूर भागते हुए पदार्थ के नियन्त्रण हेतु एक अन्य निचृत् त्रिष्टुप् प्राण की भूमिका होती है। यह छन्द रश्मि पूर्वोक्त नियन्त्रक उदान प्राण व ऋतु रश्मियों के मध्य संगत हो जाती है। इसके कारण उस युग्म की नियन्त्रण क्षमता और भी बढ़ जाती है। उस समय उस पदार्थ में व्याप्त विभिन्न छन्द रश्मियां इस त्रिक् की ओर अभिमुख हो कर तेजी से गमन करती हैं। इन सबके संगम से वह पदार्थ तीव्रतया संघनित होने लगता है।।

७. 'उदीरतामवर उत्परासः' इति पित्र्याः शंसति।।
'उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः' इति।।
ये चैवावमा, ये च परमा, ये च मध्यमास्तान् सर्वाननन्तरायं प्रीणति।।

{शङ्खः = शम्+ख = शाम्यतीति शङ्खः (उ.को.१.१०२)। यामायनः = (यामः = याति गच्छति येन स यामो रथः - म.द.ऋ.भा.१.३४.१)। सोम्यासः = ये सोममैश्वर्यमर्हन्ति ते (म.द.य.भा.१६.५७)। ईरताम् = (ईर क्षेपे)। वृकः = वज्रः (म.द.य.भा.२१.३८), वज्रनाम (निघं.२.२० - वै.को. से उद्धृत), स्तेननाम (निघं.३.२४)।}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त **शंखो यामायन ऋषि** अर्थात् विभिन्न मार्गों में व्याप्त नियन्त्रक सूक्ष्म प्राण विशेष से पितृ देवताक एवं विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचा के पूर्वार्ध की उत्पत्ति होती है। इसका प्रथम पाद है- "उदीरता मवर उत्परासः"। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न ऋतु रश्मियां तीव्र तेज व बल से युक्त होती हैं। इस पाद के अन्य प्रभाव से अवर तथा परास अर्थात् अल्प शक्ति व क्रिया वाली तथा तीव्र शक्ति व क्रिया वाली ऋतु संज्ञक रश्मियां तथा अनपीतपाप्मा अर्थात् असुर पदार्थ से आक्रान्त पदार्थ उत्कृष्टरूपेण प्रेरित होने लगते हैं। तदुपरान्त द्वितीय पाद "उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।" के प्रभाव से मध्यम स्तर के ऋतु प्राण तथा असुराक्रान्त पदार्थ भी उत्कृष्टरूपेण प्रेरित होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त जो विभिन्न मरुद् रश्मियों से व्याप्त हैं, ऐसे असुराक्रान्त पदार्थ भी इसके प्रभाव से प्रकृष्टरूपेण प्रेरित होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस घटना में असुर पदार्थ की भूमिका रहती है, जो पदार्थ को दूर-२ बिखेरता व कहीं पूर्वोक्त विशाल लोक में विस्फोट भी करता है। उस आसुर प्रभाव को यह छन्द रश्मि अपने पूर्वार्ध के प्रभाव से दूर करके पदार्थ को एकत्र होने में सहयोग करती है। यह पूर्वार्ध (अर्धर्च) सभी प्रकार के पदार्थों (पितर पदार्थों) को अपने प्रभाव में लेकर उन्हें दूर भागने से रोकती है किंवा उन ऋतु प्राणों को बलवान् बनाकर पदार्थ को संघनित करने में सहयोग करती है।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विस्फोट से दूर भागते हुए पदार्थ को संघनित करने में सहयोग करने वाली विभिन्न ऋतु रश्मियों के प्रायः तीन स्तर होते हैं- दुर्बल, मध्यमबल एवं सबल। इन तीनों ही प्रकार की रश्मियों को समुचित तेज व बल प्रदान करने के लिए एक विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क रश्मि का पूर्वार्ध भाग प्रकट होकर सक्रिय होता है। इसके कारण वे ऋतु रश्मियां अपने पूर्वोक्त कर्म को समुचितरीत्या सम्पन्न करके दूर भागते पदार्थ को संघनित करने में अधिक सक्षम हो जाती हैं। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि विस्फोट के लिए डार्क एनर्जी भी उत्तरदायी है और इसी के कारण पदार्थ दूर भी भागता है। इस

छन्द रश्मि के प्रभाव से डार्क एनर्जी के प्रभाव से प्रभावित चाहे वह न्यून रूप से प्रभावित हो वा अधिक वा मध्यम रूप से, यह छन्द रश्मि उन सभी को डार्क एनर्जी के प्रभाव से मुक्त करके संघनित होने में सहयोग करती है।।

८. 'आहं पितृन्त्सुविदत्राँ अवित्सि' इति द्वितीयां शंसति।।
'बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य' इत्येतद्ध वा एषां प्रियं धाम; यद्बर्हिषद इति, प्रियेणैवैनांस्तद्धाम्ना समर्धयति।।
प्रियेण धाम्ना समृध्यते य एवं वेद।।

{सुविदत्रम् = सुष्ठु विद्यते तत् सुविदत्रम् (उ.को.३.१०८), सुष्ठु दातारम् (म.द.ऋ.भा.२.१.८)। विष्णुः = व्यापको व्यानो धनंजयो वा हिरण्यगर्भः (तु.म.द.ऋ.भा.६.२१.६), विष्णुस्तेजनम् (ऐ.१.२५)। बर्हिषत् = महन्नाम (निघं.३.३), (बर्हिः = अन्तरिक्षनाम - निघं. १.३, पशवो वै बर्हिः - ऐ.२.४, प्रजा वै बर्हिः - कौ.ब्रा.५.७, संवर्धितं तेजः - तु.म.द.ऋ.भा.१.१८८.४)। पित्वः = अन्नादिकम् (म.द.ऋ.भा.६.२०.४)। धाम = अङ्गानि वै धामानि (काश.४.३.४.११ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)।}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त पूर्वोक्त देवता व ऋषि वाली एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क-

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः।।३।। (ऋ.१०.१५.३)

रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् किन्तु तेजस्विता कुछ न्यून। इसके अन्य प्रभाव से पूर्वोक्त ऋतु रश्मियां, जो अच्छी प्रकार विभिन्न पदार्थों में व्याप्त होती हैं, इसके साथ ही वे अपने नियन्त्रक बल को भी सब ओर से व्याप्त कर देती हैं। वे रश्मियां उदान प्राण के साथ-२ अविनाशी व्यापक व्यान तथा धनंजय प्राण की विशेष गतियों को भी प्राप्त कर लेती हैं। ये ऋतु रश्मियां उस दूर भागते हुए पदार्थ के साथ-२ उस विशाल लोक, जिससे कि वह सम्पूर्ण पदार्थ विस्फोट द्वारा बाहर निकल रहा होता है, में भी व्याप्त हो जाती हैं। वह लोक विस्फोट से सर्वथा रिक्त नहीं होता है बल्कि उसमें से वह पदार्थ सतत प्रवाहित होता रहता है। आकाश में स्थित सोम रश्मियां जो सर्वत्र व्याप्त होती हैं, अपने कार्यभूत विभिन्न संयोज्य कणों का सेवन करते हुए सब ओर संगत होती हैं। ध्यातव्य है कि **'पितर'** शब्द के ऋतु रश्मियों के अतिरिक्त अन्य भी कई अर्थ हैं। यहाँ उनमें से कुछ का ग्रहण समीचीन है, एक तत्त्ववेत्ता ऋषि ने कहा- **"ऊष्मभागा हि पितरः" (तै.ब्रा.१.३.१०.६)** अर्थात् ऊष्मायुक्त कणों को भी **'पितर'** कहते हैं। जब इस प्रकरण में इस अर्थ का ग्रहण किया जायेगा, तब **'बर्हिः'** का अर्थ विभिन्न पशु अर्थात् छन्द व मरुद् रश्मियां ग्रहण करना उचित है। ऐसी स्थिति में इस ऋचा के प्रभाव से विभिन्न ऊष्मायुक्त कण विभिन्न मरुत् व छन्द रश्मियों की धारणा शक्ति के कारण उस विशाल हिरण्यगर्भ रूप लोक में सब ओर व्याप्त होते हैं, साथ ही बाहर प्रवाहित पदार्थ भी इन छन्द व मरुद् रश्मियों में व्याप्त होता है। यह पदार्थ इन रश्मियों के कारण विविध प्रकार की गतियां करता हुआ भागता रहता है। इसके अतिरिक्त जब **'पितर'** का अर्थ असुर पदार्थ से आक्रान्त पदार्थ का ग्रहण करें, उस समय **'बर्हिः'** का अर्थ संवर्धित तेज ग्रहण करना होगा क्योंकि ऐसे पदार्थ को तेजरूपी वज्र ही असुर पदार्थ से मुक्त करता है, जिसके उपरान्त ही वह पदार्थ परस्पर संगत होने में समर्थ होता है।

यहाँ महर्षि का यह भी कथन है कि विस्फोट में बिखरा हुआ पदार्थ तीनों प्रकार के **बर्हिः** संज्ञक पदार्थों अर्थात् अन्तरिक्ष, छन्दादि रश्मियां तथा वज्ररूप तेजस्वी किरणों में व्याप्त हो जाता है। ये तीनों ही पदार्थ इस पदार्थ के प्रिय धाम हैं। वह बिखरता हुआ पदार्थ इन तीनों ही धामरूप पदार्थों से समृद्ध व संगत होता है। इस प्रकार की स्थिति बनने पर वह पदार्थ विभिन्न मरुद्, छन्दादि रश्मियों तथा

आकाश तत्त्व के साथ समुचितरीत्या संगत होकर बिखरते पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया को समृद्ध करता है।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि उसी समय त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह रश्मि उदान व ऋतु रश्मियों के साथ-२ व्यान व धनंजय रश्मियों को भी संगत करती है। ये सभी रश्मियां न केवल ब्रह्माण्ड में बाहर बिखरते हुए पदार्थ अपितु विस्फोटित विशाल लोक के अन्दर व्याप्त हो जाती हैं। इस कारण वह लोक विस्फोट से सर्वथा रिक्त नहीं होता है बल्कि उसमें से विभिन्न मूल कणों व विविध रश्मियों का बहिर्गमन दीर्घ काल तक निरन्तर चलता रहता है। इस बाहर रिसते, उत्सर्जित होते पदार्थ से अनेक लोकों का निर्माण पूर्वोक्तरीत्या होता रहता है। इस छन्द रश्मि से विभिन्न ऊष्मामय पदार्थ विभिन्न मरुद् व छन्द रश्मियों व ऋतु प्राणों के साथ संगत होते तथा डार्क एनर्जी से आक्रान्त पदार्थ इस रश्मि के तीव्र तेज के आघात से डार्क एनर्जी के भारी प्रक्षेपक बल से मुक्त हो जाते हैं। इस कारण विभिन्न कण परस्पर संगत होकर पदार्थ की सघनता की स्थिति को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।।

६. 'इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य' इति नमस्कारवतीमन्ततः शंसति, तस्मादन्ततः पितृभ्यो नमस्क्रियते।।
तदाहुर्व्याहावं पित्र्याः शंसे३त्। अव्याहावाँ३ इति। व्याहावमेव शंसेत्, असंस्थितं वै पितृयज्ञस्य साधु। असंस्थितं वा एष पितृयज्ञं संस्थापयति यो व्याहावं शंसति, तस्माद् व्याहावमेव शंस्तव्यम्।।१३।।

{पूर्वासः = प्रकृष्टाः पूर्णबला इति मे मतम्। उपरासः = उप+रमु क्रीडायाम् (भ्वा.) धातोः 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पा.अ.३.२.१०१), सूत्रेण डः प्रत्ययः प्रथमाबहुवचने च जस्य सुगागमे रूपम् (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री)।}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त पूर्वोक्त ऋषि-देवताक तथा विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क-

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु।।२।। (ऋ.१०.१५.२)

की उत्पत्ति होती है। इसका छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसके अन्य प्रभाव से वे पूर्वोक्त पितर अर्थात् ऋतु रश्मि प्राण, ऊष्मायुक्त कण वा तरंगें एवं असुर पदार्थ से आक्रान्त पदार्थ चाहे, वह प्रकृष्ट रूप में विद्यमान हो अथवा न्यून बल वाला हो चुका हो, इस रश्मि के प्रभाव से तीक्ष्ण वज्रयुक्त रश्मियों से युक्त होकर पृथिवी अर्थात् अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान वह पदार्थ निश्चय ही नियन्त्रण में आने लगता है। यह छन्द रश्मि नमस्कारवती है, इसका तात्पर्य है कि यह त्रिष्टुप् छन्द रश्मि तीव्र तेज व बल रूप वज्र बनकर उस समस्त पदार्थ को असुरादि पदार्थ से मुक्त करके अपनी ओर झुकाने में तथा परस्पर संगत करने में सक्षम होती है। इस कारण पूर्वोक्त अनेक क्रियाओं के अन्त में इन तीनों पितर संज्ञक पदार्थों को इस ऋग्रश्मि के द्वारा अपनी ओर झुकाकर विशेषरूपेण संगत किया जाता है। इसके प्रभाव से वे सभी पदार्थ नमः अर्थात् अन्नरूप होकर परस्पर एक-दूसरे का भक्षण-अवशोषण करके संघनित होने लगते हैं।।

यहाँ कुछ विद्वानों के प्रश्न को उपस्थित करते हुए महर्षि कहते हैं कि क्या इन पूर्वोक्त पितृदेवताक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति विशेषरूप से आहाव संज्ञक 'शोंसावोम्' की उत्पत्ति से प्रारम्भ होती है? अर्थात् प्रत्येक पितृदेवताक छन्द रश्मि से पूर्व क्या इस आहाव संज्ञक छन्द रश्मि की उत्पत्ति विशेषतः अनिवार्य है अथवा नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि कहते हैं कि प्रत्येक पितृदेवताक छन्द रश्मि की उत्पत्ति विशेषरूप में 'शोंसावोम्' की उत्पत्तिपूर्वक ही होती है। इस आहाव रश्मि के अभाव में पूर्वोक्त पितृदेवताक

छन्द रश्मियों का संगमन आदि कर्म अपूर्ण ही रहता है अर्थात् इनके जो पूर्व में विविध प्रभाव हमने दर्शाये हैं, वे पूर्णता को प्राप्त नहीं हो पाते हैं अर्थात् वे पूर्णतः सिद्ध नहीं हो पाते हैं। अपूर्ण क्रियाओं से पदार्थ का संघनन व विविध पदार्थों की उत्पत्ति असम्भव होती है। इस कारण इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रत्येक ऋचा के पूर्व **'शोंसावोम्'** छन्द रश्मि अवश्य ही उत्पन्न व संगत होती है, जिससे सभी वांछित क्रियाएं पूर्णता से सिद्ध हो सकें। यहाँ **'वि+आहावः'** में **'वि'** उपसर्ग लगाने से महर्षि यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि यहाँ **'आहाव'** संज्ञक छन्द रश्मि की उत्पत्ति सामान्यरूपेण सम्पन्न होने वाली प्रक्रिया नहीं है बल्कि यह विशेष-रूपेण उत्पन्न होने वाली अनिवार्य प्रक्रिया है। इसका दूसरा आशय हमें यह प्रतीत होता है कि ये **'शोंसावोम्'** छन्द रश्मियां विशेष प्रकार से अर्थात् सामान्य से हट कर इन पितृ-देवताक छन्द रश्मियों के साथ उत्पन्न होकर संगत हो जाती हैं। इनका यह विचित्र रूप यहीं उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं, इस कारण भी यह क्रम विशेष ही है, सामान्य नहीं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रकरण में ही उस समय एक विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जो सम्पूर्ण पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया को और भी गति देती है। ब्रह्माण्ड में बिखरा हुआ क्षीण ऊर्जा वाला पदार्थ किंवा तीव्र ऊर्जायुक्त भागता हुआ पदार्थ, सभी कुछ इस छन्द रश्मि के तेज से आकर्षित व आक्रान्त होकर इसी की ओर गति करने लगता है, जिससे सम्पूर्ण पदार्थ नियन्त्रित वा सक्रिय होकर इसी छन्द रश्मि की ओर झुकने लगता है और फिर परस्पर संगत होकर संघनित होने लगता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पूर्वोक्त जो भी छन्द रश्मियां, जो विस्फोट के पश्चात् उत्पन्न होकर पदार्थ को संघनित करने में महती भूमिका निभाती हैं, उन सभी रश्मियों के प्रारम्भ में एक दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मि अनिवार्य रूप से उत्पन्न होकर संगत होती रहती है। इसके विशेष प्रभाव से पूर्वोक्त छन्द रश्मियां विशेष बलवती होकर अपने कार्य को पूर्ण कर पाती हैं। इस रश्मि के अभाव में संघनन कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। हमारे मत में इस सूक्ष्म रश्मि के प्रभाव से विद्युत् आवेशित कण विशेषरूप से प्रकट वा उत्पन्न होने लगते हैं, इस कारण वह पदार्थ परस्पर संगत व संघनित होने की दिशा मे तीव्रता से अग्रसर होता है।।

ॐ इति १३.१३ समाप्तः ॐ

ॐ अथ १३.१४ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. 'स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायम्' इतीन्द्रस्यैन्द्रीरनुपानीयाः शंसति, एताभिर्वा इन्द्रस्तृतीयसवनमन्वपिबत्, तदनुपानीयानामनुपानीयात्वम्।।
माद्यन्तीव वै तर्हि देवता यदेता होता शंसति, तस्मादेतासु मद्वत् प्रतिगीर्यम्।।

{गर्गः = गृणात्युपदिशतीति गर्गः (उ.को.१.१२८), गृणात्यर्चतिकर्मसु पठितम् (निघं.३.१४), गृणातेः स्तुतिकर्मणः (नि.३.५)। स्वादुः = प्रजा वै स्वादुः (जै.ब्रा.२.१४४), प्रजा स्वादुः (ऐ.आ.१.३.४), मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४)। च्यौत्ना = बलानि (म.द.ऋ.भा.६.४७.२), च्यौत्नमिति बलनाम। उर्वी = पृथिवीनाम (निघं.१.१), द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०), नदीनाम (निघं.१.१३), ऊर्णुञ् आच्छादने+कु+ङीष् (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री)। प्रवतः गतिकर्मा (निघं.२.१४)। पीयूषम् = पीयति पीयते वा तत् (उ.को.४.७७)। प्रतिगरः = मदो वै प्रतिगरः (श.४.३.२.५), पपिवांसः = पीतवन्तः (नि.१२.४२)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर गर्ग ऋषि अर्थात् एक ऐसा सूक्ष्म प्राण, जो अति मन्द शब्द व दीप्ति को उत्पन्न करता हुआ विभिन्न रश्मियों के प्रति अति मन्द आकर्षण का भाव रखता है, से इन्द्रदेवताक चार छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। महर्षि दयानन्द ने इन चारों ऋचाओं का देवता सोम माना है। इस प्रकरण में हमें ऐतरेय का मत ही स्वीकार्य है। ये चारों छन्द रश्मियां निम्नानुसार हैं-

(१) स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु।।१।। (ऋ.६.४७.१)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्र व हिंसक तेज व बल से युक्त होता है। इसके अन्य प्रभाव से पूर्वोक्त बिखरते हुए सूक्ष्म पदार्थ से उत्पन्न विभिन्न कण व उनका युग्मरूप किंवा उनके मिथुन बनने की प्रक्रिया विभिन्न मधु अर्थात् प्राणों से युक्त होकर तीव्र व स्पष्ट होने लगती है। इस प्रक्रिया में पूर्वोक्त विभिन्न रश्मियों का भी तेज विद्यमान होता है। ऐसे उन पदार्थों को अति बलशाली इन्द्र तत्त्व अपने अन्दर व्याप्त करने लगता है।

(२) अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस यस्येन्द्रो वृत्रहत्ये ममाद।
पुरूणि यश्च्यौत्ना शम्बरस्य वि नवतिं नव च देह्यो३ हन्।।२।। (ऋ.६.४७.२)

इसका छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अपने आकर्षणादि बलों को विस्तृत करता हुआ समृद्ध होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह पूर्वोक्त इन्द्र तत्त्व निन्यानवे प्रकार के विभिन्न कणों में व्याप्त होकर {शम्बरः = बलनाम (निघं.२.९), मेघनाम (निघं.१.१०), उदकनाम (निघं.१.१२)।} उन्हें सक्रिय और तृप्त करता है। ये ९९ प्रकार के कण बलवान् मेघरूप उस विशाल लोक से अन्तरिक्ष में विसृत होते रहते हैं किंवा उस विसृत पदार्थ के परस्पर संयोग से उत्पन्न होते हैं। यह इन्द्र तत्त्व असुर तत्त्व के साथ संघर्ष करके उसके बलों को नष्ट करता है।

(३) अयं मे पीत उदियर्ति वाचमयं मनीषामुशतीमजीगः।

अयं षळुर्वीर॑मिमीत धीरो न याभ्यो भुव॑नं कच्चनारे।।३।। (ऋ.६.४७.३)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से उस समस्त पदार्थ को व्याप्त करता हुआ इन्द्र तत्त्व मनस् तत्त्व द्वारा गतिशील विभिन्न कमनीय छन्द रश्मियों को उत्कृष्टता से व्याप्त करता है। इसके साथ ही मन रूपी असुर तत्त्व के द्वारा हिंसित कमनीय छन्द-रश्मियों को ऊपर उठाकर अपने अन्दर व्याप्त कर लेता है। {मनीषा = मनस्-ईषापदयोः समासे शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। ईषा = ईष गतिहिंसादर्शनेषु (भ्वा.) धातोः 'गुरोश्च हलः' इत्यङ् स्त्रियाम्, ततष्टाप्} इस कारण यह इन्द्र तत्त्व विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित कणों को ६ प्रकार से धारण करता हुआ लोकों का निर्माण करता है।

(४) अयं स यो व॑रिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृ॑णोदयं सः।
अयं पीयूषं॑ तिसृषु॑ प्रवत्सु सोमो॑ दाधारोर्व१न्तरि॑क्षम्।।४।। (ऋ.६.४७.४)।

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् है, किन्तु यह प्रभाव किंचित् मृदु और अधिक प्रकाशित होता है। इसके अन्य प्रभाव से यह सोम किंवा सोम से तृप्त हुआ इन्द्र तत्त्व गति करते हुए पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु को अपने तेज के द्वारा धारण करता है। यह ऐसा इन्द्र तत्त्व अप्रकाशित कणों, अनेक रश्मियों के गुणों एवं प्रकाशित कणों को वृष्टिकारक गुणों से युक्त करता है और यही आकाश तत्त्व को विस्तारयुक्त करने में सहयोग करता है।

इन छन्द रश्मियों को महर्षि ने अनुपानीया कहा है। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि इन्हीं छन्द रश्मियों के द्वारा वह इन्द्र तत्त्व तृतीय सवन अर्थात् अन्तरिक्षस्थ विभिन्न जगती रश्मियों को अपने साथ संगत करके विभिन्न मरुद् रश्मियों का पान अर्थात् अवशोषण करता है। क्योंकि तृतीयसवन की स्थिति बनने के उपरान्त ही यह मरुद् रश्मियों का पान करता है, इसी कारण ये छन्द रश्मियां अनुपानीया कहलाती हैं।।

इन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के समय विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् प्रकाशित पदार्थ एवं प्राथमिक प्राणादि रश्मियां अति सक्रिय होकर अनेक विचित्र गतियों से युक्त होने लगती हैं और उस स्थिति में वे ऐसे देव पदार्थ प्रति-ध्वनि उत्पन्न करते हुए सूक्ष्म छन्द रश्मियां उत्सर्जित करने लगते हैं। उन सूक्ष्म छन्द रश्मियों में 'मद्' शब्द भी विद्यमान होता है, जिसके कारण सभी पदार्थ और भी अधिक सक्रिय होकर नाना प्रकार से नृत्य करने लगते हैं। इस विषय में महर्षि आश्वलायन लिखते हैं- "स्वादुष्किलायमिति चतस्रो मध्ये चाऽऽह्वानं मदामो दैव मोदामो दैवोमित्यासां प्रतिगरो" (आश्व.श्रौ.५.२०.६)। इस वचन से स्पष्ट है कि वे प्रतिध्वनिरूप रश्मियां "मदामो दैव" एवं "मोदामो दैवोम्" ही उत्पन्न होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त स्थिति में चार त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां उत्पन्न होने से इससे ब्रह्माण्ड में विभिन्न विद्युदावेशित कणों की ऊर्जा तेजी से बढ़ती है पुनरपि वे परस्पर संगत भी होते जाते हैं। उस समय उस पदार्थ में ६६ प्रकार के कणों की उत्पत्ति हो चुकी होती है। उस समय डार्क एनर्जी का तीव्र प्रक्षेपक बल भी इन कणों को विक्षुब्ध व प्रक्षिप्त करने का प्रयास करता है परन्तु विभिन्न पदार्थों की तीव्र ऊर्जा उस प्रयास को विफल कर देती है। वह विद्युत्संयुक्त वायुरूपी इन्द्रतत्त्व डार्क एनर्जी के अन्दर विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों में से कुछ को अपने बल से बाहर खींच कर उस डार्क एनर्जी के प्रभाव को दुर्बल वा नष्ट कर देता है। सभी मूल कणों, विभिन्न तरंगों तथा आकाश तत्त्व, सर्वत्र ही विद्युत् का प्रभाव बढ़ जाता है। इस कारण उस समय सम्पूर्ण पदार्थ पूर्वोक्त विस्फोट से उत्पन्न तीव्र व सरलरेखीय गति, जिसको पूर्वोक्त अनेक रश्मियों के बलों ने परिवर्तित करके संगम की प्रक्रिया प्रारम्भ की थी, विचित्र ढंग से विविध कम्पन करते हुए नृत्य में परिवर्तित हो जाती है। उस समय विभिन्न कणों के इस नृत्य, परस्पर संघर्षण, टकराव से विविध प्रकार की सूक्ष्म छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर अनेक विचित्र ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करती हैं।।

२. 'ययोरोजसा स्कभिता रजांसीति' वैष्णुवारुणीमृचं शंसति, विष्णुर्वै यज्ञस्य दुरिष्टं

पाति वरुणः स्विष्टम्। तयोरुभयोरेव शान्त्यै।।
'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम्' इति वैष्णवीं शंसति, यथा वै मत्यमेवं यज्ञस्य विष्णुः।
तद्यथा दुष्कृष्टं दुर्मतीकृतं सुकृष्टं सुमतीकृतं कुर्वन्नियादेवमेवैतद् यज्ञस्य दुष्टुतं दुःशस्तं सुष्टुतं सुशस्तं कुर्वन्नेति, यदेतां होता शंसति।।

{वरुणः = वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति (श.१२.७.२.१७), यः प्राणः स वरुणः (गो.उ.४.११)। मतिः = वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.८.१.२.७), प्रजा वै मतयः (तै.आ.५.६.८), इच्छा, कामना (आप्टेकोष)।}

व्याख्यानम्- इस विषय में महर्षि आश्वलायन ने लिखा है- "ययोरजसा स्कभिता रजांसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। यापत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णू अगन्वरुणा पूर्वहूती।" (आश्व.श्रौ.५.२०.६) यह ऋचा कुछ पाठभेद से अथर्ववेद में निम्न प्रकार उपलब्ध है-

ययोरोज॑सा स्कभिता रजां॑सि यौ वीर्यै॒र्वीरत॑मा शवि॑ष्ठा।
यौ पत्ये॑ते अप्र॑तीतौ सहो॑भिर्विष्णु॑मगन्वरु॑णं पूर्वहू॑तिः।।१।। (अथर्व.७.२५.१)

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि आश्वलायन श्रौतसूत्र के पाठ में कुछ त्रुटि है। जहाँ 'ययोरोजसा' के स्थान पर 'ययोरजसा' पाठ त्रुटित प्रतीत होता है। हमें अथर्ववेद संहिता का उपर्युक्त पाठ उचित प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय मेधातिथि ऋषि अर्थात् बुद्धि तत्त्व में सदैव रमण करने वाले सूत्रात्मा वायु के समान एक सूक्ष्म प्राण विशेष से विष्णु व वरुण देवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विष्णु व वरुण, दोनों तत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं। यहाँ 'विष्णु' से तात्पर्य धनंजय एवं व्यान के योग से व्यापक हुई विद्युत् तथा 'वरुण' का तात्पर्य व्यानमिश्रित प्राण तत्त्व प्रतीत होता है। इन **दोनों के बल से विभिन्न कण उत्पन्न होकर जड़ता का गुण प्राप्त करते हैं**। ये दोनों ही अपने बल और पराक्रम से सबको कँपाने वालों में श्रेष्ठ होते हैं। इन दोनों के बल सदैव अग्रसर रहते हैं तथा पूर्ण रूप से विविध आकर्षणादि बलों को इस छन्द रश्मि के द्वारा पुष्ट करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में इन दोनों की ही शक्तियाँ कुछ विशेष सन्दर्भों में विशिष्ट होती हैं। इनमें से विष्णु नामक तत्त्व की विशेषता बतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि यह तत्त्व विभिन्न कणों वा रश्मियों के मध्य सम्भावित किसी अनिष्ट संयोग को रोक देता है अर्थात् कणों वा रश्मियों के मध्य चल रही संयोग-वियोग की प्रक्रियाओं को विभिन्न बाधा एवं विकृतियों से बचाते हुए उन्हें समुचित रूप प्रदान करने में वरुण तत्त्व का सहयोगी बनता है। उधर वरुण तत्त्व विभिन्न कणों वा रश्मियों को एक ऐसा आवरण प्रदान करता है, जिससे वे सभी कण वा रश्मियां समुचित मर्यादा में रहते हुए परस्पर बंधे भी रहते हैं और एक सीमा तक पृथक् भी रहते हैं। वह वरुण तत्त्व असुर तत्त्व द्वारा आक्रान्त विभिन्न कणों वा रश्मियों को अपने बंधन बल में बांधकर परस्पर समुचितरूपेण संगत करता है। इस प्रकार ये दोनों ही तत्त्व परस्पर एक-दूसरे से समन्वित होते हुए सर्ग प्रक्रिया को यथार्थ और समुचित रूप प्रदान करते हैं। यह त्रिष्टुप् छन्द रश्मि इन दोनों ही तत्त्वों को समुचित और नियन्त्रित स्वरूप प्रदान करती है।।

तदन्तर दीर्घतमा ऋषि, जिसके विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं, के द्वारा विष्णु-देवताक एवं विराट्त्रिष्टुप् छन्दस्क

विष्णोर्नु कं वीर्या॑णि प्र वो॑चं यः पार्थि॑वानि विम॒मे रजां॑सि।
यो अस्क॑भायदुत्त॑रं सधस्थं॑ विचक्रमाणस्त्रेधोरु॑गायः।।१।। (ऋ.१.१५४.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से उपर्युक्त विष्णु तत्त्व तीव्र तेजस्वी और बलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से {विममे = विशिष्टतया सृजति (म.द.ऋ.भा.५.८५.५), विशेषेण विधत्ते (म.द.ऋ.भा.५.८१.३)} विष्णु तत्त्व के अनेक प्रकार के बल प्रकृष्ट रूप में उदित होकर विभिन्न अप्रकाशित कणों एवं लोकों को विविध प्रकार से उत्पन्न करते और धारण करते हैं। वह विष्णु तत्त्व अनेकों छन्द रश्मियों द्वारा प्रकाशित होता हुआ {उत्तरः = उद्धततरो भवति (नि.२.११)। सधस्थं = सहस्थानम् (म.द.य.भा.११.४८ - वै.को. से उद्धृत), अन्तरिक्षम् (तु.म.द.य.भा.१३.५३)।} कणों या लोकों के द्वारा ऊपर की ओर आकर्षित किंवा विकृत आकाश तत्त्व को विशेषरूप से कंपाता हुआ तीन प्रकार से रोकता किंवा धारण करता है। इस ब्रह्माण्ड में किसी स्थान विशेष में जिस प्रकार के पदार्थ एवं विभिन्न छन्दादि रश्मियां विद्यमान होती हैं, उसी प्रकार से यह उपर्युक्त विष्णु तत्त्व उनको यथायोग्य संगत करता है। इसका आशय यह भी है कि जिस-२ मात्रा और बलादि स्तर के पदार्थ एवं छन्दादि रश्मियां विद्यमान होती हैं, उसी स्तर के विष्णु तत्त्व उनके साथ संगत होते हैं अर्थात् इनका परस्पर सामंजस्य अनिवार्य है। जैसे-२ विविध कणादि पदार्थ अनिष्ट बलों द्वारा आकृष्ट एवं अनिष्ट छन्द रश्मियों किंवा असुर रश्मियों द्वारा धारण किये हुए होते हैं किंवा उन्हीं असुर रश्मियों द्वारा विकृत बलों से आक्रान्त होते हैं और इस कारण से उनके मध्य होने वाली संयोगादि प्रक्रियाएं अनिष्ट रूप से प्रकाशित और नियमित होती हैं किंवा होने की आशंका रहती है, उनको दूर करते हुए यह विष्णु तत्त्व उन सभी पदार्थों को अनुकूल छन्दादि रश्मियों के साथ संगत करके अनुकूल बलों से युक्त करते हुए उनकी संयोगादि प्रक्रियाओं को सुन्दर रूप से प्रकाशित करता हुआ अनुकूलता के साथ नियन्त्रित और संचालित करता है। विष्णु तत्त्व के इस कार्य में इस छन्द रश्मि की अनिवार्य भूमिका होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **वैकुण्ठ इन्द्र संज्ञक** (खण्ड ५.२१ में द्रष्टव्य) व्यापक विद्युत् और प्राण तत्त्व दोनों के मिश्रण से, साथ ही धनंजय और व्यान के योग से पदार्थ में **द्रव्यमान और जड़त्व का गुण उत्पन्न होता है**। विद्युत् तत्त्व के कारण ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ परस्पर एक-दूसरे से बंधे हुए परन्तु विद्युत् में अपान के विद्यमान होने से एक निश्चित अवकाश के साथ एक-दूसरे से पृथक् भी रहते हैं। इस प्रकार का विद्युत्तत्व और अपान प्राण परस्पर समन्वित होकर कार्य करते हैं। यह विद्युत्तत्व डार्क एनर्जी के प्रक्षेपक प्रभाव को नष्ट वा नियन्त्रित करता है। यह पदार्थों के मध्य कार्यरत अनिष्ट बल को रोककर विकृत पदार्थों की उत्पत्ति को रोकता है। यह डार्क एनर्जी से आक्रान्त विभिन्न कणों वा रश्मियों को आकृष्ट करके अपने साथ संगत करता हुआ सृष्टि प्रक्रिया से जोड़ता है। इन सभी प्रक्रियाओं के व्याख्यान भाग में उद्धृत त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती हैं।।

३. 'तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि' इति प्राजापत्यां शंसति, प्रजा वै तन्तुः। प्रजामेवास्मा एतत् संतनोति।।
'ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्' इति। देवयाना वै ज्योतिष्मन्तः पन्थानः। तानेवास्मा एतद् वितनोति।।
'अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्' इति। एवैनं तन्मनोः प्रजया संतनोति, प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।

{उल्बणम् = पर्याप्त, तीव्र, दृढ़ बलशाली, स्पष्ट (आप्टेकोष)। जोगुवाम् = (गुङ् अव्यक्ते शब्दे)। देवयाना = वागु देवयानः (जै.ब्रा.२.२६८)।}

व्याख्यानम्- अब महर्षि देवा ऋषि अर्थात् विभिन्न प्राथमिक प्राणों से प्रजापति देवताक एवं निचृज्जगती छन्दस्क

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।

अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।।६।। (ऋ.१०.५३.६)

की उत्पत्ति की चर्चा करते हैं। आर्य विद्वान् स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक एवं आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री ने इसका देवता सौचीक अग्नि माना है। हम महर्षि ऐतरेय के मत को स्वीकार करके इसका देवता प्रजापति मान रहे हैं। वस्तुतः सौचीक अग्नि एक ऐसा अग्नि तत्त्व है, जो विभिन्न परमाणुओं को सुई और धागे के समान सिलने-बांधने का कार्य करता है। हम इस विन्दु पर प्रजापति के विषय में कुछ आर्ष वचनों पर भी विचार करते हैं-

"तन्तुरिति प्रजाः (तै.सं.५.३.६.१), प्रजा वै तन्तुः (ऐ.३.११), प्रजापतिर्बन्धुः (तै.ब्रा.३.७.५.५)"। इन वचनों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह प्रजापति भी विभिन्न तन्तुओं अर्थात् सूत्रात्मा वायु के द्वारा सभी परमाणुओं को परस्पर सिलता हुआ बांधता रहता है और यह प्रजापति मनस्तत्त्व ही हो सकता है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से मनस् तत्त्व प्रेरित सूत्रात्मा वायु सक्रिय होकर विभिन्न परमाणुओं को परस्पर जोड़े रखता है। इसके प्रथम पाद के प्रभाव से उस समय उत्पन्न समस्त कण परस्पर सूत्रवत् आवद्ध होकर सहगमन करते हुए विस्तृत होते हैं। वे परस्पर बंधे हुए भी पृथक् ही रहते हैं तथा सभी भानु अर्थात् तेजस्वी किरणों का अनुगमन करते हुए उन्हीं का रूप हो जाते हैं। वे उत्पन्न सभी कण स्वयं भी तन्तु रूप ही होते हैं अर्थात् उनकी कोई विशेष, निश्चित और पूर्णतः ठोस आकृति नहीं होती। इस प्रकार के कणों का इसके द्वारा सम्यक् विस्तार होता रहता है।।

इसके द्वितीय पाद "ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतम्" के प्रभाव से विभिन्न कणों वा रश्मियों के ज्योतिर्मय पथों की रक्षा होती है। इससे प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों प्रकार के कण ज्योतिर्मय मार्ग पर सतत गमन करते हैं। वे दोनों ही प्रकार के पदार्थ विद्युत् से भी युक्त होते हैं। इसके साथ ही वे पदार्थ अन्य उत्पन्न पदार्थों को भी किंवा परस्पर एक-दूसरे को धारण करने की क्षमता प्राप्त करते हैं। वे सभी पदार्थ विभिन्न प्राथमिक प्राणों के साथ उनके ही मार्ग में गमन करते हैं और वे प्राथमिक प्राण सूक्ष्म वाग् रश्मियों के अनुगामी होकर सबको अपने साथ धारण करते हुए गमन करते हैं। इस पाद के द्वारा यह प्रक्रिया विस्तृत होती है।।

इस ऋचा के उत्तरार्द्ध "अनुल्बणं वयत......." के प्रभाव से {मनुः = मनुर्यज्ञनीः (तै.सं.३.३.२.१), प्रजापतिर्वै मनुः स हीदं सर्वममनुत (श.६.६.१.१९)} ब्रह्माण्ड में अव्यक्त ध्वनियाँ गुंजाने वाले, जो यत्र-तत्र विखरते हुए अति क्षीण और अस्पष्ट कर्मों को कर रहे होते हैं, वे ऐसे पदार्थ इस भाग के प्रथम पाद के प्रभाव से पर्याप्त एवं स्पष्ट पथों को विस्तृत करते हैं। इसके पश्चात् इसके अन्तिम भाग से विभिन्न पदार्थ और भी अधिक तेजस्वी होकर परस्पर एक-दूसरे के रक्षक वनकर पारस्परिक संगतीकरण को संवर्धित करते हैं और उनसे उत्पन्न अन्य पदार्थ भी विद्युत् और प्रकाशादि से युक्त होते हैं। सृष्टि प्रक्रिया को आगे वढ़ाने के लिए इन पदार्थों से उत्पन्न अन्य तेजस्वी पदार्थ भी विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ संगत होकर सम्यक् रूप से विस्तृत होते रहते हैं। इस प्रकार की स्थिति वनने पर विभिन्न कणादि पदार्थ विभिन्न छन्दादि रश्मियों के साथ प्रभूत मात्रा में अनेक तत्त्वों को निर्मित करते रहते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में **विभिन्न कण सूत्र (धागे) के समान होते हैं। कोई भी कण पूर्णतः ठोस तथा निश्चित आकृति वाला नहीं होता।** ये सभी कण स्वतंत्र रहते हुए भी सूत्रात्मा वायु रश्मियों से बंधे रहते हैं। इस बन्धन के कारण ही वे परस्पर आकर्षण-विकर्षण आदि व्यवहार करते हुए नाना तत्त्वों का निर्माण कर पाते हैं। सभी प्रकार के कणों में कुछ न कुछ मात्रा में प्रकाश की मात्रा अवश्य विद्यमान होती है, भले वह प्रकाश किसी भौतिक तकनीक द्वारा अनुभव न किया जा सके। सभी प्रकार के कणों में विद्युत् की मात्रा भी अवश्य विद्यमान रहती है, भले ही वह उदासीन रूप में क्यों न हो। वे सभी प्राथमिक प्राणों व वाक् रश्मियों के बनाए मार्ग पर ही सतत गमन करते हैं। सभी कणों व रश्मियों की गतियों एवं उनके मार्गों के निर्धारण में विभिन्न छन्दादि रश्मियों, विशेषकर यहाँ जगती की विशेष भूमिका होती है। इस जगती रश्मि के कारण ब्रह्माण्ड में प्रभूत मात्रा में अनेक प्रकार के कणों की उत्पत्ति होती है और उनका परस्पर संगम भी प्रचुर मात्रा में होता हैं।।

४. 'एवा न इन्द्रो मघवा विरप्शी' इत्युत्तमया परिदधाति। इयं वा इन्द्रो मघवा विरप्शी।।
'करत् सत्या चर्षणीधृदनर्वा' इति। इयं वै सत्या चर्षणीधृदनर्वा।।
'त्वं राजा जनुषां धेह्यस्मे' इति इयं वै राजा जनुषाम्।।
'अधि श्रवो माहिनं यज्जरित्रे' इति। इयं वै माहिनं यज्ञश्रवः। यजमानो जरिता यजमानायैवैतामाशिषमाशास्ते।।

{मघम् = धननाम (निघं.२.१०)। मघवान् = सऽ उऽ एव मखः स विष्णुः ततः इन्द्रो मखवान् अभवत्, मखवान् ह वै तं मघवानित्याचक्षते परोक्षम् (श.१४.१.१.१३)। अनर्वा = अप्रत्यृतमन्यस्मिन् (नि.४.२७; ६.२३) अर्थात् नहीं आश्रित दूसरे पर - पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य, (नञ् पूर्वक अर्वा - अर्व हिंसायाम्)। चर्षणीः = प्रकाशान् (म.द.ऋ.भा.४.७.४)। जनुषा = प्रादुर्भूतेन कर्मणा (म.द.ऋ.भा.१.१०२.८), जनुषम् जन्म (नि.६.४)। माहिनम् = महति मह्यते पूज्यते वा तत् (उ.को.२.५७), महत् (म.द.ऋ.भा.४.१७.२०)। सत्या = सिद्धाः (म.द.य.भा.२.१०)। आशिषः = अध्येषणाकर्म (निघं.३.२१), आशीराशास्तेः (नि.६.८)। श्रवः = अन्ननाम (निघं.२.७), धननाम (निघं.२.१०) श्रवः प्रशंसाम् (नि.४.२४)।}

व्याख्यानम्- इस प्रकरण में उत्पन्न सभी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् उन सबको सब ओर से धारण करने के लिए वामदेव ऋषि अर्थात् मनस् तत्त्व से विशेष सम्पन्न प्राण नामक प्राण तत्त्व से इन्द्रदेवताक एवं विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क

एवा न इन्द्रों मघवां विरप्शी करत्सत्या चर्षणीधृदनर्वा।
त्वं राजा जनुषां धेह्यस्मे अधि श्रवो माहिनं यज्जरित्रे।।२०।। (ऋ.४.१७.२०)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्र प्रकाश और बल से युक्त होता है। यह इन्द्र तत्त्व इसके प्रथम पाद के प्रभाव से मघवान् का रूप धारण करता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह इन्द्र तत्त्व विष्णु अर्थात् व्यान और धनंजय रश्मियों से युक्त होकर विभिन्न परमाणुओं को अपने प्रभाव में समाहित कर लेता है और वह इन्द्र तत्त्व विरप्शी अर्थात् अति व्यापक और महान् बन जाता है। यह छन्द रश्मि पूर्वोक्त छन्द रश्मियों को आच्छादित करके उन्हें परस्पर जोड़े रखती है, जिससे वे रश्मियां परस्पर संगत होकर निर्बाध रूप से अपने कार्य कर सकती हैं।।

इसके द्वितीय पाद के प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व स्वयं ऐश्वर्य एवं प्रकाशमान् होकर किसी के द्वारा हिंसित न होता हुआ अनेक प्रकार के कार्यों को सिद्ध करता है। यहाँ 'अनर्वा' पद का तात्पर्य यह भी है कि वह इन्द्र तत्त्व हिंसक असुरतत्त्वरूप अर्वा से रहित होता है किंवा उसको नष्ट करने में समर्थ होता है। इस इन्द्र तत्त्व एवं इस छन्द रश्मि के कारण पार्थिव परमाणु अर्थात् विभिन्न अप्रकाशित कण असुर तत्त्व के आक्रमण को निर्मूल करके विभिन्न प्रकाश रश्मियों को धारण करके नाना प्रकार के कार्य सिद्ध करते हैं। यह छन्द रश्मि सत्यारूप होकर विभिन्न प्रकार के सत्स्वरूप प्राथमिक प्राणों के अन्दर कार्य सिद्ध करने में इन्द्र तत्त्व को सक्षम बनाती है।।

इसके तृतीय पाद के प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न प्रकार के तत्त्वों के जन्म का हेतु बनता है। वह ऐसा इन्द्र तत्त्व विभिन्न कणों के मध्य समुचित बल उत्पन्न करके उन्हें धारण करता है। इसके साथ ही वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न अप्रकाशित कणों को तेजस्वी बनाते हुए उनके द्वारा क्रियमाण कार्यों को धारण किए रहता है किंवा उन्हें अक्षुण्ण रखता है।।

इसके चतुर्थ पाद के प्रभाव से यह इन्द्र तत्त्व विभिन्न संयोज्य कणों को प्रकाशित व तीक्ष्ण करने के लिए व्यापक क्षेत्र में और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए समस्त पदार्थ को उत्कृष्टता से अपने अधीन कर लेता है। इसके प्रभाव से विभिन्न पार्थिव कण अर्थात् अप्रकाशित कण ही व्यापक रूप से सृष्टियज्ञ के अनुरूप होते हैं अर्थात् उन्हीं में संयोग और वियोग की प्रक्रिया विशेषरूप से हुआ करती है। वे संयोज्य कण ही विभिन्न छन्दादि रश्मियों से युक्त इन्द्र तत्त्व द्वारा प्रकाशित होते हैं। ऐसे {आशीः = आश्रयणाद्वा ऽऽश्रपणाद्वा (नि.६.८)} वे कण इन्द्र तत्त्व एवं इस चतुर्थ पाद के प्रभाव से विभिन्न क्रियाओं के लिए प्रेरित होते एवं उनके द्वारा परिपक्व रूप प्राप्त करते और उन्हीं पर आश्रित होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ में अति सूक्ष्म स्तर तक विद्युत् व्याप्त है। यह विद्युत् धनंजय और व्यान प्राण से संयुक्त रहकर और एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि से संगत होकर अत्यन्त व्यापक और शक्तिशाली बन जाती है। ऐसी यह विद्युत् सभी मूल कणों को धारण करने वाली और उनको डार्क एनर्जी के प्रभाव से दूर रखने वाली होती है। इस प्रकार की विद्युत् शक्ति को कोई भी शक्ति अतिक्रमित नहीं कर पाती है। इसी विद्युत् के कारण सभी प्रकार के कणों में कुछ न कुछ प्रकाश की मात्रा अवश्य विद्यमान होती है। विभिन्न कणों की संयोग और वियोग की प्रक्रिया में और प्रत्येक प्रकार की रासायनिक और जैविक क्रियाओं में भी विद्युत् बल की ही भूमिका होती है। इस विद्युत् के विना इस सृष्टि का निर्माण ही सम्भव नहीं हो सकता। यह विद्युत् विभिन्न पदार्थों के मध्य अनेक प्रकार और अनेक स्तर वाले विभिन्न बलों को समुचित रूप से उत्पन्न करती है। ये समुचित और विविध बल ही विभिन्न क्रियाओं का कारण बनते हैं। असंतुलित एवं एक ही प्रकार के बलों द्वारा सृष्टि की प्रक्रिया सम्पादित नहीं हो सकती।।

५. तदुपस्पृशन् भूमिं परिदध्यात् तद् यस्यामेव यज्ञं संभरति, तस्यामेवैनं तदन्ततः प्रतिष्ठापयति।।
'अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः' इत्याग्निमारुतमुक्थं शस्त्वा आग्नमारुत्या यज-ति, यथाभागं तद्देवताः प्रीणाति, प्रीणाति।।१४।।

{भूमिः = भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत् (म.द.ऋ.भा.भू. में यजु.३१.१.का भाष्य)। मन्दसानः = मन्दते स्तुत्यादिकं करोतीति मन्दसानः (उ.को.२.८८)। गणश्रिभिः = या गणानां समूहानां श्रीः शोभा ताभिर्विद्युद्भिः (तु.म.द.य.भा.२२.३०)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के प्रभाव क्षेत्र की व्यापकता वतलाते हुए महर्षि कहते हैं कि यह पूर्वोक्त छन्द रश्मियों की आच्छादिका वह विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि समस्त उत्पन्न जगत् के पदार्थों अर्थात् मनस् तत्त्व से लेकर उस समय तक उत्पन्न हुए सभी कणों एवं रश्मि आदि पदार्थों को स्पर्श करती हुई अर्थात् सवके साथ यथायोग्य संगत होती हुई उन धारणीया छन्द रश्मियों को आच्छादित करती हुई उत्पन्न होती है। वह जिस-२ पदार्थ में प्रतिष्ठित हो जाती है, उस-२ पदार्थ में वह संगतीकरण की प्रक्रिया को प्रारम्भ कर देती है। इससे कोई भी पदार्थ अछूता नहीं रहता है। इस कारण इसके प्रभाव से समस्त पदार्थ जगत् में सृजन प्रक्रिया संचरित होती है।।

यहाँ महर्षि कहते हैं कि इस खण्ड में वर्णित उक्थ जो आग्निमारुत है, की उत्पत्ति के पश्चात् आग्निमारुत याज्या की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'उक्थ' का तात्पर्य वे छन्द रश्मियां हैं, जो परस्पर प्राण व अन्न दोनों का कार्य करती हैं। इन रश्मियों को 'आग्निमारुत' कहने का कारण यह प्रतीत होता है कि इन सभी रश्मियों को इस कण्डिका में वर्णित आग्निमारुत याज्या संज्ञक छन्द रश्मियां अपने साथ संगत करके उन सभी रश्मियों के कार्यों को यथार्थता व पूर्णरूप से सम्पादित करती हैं। हमारे मत में यही कारण प्रतीत होता हैं क्योंकि पूर्वोक्त छन्द रश्मियों का देवता अग्नि-मरुत् है ही नहीं। अव हम याज्या संज्ञक छन्द रश्मि की चर्चा करते हैं।

पूर्वोक्त छन्द रश्मियों के पश्चात् श्यावाश्व आत्रेय ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न अति तीव्रगामी सूक्ष्म प्राण विशेष से (इस ऋषि प्राण के विषय में देखें ३.१४.३) मरुद् वा अग्निदेवताक एवं जगती छन्दस्क छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके देवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व एवं मरुद् रश्मियां व्यापक क्षेत्र में फैलती हुई तीव्रता से विभिन्न कणों वा रश्मियों के साथ अन्योन्य क्रियाएं करती हैं। इसके अन्य प्रभाव से सवको प्रकाशित करता हुआ, वह विद्युदग्नि सवमें व्यापक होकर रश्मियों के समूह में चलने वाला, सवके साथ समान आकर्षण वल रखने वाला, सवको प्रदीप्त और शुद्ध करने वाली सव में व्याप्त होकर उनको प्राणयुक्त करने वाली मरुद् रश्मियों के साथ सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थ समूह को अपने अन्दर अवशोषित करता है। महर्षि ने इस छन्द रश्मि को याज्या कहा है। इस कारण यह छन्द रश्मि पूर्वोक्त छन्द रश्मियों के साथ योषा रूप होकर संयुक्त होती है। इसके प्रभाव से पूर्वोक्त छन्द रश्मियों के देवता रूप पदार्थ भी अपने-२ कार्य विभागों में पूर्णता से सक्षम होते हैं। इस विषय में महर्षि आश्वलायन का कथन है- "अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिरिति याज्या। इत्यन्तोऽग्निष्टोमोऽग्निष्टोमः।" (आश्व.श्री.५.२०.८)

अग्निष्टोम के विषय में यहाँ हम कुछ ऋषियों के वचनों को उद्धृत करते हैं- "अग्निप्रतिष्ठानो ह्यग्निष्टोमः (काठ.१४.६), अग्निष्टोमो वै संवत्सरः (ऐ.४.१२), अग्निर्वै पूर्वोऽग्निष्टोमस्सूर्य उत्तरः (काठ. ३४.८), यो वा एष (सूर्यः) तपत्येषोऽग्निष्टोम एष साह्न (ऐ.३.४४)"। महर्षि आश्वलायन एवं अन्य ऋषियों के उपर्युक्त वचनों से यह संकेत मिलता है कि जो अग्नि अत्यन्त तीव्र नहीं होती तथा उसके उत्पादन की अति विशाल और अति तीव्र प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं होती, उसको यहाँ 'अग्नि' शव्द से सम्वोधित किया है किन्तु जव अग्नि विभिन्न लोकों के केन्द्र में तीव्रता से उत्पन्न होने लगता है और पदार्थ समूह अत्यन्त तेजस्वी हो जाता है, उस अवस्था को 'अग्निष्टोम' कहते हैं और वही अग्निष्टोम अवस्था इस याज्या छन्द रश्मि के उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न हो जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त छन्द रश्मियों से युक्त विद्युत् सम्पूर्ण पदार्थ में व्याप्त हो जाती है। इससे कोई भी पदार्थ अछूता नहीं रहता। इस कारण से इस सृष्टि में संयोगादि प्रक्रिया भी अति तीव्र हो जाती है। इसी समय एक जगती रश्मि उत्पन्न होकर विद्युत् के कार्य को और भी अधिक व्यापक बना देती है। **यह विद्युत् प्राणापान, व्यान, धनंजय एवं त्रिष्टुप् आदि छन्द रश्मियों के समूह के रूप में वर्तमान होकर गमन करती है।** वर्तमान वैज्ञानिक विद्युत् के स्वरूप को अभी तक परिभाषित नहीं कर सके हैं परन्तु यहाँ महर्षि ने विद्युत् के स्वरूप को सूक्ष्मता से परिभाषित किया है। इस विद्युत् के ही कारण विभिन्न रश्मियां अत्यन्त उच्च ताप को उत्पन्न करके नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करती हैं। जिससे तारों का यथार्थ स्वरूप प्रकट होने लगता है।।

ॐ इति १३.१४ समाप्तः ॐ

ॐ इति त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः ॐ
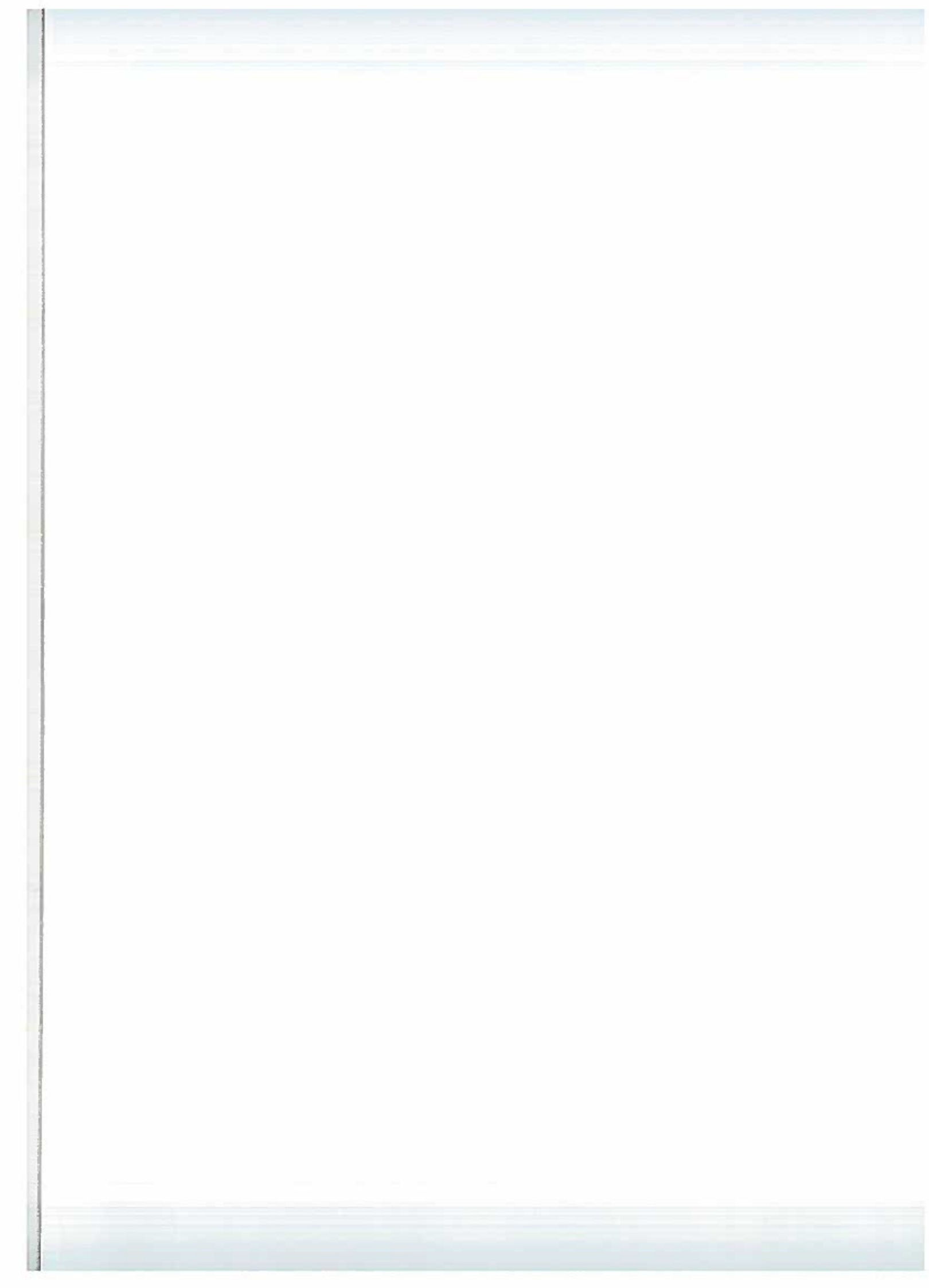
चतुर्दशोऽध्यायः

।। ओ३म् ।।
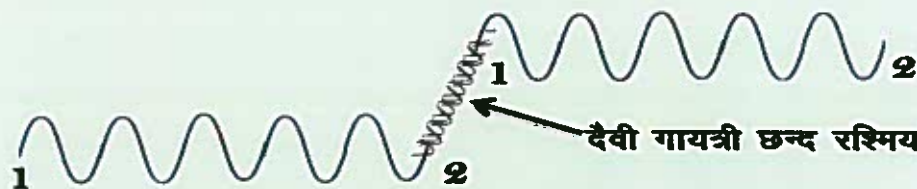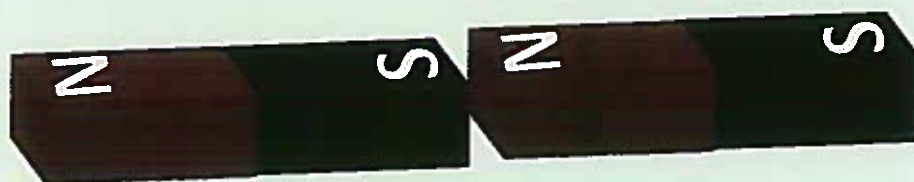
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

अनुक्रमणिका

१४.१ देव-असुर संघर्ष। डार्क एनर्जी के नियन्त्रण में ऊष्मा और विद्युत् की अनिवार्य भूमिका। मूल कणों, परमाणु नाभिकों एवं तारों के केन्द्रों में डार्क एनर्जी का प्रभाव नहीं। पाप्मा-भ्रातृव्य-अनीक। डार्क एनर्जी नियन्त्रण एवं मूलकण, परमाणु नाभिक और तारों के केन्द्रों में गायत्री आदि रश्मियों की भूमिका। इन तीनों की दीर्घ आयु का कारण। अग्निष्टोम-सुधा-क्षमा। विभिन्न छन्द रश्मियों का एक छन्द रश्मि के रूप में व्यवहार। गायत्री छन्द रश्मियों का सृष्टि के प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र व्यवहार, संवत्सर-अर्धमास। सृष्टि की तीन महत्वपूर्ण स्थितियाँ, मूल कण निर्माण, अन्य कण एवं नाभिक, तारों के केन्द्र निर्माण। 831

१४.२ दीक्षणीय-इष्टि-अग्निष्टोम-इडा-पाकयज्ञ-सायं-प्रातः-स्वाहा-अग्निहोत्र-व्रत। प्राणों की अस्पष्ट धागेनुमा आकृति। इनके किनारों की सभी क्रियाओं में एकमात्र सक्रियता। मूलकण आदि निर्माण। प्रायणीय-सामिधेनी-दर्शपूर्णमास-सोमराजा-ओषधि-भिषक्। विभिन्न रश्मियों से ऊष्मा और विद्युत् की उत्पत्ति। प्राण और मरुतों के साथ विद्युत् और ऊष्मा के कारण डार्क एनर्जी पर नियन्त्रण। अग्निमंथन-अतिथि अग्नि-चातुर्मास्य-अग्निष्टोम-पय-प्रवर्ग्य-दाक्षायण। मूल कण, परमाणु, नाभिक एवं तारों के केन्द्रों की उत्पत्ति। तारों के ईंधन की समाप्ति पर पुनः ऊष्मा की उत्पत्ति। पशु-उपवसथ-पशुवन्ध-इडादध-दधि-घर्म-अग्निष्टोम, विभिन्न रश्मियों, कणों व लोकों का समूह में अस्तित्त्व व गमन एवं इसका प्रभाव। तारों के केन्द्रों की मंथन क्रिया और उनमें उत्पन्न ध्वनियां। 836

१४.३ स्तोत्र-शस्त्र-मास-संवत्सर-अग्निष्टोम-वैश्वानर-उक्थ्य-वाजपेय। तारों में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया के पश्चात् तारों के पूर्ण स्वरूप एवं एटम्स आदि के निर्माण में ३० प्रकार के रश्मिसमूह की उपयोगिता। द्वादश-रात्रि-पर्याय-एकविशं-षोडशिसाम-त्रिवृत्-सन्धि-अतिरात्र-अप्तुर्याम। तारे के मुख्य तीन भाग, प्रत्येक में १२-१२ प्रकार के छन्द रश्मिसमूह। तारों में २१ प्रकार के वज्र। तारे का संतुलन। नवति शतम् (१९०) स्तोत्रिय-त्रिवृत्-एकविशं-विषवान्-स्तोम-दैव-क्षत्र-सहस्-वल। १९० रश्मियों का तारे के अन्दर विभाजन। ९-९ रश्मियों के समूहों के २१ वज्र। भेदक, प्रतिरोधक और धारक वल। 842

१४.४	देव-असुर-स्वर्गलोक-वसु-त्रिवृत्-स्तोम। दृश्य पदार्थ और डार्क एनर्जी में संघर्ष। तारों के केन्द्र के निर्माण का प्रारम्भ। रुद्र-पञ्चदश स्तोम-आदित्य-सप्तदशस्तोम-विश्वेदेवा-एकविंशस्तोम। तारों के केन्द्रीय भाग के निर्माण के अग्रिम तीन चरण। डार्क एनर्जी का प्रतिरोध। विभिन्न गायत्री रश्मियों द्वारा उसका उन्मूलन। नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया का प्रारम्भ।	849
१४.५	अग्निष्टोम-परोक्षप्रिय-देव-चतुष्टोम-ज्योतिष्टोम, तारों के केन्द्रीय भाग की सूक्ष्म और उत्कृष्ट परिधि। छन्द वा प्राणादि रश्मियों की सूक्ष्मता। यज्ञक्रतु, अहि। तारों के केन्द्रीय भाग के निर्माण में विभिन्न रश्मिसमूहों की रथचक्र के समान आवृत्ति।	854
१४.६	अग्निष्टोम-साह्न-तीनों सवन-प्रमायुक। तारों के केन्द्र में सभी वलों की चरम एवं नियन्त्रित अवस्था। अनियन्त्रित वल तारों के लिए संकट। ग्रामता-तृतीय सवन-अरण्य-प्रमायुक। अनियन्त्रित रश्मियों और वलों से उत्पन्न विकृतियां एवं तारों के निर्माण की अपूर्णता। शस्त्र-मन्द्रा-तीनों सवन। तारों के निर्माण की प्रारम्भिक प्रक्रिया में गम्भीर ध्वनि की उत्पत्ति। तारों के केन्द्र में सभी वलों की परिसीमा। अस्तम्-उदेति-रात्रि-अहन्। तारों के अन्दर आकुञ्चन और प्रसारण की सतत और संतुलित प्रक्रिया।	857

अथ १४.१ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. देवा वा असुरैर्युद्धमुपप्रायन् विजयाय, तानग्निर्नान्वकामयतैतुम्, तं देवा अब्रुवन्, अपि त्वमेह्यस्माकं वै त्वमेकोऽसीति; स नास्तुतोऽन्वेष्यामीत्यब्रवीत्-स्तुत नु मेति, तथेति; तं ते समुत्क्रम्योपनिवृत्त्यास्तुवन्, तान् स्तुतोऽनु प्रैत्।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त अग्निष्टोम विषय में व्यापक चर्चा प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि जब देव व असुर पदार्थ में संघर्ष हुआ करता है और देव पदार्थ असुर पदार्थ के ऊपर आक्रमण करके उसको नियन्त्रित करने का प्रयास करता है, उस स्थिति के विषय में कहते हैं कि देव व असुर दोनों ही मनस् तत्त्व से उत्पन्न होने वाले दो विपरीत स्वभाव के पदार्थ हैं। देव तत्त्व आकर्षण बल प्रधान एवं प्रकाशयुक्त होते हैं, जबकि असुर तत्त्व तीव्र प्रतिकर्षण और प्रक्षेपक बलयुक्त अप्रकाशित पदार्थ होते हैं। इन दोनों में परस्पर संघर्ष चलता रहता है। जब देव पदार्थ परस्पर संगत होकर विभिन्न तत्त्वों का सृजन करने को उद्यत होता है, उसी समय असुर पदार्थ अपने तीव्र बल से उस संयोग को रोकने का प्रयास करता है। इस प्रकार की प्रक्रिया सृष्टि के प्रत्येक देश-काल में अनवरत चलती रहती है। जब देव पदार्थ असुर पदार्थ के आक्रमण को निष्क्रिय करने किंवा असुर पदार्थ को नियन्त्रित करने किंवा संघर्ष करने के लिए अग्रसर होता है, उस समय अग्नि तत्त्व की भी अनिवार्यता होती है। अग्नि तत्त्व उस देव पदार्थ अर्थात् वायु-आकाश आदि से ही उत्पन्न होता है। जब अग्नि तत्त्व दुर्बल होता है, उस समय देव पदार्थ बिना अग्नि तत्त्व के किंवा निर्बल अग्नि तत्त्व के द्वारा असुर पदार्थ को पूर्ण नियन्त्रित करने में सक्षम नहीं होता है, उस समय सम्पूर्ण सृष्टि में संयोग-वियोग दोनों प्रकार की प्रक्रियाएं सतत चलती रहती हैं परन्तु संयोग-प्रक्रियाओं की प्रधानता, जो कि तारों के केन्द्र का निर्माण करने में अनिवार्य होती है, वह सम्पादित वा प्रारम्भ नहीं हो पाती है। जब पूर्वोक्त प्रकार से अग्नि तत्त्व अत्यन्त प्रबल हो उठता है, तो वह सम्पूर्ण देव पदार्थ के साथ असुर तत्त्व को नियन्त्रित करने के लिए सक्रिय हो उठता है। यहाँ देवों और अग्नि का जो संवाद दर्शाया है, वह लेखक की अपनी शैलीमात्र है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में जब पदार्थ वायवीय अवस्था में होता है अथवा कॉस्मिक धूल, गैस आदि के रूप में बिखरा हुआ होता है, उस समय डार्क एनर्जी का उस पर बार-२ प्रहार होता रहता है। यद्यपि प्राथमिक प्राणों के स्तर पर डार्क एनर्जी का कोई प्रहार सम्भव नहीं होता और डार्क एनर्जी भी इनसे पूर्व उत्पन्न भी नहीं होती परन्तु छन्दादि रश्मियों पर डार्क एनर्जी का प्रहार होता रहता है। यद्यपि त्रिष्टुप्, गायत्री छन्दादि रश्मियां इस प्रहार को निष्फल करती रहती हैं परन्तु ऐसा तभी सम्भव होता है, जब उनके साथ प्राण रश्मियों वा अग्नि का मेल हो जाए। यहाँ अग्नि का तात्पर्य ऊष्मा और विद्युत् दोनों ही ग्रहणीय है। जहाँ विद्युत् बल अति प्रबल होते हैं अथवा ऊष्मा अत्यन्त तीव्र होती है, जिसके कारण विद्युत् और ऊष्मा का निकट संयोग होता है, वहाँ डार्क एनर्जी का प्रभाव नगण्य होता है। विभिन्न परमाणुओं के नाभिक प्रबल विद्युत् बल के केन्द्र होते हैं और तारों के केन्द्र प्रबल गुरुत्व और विद्युत् बलों के साथ अत्यन्त उच्च ऊष्मा के भी केन्द्र होते हैं। विभिन्न मूल कण उच्च वैद्युत बल के साथ सतत संयुक्त होते हैं। इस कारण इनमें प्रक्षेपक वा प्रतिकर्षण बल सर्वथा नगण्य होते हैं। इससे स्पष्ट है कि जहाँ-२ भी विद्युत् आदि बल और ऊष्मा दृश्य पदार्थ में विद्यमान होती है, वहाँ-२ डार्क एनर्जी नियन्त्रित होती है किंवा नगण्य मात्रा में विद्यमान होती है।।

२. स त्रिश्रेणिर्भूत्वा त्र्यनीकोऽसुरान् युद्धमुपप्रायद् विजयाय, त्रिश्रेणिरितिच्छन्दांस्येव

श्रेणीरकुरुत। त्र्यनीक इति सवनान्येवानीकानि। तानसंभाव्यं पराभावयत्, ततो वै देवा अभवन् पराऽसुराः।।
भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् पाप्मा भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- असुर तत्त्व के साथ देव पदार्थ के संघर्ष की प्रक्रिया को बतलाते हुए कहते हैं कि वह अग्नि तत्त्व तीन प्रकार की छन्द रश्मियों का आश्रय लेकर पंक्तिवद्ध होकर छन्द रश्मियों के त्रिविध स्तररूप समूह के साथ मिलकर असुर तत्त्व के विरुद्ध संघर्ष करता है। ये तीन छन्द रश्मियां क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती हैं और तीन प्रकार के रश्मिसमूह के स्तर क्रमशः प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन हैं, जिनके वारे में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। यहाँ स्पष्ट है कि सृष्टि प्रक्रिया के प्रातःसवन रूप प्राथमिक स्तर पर ही गायत्री छन्द रश्मियों का समूह विद्युत् किंवा प्राणापान के साथ संयुक्त होकर तीक्ष्ण वज्र का रूप धारण करके असुर तत्त्व को नियन्त्रित वा नष्ट करता है। सृष्टि प्रक्रिया के माध्यन्दिन सवन रूप त्रिष्टुप् छन्द रश्मि प्रधान द्वितीय चरण में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों का समूह विद्युत् एवं प्रकाश-ऊष्मा आदि से समन्वित होकर तीक्ष्ण वज्र का रूप धारण करके असुर तत्त्व को नष्ट वा नियन्त्रित करता है। सृष्टि प्रक्रिया के जगती छन्द रश्मि प्रधान तृतीय चरण में जगती छन्द रश्मिसमूह तीव्र ऊष्मा और विद्युत् वलों के साथ संयुक्त होकर असुर तत्त्व को नष्ट वा नियन्त्रित करता है। इन स्थितियों में विभिन्न स्थानों पर असुर तत्त्व पूर्ण नियन्त्रित हो जाता है, जहाँ इन परिस्थितियों के विद्यमान रहते वह असुर तत्त्व पुनः आक्रामक कभी नहीं हो पाता। इस प्रकार देव तत्त्व की विजय और असुर तत्त्व की पराजय होती है। जव कोई भी कण वा कणसमूह इस प्रकार छन्द रश्मिसमूहों एवं विद्युदग्नि के साथ विद्यमान होता है, तव वह सृजन प्रक्रिया के लिए समर्थ होता है और उसका प्रतिरोध करने **और** उसे सृजन प्रक्रिया से **वार**-२ पतित करने वाले असुर पदार्थ पराभव को **प्राप्त होते हैं**।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- दृश्य पदार्थ एवं डार्क पदार्थ के संघर्ष की प्रक्रिया पृथक्-२ स्तरों पर पृथक्-२ प्रकार से होती है। सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में जव मूल कणों का निर्माण हो रहा होता है, उस समय गायत्री छन्द रश्मियां विद्युत् युक्त होकर डार्क पदार्थ को नष्ट करती हैं, जिससे मूल कणों के अस्तित्त्व की रक्षा और उनका निर्माण सम्भव हो पाता है। सृष्टि के अगले चरण में जव विभिन्न परमाणुओं के द्वितीयक कणों एवं नाभिकों का निर्माण होता है, उस समय गायत्री एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां विद्युत् व ऊष्मा के योग से डार्क पदार्थ को नियन्त्रित वा नष्ट करती हैं और जव सृष्टि के तृतीय चरण में विभिन्न तारों के केन्द्र की निर्माण प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय जगती रश्मियां अन्य दो रश्मियों एवं विद्युत् व ऊष्मा के योग से डार्क एनर्जी को नियन्त्रित वा नष्ट करती हैं। इस प्रकार मूल कणों, परमाणु नाभिकों एवं तारों के केन्द्रों के अन्दर डार्क एनर्जी की मात्रा उनके इसी स्वरूप में वने रहने तक कभी इनको क्षति नहीं पहुँचा सकती। इस कारण इनमें अपने स्वरूप में वने रहने तक विस्फोट भी नहीं हो सकता। हम तारों के जिन विस्फोटों के विषय में सुनते हैं, वे इन परिस्थितियों के उल्लंघन करने, यथा-तारों का ईन्धन समाप्त होने आदि परिस्थितयों में ही हुआ करते हैं। इन तीनों में भी उत्तर की अपेक्षा पूर्व अधिक स्थायी होता है, जैसे- **सबसे कम स्थायी तारों के केन्द्र, उनसे अधिक स्थायी परमाणुओं के द्वितीयक कण व नाभिक और सबसे अधिक स्थायी मूलकण होते हैं।** व्रह्माण्ड में इसके कुछ अपवाद अवश्य हैं परन्तु उसका कारण भी उनकी पृथक् संरचना होना ही है। **महर्षि ऐतरेय महीदास** का सिद्धान्त सार्वत्रिक और शाश्वत है।।

३. सा वा एषा गायत्र्येव यदग्निष्टोमः, चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री चतुर्विंशतिरग्निष्टोमस्य स्तुतशस्त्राणि।।
तद्वै यदिदमाहुः-सुधायां ह वै वाजी सुहितो दधातीति। गायत्री वै तत्, न ह वै गायत्री क्षमा रमते। ऊर्ध्वा ह वा एषा यजमानमादाय स्वरेतीति, अग्निष्टोमो वै तत् न ह वा अग्निष्टोमः क्षमा रमते। ऊर्ध्वो ह वा एष यजमानमादाय स्वरेति।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त अग्निष्टोम अर्थात् सूर्यादि के निर्माण की प्रक्रिया गायत्री रूप ही है। इसका कारण बताते हुए महर्षि लिखते हैं कि जिस प्रकार गायत्री छन्द रश्मि में २४ अक्षर होते हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्त अग्निष्टोम नामक सम्पूर्ण प्रक्रिया में कुल मिलाकर २४ स्तोत्र एवं शस्त्र होते हैं अर्थात् १२ स्तोत्र एवं १२ शस्त्र होते हैं। सायण-भाष्य और डॉ.मालवीय ने शस्त्रों की गणना इस प्रकार की है-
(१) प्रातःसवन के ५ शस्त्र- आज्य, प्रउग, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसिन् एवं अच्छावाक।
(२) माध्यन्दिन सवन के ५ शस्त्र- मरुत्वतीय, निष्केवल्य, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसिन् एवं अच्छावाक।
(३) सायं सवन (तृतीय सवन) के २ शस्त्र- वैश्वदेव और आग्निमारुत।

ये सभी शस्त्रसंज्ञक छन्द रश्मिसमूह के रूप में ही विद्यमान होते हैं, जिन पर हम पूर्व में ब्राह्मणाच्छंसिन् को छोड़कर शेष पर विस्तार से यथास्थान प्रकाश डाल चुके हैं। ब्राह्मणाच्छंसिन् का स्वरूप खण्ड ६.२८ में उल्लिखित है। आचार्य सायण ने १२ स्त्रोतों का इस प्रकार परिगणन किया है-

"वहिष्पवमानः, माध्यन्दिनः आर्भवः पवमान इति त्रीणि पवमानस्तोत्राणि, चत्वार्याज्यस्तोत्राणि, चत्वारि पृष्ठस्तोत्राणि एकं यज्ञायज्ञीयं स्तोत्रम्, एवमेतानि द्वादश सम्पन्नानि।"

इनमें से कुछ पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं और दूसरा पक्ष यह भी है कि २.३३.१ में वर्णित १२ निविद् रश्मियां भी स्तोत्र कहलाती हैं। इस विषय में खण्ड २.३७ विशेष पठनीय है। शस्त्र और स्तोत्र दोनों का सम्वन्ध और समन्वय भी वहीं द्रष्टव्य है।

इस प्रकार इन दोनों प्रकार के रश्मिसमूहों का व्यवहार गायत्री छन्द की भाँति होता है। जिस प्रकार गायत्री छन्द रश्मियां ब्रह्माण्ड में ऊष्मा और तेज-वल की वृद्धि करती हैं, उसी प्रकार ये २४ शस्त्र व स्तोत्र मिलकर ऐसा ही प्रभाव अति व्यापक और तीव्र स्तर पर दर्शाते हैं, जिससे द्युलोकों के केन्द्रीय भागों के निर्माण तक की प्रक्रिया सम्पन्न होती है और इसी स्तर को ही इस शास्त्र ने अग्निष्टोम संज्ञा दी है।।

इस विषय में कुछ तत्त्ववेत्ता ऋषियों के मन्तव्य को महर्षि वर्णित करते हुए कहते हैं कि गायत्री छन्द रश्मियां वल और वेग से विशेष युक्त होती हैं। ये रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों को अपने साथ अच्छी प्रकार से धारण करती हैं और अन्य रश्मियों के साथ मिलकर समस्त वाजी अर्थात् विभिन्न संयोज्य कणों और वलों को धारण करके एक ऐसी सुधा अवस्था का निर्माण करती हैं, जिसमें समस्त पदार्थजगत् को अच्छी प्रकार से स्थिरतापूर्वक धारण और पोषित किया जाता है। ये गायत्री छन्द रश्मियां क्षमा अर्थात् पृथिवीरूप पदार्थ तक ही सीमित नहीं रहती हैं, वल्कि विभिन्न पदार्थों को संयोग प्रक्रियाओं के माध्यम से स्वर्ग लोक तक पहुँचाती हैं। हमारी दृष्टि में यहाँ पृथिवी के दो तात्पर्य हैं-
(१) वह अप्रकाशित पदार्थ, जो सृष्टि के प्रारम्भिक काल में प्रकाश की उत्पत्ति से पूर्व अन्धकार रूप होता है, जो कालान्तर में द्युलोक तक की अवस्था को प्राप्त करता है। गायत्री छन्द रश्मियां सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में सभी छन्द रश्मियों से पूर्व उत्पन्न होती हैं। उस समय इनकी दीप्ति अति मन्द और अदृश्य होती है। गायत्री छन्द रश्मियां अनेकों क्रियाओं के उपरान्त इस अप्रकाशित अवस्था को किंवा इसमें से पदार्थ के वहुत वड़े भाग को प्रकाशित लोकों में परिवर्तित कर देती हैं। इसी कारण यहाँ महर्षि ने कहा है कि गायत्री छन्द रश्मियों की क्रीड़ा अप्रकाशित पदार्थ तक ही सीमित नहीं रहती है वल्कि सृष्टि की अन्तिम परिणिति तक विभिन्न रूपों में चलती रहती है।
(२) अप्रकाशित वायु, जिसको शास्त्रों में असुर नाम से सर्वत्र वर्णित किया है, वही तत्त्व यहाँ क्षमा अर्थात् पृथिवीवाची है। यद्यपि निघण्टुकार ने जो 'क्षमा' शब्द पृथिवी के नामों में पढ़ा है, वह शब्द असुर तत्त्व के लिए प्रतीत नहीं होता है, पुनरपि असुर तत्त्व ग्रहण करने के पीछे कुछ कारण इस प्रकार है-

'क्षमा' शब्द 'क्षमुष् सहने' धातु से निष्पन्न होता है, जिसके कई अर्थों में से एक अर्थ "विरोध करना, रोकना" भी कोषकार आप्टे ने दिये हैं। हम जानते हैं कि असुर पदार्थ हर प्रकार की संयोग क्रियाओं का विरोध करके उन्हें रोकता है। इस कारण हमने 'क्षमा' शब्द का अर्थ असुर पदार्थ किया है। कोषकार आप्टे ने इस धातु का अर्थ "धैर्यवान् होना और प्रतीक्षा करना" भी किया है। उधर हम यह भी जानते हैं कि असुर तत्त्व सर्वत्र विद्यमान रहकर वड़े धैर्यपूर्वक यह प्रतीक्षा करता है कि कव उसको नष्ट करने वाली विद्युत् वज्र आदि रश्मियां दुर्वल हो जायें और वह दृश्य पदार्थ पर अपने प्रक्षेपक वलों से आक्रमण कर दे, इस कारण भी हमने 'क्षमा' शब्द का अर्थ असुर पदार्थ किया है। यह असुर पदार्थ सदैव और सर्वत्र अपने तीव्र हन्ता विकिरणों के आक्रमण को सहन करता रहता है और

स्वयं दुर्बल हो जाने पर विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाओं को होने देता है। इस कारण भी इस धातु के "सहन करना और अनुमति देना" आदि अर्थों के आधार पर 'क्षमा' शब्द का अर्थ असुर पदार्थ किया है। उधर कुछ ऋषियों ने कहा- "असुराणां वा इयम् (पृथिवी) अग्र आसीत् (तै.ब्रा.३.२.६.६), असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत्" (मै.४.१.१०)। इन वचनों से भी सिद्ध होता है कि पहले पृथिवी लोक असुर तत्त्व प्रधान था। इस कारण भी हमारा 'क्षमा' शब्द से असुर पदार्थ ग्रहण करना सर्वथा युक्ति संगत है।

इससे यह सिद्ध होता है कि गायत्री छन्द रश्मियां असुर पदार्थ से दूर रहती हैं अथवा वहाँ तक जाकर वाहर वापस आ जाती हैं और विभिन्न देव पदार्थों, जो पूर्व में अप्रकाशित ही होते हैं, को भी असुर पदार्थ के आधिपत्य से मुक्त करके प्रकाशित रूप में लाने का सदैव प्रयत्न करती हैं। ये सभी लक्षण अग्निष्टोम के भी होते हैं, क्योंकि पूर्व कण्डिका के अनुसार अग्निष्टोम भी गायत्री की भाँति व्यवहार करता है। इस कारण इन दोनों की साम्यता समझनी चाहिए। जहाँ-२ अग्निष्टोम की पूर्वोक्त स्थितियाँ सिद्ध हो जाती हैं, वहाँ-२ असुर पदार्थ एवं अन्धकार अवस्था का आक्रमण नहीं होता और वहाँ तीव्र विद्युत् वल किंवा विद्युत् वल के साथ-२ प्रकाश और ऊष्मा का साम्राज्य रहता है। वहाँ संयोगादि की तीव्र प्रक्रियाएं होती हैं और वह स्थान ब्रह्माण्ड के उत्कृष्ट स्थानों में माना जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में कभी-२ विभिन्न छन्द रश्मिसमूह उसमें विद्यमान संख्या के समान अक्षरों वाली छन्दरश्मि के समान व्यवहार करते हैं, जैसे-२४ विभिन्न छन्द रश्मियों का सामूहिक व्यवहार २४ अक्षरों वाली गायत्री छन्दरश्मियों के समान होता है। इसी प्रकार इससे अधिक विस्तृत क्षेत्र में अनेक रश्मियों वाले अनेक समूह के महासमूह भी अपने अवयव रूप रश्मिसमूह की वरावर अक्षर संख्या वाली छन्द रश्मि के समान व्यवहार करते हैं, जैसे-२४ प्रकार के विभिन्न सूक्तरूप रश्मिसमूह का सामूहिक व्यवहार २४ अक्षर वाली गायत्री छन्द रश्मि के समान होता है। गायत्री छन्द रश्मियां इस सृष्टि के प्रारम्भिक काल, जबकि मूल कणों का निर्माण प्रारम्भ होता है, से लेकर तारों के निर्माण पूर्ण होने तक सदैव प्रभावी रहती हैं। ये रश्मियां ही अन्य छन्द रश्मियों के साथ संगत होती हुई प्रारम्भिक अन्धकारयुक्त पदार्थ को धीरे-२ अत्यन्त प्रकाशित पदार्थ, जो तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान होता है, में परिवर्तित कर देती हैं। इस केन्द्रीय भाग में डार्क एनर्जी का प्रभाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार मूल कणों, द्वितीयक कणों एवं परमाणु नाभिकों का भी निर्माण ये रश्मियां करती हैं। उनके अन्दर भी डार्क एनर्जी का प्रभाव नहीं होता। इनका मूल कारण गायत्री छन्द रश्मियां एवं उनके समान व्यवहार करने वाली समूह रश्मियां ही हैं।।

४. स वा एष संवत्सर एव यदग्निष्टोमः, चतुर्विंशत्यर्धमासो वै संवत्सरः। चतुर्विंशतिरग्निष्टोमस्य स्तुतशस्त्राणि।।
तं यथा समुद्रं स्रोत्या एवं सर्वे यज्ञक्रतवोऽपि यन्ति।।१।।

{संवत्सरः = संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि (नि.४.२७), संवत्सरो यज्ञः (श.११.२.७.१), संवत्सरो वै वैश्वानरः (श.४.२.४.४)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त जो अग्निष्टोम है, वह संवत्सर ही है क्योंकि यह अग्निष्टोम क्रिया ही समस्त प्रजारूप नरों को अपने अन्दर व्याप्त कर लेती है और सृष्टि के सभी उत्पन्न पदार्थ इन्हीं क्रियाओं में वसे होते हैं किंवा इन्हीं के कारण उत्पन्न होते हैं। उधर समस्त सृष्टि में १२ प्रकार की मास रश्मियां विद्यमान होने से २४ अर्धमास रश्मियां सिद्ध होती हैं और अग्निष्टोम में पूर्ववर्णित २४ स्तोत्र और शस्त्र विद्यमान होते हैं। इस कारण भी जैसे गायत्री से अग्निष्टोम की साम्यता थी, वैसी ही साम्यता यहाँ संवत्सर अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टियज्ञ से है।।

अगली उपमा देते हुए महर्षि लिखते हैं कि जिस प्रकार विभिन्न स्रोतों से निकलकर विभिन्न प्रवाह रूप नदियाँ समुद्र में ही गिरती हैं और जिस प्रकार विभिन्न विकिरण और छन्दादि रश्मियां विभिन्न कारणरूप स्रोतों से उत्पन्न होकर वायु तत्त्व में ही उठती और विलीन होती हैं तथा जिस प्रकार

समुद्र में लहरें उठती और विलीन होती हैं, उसी प्रकार इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं और विभिन्न छन्द रश्मियों की अनेक प्रकार की संगतियाँ अग्निष्टोम की स्थिति को ही अन्ततः उत्पन्न करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भ से लेकर जो-२ भी महत्वपूर्ण प्रक्रियाएं चलती हैं, उनकी तीन मुख्य परिणतियाँ होती हैं-
(१) ऊर्जा एवं मूल कणों का निर्माण,
(२) द्वितीयक कणों एवं परमाणु नाभिकों का निर्माण,
(३) तारों के केन्द्रीय भाग का निर्माण

इन्हीं के लिए इस सृष्टि में सब कुछ हो रहा है। ध्यातव्य है कि ग्रह-उपग्रह एवं प्राणी और वनस्पतियों की उत्पत्ति इस शास्त्र का विषय नहीं है, इस कारण इनका यहाँ कोई संकेत नहीं है। सृष्टि में होने वाली हर प्रकार की क्रियाएं इन तीनों से किसी न किसी प्रकार जुड़ी होती हैं। जिस प्रकार से सभी नदियाँ अन्त में समुद्र में जाकर गिरती हैं, उसी प्रकार सृष्टि की विभिन्न क्रियाएं इन तीनों स्थानों में जा करके विलीन हो जाती हैं।।

॥ इति १४.१ समाप्तः ॥

ॐ अथ १४.२ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. दीक्षणीयेष्टिस्तायते। तामेवानु याः काश्चेष्टयस्ताः सर्वा अग्निष्टोममपि यन्ति।। इळामुपह्वयते। इळाविधा वै पाकयज्ञाः। इळामेवानु ये के च पाकयज्ञाः, ते सर्वेऽग्निष्टोममपि यन्ति।।
सायंप्रातरग्निहोत्रं जुह्वति, सायंप्रातर्व्रतं प्र यच्छन्ति, स्वाहाकारेणाग्निहोत्रं जुह्वति, स्वाहाकारेण व्रतं प्र यच्छन्ति, स्वाहाकारमेवान्वग्निहोत्रमग्निष्टोममप्येति।।

व्याख्यानम्- अब महर्षि विभिन्न स्तरों की यजन क्रियाओं का वर्णन करते हुए उनका अग्निष्टोम के साथ सम्बन्ध दर्शाते हुए कहते हैं कि जो दीक्षणीय यज्ञ होता है अथवा इसके समान और भी जो भी संगतीकरण की क्रियाएं होती हैं, वे सभी अग्निष्टोम को प्राप्त करती हैं। यहाँ 'दीक्षा' नियम धारण के आरम्भ का नाम है, (तु.म.द.य.भा.८.५४)। **यह दीक्षा यज्ञ सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भ से ही प्रारम्भ होता हुआ अग्निष्टोम के सम्पन्न होने तक सतत विभिन्न स्तरों पर चलता रहता है।** विभिन्न स्तरों पर दीक्षा यज्ञ के भी पृथक्-२ रूप होते हैं। प्राण तत्त्व दीक्षा का एक सामान्य रूप है। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणा दीक्षा प्राणैरेवास्मै प्राणान्दीक्षामवरुन्धे त्रेधा विभज्य देवतांजुहोति त्र्यावृतो वै देवास्त्र्यावृतऽ इमे लोकाऽ ऋध्यामेव वीर्य्यऽएषु लोकेषु प्रतितिष्ठति।।" (श.१३.१.७.२)

इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि सभी लोकों के लिए प्राण तत्त्व, जिनमें प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान-धनंजय तथा सूत्रात्मा वायु, ये सात शीर्ष प्राण हैं। उधर छन्द रूप प्राणों पर विचार करें, तो गायत्री आदि सात मुख्य छन्द, सात मुख्य प्राण हैं। मरुद् रश्मियों की दृष्टि से सात-२ मरुतों के सात समूह भी सात मुख्य प्राण हैं। मरुतों के विषय में ऋषियों ने कहा है- "गणशो हि मरुतः (तां. १६.१४.२), सप्त सप्त हि मारुता गणाः (श.६.३.१.२५)"। यह प्राण तत्त्व स्वयं वाक् तत्त्व से विकसित होता है। इस विषय में कहा है- "वाग्दीक्षा तया प्राणो दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.७)"। इसका तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म एकाक्षरा अर्थात् दैवी गायत्री छन्द रश्मियां सभी प्रकार के प्राणों को दीक्षित अर्थात् सक्रिय करती हैं। दीक्षा के अन्य स्तरों को बतलाते हुए ऋषियों ने कहा है- "पृथिवी दीक्षा तयाग्निर्दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.४-५), अन्तरिक्षं दीक्षा तया वायुर्दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.५), द्यौर्दीक्षा तयादित्यो दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.५)"।

इन वचनों के भावों को हम इस ग्रन्थ के व्याख्यान के प्रकाश में सहजतया समझ सकते हैं। यहाँ इन वचनों को उद्धृत करने का उद्देश्य मात्र यही है कि प्रारम्भ से लेकर द्युलोक आदि तक के निर्माण की प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को दीक्षणीय यज्ञ कहा जाता है। इन सबकी प्रक्रिया समान ही होती है और ये सभी क्रियाएं अन्ततः अग्निष्टोम अवस्था को प्राप्त करती हैं।।

{पाकः = प्रशस्यनाम (निघं.३.८), पिबतीति पाकः (उ.को.५.५३), परिपक्वव्यवहारः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६४.२१)। इडा = उत मैत्रावरुणी (इडा) इति, यदेव (इडा) मित्रावरुणाभ्यां समगच्छत (श.१.८.१.२७)।} सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाओं में 'इडा' का उपह्वान किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न वाग् रश्मियों, विकिरणों, अप्रकाशित कणों आदि विभिन्न पदार्थों को विभिन्न स्तरों पर संगत किया जाता है और ये सभी पदार्थ मित्रावरुण अर्थात् प्राणापान के साथ मिलकर ही इन सभी पदार्थों के साथ संगत होते हैं। इनकी अनुपस्थिति में कोई भी संगतीकरण की क्रिया संभव नहीं है। इस प्रकार की सभी क्रियाओं को पाकयज्ञ भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इडा नाम के विभिन्न पदार्थों के

परस्पर संगत होने से सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाएं परिपक्व और श्रेष्ठता से युक्त होती हैं। इन इडा नामक पदार्थों के समान अन्य जो भी पदार्थ ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं, उनका संगतीकरण भी 'पाकयज्ञ' कहलाता है और ये सभी ऐसे पाकयज्ञ अग्निष्टोम अवस्था को ही अन्ततः प्राप्त होते हैं। इस विषय में महर्षि तित्तिर का भी कथन है- ''इळा खलु वै पाकयज्ञः'' (तै.सं.१.७.१.१)।।

{सायम् = एष ह वा अह्ने जघनार्धो यत् सायम् एष उ वै रात्रेः पूर्वार्धो यत् सायम् (जै.ब्रा.१.१६६), (जघनम् = जघनं जङ्घन्यतेः - नि.६.२०)। अग्निहोत्रम् = अग्निहोत्रं वैश्वदेवमुच्यते (काठ.६.५), अग्निहोत्रं दशहोता (काठ.६.१३), अग्निहोत्रे वै सर्वे यज्ञक्रतवः (मै.१.८.६)} सभी प्रकार की संगतीकरण की प्रक्रियाएं, जिसमें सभी प्रकार के देव पदार्थों, साथ ही १० प्राथमिक प्राणों रूप होताओं का संगतीकरण होता है, उन सब पदार्थों के २ सिरे होते हैं। १० प्राणों को १० होता कहने का कारण मैत्रायणी संहिता १.६.५ का प्रमाण है- ''प्राणो वै दशहोता''। इन १० होताओं के ऊपर भी महान् होता मनस्तत्त्व रूपी प्रजापति भी है, जिसके विषय में कहा है- ''प्रजापतिर्वै दशहोतॄणां होता'' (तै.ब्रा.२.३.५.६)। इन सबके २ सिरे 'प्रातः' और 'सायं' कहलाते हैं। इसमें 'सायं' नामक सिरा वह है, जो किसी प्राण रश्मि का अन्तिम वह भाग है, जिससे वह अन्य रश्मि के पूर्व भाग को ग्रहण करता है। इस भाग में ग्राह्य और हिंसक दोनों ही गुण विद्यमान होते हैं। 'प्रातः' इन प्राण रश्मियों का वह भाग है, जो किसी अन्य रश्मि के द्वारा ग्रहण किया जाता है। यह सिरा प्रकृष्ट रूप से सतत ही अन्य रश्मि द्वारा व्याप्त रहता है। इस प्रकार विभिन्न प्राण इन दोनों सिरों के माध्यम से ही किसी भी पदार्थ के साथ संगत होते हैं और इन्हीं सिरों के द्वारा विभिन्न व्रतों अर्थात् कर्मों एवं बलों को प्राप्त करते हैं। व्रत के विषय में ऋषियों ने कहा है- ''व्रतं कर्मनाम वृणोतीति सतः (नि.२.१३), वीर्यं वै व्रतम् (श.१३.४.१.१५), शीलं नियमं वा'' (म.द.ऋ.भा.२.३८.३)।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्राणों के इन दोनों सिरों के द्वारा इनका नियमन भी होता है और इसके साथ ही इनके द्वारा प्राणों का स्वरूप निर्धारित होकर ये प्राण विभिन्न पदार्थों का नियन्त्रण और संचालन करते हैं। वस्तुतः इन सिरों की वही भूमिका है, जिस प्रकार किसी रस्सी में उसके सिरों की भूमिका। इनके द्वारा ही वे प्राण परस्पर एक-दूसरे को, विभिन्न छन्द रश्मियों, विभिन्न विकिरणों और कणों को प्राप्त करते और उनमें व्याप्त होकर नाना कर्मों को सम्पादित करते हैं। ये क्रियाएं स्वाहाकार की संगति में होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणों के इन सिरों पर सूक्ष्म एकाक्षरा वाग् रश्मियों का अत्यन्त अव्यक्त रूप से संचरण होता रहता है। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- ''अनिरुक्तो वै स्वाहाकारः'' (श.२.२.१.३)। उधर निघण्टुकार ने १.११ में कहा है- ''स्वाहा वाङ्नाम''।

इन वाग् रश्मियों के संचरण से ही वे सभी प्राण रश्मियां विभिन्न कर्मों और बलों को प्राप्त करती हैं और इन्हीं रश्मियों के द्वारा अन्ततः अग्निष्टोम स्तुति प्राप्त होती है। इस विषय में प्रथम अध्याय भी पठनीय है।।
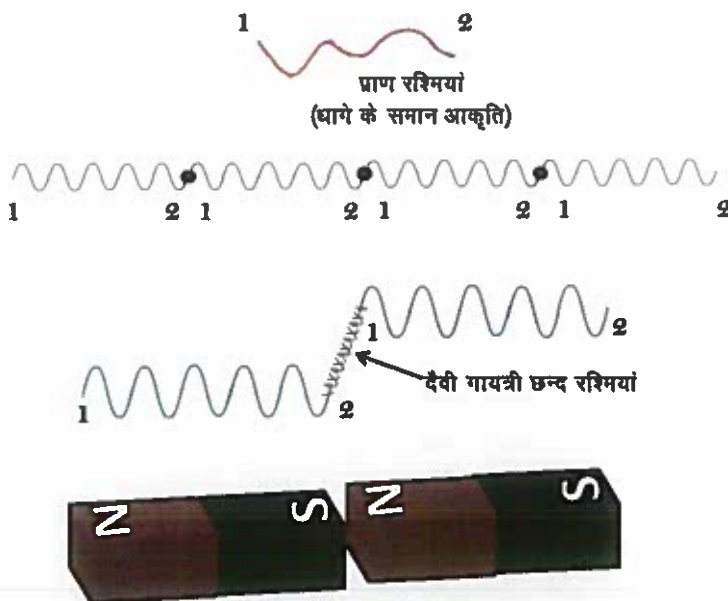
चित्र १४.१ छन्द रश्मियों का संयोजन

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में ७ मुख्य प्राथमिक प्राणों (प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान-धनंजय-सूत्रात्मा वायु), सातों मुख्य छन्द रश्मियों एवं मरुद् रश्मियों के समूहों आदि सबकी संगति प्रक्रिया का मुख्य परिणाम पूर्वोक्तानुसार मूलकण निर्माण, अन्य कणों, परमाणु नाभिकों और तारों के केन्द्रों के रूप में होता है। सभी प्रकार के प्राण दैवी गायत्री छन्द रश्मियों के तेज और संगति के कारण ही कार्य करते हैं। **विभिन्न प्राण रश्मियां अत्यन्त सूक्ष्म और अस्पष्ट धागे के टुकड़ों के समान आकृति वाली होती हैं, जिनके दोनों सिरे पृथक्-२ गुण वाले होते हैं। ये सिरे एक-दूसरे से रस्सी के सिरों की भाँति जुड़े रहते हैं। इनके संयुक्त सिरों के मध्य सूक्ष्म दैवी गायत्री छन्द रश्मियां सतत संचरित होती रहती हैं।** विभिन्न प्राण रश्मियों के ये दोनों सिरे ही विभिन्न बलों और क्रियाओं का केन्द्र व कारण होते हैं। उन क्रियाओं और बलों का नियमन और संचालन भी सूक्ष्म वाग् रश्मियों के सहयोग से ये सिरे ही करते हैं। ये सूक्ष्म रश्मियां अव्यक्त रूप से इन सिरों के मध्य सतत संचरित होती रहती हैं और अन्ततः सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण इसी मूल सिद्धान्त के आधार पर होता है।।

२. पञ्चदश प्रायणीये सामिधेनीरन्वाह, पञ्चदश दर्शपूर्णमासयोः। प्रायणीयमेवानु दर्शपूर्णमासावग्निष्टोममपीतः।।
सोमं राजानं क्रीणन्ति। औषधो वै सोमो राजा, औषधिभिस्तं भिषज्यन्ति यं भिषज्यन्ति, सोममेव राजानं क्रीयमाणमनु यानि कानि च भेषजानि, तानि सर्वाण्यग्निष्टोममपि यन्ति।।

{प्रायणीय = प्राण एव प्रायणीय (काठ.३४.६), प्राणो वै प्रायणीय (ऐ.१.७), ततिर्वै यज्ञस्य प्रायणीयम् (कौ.ब्रा.७.६)। दर्शपूर्णमासौ = उदान एव पूर्णमा, उदानेन ह्ययं पुरुषः पूर्यतऽइव, प्राण एव दर्शो ददृश इव ह्ययं प्राणः (श.११.२.४.५), अहरेव दर्शोऽहरु हीदं ददृश इव, रात्रिरेव पूर्णमा रात्र्या हीदं सर्वं पूर्णम् (काश.३.२.६.१), एतौ वै देवानां हरी यद् दर्शपूर्णमासौ (तै.सं.२.५.६.२), एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ (तै.सं.२.५.६.१), मनऽ एव पूर्णमाः पूर्णमिव हीदं मनो वागेव दर्शो, ददृशऽइव हीयं (वाक्) (श.११.२.४.७)। सामिधेनी = ऋषेर्ऋषेर्वा एता निर्मिता यत् सामिधेन्यः (तै.सं.२.५.७.५)।}

व्याख्यानम्- दीक्षणीय क्रियाओं के पश्चात् प्रायणीय क्रियाओं की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इन क्रियाओं में १५ सामिधेनी संज्ञक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। अध्याय २ में प्रायणीय क्रियाओं का विस्तार से वर्णन है, विशेषकर प्रथम तीन खण्डों में। इन तीन खण्डों में १५ छन्द रश्मियों की उत्पत्ति की चर्चा है। वे छन्द रश्मियां ही सामिधेनी कहलाती हैं। यद्यपि वहाँ इनको सामिधेनी नहीं कहा गया है, पुनरपि इस प्रकरण को दृष्टिगत रखते हुए और तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त वचन के आधार पर विभिन्न ऋषि प्राणों द्वारा उत्पन्न छन्द रश्मियां सामिधेनी कहलायी जा सकती हैं और इसी आधार पर महर्षि यहाँ प्रायणीय कर्म में १५ सामिधेनी ऋचाओं के उत्पन्न वा प्रकाशित होने की चर्चा करते हैं। **यहाँ प्रायणीय कर्मों का अर्थ है- सर्गयज्ञ प्रक्रिया का श्रेणीबद्ध विस्तार।** इस क्रिया में मुख्य आधार प्राण तत्त्व होता है, जो विभिन्न शृंखलाएं बनाता हुआ नाना सृजन कर्मों को सतत विस्तृत करता रहता है। उधर ये सामिधेनी छन्द रश्मियां ऊष्मा और प्रकाश को अच्छी प्रकार समृद्ध करती हुई वज्र रूप होकर नाना सृजन कर्मों को विस्तृत करती रहती हैं। ये सभी १५ सामिधेनी अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रकाशित होती हुई छन्द रश्मियां 'दर्श' और 'पूर्णमास' दोनों पर आधारित होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये छन्द रश्मियां प्राण एवं उदान पर आधारित होती हैं। **यहाँ प्राण तत्त्व प्रकाश और आकर्षण बल उत्पन्न करता हुआ 'दर्श' रूप है और उदान क्रिया को पूर्णता प्रदान करने वाला 'पूर्णमास' रूप है। उधर अपान रात्रि रूप होकर क्रियाओं को पूर्णता प्रदान करने वाला पूर्णमास रूप है।** इस प्रकार ये १५ छन्द रश्मियां प्राण और अपान पर भी आश्रित होती हैं। हम जानते हैं कि अपान तत्त्व वरुण रूप होकर विभिन्न रश्मियों और कणों को परस्पर बांधे रखकर पूर्णता प्रदान करता है। ये दोनों प्राण ही आकर्षण और प्रतिकर्षण रूप बलों को उत्पन्न करके विभिन्न देव पदार्थों को वहन करता है। इसी प्रकार ये १५ छन्द

रश्मियां मन और वाक् तत्त्व पर मूलतः आश्रित होती हैं। इनमें मन इन रश्मियों और उनके कर्मों को पूर्णता प्रदान करने वाला होने से 'पूर्णमास' तथा वाग् रश्मियां इन छन्द रश्मियों को प्रकाश और बल प्रदान करने से 'दर्श' कहलाती हैं। इस प्रकार इन 'दर्श' और 'पूर्णमास' नामक सूक्ष्म पदार्थों पर उपर्युक्त १५ सामिधेनी छन्द रश्मियां आश्रित होती हैं। ये 'दर्श' और 'पूर्णमास' नामक उपर्युक्त सभी पदार्थ प्रायणीय क्रियाओं अर्थात् उपर्युक्त १५ छन्द रश्मियों द्वारा सृष्टि यज्ञ के विस्तार को अनुकूल बनाते हुए अन्ततः अग्निष्टोम अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।।

{ओषधयः = ओषधय ओषद्धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा (नि.६.२७), अग्नेर्वा एषा तनूः यदोषधयः (तै.ब्रा.३.२.५.७), ओषधयो बर्हिः (ऐ.५.२८)}

ग्रन्थ की प्रथम पंचिका में जिस सोम तत्त्व के क्रयण आदि की विस्तार से चर्चा है, उसी प्रकरण को दृष्टिगत रखते हुए महर्षि कहते हैं कि वे पूर्वोक्त प्राणादि पदार्थ उस सोम तत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। मन्द दीप्तियों से युक्त वह सोम तत्त्व ओषध के समान है। इसका तात्पर्य यह है कि वे सोम रश्मियां ऊष्मा, ऊर्जा आदि को अवशोषित करने में सक्षम होती हैं, साथ ही वे सोम रश्मियां अग्नि तत्त्व का कारण और आधार भी बनती हैं। वे सोम रश्मियां इस अन्तरिक्ष में व्याप्त सूक्ष्म मरुदादि रश्मियों के रूप में विद्यमान होती हैं। उपर्युक्त मन एवं वाक् किंवा प्राथमिक प्राण इन सोम रश्मियों के द्वारा ही इस सृष्टि प्रक्रिया के विभिन्न दोषों को दूर करते हैं अर्थात् प्रत्येक क्रियाओं में इनका योगदान आवश्यक होता है। इस सोम पदार्थ को प्राण तत्त्व के आकर्षित करने के साथ-२ जो कोई भेषज अर्थात् दोषों को दूर करने वाली रश्मियां होती हैं, वे सभी अन्ततः अग्निष्टोम को प्राप्त होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि की विभिन्न प्रक्रियाओं के मुख्य आधार में मन-वाक्-प्राथमिक प्राण-विभिन्न छन्द और मरुद् रश्मियां प्रमुख हैं। इनकी उत्पत्ति व संगति के कारण ही इस ब्रह्माण्ड में प्रकाश, ऊष्मा आदि की उत्पत्ति होती है। **अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति विभिन्न प्राण छन्द एवं मरुदादि रश्मियों के सम्पीडन से ही होती है।** ये विभिन्न छन्द और मरुदादि रश्मियां न केवल अग्नि तत्त्व को उत्पन्न करती हैं बल्कि अग्नि को अपने अन्दर अवशोषित करने में भी सक्षम होती हैं। प्राथमिक प्राण इन मरुद् रश्मियों के साथ संगत होकर डार्क एनर्जी के तीव्र बल को भी नियन्त्रित करने में सक्षम होते हैं।।

३. अग्निमातिथ्ये मन्थन्ति। अग्निं चातुर्मास्येषु। आतिथ्यमेवानु चातुर्मास्यान्य-ग्निष्टोममपि यन्ति।।
पयसा प्रवर्ग्ये चरन्ति। पयसा दाक्षायणयज्ञे। प्रवर्ग्यमेवानु दाक्षायणयज्ञोऽ-ग्निष्टोममप्येति।।

{चातुर्मास्य = उत्सन्नयज्ञ इव वाऽ एष यच्चातुर्मास्यानि (श.२.५.२.४८)। दाक्षायणयज्ञ = दाक्षायणयज्ञेन सुवर्गकामो यजेत (तै.सं.२.५.५.४), स (प्रजापतिः) वै दक्षो नाम। तद्यदेनेन सो ऽग्रे ऽयजत तस्माद्दाक्षायणयज्ञो नामोतैनमेके वसिष्ठयज्ञ इत्याचक्षते (श.२.४.४.२)।}

व्याख्यानम्- खण्ड १.१६ में वर्णित अग्निमंथन और अतिथि अग्नि के उत्पन्न होने का विज्ञान हम विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं, जहाँ अग्नि के मंथन से नवीन अग्नि उत्पन्न होकर तारों के निर्माण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, उसी प्रसंग को यहाँ महर्षि पुनः प्रस्तुत करते हैं कि नवीन और सतत उत्पन्न होने एवं सतत गतिमान रहने वाले अग्नि को उत्पन्न करने के लिए तारों के केन्द्रीय भाग में अत्यन्त तीव्र मंथन क्रियाएं होती हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ अग्नि मन्द वा नष्ट हो जाता है और जहाँ केवल चार प्रकार की मास रश्मियां अर्थात् २ प्रकार की ऋतु रश्मियां ही विद्यमान वा सक्रिय होती हैं और इसी कारण अग्नि विलुप्तप्रायः हो जाता है, वहाँ भी अग्नि के मंथन की क्रिया होती है, जिसके कारण पुनः नवीन अग्नि उत्पन्न हो जाता है। इन दोनों प्रकार की परिस्थितियों में अतिथि रूप नवीन अग्नि अग्निष्टोम अवस्था को ही अन्ततः प्राप्त होता है।।

अब महर्षि चतुर्थ अध्याय के प्रथम चार खण्डों में वर्णित प्रवर्ग्य यज्ञ अर्थात् विभिन्न लोकों, विशेषकर प्रकाशित लोकों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इन लोकों के अन्दर होने वाली विभिन्न सृजन प्रक्रियाएं 'पयस्' अर्थात् सोम एवं प्राण रश्मियों के प्रज्वलित वा अति सक्रिय रूप के संगम के कारण होती हैं। ये तत्त्व उन लोकों के अन्दर तीव्र गमन करते हुए एक-दूसरे का भक्षण करते हैं। इसी प्रकार से दाक्षायणयज्ञ अर्थात् वाक् एवं मनस् तत्त्व के द्वारा संचालित यज्ञ भी इन्हीं पयस् रूप प्राण और सोम रश्मियों के संगम और संचरण से सम्पन्न होता है और यह दाक्षायण यज्ञ प्रकाशित लोकों के सृजनरूप प्रवर्ग्य यज्ञ के अनुकूल ही क्रियान्वित होता है, जिससे दोनों प्रकार के यज्ञ भी अन्ततः अग्निष्टोम को प्राप्त होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न तीव्र ताप और दाब पर नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ होकर एक नवीन ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जहाँ ऊष्मा विलुप्त हो जाती है, वहाँ भी गुरुत्वाकर्षण बल के तीव्र दाब के कारण ऊष्मा उत्पन्न होती है। इन तारों के अन्दर विभिन्न प्राण और मरुद् रश्मियां अत्यन्त तीव्र गति करते हुए एक-दूसरे को अवशोषित करते हैं। इन प्रक्रियाओं से बहुकाल पूर्व मूल कण और परमाणु नाभिक आदि के निर्माण में भी यही संकुचन और सम्पीडन का प्रभाव काम करता है। अन्ततः विभिन्न तारों की उत्पत्ति हो जाती है।।

४. पशुरुपवसथे भवति। तमेवानु ये के च पशुबन्धास्ते सर्वेऽग्निष्टोममपि यन्ति।। इळादधो नाम यज्ञक्रतुः। तं दध्ना चरन्ति; दध्ना दधिघर्मे। दधिघर्ममेवान्विळादधोऽग्निष्टोममप्येति।।२।।

{दधि = पशवो वै दधि (तै.सं.५.२.७.४), सोमो वै दधि (कौ.ब्रा.८.६), धारकः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२०.१)। उपवसथः = गाँव (आप्टेकोष)। घर्म = देवमिथुनं वा एतद् यद् घर्मः (गो.उ.२.६), अहर्नाम (निघं.१.९), यज्ञनाम (निघं.३.१७), जिघर्ति क्षरति नश्यति दीप्यते वा प्राणिनो जगद्वा येन स घर्मः (उ.को.१.१४६)।}

व्याख्यानम्- सभी मरुद् वा छन्द रश्मियां समूह के रूप में गमन करती हैं। विभिन्न संयोज्य कण भी परस्पर मिलकर गमन करने का प्रयास करते हैं। इस सामूहिक रूप में गमन करने से ही वे पदार्थ ऐश्वर्यवान् होते हैं। विभिन्न लोक-लोकान्तरों रूप पशु भी समूहों में रहने का प्रयास करते हैं। समूहों में रहकर गमन करने वाली मरुद् और छन्द रश्मि एवं संयोज्य कण आदि में से जो कोई पदार्थ परस्पर विशेष बल के साथ बंधे रहते हैं, वे सभी अग्निष्टोम अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। इनमें से जो पदार्थ परस्पर विशेष बलपूर्वक नहीं बंधे रहते हैं, वे इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।।

'इडा' **अर्थात् विभिन्न प्रकार की मरुदादि रश्मियों और संयोज्य कणों का विशेषरूप से धारण ही यज्ञ कर्म है** अर्थात् इनके धारण किये बिना इस सृष्टि में कोई भी सृजन-संगति क्रिया संभव नहीं है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इन पदार्थों के धारण और संगम का नाम है। इनके संगम में विशेषकर सबका धारण और पोषण करने वाली सूक्ष्म मरुद् एवं प्राण रश्मियों की ही भूमिका होती है। इन प्राण रश्मियों एवं इनके भी धारक मन तथा वाक् तत्त्व के कारण ही विभिन्न मरुद् वा छन्द रश्मियां गतिशील होती हैं एवं परस्पर एक-दूसरे को अवशोषित भी करती हैं। जब मरुद् वा सोमादि रश्मियां 'घर्म' अवस्था को प्राप्त करती हैं, उस समय भी धारक प्राण वा मरुद् रश्मियों के द्वारा ही प्राप्त करती हैं। यहाँ 'घर्म' उस अवस्था का नाम है, जब मरुद् वा छन्दादि रश्मियां परस्पर संगत होकर प्रदीप्त होती हुई तीव्र तेज और ताप को उत्पन्न करती हैं। इस अवस्था में अनेक ऐसी रश्मियां, जो उस अवस्था के लिए अनुपयोगी होती हैं, वे या तो रिसकर बाहर चली जाती हैं किंवा नष्ट हो जाती हैं। इस अवस्था को उत्पन्न करने के लिए 'इडादध' नामक पूर्वोक्त क्रियाएं इस 'दधिघर्म' अवस्था के अनुकूल सम्पादित होती हुई अन्त में अग्निष्टोम अवस्था को ही प्राप्त करती हैं और 'दधिघर्म' अवस्था भी अन्ततः अग्निष्टोम का ही रूप प्राप्त कर लेती है। ध्यातव्य है कि 'घर्म' अवस्था में विभिन्न देव

पदार्थों का संयोग अत्यन्त विक्षोभकारी एवं एक-दूसरे को मथने वाला होता है। उस समय उन पदार्थों की भेदन शक्ति अति तीव्र होती है। इसलिए महर्षि ने पूर्व में कहा है- "तदेतद् देवमिथुनं यद् घर्मः स यो घर्मस्तच्छिश्नम्" (ऐ.१.२२)। उस भारी मंथन के समय 'घृङ्' सूक्ष्म रश्मि उत्पन्न होकर उत्सर्जित होती रहती हैं। ये रश्मियां यज्ञरूप विष्णु का शिर रूप होती हैं। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- "तद् यद् (छिन्न विष्णोशिशरः) घृङ्ङित्यपतत्तस्माद् घर्मः" (श.१४.१.१.१०)। यह सम्पूर्ण अवस्था अग्निष्टोम ही है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्रायः सभी प्रकार की रश्मियां एवं कण एक सूक्ष्म बल के द्वारा परस्पर बंधे रहने के कारण समूह रूप में ही गमन करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार बड़े लोक-लोकान्तर भी इस ब्रह्माण्ड में परस्पर बंधे हुए समूह रूप में ही विद्यमान हैं। अपने इस गुण के कारण ही ये पदार्थ प्रभावकारी और सृजनधर्मी होते हैं। इस सृष्टि में जब भी कहीं संयोग प्रक्रिया होती है, तब उसमें मन और प्राणादि की प्रेरणा से छन्दादि रश्मियों की संगति की ही विशेष भूमिका होती है। विभिन्न तारों के केन्द्रों में इस प्रकार का संगम अति तीव्र और भेदक गति के साथ सम्पन्न होता है। इसी के कारण ही उन स्थानों में भारी मात्रा में ऊष्मा, प्रकाश एवं विद्युत् की उत्पत्ति वा प्रधानता होती है। इन स्थानों में जो रश्मियां अनुपयोगी होती हैं, वे रिसकर तारों के बहिर्भागों में आ जाती हैं किंवा नष्ट हो जाती हैं। इन तारों के केन्द्रों में अन्य अनेक ध्वनियों के साथ-२ **'घृङ्'** यह ध्वनि भी विशेषरूप से गूँजती हुई बाहर निकलती रहती है।।

इति १४.२ समाप्तः

ॐ अथ १४.३ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. इति नु पुरस्ताद्। अथोपरिष्टात्। पंचदशोक्थ्यस्य स्तोत्राणि, पंचदश शस्त्राणि। स मासो, मासधा संवत्सरो विहितः, संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः, अग्निरग्निष्टोमः, संवत्सरमेवानूक्थ्योऽग्निष्टोममप्येति। उक्थ्यमपि यन्तमनु वाजपेयोऽप्येति। अत्युक्थ्यो हि स भवति।।

{वाजपेयः = सोमो वै वाजपेयः (तै.ब्रा.१.३.२.३), अथैष वाजपेयः, वाजपेयेनान्नाद्यकामो यजेत, अन्नपेयो ह वा एष यद्वाजपेयः(जै.ब्रा.२.१६२), अन्नं वाऽ उ एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते ऽन्नपेयं ह वै नामैतद्यद्वाजपेयम् (श.५.१.३.३), वाजपेयो वा एष य एष (सूर्यः) तपति (गो.उ.५.८), सप्तदश उ एवा (एव) वाजपेयः (जै.ब्रा.१.२१), उक्थ्यम् = अयं ह वा अस्यैषोऽनिरुक्तः प्राणो यदुक्थ्यः (काश.५.२.३.१), उक्थ्या वाजिनः (गो.उ.१.२२), पशव उक्थानि (कौ.ब्रा.२१.५), यज्ञियं वै कर्मोक्थ्यं वचः (ऐ.१.२६), स (प्रजापतिः) उक्थ्येन रुद्रानयाजयत्, तेऽन्तरिक्षमजयन् (तै.सं.७.१.५.३), तानुक्थैरुत्थापयति। तदुक्थानामुक्थत्वम् (जै.ब्रा.२.२४)}

व्याख्यानम्- पूर्व के दो खण्डों में अग्निष्टोम से पूर्व विविध छन्दादि रश्मियों एवं विभिन्न कणों की विभिन्न क्रियाओं का वर्णन किया गया है। उन क्रियाओं में अनेक शस्त्र और स्तोत्र नामक रश्मिसमूह के विषय में भी हम विस्तार से लिख चुके हैं। अब यहाँ से हम अग्निष्टोम अवस्था के पश्चात् होने वाली विभिन्न क्रियाओं एवं उत्पन्न विभिन्न छन्दादि रश्मियों की चर्चा प्रारम्भ करते हैं-

अग्निष्टोम अवस्था के पश्चात् अर्थात् विभिन्न द्युलोकों के निर्माण के पश्चात् १५ प्रकार के स्तोत्र और १५ प्रकार के शस्त्र संज्ञक विभिन्न छन्दादि रश्मिसमूह उत्पन्न होते हैं। स्तोत्र और शस्त्र के विषय में हम पूर्व में अवगत हो चुके हैं। इन छन्द रश्मिसमूहों का यहाँ कोई विस्तृत विवरण वा स्वरूप नहीं दर्शाया गया है किन्तु उन्हें यहाँ उक्थ्य अवश्य कहा है। इससे यह स्पष्ट अवश्य है कि वे रश्मियां विभिन्न क्रिया और बलों को उत्कर्ष तक अवश्य पहुँचाती हैं। वे छन्द रश्मियां संगतीकरण प्रक्रिया को अनिरुक्त अर्थात् अपरिमित क्षेत्र में प्रसारित करती रहती हैं। इन छन्द रश्मियों के द्वारा रुद्र अर्थात् विक्षोभकारी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां परस्पर संगत होकर अन्तरिक्ष को नियन्त्रित करती हैं। ये कुल मिला के ३० प्रकार के शस्त्र और स्तोत्र रूप छन्द रश्मिसमूह होते हैं। सामूहिक रूप से इन्हें महर्षि ने 'मास' संज्ञा दी है। इसका अर्थ यह है कि महर्षि की दृष्टि में ये स्तोत्र और शस्त्र अहोरात्र के समान प्रभाव वाले होते हैं। इस विषय में हमारा मत है कि स्तोत्र संज्ञक छन्द रश्मियां प्राणरूप होती हैं और शस्त्र संज्ञक छन्द रश्मियां अपानरूप होती हैं। इस विषय में कहा गया है- "प्राणो वै स्तोत्रियोऽपानोऽनुरूपः (जै.ब्रा.३.२१)। उधर २.३७.३ में कहा गया है- "यथा वाव स्तोत्रमेवं शस्त्रम्"। इसका तात्पर्य है कि स्तोत्ररूप छन्द रश्मिसमूह के अनुरूप ही उनकी शस्त्र संज्ञक छन्द रश्मियां होती हैं। इस कारण हमने शस्त्र को अनुरूप मानकर उन्हें अपान रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार ये ३० छन्द रश्मिसमूह ३० अहोरात्र अर्थात् प्राणापान के समान व्यवहार करते हैं और यह सम्पूर्ण समूह 'मास' संज्ञक रश्मियों के समान व्यवहार करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मापता हुआ, उनमें विद्यमान विभिन्न सन्धियों को जोड़ता हुआ सतत अपनी हवि देता रहता है। इस प्रकार के अत्यन्त विशाल छन्द रश्मिसमूहों रूपी सन्धानक मास प्राण के विविध रूपों के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में अनेकों संवत्सरों अर्थात् सौरमण्डलों अथवा

गैलेक्सियों का निर्माण होता है और वे सौरमण्डल अथवा गैलेक्सियाँ पूर्वोक्त अग्नि और वैश्वानर का संयुक्त रूप होती हैं, जिसमें अग्नि तत्त्व वैश्वानर अर्थात् विद्युत् के साथ मिलकर पूर्वोक्त अग्निष्टोम का चरम रूप होता है। उधर वे पूर्वोक्त 'उक्थ्य' रूप छन्द रश्मियां, जिनमें ३० स्तोत्र और शस्त्र होते हैं, संवत्सर अवस्था के अनुकूल अवस्था को उत्पन्न करने हेतु अग्निष्टोम अवस्था में व्याप्त हो जाती हैं। वे उक्थ संज्ञक सभी रश्मियां अपने साथ १७ स्तोत्र एवं १७ शस्त्र अर्थात् कुल ३४ छन्द रश्मिसमूहों वाली वाजपेय नामक क्रियाएं भी अग्निष्टोम अवस्था में प्रविष्ट हो जाती हैं। यह वाजपेय नामक क्रियासमूह 'उक्थ्य' नामक क्रियासमूहों की अपेक्षा अधिक छन्द रश्मियों से युक्त होने के कारण उसको अतिक्रमित करता है अर्थात् उससे अधिक बल और तेज सम्पन्न होता है। **यहाँ तारों के सम्पूर्ण स्वरूप को ही 'वाजपेय' कहा गया है** क्योंकि ये तारे सभी बलों और अन्न अर्थात् कणों वा रश्मियों, छन्दादि प्राणों एवं सोम रश्मियों के विशाल भण्डार को अपने अन्दर समेटे हुए होते हैं और यह अवस्था अग्निष्टोम अवस्था की उत्तर अवस्था है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न तारों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ होने के पश्चात् तारों के अग्रिम स्वरूप तथा परमाणु नाभिकों के निर्माण के पश्चात् एटम के निर्माण की प्रक्रिया में अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों का योगदान होता है। इनकी संख्या यहाँ ३० (रश्मिसमूह) बताई है। ये रश्मियां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं, जिससे सभी एटम और विशाल लोक-लोकान्तर परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। वे अपने इस प्रभाव से अपने निकटस्थ पदार्थों को आकृष्ट भी करते रहते हैं। जिस प्रकार एटम के नाभिक अपने आस पास की रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और रश्मिसमूह सहित वे नाभिक इलेक्ट्रॉन्स को अपनी ओर आकृष्ट किये रहते हैं, उसी प्रकार सभी तारे वा गैलेक्सियों आदि के केन्द्रीय भाग अपने बाहरी भाग एवं अपने आस-पास के लोकों को धारण किये रहते हैं।।

२. द्वादश रात्रेः पर्यायाः, सर्वे पञ्चदशाः, ते द्वौ द्वौ संपद्य त्रिंशद्। एकविंशं षोळशिसाम त्रिवृत् संधिः। सा त्रिंशत्। स मासः त्रिंशन्मासस्य रात्रयो मासधा संवत्सरो विहितः, संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः, अग्निरग्निष्टोमः, संवत्सरमेवान्वतिरात्रो-ऽग्निष्टोममप्येति। अतिरात्रमपि यन्तमन्वप्तोर्यामोऽप्येति। अत्यतिरात्रो हि स भवति।।
एतद् वै ये च पुरस्ताद्, ये चोपरिष्टाद् यज्ञक्रतवस्ते सर्वेऽग्निष्टोममपि यन्ति।।

{अतिरात्र = चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदतिरात्रौ, कनीनिके अग्निष्टोमा इति (काठ.३४.८; तै.सं.७.२.६.१), रात्रि = रात्रिर्वै संयच्छन्दः (श.८.५.२.५), सोमो रात्रिः (श.३.४.४.१५), रात्रिर्वरुणः (ऐ.४.१०; तां.२५.१०.१०)।}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि रात्रि के १२ विविध पर्याय बतलाते हैं। हम सर्वप्रथम 'रात्रि' शब्द पर विचार करते हैं-

तारों के अन्दर 'अग्नि' और 'सोम' मुख्यतः यह दो प्रकार का पदार्थ विद्यमान होता है। **प्राथमिक प्राण एवं उसका विकार 'अग्नि' रूप होता है और सूक्ष्म मरुद् रश्मियों रूप पदार्थ 'सोम' कहलाता है।** अन्य दृष्टि से **सम्यक् प्रकार से नियन्त्रित विविध छन्द रश्मियां अर्थात् संयच्छन्द अवस्था रात्रि रूप कहलाती हैं।** उधर उपर्युक्त प्रमाण से द्युलोक ही अतिरात्र सिद्ध होता है। इस विषय में कहा गया है- "स कृत्स्नो विश्वजिद्योऽतिरात्रः" (कौ.ब्रा.२५.१४) इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा है- "प्रजापतिर्विश्वजित्" (कौ.ब्रा.२५.११)। इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण विश्वजित् = प्रजापति ही अतिरात्र है। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- "अथ यत्परं भाः (सूर्यस्य) प्रजापतिर्वा सः" (श.१.६.३.१०)। इससे सिद्ध हुआ कि सूर्यादि प्रकाशित लोकों का सम्पूर्ण स्वरूप 'अतिरात्र' कहलाता है। जहाँ तक 'अतिरात्र' पद का द्विवचनान्त प्रयोग का प्रश्न है, उस विषय में हमारा मत है कि यह सूर्यादि लोकों के दो भागों के लिए ही प्रयुक्त

है। इस विषय में एक सूक्ष्मद्रष्टा ऋषि ने कहा- "भूतं पूर्वोऽतिरात्रो भविष्यदुत्तरः पृथिवी पूर्वोऽतिरात्रो द्यौरुत्तरोऽग्निः पूर्वोऽतिरात्र आदित्य उत्तरः प्राणः पूर्वोऽतिरात्र उदान उत्तरः" (तां.१०.४.१)। इसका आशय है कि इन लोकों का प्रारम्भिक रूप पूर्व अतिरात्र एवं पूर्ण स्वरूप उत्तर अतिरात्र, अप्रकाशित पदार्थ, जो इन लोकों में विद्यमान रहते हैं, वे पूर्व अतिरात्र और प्रकाशित पदार्थों का समूह उत्तर अतिरात्र, प्रारम्भिक उत्पन्न अग्नि और विद्युत् पूर्व अतिरात्र एवं पश्चात् उत्पन्न उच्च अग्नि एवं विकिरण उत्तर अतिरात्र, प्राण नामक प्राण तत्त्व की प्रधानता पूर्व अतिरात्र और अपान नामक प्राण की प्रधानता उत्तर अतिरात्र है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकाशित लोक अतिरात्र का ही रूप है। सबका प्रकाशक होने के कारण इन लोकों को चक्षु कहा है। जिस प्रकार आँखों के मध्य पुतली (कनीनिका) हुआ करती है, उसी प्रकार इन लोकों के मध्य उनका मूल प्रकाशक केन्द्र पूर्वोक्त अग्निष्टोम हुआ करता है। रात्रि और अग्निष्टोम के विषय में कहा गया है-

"एषा वा अग्निष्टोमस्य सम्मा यद्रात्रिः।
द्वादशस्तोत्राण्यग्निष्टोमो द्वादशस्तोत्राणि रात्रिः।
एषा वा उक्थस्य सम्मा यद्रात्रिः।
त्रीण्युक्थानि त्रिदेवत्यः सन्धिः।" (तां.९.१.२३-२६)

इसका तात्पर्य यह है कि १२ विविध स्तोत्ररूप छन्द रश्मिसमूह रात्रि अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग के अतिरिक्त अन्य विशाल भाग में तथा १२ स्तोत्ररूप छन्द रश्मिसमूह तारों के केन्द्रीय भाग रूप अग्निष्टोम में विशेषतया विद्यमान होते हैं। इन लोकों का केन्द्रीय अर्थात् अग्निष्टोम भाग बाहरी विशाल भाग के द्वारा सम्यग्रूपेण नियन्त्रित और साम्यावस्था को प्राप्त करता है और यह बाहरी भाग ही सभी उक्थों अर्थात् विविध प्राण और अन्न रूप पदार्थों को अपने अन्दर समाये रखता है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य स्तोत्ररूप छन्द रश्मिसमूह दोनों भागों के मध्य विद्यमान होते हैं, जो विशेषकर तीन देवों अग्नि, उषा और अश्विनौ अर्थात् विद्युत्, ऊष्मा, प्रकाश एवं वायु-विद्युत्, प्राणोदान, प्राणापान को विशेष सक्रिय करके दोनों भागों को सम्यग्रूपेण धारण करते हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर १५ स्तोत्र रूपी छन्द रश्मिसमूह इन लोकों में विद्यमान होते हैं। अब हम १२ स्तोत्रों के पर्यायों पर विचार करते हैं। इस विषय में महर्षि आपस्तम्ब का कथन है-

"होतृचमसमुख्यः प्रथमो गणः। मैत्रावरुणचमसमुख्यो द्वितीयः।
ब्राह्मणाच्छंसिचमसमुख्यस्तृतीयः। अच्छावाकचमसमुख्यश्चतुर्थः।
इन्द्राय त्वापिशर्वरायेति मुख्यंमुख्यं चमसमनून्नयति। सर्वैन्द्री रात्रिः।
अनुष्टुप् छन्दस इति सर्वत्र भक्षमन्त्रं नमति। प्रथमाभ्यां गणाभ्यामध्वर्युश्चरति।
उत्तराभ्यां प्रतिप्रस्थाता। एष प्रथमः पर्यायः।" (आप.श्रौ.१४.३.१०-१५)

इनमें से ब्राह्मणाच्छंसी इस ग्रन्थ के खण्ड ६.२६ में वर्णित है एवं अन्य के विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। पूर्वोक्त रात्रिरूप १२ छन्द रश्मिसमूह होतृचमस् आदि चार प्रकार के मेघरूप समूहों का निर्माण करते हैं। उस समय "इन्द्राय त्वापिशर्वराय" यह ९ अक्षरयुक्त याजुषी बृहती छन्द रश्मि इन चारों मेघवत् छन्द रश्मिसमूहों को ऊर्ध्वगमन से रोककर उन्हें अपेक्षाकृत सघन रूप प्रदान करके इन्द्र तत्त्व को समृद्ध करती है। इस प्रक्रिया में अनुष्टुप् छन्द रश्मि सबको तेजस्विता प्रदान करके अपनी ओर आकृष्ट करती है। इनमें से प्रथम दो गण (होतृचमस् और मैत्रावरुण) अध्वर्यु {अध्वर्युर्वै श्रेयान् पापीयान् प्रतिप्रस्थाता (काठ.२७.५)} अर्थात् आधाररूप प्राथमिक प्राणों को अवशोषित कर लेते हैं, जिससे ये दोनों गण अर्थात् रश्मिसमूह और भी अधिक शक्तिशाली हो उठते हैं किंवा ये प्राणरूप अध्वर्यु इन दोनों गणों की रश्मियों को लेकर गमन करते हैं और ब्राह्मणाच्छंसी एवं अच्छावाक रूप द्वितीय दो गण प्रतिप्रस्थाता अर्थात् असुर तत्त्व से आक्रान्त परमाणुओं को अपने साथ संगत करके किंवा उनके साथ स्वयं संगत होकर उनको असुर तत्त्व से मुक्त करते हैं। इस प्रकार यह पूर्वोक्त १२ छन्द रश्मिसमूह का प्रथम पर्याय है अर्थात् यह प्रथम आवृत्ति है। इसी प्रकार इन छन्द रश्मियों का १२ प्रकार से विविध प्रकार का व्यवहार सूर्यादि लोकों में हुआ करता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि ये कुल मिलाकर १५ स्तोत्र होते हैं। वे १५ युग्मरूप में आवृत्त होकर ३० हो जाते हैं। आचार्य सायण ने यहाँ "द्वौ द्वौ संपद्य" से इन १५ स्तोत्रों के २-२ पर्यायों का ग्रहण किया है। हमारे मत में ऐसा करना आचार्य सायण की भूल है। हम यह पूर्व में अवगत हो चुके हैं कि स्तोत्ररूप छन्द रश्मिसमूह शस्त्ररूप छन्द रश्मिसमूहों के समान स्तर और प्रभाव वाले होकर परस्पर संगत रहते हैं। दोनों एकाकी रहकर सृष्टि प्रक्रिया में उपयोगी नहीं रह सकते। इस

कारण यहाँ **युग्म से तात्पर्य शस्त्र और स्तोत्र का युग्म ही है।** फिर यह भी ज्ञातव्य है कि इन स्तोत्रों के पर्यायों के गणों में अच्छावाक, मैत्रावरुण आदि छन्द रश्मिसमूह शस्त्ररूप ही है। इस कारण भी यहाँ शस्त्रों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे मत की पूर्व कण्डिका से भी पुष्टि होती है। अब महर्षि लिखते हैं कि "षोडशिसाम" में इक्कीस होते हैं। सर्वप्रथम 'षोडशिसाम' पर विचार करते हैं- वस्तुतः यह सूर्य ही है। इसी कारण कहा है- "असौ वै षोडशी योऽसौ (सूर्यः) तपति" (कौ.ब्रा.१७.१)। इसे 'षोडशिसाम' कहने का कारण बतलाते हुए ऋषियों ने कहा- "यद्वाव षोडशँ स्तोत्रँ षोडशँ शस्त्रं तेन षोडशी" (तै.सं.६.६.११.१), "षोळशः स्तोत्राणां षोडश शस्त्राणां षोळशभिरक्षरैरादत्ते षोळशभिः प्रणौति षोळशपदान्निविदं दधाति तत्षोळशिनः षोळशित्वम्" (ऐ.४.१)। ऐतरेय के इस वचन की हम उसी स्थान पर व्याख्या करेंगे। यहाँ हम १५ स्तोत्र व १५ शस्त्रों की चर्चा करते आये हैं परन्तु सम्पूर्ण सूर्यादि तारों के अन्दर यह संख्या १६-१६ प्रमाणित होती है और इसी कारण इन्हें 'षोडशी' कहा जाता है। यहाँ 'साम' शब्द भी इन लोकों का ही एक विशेषण है। इसी कारण कहा है- "तदाहुस्संवत्सर एव सामेति" (जै.उ.१.१२.१.१), "स (प्रजापतिः) हैवं षोडशधाऽऽत्मानं विकृत्य सार्धं समैत्। तद् यत् सार्धं समैतत् तत्साम्नस्सामत्वम्" (जै.उ.१.१५.३.७)। 'साम' शब्द से एक और अर्थ यह सिद्ध होता है कि सूर्यादि प्रकाशित लोक विभिन्न रश्मियों को उत्सर्जित करते हैं, इस कारण भी 'साम' कहे जाते हैं क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्य ने "(आदित्यस्य) अर्चिः सामानि" (श.१०.५.१.५), कहकर रश्मियों की ही 'साम' संज्ञा की है। इस 'षोडशिसाम' रूप सूर्यादि लोक में २१ क्या होते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है- "एकविंशायतनो वा एष यत् षोडशी। सप्त हि प्रातःसवने होत्रा वषट्कुर्वन्ति सप्त माध्यन्दिने सवने सप्त तृतीये सवने" (तां.१२.१३.८)। इसका तात्पर्य यह है कि इन लोकों में कुल मिलाकर २१ वज्ररूप रश्मियां विद्यमान होती हैं। उन वज्र रश्मियों के विषय में कहा है-

"नवभिर्नवभिरभिचरतस्त्रिवृद् वज्रः" (क.३१.६)। इसका तात्पर्य यह है कि इन लोकों के केन्द्रीय एवं शेष भाग के मध्य स्थित सन्धि भाग में वज्ररूप रश्मियां ९-९ छन्द रश्मियों का अतिक्रमण करके गमन करती हैं। इसे ही महर्षि ऐतरेय महीदास "त्रिवृत सन्धिः" कहते हैं। इस प्रकार २१ वज्र एवं ये ९ छन्द रश्मियां मिलकर ३० होती हैं। इन दोनों प्रकारों से ३०-३० का समूह मासरूप छन्द रश्मियों के समान व्यवहार करता है। इसका कारण यह है कि स्थूल मास रश्मियों में ३० रात्रि अर्थात् अपान वा व्यान रश्मियां विद्यमान होती हैं और मास रश्मियों को धारण करने से ही सूर्यादि लोकों की रचना होती हैं। "संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः, अग्निरग्निष्टोमः" का व्याख्यान पूर्ववत् समझें।

इन लोकों के निर्माण में पूर्वोक्त अतिरात्र संज्ञक विभिन्न क्रियाएं व अवस्थाएं अनुकूलता से सम्पन्न होते हुए अग्निष्टोम अवस्था को ही प्राप्त होती हैं। {अप्तोर्यामः = यद् (विष्णुः पशून्) आप्नोत्। तदप्तोर्यामस्याप्तोर्यामत्वम् (तै.ब्रा.२.७.१४.२)} ये अतिरात्र संज्ञक विभिन्न क्रियाएं व्याप्त हुए 'अप्तोर्याम' को भी व्याप्त करती हैं। यह सूर्यादि लोक ही 'अप्तोर्याम' हैं क्योंकि ये ही विभिन्न प्रकार की छन्द-मरुदादि रश्मियों एवं विभिन्न कणों को अपने अन्दर व्याप्त करते हैं। ये लोक अतिरात्र का भी अतिक्रमण करने वाले होते हैं क्योंकि इनके अन्दर विद्यमान विभिन्न पदार्थ और क्रियाएं पूर्वोक्त अतिरात्र संज्ञक पदार्थ और क्रियाओं की अपेक्षा कहीं अधिक होती हैं।।

इस प्रकार पूर्वोक्त अग्निष्टोम से पूर्व एवं पश्चात् होने वाली विभिन्न संयोगादि क्रियाएं अग्निष्टोम को ही प्राप्त करती हैं अर्थात् अग्नि के तेजस्वी स्वरूप को उत्पन्न करने वाली होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्रत्येक तारे के मुख्यतः तीन भाग होते हैं, जो चित्र में दर्शाये गये हैं। इनमें से प्रथम और तृतीय भाग में १२-१२ प्रकार के छन्द रश्मिसमूहों के युग्म विशेषतः कार्य करते हैं और भाग २ में तीन प्रकार के। ये सभी रश्मियां परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हुए अन्यों को भी अपने साथ संगत करती हैं। भाग २ में प्राणापान, प्राणोदान, वायु मिश्रित विद्युत्, प्रकाश एवं ऊष्मा की मात्रा अत्यधिक होती है। इन लोकों के अन्दर विविध छन्द रश्मियों के मेघों के समान अनेक समूह विद्यमान होते हैं। इनमें २१ प्रकार के ऐसे समूह होते हैं, जो यत्र-तत्र विद्यमान, विशेषकर भाग-३ में विद्यमान डार्क एनर्जी की तरंगों को नियन्त्रित वा नष्ट करते हैं। ९ प्रकार की विशेष रश्मियां भाग २ में विद्यमान होती हैं। भाग २ में विद्यमान रश्मियां भाग १ और ३ को परस्पर पृथक् भी रखती हैं और संयुक्त व धारण भी किये रहती हैं। इसके विषय में विशेष जानकारी हेतु व्याख्यान भाग पठनीय है।।
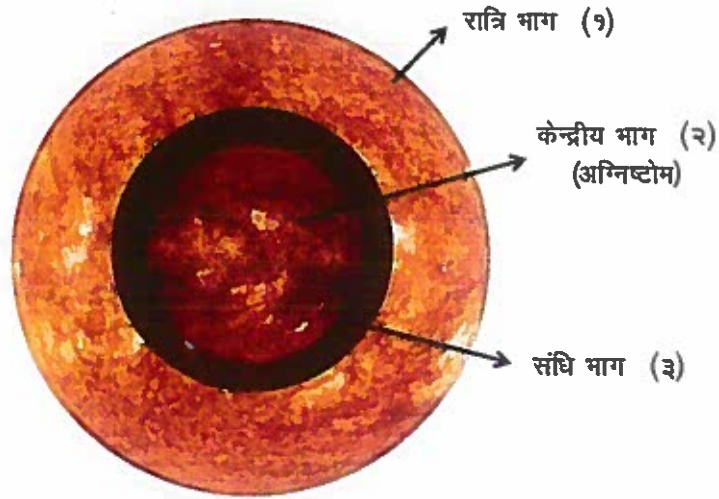
चित्र १४.२ तारे की आन्तरिक संरचना

३. तस्य संस्तुतस्य नवतिशतं स्तोत्रियाः। सा या नवतिस्ते दश त्रिवृतः। अथ या नवतिस्ते दश। अथ या दश, तासामेका स्तोत्रियोदेति, त्रिवृत् परिशिष्यते। सोऽसावेकविंशोऽध्याहितस्तपति। विषुवान् वा एष स्तोमानाम्। दश वा एतस्माद-र्वाञ्चस्त्रिवृतः। दश पराञ्चः। मध्य एष एकविंश उभयतोऽध्याहितस्तपति। तद्याऽसौ स्तोत्रियोदेति सैतस्मिन्नध्यूहळा, स यजमानः। तद् दैवं क्षत्रं सहो बलम्।। अश्नुते ह वै दैवं क्षत्रं सहो बलम्, एतस्य ह सायुज्यं सरूपतां सलोक-तामश्नुते य एवं वेद।।३।।

{विषुवान् = अग्निष्टोमो विषुवान् (जै.ब्रा.२.५०), असावादित्य एकविंशो विषुवान् (जै.ब्रा. २.३६०)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त सम्यक् प्रकार तप्त और प्रदीप्त प्रकाशित लोक में स्तोत्र रूप छन्द रश्मिसमूह से सम्बन्धित कुल १६० छन्द रश्मियां होती हैं। ये छन्द रश्मियां उस लोक को तीव्रता से प्रकाशित करती हुई तीव्र भेदन आदि क्रियाओं को सम्पादित करती हैं। इस विषय में आचार्य सायण ने अपने भाष्य में लिखा है-

"प्रातःसवने वहिष्पवमानाख्यं यत्स्तोत्रं, तस्य त्रिवृत्स्तोमः क्रियते। त्रिवृतश्चावृत्तिरहितत्वाद् विद्यमानेषु त्रिषु तृचेषु विद्यमाना नवर्चः स्तोत्रिया भवन्ति। तत ऊर्ध्वं चत्वार्याज्यस्तोत्राणि। तेष्वेकैकस्मिन्नपि विद्यमानानां तिसृणामृचामावृत्तिविशेषेण पंचदशः स्तोमः संपादनीयः। तथा सत्येकैकस्मिन् स्तोत्रे पंचदशर्च इत्येवं चतुर्षु स्तोत्रेषु मिलित्वा षष्टिः संपद्यते। तदेवं प्रातःसवने एकोनसप्ततिः। माध्यंदिने सवने माध्यंदिनपवमानाख्यमेकं स्तोत्रम्, तस्यापि पंचदशस्तोमयुक्तत्वात् स्तोत्रियाः पंचदश संपद्यन्ते। चत्वारि पृष्टस्तोत्राणि। तेषु सप्तदशस्तोमे कृते सत्यष्टषष्टिसंख्याकाः स्तोत्रिया भवन्ति। उभयं मिलित्वा माध्यंदिनसवने त्र्यशीतिः संपद्यते। तृतीयसवने आर्भवपवमानस्तोत्रस्य सप्तदशस्तोमोपेतत्वात् तस्मिन् सप्तदश ऋचः। यज्ञायज्ञीयस्तोत्रस्यैकविंशस्तोमोपेतत्वात् तत्रैकविंशतिर्मिलित्वा तृतीयसवनेऽष्टात्रिंशत्। एवं सवनत्रये मिलित्वा नवत्यधिक - शतसंख्याकाः स्तोत्रिया भवन्ति।।"

इसका भाषानुवाद करते हुए डॉ. मालवीय ने लिखा है-

"उस (अग्निष्टोम) की (उद्गाताओं द्वारा तीनों सवनों में) संस्तुत स्तोत्रिय ऋचाएँ (सब मिलकर) एक सौ नव्वे हैं। (अर्थात् प्रातःसवन में एक त्रिवृत् और चार पंचदश = ६९; मध्यन्दिनसवन

में एक पंचदश और चार सप्तदश = ८३, तथा सायंसवन में एक सप्तदश और एकविंश = ३८ अर्थात् {१६०=१०×६+१०×६+१०(=६+१)}।''

आचार्य सायण ने जिन वहिष्पवमान, पवमान, पृष्ठ, आर्भव पवमान एवं यज्ञायज्ञीय स्तोत्रों की चर्चा की है, उनके विषय में हमारा व्याख्यान क्रमशः खण्ड २.२२, ३.१४, ३.२१, ३.३० व ३.१४ में पठनीय है। इन्हीं स्तोत्रों, जो तीनों सवनों में यथाविध विद्यमान होते हैं, उनमें कुल छन्द रश्मियों की संख्या १६० हैं, जैसा कि सायण आचार्य ने गणना की है।

ये १६० रश्मियां कुल २० त्रिवृत् एवं १ दशक के समूह के रूप में विद्यमान होती हैं। यहाँ ६ रश्मियों के युग्म को 'त्रिवृत्' कहा जाता है। यद्यपि उपर्युक्त विभाजन में सायण ने तीनों सवनों के आधार पर पृथक्-२ विभाजन किया है, जिसके आधार पर ६०+६०+१० रश्मि विभाजन का सामंजस्य नहीं हो सकता। इस विषय में हमारा मत यह है कि किसी भी तारे की पूर्णता के समय तीनों सवनों की रश्मियां सम्पूर्ण क्षेत्र में मिश्रित जैसी हो जाती हैं और उसके पश्चात् सम्पूर्ण क्षेत्र में सभी १६० छन्द रश्मियों के तीन युग्म वन जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक युग्म में क्रमशः ६०, ६० एवं १० छन्द रश्मियां होती हैं। इन अन्तिम १० छन्द रश्मियों में भी प्रथम ६ छन्द रश्मियां एक त्रिवृत् के रूप में और अन्तिम एक स्वतन्त्र छन्द रश्मि होती है। इस प्रकार कुल मिलाकर २१ त्रिवृत् छन्द रश्मि युग्म होते हैं और ये युग्म वज्र रूप होते हैं। इन वज्र रूप तीक्ष्ण रश्मियों के कारण धारण किया हुआ विशाल प्रकाशित लोक तीव्रता से तपता है। यह २१ वज्र रश्मियों से व्याप्त वह तारा अपनी तेज रश्मियों के द्वारा विशाल क्षेत्र में व्याप्त होता है। इन २१ वज्र रश्मियों में से २० वज्र रश्मियां तारे के उस विशाल क्षेत्र में, जो केन्द्रीय भाग के वाहर विद्यमान होता है, में दोनों ओर १०-१० रश्मिसमूह के रूप में विद्यमान होती है और १ वज्र रश्मिसमूह तारे के केन्द्रीय भाग में विचरती है। उस केन्द्रीय भाग में अत्यधिक ताप और दाव विद्यमान होता है। तारे के केन्द्रीय भाग में असुर तत्त्व की मात्रा नगण्य होने से वज्र रूप रश्मियों की संख्या एक ही होती है, जवकि तारे के अन्य विशाल भाग में असुर रश्मियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होने से वज्र रूप रश्मियां भी अधिक मात्रा में विद्यमान होती हैं। ये वज्र रूप रश्मियां असुर तत्त्व को नियन्त्रित करके विभिन्न परमाणुओं वा रश्मियों के संगतीकरण में सहयोग करती हैं। जो अतिरिक्त एक स्वतन्त्र छन्द रश्मि विद्यमान होती है, वह सम्पूर्ण तारे के अन्दर विद्यमान १८६ छन्द रश्मियों अर्थात् २१ वज्र रूप समूहों के ऊपर अवस्थित होकर उन्हें भी परस्पर संगत करती है। वस्तुतः यह छन्द रश्मि ही यजमान रूप होकर सृजन प्रक्रियाओं में सवसे अधिक भागीदार होती है। इस छन्द रश्मि के यहाँ तीन विशेष गुण वतलाये गये हैं-

(१) **दैव क्षत्र**- यह वह वल है, जो विभिन्न प्रकाशित लोकों में विभिन्न परमाणुओं को भेदकर नवीन कणों का निर्माण करने में सहायक होता है।

(२) **दैव सहस्**- यह उन लोकों का वह वल है, जो विभिन्न परमाणुओं वा रश्मियों को दवाने अथवा किसी के दवाव को सहने में सक्षम होता है।

(३) **दैव वल**- इस वल के विषय में महर्षि यास्क का कथन **''बलं कस्मात्। बलं भरं भवति। बिभर्तेः।''** उपयुक्त प्रतीत होता है, जिसका तात्पर्य है कि यह वल विभिन्न पदार्थों को धारण और पोषित करने में सहायक होता है।

ये तीनों वल उपर्युक्त अन्तिम एक छन्द रश्मि के गुण हैं, जिनसे सम्पन्न होकर यह छन्द रश्मि सम्पूर्ण लोक में विचरती हुई सम्पूर्ण पदार्थ में सर्वोपरि प्रतिष्ठित होती है। ध्यातव्य है कि यहाँ सभी १६० छन्द रश्मियों की स्तोत्रिय संज्ञा की है। उनमें से भी १८६ छन्द रश्मियां वज्र रूप होती हैं। इससे यह स्पष्ट संकेत है कि इन लोकों में इन रश्मियों के अतिरिक्त और भी अनेक रश्मियां विद्यमान होती हैं, जो अपेक्षाकृत कम तेज और वल से युक्त होती हैं।।

इस प्रकार इन उपर्युक्त छन्द रश्मियों से युक्त होने पर पूर्वोक्त दैवक्षत्र आदि तीनों प्रकार के वल सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं, जिसके कारण उस अति संतप्त पदार्थ का परस्पर दृढ़ संयोग, समानरूपता एवं एक विशाल लोक के रूप में आकृति का निर्माण होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के अन्दर कुल १६० ऐसी छन्द रश्मियां होती हैं, जो ऊष्मा और प्रकाश को समृद्ध करने में विशेष भूमिका निभाती हैं। इनमें से १८६ छन्द रश्मियां ६-६ रश्मियों के २१ समूहों के रूप में विद्यमान होती हैं। ये समूह अत्यन्त तीक्ष्ण, तेजस्वी और ऊष्ण होते हैं, जो डार्क एनर्जी के

किसी भी प्रक्षेपक प्रभाव को नियन्त्रित वा नष्ट करने में सक्षम होते हैं। शेष एक अकेली छन्द रश्मि सम्पूर्ण छन्द रश्मियों में विचरती हुई सम्पूर्ण तारों में व्याप्त होती है। इस रश्मि के कारण तारों में तीन प्रकार के वल उत्पन्न होते हैं-
(१) भेदक वल (२) प्रतिरोधक किंवा प्रतिरोध को सहन करने वाला वल (३) धारक और पोषक वल।

इन सब वलों के कारण तारों के अन्दर विद्यमान अति संतप्त पदार्थ परस्पर दृढ़ता से संयुक्त होकर एक समान रूप वाले विशाल लोक का आकार ग्रहण करता है।।

ॐ इति १४.3 समाप्तः ॐ

ॐ अथ १४.४ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. देवा वा असुरैर्विजिग्याना ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायन्, सोऽग्निर्दिविस्पृगूर्ध्व उदश्रयत, स स्वर्गस्य लोकस्य द्वारमवृणोदग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्याधिपतिस्तं वसवः प्रथमा आगच्छंस्त एनमब्रुवन्नति नोऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति, स नास्तुतोऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत्, स्तुत नु मेति, तथेति, तं ते त्रिवृता स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतोऽत्यार्जत, ते यथालोकमगच्छन् ।।

{स्वर्गलोकः = अग्निष्टोमसंमितो वै स्वर्गो लोकः (काठ.३३.४)। दिविस्पृक् = यो दिवि स्पृशति स अग्निः (तु.म.द.ऋ.भा.५.११.१)।}

व्याख्यानम्- तारों के निर्माण की प्रक्रिया को प्रकारान्तर से समझाने के लिए महर्षि पुनः इस खण्ड में एक प्रकरण प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि जब कॉस्मिक पदार्थ से तारों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय देव और असुर पदार्थ का परस्पर संघर्ष होता है, जिसमें पूर्वोक्त विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा कुछ देव तत्त्व असुर पदार्थ को नियन्त्रित वा नष्ट करने में सफल हो जाता है। वह विजयी देव तत्त्व पदार्थ के केन्द्रीय क्षेत्र में निर्मित हो रहे स्वर्ग लोक को प्राप्त कर लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि आकाश में स्थित पदार्थ का कुछ भाग संघनित होता हुआ तेजस्वी क्षेत्र का निर्माण करने लगता है। उस समय अग्नि तत्त्व विद्युत् और आकाश से मिश्रित होता हुआ उसी केन्द्रीय भाग की ओर उठने लगता है और वह उस केन्द्रीय भाग को सब ओर से आच्छादित करके उसका अधिष्ठाता बन जाता है अर्थात् वही उसका धारक, पोषक और रक्षक बन जाता है। तदुपरान्त वसु रूप गायत्री छन्द रश्मियां उस केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। इसके पश्चात् महर्षि ने यहाँ अग्नि और वसु रूप गायत्री रश्मियों में संवाद दर्शाया है, जो उनकी इस ग्रन्थ में चिरपरिचित शैली है, जिसका तात्पर्य यह है कि वे गायत्री छन्द रश्मियां जब विद्युदग्नि आदि से तीव्र संतप्त क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयत्न करती हैं, तब वे इसमें असफल रहती हैं। अग्नि तत्त्व का वह पूर्वनिर्मित आवरण उन्हें प्रविष्ट होने से रोक देता है। उसके पश्चात् एक त्रिवृत् छन्द रश्मिसमूह की उत्पत्ति होती है। जिसके विषय में आचार्य सायण ने ताण्ड्य ब्राह्मण को निम्नानुसार उद्धृत किया है-

"तिसृभ्योहिङ्करोति सप्रथमया, तिसृभ्योहिङ्करोति समध्यमया, तिसृभ्योहिङ्करोति स उत्तमयोद्यती त्रिवृतो विष्टुतिः।" (तां.२.१.१)

यहाँ ब्राह्मणकार ने उस त्रिवृत् के प्रभाव की प्रक्रिया को यहाँ स्पष्ट करते हुए कहा है कि तीन छन्द रश्मियों के समूह प्रथम तृच के साथ-२ "हिम्" इस सूक्ष्म रश्मि की उत्पत्ति होती है। फिर द्वितीय तृच के साथ-२ और अन्त में तृतीय तृच के साथ-२ 'हिम्' रश्मियों की उत्पत्ति होती है। ये 'हिम्' रश्मियां प्राणापान से निर्मित होती हुई सूक्ष्म वज्र रूप होकर गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारपाल के समान होती है। इन 'हिम्' रश्मियों के विषय में हम कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं-

"हिङ्कारो वै गायत्रस्य प्रतिहारः (तां.७.१.४), वज्रो वै हिङ्कारः (कौ.ब्रा.३.२), रश्मय एव हिङ्कारः (जै.उ.१.११.१.६), अहोरात्राणि हिङ्कारः (ष.३.१)"।

ध्यातव्य है कि यहाँ "तिसृभ्यः" पद में तृतीयार्थ में पंचमी विभक्ति का प्रयोग है। इस त्रिवृत् में विद्यमान ९ छन्द रश्मियों के रूप में आचार्य सायण ने अपने भाष्य में "असितः काश्यपो देवलो वा ऋषिः" अर्थात् किसी भी अन्य प्राण के बंधन से मुक्त एवं सृष्टि के प्रत्येक कर्म के कर्त्ता मूल प्राण रूपी मनस् तत्त्व (इस विषय में खण्ड २.२२ की प्रथम कण्डिका द्रष्टव्य है) से सोमदेवताक एवं गायत्री

छन्दस्क ३ छन्द रश्मियां सामवेद उ.आ.१.१.१ अर्थात् एक तृच को उद्धृत किया है, जिनके प्रभाव के विषय में हम अपनी शैली से निम्नानुसार विचार करते हैं-

इनके छान्दस व दैवत प्रभाव से विविध मरुद् रश्मियां तेज और वल से युक्त होती हैं। अन्य प्रभाव इस प्रकार हैं-

(१) "उपास्मै गायता.....", "अभि ते मधुना.....", "स नः पवस्व......" के प्रभाव से विभिन्न नयनकर्त्री वायु रश्मियां शोधक सोम रश्मियों को निकटता से स्पर्श करते हुए सक्रिय करती हैं। विभिन्न अहिंसक वा अहिंसनीय प्राण रश्मियां प्रकाश और वल को प्राप्त कराने के लिए विभिन्न कमनीय संयोज्य रश्मि आदि पदार्थों को अन्य प्राणों के साथ संगत करती हैं। वे संदीप्त सोम रश्मियां विभिन्न किरणों, संयोज्य पदार्थों, प्राण रश्मियों और उष्ण विकिरणों के साथ संगत और नियन्त्रित होती हुई सव पदार्थों को शुद्ध करती हैं। इसके पश्चात् सायण ने फिर निम्नलिखित एक तृच को उद्धृत किया है। इसकी उत्पत्ति 'काश्यपो मारीच' ऋषि अर्थात् कूर्म प्राण की सूक्ष्म रश्मियों से होती है। इसका देवता पवमान सोम तथा छन्द गायत्री है। इसका दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् है। इतना भेद अवश्य है कि इनके प्रभाव से सोम तत्त्व विशेष गतिशील और शुद्ध होता है। ये तृच ऋचाएं सामवेद (उ.आ.१.१.२.१) हैं।

(२) "दविद्युतत्या......", "हिन्वानो हेतृभिर्हित......", "ऋधक्सोम स्वस्तये......." विभिन्न किरणों और छन्द रश्मियों का भक्षण करने वाली शुक्ल वर्ण के साथ देदीप्यमान सोम रश्मियां सव ओर से रोकी जाती हुई चमकती हैं। वे सोम रश्मियां इन गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा प्रेरित होती हुई नियन्त्रित होकर तीव्रता से प्रवाहित होती हैं। वे क्रान्तदर्शी सोम रश्मियां आकाश तत्त्व के साथ संगत होती हुई सूर्य की किरणों के समान सम्यग् मार्गों पर गति करती हैं।

अन्त में सोमदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क तृतीय तृच सा.उ.आ.१.१.३ की उत्पत्ति {वैखानसाः = ये नखाः (प्रजापतेः) ते वैखानसाः (तै.आ.१.२३.४), (नखः = नह्यति बध्नाति रुधिरादिकमिति नखः - उ.को.५.२३)} 'वैखानसा आङ्गिरसा ऋषयः' अर्थात् मनस् तत्त्व से उत्पन्न सूत्रात्मा वायु के वंधन वलों से युक्त रश्मियों से होती है, जो निम्नानुसार है-

(३) "पवमानस्य ते........", "अच्छा कोशं.......", "अच्छा समुद्रम्......" इनका दैवत व छान्दस प्रभाव प्रथम तृच के समान है। इनके अन्य प्रभाव से {श्रवः = अन्ननाम (निघं.२.७)} वलवान् सोम तत्त्व की शोधक और गमनशील रश्मियां विभिन्न संयोज्य परमाणुओं को आकृष्ट करती हुई तीव्रता से गमन करती हैं। {असृग्रम् = सृजामि विविधतया वर्णयामि (म.द.ऋ.भा.१.६.४)। अस्तम् = गृहनाम (निघं.३.४)। धीतिः = प्रज्ञानाम (निघं.१०.४१), अङ्गुलिनाम (निघं.२.५), धीतिभिः कर्मभिः (नि.२.२४)।} सोम पदार्थ की धारक शक्तिसम्पन्न तेजस्विनी क्रियाओं से युक्त सूक्ष्म रश्मियां इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न मेघरूप पदार्थों को विविधतया आकृष्ट करती हुई विविध रूप और रंग प्रदान करती हैं। वे रश्मियां विभिन्न प्राणों के निवास स्थान आकाश तत्त्व को अच्छी प्रकार प्राप्त करती हैं, जिससे वे सम्पूर्ण पदार्थ जगत् को व्याप्त करके नाना प्रकार के सृजन कार्य करती हैं।

इस प्रकार इस एक त्रिवृत् रूप ६ गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा अग्नि तत्त्व अधिक संतप्त और कमनीय वलों से युक्त हो गया। इस कारण उस आग्नेय पदार्थ ने अन्य गायत्री छन्द रूप वसु रश्मियों को आकृष्ट करके उस लोक के केन्द्रीय भाग में जाने दिया, जिससे वे रश्मियां भी केन्द्रीय भाग में व्याप्त हो गईं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न तारों के निर्माण के लिए जव कॉस्मिक पदार्थ संघनित होने लगता है, उस समय दृश्य पदार्थ और डार्क एनर्जी में भारी संघर्ष होता है। उस समय जो पदार्थ डार्क एनर्जी के प्रतिरोध को सहन करके आगे बढ़ता जाता है, वह संघनित होता हुआ ऊष्मा, प्रकाश एवं विद्युदावेशयुक्त अवस्था से समृद्ध होने लगता है। उस समय कुछ पदार्थ इस केन्द्रीय भाग की ओर जाने का प्रयत्न करता है परन्तु वैद्युत प्रतिरोध के कारण वह तेजस्वी पदार्थ भी केन्द्रीय तेजस्वी पदार्थ में मिल नहीं पाता। उस समय व्याख्यान भाग में उद्धृत ६ गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभाव से उस क्षेत्र में विभिन्न छन्द, मरुदादि रश्मियां तीव्र सक्रिय और वलवती होकर आकाश तत्त्व को अपने

साथ मिलाती हुई केन्द्रीय भाग के ताप को बढ़ाने के साथ-२ गुरुत्वीय दाब को भी बढ़ाने लगती हैं। इससे विभिन्न पदार्थ अति संतप्त और तीव्र आकर्षण बल से युक्त होकर बाहरी पदार्थ को अपनी ओर तेजी से आकृष्ट करने लगते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में अनेकों मेघरूप रचनाओं से विभिन्न तारों का निर्माण होने लगता है।।

२. तं रुद्रा आगच्छंस्त एनमब्रुवन्नति नोऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति; स नास्तुतोऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत्, स्तुत नु मेति, तथेति, तं ते पञ्चदशेन स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतोऽत्यार्जत, ते यथालोकमगच्छन्।।
तमादित्या आगच्छंस्त एनमब्रुवन्नति नोऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति; स नास्तुतोऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत्, स्तुत नु मेति, तथेति; तं ते सप्तदशेन स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतोऽत्यार्जत; ते यथालोकमगच्छन्।।
तं विश्वे देवा आगच्छंस्त एनमब्रुवन्नति नोऽर्जस्याकाशं नः कुर्विति; स नास्तुतोऽतिस्रक्ष्य इत्यब्रवीत्, स्तुत नु मेति; तथेति; तं त एकविंशेन स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतोऽत्यार्जत, ते यथालोकमगच्छन्।।
एकैकेन वै तं देवाः स्तोमेनास्तुवंस्तान् स्तुतोऽत्यार्जत; ते यथालोकमगच्छन्।।
अथ हैनमेष एतैः सर्वैः स्तोमैः स्तौति यो यजते।।
यश्चैनमेवं वेदाती तु तमर्जाते।।
अति ह वा एनमर्जते स्वर्गं लोकमभि य एवं वेद।।४।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त वसु अर्थात् गायत्री छन्द रश्मियों के पश्चात् रुद्र अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां तारे के संतप्त केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होना प्रारम्भ करती हैं। तब उस केन्द्रीय भाग के बाहरी आवरण द्वारा उत्पन्न प्रतिरोध के कारण वे अन्दर प्रविष्ट नहीं हो पातीं। उस समय उस प्रतिरोध के कारण पंचदश स्तोम अर्थात् १५ छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इस विषय में कहा गया है-

"पंचभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स एकया स एकया, पंचभ्योहिङ्करोति स एकया स तिसृभिस्स एकया, पंचभ्यो हिङ्करोति स एकया स एकया स तिसृभिः, पंचपंचिनी पंचपंचदशस्य विष्टुतिः।" (तां.२.४.१)

इसका आशय पूर्व कण्डिका में उद्धृत ताण्ड्य ब्राह्मण के वचन की शैली के आधार पर निम्न प्रकार है-

यहाँ भी पूर्व कण्डिका में उद्धृत त्रिवृत् स्तोम की ९ रश्मियां उत्पन्न होती हैं परन्तु विभिन्न आवृत्ति वा क्रम भेद से इनकी संख्या १५ हो जाती है। वही भेद इस ब्राह्मण वचन में दर्शाया गया है। इन १५ छन्द रश्मियों के ५-५ के तीन समूह उत्पन्न होते हैं और प्रत्येक समूह के पश्चात् 'हिम्' सूक्ष्म रश्मि उत्पन्न होती है। इनमें से प्रथम समूह में प्रथम छन्द रश्मि अर्थात् पूर्वोक्त "उपास्मै गायता नरः.....'' की आवृत्ति तीन बार एवं अन्य दो पूर्वोक्त छन्द रश्मियों की एक-एक आवृत्ति होती है। इस प्रकार ये कुल मिलाकर पांच छन्द रश्मियों का प्रथम समूह उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् द्वितीय समूह में पूर्वोक्त "दविद्यु तत्या रुचा .....'' की एक आवृत्ति और द्वितीय छन्द रश्मि की तीन आवृत्तियाँ और तृतीय छन्द रश्मि की एक आवृत्ति, इस प्रकार यह द्वितीय समूह उत्पन्न होता है। अन्तिम तृतीय समूह में पूर्वोक्त "पवमानस्य ते कवे....'' यह प्रथम छन्द एवं इससे अग्रिम द्वितीय छन्द रश्मि की एक-२ वार आवृत्ति होती है और इससे अग्रिम तृतीय छन्द रश्मि की तीन वार आवृत्ति होती है। इस प्रकार यह तृतीय पंचरश्मिसमूह उत्पन्न होता है। इन सभी ९ छन्द रश्मियों का स्वरूप और प्रभाव हम पूर्व कण्डिका के व्याख्यान में लिख चुके हैं। ये ९ छन्द रश्मियां ही १५ रश्मियों का रूप धारण करके तारों के केन्द्रीय भाग के बहिर्भाग में स्थित पदार्थ को अति तप्त और प्रकाशित करती हैं, जिसके कारण वे रुद्र अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां भी केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट हो जाती हैं।।

तदुपरान्त आदित्य अर्थात् जगती छन्द रश्मियां तारों के केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होना प्रारम्भ करती हैं और वे भी पूर्व रश्मियों की भाँति प्रतिरोधक वल के कारण केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट नहीं हो पाती हैं। उस समय उस प्रतिरोधक वल के कारण सप्तदश स्तोम अर्थात् १७ छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। ये १७ रश्मियां पूर्वोक्त ६ गायत्री छन्द रश्मियों की विभिन्न आवृत्तियों के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इस विषय में कहा गया है-

"पंचभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स एकया, पंचभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया, सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिर्दशसप्ता सप्तदशस्य विष्टुतिः।" (तां.२.७.१)

इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम तृच से ५ रश्मियों का समूह उत्पन्न होता है और इस समूह में प्रथम पूर्वोक्त छन्द रश्मि की तीन वार आवृत्ति और द्वितीय व तृतीय की १-१ वार आवृत्ति होती है। उसके पश्चात् 'हिम्' रश्मि उत्पन्न होती है। तदुपरान्त द्वितीय समूह भी ५ रश्मियों का होता है। इसमें पूर्वोक्त प्रथम छन्द रश्मि १ वार, द्वितीय छन्द रश्मि ३ वार और तृतीय छन्द रश्मि १ वार आवृत्त होती है। उसके पश्चात् एक 'हिम्' रश्मि उत्पन्न होती है। तदुपरान्त तृतीय समूह में ७ रश्मियां विद्यमान होती हैं, जिनमें पूर्वोक्त प्रथम छन्द रश्मि एक वार और द्वितीय व तृतीय छन्द रश्मि तीन वार आवृत्त होती हैं। इस सप्त छन्द रश्मिसमूह के उपरान्त भी एक 'हिम्' रश्मि उत्पन्न होती है। इस प्रकार ये कुल १७ गायत्री छन्द रश्मियां तारे के केन्द्रीय भाग के वहिर्भाग में व्याप्त होकर उसे और भी अधिक संतप्त कर देती हैं, जिसके प्रभाव से वे जगती रश्मियां भी तारे के केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट हो जाती हैं।।

तदुपरान्त विश्वेदेवा अर्थात् वे सभी पदार्थ, जो तारों के केन्द्रीय भाग के अतिरिक्त अन्य विशाल भाग में व्याप्त होते हैं तथा जिनकी केन्द्रीय भाग में प्रविष्टि अनिवार्य होती है, भी केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट होने का प्रयास करते हैं। वे भी पूर्वोक्त प्रतिरोधक वलों के कारण केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं। विश्वेदेवा संज्ञक पदार्थ में अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है, साथ ही इसमें अन्य छन्द रश्मियां भी न्यूनाधिक अनुपात में विद्यमान होती हैं। अनुष्टुप् छन्द का विश्वेदेवा पदार्थों से सम्वन्ध वतलाते हुए कहा गया है- "अनुष्टुभं वै स (यजमानः) छन्दसां जयति विश्वान् देवान् देवानाम्" (जै.ब्रा.१.३२)। अनुष्टुप् छन्द रश्मियां कैसे सभी प्रकार के पदार्थों को अपने साथ लेकर चलती हैं? इस विषय में कुछ आर्ष वचनों को यहाँ उद्धृत करते हैं-

"अनुष्टुप् सर्वाणि छन्दांसि (तै.सं.५.१.५.२-३), अनुष्टुप् सोमस्य च्छन्दः (कौ.ब्रा.१५.२), अनुष्टुबेव सर्वम् (गो.पू.५.१५), अनुष्टुब्भि छन्दसां योनिः (तां.११.५.१७)"।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियां सभी छन्द रश्मियों, सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों एवं इनसे व्याप्त विभिन्न पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट वा संगत करती हुई केन्द्रीय भाग की ओर ले चलती हैं। उस समय वे भी पूर्ववत् प्रतिरोध के कारण केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट नहीं हो पातीं। उस समय उस प्रतिरोधक वल के कारण पूर्वोक्त ६ गायत्री छन्द रश्मियों की विभिन्न आवृत्तियों के रूप में २१ छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इस विषय में कहा गया है-

"सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स तिसृभिस्स एकया सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स एकया स तिसृभिः सप्तसप्तिन्येकविंशस्य विष्टुतिः।" (तां.२.१४.१)

इसका तात्पर्य यह है कि ये २१ छन्द रश्मियां ७-७ रश्मियों के ३ समूहों के रूप में होती हैं, जिनमें से प्रत्येक समूह के अन्त में पूर्ववत् 'हिम्' रश्मि उत्पन्न होती है। यहाँ ब्राह्मणकार ने इस एकविंश स्तोम के विषय में लिखा है कि प्रथम समूह में पूर्वोक्त प्रथम और द्वितीय गायत्री छन्द रश्मियां ३-३ वार तथा तृतीय छन्द रश्मि एक वार आवृत्त होती है। द्वितीय सप्त रश्मिसमूह में पूर्वोक्त प्रथम छन्द रश्मि एक वार और अन्य दोनों छन्द रश्मियां ३-३ वार आवृत्त होती हैं। इसके पश्चात् अन्तिम रश्मिसमूह में पूर्वोक्त प्रथम और तृतीय छन्द रश्मियां ३-३ वार और द्वितीय छन्द रश्मि एक वार आवृत्त होती है। इस प्रकार ये २१ छन्द रश्मियां तारे के केन्द्रीय भाग के वहिर्भाग में व्याप्त हो जाती हैं और इस व्याप्ति से वह भाग और भी अधिक संतप्त हो उठता है, जिसके प्रभाव से वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियां एवं उनसे व्याप्त समस्त पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगता है।।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के तीन छन्द रश्मिसमूह रूप स्तोम केन्द्रीय भाग के मार्ग में तीव्र संताप उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण वे विभिन्न छन्द रश्मिसमूह और उनसे व्याप्त पदार्थ सभी प्रतिरोधक बलों का अतिक्रमण करके केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट हो जाते हैं और इन चार प्रकार के विभिन्न स्तोम अर्थात् तप्त रश्मिसमूहों से संतप्त पदार्थ केन्द्रीय भाग को संतप्त करके पूर्वोक्त अग्निष्टोम अवस्था को प्राप्त वा उत्पन्न करता है।।+।।

इस प्रकार इन सभी प्रक्रियाओं के उत्पन्न होने पर तारों के केन्द्रीय भाग के बहिर्भाग में उत्पन्न प्रतिरोधक बलों का अतिक्रमण करने योग्य बल और ऊष्मा की उत्पत्ति होती है, जिसके कारण बाहर से आने वाला पदार्थ केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट हो जाता है किंवा होने लगता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि तारों के केन्द्रीय भाग के बाहर स्थित सम्पूर्ण विशाल पदार्थ समूह में से और भी पदार्थ क्रमशः केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगता है परन्तु इसमें सर्वप्रथम उपर्युक्त गायत्री रश्मियों से संयुक्त पदार्थ के पश्चात् त्रिष्टुप् रश्मियों से संयुक्त पदार्थ का आगमन होता है किन्तु वह भारी वैद्युत आदि प्रतिरोध के कारण केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट नहीं हो पाता। उस समय इस प्रतिरोधी क्रियाओं के बीच पूर्वोक्त ६ गायत्री छन्द रश्मियां विभिन्न क्रमों में आवृत्त होकर १५ रश्मियों को उत्पन्न करती हैं। उससे प्रतिरोधक बल को नियन्त्रित करने वाला एक विशेष आकर्षण बल उत्पन्न होकर बाहरी पदार्थ को केन्द्रीय भाग की ओर आकृष्ट करने लगता है। इसी प्रकार अग्रिम चरण में जब जगती रश्मियों से युक्त पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगता है, तब भी पूर्ववत् प्रतिरोधक बल उत्पन्न होकर उस पदार्थ को बाहर ही रोक देता है। उस समय पूर्वोक्त ६ गायत्री रश्मियां विभिन्न क्रमों में आवृत्त होकर १७ गायत्री रश्मियों के रूप में प्रकट होती हैं, जिससे उस क्षेत्र का ताप और भी अधिक बढ़कर प्रतिरोधक बल को दूर करने वाले आकर्षण बलों को उत्पन्न करता है, जिससे वह पदार्थ भी केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट होने लगता है। अन्त में अनुष्टुबादि विभिन्न छन्द रश्मियों से संयुक्त शेष पदार्थ भी केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ने लगता है, जिसे वहाँ विद्यमान तीव्र प्रतिरोधक बल पूर्ववत् बाहर ही रोक देता है। उस समय पूर्वोक्त ६ गायत्री छन्द रश्मियां विभिन्न क्रमों में आवृत्त होकर २१ गायत्री रश्मियों के रूप में प्रकट हो जाती हैं, जिससे उस क्षेत्र में आकर्षक बल एवं ताप और भी तीव्र हो उठते हैं। इस कारण वह पदार्थ भी प्रतिरोधक बलों का अतिक्रमण करके केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट होकर उस भाग को पूर्ण करते हैं। उस समय उस भाग का ताप अत्यन्त तीव्र होकर नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ होने लगती है।।

ॐ इति १४.४ समाप्तः ॐ

अथ १४.५ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमः, तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमः, तमग्निस्तोमं सन्तमग्निष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः।।
तं यच्चतुष्टया देवाश्चतुर्भिः स्तोमैरस्तुवंस्तस्माच्चतुस्तोमस्तं चतुस्तोमं सन्तं चतुष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः।।
अथ यदेनमूर्ध्वं सन्तं ज्योतिर्भूतमस्तुवंस्तस्माज्ज्योतिस्तोमस्तं ज्योतिस्तोमं सन्तं ज्योतिष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः।।

{ज्योतिः = विद्युतो दीप्तिः (म.द.य.भा.१८.५०), यज्ज्योतिरतिरात्रः (जै.ब्रा.२.३०५), एतद्ध ज्योतिरुत्तमं य एष (सूर्यः) तपति (जै.ब्रा.२.६८)। परः = देवा वै यज्ञेन नावारुन्धत, तत्परैरवारुन्धत, तत्पराणां परत्वम् (तै.सं.३.३.६.१), परैर्वै देवा आदित्यँ स्वर्गं लोकमपारयन् यदपारयंस्तत् पराणां परत्वम् (काठ.३३.६), सूक्ष्मः (तु.म.द.ऋ.भा.३.५४.५), अत्यन्तोत्कृष्टः (म.द.ऋ.भा.१.८.५)। अक्षः = (अशूङ् व्याप्तौ संघाते च), अक्षाः परिधयः (मै.४.५.६)।}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त 'अग्निष्टोम' शव्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान अग्नि तत्त्व ही अग्निष्टोम कहलाता है। यह अग्नि तत्त्व पूर्वोक्त विभिन्न स्तोमों अर्थात् तेजस्वी छन्द रश्मिसमूहों के कारण ही संदीप्त और समृद्ध होता है। इस कारण इस क्षेत्र का अग्नि तत्त्व ही अग्निस्तोम कहलाता है और यह 'अग्निस्तोम' अग्नि ही परोक्ष रूप से वर्णान्तर करके अग्निष्टोम कहलाता है। यह अग्निष्टोम अग्नि परोक्ष अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म और उत्कृष्ट परिधियों के द्वारा अन्य भाग से पृथक् रहता है। इन सूक्ष्म परिधियों के द्वारा ही वाहरी पदार्थ रोका जाता और फिर इन्हीं परिधियों पर संघात करके और उन्हें अपने तेज से व्याप्त करके पूर्वोक्त विभिन्न गायत्री आदि रश्मियां प्रतिरोधक वलों को अतिक्रमित कर अग्निष्टोम अग्नि के क्षेत्र को प्राप्त करती हैं। पूर्वोक्त वसु, रुद्र आदि सभी देव पदार्थ परोक्षप्रिय होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे सभी रश्मि आदि पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु उत्कृष्ट उन परिधियों की ओर आकृष्ट होने वाले होते हैं। उन रश्मियों का आकर्षण अति सूक्ष्म और उत्कृष्ट होता है।।

पूर्वोक्त प्रकरण में वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेवा, इन चार रश्मिसमूहों पर चार देवों ने चार प्रकार के स्तोम अर्थात् त्रिवृत्, पंचदश स्तोम, सप्तदशस्तोम एवं एकविंश स्तोम से उस अग्नि तत्त्व को संतप्त और समृद्ध किया था। इस कारण वह अग्नि अग्निष्टोम के साथ-२ 'चतुस्तोम' भी कहलाता है और यह 'चतुस्तोम' होते हुए भी वर्णान्तर से 'चतुष्टोम' कहलाता है। यह चतुष्टोम अग्नि भी अग्निष्टोम के समान ही सूक्ष्म और उत्कृष्ट परिधियों के साथ संघात करके उनमें व्याप्त होने से ही सूक्ष्म और उत्कृष्ट होता है। इन प्रक्रियाओं में कार्यरत प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों का आकर्षण अत्यन्त सूक्ष्म, उत्कृष्ट और सव वाधाओं से पार लगाने वाला होता है, जो उपर्युक्त छन्दादि रश्मियों के साथ भी परोक्षरूप से संयुक्त होता है।।

वह पूर्वोक्त अग्नि ऊर्ध्व अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर जाता हुआ ज्योतिर्मय होता है अर्थात् प्रकाश और विद्युत् आदि से अत्यन्त परिपूर्ण होता है और इसके कारण ही अन्धकार का अतिक्रमण

करने वाला 'अतिरात्र' रूप लोक सम्पूर्ण रूप से ज्योतिर्मय हो उठता है। इस कारण वह 'ज्योतिस्तोम' कहलाता है। इसके साथ ही यह भी कारण है कि पूर्वोक्त चारों देव रश्मियां संदीप्त व ज्योतिर्मय अग्नि को ही और संदीप्त करती हैं, इस कारण भी वह क्षेत्र 'ज्योतिस्तोम' कहलाता है। वह 'ज्योतिस्तोम' क्षेत्र सम्पूर्ण ज्योति अर्थात् अतिरात्र रूप तारे को प्रकाशित करने से भी 'ज्योतिस्तोम' कहलाता है। यह 'ज्योतिस्तोम' क्षेत्र सूक्ष्म और उत्कृष्ट तारक परिधियों से धारण किये जाते हैं। इस कारण 'ज्योतिस्तोम' वर्णान्तर होकर 'ज्योतिष्टोम' कहलाता है। पूर्वोक्त विभिन्न देवों को भी उत्पन्न, सक्रिय और प्रकाशित करने वाले परम सूक्ष्म देव मनस्तत्त्व और वाक् के आकर्षण आदि बल भी सबसे सूक्ष्म, उत्कृष्ट और निर्बाध होते हैं। इन तीनों ही प्रकार के देवों की गतिविधियों को किसी भी मानव तकनीक से जानना अतिदुष्कर किंवा असंभव है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- किसी भी तारे का केन्द्रीय भाग पूर्वोक्त प्रकार की छन्द रश्मियों के द्वारा तीव्रता से सम्पीडित और संदीप्त पदार्थ से निर्मित होता है। **यह केन्द्रीय भाग अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु उत्कृष्ट एवं परोक्ष परिधि के द्वारा शेष भाग से पृथक् रहता है।** यह केन्द्रीय भाग ही अपार ऊर्जा को उत्पन्न करके सम्पूर्ण तारे को प्रकाशित और संतप्त करता रहता है और तारे का वह भाग भी विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा उत्पन्न गुरुत्वाकर्षण आदि बलों के तीव्र दबाव से केन्द्रीय भाग को संतप्त रखने में सहयोग करता है। विभिन्न छन्द रश्मियां, मरुद् वा प्राथमिक प्राणादि रश्मियां और सर्वाधिक सूक्ष्म मन वा वाग्रश्मियां इतनी सूक्ष्म और उत्कृष्ट होती हैं कि उन्हें किसी भी भौतिक तकनीक से अनुभव नहीं किया जा सकता। **सर्वोपरि एवं चेतनतत्त्व परमात्मा के बल न केवल सूक्ष्म एवं महत्तम होते हैं, अपितु वे पूर्णतया अव्यक्त भी होते हैं।।**

२. स वा एषोऽपूर्वोऽनपरो यज्ञक्रतुर्यथा रथचक्रमनन्तमेवं यदग्निष्टोमस्तस्य यथैव प्रायणं तथोदयनम्।।
तदेषाऽभि यज्ञगाथा गीयते-'यदस्य पूर्वमपरं तदस्य, यद्वस्यापरं तद्वस्य पूर्वम्।
अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति यतरत् परस्तादिति।।
यथा ह्येवास्य प्रायणमेवमुदयनमसदिति, ।।
तदाहुर्यत्त्रिवृत्प्रायणमेकविंशमुदयनं, केन ते समे इति।।
यो वा एकविंशस्त्रिवृद् वै सोऽथो यदुभौ तृचौ तृचिनाविति ब्रूयात् तेनेति।।५।।

व्याख्यानम्- {शाकलः = सर्पविशेष इति सायणः} पूर्ववर्णित अग्निष्टोम रूप यज्ञ कर्म अर्थात् तारे के केन्द्र के निर्माण की प्रक्रिया पूर्वापर से रहित होती है अर्थात् यह सतत चलती रहती है। देश की दृष्टि से भी यह पूर्वापर से रहित प्रक्रिया है क्योंकि इस केन्द्रीय भाग में बाहरी रश्मि आदि पदार्थों का प्रवेश किसी एक स्थान विशेष से प्रारम्भ न होकर सब ओर से एक साथ होता है और इसी प्रकार किसी स्थान विशेष पर इस प्रक्रिया का सहसा अन्त भी नहीं होता है। इस प्रक्रिया की उपमा देते हुए महर्षि कहते हैं कि यह प्रक्रिया रथ के चक्र के समान आदि और अन्त से रहित है। इस अग्निष्टोम प्रक्रिया का स्वरूप सदा एक सा ही बना रहता है अर्थात् जिस प्रकार से यह आरम्भ होती है, तारे की आयु के अन्त तक इसी प्रकार चलती रहती है। इस सबका तात्पर्य यह है कि वसु-रुद्र-आदित्य-विश्वेदेवा **ये सभी पूर्वोक्त छन्द रश्मिसमूह एक-दूसरे के पीछे रथ के अरों की भाँति चलते रहते हैं। इनमें से न तो वसु को पूर्ण आद्य कहा जा सकता है और न विश्वेदेवा को ही सर्वथा अन्तिम कहा जा सकता है।।**

इस विषय में महर्षि एक गाथा प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि इस प्रक्रिया का जैसा पूर्व रूप होता है, वैसा ही इसका अन्तिम रूप भी होता है और जैसा अन्तिम रूप होता है, वैसा ही पूर्व रूप भी होता है अर्थात् जिस प्रकार से पूर्वोक्त छन्दादि रश्मियों के क्रमपूर्वक उत्पन्न होने से यह प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उसी प्रकार तारे की आयु के अन्तिम भाग तक भी उसी पूर्वोक्त चक्रीय क्रम से छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। यहाँ महर्षि शाकल नामक सर्प से इस प्रक्रिया की तुलना करते हैं, जिसका

भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं-

" 'शाकल' शब्दः सर्पविशेषवाची। शाकलनाम्नः 'अहेः 'सर्पविशेषस्य यथा 'सर्पणं' गमनम्, तथैवायमग्निष्टोमः। स च सर्पणकाले मुखेन पुच्छस्य दंशनं कृत्वा वलयाकारो भवति, तत्र किं मुखं किं वा पुच्छमिति न ज्ञायते, एवमत्राप्यदितिदेवताकस्य चरोः साम्ये सति प्रायणीयोदयनीययोः 'यतरत्' 'परस्तात्' पश्चाद्भावि, यतरच्च पूर्वभावि किमपि न विजानन्ति।"

इसका आशय यह है कि जिस प्रकार शाकल नाम का सर्प चलते समय पूँछ को मुख में दवाये रखने से वलयाकार प्रतीत होता है, जिससे उसका आदि-अन्त दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार अग्निष्टोम क्षेत्र भी सव ओर से गोलाकार होने के कारण आदि और अन्त से रहित होता है। इसमें विभिन्न क्रियाएं पूर्वोक्त चक्रीय क्रम से सदा चलती रहती है। इन क्रियाओं को हम पूर्व में विस्तार से लिख चुके हैं।।+।।

यहाँ महर्षि प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि तारे के केन्द्रीय भाग के निर्माण की प्रक्रिया में पूर्वोक्त त्रिवृत् अर्थात् ९ गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं और वह इस प्रक्रिया चक्र का प्रारम्भिक भाग होता है तथा वह प्रकृष्टता से गतिशील होता है। उधर एकविंश स्तोम, जिसे हम पूर्व में विस्तार से समझा चुके हैं, वह इस चक्र का अन्तिम भाग होता है। यह उत्कृष्टता से ऊर्ध्व गमन करने वाला होता है। तव इन दोनों को समान कैसे कह सकते हैं?।।

इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि जो एकविंश और त्रिवृत् दोनों में ही पूर्वोक्त तृच रश्मियां विद्यमान होती है, जैसा कि हम पूर्व खण्ड में विस्तार से लिख चुके हैं। इस कारण ही त्रिवृत् और एकविंश दोनों में समानता कही गई है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के केन्द्र की निर्माण की प्रक्रिया में जो पूर्वोक्त विभिन्न रश्मियां जिस क्रम से उत्पन्न होती हैं, उनका क्रम सतत रथ के चक्र के अरों की भाँति एक-दूसरे के ऊपर घूमता रहता है। इस प्रकार इस क्रम का निश्चित रूप से कोई आदि और अन्त नहीं होता। इसके साथ ही उस केन्द्रीय गोलाकार भाग में बाहरी पदार्थ सब ओर से समान रूप से प्रविष्ट होता रहता है। ये सभी छन्द रश्मियां परस्पर समान रूप से रहती हुई क्रियाशील होती हैं।।
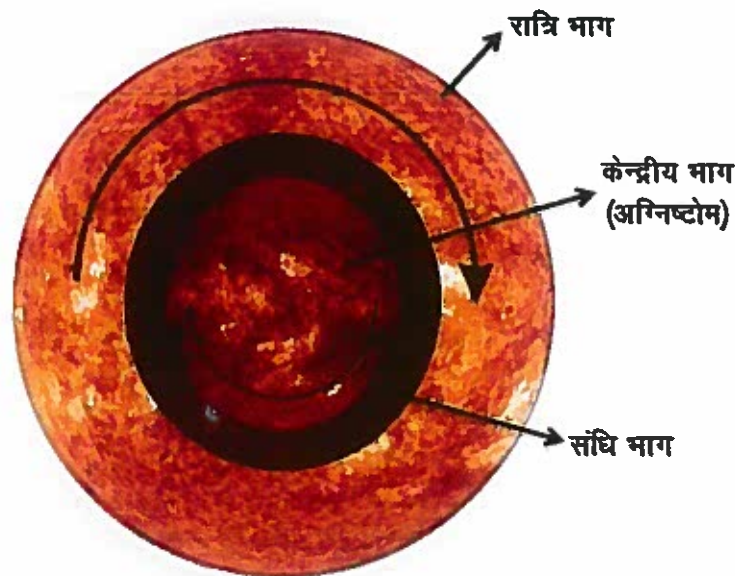
चित्र १४.३ तारे की आन्तरिक संरचना

॥ इति १४.५ समाप्तः ॥

ॐ अथ १४.६ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. यो वा एष तपत्येषोऽग्निष्टोम एष साह्नस्तं सहैवाह्ना संस्थापयेयुः; साह्नो वै नाम।।
तेनासंत्वरमाणाश्चरेयुर्यथैव प्रातःसवन एवं माध्यन्दिन एवं तृतीयसवन एवमु ह यजमानोऽप्रमायुको भवति।।

{अहन् = अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.५.२४), अहनोऽग्निः (वत्सः) (तै.आ.१.१०.५-६ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत), (वत्सः = वायव्यः खलु वाव वत्सः - काठ.३४.१; मन एव वत्सः - श.११.३.१.१), ब्रह्मणो वाऽ एतद्रूपं यदहः (श.१३.१.५.४)। अप्रमायुकः = अपमृत्युरहितः (सायणः)।}

व्याख्यानम्- यह अन्तरिक्ष लोक में तपने वाला सूर्य अग्निष्टोम का ही रूप है। यद्यपि सभी तारे अग्निष्टोम के ही रूप हैं परन्तु यहाँ महर्षि निकटतम तारे को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। यद्यपि अग्निष्टोम तारों के केन्द्रीय भाग को कहते हैं परन्तु वे केन्द्रीय भाग ही सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करते हैं, इस कारण **सम्पूर्ण लोक अग्निष्टोम रूप ही कहलाता है।** यहाँ महर्षि सूर्य के एक और नाम "साह्न" का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि सूर्य अपने अन्दर स्वर्ग लोक को धारण करने वाला होता है। स्वर्ग लोक उसी केन्द्रीय भाग का नाम है, जिसे पूर्व में अग्निष्टोम कहा गया है। **इस भाग में अहन् अर्थात् विद्युत् और प्राण नामक प्राथमिक प्राण की प्रधानता होती है, जिसके कारण इस क्षेत्र में आकर्षण बलों की ही प्रधानता होती है व प्रतिकर्षण बल अति न्यून मात्रा में होते हैं। इस क्षेत्र में मनस्तत्त्व एवं वायु मिश्रित अग्नि तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं, जिसके कारण इस क्षेत्र में अत्यन्त तेज और बलों की विद्यमानता होती है।** ये सब पदार्थ उस क्षेत्र में सम्यग्रूपेण सदैव विद्यमान रहते हैं। पूर्वोक्त वसु नामक गायत्री रश्मियों के केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट होते समय अर्थात् प्रारम्भिक चरण में जिस प्रकार इन सभी पदार्थों की विद्यमानता होती है, उसी प्रकार अन्तिम चरण में अर्थात् विश्वेदेवा छन्द रश्मियों के तारे के केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट होते समय भी इन्हीं पदार्थों की प्रधानता होती है। इस कारण सूर्यादि तारों को 'साह्न' भी कहते हैं।।

तारों के अन्दर जो पूर्वोक्त प्रातःसवन आदि तीनों सवनों की विभिन्न क्रियाएं होती हैं और उनमें वसु, रुद्र आदि विभिन्न देवों अर्थात् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति और संगति की पूर्वोक्त प्रक्रियाएं चलती हैं, वे सभी अति शीघ्रता से नहीं होती वल्कि सभी क्रियाओं की एक नियमित और मर्यादित गति होती है। इन तीनों सवनों का उत्पन्न होना भी अति व्यवस्थित, मर्यादित और चरणवद्ध तरीके से होता है। इन तीनों सवनों के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है-

"तद्वाऽअमिश्रमेव वसूनां प्रातःसवनममिश्रँ रुद्राणां माध्यन्दिनँ सवनं, मिश्रमादित्यानां तृतीयसवनम्।" (श.४.३.५.१)

इसका तात्पर्य यह है कि तारों के निर्माण के प्रथम चरण में विभिन्न वसु अर्थात् गायत्री छन्द रश्मियां और द्वितीय चरण में रुद्र अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां परस्पर अत्यन्त मिश्रित नहीं होती किंवा त्रिष्टुप् के उत्पन्न होने के साथ-२ गायत्री रश्मियों की उत्पत्ति नहीं होती और गायत्री की उत्पत्ति के समय त्रिष्टुप् की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु तृतीय चरण में आदित्य अर्थात् जगती छन्द रश्मियां मिश्र रूप में उत्पन्न होती हैं अर्थात् इनके साथ अन्य दोनों रश्मियों की भी उत्पत्ति होती है। यद्यपि हमारे मत में

त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के समय भी गायत्री छन्द रश्मियां विद्यमान अवश्य होती हैं, भले ही वे त्रिष्टुप् रश्मियों के साथ मिश्रित न होती हों। हाँ! इतना अवश्य है कि ये सभी छन्द रश्मियां सहसा ही अत्यन्त त्वरित गति से उत्पन्न नहीं होती हैं वल्कि निर्धारित और नियन्त्रित गति व क्रम से ही उत्पन्न होती हैं। इस कारण सूर्यादि लोक असमय में नष्ट नहीं होते और अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं। यदि ये सभी रश्मियां अत्यन्त तीव्रता से सहसा उत्पन्न हो जायें, तो सूर्य के केन्द्रीय भाग का ताप अत्यन्त वढ़कर उसमें विस्फोट हो सकता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सूर्यादि लोकों के केन्द्रीय भाग में विद्युत् और ऊष्मा के साथ-२ विभिन्न छन्द और प्राणादि रश्मियों की विशेष प्रधानता होती है। इन लोकों के निर्माण के प्रारम्भ से लेकर विनाश काल तक सभी चरणों में इन पदार्थों की प्रधानता प्रत्येक चरण में रहती है। इसी भाग में विद्युदावेशित कणों की सघनता भी सदा रहती है। गुरुत्वाकर्षण वल, विद्युत् चुम्वकीय वल और नाभिकीय वल जैसे प्रवलतम वल भी इसी भाग में सर्वाधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं। इस भाग में नाभिकीय संलयन की क्रिया अत्यन्त तीव्र गति से और अनियन्त्रित रूप में नहीं होती वल्कि यह नियन्त्रित और मर्यादित गति से ही होती है। यदि यह क्रिया अमर्यादित ढंग से अत्यन्त तीव्र हो उठे, तो केन्द्रीय भाग का ईन्धन सहसा ही संलयित होकर इतनी मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न कर सकता है कि विकिरण के भारी दवाव से तारे में भारी विस्फोट होकर तारा नष्ट हो सकता है किंवा तारे का सम्पूर्ण ईन्धन सहसा ही संलयित होकर और तारे में विस्फोट होकर वह मृत तथा अन्धकारपूर्ण अवस्था में परिवर्तित हो सकता है। इस कारण **एक चेतन सर्वोच्च सत्ता के सर्वोच्च नियन्त्रण में सभी रश्मियां संतुलित रूप से ही कार्य करती हैं।।**

२. यद्ध वा इदं पूर्वयोः सवनयोरसंत्वरमाणाश्चरन्ति, तस्माद्धेदं प्राच्यो ग्रामता बहुलाविष्टा, अथ यद्धेदं तृतीयसवने संत्वरमाणाश्चरन्ति, तस्माद्धेदं प्रत्यंचि दीर्घारण्यानि भवन्ति, तथा ह यजमानः प्रमायुको भवति।।
तेनासंत्वरमाणाश्चरेयुर्यथैव प्रातःसवन एवं माध्यन्दिन एवं तृतीयसवन एवमु ह यजमानोऽप्रमायुको भवति।।

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि सूर्यादि लोकों के निर्माण के विषय में पुनः प्रकारान्तर से चर्चा करते हुए कहते हैं कि इनके निर्माण के समय जव प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवन में उत्पन्न होने वाली पूर्वोक्त छन्द रश्मियां मर्यादित और नियन्त्रित गति से उत्पन्न और सक्रिय होती हैं, तो उस निर्माणाधीन लोक के पूर्व भाग में विभिन्न छन्द रश्मियों के अनेक समूह विभिन्न अन्य रश्मियों से आविष्ट होकर पदार्थ को संघनित करने लगते हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि उस **विशाल कॉस्मिक मेघ में बनने वाले तारे का केन्द्र पूर्व दिशा में ही बनना प्रारम्भ होता है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि इन दोनों के इस प्रकार क्रियाशील रहने पर उसके पूर्वी भाग में अनेक तारों के केन्द्र निर्मित होने लगते हैं।** अव महर्षि कहते हैं कि यदि इसके पश्चात् तृतीयसवन में उत्पन्न जगत्यादि छन्द रश्मियां अत्यन्त तीव्र वेग से उत्पन्न व सक्रिय होने लगें, तो उस पदार्थ के पश्चिमी भाग में विशाल अरण्य उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् ऐसे क्षेत्र उत्पन्न हो जाते हैं, जो या तो रिक्त होते हैं अथवा उनमें संयोगादि की प्रक्रियाएं अति मन्द वा वन्द हो गई होती हैं। इस प्रकार उस कॉस्मिक मेघ का एक भाग संघनित होने लगता है तथा दूसरा भाग रिक्त होने लगता है। इसके कारण सम्पूर्ण कॉस्मिक मेघ असन्तुलित हो जाता है, जिससे पूर्वोक्त अग्निष्टोमादि की अवस्था निर्मित नहीं हो पाती। इस प्रकार वे निर्माणाधीन तारे असमय ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् तारों का स्वरूप प्राप्त नहीं हो पाता। इस कारण पूर्वोक्त तीनों चरणों में ही विभिन्न छन्दादि रश्मि आदि देव पदार्थों की उत्पत्ति व क्रियाशीलता सन्तुलित, नियन्त्रित व सम्यक् क्रमानुसार ही होती है, इसके कारण तारे असमय नष्ट नहीं हो पाते और पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जव तारों के निर्माण के प्रथम दो चरणों में विभिन्न पूर्वोक्त छन्दादि रश्मियां

सन्तुलित व नियन्त्रित रूप में उत्पन्न व सक्रिय होती हैं तथा तृतीय वा अन्तिम चरण में उत्पन्न जगती छन्द रश्मियां अत्यन्त तीव्र वेग से व अनियन्त्रित रूप से उत्पन्न व सक्रिय होती हैं, उस समय कॉस्मिक मेघ के पूर्वी भाग में अनेक केन्द्र बनने लगते हैं अर्थात् पदार्थ भिन्न-२ स्थानों पर सघनता को प्राप्त करने लगता है और पश्चिमी भाग में अनेकत्र रिक्त क्षेत्र निर्मित होने लगते अथवा ऐसे क्षेत्र उत्पन्न होने लगते हैं, जिनमें संघनन व संगति क्रियाएं मंद वा बन्द हो गई वा हो रही होती हैं। इस प्रकार तारों का निर्माण सम्पूर्ण क्षेत्र में ही असमय बंद हो जाता है। पूर्वी भाग में बन रहे केन्द्र भी इतना ताप व दाब प्राप्त नहीं कर पाते कि वे नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करके तारों की रचना कर सकें। इस कारण **तारों के निर्माण हेतु तीनों ही चरणों में सभी छन्द रश्मियां उचित क्रम, सन्तुलन व नियन्त्रण के साथ ही उत्पन्न होती हैं,** जिससे तारों का सम्पूर्ण निर्माण होकर पूर्ण आयु भी प्राप्त हो सके।।

३. स एतमेव शस्त्रेणानु पर्यावर्त्तेत; यदा वा एष प्रातरुदेत्यथ मन्द्रं तपति, तस्मान्मन्द्रया वाचा प्रातःसवने शंसेद्, अथ यथाऽभ्येत्यथ बलीयस्तपति, तस्माद् बलीयस्या वाचा मध्यन्दिने शंसेद्, अथ यदाभितरामेत्यथ बलिष्ठतमं तपति तस्माद् बलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शंसेद्, एवं शंसेद् यदि वाच ईशीत; वाग्घि शस्त्रं; यया तु वाचोत्तरोत्तरिण्योत्सहेत समापनाय, तया प्रतिपद्येतैतत्सुशस्ततममिव भवति।।

{मन्द्रः = मन्दते स्तौतीति मन्द्रः गम्भीरध्वनिर्वा (उ.को.२.१३), प्रशंसितः (म.द.ऋ.भा.१. १४१.१२)}

व्याख्यानम्- इस प्रकार विभिन्न तारों के निर्माण में उनके अनुकूल ही पूर्वोक्त शस्त्र अर्थात् वाग् रश्मियों की सब ओर से पूर्वोक्त प्रकार से नियन्त्रित व संतुलित आवृत्ति होती है। आवृत्ति के विषय में खण्ड ३.४२ विशेष पठनीय है। ये रश्मियां चक्र की भाँति सब ओर घूमने लगती हैं। जब प्रातःसवन अर्थात् इन लोकों के निर्माण का प्रथम चरण होता है, उस समय कॉस्मिक पदार्थ में अग्नि तत्त्व दुर्बल होता है परन्तु विभिन्न वाग् रश्मियों, विशेषकर गायत्री छन्द रश्मियों के कारण वह पदार्थ प्रकाशित होता हुआ गम्भीर ध्वनियां उत्पन्न करता रहता है। इसके साथ ही वह पदार्थ ऊपर की ओर उठता हुआ, फूलता और उछलता हुआ कुछ-२ संघनित होना प्रारम्भ करता है। इस समय उसमें विद्यमान बल दुर्बल होते हैं। इन बलों के कारण वह पदार्थ उस प्रारम्भिक चरण में दुर्बल परन्तु तेजस्वी छन्द रश्मियों के द्वारा प्रकाशित और बलयुक्त होना प्रारम्भ होता है। इसके उपरान्त द्वितीय चरण में जब यह प्रक्रिया पहुँचती है, तब उस पदार्थ के बल और ऊष्मा दोनों ही अपेक्षाकृत समृद्ध हो जाते हैं। इस कारण बलवती रुद्ररूप रश्मियां पूर्वोक्तानुसार द्वितीय चरण में उत्पन्न और प्रकाशित होने लगती हैं। उस समय वे रश्मियां पदार्थ को विक्षुब्ध करती हुई तीव्र आकर्षण बलों को उत्पन्न करती हैं, जिससे वह पदार्थ पीछे की ओर लौटता हुआ अर्थात् एक केन्द्रीय भाग की ओर आकर्षित होता हुआ संघनित और संदीप्त होने लगता है। ध्यातव्य है कि प्रारम्भिक चरण में उत्पन्न गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा पदार्थ मन्द बलों एवं मन्द परन्तु सुन्दर दीप्ति से युक्त होता है परन्तु इस द्वितीय चरण में बल, दीप्ति और ताप आदि गुण तेज हो जाते हैं। इसके आगे चलकर सबसे बलिष्ठ छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर सम्पूर्ण पदार्थ को अत्यन्त बलशाली और तेजस्वी बना देती हैं। यद्यपि हम इस बात से अवगत हैं कि तृतीय चरण में जगती छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जो त्रिष्टुप् की अपेक्षा कम बलशालिनी होती हैं क्योंकि इस विषय में कहा गया है- "एते वाव छन्दसां वीर्यवत्तमे यद्गायत्री च त्रिष्टुप् च" (तां.२०.१६.८), तब जगती रश्मियों से युक्त तृतीय सवन कैसे बलिष्ठतम हो जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा मत है कि इस चरण में त्रिष्टुप् और गायत्री छन्द रश्मियां भी जगती रश्मियों के साथ मिश्रित हो जाती हैं, जिससे वे सभी रश्मियां मिलकर बलिष्ठतम हो जाती हैं।

इन तीनों प्रक्रियाओं में सभी वाग् रश्मियां नियन्त्रित अवस्था में ही होती हैं। ये वाग् रश्मियां ही

शस्त्र रूप होती हैं क्योंकि ये ही रश्मियां विभिन्न कणों का भेदन करके विभिन्न नवीन-२ तत्त्वों को उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। इन छन्द रश्मियों की तीव्रता इस प्रकार व्यवस्थित हुई होती है कि प्रारम्भ से लेकर अन्तिम प्रक्रिया तक किंवा एक क्षेत्र विशेष से लेकर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने तक तीव्रता से उत्तरोत्तर बढ़ने पर भी मर्यादा एवं नियन्त्रण का अतिक्रमण नहीं होता। इस प्रक्रिया से उत्पन्न सभी छन्द रश्मियां अत्युत्तम प्रकार से प्रकाशित व नियन्त्रित होती हुई श्रेष्ठ लोकों का निर्माण करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के निर्माण के प्रथम चरण में, जबकि कॉस्मिक पदार्थ का ताप एवं गुरुत्व बल अत्यन्त न्यून होता है, उस समय भी उस पदार्थ में गायत्री आदि छन्द रश्मियां गम्भीर ध्वनियां उत्पन्न करती रहती हैं। उस समय वह पदार्थ ऊपर की ओर उठता हुआ, उछलता और फूलता हुआ कुछ-२ संघनित होना प्रारम्भ होता है। उस समय उसमें हल्का और सुन्दर प्रकाश उत्पन्न होने लगता है। इसके पश्चात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा गुरुत्व बल बढ़ने लगता है और वह पदार्थ तीव्रता से संघनित होता हुआ तेजस्वी और उष्णतर होने लगता है। इस समय उस पदार्थ में गुरुत्व बल के साथ-२ विद्युत् चुम्बकीय आदि बल भी प्रबलतर हो उठते हैं। उसके पश्चात् जगती छन्द रश्मियां उत्पन्न होकर और अन्य छन्द रश्मियों के साथ मिश्रित होकर तारों के केन्द्रीय भाग का निर्माण करने में सक्षम होती हैं। उस समय पूर्वोक्तानुसार विभिन्न प्रकार के बल और ऊष्मा की अतिशय वृद्धि हो जाती है, पुनरपि ये सभी बल और उनसे उत्पन्न नाभिकीय संलयन आदि क्रियाएं आदि से अन्त तक नियन्त्रित और संतुलित ही होती हैं। इस कारण ही तारे को सुन्दर स्वरूप और आयु प्राप्त होते हैं।।

४. स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति।।
तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते,-रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात्।।
अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते, रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं। विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात्।।
स वा एष न कदाचन निम्रोचति।।
न ह वै कदाचन निम्रोचत्येतस्य ह सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुते य एवं वेद, य एवं वेद।।६।।

{अस्तम् = गृहनाम (निघं.३.४), गृहा वाऽ अस्तम् (श.२.५.२.२६)। निम्रोचति = (म्रुचु = जाना, स्थानान्तर करना - सं.धा.को. - पं.युधिष्ठिर मीमांसक)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त सूर्य्यादि लोक न तो कभी पूर्णतः अस्त होते हैं और न कभी उदित। इसका तात्पर्य है कि इनके निर्माण की प्रक्रिया में न तो ये विभिन्न छन्द व प्राणादि रश्मियों को पूर्णतः सघन रूप में अपने अन्दर समाहित करके उनके सघनतम गृहरूप होते हैं और न ही वे पूर्णतः उठते, फूलते व बिखरते हुए से होते हैं। दूसरी ओर न तो इनमें पदार्थ असुरादि प्रक्षेपक बलों के द्वारा प्रेरित हो कर प्रक्षिप्त वा बिखरा हुआ ही होता है और न पूर्णतः उठता हुआ सघनतम रूप ले पाता है। ध्यातव्य है कि ये दोनों ही स्थितियां तारे को नष्ट करने में समर्थ होती हैं, इस कारण सूर्य्यादि तारे इन दोनों के मध्य सम्यक् सन्तुलन के कारण निर्मित होते हैं।।

जब कॉस्मिक पदार्थ पूर्वोक्त प्रकार से आकर्षित होकर केन्द्रीय भाग की ओर गमन करता और उसमें व्याप्त होता जाता है, तब ऐसा होने पर वह पदार्थ चमकने लगता है। उस समय उस पदार्थ में गुरुत्वाकर्षण बल की सतत अभिवृद्धि होती रहती है। उस समय अहन् अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण उस पदार्थ के अन्दर प्रविष्ट होकर सूत्रात्मा वायु को अपने साथ लाता हुआ केन्द्रीय भाग की ओर मोड़ने लगता है। उस सूत्रात्मा वायु के साथ विभिन्न पदार्थ उस केन्द्रीय भाग की ओर प्रवेश करने

लगते हैं। इस कार्य में प्राण नामक प्राथमिक प्राण की विशेष भूमिका होती है। जब केन्द्रीय भाग में पदार्थ एवं उत्पन्न विकिरण की अति सघनता हो जाती है तब रात्रि अर्थात् अपान तत्त्व उस पदार्थ को नीचे की ओर अर्थात् बाहरी भाग की ओर फेंकने लगता है। (**'डुकृञ् करणे'** धातु का एक अर्थ **'फेंकना'** भी होता है- देखें आप्टेकोष)। उधर प्राण नामक प्राण तत्त्व उस फेंके हुए पदार्थ को पुनः दूसरी ओर अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर लौटाने लगता है। **इस प्रकार प्राणापान दोनों के बल पदार्थ का संतुलन बनाये रखते हैं, जिससे वह तारा न तो पूर्णतः सिकुड़ पाता है और न फूलकर बिखर पाता है।** इसका आशय यह भी है कि जिस पदार्थ को तारे के केन्द्रीय भाग की ओर जाता हुआ माना जाता है, वह केन्द्रीय भाग की सीमा पर आकर वापिस लौटने लगता है और विभिन्न अपानादि रश्मियां अपने प्रतिरोधक बल से उसे बाहर ही फेंकने का प्रयास करती हैं परन्तु प्राण नामक प्राथमिक प्राण और केन्द्रीय भाग में विद्यमान रश्मियां उसे दूर से ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं।।

जब वह कॉस्मिक पदार्थ अपने प्रथम चरण में उत्कृष्टता से गमन करता हुआ इधर-उधर बिखरा और फूला हुआ होता है, उस समय भी उसके अन्दर हल्की दीप्तियाँ विद्यमान होती हैं। उस समय रात्रि अर्थात् अपान तत्त्व प्रधान उस विस्तृत पदार्थ के अन्दर अपान तत्त्व सूत्रात्मा वायु को दूर-२ फैलाए रखता है, जिससे वह पदार्थ सिकुड़ने नहीं पाता। उस समय प्राण नामक प्राण तत्त्व ही उस पदार्थ को नीचे की ओर अर्थात् किसी अदृष्ट केन्द्र की ओर फेंकने लगता है और अपान तत्त्व उसे विपरीत दिशा में परे फेंकता है। इस प्रकार प्राणापान दोनों परस्पर पदार्थ का संतुलन बनाये रखते हैं। इसका आशय दूसरी प्रकार ऐसे समझा जा सकता है कि **जब सूर्यादि के निर्माण का प्रारम्भ काल होता है, उस समय कॉस्मिक पदार्थ को, जो फूलता, उछलता, बिखरता हुआ माना जाता है, वह वस्तुतः निर्माणाधीन तारे के बाहरी विशाल भाग के अन्दर प्रविष्ट होकर बाहर की ओर स्वयं को अपान प्राण के बलों द्वारा लौटाता हुआ होता है परन्तु उसका नव निर्माणाधीन केन्द्रीय भाग प्राण नामक प्राण तत्त्व के आकर्षण के द्वारा उसे अपनी ओर खींचता रहता है** और दूसरे भाग में रात्रि अर्थात् अपेक्षाकृत कम प्रकाश वाला भाग निर्मित होता रहता है।।

इस प्रकार वह सूर्यादि लोक अपने पथ एवं निर्माण प्रक्रिया से कभी भी च्युत नहीं होता और जहाँ इसका केन्द्र निर्मित होने लगता है, उसी स्थान पर पदार्थ संघनित होता हुआ तारे के पूर्ण रूप को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की स्थितियाँ इस ब्रह्माण्ड में जहाँ भी निर्मित होती है, वे-वे स्थान विभिन्न पदार्थों के संगम रूप होकर हमारे सूर्य की भाँति रूप और आकृति वाले लोकों का स्वरूप प्राप्त करते हैं। इसका दूसरा आशय यह भी है कि इस प्रकार की प्रक्रियाओं के चलते रहने से केन्द्रीय भाग के चारों ओर स्थित पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर आता हुआ अथवा उसके बंधन से बंधा हुआ उसी के समान तेजस्वी और विशाल लोक का रूप प्राप्त कर लेता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सूर्यादि तारों के अन्दर आकुंचन और प्रसारण की प्रक्रिया यत्किंचित् मात्रा में सदैव चलती रहती है। जहाँ केन्द्रीय भाग अपने गुरुत्व बल से पदार्थ को अपनी ओर आकृष्ट करता है, वहीं केन्द्रीय भाग में उत्पन्न विकिरण अपने दबाव से पदार्थ को बाहर की ओर धकेलता रहता है। इन प्रक्रियाओं में प्राण, अपान, विभिन्न छन्द रश्मियों और डार्क एनर्जी की भूमिका रहती है। क्रियाओं के इन चक्रों में परस्पर ऐसा संतुलन होता है कि कोई भी तारा अपने जीवन काल में न तो पूर्णतः सिकुड़ कर ठोस हो पाता है और न ही पूर्णतः फैलकर बिखर पाता है। दूसरा तथ्य यहाँ यह भी है कि तारे के पदार्थ को सिकोड़ने के लिए उत्तरदायी बल ही उन विकिरणों को उत्पन्न करते हैं, जो तारे के पदार्थ को बाहर की ओर फैंकने के लिए उत्तरदायी होते हैं। इसके साथ ही वे प्रक्षेपक विकिरण स्वयं बाहर की ओर उत्सर्जित होकर केन्द्रीय भाग में विकिरण का घनत्व कम करके केन्द्रीय भाग के गुरुत्वाकर्षण बल को प्रभावी बनाकर तारे के सिकुड़ने के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार आकुंचन और प्रसारण की क्रियाएं एवं बल परस्पर एक-दूसरे से जुड़े रहकर संतुलित होते रहते हैं, जिसके कारण तारों का स्वरूप लगभग स्थिर बना रहता है।।

❦ इति १४.६ समाप्तः ❦

❦ इति चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ❦

पञ्चदशोऽध्यायः

“

इस ब्रह्माण्ड में जो भी विद्युदावेशित कण होते हैं, वे सभी गायत्री छन्द रश्मियों का अनुसरण करते हैं। गायत्री रश्मि के बिना विद्युदावेश का कोई प्रभाव नहीं होता। इस ब्रह्माण्ड में जहाँ भी सुन्दर लालिमायुक्त प्रकाश विद्यमान है, वह त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के कारण है।

”

।। ओ३म् ।।
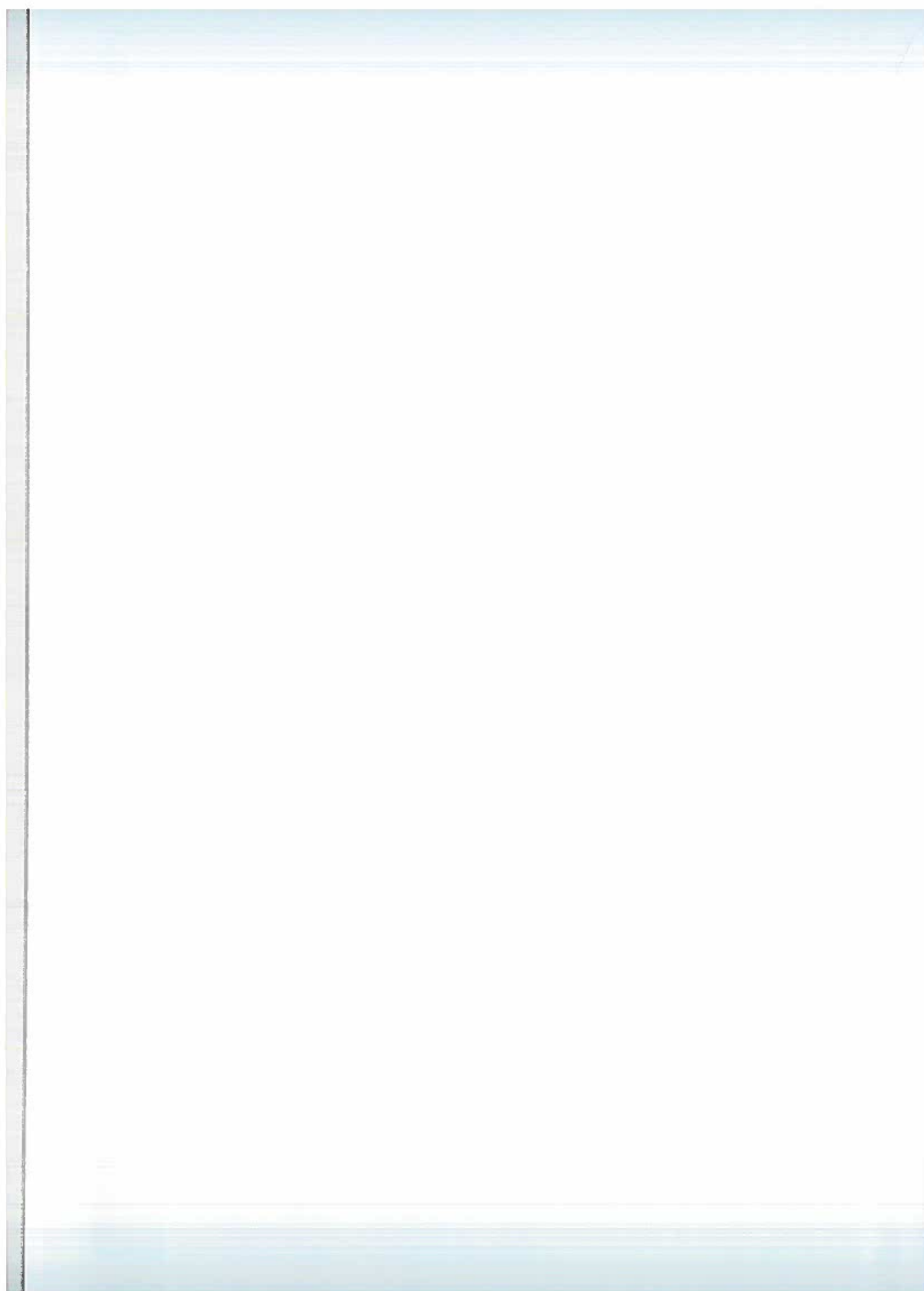
ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व।।

अनुक्रमणिका

१५.१ देव-अन्नाद्य-ब्राह्मण-दीक्षा-पत्नीसंयाज, दीक्षणीय-हिंकार, तारों के केन्द्रीय भाग के निर्माण में आई हुई बाधा के निवारण में प्राणापान का योगदान। प्रायणीयम्-शंयु-अतिथ्यम्-इडा-उपसद-सामिधेनी। तारों के केन्द्रीय भाग का निर्माण। प्राण द्वारा बाधा का निवारण। गायत्री रश्मियों द्वारा डार्क एनर्जी पर पूर्ण नियन्त्रण। उपवसथ-अनुत्सार। तारों के केन्द्र में प्राण तत्त्व के कारण आकर्षण की प्रधानता। केन्द्रीय भाग में विभिन्न क्रियाओं की गति का अति तीव्र होना। 867

१५.२ जग्ध-गीर्ण-वान्त-आर्त्विज्य-आशा। तारों के निर्माण में तीन प्रकार की विकृतियाँ। धुँधले, कान्तिहीन तीन प्रकार के विकृत तारों का निर्माण। प्रायश्चित्ति-यजमानलोक-अमृतलोक-स्वर्गलोक। तारों की विकृतियों को दूर करने में गायत्री छन्द रश्मियों की भूमिका। गायत्री के द्वारा ऋतु रश्मियों की सवलता व सक्रियता। 872

१५.३ जघन-अश्व-अश्वतर-मैत्रावरुण-पशुपुरोडाश-देविका। छन्द रश्मियों का थकना, तारों के अन्दर संलयनी पदार्थ के प्रवेश में रुकावट, विभिन्न छन्द रश्मियों, प्राणापान, मरुत् आदि द्वारा रुकावट दूर करना। द्वादश कपाल-धाता-अनुमति-राका-सिनीवाली-कुहू-चरु। गायत्री आदि छन्दों की थकान को दूर करने में विभिन्न रश्मियों की भूमिका। सुधा-वाजी-ध्यायिन-जाया-पति। तारों के केन्द्रीय भागस्थ पदार्थ का वाहर न जा सकना। संलयन क्रिया की तीव्रता में विभिन्न रश्मियों, प्राणापानों का योगदान 876

१५.४ देवी-सूर्य-पृथिवी। तारों की छन्द रश्मियों का एक रश्मि द्वारा नियमन, विद्युदावेश द्वारा गायत्री रश्मियों का अनुकरण, त्रिष्टुप् द्वारा लालिमायुक्त प्रकाश व वन्धन, ऊर्जादि के उत्सर्जन-अवशोषण में जगती की भूमिका व वंधन, अनुष्टप् द्वारा आकाश का आवेष्टन, मन व दैवी रश्मियों की भूमिका, सुधा-जामि-जाया-पति। गतश्री, विभिन्न कणों को दो विशेष छन्द रश्मियों द्वारा सक्रिय करना। सक्रियता की सीमा। शुचिवृक्ष-गौपालायन -अभिप्रतारी-देवी-देविका-कवच-चतुःषष्टि। धनंजय व निचृत्त्रिष्टुप् द्वारा डार्क एनर्जी नियन्त्रण। ६४ प्रकार की विशेष छन्द रश्मियां। कॉस्मिक पदार्थ में भारी उथल पुथल। 881

१५.५	अग्निष्टोम-भरद्वाज-कृश-दीर्घ-पलित। तारे के निर्माण का विज्ञान, मन तथा प्राण की भूमिका व स्वरूप डार्क एनर्जी का प्रतिकर्षक प्रभाव, साम्नी त्रिष्टुप् की भूमिका। साकमश्व। साम्नी त्रिष्टुप् वा निचृत् त्रिष्टुप् द्वारा डार्क एनर्जी पर नियंत्रण।	887
१५.६	असुर-देव-मैत्रावरुणोक्थ-इन्द्र-वरुण-ऐन्द्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-वृहस्पति-ऐन्द्रावार्हस्पत्य। तारे के निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रिया का चरणवद्ध व्याख्यान। डार्क एनर्जी का गायत्री आदि विभिन्न रश्मियों में प्रवेश व वहिष्कृत होना। इस कार्य में विभिन्न छन्द व प्राथमिक प्राण रश्मियों की भूमिका। असुर-अच्छावाक-विष्णु-ऐन्द्रावैष्णव। पूर्वोक्त प्रकरण का अग्रिम चरण, तीन प्रकार की विद्युत्। इन्द्र-पोत्रीया, नेष्ट्रीया, ऋतुयाजा। देवों के मिथुन की अनिवार्यता, कुछ छन्द रश्मियों की भी अनिवार्यता।	891

अथ १५.१ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. यज्ञो वै देवेभ्योऽन्नाद्यमुदक्रामत्, ते देवा अब्रुवन्- यज्ञो वै नोऽन्नाद्यमुदक्रमीदन्विमं यज्ञमन्नमन्विच्छामेति; तेऽब्रुवन्-कथमन्विच्छामेति; ब्राह्मणेन च च्छन्दोभिश्चेत्यब्रुवंस्ते ब्राह्मणं छन्दोभिरदीक्षयंस्तस्यान्तं यज्ञमतन्वतापि पत्नीः समयाजयंस्तस्माद्धाप्येतर्हि दीक्षणीयायामिष्टावान्तमेव यज्ञं तन्वतेऽपि पत्नीः संयाजयन्ति, तमनुन्यायमन्ववायन्।।

{अन्नाद्यम् = सोमोराजान्नाद्यम् (कौ.ब्रा.६.६), आपो वा अन्नाद्यम् (काठ.संक.४६.७ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत), वाग्वा अन्नाद्यम् (काठ.संक.५०.७ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत), हिङ्कारेण ह्येव देवेभ्योऽन्ततोऽन्नाद्यं प्रदीयते (जै.ब्रा.१.२४६)। न्यायः = नियन्ति अनेन (आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त सूर्यादि लोकों के निर्माण की प्रक्रिया के विषय में प्रकारान्तर से चर्चा करते हुए कहते हैं कि पूर्ववर्णित अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि की प्रक्रिया कभी-२ मन्द वा वन्द हो जाती है। इसी विषय को प्रस्तुत करते हुए महर्षि कहते हैं कि अन्नाद्य अर्थात् विभिन्न सोम रश्मियों एवं छन्दादि रश्मियों में संगतीकरण की क्रिया, जिसके कारण पूर्वोक्त ज्योतिष्टोमरूप अवस्था निर्मित हो पाती है, मन्द वा वन्द हो जाती है। उस समय विविध प्राथमिक प्राण रूपी देव तत्त्व उस अन्नाद्य पदार्थ को पुनः संगत करने का प्रयास करते हैं। यहाँ देवों का परस्पर वार्तालाप लेखक की शैली मात्र है। वास्तविकता यह है कि ये देव पदार्थ विभिन्न पदार्थों को संगत करने का प्रयास करते हैं। इस कार्य के लिए वे ब्राह्मण एवं छन्दों को ही साधन रूप वनाते हैं। हमारे मत में यहाँ 'हिम्' रश्मियां ही ब्राह्मण कहलाती हैं, जैसा कि महर्षि ने अन्यत्र कहा है- "ब्रह्म वै हिङ्कारः" (ऐ.आ.१.३.१)। उधर अन्य ऋषि ने कहा- "ब्रह्म वै ब्राह्मणः" (तै.ब्रा.३.६.१४.२)। जैसा कि हम अवगत हैं कि ज्योतिष्टोम आदि के लिए गायत्री छन्द रश्मियां ही उत्तरदायी होती हैं और हम इस प्रकरण में इस वात से भी अवगत हैं कि उन गायत्री छन्द रश्मियों के साथ एक निश्चित क्रम से हिम् रश्मियां संगत होती हैं और ये रश्मियां ही वज्र रूप होकर उन गायत्री रश्मियों की द्वारपाल के समान रक्षिका होती हैं। ये हिम् रश्मियां प्राणापान के संयुक्त रूप के समान व्यवहार करती हुई उन गायत्री छन्द रश्मियों को अपना सूक्ष्म वल प्रदान करती रहती हैं। ये रश्मियां गायत्री छन्द रश्मियों के लिए वृषा रूप होती हैं, जैसा कि कहा गया है- "अहोरात्राणि हिंकारः (ष.३.१), वृषा हिङ्कारः (गो.पू.३.२३)"। उपर्युद्धृत जैमिनीय ब्राह्मणम् के वचन से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि प्राथमिक प्राणादि देवों की विभिन्न छन्द एवं मरुदादि रश्मियों के साथ संगति हिङ्कार रश्मियों के कारण ही संभव हो पाती है। इन हिङ्कार रश्मियों के अभाव में ज्योतिष्टोमादि प्रक्रिया में वाधा आ जाती है और उसी स्थिति की यहाँ चर्चा है, ऐसा हमारा मत है। उस समय या तो हिंकार रश्मियां उत्पन्न नहीं हो पाती हैं अथवा उनकी व्यवस्थित संगति उन पूर्वोक्त गायत्री छन्द रश्मियों के साथ नहीं हो पाती है। उस समय प्राथमिक प्राण रूपी देव पदार्थ हिम् रश्मियों को गायत्र्यादि छन्द रश्मियों के साथ दीक्षित करते हैं, इसका आशय है कि वे प्राथमिक प्राण अपने ही अंगभूत प्राणापान के समान प्रभाव वाली हिम् रश्मियों को विशाल क्षेत्र में खोज कर अपने साथ संगत करके गायत्री रश्मियों के साथ संयुक्त कर देते हैं। यदि अन्तरिक्ष में हिम् रश्मियां विद्यमान न हों, तो वे देवतत्त्व उनका निर्माण भी कर सकते हैं। फिर वे देव पदार्थ सम्पूर्ण क्षेत्र में (आद्यन्त) उन्हें गायत्री रश्मियों के साथ संगत कर देते हैं। इस प्रक्रिया के पश्चात् पत्नीसंयाज की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो जाती है। इसका

तात्पर्य यह है कि विभिन्न पदार्थ अपनी रक्षिका शक्तियों के साथ व्यवस्थित रूप से संगत होने लगते हैं। पत्नीसंयाज क्रियाओं के विषय में १.११.३ अवश्य पठनीय है। ये पत्नीसंयाज क्रियाएं दीक्षणीय क्रियाओं की भाँति अर्थात् हिम् रश्मियों की गायत्री रश्मियों के साथ संगति प्रक्रिया की भाँति सम्पूर्ण पदार्थ में अर्थात् आद्यन्तपर्यन्त विस्तृत होती हैं। इन दोनों क्रियाओं से नियन्त्रित एवं इनके अनुकूल संगत होने पर संगतीकरण की लुप्त प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ होने लगती है। वह प्रक्रिया अनुकूलता से सब ओर व्याप्त होने लगती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के केन्द्रीय भाग के निर्माण की प्रक्रिया में विभिन्न छन्द रश्मियों और अति सूक्ष्म संधानकारिणी रश्मियों की परस्पर संगति में जब किंचित् भी असंतुलन आता है, उस समय उस केन्द्रीय भाग के निर्माण की प्रक्रिया तत्काल बाधित हो जाती है। इसके पश्चात् प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण अन्तरिक्ष में इधर-उधर बिखरी हुई उन सभी छन्द रश्मियों को तथा विभिन्न पदार्थों की रक्षिका सूक्ष्म रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करके परस्पर संगत करने लगते हैं। यह प्रक्रिया सम्पूर्ण पदार्थ में होने लगती है, जिसके कारण तारों के केन्द्रीय भाग के निर्माण की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है। इस विषय में विशेष जानकारी के लिए व्याख्यान भाग पठनीय है।।

२. ते प्रायणीयमतन्वत, तं प्रायणीयेन नेदीयोऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त, तच्छंय्वन्तमकुर्वंस्तस्माद्धाप्येतर्हि प्रायणीयं शंय्वन्तमेव भवति, तमनुन्यायमन्ववायन्।। त आतिथ्यमतन्वत; तमातिथ्येन नेदीयोऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त; तदिळान्तमकुर्वंस्तस्माद्धाप्येतर्ह्यातिथ्यमिळान्तमेव भवति, तमनुन्यायमन्ववायन्।। त उपसदोऽतन्वत; तमुपसद्भिर्नेदीयोऽन्वागच्छंस्ते कर्मभिः समत्वरन्त, ते तिस्रः सामिधेनीरनूच्य तिस्रो देवता अयजंस्तस्माद्धाप्येतर्ह्युपसत्सु तिस्र एव सामिधेनीरनूच्य तिस्रो देवता यजन्ति, तमनुन्यायमन्ववायन्।।

व्याख्यानम्- उसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए महर्षि कुछ पूरक एवं अग्रिम क्रियाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त दो क्रियाओं के पश्चात् वे देव पदार्थ प्रायणीय कर्म का विस्तार करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उन प्राथमिक प्राणों में भी प्राण नामक प्राण तत्त्व का विशेष विस्तार होता है। ये प्राण तत्त्व विभिन्न सोमादि रश्मियों को अपनी ओर तेजी से आकृष्ट करते हैं और ये ही गायत्री आदि छन्द रश्मियों एवं विभिन्न परमाणुओं को संगत करने में अग्रणी भूमिका निभाते हैं। इस कारण इन प्राणों के द्वारा ही देव पदार्थ ज्योतिष्टोम अवस्था का अति सामीप्य प्राप्त करते हैं। वे देव पदार्थ प्राण नामक प्राण रश्मियों की विभिन्न क्रियाओं से अति त्वरित गति से सम्पूर्ण पदार्थ को भरने लगते हैं। इसके कारण वे विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों की संगति को समृद्ध और सहज बनाते हैं। उन प्राथमिक प्राणों के कारण ही आज भी समस्त ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार की संगति क्रियाएं अन्त में समृद्ध और सहज भाव को प्राप्त होती हैं। इन्हीं प्राणों का अनुसरण करते हुए, उन्हीं के द्वारा नियन्त्रित होते हुए विभिन्न पदार्थ अनुकूलता से गति करते हुए सब ओर व्याप्त होते हैं। यहाँ "शंय्युः" पद से यह संकेत भी मिलता है कि ये प्राण तत्त्व विभिन्न क्रियाओं को करते हुए अन्त में साम्य और सहज अवस्था को प्राप्त करते हैं, जिसके कारण विभिन्न क्रियाएं और क्रियाशील पदार्थ संतृप्त अवस्था को प्राप्त करते हैं।।

तदुपरान्त आतिथ्ययज्ञ की प्रक्रियाओं का विस्तार होता है। ये वे क्रियाएं हैं, जिनके कारण तारों के केन्द्रीय भाग में अग्नि की उत्पत्ति होने लगती है। इस आतिथ्ययज्ञ के विषय में खण्ड १.१६ व १.१७ अवश्य पठनीय है। इस प्रकार की क्रियाएं अति शीघ्रता से सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त होकर ज्योतिष्टोम अवस्था के सामीप्य को प्राप्त करती हैं और इन क्रियाओं का इडा में उपसंहार होता है। इसका आशय यह है कि इन क्रियाओं से विभिन्न प्रकार के अन्न अर्थात् संयोज्य कण, अनेक छन्द-मरुदादि रश्मियां, जो विभिन्न कमनीय गुणों से युक्त होती हैं एवं विभिन्न विकिरण उत्पन्न होते हैं। इस सृष्टि में आज भी सभी तारों के अन्दर इस प्रकार की क्रियाएं सदा ही उत्पन्न होती रहती हैं। ये क्रियाएं

और उनके उत्पादक वल एक-दूसरे का अनुसरण करते हुए परस्पर नियन्त्रित होते हुए सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त हो जाते हैं।।

तदुपरान्त उपसद संज्ञक इष्टियों का विस्तार होता है। इनके विषय में विशेष जानकारी हेतु खण्ड १.२३ अवश्य पढ़ें। इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने महर्षि आश्वलायन को उद्धृत किया है, महर्षि का वचन है-

"उपसद्याय मीह्ळुष इति तिस्र एकैकां त्रिरनवानम्। ताः सामिधेन्यः।" (आश्व.श्रौ.४.८.५)

महर्षि ने यह सूत्र उपसद प्रकरण में दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से अग्निदेवताक ३ छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जो निम्नानुसार हैं-

(१) उपसद्याय मीळहुषे आस्ये जुहुता हविः। यो नो नेदिष्ठमाप्यम्।।१।। (ऋ.७.१५.१)।

इसका छन्द विराड् गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तेजस्वी और वलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से अग्नि तत्त्व केन्द्रीय भाग में अति निकटता से अपने सेचन सामर्थ्य के द्वारा व्याप्त होता है और उसकी उस केन्द्रीय भाग में सतत हवियाँ प्राप्त होती रहती हैं।

(२) यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमेदमे। कविर्गृहपतिर्युवा।।२।। (ऋ.७.१५.२)।

इसका छन्द गायत्री होने से दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् होता है, परन्तु प्रकाश की मात्रा कुछ कम होती है। इसके अन्य प्रभाव से वह क्रान्तदर्शी विभिन्न वलों का पालक, पदार्थों का मिश्रण-अमिश्रण कर्त्ता अग्नि मर्यादित केन्द्रीय भाग रूपी गृह में प्राणापान आदि ५ प्राथमिक प्राणों के साथ संगत होता है।

(३) स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः। उतास्मान्पात्वंहसः।।३।। (ऋ.७.१५.३)।

इसका छान्दस व दैवत प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। {अमात्यः = अमा+त्यप् (पा.अ.४.२.१०४), (अमा = गृहनाम - निघं.३.४)} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि केन्द्रीय भाग रूपी गृह में रहता हुआ विभिन्न वाधक तत्त्वों को दूर करके सव पदार्थों की रक्षा करता है।

इन तीनों छन्द रश्मियों के विषय में महर्षि आश्वलायन के उपर्युक्त वचन से यह संकेत मिलता है कि ये तीनों रश्मियां एक-एक करके अनवान रूप से अर्थात् विना किसी विराम के लगातर ३-३ वार उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार ये कुल मिलाकर ६ छन्द रश्मियां हो जाती हैं और ये ६ रश्मियां सामिधेनी रूप होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व कण्डिका में जिस अतिथि अग्नि की चर्चा की गई है, वह अग्नि केन्द्रीय भाग को भी अच्छी प्रकार प्रज्वलित करता है। इन सामिधेनी रश्मियों के उत्पन्न होने के पूर्व विभिन्न उपसद अर्थात् मास एवं ऋतु रश्मियां अच्छी प्रकार उत्पन्न और व्याप्त हो जाती हैं, जिनके कारण अग्नि तत्त्व केन्द्रीय भाग के निकट ही उत्पन्न व व्याप्त होने लगता है। इन मास व ऋतु रश्मियों की क्रियाएं वहुत तीव्र गति से होती हैं। इसके पश्चात् ही उपर्युक्त सामिधेनी रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इन सव क्रियाओं के कारण तीनों देवता संगत होते हैं। इन देवताओं के विषय में महर्षि आश्वलायन कहते हैं-

"तासामुत्तमेन प्रणवेनाग्निं सोमं विष्णुमित्यावाह्योपविशेत्।" (आश्व.श्रौ.४.८.६)

इससे स्पष्ट होता है कि ये तीन देवता अग्नि, सोम और विष्णु हैं। इनकी संगति का तात्पर्य यह है कि अग्नि, सोम अर्थात् मरुद् रश्मियां एवं विष्णु अर्थात् व्यान एवं धनंजय प्राण एवं सर्वत्र व्यापक विद्युत्, ये सभी परस्पर संगत होकर आदित्य लोक रूपी तारे के केन्द्रीय भाग का निर्माण करते हैं। आज भी सभी तारों के अन्दर इसी प्रकार की रश्मियों और क्रियाओं के द्वारा ये तीनों देवता संगत होकर तारों को जीवन प्रदान करते हैं। ये सभी क्रियाएं और उत्पन्न छन्दादि रश्मियां एक-दूसरे का अनुकरण करके परस्पर नियन्त्रित होती हुई सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उसी प्रकरण में पूर्वोक्त रश्मियों के उत्पन्न होने के पश्चात् प्राण नामक प्राथमिक रश्मियां तेजी से प्रकट होकर विभिन्न रश्मियों को अत्यन्त त्वरित गति से संगत करती हैं। ये प्राण रश्मियां इन क्रियाओं को समता और सहजता के साथ संचालित करती हैं। इसके पश्चात् तारों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ होकर ऊर्जा उत्पन्न होने लगती है। उस समय अनेक प्रकार के नवीन कण और छन्द रश्मियां भी उत्पन्न होती हैं। इसके पश्चात् तीन गायत्री छन्द रश्मियां ३-३ बार आवृत्त होकर कुल ६ छन्द रश्मियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, जिनके कारण डार्क एनर्जी केन्द्रीय भाग में पूर्ण नियन्त्रित होकर संलयन की क्रिया सम्यग्रूपेण होने लगती है। उस समय उत्पन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों, संलयनीय पदार्थ एवं केन्द्रीय भाग में विद्यमान विद्युत्, ताप एवं दाब आदि सभी में पूर्ण सामंजस्य होता है।।

३. त उपवसथमतन्वत; तमुपवसथ्येऽहन्याप्नुवंस्तमाप्त्वान्तं यज्ञमतन्वतापि पत्नीः समयाजयंस्तस्माद्ध्याप्येतर्ह्युपवसथ आन्तमेव यज्ञं तन्वतेऽपि पत्नीः संयाजयन्ति।।
तस्मादेतेषु पूर्वेषु कर्मसु शनैस्तरां शनैस्तरामिवानुब्रूयात्।।
अनूत्सारमिव हि ते तमायंस्तस्मादुपवसथे यावत्या वाचा कामयीत, तावत्याऽनुब्रूयादाप्तो हि स तर्हि भवतीति।।
तमाप्त्वाऽब्रुवंस्तिष्ठस्व नोऽन्नाद्यायेति; स नेत्यब्रवीत्, कथं वस्तिष्ठेयेति; तानीक्षतैव; तमब्रुवन्-ब्राह्मणेन च नश्छन्दोभिश्च सयुग् भूत्वाऽन्नाद्याय तिष्ठस्वेति; तथेति; तस्माद्ध्याप्येतर्हि यज्ञः सयुग् भूत्वा देवेभ्यो हव्यं वहति, ब्राह्मणेन च च्छन्दोभिश्च।।१।।

व्याख्यानम्- उपवसथ के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- "तेऽस्य विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसथः।" (श.२.१.४.१) इसका आशय यह है कि सभी प्रकार के देव पदार्थ विभिन्न गृहों अर्थात् वलों को प्राप्त करके ऋतु रश्मियों रूप गृहों के साथ अपने-२ गृह रूप मार्गों पर चलकर केन्द्रीय भाग रूपी विशाल गृह को प्राप्त करते हैं। वे सभी पदार्थ उस उपवसथ रूपी गृह में व्याप्त हो जाते हैं। सबको बसाने वाला यह उपवसथ रूप केन्द्रीय भाग अहन् रूप भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उस भाग में प्राण नामक प्राथमिक प्राण की बहुलता होती है और इसी कारण ही इस क्षेत्र में आकर्षण बल की प्रधानता होती है, जिसके कारण बाहरी भाग से आने वाले विभिन्न पदार्थ उस भाग में पूर्णरूपेण व्याप्त होकर संगतीकरण की प्रक्रियाओं को तारे की आयु पर्यन्त विस्तृत करते रहते हैं। इसके साथ ही पूर्वोक्त पत्नीसंयाज की क्रियाएं भी तदुनसार संचालित होती रहती हैं। वर्तमान समय में भी सभी तारों में इसी प्रकार की प्रक्रियाएं चलती रहती हैं।।

यहाँ "तस्मात्" पद में सप्तमी अर्थ में पंचमी का प्रयोग भी जानना चाहिये, ऐसा हमारा मत है, इसके साथ पंचमी अर्थ भी प्रासंगिक है। यहाँ महर्षि कहते हैं कि इस प्रक्रिया में (प्रथम कण्डिका से चतुर्थ कण्डिका पर्यन्त) अनेक चरणों में अनेक प्रक्रियाएं सम्पन्न होती हैं। उन सभी प्रक्रियाओं का एक निश्चित क्रम होता है। इस क्रम में पूर्वोक्त सभी छन्दादि रश्मियां पूर्वोक्त सभी चरणों में शनैः-शनैः अर्थात् उपर्युक्त क्रम में उत्तरोत्तर धीरे-२ उत्पन्न होती हैं।।

{अनूत्सारः = अनु+उत्+सृ+णिच्+घञ्} पूर्वोक्त देव पदार्थों अर्थात् प्राथमिक प्राण उत्कृष्टता और अनुकूलता से होने वाली पूर्वोक्त क्रियाओं के द्वारा विभिन्न सृजन क्रियाओं को तारों के केन्द्रीय भाग में प्राप्त करते वा उत्पन्न करते हैं। इस कारण से किंवा इसके पश्चात् पूर्वोक्त उपवसथ अर्थात् केन्द्रीय भाग को जितनी और जिस स्तर की वाग् रश्मियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार की रश्मियां उतनी ही मात्रा में प्राप्त वा उत्पन्न हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इस खण्ड की प्रथम चार कण्डिकाओं में वर्णित क्रियाएं मन्द गति से होती हैं, जबकि पाँचवी कण्डिका में वर्णित उपवसथ क्रियाएं तीव्र, मन्द और अति तीव्र गति से होती हैं। हमारे विचार में केन्द्रीय भाग में क्रियाएं तीव्र गति

से ही होती हैं और इस कारण ही उस भाग में विभिन्न कणों का संगम अति तीव्र गति से होकर विशाल स्तर पर अग्नि की उत्पत्ति होती है।।

इस कण्डिका में देव पदार्थ एवं ज्योतिष्टोम यज्ञ का संवाद चेतनवत् दर्शाया है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त ज्योतिष्टोम क्रियाएं अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग के अन्दर होने वाली क्रियाएं एक बार प्रारम्भ होने के पश्चात् स्थिरता से संचालित होती ही रहें, यह आवश्यक नहीं है। ऐसा करने के लिए देव पदार्थ अर्थात् प्राथमिक प्राण सम्पूर्ण क्रियाओं पर अपना नियन्त्रण रखते हैं। इसी को देवों द्वारा उस यज्ञ को ईक्षित करना बताया गया है। उनके इस नियन्त्रण से ही प्रथम कण्डिका में वर्णित 'हिम्' रश्मि रूप ब्राह्मण एवं अन्य पूर्वोक्त विभिन्न छन्द रश्मियां साथ-२ अवस्थित होकर अन्नाद्य अर्थात् विभिन्न सोमादि रश्मियों के संगम के लिए और इस प्रक्रिया की निरन्तरता के लिये सदैव सक्रिय रहती हैं। इस कारण आज भी सभी तारों के अन्दर होने वाला यह ज्योतिष्टोम यज्ञ 'हिम्' रश्मियों के साथ संगत विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा संगत होकर विभिन्न प्राथमिक प्राणों को हवियाँ प्राप्त कराता है। इसके कारण वे प्राथमिक प्राण विभिन्न परमाणु आदि पदार्थों को संगत करके नाना प्रकार के तत्त्वों का निर्माण करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों का केन्द्रीय भाग विशाल बहिर्भाग में स्थित विभिन्न पदार्थों को सदैव अपनी ओर आकृष्ट करता है और वह उन आकृष्ट पदार्थों के लिए एक घर के समान होता है। उस क्षेत्र में प्राण नामक प्राथमिक रश्मियों की प्रधानता के कारण आकर्षण बल अति तीव्र और प्रतिकर्षण बल नगण्य होता है। इस क्षेत्र में विभिन्न पदार्थों की रक्षिका शक्तियाँ सदैव विशेष सक्रिय रहती हैं। तारों के केन्द्रीय भाग में उनके बाहरी भाग की अपेक्षा सभी क्रियाएं अत्यन्त तीव्र गति से होती हैं। उस केन्द्रीय भाग को तीव्र क्रियाओं के फलस्वरूप विभिन्न परमाणु नाभिकों का संलयन होकर अन्य नाभिकों का निर्माण होता रहता है। इस नाभिकीय संलयन की क्रिया को अक्षुण्ण रखने के लिए प्राथमिक प्राण एवं पूर्वोक्त सभी रश्मियों का परस्पर संगत और सक्रिय रहना आवश्यक है।।

ॐ इति १५.१ समाप्तः ॐ

अथ १५.२ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. त्रीणि ह वै यज्ञे क्रियन्ते,-जग्धं गीर्णं वान्तम्।।
तद्धैतदेव जग्धं-यदाशंसमानमार्त्विज्यं कारयत उत वा मे दद्याद् उत वा मा वृणीतेति; तद्ध तत्पराङेव यथा जग्धं, न हैव तद् यजमानं भुनक्ति।।
अथ हैतदेव गीर्णं,-यद् बिभ्यदार्त्विज्यं कारयत उत वा मा न बाधेतोत वा मे न यज्ञवेशसं कुर्यादिति; तद्ध तत्पराङेव यथा गीर्णं, न हैव तद् यजमानं भुनक्ति।।
अथ हैतदेव वान्तं,-यदभिशस्यमानमार्त्विज्यं कारयते; यथा ह वा इदं वान्तान् मनुष्या बीभत्सन्त, एवं तस्माद् देवास्तद्ध तत्पराङेव यथा वान्तं, न हैव तद् यजमानं भुनक्ति।।
स एतेषां त्रयाणामाशां नेयात्।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त यज्ञ अर्थात् संगति क्रियाओं में तीन प्रकार के विकार किसी अनिष्ट के कारण हो सकते हैं-
(१) जग्ध (२) गीर्ण (३) वान्त। इन तीनों विकृतियों के विषय में अगली तीन कण्डिकाओं में क्रमशः प्रकाश डाला गया है।।

{आर्त्विज्यः = ऋत्विजां गुणप्रकाशकं कर्म (तु.म.द.ऋ.भा.१.६४.६), अमानुष इव वाऽएतद्भवति यदार्त्विज्ये प्रवृत्तः (श.१.६.१.२६), (ऋत्विक् = ऋतवः ऋत्विजः - श.११.२.७.२)। आशसः = काममिच्छन्तः (म.द.ऋ.भा.५.३२.११), (शंसनत् कान्तिकर्मा - निघं.२.६ - वै.को. से उद्धृत)।}
जब पूर्वोक्त यज्ञ कर्म में (ज्योतिष्टोमादि) विभिन्न ऋतु रश्मियां इस प्रकार के आकर्षणादि बलों से युक्त होकर अपने गुण व कर्मों को इस प्रकार से प्रकाशित करती हैं, कि उनके कारण विभिन्न सोम अर्थात् मरुद् आदि रश्मियां पूर्णरूपेण उन ऋतु रश्मियों के साथ संगत होकर, वे ऋतु रश्मियां उन्हीं के द्वारा नियन्त्रित हो जाएं अथवा वे सोम रश्मियों से आच्छादित होकर अपने गुण वा कर्मों को मानो त्याग कर उन सोम रश्मियों से अभिभूत हो जाएं, ऐसी स्थिति में वे ऋतु रश्मियां उस सर्ग यज्ञ से बाहर हो जाती हैं। यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है कि जब सोम रश्मियों का आकर्षणादि बल ऋतु रश्मियों की अपेक्षा प्रबल हो उठता है, तब ऋतु रश्मियां दुर्बल होकर अपने कर्मों को सम्पादित नहीं कर सकतीं, जिसके कारण वे ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं से बाहर हो जाती हैं। इस स्थिति को ही 'जग्ध' कहा जाता है, क्योंकि इसमें ऋतु रश्मियों का मानो भक्षण कर लिया जाता है और इस प्रकार की भक्षित अर्थात् दुर्बल ऋतु रश्मियां उस यजमान अर्थात् सूर्यादि लोकों का पालन व रक्षण नहीं कर सकतीं, जिससे वे लोक नष्ट हो सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त प्रमाण से यह भी संकेत मिलता है कि वे ऋतु रश्मियां इस स्थिति में ऐसे लोक का निर्माण करती हैं, जो अमानुष के समान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उस लोक में होने वाली क्रियाएं शुद्ध और तेजस्वी रूप में नहीं होतीं, इस कारण वह लोक भी अस्पष्ट, धुँधला और कान्तिहीन होता है। किसी भी तेजस्वी लोक की यही अवस्था 'जग्ध' अवस्था है।।

जब ऋतु संज्ञक प्राण रश्मियां अत्यन्त संत्रस्त होकर अस्त व्यस्त हो उठती हैं और उनका संत्रास इस स्तर तक पहुँच जाता है कि वे सोम रश्मियों द्वारा अभिभूत हो जाती हैं, जिससे उनकी क्रिया शक्ति बाधित हो जाती है अथवा वे सोम रश्मियां ऋतु रश्मियों को क्षीण करके उनकी संगति

प्रक्रियाओं को नष्ट कर देती हैं। उस समय वे ऋतु रश्मियां उस ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं से वाहर हो जाती हैं अर्थात् वे दुर्वल होकर उन ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं से मानो लुप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार से किसी खाद्य पदार्थ को हम चवाकर निगल लेते हैं और वह पदार्थ अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ सोम रश्मियां दुर्वल ऋतु रश्मियों को संत्रस्त करके अदृश्य अर्थात् निष्क्रिय कर देती हैं। ऐसा होने पर वह यजमान रूप तारा अमानुष अर्थात् धुंधला और कान्तिहीन हो जाता है। वह तारा अपनी सभी क्रियाओं का पालन नहीं कर पाता, यह तारे की 'गीर्ण' स्थिति कहलाती है। इस 'गीर्ण' स्थिति का 'जग्ध' स्थिति से भेद यह है कि समान रूप से धुंधले और कान्तिहीन होते हुए भी इन तारों में अपेक्षाकृत तीव्र ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं।।

जव ऋतु रश्मियां सव ओर से हिंसित होती हुई अपने प्रकाशक गुणों को धारण करती हैं, उस समय उन ऋतु रश्मियों के प्रति विभिन्न प्राथमिक प्राण रूप देव पदार्थ उपेक्षा वा अरुचि का भाव रखते हैं अर्थात् उनके प्रति वे किंचित् भी आकर्षण का भाव नहीं रखते वल्कि कुछ मात्रा में प्रतिकर्षण का ही भाव दर्शाते हैं। इस विषय में उपमा देते हुए महर्षि कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य अर्थात् सूत्रात्मा वायु रूप वहिः प्राण {वहिः प्राणो वै मनुष्यः (तै.सं.६.१.१.४)} वान्त अर्थात् उत्सर्जित होते हुए विभिन्न कणों के प्रति उपेक्षा भाव दर्शाते हैं किंवा विश्वेदेवा रूपी मनुष्य पदार्थ किसी यज्ञ प्रक्रिया से वहिष्कृत अथवा निष्कासित पदार्थ के प्रति उपेक्षा का भाव दर्शाते हैं, उसी प्रकार प्राथमिक प्राण रूपी देव पदार्थ हिंसित ऋतु रश्मियों के प्रति उपेक्षा दर्शाते हैं। ये ऋतु रश्मियां हिंसित कैसे होती हैं? इस विषय में हमारा मत है कि सूक्ष्म असुर पदार्थ के द्वारा ही ये ऋतु रश्मियां हिंसित वा आक्रान्त होती हैं। ऐसी स्थिति वनने पर वह यजमान रूप तारा अपने अस्तित्व को वनाये रखने में सक्षम नहीं हो पाता। इस कारण वह भी धुंधला और कान्तिहीन हो जाता है और उस ऐसे तारे में से ऋतु रश्मियां वाहर की ओर प्रक्षिप्त वा उत्सर्जित होती रहती हैं। तारे की इस अवस्था को 'वान्त' अवस्था कहते हैं।।

इस प्रकार के तीनों विकृत तारे {आशा = दिङ्नाम (निघं.१.६)} अपनी प्रकाश रश्मियों के द्वारा विभिन्न दिशाओं को व्याप्त नहीं कर पाते और ब्रह्माण्ड में अदृश्य होकर विद्यमान रहते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के निर्माण के समय में तीन प्रकार की विकृतियाँ आकर विकृत, धुँधले और कान्तिहीन लोकों का निर्माण हो सकता है-

(१) जव ऋतु रश्मियां सोम रश्मियों की अपेक्षा दुर्वल होती हैं, उस समय तारों के केन्द्रीय भाग के निर्माण के योग्य ऊष्मा की उत्पत्ति नहीं हो पाती। इस कारण वह निर्माणाधीन तारा एक धुँधले और कान्तिहीन लोक में परिणत हो जाता है।

(२) जव ऋतु रश्मियां इतनी दुर्वल होती हैं कि सोम रश्मियां उन्हें संत्रस्त कर सकें, उस समय भी निर्माणाधीन तारे के अन्दर इतनी ऊष्मा की उत्पत्ति नहीं हो पाती, जिससे केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ हो सके। ऐसी स्थिति में भी वे निर्माणाधीन तारे धुँधले और कान्तिहीन लोकों में परिणित हो जाते हैं। इस प्रकार के लोक तीव्र ध्वनियाँ उत्पन्न करने वाले होते हैं, साथ ही उनका गुरुत्वाकर्षण वल भी इतना प्रवल हो जाता है कि वे आसपास के पिण्डों को अपने अन्दर निगलने लगते हैं।

(३) जव विभिन्न ऋतु रश्मियां डार्क एनर्जी से आक्रान्त हो जाती हैं, उस समय प्राणापानादि प्राण रश्मियां उनको अपने साथ संगत नहीं करतीं, जिसके कारण भी उन लोकों में पर्याप्त ऊष्मा की उत्पत्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार वे लोक भी नाभिकीय संलयन के अभाव में धुँधले और कान्तिहीन रूप में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

इन तीनों प्रकार के लोकों की पहचान करना अति दुष्कर होता है।।

२. तं यद् एतेषां त्रयाणामेकंचिदकाममभ्याभवेत् तस्यास्ति वामदेव्यस्य स्तोत्रे प्रायश्चित्तिः।।

इदं वा इदं वामदेव्यं, यजमानलोकोऽमृतलोकः स्वर्गो लोकः।।

तत् त्रिभिरक्षरैर्न्यूनं, तस्य स्तोत्र उपसृप्य त्रेधात्मानं विगृह्णीयात् पुरुष इति।।

स एतेषु लोकेष्वात्मानं दधात्यस्मिन् यजमानलोकेऽस्मिन्नमृतलोकेऽस्मिन् स्वर्गे लोके सर्वां दुरिष्टिमत्येति।।
अपि यदि समृद्धा इव ऋत्विजः स्युरिति ह स्माहाथ हैतज्जपेदेवेति।।२।।

{प्रायश्चित्तिः = यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः (मै.१.८.३)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त तीनों प्रकार की विकृतियों में से यदि कोई एक विकृति हो जाये, तब उसको दूर करने के लिए प्रक्रिया विद्यमान होती है। इस विषय में लिखते हुए महर्षि कहते हैं कि ऐसी विकृति होने पर वामदेव ऋषि अर्थात् मनस् तत्त्व से इन्द्रदेवताक निम्नलिखित तीन ऋचाओं की उत्पत्ति होती है-

(१) कया॑ नश्चि॒त्र आ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः सखा॑। कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता।।१।। (ऋ.४.३१.१)

इसका छन्द गायत्री होने से इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तेजस्वी और समृद्ध होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व {शची = वाङ्नाम (निघं.१.११), कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.६)} व्यापक होता हुआ अपनी रक्षण आदि क्रियाओं एवं विभिन्न प्रकाशित छन्दादि रश्मियों से संयुक्त होकर सब ओर से विभिन्न प्रकार से प्रकाशित होता है।

(२) कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मंहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः। दृ॒ळ्हा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॑।।२।। (ऋ.४.३१.२)

इसका छन्द निचृद् गायत्री होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत् परन्तु किंचित् अधिक भेदक शक्तिसम्पन्न होता है। इसके अन्य प्रभाव से {अन्धसः = अन्धांसि अन्नानि (नि.६.३६), मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य (नि.१३.६), अहर्वा अन्धः (तां.१२.३.३), अन्धो रात्रिः (तां.६.१.७)। सत्यः = असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१), प्राणा वै सत्यम् (श.१४.५.१.२३), आपो हि वै सत्यम् (श.७.४.१.६)} अहोरात्र अर्थात् प्राणापान एवं विभिन्न प्रकाशित छन्दादि रश्मियों को सक्रिय करने के लिए अति व्यापक एवं श्रेष्ठतम प्राण अर्थात् मनस् तत्त्व इन्द्र तत्त्व को सब विकारों से दूर रखता हुआ तारों की विभिन्न विकृतियों को भी दूर करने में सहायक होता है।

(३) अ॒भी षु णः॒ सखी॑नामवि॒ता ज॑रितॄ॒णाम्। श॒तं भ॑वास्यू॒तिभिः॑।।३।। (ऋ.४.३१.३)।

इसका छन्द त्रिपाद् गायत्री होने से दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् है। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न प्रकाशिका छन्दादि रश्मियां उस इन्द्र तत्त्व को विभिन्न विकृत क्रियाओं को रक्षित करने का सामर्थ्य प्रदान करती हैं, जिसके कारण वह इन्द्र तत्त्व उस ज्योतिष्टोम यज्ञ के अनुकूल मात्रा और सामर्थ्य प्राप्त करता है। यहाँ 'शतम्' पद के अर्थ के लिए यह आर्ष वचन द्रष्टव्य है- "एषा वाव यज्ञस्य मात्रा यच्छतम्" (तां.२०.१५.१२)।

इन तीन प्रकार की छन्द रश्मियों के उत्पन्न और संगत होने पर ज्योतिष्टोम आदि क्रियाओं की विकृति दूर होकर वे क्रियाएं पुनः प्रारम्भ हो जाती हैं।।

ये तीन रश्मियां तीन चरणों में तारे के केन्द्रीय भाग में संयोग आदि कर्मों को पुनः प्रारम्भ करती हैं। ये चरण हैं-

(१) यजमानलोक- इस चरण में पूर्वोक्त प्रकार से उत्पन्न हुआ इन्द्र तत्त्व विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों में परस्पर आकर्षण बल को तीव्र करके उन्हें संयोगादि प्रक्रिया के लिए प्रेरित करता है, जिसके कारण तारे में विद्यमान विविध पदार्थ परस्पर संगत होने लगते हैं।

(२) अमृतलोक- {अमृतम् = अमृतं हिरण्यम् (तै.ब्रा.१.७.६.३), अग्निरमृतम् (श.१०.२.६.१७), आदित्योऽमृतम् (श.१०.२.६.१६), अमृतं वै प्राणः (कौ.ब्रा.११.४)} इस चरण में विभिन्न ऋतु और मास रश्मियां कारणरूप प्राथमिक प्राणादि रश्मियों के साथ संगत होकर आकर्षणादि बलों से युक्त अग्नि तत्त्व को समृद्ध करती हैं।

(३) स्वर्गलोक- इन दोनों चरणों के पूर्ण व सक्रिय हो जाने पर ज्योतिष्टोम याग पुनः प्रारम्भ होने लगता है।।

पूर्वोक्त तीन गायत्री रश्मियों में से अन्तिम छन्द रश्मि में केवल २१ ही अक्षर हैं, इसलिए वहाँ छान्दस दृष्टि से तीन अक्षरों की न्यूनता है। इस विषय में आचार्य सायण ने इसका भाष्य करते हुए याज्ञिक शैली में लिखा है-

" 'तस्य' वामदेव्यस्य साम्नः संवन्धिनि 'स्तोत्रे' 'उपसृप्य' समीपं प्रक्रम्य 'आत्मानं' स्ववाचकं 'पुरुषः' इति शब्दं 'त्रेधा विगृह्णीयात्' प्रत्यक्षरं विभज्यैकैकस्मिन् पादे प्रक्षिपेत्। तद्यथा - 'अभी षु णः सखीनः पु, अविता जरितॄणां रु; शतं भवास्यूतिभिः षः' इति प्रक्षिप्य गायेत्।"

हम आचार्य सायण के इस मत से सहमत हैं। हम अपनी आधिदैविक शैली में इस कण्डिका का आशय यह समझते हैं कि इस अन्तिम छन्द रश्मि में "पु-रु-ष" इन तीन अक्षरों की एक-२ पाद के साथ संगति होकर ही इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, जिसके कारण इसके २४ अक्षर पूर्ण होकर इन गायत्री छन्द रश्मियों का पूर्वोक्तानुसार पूर्ण प्रभाव उत्पन्न होता है।।

इस प्रकार "पु-रु-ष" इन तीन अक्षरों से संयुक्त पूर्वोक्त तृच रूप रश्मिसमूह अपने पूर्वोक्त प्रभाव से पूर्वोक्त तीनों चरणों अर्थात् यजमानलोक, अमृतलोक एवं स्वर्गलोक में जो भी विकृतियाँ उत्पन्न होने वाली होती हैं, उनको दूर करने में सक्षम होता है। इसका आशय यह है कि तारों की पूर्वोक्त तीन विकृतियाँ 'जग्ध', 'गीर्ण' एवं 'वान्त' इन तीन गायत्री छन्द रश्मियों के प्रभाव से दूर हो जाती हैं और तारों का शुद्ध एवं प्रकाशित रूप निर्मित होता है।।

यहाँ महर्षि यह भी कहते हैं कि तारों के निर्माण की प्रक्रिया में ऋतु रश्मियों में पूर्वोक्त विकार नहीं भी हों, तव भी ये तीनों गायत्री छन्द रश्मियां इसी प्रकार से अवश्य उत्पन्न होती हैं। {जपः = ब्रह्म वै जपः (कौ.ब्रा.३.७)} यहाँ 'जपेत्' पद यह संकेत भी करता है कि इन गायत्री छन्द रश्मियों को ब्रह्म = आहाव अर्थात् 'शोंसावोम्' सूक्ष्म छन्द रश्मि भी अवश्य संगत करती है। इस विषय में हम पूर्व में भी अनेकत्र लिख चुके हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इस तृचरूप रश्मिसमूह की उत्पत्ति तारों के निर्माण में अनिवार्य और सामान्य प्रक्रिया है और पूर्वोक्त तीन प्रकार की विकृतियाँ असामान्य और आकस्मिक घटनाएं हैं, जो इन तृच रश्मियों के अभाव में घट सकती हैं, ऐसा संकेत करना ही ऋषि का प्रयोजन प्रतीत होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के निर्माण में उपर्युक्त तीनों विकृतियों में से यदि कोई एक विकृति उत्पन्न हो जाए, तब उसको दूर करने के लिए तीन गायत्री छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इनके प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युत् युक्त वायु तीव्र हो उठता है। इसके कारण विभिन्न छन्द एवं ऋतु आदि रश्मियां सक्रिय और सबल होकर परस्पर संगत होने लगती हैं। इसके कारण तारे के केन्द्रीय भाग के निर्माण के लिए आवश्यक गुरुत्व बल एवं ऊष्मा आदि उत्पन्न होने लगते हैं। यदि तारों के अन्दर कोई विकृति न भी आने की आशंका हो, तब भी इन तीन गायत्री रश्मियों की उत्पत्ति अवश्य होती है, जिसके कि विकृति आ ही न सके। ब्रह्माण्ड में कभी-२ तारों में ऐसी विकृतियां आ जाया करती हैं।।

॥ इति १५.२ समाप्तः ॥

ॐ अथ १५.३ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. छन्दांसि वै देवेभ्यो हव्यमूढ्वा श्रान्तानि जघनार्धे यज्ञस्य तिष्ठन्ति, यथाऽश्वो वाऽश्वतरो वोहिवांस्तिष्ठेदेवं तेभ्य एतं मैत्रावरुणं पशुपुरोळाशमनु देविका हवींषि निर्वपेत्।।

व्याख्यानम्– विभिन्न छन्द रश्मियां देव पदार्थों अर्थात् प्राथमिक प्राणों के साथ संगत करने के लिए विभिन्न हव्य पदार्थों अर्थात् सोम रश्मियों किंवा मास व ऋतु रश्मियों को ढोकर लाती हैं, जिससे इस क्रिया में वे छन्द रश्मियां भारी उद्योग करते हुए दुर्वल भी हो जाती हैं और ऐसी वे दुर्वल छन्द रश्मियां उस हव्य पदार्थ को देव पदार्थों के साथ संगत नहीं कर पाती हैं अर्थात् सूर्य के केन्द्रीय भाग के लिए उसके वाहरी भाग से विभिन्न पदार्थों को लाने वाली छन्द रश्मियां कभी-२ दुर्वल होकर केन्द्रीय भाग तक पहुँच भी नहीं पाती हैं। उस समय वे रश्मियां यज्ञ के जघन क्षेत्र अर्थात् केन्द्रीय भाग का वह वाहरी भाग, जो केन्द्रीय भाग के उत्तरी वा दक्षिणी सिरों के ऊपर स्थित होता है, में आकर ठहर जाती हैं। यहाँ महर्षि उपमा देते हुए कहते हैं कि यह क्रिया उसी प्रकार होती है कि जिस प्रकार लोक में कोई घोड़ा अथवा खच्चर भार वहन करते हुए थककर ठहर जाता है। इसका दूसरा आशय हमारी दृष्टि में यह है कि वे हव्यवाहन छन्द रश्मियां जितने शीघ्रगामी वा अतिशीघ्रगामी वलों से युक्त होकर ठहरती हैं, उसी के अनुसार ही मैत्रावरुण और पशु पुरोडाश के पश्चात् एवं उनके अनुकूल देविका हवियों का निर्वपन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणोदान से उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकाशक मरुद् रश्मिसमूह उत्पन्न होते हैं और इस क्रिया के पश्चात् दिव्य गुणयुक्त विभिन्न हवियों की उत्पत्ति होती है। ये हविरूप रश्मियां उन ठहरी हुई दुर्वल छन्द रश्मियों के ऊपर प्रक्षिप्त की जाती हैं, जिससे वे छन्द रश्मियां पूर्णतः संसिक्त हो जाती हैं। इन दिव्य हविरूप रश्मियों का वर्णन अगली कण्डिकाओं में किया गया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– तारों के केन्द्रीय भाग की ओर आने वाला विभिन्न प्रकार का पदार्थ विभिन्न छन्द रश्मियों द्वारा ढोकर लाया जाता है। इस क्रिया में जब कभी वे वाहक छन्द रश्मियां उस पदार्थ के साथ तारों के केन्द्रीय भाग के उत्तरी वा दक्षिणी ध्रुव के ऊपर स्थित सन्धि भाग के वाहरी क्षेत्र में ठहर जाती हैं, उस समय उन छन्द रश्मियों को उनके वलावल के आधार पर कुछ रश्मियां सक्रिय करती हैं। वे रश्मियां प्राण और अपान और प्राणोदान से उत्पन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के उत्पन्न होने के पश्चात् उनकी अनुगामिनी होती हुई उत्पन्न होती हैं।

**२. धात्रे पुरोळाशं द्वादशकपालं, यो धाता स वषट्कारः।।
अनुमत्यै चरुं याऽनुमतिः सा गायत्री।।
राकायै चरुम्, या राका सा त्रिष्टुप्।।
सिनीवाल्यै चरुं, या सिनीवाली सा जगती; कुहै चरुं, या कुहूः साऽनुष्टुप्।।
एतानि वाव सर्वाणि च्छन्दांसि, –गायत्रं त्रैष्टुभं जागतमानुष्टुभमन्वन्यान्येतानि हि यज्ञे प्रतमामिव क्रियन्ते।।
एतैर्ह वा अस्य च्छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य एवं वेद।।**

{कुहूः = कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी (तै.सं.३.३.११.६)। अनुमतिः = अनुमतिरनुमननात् (नि. ११.२९)}

व्याख्यानम्– इस विषय में महर्षि आश्वलायन का कथन है–

"यद्यनूबन्ध्ये पशुपुरोळाशमनुदेविकाहवींषि निर्वपेयुर्धाताऽनुमती राका सिनीवाली कुहूः।" (आश्व. श्रौ.६.१४.१५) इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त दिव्य हवियाँ, धाता, अनुमति, राका, सिनीवाली एवं कुहू देवताओं को संगत करती हैं। इस कण्डिका में धाता का वर्णन है। शेष का वर्णन अगली कण्डिकाओं में क्रमशः है।

{पुरोडाशः = य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मात् पुरोदाशः, पुरोदाशो ह वै नामैतद् यत् पुरोडाश इति (श.१.६.२.५ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत), पशवो वै पुरोडाशाः (तै.सं.७.१.६.१), ब्रह्मवर्चसं पुरोडाशः (काठ.२२.१३)}

पूर्वोक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि उन दुर्बल हुई छन्द रश्मियों को धारण करने के लिए १२ प्रकार की सूक्ष्म एवं देदीप्यमान मरुद् रश्मियां, जो विभिन्न संगति प्रक्रियाओं को प्रकाशित करती हैं, उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियां उन दुर्बल छन्द रश्मियों को आधार व सुरक्षा प्रदान करती हैं। इसी कारण इनको 'वषट्कार' भी कहा जाता है। महर्षि ने अन्यत्र एक प्रकरण में कहा है– "देवपात्रं वा एतद् यद् वषट्कारः" (ऐ.३.५)। यहाँ 'वषट्कार' का अर्थ उन छन्द रश्मियों का पुनः कुशलतापूर्वक क्रियारत हो जाना भी है। महर्षि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद भाष्य ११.३९ में "वषट्" का अर्थ "क्रियाकौशलम्" लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि इन १२ प्रकार की मरुद् रश्मियों के द्वारा उन दुर्बल एवं ठहरी हुई छन्द रश्मियों की क्रिया-कुशलता पुनः पूर्ववत् हो जाती है, जिसके कारण वे सोम आदि हव्य पदार्थों को धारण और वहन करने में सक्षम हो जाती हैं। यहाँ 'वषट्कार' शब्द का अर्थ प्राणापान भी ले सकते हैं। उस स्थिति में महर्षि का आशय यह है कि इन मरुद् रश्मियों के कारण सबके धातारूप प्राणापान सक्रिय होकर दुर्बल हुई छन्द रश्मियों को बल प्रदान करते हैं।।

{चरुः = मेघनाम (निघं.१.१०), ओदनो हि चरुः (श.४.४.२.१), (ओदनः = प्रजापतिर्वाऽओदनः - तै.ब्रा.३.८.२.३; श.१३.३.६.७), रेतो वा ओदनः (तै.ब्रा.३.८.२.४), वायु रेतः (श.१.७.२.२१)} यहाँ महर्षि उन दुर्बल छन्दादि रश्मियों को सक्रिय करने के लिए उनके स्वरूप के अनुसार पृथक्-२ क्रियाओं का वर्णन करते हैं। सर्वप्रथम गायत्री छन्द रश्मि के विषय में लिखते हैं कि यह छन्द रश्मि सबसे सूक्ष्म और सबसे अनुकूलता से प्रकाशवती होती है, इस कारण ये 'अनुमति' कहलाती है। यह मनस् तत्त्व में उत्पन्न होती हुई उसी का अनुगमन करती हुई प्रकाशित होती है। जब ये गायत्री छन्द रश्मियां पूर्वोक्त प्रकार से दुर्बल और परिश्रान्त हो जाती हैं, उस समय उनको सक्रिय और सबल बनाने के लिए 'चरु' रूप हवि प्रदान की जाती है। इसका आशय यह है कि मनस्तत्व में उत्पन्न सूक्ष्म वायु रश्मियां हमारी दृष्टि में दैवी गायत्री छन्द रश्मियां होती हैं, जो दुर्बल गायत्री छन्द रश्मियों को सक्रिय और सबल करती हैं। गायत्री छन्द रश्मियों को 'अनुमति' इस कारण भी कहते हैं कि इसी छन्द रश्मि का अनुकरण करते हुए अन्य सभी छन्द रश्मियां प्रकाशित होती हैं।।

जो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां होती हैं, वे 'राका' कहलाती हैं। इसका आशय यह है कि ये छन्द रश्मियां विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को तीन ओर से धारण करती हुई मिल जाती हैं। 'राका' पद 'रा दाने' धातु से निष्पन्न होता है। इसके अर्थ 'देना' तथा 'मिल जाना' हैं (देखें- सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक)। ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों के साथ मिलकर उन्हें परस्पर जोड़ने में भी सहायक होती हैं। 'राका' के विषय में ३.३७.४ भी द्रष्टव्य है। जब ऐसी 'राका' रूप त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां परिश्रान्त तथा दुर्बल हो जाती हैं, उस समय पूर्वोक्त 'चरु' रूप हवि-रश्मियों की ही उत्पत्ति होती है, जिनके विषय में हम पूर्व कण्डिका में विस्तार से लिख चुके हैं।।

विभिन्न जगती छन्द रश्मियां 'सिनीवाली' का रूप होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये रश्मियां योषा रूप होकर अपने सहज आकर्षण बल के द्वारा अन्य रश्मि आदि पदार्थों को अपने साथ संयुक्त कर देती हैं। लगभग इसी प्रकार के गुणों से युक्त अनुष्टुप् छन्द रश्मियां विभिन्न रश्मियों को पीछे से थामती हुई योषा रूप होकर उनसे संयुक्त हो जाती हैं। ये अनुष्टुप् रश्मियां 'कुहू' भी कहलाती

हैं। इसका कारण यह है कि ये रश्मियां अन्य रश्मियों को अपने विशिष्ट वल के द्वारा मोहित करके अपने साथ मिला लेती हैं। ये रश्मियां दिव्य अमृत पदार्थों अर्थात् अग्नि तत्त्व की विशेष रक्षिका होती हैं, जब ये जगती और अनुष्टुप् दोनों छन्द रश्मियां परिश्रान्त और दुर्वल हो जाती हैं, उस समय उपर्युक्त 'चरु' रूप हवि रश्मियां पूर्वोक्तानुसार इनको पुनः सक्रिय और सवल करती हैं।।

इस प्रकार ये चारों छन्द रश्मियां अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप्, जव भी परिश्रान्त और दुर्वल हो जाती हैं, तव उपर्युक्तानुसार वे पुनः सवल और सक्रिय हो जाती हैं। ये चार छन्द रश्मियां ही सभी अन्य छन्द रश्मियों को भी अपने साथ सवल और सक्रिय कर लेती हैं। वस्तुतः मुख्य ये चार ही छन्द रश्मियां हैं, क्योंकि ये ही चारों इस सृष्टि यज्ञ में प्रचुरता से भाग लेती हैं, अन्य छन्द रश्मियों के रूप में उष्णिक्, वृहती, पंक्ति आदि जो भी हैं, वे सभी गायत्री आदि चार छन्द रश्मियों का ही अनुकरण करती हैं। इस कारण उनको सवल और सक्रिय करने हेतु अन्य किसी विशेष रश्मि की आवश्यकता नहीं है। ये गायत्री आदि चारों छन्द रश्मियां इस सृष्टि यज्ञ में प्रकृष्टता से अनेकों रूप धारण करती रहती हैं।।

इस प्रकार की सभी दिव्य हवि रश्मियों के उत्पन्न होने एवं उनके द्वारा चारों मुख्य छन्द रश्मियों के पुनः सक्रिय और सवल होने के कारण अन्य सभी छन्द रश्मियां भी अपने-२ अनुष्ठानों को पूर्ण करने में सफल होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्तानुसार जव संलयनीय पदार्थ तारों के केन्द्रीय भाग के वाहर ही रुक जाता है, उस समय १२ सूक्ष्म मरुद् रश्मियां उत्पन्न होकर प्राणापान को सक्रिय करके सभी छन्द रश्मियों को बल प्रदान करती हैं। दुर्बल गायत्री छन्द, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के दुर्बल होने पर मनस् तत्त्व दैवी गायत्री छन्द रश्मियों को उत्पन्न करके उन दुर्बल छन्द रश्मियों के ऊपर सेचन करता है, जिससे सभी छन्द रश्मियां सबल और सक्रिय होकर विभिन्न संलयनीय पदार्थों को तारे के केन्द्रीय भाग में पहुँचाने में सफल हो जाती हैं, जिससे तारे का स्वरूप यथावत् बना रहता है।।

३. तद्वै यदिदमाहुः,-सुधायां ह वै वाजी सुहितो दधातीति च्छन्दांसि वै तत्सुधायां ह वा एनं छन्दांसि दधति।।
अननुध्यायिनं लोकं जयति य एवं वेद।।
तद्धैक आहुर्धातारमेव सर्वासां पुरस्तात् पुरस्तादाज्येन परियजेत् तदासु सर्वासु मिथुनं दधातीति।।
तदु वा आहुर्जामि वा एतद् यज्ञे क्रियते, यत्र समानीभ्यामृग्भ्यां समानेऽहन् यजतीति।।
यदि ह वा अपि बह्व्य इव जायाः पतिर्वाव तासां मिथुनं, तद्यदासां धातारं पुरस्ताद् यजति, तदासु सर्वासु मिथुनं दधाति।।
इति नु देविकानाम्।।३।।

व्याख्यानम्- इसी कारण कहा जाता है कि विभिन्न वाजी रूप छन्द रश्मियां, उनके वल एवं अनेक प्रकार के संयोज्य कण पूर्वोक्त विभिन्न क्रियाओं को अच्छी प्रकार अनुष्ठित करके परस्पर एक-दूसरे का धारण और पोषण करते हुए 'सुधा' अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग में स्थापित हो जाते हैं। तारों का यह केन्द्रीय भाग विभिन्न पदार्थों को अच्छी प्रकार ऐसे धारण करता है कि वे पदार्थ उस केन्द्र से वाहर स्खलित नहीं हो पाते। इस कारण ही केन्द्र को 'सुधा' कहते हैं। ये छन्द रश्मियां ही एक-दूसरे को धारण करती हुई केन्द्रीय भाग में स्थापित होती हैं। कौनसी छन्द रश्मि किसको धारण करती है? यह हम पूर्व में वतला चुके हैं। पुनरपि ध्यातव्य है कि गायत्री आदि चार छन्द रश्मियां अन्य सवको धारण करती हुई ले जाती हैं।।

इस प्रकार की क्रमवद्ध प्रक्रियाओं के सम्पन्न होने पर वे लोक अर्थात् निर्माणाधीन तारों में विद्यमान वे कण वा क्षेत्र प्रदीप्त हो उठते हैं, जो अव तक प्रदीप्त नहीं हुए थे। पूर्वोक्त छन्द रश्मियां केन्द्रीय भाग की ओर लक्ष्य करके आगे वढ़ती हैं, तव वह केन्द्रीय भाग तो प्रकाशित होता ही है, साथ ही तारों के अन्य क्षेत्र भी प्रकाशित हो उठते हैं।।

यहाँ महर्षि कुछ विद्वानों का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पूर्व में इसी खण्ड में 'अनुमति', 'राका', 'सिनीवाली' और 'कुहू' इन चारों योषा रूप रश्मियों के पूर्व धाता अर्थात् पूर्वोक्त वृषा रूप वषट्कार अर्थात् प्राणापान की हवि उन छन्द रश्मियों को देने के पूर्व 'आज्य' अर्थात् मन एवं वाक् तत्त्व के संयुक्तरूप रश्मियों की प्राणापानों पर वृष्टि की जाती है, जिसके कारण वे प्राणापानों के साथ सव ओर से पूर्णतः संगत हो जाती हैं।

इसके प्रभाव से उन प्राणापान रश्मियों का गायत्री आदि सभी छन्द रश्मियों से मिथुन स्थापित हो जाता है, जिसके कारण वे सभी छन्द रश्मियां पुनः सक्रिय और सवल हो उठती हैं। 'आज्य' विषय में विशेष जानकारी के लिए २.१४.३ देखें।।

अव कुछ अन्य विद्वानों का मत प्रस्तुत करते हुए महर्षि कहते हैं कि जव दो समान रूप से संयुक्त हुई छन्द रश्मियां सम्पूर्ण अहन् अर्थात् तारे के केन्द्रीय भाग में समान रूप से पूर्वोक्त धाता अर्थात् प्राणापान के साथ संगत होती हैं, उस समय सम्पूर्ण क्षेत्र में वे प्राणापान रश्मियां 'जामि' अर्थात् विभिन्न प्रकार की वल रश्मियों से सम्पूर्ण पदार्थ को सिंचित कर देती हैं। इसके साथ ही वे रश्मियां सम्पूर्ण केन्द्रीय भाग में व्याप्त हो जाती हैं। इस विषय में महर्षि आश्वलायन कहते हैं-

"धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षितम्। वयं देवस्य धीमहि सुमतिं वाजिनीवतः। धाता प्रजानामुत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान। धाता कृष्टीरनिमिषाऽभिचष्टे धात्र इद्धव्यं घृतवज्जुहोतेति।" (आश्व. श्रौ.६.१४.१६)

इसका तात्पर्य यह है कि एक छन्द रश्मि जिसका छन्द अनुष्टुप् है- "धाता ददातु ...... वाजिनीवतः" और दूसरी छन्द रश्मि जिसका छन्द त्रिष्टुप् है- "धाता प्रजानामुत .... घृतवज्जुहोति", परस्पर क्रमशः योषा और वृषा रूप होकर संयुक्त होती हैं। अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् के विषय में अन्यत्र महर्षि कहते हैं- "वृषा वै त्रिष्टुप् योषानुष्टुप्" (ऐ.आ.१.३.५)। इन दोनों ही छन्द रश्मियों का देवता धाता प्रतीत होता है। इनमें से अनुष्टुप् छन्द प्राणापान के साथ संगत होकर सभी छन्दों को प्रभावित करता है, जैसा कि कहा है- "अनुष्टुप् सर्वाणि छन्दांसि" (तै.सं.५.१.५.२-३)। यह प्राण नामक प्राण तत्त्व के समान भी व्यवहार करता है। इसलिए कहा है- "प्राणा वा अनुष्टुप्" (तै.सं.५.३.८.२)। उधर त्रिष्टुप् प्राण सवके अन्दर सतत गमन करता हुआ सवको परस्पर वांधे रखता है, इसी कारण ऋषियों ने कहा है- "अथ त्रिष्टुप्। नाभिरेव सा (जै.ब्रा.१.२५४), आत्मा त्रिष्टुभः (श.८.६.२.३), व्यानस्त्रिष्टुप् (मै.३.४.४)"।

इन दोनों छन्द रश्मियों से युक्त होकर प्राणापान रूपी धाता वषट्कार सभी छन्द रश्मियों को सवल और सक्रिय कर देता है। ध्यातव्य है कि ये दोनों छन्द रश्मियां परस्पर संयुक्त ही रहती हैं और ये प्राणापान के साथ तारे के केन्द्र में सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं।।

जिस प्रकार एक देव की कई रक्षिका व उत्पादिका शक्तियाँ विद्यमान होती हैं, पुनरपि उस देव पदार्थ का अपनी प्रत्येक शक्ति के साथ एक-२ करके क्रमशः संयोग हुआ करता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त प्रकरण में उपर्युक्त छन्दरश्मिद्वय प्राणापान रूपी वषट्कार के साथ संगत होने के साथ ही मनस् एवं वाक् तत्त्व से संयुक्त होने से वे वषट्कार रूप रश्मियां वृषा रूप होकर गायत्री आदि योषा रूप छन्द रश्मियों के साथ क्रमशः संगत होकर उन्हें वलवती और सक्रिय वनाती हैं। यहाँ एक गम्भीर रहस्य यह प्रकट हुआ है कि 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' आदि अति सूक्ष्म छन्द रश्मियां किसी देव तत्त्व की पत्नी अर्थात् शक्ति-रूपा होती हैं। वे सभी एक साथ उस देव पदार्थ से कभी संगत नहीं होती हैं, वल्कि उनका संगम एक-२ करके क्रमशः अनवरत चलता रहता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वे सूक्ष्म रक्षिका रश्मियां उस देव पदार्थ के निकट ही मक्खी की भांति भिन-भिनाती रहती हैं और क्रमशः एक-२ करके देव पदार्थ के अन्दर आती और जाती रहती हैं। इस प्रकार यह 'देविका' नामक हव्य रश्मियों का वर्णन

पूर्ण हुआ।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्तानुसार विभिन्न छन्द रश्मियों के विभिन्न प्रभावों से बाहर रुका हुआ संलयनीय पदार्थ केन्द्रीय भाग में पहुँच जाता है और फिर वहाँ प्रबल आकर्षण से बंधने के कारण कभी बाहर नहीं निकल पाता। इस प्रकार न केवल केन्द्रीय भाग अपितु सम्पूर्ण तारा देदीप्यमान हो उठता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार मन एवं सूक्ष्म वाग् रश्मियां प्राणापान को भी बल प्रदान करती हैं और इसके साथ ही एक अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् छन्द रश्मि संयुक्त रूप में प्राणापान के साथ संगत होकर उन्हें और बलवान् बनाती हैं, जिसके कारण वे सभी छन्द रश्मियों को एक-२ करके क्रमशः क्रियाशील कर देते हैं, जिससे तारे के अन्दर नाभिकीय संलयन की क्रियाएं तीव्रता से और प्रचुर मात्रा में होने लगती हैं। विशेष परिज्ञान के लिए व्याख्यान भाग अवश्य पढ़ें।।

꧁ इति १५.३ समाप्तः ꧂

अथ १५.४ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. अथ देवीनाम्।।
सूर्याय पुरोळाशमेककपालम्,-यः सूर्यः स धाता, स उ एव वषट्कारः।।
दिवे चरुं,-या द्यौः साऽनुमतिः, सो एव गायत्र्युषसे चरुं, योषाः सा राका, सो एव त्रिष्टुब्, गवे चरुं,-या गौः सा सिनीवाली, सो एव जगती; पृथिव्यै चरुं,-या पृथिवी सा कुहूः, सो एवानुष्टुप्।।

{सूर्यः = प्राणादिसमूहो वायुगणः (म.द.य.भा.३.६), एष वै श्रेष्ठो रश्मिः यत् सूर्य्यः (श.१.१.३.१६ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त हवि रश्मियों के पश्चात् देवी नामक हवि रश्मियों की उत्पत्ति होती है। 'देवी' और 'देविका' विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है-

"ता वा एता देव्यो दिशो ह्येताश्छन्दांसि वै दिशश्छन्दांसि देव्योऽथैषकः प्रजापतिस्तद्यद् देव्यश्च कश्च तस्माद् देविकाः" (श.६.५.१.३६)।

इसका तात्पर्य यह है कि दिशाओं को ही देवी कहा जाता है और छन्दों को दिशा कहा जाता है। दिशाओं के निर्धारण में किसी भी पिण्ड वा अति सूक्ष्म कणों के अपने अक्ष पर घूर्णन का क्या योगदान है? इस विषय में १.७.४ पठनीय है और इन पदार्थों के अपने अक्ष पर घूर्णन में छन्द रश्मियों की भूमिका सर्वविदित है। यहाँ महर्षि याज्ञवल्क्य 'कः' पद का अर्थ प्रजापति करते हैं और देवी तथा प्रजापति का संयुक्त रूप देविका कहलाता है, यह मत भी यहाँ व्यक्त किया है। इससे स्पष्ट होता है कि मनस् तत्त्व से विशेषतः संगत हुई दिशा रूप छन्द रश्मियां देविका कहलाती हैं, जिनका वर्णन पूर्व खण्ड में किया गया है। यहाँ महर्षि याज्ञवल्क्य इसी स्थान पर लिखते हैं- "देविकाः पञ्च भवन्ति पञ्च हि दिशः" (श.६.५.१.३६)। अन्य कुछ आर्ष ग्रन्थों में भी प्रसंगानुसार क्वचित् दिशाओं की संख्या पांच मानी है। वहाँ कहा गया है- "पञ्च दिशः" (तै.सं.७.३.७.४; मै.२.१३.१०; काठ.२१.८)। दिशाओं की इस संख्या पर विचार करते हैं- हमारी दृष्टि में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण एवं ऊर्ध्व ये पांच दिशाएं ही यहाँ वर्णित हैं। प्रथम चार दिशाएं सर्वविदित है और ऊर्ध्व दिशा से तात्पर्य तारों के केन्द्रीय भाग की दिशा से है। इन्हीं पांच दिशाओं में ही न केवल देविका अपितु देवी हवि रश्मियों की व्याप्ति और गति होती है। इन देवी हवि रश्मियों का वर्णन अगली कण्डिकाओं में क्रमशः किया गया है।।

यहाँ 'सूर्य' का अर्थ एक ऐसी श्रेष्ठ रश्मि से है, जो प्राथमिक प्राणों से निर्मित होती है। यह धाता रूप होकर विभिन्न छन्द रश्मियों को धारण कर लेती है एवं वषट्कार रूप होकर उन सभी छन्द रश्मियों की क्रिया-कुशलता बढ़ाती है। इस छन्द रश्मि को एक कपाल पुरोडाश अर्थात् प्राणोदान से उत्पन्न मरुद् रश्मि विशेष प्रकाशित करती है। यहाँ पूर्व खण्ड की प्रथम कण्डिका से मैत्रावरुण की अनुवृत्ति माननी चाहिये। यह सूर्य रूप रश्मि आगामी गायत्री आदि छन्द रश्मियों को धारण करने के कारण 'धाता' कहलाती है।।

पूर्व खण्ड में जिस 'अनुमति' रूप गायत्री छन्द रश्मि की चर्चा की गई है, वह द्यु अर्थात् विद्युदावेश को प्रदीप्त वा सक्रिय करती है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी विद्युदावेश भले ही वह किसी भी कण में क्यों न विद्यमान हो, गायत्री छन्द रश्मि का अनुसरण करते हुए ही सक्रिय और सतेज होता

है। इस कारण ही **गायत्री को 'अनुमति' कहते हैं**। इसके लिए 'चरु' देने का तात्पर्य पूर्व खण्ड में ही समझ लेवें। यहाँ उषा को त्रिष्टुप् कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि **त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के कारण उषा जैसी लालिमायुक्त प्रकाश उत्पन्न होता है**। त्रिष्टुप् रश्मियों को 'राका' कहने का तात्पर्य यह है कि ये छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों को अपना बल और ज्योति प्रदान करती हुई परस्पर एक-दूसरे को बांधकर सुन्दर प्रकाश उत्पन्न करती हैं। 'राका' शब्द के विषय में ३.३७.४ भी द्रष्टव्य है। यहाँ राका रूप उषा के लिए चरु देने का आशय पूर्ववत् समझें। अब जगती छन्द रश्मि की चर्चा करते हुए महर्षि कहते हैं कि जगती छन्द रश्मियां 'सिनीवाली' रूप होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये छन्द रश्मियां अपने सहज और मृदु आकर्षण बल से अन्य रश्मियों को अपने साथ संगत करती हैं। ये ही रश्मियां यहाँ 'गौ' रूप कही गई हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये छन्द रश्मियां 'गौ' अर्थात् अग्नि के परमाणुओं को अपने साथ संगत करके उनका उत्सर्जन एवं अवशोषण कराने में मुख्य भूमिका निभाती हैं। यहाँ भी 'चरु' का अर्थ पूर्ववत् समझें। यहाँ भी पूर्व खण्डवत् अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को 'कुहू' कहा है, जिसके विषय में पूर्व खण्ड में समझें। इन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का पृथिवी से क्या सम्बन्ध होता है? इस पर विचार करते हैं- पृथिवी और अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का सम्बन्ध बताते हुए एक तत्त्ववेत्ता ऋषि ने लिखा है- "अनुष्टुभि प्रस्तुतायां वाचा पृथिवीं संदद्यात्" (जै.ब्रा.१.२७०)। इसका आशय यह है कि जब पृथिवी अर्थात् अप्रकाशित कण एवं आकाश तत्त्व अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में स्थित होकर प्रकाशित होते हैं, तब वे विभिन्न वाग् रश्मियों को अपने साथ मिलाने में सक्षम होते हैं। इस 'कुहू' संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मि के लिए 'चरु' देने का आशय पूर्ववत् समझें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रकरण की ही यहाँ कुछ पूरक चर्चा की गई है। पूर्व रश्मियों के साथ-२ यहाँ कुछ अन्य रश्मियों के विषय में लिखते हैं-

विभिन्न तारों के अन्दर प्राथमिक प्राणों से उत्पन्न एक ऐसी विशेष रश्मि विद्यमान होती है, जो एक मरुद् रश्मि से संगत होकर सम्पूर्ण तारे में व्याप्त होकर सभी छन्दादि रश्मियों का नियमन और नियन्त्रण करती है। इस ब्रह्माण्ड में जो भी विद्युदावेशित कण होते हैं, वे सभी गायत्री छन्द रश्मियों का अनुसरण करते हैं। **गायत्री रश्मि के बिना विद्युदावेश का कोई प्रभाव नहीं होता। इस ब्रह्माण्ड में जहाँ भी सुन्दर लालिमायुक्त प्रकाश विद्यमान है, वह त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के कारण है।** ये रश्मियां अन्य रश्मियों को बांधने में सक्षम होती हैं। जगती छन्द रश्मियां ऊर्जा एवं इलेक्ट्रॉन आदि कणों के उत्सर्जन और अवशोषण में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियां भी अन्य छन्द रश्मियों को अपने मृदु बल के द्वारा बांधने में सक्षम होती हैं। जब कोई सूक्ष्म कण अथवा आकाश तत्त्व अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से आवेष्टित अथवा संगत होता है, उस समय वह अन्य छन्द रश्मियों को अपने साथ मिलाने में विशेष समर्थ होता है। इन सभी छन्द रश्मियों को मनस्तत्त्व और दैवी छन्द रश्मियां सतत रूप से अनिवार्यतः बल प्रदान करती रहती हैं।।

२. एतानि वाव सर्वाणि च्छन्दांसि,-गायत्रं त्रैष्टुभं जागतमानुष्टुभमन्वन्यान्येतानि हि यज्ञे प्रतमामिव क्रियन्ते; एतैर्ह वा अस्य च्छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य एवं वेद; तद्वै यदिदमाहुः,-सुधायां ह वै वाजी सुहितो दधातीति, च्छन्दांसि वै तत्सुधायां ह वा एनं छन्दांसि दधत्यननुध्यायिनं लोकं जयति य एवं वेद; तद्धैक आहुः,-सूर्यमेव सर्वासां पुरस्तात् पुरस्तादाज्येन परियजेत्, तदासु सर्वासु मिथुनं दधातीति, तदु वा आहुः-जामि वा एतद् यज्ञे क्रियते, यत्र समानीभ्यामृग्भ्यां समानेऽहन् यजतीति, यदि ह वा अपि बह्व्य इव जायाः पतिर्वाव तासां मिथुनं तद् यदासां सूर्यं पुरस्ताद् यजति, तदासु सर्वासु मिथुनं दधाति।।

व्याख्यानम्- इस कण्डिका का आशय पूर्व खण्ड में देविका रश्मियों के प्रकरण में दी हुई ६ कण्डिकाओं के समान ही है अथवा कहें कि वे ६ कण्डिकायें ही यहाँ किंचित् भेद के कारण पुनरावृत्त हुई हैं। यहाँ देविका के स्थान पर देवी रश्मियों का वर्णन है। इस कारण किंचित् परिवर्तन के साथ पूर्वोक्त कण्डिकाओं

की पुनरावृत्ति हुई है, परन्तु विशेष यह है कि यहाँ धाता, अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू नामक रश्मियों का स्वरूप कुछ और भी स्पष्ट किया गया है, जिसे हमने इसी खण्ड की पूर्व कण्डिकाओं में व्याख्यात किया है। यहाँ उसी सन्दर्भ में विचारना चाहिये। यहाँ धाता, अनुमति आदि सभी रश्मियों के साथ किसी पदार्थ विशेष का संवंध दर्शाया गया है, जिसे भी हम पूर्व में व्याख्यात कर चुके हैं। इस प्रकार पूर्व प्रकरणों से इस प्रकरण की संगति लगाते हुए सुधी पाठक स्वयं इसका व्याख्यान समझ सकते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्ववत् समझें।।

३. ता या इमास्ता अमूर्या अमूस्ता इमा अन्यतराभिर्वाव तं काममाप्नोति य एतासूभयीषु।।
ता उभयीर्गतश्रियः प्रजातिकामस्य संनिर्वपेत्।।
न त्वेषिष्यमाणस्य।।
यदेना एषिष्यमाणस्य संनिर्वपेद् ईश्वरो हास्य वित्ते देवा अरन्तोर्यद्वा अयमात्मनेऽलममंस्तेति।।

व्याख्यानम्- पूर्व खण्ड और इस खण्ड में वर्णित देविका और देवी दो प्रकार की ५-५ रश्मियां हैं, जिनके विषय में हम विस्तार से लिख चुके हैं। इन दोनों का प्रभाव और स्वरूप लगभग समान होता है। इस कारण इनमें से कोई भी एक प्रकार की ५ रश्मियां दूसरे प्रकार की ५ रश्मियों के विकल्प के रूप में भी कार्य कर सकती हैं अर्थात् एक रश्मि से जो-जो भी कार्य सम्पन्न हो सकते हैं अथवा होते हैं, वे दूसरी से भी हो सकते हैं। पुनरपि इन दोनों प्रकार की रश्मियों में अति सूक्ष्म भेद है। हमारे मत में वह भेद भी केवल धाता के स्वरूप में है, अन्यथा इन कण्डिकाओं को पुनरुक्त करना आवश्यक न होता। हाँ, इतना अवश्य है कि इस सूक्ष्म भेद के कारण तारों के निर्माण की पूर्वोक्त प्रक्रिया में विशेष अन्तर नहीं आता, यही इस कण्डिका का प्रयोजन है।।

जो परमाणु आदि पदार्थ गतश्री हो चुके होते हैं अर्थात् उनके साथ संयुक्त विभिन्न छन्दादि पदार्थ प्राणापान आदि पदार्थों से विहीन होकर दुर्वल हो चुके होते हैं और वे विभिन्न तारों के अन्दर विभिन्न प्रकार के नवीन पदार्थों का निर्माण करना चाहते हैं, परन्तु निष्प्रभ होने के कारण वे ऐसा नहीं कर पाते, तब उनको पुनः प्राणवान् वनाने के लिए देवी और देविका रश्मियां उत्पन्न होती हैं। यहाँ आचार्य सायण ने तैत्तिरीय संहिता २.५.४.४ को उद्धृत करते हुए लिखा है-

"त्रयो वै गतश्रियः शुश्रुवान् ग्रामणी राजन्यः"।

इससे संकेत मिलता है कि यहाँ 'गतश्री' का अर्थ होगा 'गता प्राप्ता श्री येन स गतश्रीः' अर्थात् जिसने विभिन्न 'श्री' अर्थात् प्राणों को यथावत् प्राप्त कर लिया है अर्थात् प्राण रश्मियां जिसके अन्दर पूर्णतया व्याप्त हो गई हैं, वे कण आदि पदार्थ 'गतश्री' कहलाते हैं। यहाँ स्पष्ट है कि 'गतश्री' का अर्थ हमारे पूर्व अर्थ से भिन्न वा विपरीत है। हमें दोनों अर्थ मान्य हैं।

यहाँ तैत्तिरीय संहिताकार ने तीन 'गतश्री' संज्ञक पदार्थों की चर्चा की है। इन पर हम क्रमशः विचार करते हैं-

(१) शुश्रुवान्- इस विषय में तैत्तिरीय संहिताकार ने लिखा है- "शुश्रुवाँ सो वै नृचक्षसः" (तै.सं.५.३.४.१)। इसका आशय यह है कि जो पदार्थ विभिन्न 'नर' अर्थात् मरुद् रश्मियों को आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं, वे 'नृचक्ष' कहलाते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- "देवा वै नृचक्षसः" (श.८.४.२.५) अर्थात् विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् असुरतत्त्व मुक्त पदार्थ 'नृचक्षसः' और 'शुश्रुवान्' कहलाते हैं। अन्यत्र कहा है- 'नृचक्षाः प्रतिख्यातः' (सोमः) (तै.सं.४.४.६.२) अर्थात् प्रदीप्त सोम पदार्थ भी 'शुश्रुवान्' कहाते हैं।

(२) ग्रामणी- इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है- "वैश्यो वै ग्रामणी" (श.५.३.१.६) इससे

स्पष्ट है कि खण्ड २.३३ व २.३५ में वर्णित विट् सूक्त रश्मिसमूह ही 'ग्रामणी' कहाता है। जगती रश्मियां भी 'ग्रामणी' (वैश्य) कहाती हैं।

(३) राजन्य- इस विषय में कहा गया है- "क्षत्रं राजन्यः" (ऐ.८.६; श.५.१.५.३; १३.१.५.३)। इससे स्पष्ट है कि खण्ड २.३३ व २.३४ में वर्णित निविद् वा मास रश्मियां ही 'राजन्य' कहाती हैं। त्रिष्टुप् का राजन्य होना सु-विदित है।

इस तरह ये तीनों प्रकार के पदार्थ जब भी विभिन्न प्रकार से संगत होकर नवीन तत्त्वों का निर्माण करना प्रारम्भ करते हैं, उस समय पूर्वोक्त 'देवी' व 'देविका' रश्मियों की उत्पत्ति होती है।।

इसके सायण भाष्य में 'एषिष्यमाणः' के अर्थ हेतु षड्गुरुशिष्य को उद्धृत करते हुए टिप्पणी दी है- "इषेर्लृट् शतुश्शानच् मुक्' स्य इट्। गुणः।" इससे संकेत मिलता है कि जो पदार्थ आकर्षणादि बलों से अत्यन्त युक्त होते हैं, उनको पूर्वोक्त देवी व देविका रश्मियों की आवश्यकता नहीं होती है। इसका कारण यह है कि वे स्वयं ही संयोग प्रक्रिया हेतु अति सक्रिय होते हैं, तब ऐसी स्थिति में देवी व देविका रश्मियों के उत्पन्न होने से वे अत्यधिक सक्रिय हो जाएंगे, जिससे उनकी संयोगादि की प्रवृत्ति समाप्त हो जाएगी, क्योंकि अत्यधिक चंचलता में संगतीकरण की प्रक्रिया सम्भव नहीं होती। हर क्रिया हेतु सक्रियता की एक सीमा होती है। इस सीमा के अतिक्रमण से विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् प्राथमिक प्राणादि पदार्थ उन अति सक्रिय पदार्थों की क्रियाओं वा उनसे उत्पन्न अनिष्ट पदार्थ रूप वित्त=धन में व्याप्त नहीं हो पाते। इसका कारण यह है कि वे प्राणादि पदार्थ उन अति सक्रिय पदार्थों के आकर्षणादि बलों के बन्धन से मुक्त होने में समर्थ होते हैं किंवा वे देव पदार्थ उन अति सक्रिय पदार्थों को रोकने में समर्थ नहीं हो पाते। {अमर्थंस्त = मन्यते (म.द.य.भा.५.४०)} इसका कारण यह है कि वे अति सक्रिय पदार्थ अपने ही तेज से अत्यधिक प्रकाशित होकर सतत तीव्र गमन करने वाले हो जाते हैं। इस कारण ऐसे सक्रिय पदार्थों को इन देवी तथा देविका रश्मियों की आवश्यकता नहीं होती।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त दो प्रकार के रश्मिसमूहों से थकी व दुर्बल छन्द रश्मियां सबल हो उठती हैं, यह स्पष्ट हुआ। इसके अतिरिक्त विभिन्न देदीप्यमान मरुद् रश्मियों, मास रश्मियों तथा विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने में तत्पर विभिन्न छन्द रश्मियों को अधिक संगमनीय बनाने में पूर्वोक्त रश्मियों की आवश्यक भूमिका होती है। जब पदार्थ इन रश्मियों के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से अत्यधिक सक्रिय हो जाता है, तब उस स्थिति में उनको किन्हीं उत्तेजक रश्मियों की आवश्यकता नहीं होती अन्यथा वे परमाणु आदि पदार्थ व मूलकण इतने सक्रिय हो जाते हैं, कि वे परस्पर संयुक्त होकर कोई रचना कर ही नहीं पाते। विशेष परिज्ञान हेतु व्याख्यान भाग पठनीय है।।

४. ता ह शुचिवृक्षो गौपालायनो वृद्धद्युम्नस्याभिप्रतारिणस्योभयीर्यज्ञे संनिरुवाप; तस्य ह रथगृत्सं गाहमानं दृष्ट्वोवाचेत्थमहमस्य राजन्यस्य देविकाश्च देवीश्चोभयीर्यज्ञे सममादयं; यदस्येत्थं रथगृत्सो गाहत इति चतुःषष्टिं कवचिनः शश्वद्धास्य ते पुत्रनप्तार आसुः।।४।।

{वृक्षम् = यो वृश्च्यते छिद्यते तं कार्यकारणाख्यं वा (जगत्) (म.द.ऋ.भा.१.१६४.२०), वृक्षः व्रश्चनात्, वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा (नि.२.६)। रथगृत्सः = (स यत्प्राणो गृत्सः - ऐ.आ.२.२.१)। कवचम् = कु अञ्चितं भवति। काञ्चितं भवति। कायेऽञ्चितं भवतीति वा (नि.५.२५), कायः = कायास्तूपराः (पशवः) (मै.३.१३.१३), काय एककपालः (मै.१.१०.१), (तूपरः = हिंसकः - म.द.य.भा.२४.१)। नप्ता = यो न पतति सः (तु.म.द.ऋ.भा.६.१३.३)। गृत्सः मेधाविनाम (निघं.३.१५)।}

व्याख्यानम्- यहाँ पूर्ववर्णित 'प्रजातिकाम', 'गतश्री' पदार्थ की प्रकारान्तर से चर्चा करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त राजन्य अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से सम्पन्न विभिन्न क्रियाओं का वर्णन

करते हैं-

इस सन्दर्भ में ब्रह्माण्ड की एक विशेष घटना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ब्रह्माण्ड के किसी क्षेत्र विशेष में राहूगण पुत्र गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण से विभिन्न मन्द गति और अप्रकाशित अवस्था वाले सोम तत्त्व को सब ओर से अच्छी प्रकार तारने वाली सोमदेवताक और निचृद् त्रिष्टुप् छन्दस्क

या ते धामा॑नि ह॒विषा॒ यज॑न्ति॒ ता ते॒ विश्वा॑ परि॒भूर॑स्तु य॒ज्ञम्।
ग॒य॒स्फानः॑ प्र॒तर॑णः सु॒वीरोऽवी॑रहा॒ प्र च॑रा सोम॒ दुर्या॑न् ॥१६॥ (ऋ.१.९१.१९)

छन्द रश्मि की प्रधानता होती है। इस रश्मि के विषय में १.१३.७ में विस्तार से देखें। यहाँ हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि वृद्धद्युम्न नामक पदार्थ अभिप्रतारी पदार्थ से उत्पन्न होने के कारण आभिप्रतारिण कहा गया है। अब अभिप्रतारी किस पदार्थ का नाम है, इस विषय में १.१३.७ में इस निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मि को "गयस्फानः प्रतरणः" कथन से यह संकेत मिलता है कि यह छन्द रश्मि ही प्रतारी गयस्फान रूप है अर्थात् इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ उस सोम पदार्थ का भी फैलाव होता है। महर्षि ने स्वयं इस प्रकरण में 'गयः' का अर्थ 'गो' किया है, जो कि विभिन्न वाग् रश्मियों का वाचक है। जब ये निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां स्वयं सब ओर व्याप्त हो जाती हैं, तब उस अवस्था को अभिप्रतारी कहते हैं। इस अवस्था वाला तेजस्वी और बल सम्पन्न पदार्थ असुर तत्त्व को सब ओर से नियन्त्रित करके दूर धकेलता रहता है। इसके कारण वह सोमादि पदार्थ एक ऐसे पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है, जो व्यापक क्षेत्र में फैलता हुआ वैद्युत तेज से चमकता रहता है। यह भी असुर पदार्थ को दूर फैकने में सक्षम होता है। इस कारण इसको यहाँ 'आभिप्रतारिण वृद्धद्युम्न' कहा है। इस तेजस्वी और व्यापक पदार्थ के चारों ओर गौपालायन शुचिवृक्ष नामक आवरक पदार्थ विद्यमान होता है। यह पदार्थ गोपालायन पदार्थ से उत्पन्न होता है। गोपालायन वह पदार्थ है, जहाँ विभिन्न रश्मियों का रक्षक दिव्य वायु किंवा प्राथमिक प्राण प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहकर सतत प्रवाहित होते रहते हैं। इसी कारण ऋषियों ने कहा है- "वायुर्गोपाः (मै.३.६.९), प्राणो वै गोपाः स हीदं सर्वं...... गोपायति" (जै.उ.३.६.९.२) इसका तात्पर्य यह है कि यह पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म होता है और इससे जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वही 'शुचिवृक्ष गौपालायन' कहलाता है। यह पदार्थ ज्वलनशील और दीप्तिमान होता है, जो 'अभिप्रतारी वृद्धद्युम्न' नामक पदार्थ को सब ओर से घेरे रहता है। उसके पश्चात् उस 'वृद्धद्युम्न' नामक तेजस्वी पदार्थ के ऊपर 'शुचिवृक्ष' नामक तेजस्वी पदार्थ पूर्वोक्त देवी तथा देविका रश्मियों का सेचन करता है। यहाँ 'शुचिवृक्ष गौपालायन' नामक पदार्थ द्वारा अपने कर्म का चेतनवत् वर्णन करना लेखक सुविदित शैली ही है। वह वृद्धद्युम्न पदार्थ उन देवी व देविका रश्मियों, जिनमें गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती व अनुष्टुप् छन्द रश्मियां विशेषतः विद्यमान होती हैं, के सेचन से मदमस्त हो जाता है अर्थात् उसकी सक्रियता विशेषरूपेण समृद्ध हो जाती है। यहाँ वृद्धद्युम्न गौपालायन पदार्थ को राजन्य भी कहा है। इसका आशय है कि इस पदार्थ में त्रिष्टुप् तथा अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है, क्योंकि इस विषय में ऋषियों का मत है- "त्रैष्टुभो हि राजन्यः (तै.सं.५.१.४.५), आनुष्टुभो राजन्यः (मै.४.४.१०)"। इस वृद्धद्युम्न पदार्थ से रथगृत्स नामक पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य है कि प्राण नामक प्राथमिक प्राण और सूत्रात्मा वायु, दोनों रमणीय वज्र रूप बनकर इस पदार्थ को अभिव्याप्त करते हैं। {वज्रो वै रथः (तै.सं. ५.४.११.२)} इस पदार्थ में आकर्षण और बंधन बल विशेष होता है। यह पदार्थ सम्पूर्ण अन्तरिक्षस्थ पदार्थ का भारी आलोडन करता है। इस ऐसे आकर्षण बल सम्पन्न पदार्थ को पूर्व से ही बाहरी भाग में स्थित शुचिवृक्ष गौपालायन अपनी ओर आकर्षित करके और भी तेजस्वी बनाने लगता है। वस्तुतः रथगृत्स पदार्थ की उत्पत्ति उसके उपादान कारणभूत वृद्धद्युम्न पदार्थ पर शुचिवृक्ष पदार्थ के द्वारा देवी और देविका नामक रश्मियों के सेचन से ही होती है। इसके अतिरिक्त इन रश्मियों के सेचन के कारण उस वृद्धद्युम्न पदार्थ में अन्य भी ६४ प्रकार के ऐसे पदार्थ विद्यमान होते हैं, जो अपने मार्ग और कार्य से कभी पतित नहीं होते हैं। हमारी दृष्टि में वे ६४ पदार्थ निम्न प्रकार हैं-

देवी और देविका दोनों में पृथक्-२ विद्यमान गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती एवं अनुष्टुप्, ये कुल मिलाकर ८ छन्द रश्मियों और इनके ७ भेद क्रमशः आर्षी, दैवी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची, ब्राह्मी, इस प्रकार कुल मिलाकर ५६ छन्द रश्मियां होती हैं। इनके अतिरिक्त देवी और देविका दोनों की २ धाता रश्मियां तथा प्राण-अपान-व्यान-उदान-धनंजय और सूत्रात्मा वायु ये कुल मिलाकर ६४

पालक प्राण रूपी पुत्ररूप रश्मियां अपतित रूप से विद्यमान रहती हैं, जो निरन्तर विभिन्न परमाणुओं से कवचरूप होकर संगत होती हैं। ये रश्मियां विभिन्न परमाणुओं के साथ संगत होने वाली तीक्ष्ण मरुद् रश्मियों के साथ वक्रीय आकार में संगत होती हैं, जिससे वे मरुद् रश्मियां एवं परमाणु विभिन्न असुरादि पदार्थों से सुरक्षित रहकर विभिन्न सृजन क्रियाओं को सम्पादित करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ ब्रह्माण्ड की घटना का वर्णन करते हुए कहा कि धनंजय रश्मियों से उत्पन्न निचृत्त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से व्याप्त पदार्थ डार्क एनर्जी के प्रक्षेपक प्रभाव को दूर करने में सक्षम होता है। इस पदार्थ से ब्रह्माण्ड में ऐसा पदार्थ उत्पन्न होता है, जो अति व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ और सुन्दर दीप्तियों से युक्त होता है। इस कॉस्मिक पदार्थ के बाहर मनस्तत्त्व एवं प्राथमिक प्राण रश्मियां प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती हैं। इन रश्मियों के परस्पर संगत होने से तेजस्वी प्रकाश और ऊष्मा की तरंगें उत्पन्न होकर पूर्वोक्त पदार्थ को सब ओर से घेर लेती हैं। फिर ये रश्मियां गायत्री, त्रिष्टुप् आदि विभिन्न छन्द रश्मियों की धाराएं प्रक्षिप्त करती हैं, जिसके कारण उस पदार्थ में तीव्र आकर्षण एवं बंधक बल उत्पन्न होकर सम्पूर्ण पदार्थ में व्यापक स्तर पर उथल-पुथल उत्पन्न कर देते हैं, जिसमें प्राथमिक प्राणों और सूत्रात्मा वायु की महती भूमिका होती है। इस समय उस सम्पूर्ण पदार्थ में ६४ प्रकार की विभिन्न छन्दादि रश्मियां तीव्रता से संगत होती हैं।।

ॐ इति १५.४ समाप्तः ॐ

अथ १५.५ प्रारभ्यते

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. अग्निष्टोमं वै देवा अश्रयन्तोक्थान्यसुरास्ते समावद्वीर्या एवासन् न व्यावर्तन्त, तान् भरद्वाज ऋषीणामपश्यदिमे वा असुरा उक्थेषु श्रितास्तानेषां न कश्चन पश्यतीति सोऽग्निमुदह्वयत्।।
'एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः'–इति।।
असुर्या ह वा इतरा गिरः।।
सोऽग्निरुपोत्तिष्ठन्नब्रवीत् किंस्विदेव मह्यं कृशो दीर्घः पलितो वक्ष्यतीति।।
भरद्वाजो ह वै कृशो दीर्घः पलित आस।।

{भरद्वाजः = मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः (श.८.१.१.६), एष उ एव बिभ्रद्वाजः प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्त्ति यद् बिभर्त्ति तस्माद् भरद्वाजस् तस्माद् भरद्वाज इत्याचक्षत एतम् (प्राणम्) एव सन्तम् (ऐ.आ.२.२.२)। कृशम् = (कृश तनूकरणे, कृशनम् = हिरण्यनाम - निघं.१.२; रूपनाम - निघं.३.७)। पलितः = पालयिता (तु.नि.४.२६), फलति निष्पन्नं पक्वमिव भवतीति पलितम् (उ.को.५.३४), श्वेतकेशः (म.द.ऋ.भा.३.५५.६)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त अग्निष्टोम आदि की चर्चा करते हुए महर्षि कहते हैं कि विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् दृश्य पदार्थ, जिनमें प्राथमिक प्राण एवं असुर छन्द रश्मियों को छोड़कर अन्य छन्द रश्मियां एवं प्रदीप्त हुई मरुद् रश्मियां विद्यमान हैं, अग्निष्टोम अर्थात् तारे के केन्द्रीय भाग में आश्रय ले लेती हैं। असुर पदार्थ उक्थ अर्थात् अप्रकाशित मरुद् रश्मियों में आश्रय लेते हैं। ये मरुद् रश्मियां निर्माणाधीन तारों के वाहरी विशाल भाग में विद्यमान होती हैं। इसके साथ ही तारों के वाहर और भी अधिक मात्रा में विद्यमान होती हैं। वस्तुतः तारे के केन्द्रीय भाग के वाहर स्थित विशाल भाग में असुर रश्मियों की प्रवलता होने पर अग्निष्टोम अर्थात् केन्द्रीय भाग का निर्माण हो ही नहीं सकता। अतः यह प्रकरण तारों के निर्माण के समय का ही मानना चाहिए। जव देव व असुर पदार्थ दो भागों में आश्रित हो गये, उस समय दृश्य पदार्थ प्राथमिक प्राण व छन्दादि रश्मि प्रधान था और असुर पदार्थ अप्रकाशित मरुद् व कुछ छन्द रश्मियों में आश्रित था। दोनों ही पदार्थ समान रूप से शक्तिशाली थे, इस कारण कोई किसी के वल के कारण उसके चारों ओर चक्राकार भ्रमण नहीं कर पा रहा था, वल्कि दोनों एक-दूसरे को अपने-२ वल के द्वारा सन्तुलित किए वा रोके हुए थे। उस समय उन दोनों ही क्षेत्रों में अनेक ऋषि अर्थात् सूक्ष्म प्राण भी विद्यमान थे परन्तु कोई भी ऋषि प्राण उस असुर पदार्थ को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पा रहा था, जिससे कि असुर पदार्थ को उस क्षेत्र से वाहर निकाला जा सके। उस समय उन ऋषियों में से एक ऋषि प्राण **भरद्वाज ऋषि** प्राण ने उस असुर पदार्थ को, जो मरुद् रश्मियों के अन्दर व्याप्त हो गया था, अपनी ओर आकृष्ट करना प्रारम्भ किया। यहाँ भरद्वाज उस सूक्ष्म प्राण का नाम है, जो विभिन्न प्रकार के वाज अर्थात् वलरूप छन्दादि रश्मियों और अन्नरूप विभिन्न प्रकार के संयोज्य पदार्थों का भरण-पोषण करता है। इस प्रकार सवसे सूक्ष्मतम प्राण मनस् तत्त्व और प्राण नामक प्राथमिक प्राण दोनों को **भरद्वाज** कहा जा सकता है। इस प्रकरण में मनस्तत्त्व से विशेषरूप से संपृक्त प्राण नामक प्राथमिक प्राण को **भरद्वाज** कहते हैं। यह प्राण असुर तत्त्व को आकृष्ट करते हुए उसे वहिष्कृत करने के हेतु अग्नि तत्त्व को सक्रिय व समृद्ध करने के लिए स्वयं विशेष सक्रिय हो उठता है। उस

समय उस प्राण तत्त्व से एक छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती हैं, जो अग्रिम कण्डिका में दी हुई है।।

यह भरद्वाज नामक उपर्युक्त प्राण तत्त्व बार्हस्पत्य इस कारण कहलाता है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति महत् तत्त्व रूपी बृहस्पति से होती है। {बृहस्पतिः = बृहतां पालको महत्तत्वः (तु.म.द.य.भा.२५.४)} इस भरद्वाज ऋषि प्राण से साम्नी त्रिष्टुप् छन्दस्क एवं अग्निदेवताक

'एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः।।१६।। (ऋ.६.१६.१६)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व अति तेजस्वी और वलवान् होकर पदार्थ को विखण्डित करके अच्छी प्रकार धारण करने लगता है। इस छन्द रश्मि में समस्त देव पदार्थ व्याप्त होने लगता है। इस विषय में "ऋचा वा असुरा आयन् साम्ना देवाः" (जै.ब्रा.१.१५४), यह आर्ष वचन स्पष्ट संकेत देता है कि साम्नी छन्द रश्मियां दृश्य पदार्थ में व्याप्त हो जाती हैं। ये रश्मियां सन्धि रूप भी होती हैं। {साम = सन्धिः (तु.म.द.य.भा.१६.६४)} इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि तत्त्व इन्दु अर्थात् मरुद् रश्मियों के साथ सव ओर से समृद्ध होता हुआ उनमें सव ओर व्याप्त हो जाता है और दूसरी वाग् रश्मियों, जो असुर तत्त्व की विशेष आश्रयदात्री होती हैं, उन्हें भी अच्छी प्रकार से प्रकाशित करने लगता है। यहाँ महर्षि "इतरा गिरः" का अर्थ "असुर्या" करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो अप्रकाशित सोम रश्मियां असुर रश्मियों में स्थित थीं, वे इस अग्नि के प्रभाव से प्रकाशित होने लगती हैं। इस मंत्र का भाष्य करते हुए महर्षि दयानन्द ने "इतरा" पद का अर्थ "अर्वाचीन" किया है और 'अर्वाचीनम्' का अर्थ अपने यजुर्वेद भाष्य ८.३३ में "अधोगामिनम्" किया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे सोम रश्मियां तारों के केन्द्रीय भाग की विपरीत दिशा में गमनशील होती हैं, कदाचित् उनका यह अधोगमन असुर रश्मियों के कारण होता है।।+।।

इसके उपरान्त महर्षि अपनी विशिष्ट शैली में अग्नि के कथन के द्वारा यहाँ भरद्वाज रूपी मनस् तत्त्व संपृक्त प्राण का स्वरूप निम्न प्रकार दर्शाते हैं-
(१) कृश- यह प्राण अत्यन्त सूक्ष्म होता है तथा अनेक प्रकार की सूक्ष्म परन्तु तेजस्वी रश्मियों को उत्पन्न करता है। यह प्राण विभिन्न पदार्थों को सूक्ष्मता प्रदान करने वाला होता है।
(२) दीर्घ- यह सूक्ष्म प्राण दूर तक फैला हुआ और सव पदार्थों के भीतर तक व्याप्त होता है।
(३) पलित- यह अन्य सव प्राणादि का पालक और रक्षक होता है। अन्य सभी प्राण इसी पर विशेषकर मनस् तत्त्व पर आश्रित होते और उसी से उत्पन्न भी होते हैं। इस सृष्टि की सभी क्रियाएं इसी में उत्पन्न होती और इसी में सम्पन्न भी होती हैं। {श्वेतम् = वृद्धम् (म.द.य.भा.२७.२४), सततं गन्तुं प्रवृद्धम् (म.द.ऋ.भा.१.११६.१०), गन्ता वर्धको वा (म.द.य.भा.२७.२३), (टुओश्वि गतिवृद्ध्योः अथवा श्विता वर्णे)। केशः = किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.३.६.६)} यह 'श्वेतकेश' भी कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह विशेषरूप से वढ़ा हुआ, वढ़ने वाला, सव प्राणों से पुरातन अर्थात् सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला, सतत गतिशील, सवको वढ़ाने वाला वलयुक्त शुक्ल वर्ण की अव्यक्त सूक्ष्म रश्मियों से युक्त होता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व प्रसंग को पुनः उठाते हुए कहते हैं कि जव किसी तारे का निर्माण हो रहा होता है, उस समय प्राथमिक प्राण और छन्द रश्मियों से विशेषरूप से युक्त पदार्थ दृश्य रूप होकर निर्माणाधीन केन्द्रीय दिशा में एकत्र होने लगता है। उसके चारों ओर संघनित वा विरल पदार्थ में अप्रकाशित मरुद् रश्मियों में आश्रित डार्क एनर्जी आदि की वहुलता होती है। इस कारण यह वाहरी पदार्थ अप्रकाशित रूप में ही विद्यमान होता है। ये दोनों प्रकार के पदार्थ समान रूप से शक्तिशाली होते हैं। इस कारण कोई भी पदार्थ दूसरे का परिक्रमण नहीं करता। दोनों ही प्रकार के पदार्थों के अन्दर अनेक सूक्ष्म प्राण रश्मियां विद्यमान होती हैं, परन्तु कोई भी प्राण रश्मि डार्क एनर्जी को अपनी ओर आकृष्ट करके वाहर नहीं निकाल पाती। यह डार्क एनर्जी अपने साथ संयुक्त पदार्थ को केन्द्रीय भाग में जाने से रोकते हुए विपरीत दिशा में वाहर की ओर धकेलती रहती है। उस समय ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा से मनस्तत्त्व और प्राण नामक प्राथमिक प्राण का संयुक्त रूप सक्रिय हो उठता है। यह संयुक्त प्राण रश्मि अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक होकर सभी पदार्थों के भीतर व्याप्त हो जाती है। यह सभी

प्राण रश्मियों का उपादान कारण और सभी क्रियाओं का मुख्य हेतु है। इससे एक साम्नी त्रिष्टुप् रश्मि उत्पन्न होकर अग्नि तत्त्व को समृद्ध करती हुई विभिन्न मरुद् रश्मियों को प्रकाशित करने लगती है।।

२. सोऽब्रवीदिमे वा असुरा उक्थेषु श्रितास्तान् वो न कश्चन पश्यतीति।।
तानग्निरश्वो भूत्वाऽभ्यत्यद्रवत्, यदग्निरश्वो भूत्वाऽभ्यत्यद्रवत्, तत्साकमश्वं सामाभवत्, तत्साकमश्वस्य साकमश्वत्वम्।।
तदाहुः साकमश्वेनोक्थानि प्रणयेदप्रणीतानि वाव तान्युक्थानि यान्यन्यत्र साकमश्वादिति।।
प्रमंहिष्ठीयेन प्रणयेदित्याहुः, प्रमंहिष्ठीयेन वै देवा असुरानुक्थेभ्यः प्राणुदन्त।।
तत्प्राहैव प्रमंहिष्ठीयेन नयेत् प्र साकमश्वेन।।५।।

व्याख्यानम्- इस कण्डिका का भाष्य इसी खण्ड की प्रथम कण्डिका के अन्तिम भाग के समान ही है।।

{साकम् = साकम् सह (नि.५.११)। साम = साम्ना (देवाः सोमं) समानयन् तत्साम्नः सामत्वम् (तै.ब्रा.२.२.८.७), स (प्रजापतिः) हैवं षोडशधाऽऽत्मानं विकृत्य सार्धं समैत्। तद्यत् सार्धं समैत् तत्साम्नस्सामत्वम् (जै.उ.१.१५.३.७)।} उपर्युक्त भरद्वाज प्राण से उत्पन्न पूर्वोक्त साम्नी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि से उत्पन्न और प्रेरित अग्नि तत्त्व अश्व अर्थात् अति वलशाली और वेगवान् होकर असुर तत्त्व की ओर गमन करने लगा। उस समय मनस् तत्त्व सूत्रात्मा वायु को सोलह (१६) प्रकार से विकृत करके उस साम्ना त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के साथ संगत कर देता है। इस कारण इस छन्द रश्मि से उत्पन्न आशुगामी और वलवान् अग्नि "साकमश्व" कहलाता है। यह अग्नि असुर तत्त्व के साथ संगम करके सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों को अपने साथ मिलाता हुआ उनमें व्याप्त हो जाता है। इसके कारण वे मरुद् रश्मियां भी प्रकाशित होकर देव पदार्थ के साथ संगत होना प्रारम्भ कर देती हैं। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि इस अग्निसंवर्धक साम्नी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के द्वारा प्रजापति अर्थात् हिरण्यगर्भ (नेव्यूला) १६ प्रकार से विकृत् होकर विभिन्न सृजन क्रियाओं को सम्पादित करने लगता है। इस कारण भी उस अग्नि का नाम "साकमश्व" होता है।।

इस विषय में महर्षि कुछ अन्य ऋषियों के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इसी 'साकमश्व' अग्नि के द्वारा अर्थात् उपर्युक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के द्वारा उक्थों अर्थात् उन मरुद् रश्मियों, जिनके आश्रय में असुर तत्त्व विद्यमान होता है, तारे के केन्द्रीय भाग के वाहर विद्यमान मरुद् रश्मियों का वहन किया जाता है एवं उन्हें सक्रिय व प्रकाशित किया जाता है। इस विषय में एक अन्य ऋषि ने कहा है-

"तस्मात्साकमश्वेनोक्थानि प्रणयन्त्येतेन हि तान्यग्रेऽभ्यजयन्।" (तां.८.८.५)

इसका तात्पर्य यह है कि उस साकमश्व अग्नि के द्वारा उन मरुद् रश्मियों को प्रकाशित करके, उनमें आश्रित असुर पदार्थ को सब ओर से नियन्त्रित किया जाता है। इस साकमश्व अर्थात् उपर्युक्त साम्नी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा प्रकाशित और सक्रिय मरुद् रश्मियां ही असुर तत्त्व को नियन्त्रित करने में सक्षम होती हैं, अन्य रश्मियां नहीं।।

अव महर्षि अन्य ऋषियों का पक्ष उदधृत करते हुए कहते हैं कि 'सोभरिः काण्वः' ऋषि अर्थात् अच्छी प्रकार भरण-पोषण करने वाले किंवा अच्छी प्रकार धारण करने वाले सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न, एक सूक्ष्म प्राण विशेष से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं निचृदुष्णिक् छन्दस्क

प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे। उपस्तुतासो अग्नये।।८।। (ऋ.८.१०३.८)

रश्मि के द्वारा पूर्वोक्त मरुद् रश्मियों को सक्रिय और तेजस्वी वनाया जाता है। इस ऋचा के छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व की उष्णता वढ़कर सभी पदार्थों को विशेषकर मरुद् रश्मियों को

आवेष्टित कर देती है। इसके अन्य प्रभाव से वह अग्नि अतिशय व्यापक होकर चमकता हुआ उन मरुद् रश्मियों और असुर पदार्थ के निकट सामरूप होकर प्रकाशित होता है। इस प्रकार के प्रभाव वाली इस छन्द रश्मि के द्वारा ही उन मरुद् रश्मियों को प्रकाशित व सक्रिय करके देव पदार्थ असुर तत्त्वों को नियन्त्रित करते हैं, न कि उपर्युक्त साम्नी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि से।।

अव महर्षि अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त दोनों मत सत्य है। इस कारण उपर्युक्त दोनों में से किसी भी ऋचा के द्वारा मरुद् रश्मियों को सक्रिय व सतेज करके असुर तत्त्व को नियन्त्रित किया जा सकता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- मनस्तत्त्व एवं प्राण तत्त्व से उत्पन्न उपर्युक्त साम्नी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के द्वारा उस क्षेत्र में ऊर्जा में भारी वृद्धि होकर तारों का बाहरी भाग भी प्रकाशित होने लगता है। इस ऊर्जा के साथ सूत्रात्मा वायु सोलह प्रकार से विकृत होकर उसे और तीव्र वना देता है। इस प्रक्रिया में नेब्यूला वा निर्माणाधीन तारे में सोलह विभिन्न प्रकार के क्षेत्र उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ ऋषियों के अनुसार केवल इसी साम्नी त्रिष्टुप् द्वारा उत्पन्न तीव्र ऊर्जा ही तारे वा नेब्यूला के विभिन्न भागों में डार्क एनर्जी को नियन्त्रित कर पाती है, अन्य नहीं। उधर अन्य कुछ ऋषियों की मान्यता है कि इस कार्य हेतु साम्नी त्रिष्टुप् नहीं वल्कि निचृत् उष्णिक् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, जो डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करती है। **महर्षि ऐतरेय महीदास** इन दोनों ही छन्द रश्मियों की इस कार्य में उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। इन रश्मियों से तारों का बाहरी क्षेत्र भी तीव्र तप्त होने लगता है, जिससे वहाँ विद्यमान डार्क एनर्जी नियन्त्रित हो जाती है। इसके कारण तारों के केन्द्रीय भाग व शेष भाग दोनों परस्पर निकट आकर संयुक्त होने लगते हैं। इसके साथ ही शेष विशाल भाग केन्द्रीय लघु परन्तु अत्यन्त तीव्र वलों, ऊर्जा से युक्त भाग के ऊपर फिसलता हुआ परिक्रमण करने लगता है। केन्द्रीय भाग कुछ भिन्न गति से स्व अक्ष पर घूर्णन करने लगता है। दोनों की गतियों में पूर्ण संतुलन रहता है।।

इति १५.५ समाप्तः

ॐ अथ १५.६ प्रारभ्यते ॐ

तमसो मा ज्योतिर्गमय

१. ते वा असुरा मैत्रावरुणस्योक्थमश्रयन्त, सोऽब्रवीदिन्द्रः कश्चाहं चेमानितोऽसुरान्नोत्स्यावहा इत्यहं चेत्यब्रवीद् वरुणस्तस्मादैन्द्रावरुणं मैत्रावरुण-स्तृतीयसवने शंसतीन्द्रश्च हि तान् वरुणश्च ततो नुदेताम्।।
ते वै ततोऽपहता असुरा ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थमश्रयन्त; सोऽब्रवीद् इन्द्रः कश्चाहं चेमानितोऽसुरान् नोत्स्यावहा इत्यहं चेत्यब्रवीद् बृहस्पतिस्तस्मादैन्द्राबार्हस्पत्यं ब्राह्मणाच्छंसी तृतीयसवने शंसतीन्द्रश्च हि तान् बृहस्पतिश्च ततो नुदेताम्।।

व्याख्यानम्- अब महर्षि विभिन्न उक्थों से असुर तत्त्व को बहिष्कृत करने की प्रक्रिया का विस्तृत और क्रमशः वर्णन करते हुए कहते हैं-

सर्वप्रथम वह असुर तत्त्व गायत्री छन्द रश्मियों के मरुतों में आश्रित था। हमारी दृष्टि में इसका आशय यह है कि दैवी आदि सूक्ष्म गायत्री छन्द रश्मियां ही गायत्री का मरुत् कही जाती हैं। इन ऐसी सूक्ष्म रश्मियों में जब असुर तत्त्व आश्रित होता है, उस समय तीक्ष्ण इन्द्र तत्त्व भी उसे बाहर निकालने में सक्षम नहीं होता है। उस समय इन्द्र तत्त्व की प्रेरणा से वरुण तत्त्व अर्थात् व्यान प्राण उसके साथ संयुक्त हो जाता है। ध्यातव्य है कि मैत्रावरुण संज्ञक सूक्ष्म गायत्री रश्मियों में प्राण और अपान तत्त्व की भी विद्यमानता वा संगति होती है। वरुण और इन्द्र के संयोग और समृद्धि का कारण इस प्रकार है-

उस समय वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से इन्द्रावरुणदेवताक ऋग्वेद ७.८२ सूक्त की उत्पत्ति होती है, जो इस प्रकार है-

(१) इन्द्रा॑वरुणा यु॒वम॑ध्व॒राय॑ नो वि॒शे जना॑य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छतम्।
दी॒र्घप्र॑यज्यु॒मति॒ यो व॑नु॒ष्यति॑ व॒यं ज॑येम॒ पृत॑नासु दू॒ढ्यः॑।।१।। (ऋ.७.८२.१)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र एवं व्यान तत्त्व विभिन्न पदार्थों के साथ त्वरित क्रियाएं करने लगते हैं। इसके अन्य प्रभाव से {दीर्घप्रयज्युम् = दीर्घप्रततयज्ञम् (नि.५.२)। अतिवनुष्यति = अभिजिघांसति (नि.५.२)। दूढ्यम् = दुर्धियम् पापधियम् (नि.५.२)} वे दोनों इन्द्र और व्यान तत्त्व तारों के अन्दर होने वाली विस्तृत संयोगादि प्रक्रियाओं को नष्ट करने वाले अथवा उन्हें बार-२ बाधित करने वाले असुर तत्त्व को नियन्त्रित करते हैं तथा वे विभिन्न प्राणादि रश्मियों के बीच संगतीकरण की प्रक्रियाओं को सुकर बनाते हुए उन्हें आधार प्रदान करते हैं।

(२) स॒म्राळ॒न्यः स्व॒राळ॒न्य उ॑च्यते वां म॒हान्ता॒विन्द्रा॒वरु॑णा म॒हाव॑सू।
विश्वे॑ दे॒वासः॑ पर॒मे व्यो॑मनि॒ सं वा॒मोजो॑ वृषणा॒ सं बलं॑ दधुः।।२।। (ऋ.७.८२.२)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्। {ओजः = वज्रो वा ऽओजः (श.८.४.१.२०), उदकनाम (निघं.१.१२), ओजतेर्वा उब्जतेर्वा (नि.६.८) (उब्ज आर्जवे)। बलम् = बलं कस्मात् बलं भरं भवति बिभर्तेः (नि.३.६), बल इति मेघनाम (निघं.१.१०)} इसके अन्य प्रभाव से सम्यक् प्रकाशमान इन्द्र तत्त्व एवं स्वयं प्रकाशमान व्यान प्राण दोनों ही विस्तृत आकाश मण्डल में महान् ओज और बल को धारण करके सब पदार्थों को बसाने वाले होते हैं। 'बल' और 'ओज' दोनों ही शब्द बल

वाचक हैं, किन्तु इनमें सूक्ष्म सा भेद भी है। वह इस प्रकार है-
(अ) बल- यह शब्द 'बल प्राणने धान्यावरोधे च' धातु से निष्पन्न होता है। इसके साथ ही निरुक्त के उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर वल एक ऐसी शक्ति का नाम है, जो विभिन्न पदार्थों को रोकती है, उनका संचय करती है, उनका धारण व पोषण करती है और उन्हें जीवित अर्थात् सक्रिय रखती है। वल स्वयं रश्मिस्वरूप होता है। इसके साथ ही इसको मेघ रूप कहने से यह संकेत मिलता है कि इसकी रश्मियां स्वयं मेघरूप अर्थात् समूह रूप होती हैं, जो और भी सूक्ष्मतर रश्मियों का विभिन्न पदार्थों पर सिंचन करती रहती हैं और उस सिंचन के द्वारा ही विभिन्न पदार्थों के साथ सम्पर्क स्थापित करता है।
(आ) ओज- यह वल का सूक्ष्म रूप है। इसको उदक रूप कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त वल की सूक्ष्मतर रश्मियां ही ओज रश्मियां कहलाती हैं। ये रश्मियां सीधी रेखा में गमन करती हैं और सम्पर्क में आए हुए पदार्थ को दवाते हुए उसे अपने नियन्त्रण में लेती हैं। ध्यातव्य है कि 'उब्ज आर्जवे' धातु का अर्थ "दबाना, दमन करना" भी होता है। (देखें- सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक)। ये रश्मियां वज्र रूप होने से सूक्ष्म दीप्तियुक्त एवं वारक शक्तिसम्पन्न भी होती हैं।

(३) अन्वपां खान्यतृन्तमोजसा सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम्।
इन्द्रावरुणा मदे अस्य मायिनोऽ पिन्वतमपितः पिन्वतं धियः॥३॥ (ऋ.७.८२.३)

इसका छन्द आर्ची भुरिग् जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् है। हाँ, सूक्ष्म भेद यह है कि इसके प्रभाव से धारण गुण की वृद्धि होती है। इसके अन्य प्रभाव से उपर्युक्त इन्द्र और व्यान तत्त्व अपने कर्मों को पुष्ट करते हुए अपने ओजरूप वल के द्वारा असुर तत्त्व के वल को सव ओर से नियन्त्रित करके देदीप्यमान किरणों को प्रेरित करते हैं।

(४) युवामिद्युत्सु पृतनासु वह्नयो युवां क्षेमस्य प्रसवे मितज्ञवः।
ईशाना वस्व उभयस्य कारव इन्द्रावरुणा सुहवा हवामहे॥४॥ (ऋ.७.८२.४)

इसका छन्द आर्षी विराड् जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत्, परन्तु प्रकाशशीलता कुछ अधिक होती है। इसके अन्य प्रभाव से {मितज्ञवः = मितानि जानूनि येषान्ते (म.द.ऋ.भा.३.५९.३), (जानु = जायन्तेऽस्मात् तत् जानु (उ.को.१.३)} वे इन्द्र और व्यान तत्त्व अच्छी प्रकार प्रकट होकर व क्रिया और वल से सम्पन्न होकर मर्यादित उत्पादक शक्तियों से युक्त होते हैं। उन दोनों के वल असुर तत्त्व के साथ संग्राम में उत्साहित रहते हैं।

(५) इन्द्रावरुणा यदिमानि चक्रथुर्विश्वा जातानि भुवनस्य मज्मना।
क्षेमेण मित्रो वरुणं दुवस्यति मरुद्भिरुग्रः शुभमन्य ईयते॥५॥ (ऋ.७.८२.५)

इसका छन्द उपर्युक्तवत् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्। {दुवस्यति परिचरणकर्मा (निघं.३.५), आप्नोतिकर्मा (नि.१०.२०)। शुभम् = उदकनाम (निघं.१.१२) (शुभ शोभार्थे)। मज्मना = शुद्धिधारणक्षेपणाऽऽख्येन बलेन (म.द.ऋ.भा.१.६४.३), मज्मना बलनाम (निघं.२.९)} इसके अन्य प्रभाव से वे इन्द्र व व्यान तत्त्व अपने शोधक, धारक व प्रक्षेपक वल के द्वारा सभी उत्पन्न पदार्थों की रक्षा करते हैं। वे प्राणापान से चारों ओर संगत वा व्याप्त होकर विभिन्न मरुद् रश्मियों को शोभित=प्रकाशित करते हैं।

(६) महे शुल्काय वरुणस्य नु त्विष ओजो मिमाते ध्रुवमस्य यत्स्वम्।
अजामिमन्यः श्नथयन्तमातिरद्दभ्रेभिरन्यः प्र वृणोति भूयसः॥६॥ (ऋ.७.८२.६)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। {शुल्कः = शुल्क+घञ् (शुल्क अतिस्पर्शने = प्रीति करना, उत्पन्न करना, मिलाना, मुक्त करना - सं.धा.को., पं.युधिष्ठिर मीमांसक)। अजामि = शत्रुः (म.द.ऋ.भा.६.२५.३), भोजनरहितं स्थानम् (म.द.य.भा.१३.१३)। अतिरत् = सन्तरति (म.द.ऋ.भा.१.३३.१३), उल्लङ्घयतु (म.द.ऋ.भा.३.३४.१)। दभ्रम् = अल्पम् (म.द.ऋ.

भा.४.३२.२०), ह्स्वनाम (निघं.३.२), (दम्नोति वधकर्मा - निघं.२.१६)} इसके अन्य प्रभाव से व्यान और अपान तत्त्व अपने तेज और ओज वल द्वारा असुर तत्त्व का हनन करते और मरुद् रश्मियों को अपने साथ मिलाते हैं। अपने वल के कारण जो अटल इन्द्र तत्त्व है, वह असुर तत्त्व एवं संयोग आदि प्रक्रियाओं से रहित क्षेत्रों का हनन करके विभिन्न पदार्थों को अच्छी प्रकार तारता है। वे इन्द्र और व्यान तत्त्व अपनी सूक्ष्म परन्तु तीक्ष्ण रश्मियों के द्वारा व्यापक रूप से पदार्थों को व्याप्त करते हैं।

(७) न तमंहो न दुरितानि मर्त्यमिन्द्रावरुणा न तपः कुतश्चन।
यस्य देवा गच्छथो वीथो अध्वरं न तं मर्तस्य नशते परिह्वृतिः।।७।। (ऋ.७.८२.७)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से {वीथः = संगत होकर (पं. आर्यमुनिभाष्य)। परिह्वृतिः = बाधा (पं. आर्यमुनिभाष्य)} इन्द्र और व्यान तत्त्व के सक्रिय व समृद्ध होने पर विभिन्न देवों की संगति की क्रियाएं सुगमतापूर्वक होने लगती हैं। इसके कारण विभिन्न मरुद् रश्मियां किसी भी असुर तत्त्व अथवा तीव्र संताप के कारण न तो नष्ट होती हैं और न वाधित होती हैं।

(८) अर्वाङ् नरा दैव्येनावसा गतं शृणुतं हवं यदि मे जुजोषथः।
युवोर्हि सख्यमुत वा यदाप्यं मार्डीकमिन्द्रावरुणा नि यच्छतम्।।८।। (ऋ.७.८२.८)

इसका छन्द विराड् जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव चतुर्थ ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से इन्द्र और व्यान तत्त्व अपनी दिव्य रक्षण शक्तियों के द्वारा अपने सम्मुख उपस्थित मरुद् रश्मियों को आकर्षित करते हैं और उन्हें अपने साथ संयुक्त करके पूर्ण रूप से नियन्त्रित करके विभिन्न क्रियाओं के लिए सहज प्रेरित करते हैं।

(९) अस्माकमिन्द्रावरुणा भरेभरे पुरोयोधा भवतं कृष्ट्योजसा।
यद्वां हवन्त उभये अध स्पृधि नरस्तोकस्य तनयस्य सातिषु।।९।। (ऋ.७.८२.९)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से {कृष्टयः = कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्टदेहा वा (नि.१०.२२)} वे इन्द्र और व्यान तत्त्व असुर रश्मियों के साथ प्रत्येक युद्ध में सदैव तत्पर रहते हैं। वे दोनों प्रवल और विस्तृत आकर्षण वल के द्वारा विभिन्न मरुद् रश्मियों, जो विस्तृत क्षेत्र में विद्यमान होती हैं, को अपने साथ संगत करके रक्षा करते हैं।

(१०) अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे।।१०।। (ऋ.७.८२.१०)

इसका छन्द आर्षी विराड् जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव चतुर्थ ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से {सप्रथाः = सप्रथाः सर्वतः पृथुः (नि.६.७)। ऋतावृधः = सत्यवृधो वा यज्ञवृधो वा (नि.१२.३३)। मनामहे = मनामहे इति याच्ञाकर्मा (निघं.३.१९)} वे पूर्वोक्त इन्द्र और व्यान तत्त्व सवके नियन्ता और संगत कर्त्ता प्राण नामक प्राण तत्त्व के साथ सभी मरुद् रश्मियों को प्रकाश और विद्युत् से युक्त करके सव ओर विस्तृत और तृप्त करते हैं। इसके कारण विभिन्न संगतीकरण प्रक्रियाओं के आधारभूत तारों के केन्द्रीय भाग में अखण्ड अर्थात् अनवरत विभिन्न संघातों को सम्पन्न करने वाले अग्नि और वायु रूप सविता सवको सदैव आकर्षित करने वाले होते हैं।

इन्द्र और वरुण का यह उपर्युक्त कर्म तृतीयसवन कहलाता है। इसका कारण यह है कि उपर्युक्त सभी १० छन्द रश्मियां जगती छन्दस्क होती हैं। जिसके विषय में ऋषियों ने कहा - जागतमेतदहर्यत्तृतीयम् (तां.१२.७.३), पशवो वै तृतीयसवनम् (मै.३.७.४; क.३७.३)। इससे स्पष्ट है कि जगती रश्मियों की उपर्युक्त मरुदादि रश्मियों के साथ पूर्वोक्त क्रियाएं, जिनके कारण असुर तत्त्व वहिष्कृत किया जाता है, तृतीयसवन कहलाता है।।

मैत्रावरुण अर्थात् पूर्वोक्त गायत्र मरुद् रश्मियों से निष्कासित असुर तत्त्व ब्राह्मणाच्छंसी अर्थात् त्रैष्टुभ मरुद् रश्मियों के अन्दर व्याप्त हो जाते हैं। {ब्राह्मणाच्छंसी = त्रैष्टुभो ब्राह्मणाच्छंसी (तां.५.१.१४)} यहाँ त्रैष्टुभ् मरुद् रश्मियों का तात्पर्य उन रश्मियों से है, जो दैवी त्रिष्टुप् आदि छन्द रश्मियों के रूप में विद्यमान होती हैं। जब इन मरुद् रश्मियों में असुर रश्मियां आश्रय ले लेती हैं, उस समय इन्द्र तत्त्व की प्रेरणा व आह्वान से प्राण नामक प्राथमिक प्राण उस इन्द्र तत्त्व के साथ संगत हो जाता है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है-

उस समय अयास्य ऋषि अर्थात् अनायास ही किसी कार्य को सिद्ध करने वाले {अयास्यः = स प्राणो वा अयास्यः (जै.उ.२.३.२.८), अयास्यो ब्रह्मा (जै.ब्रा.३.१८८)} प्राण नामक प्राथमिक प्राण से बृहस्पतिदेवताक ऋ.१०.६८ सूक्त की उत्पत्ति होती है। जिसका प्रभाव निम्नानुसार है-

(१) उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन्।।१।। (ऋ.१०.६८.१)

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राणरूप बृहस्पति तीव्र हो उठता है। इसके अन्य प्रभाव से {उदप्रुतः = उदकस्य गमयितारः (म.द.ऋ.भा.४.४५.४)। अर्कः = वज्रनाम (निघं.२.२०), अन्ननाम (निघं.२.७), आदित्यो वाऽअर्कः (श.१०.६.२.६)} विभिन्न बल-सेचनकर्त्री सूक्ष्म छन्द रश्मियों, जो विभिन्न पदार्थों की रक्षा करती हैं, के समान एवं मेघ की विद्युत् से उत्पन्न होने वाली ध्वनि तरंगों के समान, मेघ में उत्पन्न होने वाली प्रकाश रश्मियों के समान वज्ररूप यह त्रिष्टुप् छन्द रश्मि प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों को सब ओर से प्रकाशित करती है।

(२) सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भगइवेदर्यमणं निनाय।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ।।२।। (ऋ.१०.६८.२)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्, किन्तु प्रकाशशीलता कुछ न्यून। इसके अन्य प्रभाव से {नक्षमाणः = (नक्षति इति गतिकर्मा - निघं.२.१४; व्याप्तिकर्मा - निघं.२.१८)} सूत्रात्मा वायु अपनी गति से सबको व्याप्त करता हुआ विभिन्न रश्मियों के द्वारा नियन्त्रित संयोगादि कर्मों को अच्छी प्रकार सम्पादित करता है। वह सबको आकर्षित करता हुआ योषा और वृषा रूप विभिन्न रश्मियों को संगत करता है। प्राथमिक प्राणरूप बृहस्पति अपने शीघ्रगामी बलों के द्वारा असुर तत्त्व पर प्रहार करता है।

(३) साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः।।३।। (ऋ.१०.६८.३)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्, किन्तु अपेक्षाकृत तीव्रतर। इसके अन्य प्रभाव से वह बृहस्पतिरूप प्राण नामक प्राथमिक प्राण अच्छी प्रकार वहन करने वाली, निरन्तर गमन करने वाली, कमनीय और दूसरों को आकर्षित करने वाली, सुन्दर रंगों को उत्पन्न करने वाली, प्रशंसनीय किरणों को मेघरूप विशाल पदार्थ में {स्थिविः = तिष्ठतीति स्थिविः तन्तुवायो वा (उ.को.४.५७)। यवः = वरुण्यो यवः (श.४.२.१.११), विड् वै यवः (श.१३.२.६.८)} उसी प्रकार उत्पन्न करता है, जिस प्रकार विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों को व्यापकता से सींता और बांधता हुआ सूत्रात्मा वायु यव अर्थात् व्यान एवं अपान रूप प्राण रश्मियों को इधर-उधर छितराता और बिखेरता है। हमारे मत में 'स्थिविः' का प्रयोग इस ऋचा में 'स्थविः' के स्थान पर हुआ है। इसमें इकार का प्रयोग छान्दस समझना चाहिए।

(४) आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद।।४।। (ऋ.१०.६८.४)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव चतुर्थ ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से वह प्राण नामक प्राथमिक प्राण {मधु = मिथुनं वै मधु (ऐ.आ.१.३.४), सोम्यं वै मधु (काठ.११.२),

सर्वं वाऽइदं मधु यदिदं किं च (श.३.७.१.११)। ऋतम् = अग्निर्वा ऋतम् (तै.ब्रा.२.१.११.१), ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम् (ऐ.४.२०)। उल्का = विद्युत् (तु.म.द.ऋ.भा.४.४.२)} विभिन्न सोमादि रश्मियों के मिथुनों को सिक्त करता हुआ अग्नि वा सूर्य के कारणरूप विशाल मेघ से असुरादि बाधक रश्मियों को बिखेरता हुआ वर्षा का जल जिस प्रकार पृथिवी की ऊपरी परत को छिन्न-भिन्न करता है अथवा जिस प्रकार बादलों के बीच स्थित विद्युत् अपनी रश्मियों को बाहर प्रक्षिप्त करती है, उसी प्रकार यह प्राण तत्त्व भूमि अर्थात् सभी कणों के अन्दर उनके बाहरी आवरण को भेदकर उनके अन्दर व्याप्त हो जाता है।

(५) अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत्।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः।।५।। (ऋ.१०.६८.५)

इसका छन्दास व दैवत प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से जिस प्रकार पानी के ऊपर तैरते हुए शैवाल को वायु हटा देता है, उसी प्रकार यह बृहस्पति प्राण तत्त्व अपनी ज्योति एवं शक्ति से आकाश में स्थित तमोरूप असुर तत्त्व को दूर करता है और जिस प्रकार वायु मेघ को सब ओर फैलाता है, उसी प्रकार यह बृहस्पति प्राण तत्त्व अपनी विभिन्न क्रियाओं के द्वारा तारे आदि की निर्माण की प्रक्रिया में विभिन्न किरणों को उत्पन्न करता है।

(६) यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम्।।६।। (ऋ.१०.६८.६)

इसका छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से {जसुम् = आयुधमिति सायण - वेदभाष्यम्} वे बृहस्पति प्राण रश्मियां विभिन्न तेजस्वी किरणों को उत्पन्न करके असुर रश्मियों के प्रहारों का उसी प्रकार भेदन करती हैं, जिस प्रकार जीभ दांतों से चबाये हुए अन्न का भेदन करती है। उस समय वह प्राणयुक्त पदार्थ विभिन्न प्रकार की किरणों को प्रकट करता है।

(७) बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्।।७।। (ऋ.१०.६८.७)

इसका छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से {नाम = वाङ्नाम (निघं.१.११), उदकनाम (निघं.१.१२)} वह प्राण तत्त्व गूढ़ अन्तरिक्ष में स्थित विभिन्न पदार्थों को अपने साथ संयुक्त सूक्ष्म वाग् रश्मियों से सिंचित करता हुआ नाना प्रकार की ध्वनि तरंगों को उत्पन्न करता है, जिसके कारण उस मेघरूप पदार्थ में से अनेक प्रकार की किरणें उस पदार्थ को भेदकर प्रकट हो जाती हैं, जिस प्रकार पक्षी के बच्चे अण्डों को भेदकर बाहर आते हैं।

(८) अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य।।८।। (ऋ.१०.६८.८)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से जिस प्रकार सूखे हुए जल में बसती हुई मछली छटपटाती है, उसी प्रकार असुर तत्त्व रूपी मेघ से ढके हुए विभिन्न सोम्य पदार्थ सर्वत्र किसी असुर निवारक तत्त्व की कामना में व्याकुल रहते हैं। उस समय प्राण नामक प्राण तत्त्व {रवः = विद्युतः शब्दः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.४), स्तुतिसमूहः (तु.म.द.ऋ.भा. १.७१.२)} विद्युत् युक्त विभिन्न ध्वनि तरंगों वा अन्य किरणों के द्वारा असुर रूप मेघ तत्त्व को काट देता है और जिस प्रकार वृक्ष अर्थात् जगत् के कारणरूप पदार्थ से विभिन्न असुरादि वा अन्य मेघ प्रकट होते हैं, उसी प्रकार इन मेघों से आवेष्टित विभिन्न देव पदार्थों को वह प्राण तत्त्व प्रकट कर देता है।

(९) सोषामविन्दत्स स्व१ः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।

बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार॥९॥ (ऋ.१०.६८.९)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से {मज्जा = मज्जानो ज्योतिस्तद्धि यजुष्मतीनां रूपम् (श.१०.२.६.१८)} वह प्राण तत्त्व ऊष्मा, प्रकाश एवं विद्युत् रश्मियों को उत्पन्न करता है। वह असुर तत्त्व के अन्धकारयुक्त मेघों को हटाता है। उन मेघों के अन्दर संगतीकरण को समृद्ध करने वाली विद्युत् व प्रकाशयुक्त किरणें उसी प्रकार विद्यमान होती हैं, जिस प्रकार प्राणियों के शरीर में अस्थियों के मध्य भाग में मज्जा विद्यमान होती है। वह प्राण तत्त्व उन रश्मियों को उस असुर मेघ के सन्धियों में विद्यमान रश्मियों को बाहर निकाल देता है।

(१०) हिमेवं पर्णा मुंषिता वनांनि बृहस्पतिंनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमंपुनश्चंकार यात्सूर्यामासां मिथ उच्चरांतः॥१०॥ (ऋ.१०.६८.१०)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से जिस प्रकार कमल के पत्ते हिमपात से झड़ जाते हैं, उसी प्रकार असुर तत्त्व की किरणें प्राण तत्त्व के कारण पलायन कर जाती हैं। उसके पश्चात् विभिन्न रश्मियां ऐसी शक्तिसम्पन्न हो जाती हैं कि वे असुर रश्मियों का पुनः अनुसरण नहीं करतीं। ध्यातव्य है कि असुर रश्मियां कभी पूर्ण नष्ट नहीं होतीं बल्कि वे देव पदार्थ के आसपास ही नियन्त्रित अवस्था में विद्यमान रहती हैं। नियन्त्रित रहने के कारण वे अपना प्रक्षेपक और हानिकारक प्रभाव नहीं दर्शा पातीं। इसको यहाँ उपमा द्वारा समझाया गया है कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा सदैव साथ-२ रहते हुए भी चन्द्रमा कभी सूर्य के प्रकाश को क्षीण नहीं कर पाता किंवा अपने प्रकाश से सूर्य के प्रकाश को प्रभावित नहीं कर पाता, उसी प्रकार नियन्त्रित असुर तत्त्व भी दृश्य पदार्थ के साथ विद्यमान रहते हुए भी उस पर कोई प्रक्षेपक प्रभाव नहीं डाल पाता।

(११) अभि श्यावं न कृशंनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदंधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विददगाः॥११॥ (ऋ.१०.६८.११)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से छान्दस व दैवत प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से {श्यावाः = श्यायन्ते प्राप्नुवन्ति ते (किरणाः) (म.द.ऋ.भा.१.३५.५)} वह पालक प्राण तत्त्व जिस प्रकार तेजस्वी रूपों द्वारा विभिन्न किरणों को शोभायमान करते हैं, उसी प्रकार आकाश को विभिन्न नक्षत्रों से सुशोभित करते हैं। इन्हीं पालक प्राणों के विशिष्ट कर्मों के कारण असुर तत्त्व अन्धकाररूप और देव पदार्थ प्रकाशरूप होता है। वह प्राण तत्त्व अन्धकाररूप असुर तत्त्वों का भेदन करके ज्योतिर्मय किरणों को प्राप्त करता है।

(१२) इदमंकर्म नमों अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनंवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयों धात्॥१२॥ (ऋ.१०.६८.१२)

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से छान्दस व दैवत प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से यह प्राण तत्त्व असुररूप मेघों के निवारण के लिए वज्र रूप रश्मियों को उत्पन्न करता है। वह प्राण तत्त्व पूर्वी अर्थात् पुरातन दैवी छन्द रश्मियों का अनुकरण करता हुआ प्रकाशित होता है। वह प्राण आशुगामिनी, विभिन्न पदार्थों को कंपाने वाली मरुद् रश्मियों से युक्त विभिन्न तेजस्वी किरणों को धारण करता है।

इन १२ छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् {कृष्णः = कृष्णा वारुणाः (मै.३.१३.१२)} कृष्ण ऋषि अर्थात् व्यान नामक प्राण से इन्द्रदेवताक ऋग्वेद १०.४३ सूक्त की उत्पत्ति होती है। जिसका प्रभाव निम्नानुसार है-

(१) अच्छां म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वां उशतीरंनूषत।
परिं ष्वजन्ते जनंयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवांनमूतयें॥१॥ (ऋ.१०.४३.१)

इसका छन्द निचृज्जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व विभिन्न पदार्थों के साथ संगत और विसंगत होने लगता है। इसके अन्य प्रभाव से व्यान प्राण की प्रकाशयुक्त कमनीय गुणों वाली व्यापक एवं सुसंगत रश्मियां इन्द्र तत्त्व को अच्छी प्रकार प्रकाशित करती हैं। ये रश्मियां योषारूप होकर वृषारूप इन्द्र तत्त्व के साथ संगत होती हैं।

(२) न घां त्वद्रिगपं वेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रय।
राजेंव दस्म नि षदोऽधिं बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेंऽ वपानंमस्तु ते।।२।। (ऋ.१०.४३.२)

इसका छन्द आर्ची स्वराड् जगती होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्, परन्तु कुछ अधिक प्रकाशमान और मृदु शक्ति वाला होता है। इसके अन्य प्रभाव से {त्वद्रिक् = त्वां प्रति यतमानः (म.द.ऋ.भा.५.३.१२)। मनः = यन्मनः स इन्द्रः (गो.उ.४.११)} अनेक पदार्थों के द्वारा आकर्षित होने वाले इन्द्र तत्त्व में व्यान सदैव अनुरक्त रहता है और उसमें अपने बलों को स्थापित करता है। वह इन्द्र तत्त्व दीप्तिमान् होता हुआ अन्तरिक्षस्थ पदार्थों में व्याप्त रहता है। वह इन्द्र तत्त्व बाधक असुर रश्मियों को सोम पदार्थ से बाहर फेंकता हुआ सोम रश्मियों को अवशोषित करता है।

(३) विषूवृदिन्द्रो अमंतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्वं ईशते।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयों वर्धन्ति वृषभस्यं शुष्मिणः।।३।। (ऋ.१०.४३.३)

इसका छन्द जगती होने से छान्दस व दैवत प्रभाव लगभग पूर्ववत्, किन्तु प्रकाशशीलता कुछ कम। इसके अन्य प्रभाव से {प्रवणे = (प्रवते गतिकर्मा - निघं.२.१४)} वह इन्द्र तत्त्व सब पदार्थों को व्याप्त करता हुआ वर्तमान होता है। वह इन्द्र तत्त्व अप्रकाशित सोम रश्मियों को प्रकाशित करता और असुर तत्त्व की क्षमता किंवा सोम पदार्थ को भक्षण करने की इच्छा को दूर करता है। वह विभिन्न पदार्थों एवं छन्दादि रश्मियों पर शासन करता है। उधर **इन्द्र कहलाने वाला मनस्तत्त्व** सबको बल प्रदान करता है और उसी मन रूप इन्द्र में सृष्टि की विभिन्न सूक्ष्म क्रियाओं को गति देने एवं बांधे रखने वाले सात प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, धनंजय एवं सूत्रात्मा वायु) उस मनस् तत्त्व के अन्दर ही गतिशील होते हैं।

(४) वयो न वृक्षं सुंपलाशमासंदन्त्सोमांस इन्द्रं मन्दिनंश्चमूषदंः।
प्रैषामनींकं शवंसा दविंद्युतद्विदत्स्व१र्मनंवे ज्योतिरार्यम्।।४।। (ऋ.१०.४३.४)

इसका छन्द विराड् जगती होने से छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत्, किन्तु प्रकाशशीलता कुछ अधिक। इसके अन्य प्रभाव से {चमू = द्यावापृथिवी (तु.म.द.ऋ.भा.६.५७.२), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)} जिस प्रकार पक्षी वृक्ष पर आश्रय पाते हैं, उसी प्रकार द्यावापृथिवी में स्थित विभिन्न सोम तत्त्व इन्द्र में आश्रित होते हैं। इन सोम रश्मियों के समूह इन्द्र के बल से ही चमकते हैं और फिर श्रेष्ठ ज्योति को उत्पन्न करते हैं।

(५) कृतं न श्वघ्नी वि चिंनोति देवंने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयंत्।
न तत्तें अन्यो अनुं वीर्यं शकन्न पुंराणो मंघवन्नोत नूतंनः।।५।। (ऋ.१०.४३.५)

इसका छन्द भी विराड् जगती होने से छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से {शुनः = शुनः वायुः शु एत्यन्तरिक्षे (नि.६.४०)} जिस प्रकार वह इन्द्र तत्त्व दिव्य वायु के एकत्र होने से निर्मित होता है, उसी प्रकार वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न किरणों को नियन्त्रित करता व प्राप्त करता है। यह सबसे शक्तिशाली तत्त्व होता है।

(६) विशंविशं मघवा पर्यशायत जनांनां धेनां अवचाकंशद्वृषां।
यस्याहं शक्रः सवंनेषु रण्यंति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः।।६।। (ऋ.१०.४३.६)

इसका छन्द जगती होने से छान्दस व दैवत प्रभाव तृतीय ऋचा के समान। इसके अन्य प्रभाव से वृषारूप शक्तिशाली इन्द्र तत्त्व प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विराजमान होता हुआ विभिन्न छन्द रश्मियों को प्रकाशित करता है किंवा उनके द्वारा प्रकाशित होता है। जिन संयोगादि कर्मों में वह इन्द्र तत्त्व रमण करता है, उसमें वह असुरादि वाधक रश्मियों को दवा देता है, क्योंकि वह सोम रश्मियों को तीव्र वना देता है।

(७) आपो न सिन्धुमभि यत्समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्याइव ह्रदम्।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना।।७।। (ऋ.१०.४३.७)

इसका छन्द विराड् जगती होने से छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से {ह्रदः = ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः (नि.१.६), प्रकाश की किरण (आप्टेकोष)} जिस प्रकार सोम रश्मियां इन्द्र तत्त्व को लक्ष्य करके प्रवाहित होती हैं, जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियां सूत्रात्मा वायु को प्राप्त करती हैं, {दानुः = दानून् दातॄन् (नि.११.२१), (अग्निर्वै दाता - श.५.२.५.२)} जिस प्रकार विभिन्न रश्मियां परस्पर संगत होकर ध्वनि वा प्रकाश की किरणों को उत्पन्न करती हैं, {वृष्टिः = दुष्टानां शक्तिवन्धिका शक्तिः (म.द.ऋ.भा.१.१५२.७)} जिस प्रकार दिव्य अग्नि वाधक शक्तियों को नियन्त्रित करके मिश्रण-अमिश्रण की क्रियाओं को वढ़ाता है, उसी प्रकार विभिन्न ऋषि प्राण {विप्राः = एते वै विप्रा यद् ऋषयः (श.१.४.२.७)} अर्थात् प्राथमिक प्राण इस इन्द्र तत्त्व की व्यापकता को वढ़ाते हैं।

(८) वृषा न क्रुद्धः पतयद्रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते।।८।। (ऋ.१०.४३.८)

इसका छन्द विराड् जगती होने से छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से जिस प्रकार प्रवल आकर्षण वलयुक्त कण दूसरे कण के ऊपर तीव्रता से गिरता है, उसी प्रकार इन्द्र तत्त्व प्रवल वेग से असुर रश्मियों के ऊपर गिरता है। वह इन्द्र तत्त्व {अर्यः = ईश्वरनाम (निघं.२.२२)} विभिन्न समर्थ रक्षिका शक्तियों के द्वारा अनेक कर्म सम्पादित करता है और विभिन्न संयोगादि क्रियाओं के लिए शीघ्रगामी हवि किंवा मास रश्मियों से युक्त मनुष्य नामक अर्थात् अल्प प्रकाशित और अनियमित गति वाले कणों को भी ज्योति प्रदान करता है।

(९) उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत्।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्व१र्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः।।९।। (ऋ.१०.४३.९)।

इसका छन्द निचृज्जगती होने से छान्दस व दैवत प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व जो वज्र के तेज के साथ उत्पन्न होता है और अग्नि के साथ संगत होता हुआ विभिन्न किरणों के साथ जलता हुआ प्रकाशित होता है। {स्वः = असौ (द्यु) लोकः स्वः (ऐ.६.७)} विभिन्न सत्ताधारी पदार्थों का पालक वह इन्द्र तत्त्व विभिन्न प्राण तत्त्वों के समान शीघ्रकारी और प्रकाशमान होता है।

(१०) गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम।।१०।। (ऋ.१०.४३.१०)।

इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से छान्दस व दैवत प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तेजस्वी और तीक्ष्ण होता है। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व अपनी किरणों से अन्धकार को दूर करता, व्यापक क्रियाहीनता को संयोगादि क्रियाओं की तीव्रता से दूर करता है और विभिन्न किरणों के द्वारा उत्पन्न धारक और अवरोधक शक्ति से सव परमाणुओं को अपने नियन्त्रण में रखता है।

(११) बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु।।११।। (ऋ.१०.४३.११)।

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत्, किन्तु प्रकाशशीलता कुछ कम। इसके अन्य प्रभाव से सभी महान् पदार्थों का पालक प्राण नामक प्राथमिक प्राण ऊपर-नीचे, आगे-पीछे सब ओर से रक्षा करता हुआ इन्द्र तत्त्व को प्रेरित करके विभिन्न पदार्थों का निर्माण करता है।

इस प्रकार इन २ सूक्तों में कुल १४ त्रिष्टुप् और ६ जगती छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जो इस तृतीयसवन में ब्राह्मणाच्छंसी अर्थात् त्रैष्टुभ मरुद् रश्मियों में से इन्द्र और प्राण तत्त्व के द्वारा असुर तत्त्व को बाहर निकालती हैं। यहाँ त्रिष्टुप् प्रधान होने पर भी इस चरण को तृतीय सवन क्यों कहा? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि इस चरण में भी इन्द्र तत्त्व उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इस विषय में एक ऋषि ने कहा-

"स (इन्द्रः) आत्मन एवाधि तृतीयसवनं निरमिमीत" (जै.ब्रा.१.१५६)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- डार्क एनर्जी को बहिष्कृत करने की प्रक्रिया को यहाँ चरणबद्ध रूप से समझाते हुए महर्षि कहते हैं कि डार्क एनर्जी सर्वप्रथम सूक्ष्म रूप में दैवी गायत्री आदि छन्द रश्मियों के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है। उस समय १० जगती छन्द रश्मियां प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभाव से विद्युत् युक्त वायु और व्यान प्राण सक्रिय हो जाते हैं। उस समय इन दोनों के संयोग से दो प्रकार का बल उत्पन्न होता है, जिनमें प्रथम प्रकार का बल विभिन्न प्रकार के कणों को रोकता, उनको संचित करता, धारण व पोषण करते हुए उन्हें सक्रिय रखता है। दूसरा बल इस पूर्व बल की रश्मियों में से सूक्ष्मतर रश्मियों के रूप में झरता हुआ सम्पर्क में आये हुए कणों वा रश्मियों को दबाते हुए धारण करता है। यही सूक्ष्म बल डार्क एनर्जी को दबाता और दृश्य पदार्थ को शक्ति देता है। इसकी शक्ति स्वयं नियन्त्रित और मर्यादित ही होती है। विद्युत् युक्त वायु (इन्द्र) और व्यान तत्त्व दोनों का संयुक्त रूप शोधक, धारक एवं प्रक्षेपक बल उत्पन्न करता है। इसमें प्राण और अपान का भी विशेष सहयोग रहता है। इनकी शक्तियों को डार्क एनर्जी नष्ट नहीं कर पाती। ये दोनों तत्त्व विभिन्न रश्मियों को प्रेरित करके अनेक प्रकार की क्रियाएं सिद्ध करते हैं। सर्वत्र विद्युत् रश्मियों एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की व्यापक स्तर पर उत्पत्ति होती है।

जब गायत्री मरुद् रश्मियों से निष्कासित डार्क एनर्जी त्रिष्टुप् मरुद् रश्मियों में प्रवेश कर जाती है, उस समय प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उत्पन्न १२ त्रिष्टुप् रश्मियां सम्पूर्ण क्षेत्र में प्राण तत्त्व को अत्यन्त तेजस्वी और बलवान् बनाती हैं। उस समय उस निर्माणाधीन तारे में ध्वनि तरंगें एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती हैं। विभिन्न प्राण रश्मियां सूक्ष्म पदार्थों में प्रविष्ट हुई डार्क एनर्जी का भेदन करके छिन्न-भिन्न कर देती हैं। उसी समय व्यान नामक प्राण से विद्युत् युक्त वायु और भी तीव्र होकर विभिन्न कणों और रश्मियों को बल प्रदान करता है। वह विद्युत् युक्त वायु डार्क एनर्जी को छिन्न-भिन्न करता हुआ दृश्य पदार्थ को प्रकाशित और संयोगादि प्रक्रियाओं के लिए सक्रिय करता है। इस व्यान से ६ जगती और २ त्रिष्टुप् रश्मियां उत्पन्न होती हैं। विभिन्न तारों, पृथिवी आदि लोकों और अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न पदार्थ इन्द्र के बल से ही कार्य करते हैं। इन्द्र तत्त्व के ही कारण विभिन्न लोकों की गति, स्थिति, प्रकाशशीलता आदि सभी प्रकार की क्रियाएं होती हैं। यह डार्क एनर्जी पर बहुत तीव्रता से प्रहार करता है। ध्यान रहे कि डार्क तत्त्व कभी भी नष्ट नहीं होता है, बल्कि वह जिस पदार्थ से निष्कासित किया जाता है, उसी के आस-पास विचरता रहता है। इस विषय में खण्ड २.६ की अन्तिम कण्डिका भी द्रष्टव्य है। जब भी डार्क एनर्जी निरोधक शक्तियां दुर्बल हो जाती हैं, उस समय डार्क एनर्जी पुनः आक्रमण कर देती है।।

२. ते वै ततोऽपहता असुरा अच्छावाकस्योक्थमश्रयन्त; सोऽब्रवीद्-इन्द्रः कश्चाहं चेमानितोऽसुरान् नोत्स्यावहा इत्यहं चेत्यब्रवीद् विष्णुस्तस्मादैन्द्रावैष्णवमच्छा-वाकस्तृतीयसवने शंसतीन्द्रश्च हि तान् विष्णुश्च ततो नुदेताम्।।

{अच्छावाकः = आनुष्टुभो हि अच्छावाकः (जै.ब्रा.१.३१९), ऐन्द्रावैष्णवमच्छावाकस्य (काठ. ३४.१६)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त त्रैष्टुभ मरुद् रश्मियों से निकल जाने के बाद असुर तत्त्व अच्छावाक की मरुद् रश्मियों में प्रविष्ट हो जाता है। दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मियां ही अच्छावाक उक्थ कहलाती हैं। उस समय इन्द्र तत्त्व के आह्वान पर विष्णु तत्त्व सक्रिय होता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है-

भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषि, जिसके विषय में पूर्व खण्ड में विस्तार से चर्चा की गई है, से इन्द्राविष्णूदेवताक ऋग्वेद ६.६९ सूक्त की उत्पत्ति होती है। जिसका प्रभाव निम्नानुसार है-

(१) सं वां कर्मणा समिषा हिनोमीन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य।
जुषेथां यज्ञं द्रविणं च धत्तमरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता॥१॥ (ऋ.६.६९.१)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र व विष्णु अर्थात् इन्द्र तत्त्व एवं धनंजय प्राण रश्मियां तीव्रता से सक्रिय हो उठती हैं। इसके अन्य प्रभाव से वे इन्द्र और धनंजय प्राण विभिन्न संयोज्य पदार्थों एवं विभिन्न छन्दादि रश्मियों के बाधक तत्त्वों को दूर करके उनकी सभी क्रियाओं को निरापद मार्गों के द्वारा पार लगाते हुए संगतीकरण आदि कर्मों को समृद्ध रूप से सम्पादित कराते हैं।

(२) या विश्वासां जनितारा मतीनामिन्द्राविष्णू कलशा सोमधाना।
प्र वां गिरः शस्यमाना अवन्तु प्र स्तोमासो गीयमानासो अर्कैः॥२॥ (ऋ.६.६९.२)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से छान्दस व दैवत प्रभाव पूर्ववत्, किन्तु कुछ मृदु। इसके अन्य प्रभाव से {कलशः = कलशः (कस्मात्), कला अस्मिञ्छेरते मात्राः (नि.११.१२)। अर्कः = प्राणो वा ऽअर्कः (श. १०.४.१.२३)। मतिः = प्रजा वै मतयः (तै.आ.५.६.८), वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.८.१.२.७)} वे दोनों पदार्थ अर्थात् इन्द्र और धनंजय वायु सभी प्रकार के पदार्थों, विभिन्न छन्दादि रश्मियों को उत्पन्न करने वाले और घट के समान सोम रश्मियों को धारण करने वाले होते हैं। वे दोनों विभिन्न प्राणों और सूक्ष्म छन्दादि रश्मियों से प्रकाशित होते हुए सभी पदार्थों को प्रकाशित और रक्षित करते हैं।

(३) इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधाना।
सं वामञ्जन्त्वक्तुभिर्मतीनां सं स्तोमासः शस्यमानास उक्थैः॥३॥ (ऋ.६.६९.३)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से वे दोनों उपर्युक्त इन्द्र और विष्णु विभिन्न प्रकार के बलों से सक्रिय और तृप्त परमाणुओं को धारण करते हुए सोम तत्त्व में व्याप्त होते हैं। वे दोनों विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को विभिन्न मरुद् एवं छन्दादि रश्मियों के द्वारा प्रकाशित करके सम्यग्रूपेण प्रकट करते हैं।

(४) आ वामश्वासो अभिमातिषाह इन्द्राविष्णू सधमादो वहन्तु।
जुषेथां विश्वा हवना मतीनामुप ब्रह्माणि शृणुतं गिरो मे॥४॥ (ऋ.६.६९.४)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से वे दोनों {अभिमाति = पाप्मा वा अभिमातिः (तै.सं.२.१.३.५; काठ.१३.३)। सधमादः = समानस्थानाः (म.द.ऋ.भा.७.४३.५), सधमादं सह मदनम् (नि.७.३१)} अति वेगवान् और बलवान् असुर तत्त्व को दबाने वाले परस्पर एक-दूसरे को तृप्त करते हुए साथ-२ व्याप्त होते हैं। वे सब पदार्थों के संयोग-वियोग आदि कर्मों के लिए आवश्यक बल प्रदान करते हैं। इस कार्य में अनेक छन्दादि रश्मियां भी अपनी भूमिका निभाती हैं।

(५) इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे।
अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि॥५॥ (ऋ.६.६९.५)

इसका छन्द ब्राह्मी उष्णिक् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव से विद्युत् और ऊष्मायुक्त प्रकाश की उत्पत्ति होती है। इसके अन्य प्रभाव से वे दोनों रश्मियों से युक्त होकर अन्तरिक्षस्थ पदार्थों को प्रकाशित करते

हैं। {चक्रमाथे = कामयथः (म.द.ऋ.भा.६.६९.५)} वे दोनों विभिन्न परमाणुओं को सक्रिय करते हुए उन्हें अति श्रेष्ठ रूप से प्रकाशित करके अनेक कर्मों को व्यापक रूप से सिद्ध करते हैं।

(६) इन्द्राविष्णू हविषा वावृधानाग्राद्वाना नमसा रातहव्या।
घृतासुती द्रविणं धत्तमस्मे समुद्रः स्थः कलशः सोमधानः॥६॥ (ऋ.६.६९.६)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रवाह से वे दोनों विभिन्न मास रश्मियों से निरन्तर बढ़ने वाले विभिन्न संयोज्य पदार्थों को अपने संदीप्त तेज से प्रेरित करते हैं। वे दोनों अपने अग्रभाग से विभिन्न पदार्थों का विभाग करते और सोमादि पदार्थों को धारण करते हैं। जिस प्रकार आकाश तत्त्व कलश के समान विभिन्न पदार्थों को धारण करने वाला होता है, उसी प्रकार ये दोनों भी विभिन्न पदार्थों को धारण करते हैं।

(७) इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य सोमस्य दस्रा जठरं पृणेथाम्।
आ वामन्धांसि मदिराण्यग्मन्नुप ब्रह्माणि शृणुतं हवं मे॥७॥ (ऋ.६.६९.७)

इसका छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से वे दोनों विभिन्न बाधक रश्मियों को दूर करने वाले प्राणापान सोम रश्मियों के द्वारा सक्रिय हुए विभिन्न परमाणुओं को प्राप्त करते हैं। वे उन परमाणुओं को विद्युत् आदि रश्मियों से सब ओर से भरते हैं।

(८) उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥८॥ (ऋ.६.६९.८)

इसका छन्द त्रिष्टुप् होने से दैवत व छान्दस प्रभाव द्वितीय ऋचा के समान है। इसके अन्य प्रभाव से वे दोनों असंख्य रश्मियों को तीन प्रकार से स्थापित करते हैं। वे दोनों सबको जीतने वाले परन्तु स्वयं किसी के द्वारा कभी जीते नहीं जाते हैं। वे तीन प्रकार की शक्तियों के द्वारा सबको गति देने और कंपाने वाले होते हैं।

इस प्रकार ये ८ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां इन्द्र तत्त्व एवं धनंजय प्राण को समृद्ध करके अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में किंवा आनुष्टुभ तृतीयसवन में विद्यमान असुर तत्त्व को बाहर निकालती हैं। अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का तृतीयसवन से सम्बन्ध बतलाते हुए कहा गया है- "आनुष्टुभं हि तृतीयसवनम्" (जै.ब्रा.१.१८०)॥

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त स्थान से निष्कासित डार्क एनर्जी दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों और उनसे अभिव्याप्त पदार्थ में प्रविष्ट हो जाती है। उस समय मनस्तत्त्व से विशेष संयुक्त हुए प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों से सात त्रिष्टुप् एवं १ ब्राह्मी उष्णिक् छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। उस समय विद्युत् और धनंजय प्राण विभिन्न कणों को अत्यधिक ऊर्जा व गति प्रदान करते हैं। वे दोनों पदार्थ सदैव संयुक्त रहते हैं। इनकी भेदन व धारण क्षमता भी अति प्रबल होती है। ये अपने समान स्तर के सभी पदार्थों को नियन्त्रित करने वाले होते हैं, परन्तु वे ऐसे किसी पदार्थ से नियन्त्रित नहीं होते हैं। वह विद्युत् धनंजय प्राण के योग से अत्यन्त तीव्रगामिनी होकर अपने अग्रिम भाग के प्रहार से विभिन्न पदार्थों का भेदन करती है और यह डार्क एनर्जी के तीव्र प्रक्षेपक प्रभाव को अपनी प्रबल शक्ति से नष्ट करती है। यह विद्युत् धनात्मक, ऋणात्मक और उदासीन तीन प्रकार की होती है॥

३. द्वन्द्वम् इन्द्रेण देवताः शस्यन्ते; द्वन्द्वं वै मिथुनं, तस्माद् द्वन्द्वान् मिथुनं प्रजायते, प्रजात्यै॥
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद॥
अथ हैते पोत्रीयाश्च नेष्ट्रीयाश्च चत्वार ऋतुयाजाः षळृचः॥

सा विराड्दशिनी, तद्विराजि यज्ञं दशिन्यां प्रतिष्ठापयन्ति, प्रतिष्ठापयन्ति।।६।।

व्याख्यानम्– उपर्युक्त वरुण आदि देव पदार्थ इन्द्र तत्त्व के साथ संयुक्त रूप में ही प्रकाशित होते हैं। इनका संयुक्त रूप ही उनका मिथुन रूप होता है। इस कारण इनमें से एक योषा और दूसरा वृषा का कार्य करता है। इस कारण उन मिथुनों से विभिन्न मिथुन रूप अनेक प्रकार तत्त्वों का निर्माण होता है। इस कारण ये सारे मिथुन नवीन तत्त्वों के सृजन के लिए ही होते हैं। जव ब्रह्माण्ड में विभिन्न देव पदार्थ मिथुन रूप में विद्यमान होते हैं, उस समय अनेक प्रकार के पदार्थ, विभिन्न छन्द, मरुदादि रश्मियां उत्पन्न होने लगती हैं।।+।।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है–

"प्रैषग्रन्थे पंचमे सूक्ते 'होता यक्षत्' – इत्यादिकौ द्वितीयाष्टमौ मन्त्रौ पोतुर्द्वावृतुयाजौ, तथा तत्रैव तृतीयनवमौ मन्त्रौ नेष्टुर्द्वावृतुयाजौ, एवं चत्वार ऋतुयाजाः, ते मिलित्वा पोतृसंवन्धान्नेष्टृसंवन्धाच्च 'पोत्रीयाः नेष्ट्रीयाश्च' भवति। तथा प्रस्थितयाज्याः पोतुस्तिस्र ऋचः, नेष्टुश्च तिस्र ऋचः, इत्येवं 'षळृचः' भवन्ति।"

इसकी पाद टिप्पणी में लिखा है–

"तथा चोक्तम् –

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः।।१।। (ऋ.१.८६.१)

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप। त्वष्टारं सोमपीतये।।६।। (ऋ.१.२२.६)

इति प्रातःसवनिक्यः प्रस्थितयाज्याः,

अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः।।६।। (ऋ.१.१०४.६)

तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि।
अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र।।६।। (ऋ.३.३५.६) इति माध्यन्दिन्यः,

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः।।६।। (ऋ.१.८५.६)

अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन।
अथा मन्दस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः।।३।। (ऋ.२.३६.३)

इति तार्तीयसवनिक्यः' (आश्व.श्रौ.५५.१८–१६)।

सायण के भाष्य और उपर्युक्त पाद टिप्पणी के सन्दर्भ में अपने ढंग से विचार करते हैं–

यहाँ आचार्य सायण ने प्रैषग्रन्थ के पंचम सूक्त की "होता यक्षत्" पदों से प्रारम्भ ४ ऋचाओं को ऋतुयाजा कहा है और उनका भी एक विशेष क्रम दिया हुआ है। वेद संहिताओं में इन पदों से प्रारम्भ होने वाली कुल ३१ ऋचाएं विद्यमान हैं, जो अन्य कई शाखा ग्रन्थों में भी हैं। वेद संहिताओं में पुनरावृत्ति सहित कुल ४३ ऋचाएं हैं। इनमें से भी केवल १ ऋचा ऋग्वेद संहिता में है, शेष यजुर्वेद संहिता में विद्यमान हैं। आचार्य सायण ने सूक्त और ऋचाओं का जो क्रम वतलाया है, वह किसी प्रैष ग्रन्थ का वतलाया है, परन्तु ऋचाओं को उद्धृत नहीं किया गया है। ऐसी दृष्टि में ऋतुयाजा नाम की कौनसी ऋचाएं हैं, यह हमें स्पष्ट नहीं हो रहा और न ही इस विषय में आचार्य सायण ने किसी आर्ष ग्रन्थ को उद्धृत किया है। कथित प्रैष ग्रन्थ की चार ऋचाएं कैसे ऋतुयाज संज्ञक होती हैं? इसका भी कोई प्रमाण नहीं दिया है। अतः हम सायण के भाष्य की उपेक्षा करके निम्न आर्ष वचनों के प्रकाश में

इस कण्डिका पर विचार करते हैं, वे आर्ष वचन इस प्रकार हैं-

"ऋतवो वा ऋतुयाजाः (गो.उ.३.७), प्राणा वा ऋतुयाजाः (ऐ.२.२६; कौ.ब्रा.१३.६; गो.उ.३.७)।" इससे प्रतीत होता है कि ऋतु संज्ञक सूक्ष्म प्राणों का यजन करने वाली ४ सूक्ष्म रश्मियां ऋतुयाजा कहलाती हैं। वे चारों ऋतुयाज रश्मियां 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' एवं 'ओम्' ही हैं। इसके विषय में विस्तृत जानकारी के लिए २.२६.१ अवश्य पठनीय है। पूर्व में हमने वरुण, वृहस्पति और विष्णु के रूप में क्रमशः व्यान, प्राण और धनंजय और क्वचित् मनस्तत्त्व रूपी इन्द्र, इन सूक्ष्म प्राणों की व्यापक चर्चा की है। इस स्तर से विचार करने पर 'ओम्' एवं भूरादि सूक्ष्म वाग् रश्मियों को ऋतुयाजा के रूप में मानकर आगामी ६ छन्द रश्मियों से उनका सामंजस्य बैठाना पूर्णतः युक्तिसंगत भी है और प्रकरण संगत भी। हमारी दृष्टि में सबको एक सूत्र में बांधने वाले और सबके अन्दर व्यापक रूप से विद्यमान 'ओम्' और 'स्वः' दो सूक्ष्म रश्मियां 'नेष्ट्रा' कहलाती हैं और प्राणापान अर्थात् क्रमशः 'भूः' और 'भुवः' रश्मियां 'पोता' कहलाती हैं। हमारे मत में 'पोता' और 'पवमान' समानार्थक हैं। "प्राणो वै पवमानः (मै.३.३.२; श.२.२.१.६), प्राणोपानौ पवित्रे (तै.ब्रा.३.३.४.४)", ये दोनों आर्ष वचन हमारे मत की पुष्टि करते हैं। "भूरिति वै प्राणः (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३), भुव इत्यपानः (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३)", इन दोनों आर्ष वचनों से 'भूः' और 'भुवः' रश्मियों को क्रमशः प्राण और अपान होना स्पष्ट ही है।

यद्यपि २.२६.१ में प्राथमिक प्राणों का स्वरूप भूरादि रश्मियों की अपेक्षा स्थूल वर्णित है, पुनरपि इन आर्ष वचनों से यह प्रमाणित अवश्य होता है कि ये रश्मियां इन प्राणों की भाँति ही व्यवहार करती हैं। इस प्रकार हम इन चार रश्मियों का चार ऋतुयाजा के रूप में ग्रहण कर रहे हैं। यह २.२६.१ में स्पष्ट कर चुके हैं कि सभी प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति भूरादि रश्मियों के एक-२ अक्षर रूप ऋतु रश्मियों के विभिन्न योगों से होती है। अब हम कण्डिका में वर्णित ६ ऋचाओं के विषय में चर्चा करते हैं। यहाँ आचार्य सायण भाष्य में जिन ६ ऋचाओं को उद्धृत किया है, उनको यथावत् स्वीकार करते हुए विस्तार से विचार करते हैं। ये ऋचाएं निम्नानुसार हैं-

(१) मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः।।१।। (ऋ.१.८६.१)।

इसकी उत्पत्ति 'राहूगणो गोतम ऋषि' अर्थात् धनंजय प्राण से होती है। इसका देवता मरुत् और छन्द गायत्री होने से विभिन्न मरुद् रश्मियां तेज और बलयुक्त होती हैं। इसके अन्य प्रभाव से नाना कर्मों की कर्त्री प्रकाश और कामना से युक्त मरुद् रश्मियां विभिन्न पदार्थों में निवास करती हुई उनकी अच्छी प्रकार से रक्षा करती हैं।

(२) अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप। त्वष्टारं सोमपीतये।।६।। (ऋ.१.२२.६)

इसकी उत्पत्ति 'काण्वो मेधातिथिर्ऋषि' अर्थात् सूत्रात्मा वायु से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द गायत्री होने से अग्नि तत्त्व तेजस्वी और बलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से अग्नि तत्त्व सोम को अवशोषित करने के लिए विभिन्न देवों अर्थात् छन्द रश्मियों की प्रकाशिका और रक्षिका शक्तियों को प्राप्त करके अति भेदक शक्तिसम्पन्न होता है।

(३) अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः।।६।। (ऋ.१.१०४.६)

इसकी उत्पत्ति 'आङ्गिरसः कुत्सऋषि' अर्थात् {कुत्सः वज्रनाम (निघं.२.२०)} वर्जनीय शक्तियों से युक्त भेदक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से इन्द्र तत्त्व तीक्ष्ण तेजस्वी होता है। इसके अन्य प्रभाव से {उरुव्यचाः = बहुषु व्याप्तः (म.द.ऋ.भा.५.४६.६)} वह इन्द्र तत्त्व सोम को आकर्षित करता हुआ उनके अन्दर तथा अन्य उत्पन्न पदार्थों के सभी अन्तरंग व्यवहारों में व्याप्त होकर इनमें अपनी शक्तियों का सेचन करता हुआ अतिशय व्याप्त होता है।

(४) तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि।

अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र।।६।। (ऋ.३.३५.६)

इसकी उत्पत्ति 'विश्वामित्र ऋषि' अर्थात् प्राण नामक तत्त्व से होती है। इसका देवता इन्द्र व छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से प्रभाव पूर्ववत्। इसके अन्य प्रभाव से वह इन्द्र तत्त्व सोम रश्मियों के अधोभाग में निरन्तर व्याप्त होता है। वह इन्द्र तत्त्व इस अन्तरिक्ष में होने वाली विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाओं को निरन्तर व्याप्त और प्रकाशित करता हुआ उनकी रक्षा करता है, साथ ही सोम रश्मियों को सब ओर से धारण करता है।

(५) आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः।।६।। (ऋ.१.८५.६)

इसकी उत्पत्ति 'राहूगणो गोतम ऋषि' अर्थात् धनंजय प्राण से होती है। इसका देवता मरुत् और छन्द जगती होने से मरुद् रश्मियां तीव्र और व्यापक गति से संयोग-वियोग आदि प्रक्रियाओं को सम्पादित करती हैं। इसके अन्य प्रभाव से {रघुष्यत् = सद्यः स्यन्दमानं (म.द.ऋ.भा.४.५.६), लघुगमनम् (तु.म.द.ऋ.भा.५.२५.६)} मरुद् रश्मियां लघु मार्गों पर गमन करती और कराती हुई रश्मियों को शीघ्रगामिनी बनाती हैं। वे अपने आकर्षण-प्रतिकर्षण आदि बलों से उत्तम गतिमान होकर व्यापक अन्तरिक्ष में प्रवाहित होती हैं। इनके कारण अनेक अन्न और प्राणरूप पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

(६) अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन।
अथा मन्दस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः।।३।। (ऋ.२.३६.३)

इसकी उत्पत्ति गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान के संयुक्त रूप से होती है। इसका देवता त्वष्टा एवं शक्र और छन्द जगती होने से भेदक शक्तियां विस्तृत होकर संयोगादि प्रक्रियाओं का विस्तार करती हैं। इसके अन्य प्रभाव से {रणिष्टन = (रण शब्दे)} विभिन्न परमाणु दिव्य गुणों से युक्त प्राण तत्त्वों के साथ भेदक शक्तिसम्पन्न होकर विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करते हैं और नाना प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करते हुए इस अन्तरिक्ष में निरन्तर गमन करते हैं। यहाँ त्वष्टा एवं शक्र इन्द्र का ही वाचक होने से इन्द्र तत्त्व समृद्ध होता है।

हमारी दृष्टि में उपर्युक्त ६ ऋचाओं में से तीसरी, चौथी और छठी ऋचाएं पौत्रीया कहलाती हैं। इन तीनों का ही देवता इन्द्र अथवा उसका पर्यायवाची त्वष्टा एवं शक्र है और इन तीनों में त्रिष्टुप् छन्द की प्रधानता है। इसके साथ ही इन्द्र तत्त्व वायु रूप होता है और वायु को शास्त्रकारों ने अनेकत्र पवमान कहा है, जैसे- "अयं वायुः पवमानः (श.२.५.१.५), अयं वाव यः (वायुः) पवते स पवमानः (काठ.२२.१०; क.३५.४), यत्पश्चाद्वाति (वायुः) पवमान एव भूत्वा पश्चाद्वाति (तै.ब्रा.२.३.९.६)"।

त्रिष्टुप् छन्द माध्यन्दिन सवन से सम्बन्धित है और माध्यन्दिन सवन को ऋषियों ने पवमान कहा है, जैसे- "माध्यन्दिनः पवमानः" (जै.ब्रा.१.३१३)। पवमान शब्द पोता का पर्यायवाची माना जा सकता है, क्योंकि दोनों का अर्थ पवित्र करने वाला है। इस कारण इन तीन छन्द रश्मियों को पोत्रीया कहना सर्वथा युक्तिसंगत और शास्त्र सम्मत है। उपर्युक्त छन्द रश्मियों में से शेष ३ छन्द रश्मियां नेष्ट्रीया कहलाती हैं। इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि इनमें से प्रथम और पंचमी ऋचा का देवता मरुत् और द्वितीय ऋचा का देवता अग्नि है। अग्नि और मरुत् दोनों ही विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों के वाहक होते हैं और नेष्टा भी नयनकर्ता को कहते हैं। वाहक और नयनकर्ता दोनों समानार्थक शब्द है। इसलिए इन तीनों ऋचाओं को नेष्ट्रीया कहना सर्वथा युक्तिसंगत और शास्त्र सम्मत है। जहाँ तक इन सभी ऋचाओं का तीनों सवनों से सम्बन्ध का प्रश्न है, तो इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि प्रथम २ ऋचाओं का छन्द गायत्री होने से इनका सम्बन्ध प्रातःसवन से, अग्रिम २ ऋचाओं का छन्द निचृत्त्रिष्टुप् होने से इनका सम्बन्ध माध्यन्दिन सवन से एवं अन्तिम २ ऋचाओं का छन्द जगती होने से इनका सम्बन्ध तृतीय सवन से होना स्वतः सिद्ध है।।

उपर्युक्त कण्डिका में कुल मिलाकर १० छन्द रश्मियां हैं, जिनमें ४ ओंकार आदि अति सूक्ष्म रश्मियां एवं ६ अन्य रश्मियां हैं। इस प्रकार ये कुल १० छन्द रश्मियां होकर त्रिंशदक्षरा विराट् छन्द

रश्मि के एक पाद के समान और एक पाद स्वयं सम्पूर्ण विराट् छन्द रश्मि के समान व्यवहार करता है। इस प्रकार से उपर्युक्त १० छन्द रश्मियां विराट् छन्द रश्मियों के समान सम्पूर्ण सर्ग यज्ञ को प्रकाशित और प्रतिष्ठित करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- अग्नि, वायु, आदि विभिन्न देव पदार्थ जोड़ों में रहकर ही सृष्टि प्रक्रिया को सम्पादित कर पाते हैं। पूर्वोक्त विभिन्न प्रक्रियाओं को संचलित करने के लिए **'ओम्'**, **'भूः'**, **'भुवः'**, **'स्वः'** इन चार प्राथमिक छन्द रश्मियों एवं दो गायत्री, दो त्रिष्टुप् और दो जगती छन्द रश्मियों की उत्पत्ति भी अनिवार्य है। चार सूक्ष्म रश्मियों का प्रभाव हम अनेकत्र वर्णित कर चुके हैं। शेष ६ रश्मियों के प्रभाव से विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों का आवागमन संयोग-वियोग एवं पवित्रीकरण की क्रियाएं तीव्र होती हैं। विद्युत् धाराओं की संख्या में वृद्धि होती है। विद्युदावेशित कणों की मात्रा और ऊर्जा दोनों ही समृद्ध होते हैं। इसके साथ ही पदार्थ में ऊष्मा और प्रकाश की मात्रा में भी वृद्धि होती है। विशेष जानकारी के लिए व्याख्यान भाग पठनीय है।।

इति १५.६ समाप्तः

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः

।। इति "ऐतरेयब्राह्मणे" तृतीयपंचिका समाप्ता।।३।।

।। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण की तृतीय पंचिका की हिन्दी पूर्ण हुई।।३।।

इति परब्रह्मणः सच्चिदानन्देश्वरस्याऽनुपमकृपाभाजेन, प्रखर वेदोद्धारकस्य परिव्राजकाचार्यप्रवरस्य श्रीमन्महर्षिदयानन्दसरस्वतिनः प्रवलार्यानुयायिवंशप्रवर्त्तकस्य भारतवर्षस्योत्तरप्रदेशस्थ-हाथरसमण्डलान्तर्गतस्य ऐंहनग्रामाभिजनस्य सिसोदिया-कुल-वैजपायेणगोत्रोत्पन्नस्य तत्रभवतः श्रीमतो देवीसिंहस्य प्रपौत्रेण, श्रीघनश्यामसिंहस्य पौत्रेण श्रीमतोः ओम्वतीदेवीन्द्रपालसिंहयोस्तनूजेन वीरप्रसवितुर्राजस्थानप्रान्तस्य जालोरमण्डलान्तर्गत-प्रकाण्डगणितज्ञ-ब्रह्मगुप्त-महाकविमाघजन्मभूर्भीनमाल-निकटस्थभागलभीमग्रामस्थ श्रीवैदिकस्वस्तिपन्थान्यास-संस्थापकेन (वेद-विज्ञान-मन्दिर-वास्तव्येन) आचार्याऽग्निव्रतनैष्ठिकेन विरचित-वैज्ञानिकभाष्यसारसमेतैतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदविज्ञान-आलोकस्य) तृतीया पञ्चिका समाप्यते।

वेदविज्ञान-आलोकः ™

(महर्षि ऐतरेय महीदास प्रणीत - ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या)

इस ग्रन्थ को क्यों पढ़ें

- आधुनिक सैद्धान्तिक भौतिकी (Theoretical physics) की विभिन्न गम्भीर समस्याओं विशेषकर Cosmology, Astrophysics, Quantum field theory, Plasma physics, Particle physics एवं String theory से सम्बन्धित अनेक वास्तविक समस्याओं का आश्चर्यजनक समाधान इस ग्रन्थ के गहन अध्ययन से सम्भव है। इसके साथ ही इन क्षेत्रों में नये-२ अनुसंधान करने के लिए आगामी लगभग 100 वर्ष के लिए पर्याप्त सामग्री इस ग्रन्थ में विद्यमान है।
- इस ग्रन्थ से विकसित वैदिक सैद्धान्तिक भौतिकी (Vaidic theoretical physics) भविष्य में आश्चर्यजनक एवं निरापद टैक्नोलॉजी के अनुसंधान को जन्म दे सकेगी तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी कुछ विशेष परिवर्तन भविष्य में हो सकते हैं।
- विश्वभर के धर्माचार्यों व अध्यात्मवादियों को ईश्वर के अस्तित्व व स्वरूप की वैज्ञानिकता के विस्तृत ज्ञान तथा इसके द्वारा संसार में एक धर्म, एक भाषा, एक भावना को स्थापित करने में यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण साधन है।
- वर्तमान भौतिक वैज्ञानिकों को यह जानने कि ईश्वर तत्व के ज्ञान के बिना भौतिक विज्ञान समस्याग्रस्त ही रहेगा तथा धर्माचार्यों को यह जानने हेतु कि ईश्वर के कार्य करने की प्रणाली (Mechanism) क्या है, यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण मार्गदर्शक का कार्य करेगा। इसके साथ ही उन्हें इस बात का भी बोध होगा कि धर्म, ईश्वर आदि आस्था व विश्वासों का विषय नहीं है बल्कि सत्य विज्ञान पर आधारित वास्तविकता है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए एक समान ही है।
- भारत के प्रबुद्ध वर्ग में नये राष्ट्रिय स्वाभिमान, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक गौरव एवं बौद्धिक स्वतंत्रता का भाव भरने में यह ग्रन्थ एक क्रान्तिकारी दिशा देगा।
- यह ग्रन्थ वेदों तथा संस्कृत भाषा का ऐसा यथार्थ स्वरूप संसार के समक्ष प्रस्तुत करेगा, जिसकी कल्पना विश्व के सम्भवतः इस समय किसी भी वेदज्ञ एवं संस्कृतज्ञ को नहीं होगी।
- यह ग्रन्थ विश्वभर के मनुष्यों को अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, प्रेम, करुणा, न्याय आदि मानवीय सद्गुणों की ओर ले जाने में समर्थ होगा तथा भय, हिंसा, आतंक, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, मिथ्या छलकपट व बेईमानी से मुक्त करने में सहयोग करेगा।

-आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

(वेद विज्ञान मन्दिर)

वैदिक एवं आधुनिक भौतिक शोध संस्थान